बाबू गुलाबराय

स्मृति ग्रन्थ

बाबू गुलाबराय स्मृति-ग्रन्थ

सम्पादक

स्व. ५. हरिशंकर शर्मा — पं. वियोगी हरि

श्री महेन्द्र — डा. ˜गेन्द्र

संयोजक सम्पादक

डा० सत्येन्द्र

सहकारी सम्पादक

ि अरुण'

•

बाबू गुलाबराय स्मृति-संस्थान के तत्वावधान

में

शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनो, आगरा

एवं

गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा

द्वारा प्रकाशित

भूमिका

प्रत्येक नगर की संचेतना उसके सांस्कृतिक एवं साहित्यिक नेताओं के जीवन में निर्मित होती है । इस चेतना का स्थूल रूप अथवा भौतिक प्रवाह मुख्यतः राजनीतिक नेताओं के जीवन में साकार होता है किंतु इसका सूक्ष्म तथा आंतरिक प्रवाह श्रेष्ठ साहित्यकारों के जीवन में ही मूर्तित हो सकता है । स्व० बाबू गुलाबराय आगरा की ऐसी ही सांस्कृतिक और साहित्यिक चेतना के प्रतीक थे । वे कुशल अध्यापक, सहृदय समीक्षक, सजग सम्पादक, गम्भीर चिन्तक और लोकप्रिय लेखक थे । आगरा की तो वे अतुलनीय विभूति थे ही, अपनी साहित्यिक सम्पदा की गरिमा से वे हिन्दी-साहित्य की भी गौरव-निधि बन गये थे ।

साहित्य-साधक होने के अतिरिक्त बाबूजी सहज जीवन-साधक भी थे । जिस प्रकार कोई कवि अपनी भावनाओं के सहज प्रवाह को काव्य में व्यक्त करता है, उसी प्रकार वे अपने दैनिक स्वाध्याय को ललित एवं आलोचनात्मक निबंधों में सहेजते रहे थे । उनका वही स्वाध्याय-संग्रह आज एक संग्रहणीय गद्य-साहित्य बन गया है और उनका साहित्य-सम्बन्धी चिंतन-मनन श्रेष्ठ आलोचना-साहित्य के रूप में विद्यमान है । आश्चर्य यह है कि एकान्तसेवी और मौन चिंतक होते हुए भी उनके साहित्य एवं चिंतन में सामाजिक जीवन की स्फूर्ति स्पष्टतः लक्षित होती है ।

प्रायः व्यक्ति का मूल्यांकन उसे एक संस्था कहकर किया जाता है, मानो व्यक्तित्व की सार्थकता संस्था बन जाने में ही है । परन्तु बाबूजी के अभिनन्दन के लिए यह सूत्र उपयुक्त प्रतीत नहीं होता । उन्होंने कभी संस्था बन जाने की महत्त्वाकांक्षा व्यक्त नहीं की, मंचों पर अध्यक्षीय आसन प्राप्त करने की लालसा से वे परे रहे, आत्मप्रचार में उन्होंने कोई रुचि नहीं ली और न उन्होंने अपना कोई वाद या सिद्धान्त ही प्रचारित किया; फिर भी उनका जीवन अत्यन्त सक्रिय था और सभी संस्थाओं से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था । महनीयता और गरिमा स्वयं ही उनकी ओर आकृष्ट हुई । उनको साहित्य की पुरानी और नई—दोनों पीढ़ियों से स्नेह व सम्मान मिला । अतएव, यह कहना अधिक सार्थक होगा कि वे संस्था न होकर अनेक संस्थाओं की अंतश्चेतना थे ।

अपने जीवन-काल में उन्होंने कभी भी अपने विषय में किसी लेख, ग्रन्थ या अभिनन्दन की स्वीकृति या आकांक्षा व्यक्त नहीं की। पर, आज जब उनका यशःकाय हमारे बीच नहीं है तो हम सबका यह पुनीत कर्तव्य हो जाता है कि उनकी स्मृति को सुरक्षित रखने तथा उनके कृतित्व की गरिमा को प्रसारित करने का समवेत प्रयास करें। प्रस्तुत स्मृति-ग्रन्थ एक ऐसी ही समायोजना है जिसमें भारत के कोने-कोने से समर्पित श्रद्धा-प्रसून संकलित हैं। एक साहित्य-साधक का यह विनम्र सारस्वत श्राद्ध है।

इस ग्रन्थ का उद्देश्य औपचारिक स्मृति-पूजन ही नहीं, वरन् उसके व्याज से तरुण पीढ़ी के चिन्तकों, लेखकों और अध्यापकों को सतत स्वाध्याय, सृजन और आत्म-विकास की प्रेरणा देना भी है, साथ ही बाबूजी ने जिस क्षेत्र में सर्वाधिक कार्य किया है उस 'आलोचना-साहित्य' का सम्यक् परिचय एवम् मूल्यांकन भी इसमें किया गया है। संगृहीत सामग्री मुख्यतः दो खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में बाबू गुलाबराय के जीवन, व्यक्तित्व और कृतित्व के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला गया है और द्वितीय खण्ड में भारतीय भाषाओं के आलोचना-साहित्य का विहंगावलोकन है।

उन लेखकों, विद्वानों और कवियों के प्रति आभार व्यक्त करना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं, जिनकी रचनाओं से हमारा प्रयास ग्रन्थ का रूप धारण कर सका है। इस ग्रन्थ में जो कुछ भी पठनीय और महनीय है, वह इन सुधी लेखकों की ही कृपा का फल है। जो कमी या दुर्बलता है उसका दायित्व हम पर है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन में प्रकाशक मित्रों—श्री जगदीशप्रसाद अग्रवाल एवं श्री राधेमोहन अग्रवाल—ने जो प्रशंसनीय सहयोग दिया है, उनके प्रति आभार प्रकट करना भी हमारा कर्तव्य है। उनके सहयोग के बिना यह अनुष्ठान पूरा होना कठिन ही था। सीमित सामर्थ्य होते हुए भी हमारा यह प्रयास रहा है कि यह ग्रन्थ अपनी सामग्री से साहित्य और समीक्षा के विज्ञ पाठकों का परितोष कर सके। यदि पाठक इस शब्द-मन्दिर में स्थापित बाबूजी की अशरीरी प्रतिमा के दर्शन करने के साथ-साथ भारतीय आलोचना के सुदूरव्यापी क्षितिजों का अवलोकन कर सकें, तो हम अपने प्रयत्न को सार्थक मानेंगे।

१३ अप्रेल (वैशाखी) १९७०
(बाबू गुलाबराय स्मृति दिवस)

—सम्पादक

प्रकाशकीय

श्रद्धेय बाबू गुलाबराय जी से हमारा सम्बन्ध बहुत पुराना था। बाबूजी का साहित्यिक प्रतिभा की परख तो साहित्य के महारथी एवं जौहरी ही कर सकेंगे पर हमारे मन पर उनकी जो छाप पड़ी उसका कारण बाबूजी का भक्त हृदय और उनका सन्त-स्वभाव था। सन्त गोस्वामी जी ने 'मानस' में कहा है—

सन्त हृदय नवनीत समाना,
कहा कबिन्ह परि कहै न जाना।
निज परिताप द्रवइ नवनीता,
पर दुख द्रवहिं सन्त सुपुनीता।

हम लोगों ने बाबूजी में इस गुण के प्रत्यक्ष दर्शन किए। बाबूजी के सात्त्विक गुणों की छाप उनके परिवार वालों पर भी पड़ी है यह बड़े आनन्द और सन्तोष की बात है। बाबूजी ने न केवल इन्टर, बी० ए० एवं एम० ए० के विद्यार्थियों के लिए ही पाठ्य पुस्तकें लिखी हैं वरन् बच्चों के लिए भी बहुत सुन्दर साहित्य का निर्माण किया है। उन्होंने विज्ञान पर भी पुस्तकें लिखी हैं। उनके निबन्ध केवल साहित्यिक ही न होकर मनुष्य मात्र को बहुत प्रेरणा देने वाले भी हैं। हम तो बाबूजी के जीवन काल में ही उनका अभिनन्दन करना चाहते थे पर यह सम्भव न हो सका। जब कभी भी हम उनसे मिलने जाते थे तो बाबूजी एक बात हमसे बड़े ही प्रेम से कहा करते थे, "मुझे भगवान ने सारी अनुकूलताएँ दी हैं—अच्छा परिवार, अच्छे मित्र ! मुझे धन तथा कीर्ति भी खूब मिली, पर जीवन की संध्या में अब मैं केवल मित्रों का स्नेह चाहता हूँ और चाहता हूँ कि लोग मुझसे कभी-कभी मिल जाया करें।" बाबूजी के इस स्मृति ग्रंथ को प्रकाशित करने में हमें उनके मानवीय गुणों ने ही अधिक प्रेरित किया। और इस प्रकार हमें जो उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने का सुअवसर मिला उसके लिए हम अपने को धन्य मानते हैं।

इस ग्रंथ के प्रकाशन में बाबूजी के परिवार के सदस्यों ने, उनके साहित्यिक मित्रों एवं महारथियों ने जो अपूर्व योगदान दिया है, उन सबके प्रति हम अपनी कृतज्ञता एवं आभार प्रदर्शन करना अपना पुनीत कर्तव्य समझते हैं। बाबू गुलाबराय जी के अनन्य भक्त डा० नगेन्द्र और डा. सत्येन्द्र ने अपने अत्यन्त व्यस्त जीवन में से समय निकाल कर हमको अपनी अमूल्य सम्मति से लाभान्वित करने के लिए कई बार आगरे आने की कृपा की, उसके

लिए हम उनके बहुत आभारी हैं। ग्रंथ के समस्त सम्पादकों ने भी अपने अनवरत परिश्रम द्वारा इस ग्रंथ को सर्वांग सुन्दर बनाने में अपना जो योगदान एवं परिश्रम किया है उनके प्रति भी हम अत्यंत आभारी हैं। श्री विश्वम्भर जी अरुण जो सम्पादकों में सबसे कम आयु के हैं, जिन्होंने पांच वर्ष के जटिल परिश्रम, लगन एवं उत्साह से इस ग्रंथ को सर्वांग सुन्दर बनाने में अपना अपूर्व योगदान दिया है, उसके लिए हम उनके विशेषरूप से आभारी हैं। मध्य प्रदेश शासन ने इस सम्बन्ध में एक हजार रुपये की जो वित्तीय सहायता दी है, उनके प्रति भी हम आभारी हैं।

राधेमोहन अग्रवाल

जगदीशप्रसाद अग्रवाल

रामनवमी, सं० २०२७।

अनुक्रम

प्रथम खण्ड

(बाबू गुलाबराय)

काव्याञ्जलि

जीवन

व्यक्तित्व

संस्मरण

कृतित्व

द्वितीय खण्ड

(भारतीय आलोचना)

बाबू गुलाबराय

जीवन, व्यक्तित्व और कृतित्व

(प्रथम खण्ड)

चिरस्मरणीय बाबू गुलाबराय
(१९६१ में जन्मदिवस के अवसर पर लिया गया चित्र)

वय से गुलाबराय जी को
क्यों न दूँ असीस
किन्तु झुकता है उन्हें—
श्रद्धा से स्वयं ह सीस !

—मैथिलीशरण गुप्त
(राष्ट्रकवि)

स्व. पं. हरिशंकर शर्मा, डी. लिट्

श्रद्धाञ्जलि

*

साहित्य-साधना से सुयश-ज्योति को जगाय,
तन त्याग स्वर्ग चल दिये बाबू गुलाबराय !

दर्शन-शास्त्र-प्रवीण, सुधी, साहित्य-प्रसारक,
लेखक, वक्ता, नेता, चेता, विज्ञ विचारक,
निस्पृह जन-सेवक, सद्‌गुरु, अध्यापक, पण्डित,
विनय, स्नेह, शुचिता, ऋजुता, गुण-गरिमा-मण्डित ।

समता रही सदैव कर्म्म में और कथन में,
सत् सेवा-व्रत धार, रमे साहित्य-सृजन में ।
थी सजीवता जीवन में, उत्साह बड़ा था,
विनयशीलता सहित, स्नेह-सागर उमड़ा था ।

सहृदयता से धर्म्म-कर्म्म का स्रोत बहाता,
वही वस्तुतः 'मानव' या 'मनुष्य' कहलाता ।
बाबूजी ने भी यह 'मानवता' अपनाई,
इसीलिये तो कीर्ति-कौमुदी इतनी छाई ।

नष्ट हो गयी नश्वर काया, ज्ञान-ज्योति कब मरती है,
वह तो मन्द मनोरथता में, भव्य भावना भरती है ।
प्रिय बाबूजी ! कभी आपको भूल नहीं हम जाएँगे,
समय-समय पर याद करेंगे, श्रद्धा से गुण गाएँगे ।

*

डा० रामप्रकाश अग्रवाल

हिन्दी का अरुणोदय

*

नींद-भार से नमित नयन, यह किसकी मौन मनीषा ?
दूर क्षितिज में किस भविष्य की करती विकल प्रतीक्षा?
सघन श्मश्रु करते अधरों से किस रहस्य की बातें ?
डूब रहीं 'नवरस'-तरंग में किसके सुख की रातें ?

झलक रहा प्राची के पथ से हिन्दी का अरुणोदय,
कौन समीक्षा में भर लाया दर्शन का सर्वोदय ?
किसके विपुल विनोद पुलकते संचित परिणत वय में ?
खोल रहा है कौन हृदय के परदे निश्छल लय में ?

ऊपर से गम्भीर किन्तु भीतर से शिशु-सा पुलकित,
'कुछ उथले कुछ गहरे' अनुभव शब्द-चित्र में अंकित ।
जिसने निज 'असफलताओं' में भी जीवन-रस पाया,
कर्म-कुशल योगी गीता का दुःख में भी मुस्काया ।।

सभी 'काव्य के रूप' परखता जो अपने चिन्तन में,
नये समीक्षक साथ चले, 'सिद्धान्त और अध्ययन' में।
नवल भरत वह ब्रज-वसुधा का 'नाट्य-विमर्श' प्रणेता,
सम्पादन का दूत सुखद, 'सन्देश' उसी का देता ।।

हिन्दी की 'इतिहास'-कथा 'संक्षिप्त'—'सुबोध' बनाई,
नव पीढ़ी के हित-साधन की बाड़ी सरस लगाई।
ओ सहृदय सुरभित 'गुलाब' से सदा रहो जन-मन में,
सूक्ष्म रूप से विकसित हो तुम हिन्दी के प्रांगण में ।।

*

राजेन्द्र रघुवंशी

बाबूजी की देन

*

सिन्धु सदृश गम्भीर किन्तु सरिता से चंचल
बादल सम जब उठे, तुरन्त झुक गये हिमांचल ।

कैसे दे वरदान सूर्य सम अस्त हो गये
कर सुवास से मुखरित, निद्रामग्न सो गये ।

करते हैं हम याद, कभी क्या फिर आओगे
नयी दिशाएं पुनः हमें क्या दिखलाओगे ।

दर्शन सा गम्भीर, विषय अति सहज कर दिया
लिख साहित्य-इतिहास उसे भी सुगम कर दिया ।

जीवन की हलचल को छूते रहे सदा ही
गहन गुत्थियां सुलझाने की रीति सिखा दी ।

हो छोटी सी बात किन्तु लेखनी उठाई
उथले को गहरा करने की राह बताई ।

बाबूजी का स्नेह सदा ही याद रहेगा
कितना ऋण है ! हाय, कभी वो चुक न सकेगा ।

पारसमणि को छूकर हर कण स्वर्ण हो गया,
बाबूजी का साथ मिला वह धन्य हो गया ।

*

प्रो. घनश्याम अस्थाना

यश-सौम्य के सम्राट

*

लोकजीवन में तपस्या, अमरता के सत्र !
ध्वान्त-आतङ्कित पथिक-पाथेय, ध्रुव नक्षत्र !

युग-मनस्-दिशि में मुखर तुम जागरण के तूर्य !
वाङ्मय के व्योम में तुम उगे बन तप-सूर्य !

होगयी कृत-कृत्य वाणी, शब्द, ध्वनि, रस-लास्य !
तुम गये छिटका शरद् की धूप जैसा हास्य !

तुम सुशीतल छाय, व्यापक, अडिग वट सुविराट !
दिव्य लोचन, मनस्वी, यश-सौम्य के सम्राट !

*

डा० कुलदीप

गुरुवर बाबूजी के प्रति

*

द्विवेदी युग नये पल्लव, नये कुछ पुष्प ले आया,
निबन्धों की नयी भाषा, नयी शैली में मुस्काया,
नयी आलोचना जागी, नये भावों का था संगम,
हमारे पूज्य 'बाबूजी' न पर तुमसा कोई पाया ।

तुमने साहित्य नये रूप में सँवारा था,
हास्य के पुट से कलम को सदा निखारा था,
तुमने सुरभित था किया नागरी के उपवन को,
नये पौधों को तुम्हारा सदा सहारा था ।

यूँ तो उपवन में कई पुष्प खिले-मुर्झाये,
श्याम बादल भी घिरे, शुक्ल पक्ष भी आये,
तुम्हारी एक कलम, सबको कलम कर बैठी,
गुलाब खिलने लगा, अन्य पुष्प शर्माये ।

वसे तो पुष्प कई और कलम अनगिन हैं,
लेखकों में भी कई 'शुक्ल' कई रस्किन हैं,
किन्तु जो बात तुम्हारी कलम में है बाबूजी,
वैसी फिर बात न आयेगी कभी एक भी दिन ।

गद्य-साहित्य की अच्छाइयों के सार थे तुम,
नयी पीढ़ी के लिये ज्ञान के भंडार थे तुम,
तुमने कितनों की उमंगों को रवानी दी थी,
एक लेखक थे, समीक्षक थे, कलाकार थे तुम ।

*

कलाकुमार

काँटों में गुलाब

*

वाणी का मंदिर नवीन श्रृंगार लिए शोभित था।
सुमन-सुरभि से द्वार-द्वार मधुमय सुरम्य सुरभित था।
सुमन एक अभिराम सहज काँटों में फूल खिला था।
वत्सलता, समता, सुहास्य वपु, सबसे हिला मिला था।

नेता सफल, मनुजता-चिंतक, तत्वान्वेषी दर्शक।
लेखक, चिर साहित्यकार, संस्कृति के थे उत्कर्षक।
वाह्याभ्यंतर साम्य, सरलता जहाँ सदा सरसाती।
थे वह विज्ञ मनीषि, जहाँ समरसता सदा सुहाती।

भावों में संधान-तीक्ष्ण, शैली में उच्छल यमुना।
स्नेहमयी गंगा की धारा पावन मधुर सुरचना।
वाणी का सौजन्य सदा ही सरस्वती लहराती।
मानव नहीं, स्वयं मानवता जहाँ धन्य हो जाती।

उनकी कृतियाँ सुमन-विटप के सुभग सहज मर्मर स्वर।
उनकी अनुगूंजित वाणी कलरवमय निर्झर सत्वर।
उनकी स्मृति में भावविनत स्नेहिल स्वर-स्पंदन।
उर-वीणा के तार-तार करते उनका अभिनन्दन।

*

पं० अमृतलाल चतुर्वेदी

स्व बाबू गुलाबराय जी

*

समुहैं राय गुलाब के का गुलाब की ताब,
ज्यों-ज्यों मुरझाये बढ़े, रंग, सुगन्ध गुन आब।

नीच मींच अजहूँ कहा प्यास बुझी ना तोर,
छाँटि-छाँटि हिन्दी-रतन पी गई रुधिर निचोर।

सतपूती है आज तौ हिन्दी लखति निपूत—
काल-गाल जाके गए समरथ अग्र सपूत।

हे हिन्दी हतभागिनी न कछु दिनन के बीच—
टंडन, राजन, राहुलौ मखै गुलाबहु मीच।

*

सुभाषी

श्रद्धा-सुमन

वयोवृद्ध ! साहित्य रसिक, दरसन गुन आगर।
मातु भारती-प्रिय चख-तारे, सुजस उजागर।
सौम्य मूर्ति, बुध जन-मन बसि, बरबस बस करनी।
सफल कला कृति, सरस हास रस मय बर बरनी।
मृदु मित भासी, सुहृदबर आलोचक अतिसय सरल।
सुरभित पाटल पुहुप सम, चहुँ दिसि कल कीरति अमल॥

*

रामनारायण अग्रवाल

हिन्दी-वाटिका के गुलाब

*

सहज सुहाबने हे, हृदय लुभाबने हे,
जाके जस सौरभ कों मापैं सो किनको ताब।
काव्य, इतिहास, हास्य व्यंग, रस-रंग रंगीं,
प्रतिभा की पंखुरी, सुरंगी मदभीनी आब।
'रामकवि' सहित की बिबिध समीरन सों
पी-पी रस पनपीं, दिगंतन ज्यों आफताब।
कंटक बिहीन रतनारे रंगबारे प्यारे,
गुलाबराय हिन्दी की बाटिका के हे गुलाब!

सरल सुबोध हे, कै मूर्तिमान शोध हे बे,
कैधों स्वेत हंस नीर क्षीर परखैया हे।
नागरी के नट हे, कै नाट्य हे, विदूषक हे,
सहित के सरस 'सन्देस' बितरैया हे।
सरल निबंध, के प्रभाकर प्रबंध के हे,
रस-सिद्धान्त के विधान के गढ़ैया हे।
कैधों रस-सागर कै सागर गुलाबराय,
कैधों पतवार, पार नाव के करैया हे।

*

प्रशस्ति

*

[१]

मंजुल मंगल मोद भर्यौ हिय
प्रेम पगौ प्रगट्यौ अनुरागौ।
फूल 'गुलाब' समान सुसोभित
भाल बिसाल प्रभाकर जागौ।
सीतलमंद समीर हँसी लखि
वीर बसंत को धीरज भागौ।
कोमल-कंचन - देह बिलोकत
'पंकज' भागि सराहन लागौ।

[२]

देव स्वरूप महा तपसी सुचि
रूप अनूप उदार स्वभाव सौं।
साधक सिद्ध सुजान सुरेस सो
जीत लियो मन प्रेम-प्रभाव सौं।
सील सने, हिरदै नवनीत सो
सांत सुसोभित भाव-विभाव सौं।
च्वै मकरंद मलिंद भ्रमैं मनु
'पंकज' लेत पराग 'गुलाब' सौं।।

*

डा० चन्दनलाल पाराशर 'पीयूष'

श्रियं वसन्तस्य गुलाबरायम् !

*

(१)

वन्देऽत्र साहित्यमहावने तं
रसानुसंसिक्तसमस्तकायम् ।
पदे-पदे सौरभपुष्पशोभं,
श्रियं वसन्तस्य गुलाबरायम् ॥

(२)

लोके प्रसिद्धं बहुरूपयुक्तं
सदा प्रफुल्लं सुषमासमेतम् ॥
भ्रमन्ति विद्वद्भ्रमराः समन्तात्,
श्रियं वसन्तस्य गुलाबरायम् ॥

(३)

साहित्यरागेण सदानुरक्तं,
विचाररत्नैर्विमलैर्विशिष्टम् ।
सत्यं शिवं सुन्दरमेकरूपम्
श्रियं वसन्तस्य गुलाबरायम् ॥

(४

आलोचकं काव्यरसस्य लोके,
साहित्यसिद्धान्तविवेचकञ्च ।
विद्यावरिष्ठं सुधियं वदान्यं,
श्रियं वसन्तस्य गुलाबरायम् ॥

(५)

त्यागेन, दानेन, श्रिया महान्तं
पर-स्व-भेदेन सदैव भिन्नम् ।
आधारभूतं निजसंस्कृतेश्च
श्रियं वसन्तस्य गुलाबरायम् ॥

*

रफ़ीकुल ग़नी

बाबूजी की याद में

*

जिसकी ख़ुशबू आज भी है इन्किलाब-दर-इन्किलाब !
'गुलिस्ताने आगरा' में ऐसा मेहका था "गुलाब" !!

जिसने 'हिन्दी' को दिया इक तर्ज़े-नौ, रंगो शबाब !
घोल दी थी शायरी में जिसने 'नवरस' की शराब !!

"शान्ति व मैत्री धर्म" जो कि अपनाके चला !
और "गान्धी मार्ग" पै जो हर तरह क़ायम रहा !!

"अपनी नाकामी[१]" पै भी जो रात दिन हँसता रहा !
"मन की बातें" जो सुनाकर सबको ख़ुश करता रहा !!

"भारती तहज़ीब के ख़ाके[२]" जो दिखलाता रहा !
'शायरी के मुख़्तलिफ़ अन्दाज़[३]" जो बतलाता रहा !!

"फिर निराशा क्यों" हो दिल को "जिन्दगी की राह[४]" में !
सारा भारत झूमता है आज तेरी चाह में !!

१ मेरी असफलताएँ
२ भारतीय संस्कृति की रूपरेखा
३ काव्य के रूप
४ जीवन-पथ

रामचन्द्र गुप्त

IN MEMORIAM

●

1

Oh Fate ! how cruel thou art to me ?
Thou snatchedst away my beloved brother,
In my declining period of life ;
Oh ! how can I indeed bear !

2

Tears roll down my cheeks full sore.
Oh, how can I forget my brother ?
His presence, his sweet voice, his love,
All arise my eyes before.

3

Oh brother ! thou hast now the eternal sleep ;
For me, thy memories and sorrows.
Thou hast left the world to its course,
But ah ! for me sad and hopless tears.

4

Oh brother ! no more shalt thou meet me,
From where can I ever have like thee ;
Thy sympathy, thy feelings, thy solace,
Ah ! shall no more come to me.

5

Thou hast left thy memory to me,
Oh ! thou art impossible for me to forget.
May Providence give thee that
Eternal bliss, comfort and peace.

●

मेरे आदरणीय

*

बाबू गुलाबराय जी के साथ काम करने या उनके सहचारी होने का सौभाग्य मुझे कभी नहीं मिला। क्योंकि बाबू गुलाबराय जी प्रधानतः साहित्यसेवी थे जबकि मैं इतना राजनीतिक जन्तु हो गया था कि मेरे सुहृद साथी कहते थे कि पालीवाल ने अपनी साहित्यिक आत्महत्या करली।

स्वाधीनता संग्राम के दिनों में, जब मैं बाबूजी के संसर्ग मे नहीं आया था तब यह समझता था कि रजवाड़ों के वातावरण में पले होने के कारण राजनीतिक दृष्टि से बाबूजी सत्तापरस्त होंगे।

लेकिन स्वदेश के स्वाधीन होने के बाद जब मैं बाबूजी के संसर्ग में ग्राया तब मेरा यह भय दूर हो गया। मैंने पाया कि यद्यपि मेरे और उनके विचारों में बहुत अन्तर था फिर भी वे सरकारपरस्त नहीं थे। उनका दृष्टिकोण सन्तुलित था। वे सरकार की जिन नीतियों को सही नहीं समझते थे, उनकी आलोचना करने में भी उन पर अपने व्यंग्य वाणों की वर्षा करने से भी नहीं चूकते थे।

बाबूजी की साहित्य सेवा, उनकी साहित्यिक प्रतिभा का तो कहना ही क्या है? वे साहित्य-शिल्पी तो थे ही, उन्होंने अपना समग्र जीवन ही हिन्दी और हिन्दी साहित्य और उसके माध्यम से स्वदेश की सेवा को ही समर्पित कर दिया था।

हिन्दी प्रेमी और एक अकिंचन हिन्दी सेवी होने के कारण ही मैं उनके प्रशंसकों की लम्बी पंक्ति में शामिल हो गया था।

जब तक अवकाश का भाव विवश नहीं कर देता था तब तक १९५० से मैं उनके जन्म-दिवस पर उनके यहाँ होने वाले उत्सव में सम्मिलित हुए बिना नहीं रहता था।

अपने शान्त, मृदुल और स्नेह परिपूरित साधु स्वभाव के लिए श्री बाबूजी मेरे लिये सदैव आदरणीय रहे।

—स्व. पं. श्रीकृष्णदत्त पालीवाल

*

हार्दिक श्रद्धांजलि

*

बाबू गुलाबराय जैसे विद्वान थे, वैसे ही साधुमना । उनमें दार्शनिक की गम्भीरता थी परन्तु वे शुष्क नहीं थे उनमें हास्य विनोद पर्याप्त मात्रा में था, किन्तु यह बड़ी बात थी कि औरों पर नहीं अपने ऊपर ही हँस लेते थे।

उनके दर्शन पहले पहल मुझे यहीं हुए थे। तब वे छतरपुर में थे। रसों पर उन्होंने एक पुस्तक लिखी थी, उसीकी पाण्डुलिपि लेकर वे पधारे थे। पहली ही भेंट में उनके प्रति मेरे मन में आदर उत्पन्न हुआ था, वह निरन्तर बढ़ता ही गया। फिर भी मैं उनके निकट सम्पर्क में आने का सुयोग नहीं पा सका । परन्तु जब भी भेंट हुई तब उनके प्रति आस्था ही बढ़ी। मैं उन्हें हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

—राष्ट्र कवि स्व. मैथिलीशरण गुप्त

बाबूजी ने हिन्दी के क्षेत्र में जो बहुमुखी कार्य किया, वह स्वयं अपना प्रमाण आप है। प्रशंसा नहीं, वस्तुस्थिति है कि उनके चिन्तन, मनन और गम्भीर अध्ययन के रक्त-निर्मित गारे से हिन्दी-भारती के मंदिर का बहुत-सा भाग प्रस्तुत हो सका है। मेरी हार्दिक श्रद्धांजलि उनको समर्पित है।

—स्व. पं. उदयशंकर भट्ट

मेरा बाबूजी के साथ सम्पर्क बहुत कम हुआ था। शायद मुझे स्मरण है कि पाँच-सात साल से अधिक हम लोग न मिल पाये थे, किन्तु जितना मैंने उनके व्यक्तित्व का निरीक्षण किया उससे मुझे ज्ञात हुआ जैसे कोई हीरा हो जो वेष्ठन में लिपटा हो। उनका जीवन ऊपर से तो बहुत ही सादा था किन्तु आन्तरिक ज्योति थी जो कि उनसे बातचीत करने पर प्रस्फुटित होता थी । कई बार वार्तालाप का अवसर मिला, उस समय मैंने देखा कि ऊपर से वे बहुत ही विनम्र थे। यानी कल्पना करना कठिन है कि उनसे भी अधिक कोई विनम्र हो सकता है। वे वयोवृद्ध थे और उनमें इतने गुण और विशेषताएँ थीं कि ऐसा लगता था मानों वे हमसे कुछ सीखना चाहते थे। किन्तु वास्तविकता इससे भिन्न है—वे तो हमारे गुरू थे। मैंने अनुभव किया कि ऐसे महान व्यक्तियों के सम्पर्क में आने से व्यक्ति अपने को गौरवान्वित अनुभव करता था और उनसे मिल कर एक अपूर्व सुख का अनुभव होता था। वे बड़ी आत्मीयता और सहज भाव के साथ मिलते थे। उनमें कृत्रिमता बिल्कुल नहीं होती थी। मैं उनकी पावन स्मृति में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

—स्व. डा. माताप्रसाद गुप्त

आदरणीय भाई गुलाबरायजी हिन्दी के उन साधक पुत्रों से थे, जिनके जीवन और साहित्य में कोई अन्तर नहीं रहा। तप उनका सम्बल और सत्य स्वभाव बन गया था। उन जैसे निष्ठावान, सरल और जागरूक साहित्यकार विरले ही मिलेंगे। उन्होंने अपने जीवन की सारी अग्नि परीक्षाएँ हँसते-हँसते पार की थीं।

उनका साहित्य सदैव नई पीढ़ी के लिए प्रेरक बना रहेगा।

—महादेवी वर्मा

बाबू गुलाबरायजी के दर्शनों का सौभाग्य मुझे एकाधिक बार साहित्य समारोहों में प्राप्त हुआ और हर बार मैं उनकी सहृदयता, समझ-बूझ और साहित्यानुराग का कायल हुआ। उन्होंने हिन्दी की जो सेवा की है, वह स्तुत्य और अनुकरणीय है। उन्होंने जो कुछ लिखा, जो-जो काम किए, वे एक सामान्य व्यक्ति की क्षमता और शक्ति को देखते हुए असामान्य ही कहे जायँगे। उनकी साहित्य-सेवा की परम्परा को कुछ व्यक्ति भी जारी रखवावें, तो उनकी स्मृति रक्षा की दिशा में बहुत बड़ा काम होगा।

—मोहनसिंह सेंगर

गुलाबरायजी आदर्श और मर्यादावादी पद्धति के दृढ़ समालोचक थे। भारतीय कवि-कर्म का उन्हें भली भाँति बोध था। विवेचना का जो दीपक वे जला गए उसमें उनके अन्य सहधर्मी बराबर तेल देते चले जा रहे हैं, और उसकी लौ और भी प्रखर होती जा रही है। हम जो अनुभव करते हैं—जो आस्वादन करते हैं वही हमारा जीवन है। वही वेदान्त का आनन्द और साहित्य का रस है। साहित्य में रस से भागने वाले निस्संदेह जीवन से भागकर शब्द-जाल का मतिभ्रम उत्पन्न कर रहे हैं।

स्वर्गीय गुलाबरायजी जीवन में मेरे प्रणम्य रहे हैं। आज मैं उनकी स्मृति को प्रणाम करता हूँ।

—पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र

अपने में खोये हुए, दुनिया को अधखुली आँखों से देखते हुए, प्रकाशकों को साहित्यिक आलंब, साहित्यकारों को हास्य रस के आलंबन, ललित-निबन्धकार, बड़ों के बन्धु और छोटों के सखा बाबू गुलाबराय की पुण्य स्मृति को शत शत प्रणाम !

—डा. रामविलास शर्मा

संकलतकर्त्ता-महेन्द्रजी

बाबू गुलाबरायजी की आत्मकथा

मेरे जीवन की सबसे बड़ी असफलता यह थी कि मैंने बसन्त पंचमी से एक दिन पहले इस पृथ्वी को भाराक्रान्त किया। मेरा जन्म इटावे में हुआ था। मुहल्ले का नाम तो सुना है, उसे छपैंटी कहते हैं; लेकिन उस घर का पता नहीं लगा सका जिसमें मेरा जन्म हुआ था। घर का वातावरण धार्मिक था। माताजी सूर और कबीर के पद गाया करती थीं। मुझ पर प्रह्लाद की कथा का बड़ा प्रभाव था। मुझे पूरा विश्वास था कि—'राम कृपा कछु दुर्लभ नाहीं।' मेरे पिताजी ने मेरे पढ़ाने में बहुत दिलचस्पी ली। पढ़ने लिखने के सम्बन्ध में यह कह सकता हूँ कि पढ़ने में तो मुझको रुचि थी, लिखने में नहीं।

मेरे पिता सरकारी नौकर थे। उर्दू से उन्हें द्वेष न था। इतना ही नहीं, वे उसका पढ़ना जरूरी समझते थे। तो भी कुछ धार्मिक संस्कार के कारण मेरी शिक्षा का प्रारम्भ 'बिस्मिल्ला इररहमानुर्रहीम' से नहीं हुआ। एक पण्डितजी आये। मुझसे हाथ पकड़ कर, 'श्री गणेशायनम:' लिखाया गया। अक्षरारम्भ कुछ घर पर हुआ, कुछ पाठशाला में। मुझे मालूम नहीं अक्षर-ज्ञान कराने में किसको कितना श्रेय है। हाँ, इतना अवश्य याद है कि मुझे कोई किताब नहीं दी गई थी। जब तक पाठशाला में पढ़ा तब तक तो दण्ड-विधान लागू नहीं हुआ, शायद तब तक 'पञ्च वर्षाणि लालयेत्' की बात चल रही थी लेकिन तहसीली स्कूल में आते ही दण्ड-विधान दावे के साथ शुरू हुआ। तहसीली स्कूल के पश्चात मैं अँग्रेजी शिक्षा के लिये जिला स्कूल में भरती हुआ। वहाँ अँग्रेजी की अतिरिक्त शिक्षा पिताजी ने दी और उर्दू की अतिरिक्त शिक्षा के लिए मकतब जाना पड़ा। मैंने आठवें दर्जे तक फारसी

पढ़ी। नव दर्जे में जब अरबी पढ़ने का सवाल आया तब मैं घबरा उठा। साइन्स पिताजी ने नास्तिक हो जाने के भय से नहीं लेने दी। संस्कृत ली और खुशी से ली। स्कूल के दिनों अंग्रेजी और संस्कृत से मुझे रुचि थी। शेष विषय तो कर्तव्य समझ कर अरुचि के साथ पढ़ लेता था। हिसाब से जी चुराकर भागता था। एन्ट्रेंस की परीक्षा के लिये आगरे आया। बाबू बनारसीदासजी की कृपा से वैश्य बोर्डिंग हाउस में ठहरा। आगरा कालेज के हाल में परीक्षा दी। उन दिनों 'लीडर' का जन्म नहीं हुआ था। परीक्षाफल जानने के लिये यू० पी० गजट ही एक मात्र साधन था। बधाइयाँ मिलीं और बड़े बड़े लोगों के घर जाकर स्वयं प्राप्त की गईं। पास होने पर सभी को मन ही मन धन्यवाद दिया गया। मेरी स्कूल की शिक्षा की इतिश्री हुई।

मैं आगरा कालेज का विद्यार्थी रहा हूँ और सेन्ट जॉन्स का भी। मुझ अनगढ़ प्रस्तर खण्ड की बाहरी रूपरेखा मिशन हाई स्कूल मैनपुरी में मिली थी। वह आगरा कालेज में गढ़ा गया और उसे सेन्ट जॉन्स कालेज में पालिश दिया गया। उस मूर्ति की वैश्य बोर्डिङ्ग में प्राण प्रतिष्ठा हुई।

यद्यपि मैं परीक्षाओं के सम्बन्ध में 'शनैः विद्या वित्तंच' के सिद्धान्त में विश्वास करता था। तथापि मैंने फिलासफी के एम० ए० के सम्बन्ध में अपने नियम को कुछ शिथिल कर दिया और कालेज में अध्यापकी करते हुए भी परीक्षा में इस प्रकार उत्तीर्ण हो गया जिस प्रकार कि हरिभक्त भवसागर को गोपद इव सहज ही पार कर जाते हैं। प्रयाग विश्वविद्यालय से, जिसके विराट उदर से अब चार और विश्वविद्यालय उत्पन्न हो गये हैं, केवल छः विद्यार्थी दर्शन-शास्त्र के एम० ए० में बैठे थे। उनमें से केवल दो उत्तीर्ण हुए थे। इस प्रकार मैं थर्ड क्लास फर्स्ट नहीं तो, थर्ड क्लास सेकिण्ड अवश्य था। कालिज में एक साल प्रोफेसरी कर मैं अपना प्रभाव जमा चुका था। उस पद पर मैं बना भी रहता किन्तु उसमें एक बहुत बड़ी बाधा यह थी कि मुझ में तुलसीदासजी की सी अनन्यता का अभाव था। मैं दो नावों में पैर रखना चाहता था। एम० ए० के साथ एल-एल० बी० के तीन अक्षर और जोड़ने का मोह संवरण नहीं कर सकता था।

•

फिर मैं नौकरी की चाह में डाकखाने की आमदनी बढ़ाने में योग देने लगा। मैं कौतूहल वश 'पायनियर' के पन्ने उलटने लगा। उसमें छतरपुर राज्य के लिये दर्शनशास्त्र के एक ऐसे अध्यापक की माँग थी जो पूर्वीय और पश्चिमी दर्शन में दक्ष हो। मैंने अर्जी भेज दी। अर्जी देकर मैं उसे भूल गया, लेकिन समय पाकर कर्म अपना फल देते ही हैं। एक महीने के पश्चात् मुझे छतरपुर के प्राइवेट सेक्रेटरी का पत्र मिला। लिफाफा खोलने पर अनुमान ठीक निकला। उसमें उन्होंने पूछा था कि मैंने उनके पहले पत्र का उत्तर क्यों नहीं दिया। महाराज साहब मुझसे मिलने के लिए उत्सुक हैं। छतरपुर जाने की तैयारी होने लगी। मैं छतरपुर पहुँच गया, हिज हाइनेस महाराज साहब के सामने मेरी पेशी हुई। बड़ी प्रसन्नता और कृपाभरी मुद्रा से महाराज ने मेरा स्वागत किया। उन्होंने मुझसे पूछा कि मैंने हर्बर्ट स्पेन्सर का अध्ययन किया है? महाराज ने बड़े आश्चर्य की मुद्रा धारण कर मुझसे पूछा कि

बिना हर्बर्ट स्पेन्सर के पढ़े एम० ए० कैसे हो गये। अंत में महाराज ने मुझको पान दिया। इस संकेत को मैं समझ गया और सबको प्रणाम कर अपने वास-स्थान को आ गया। महीने भर बाद मेरी नियुक्ति हो गयी।

नौकरी की जड़ें बहुत गहरी नहीं बतलाई जातीं। मैंने कई बार रस्सा तुड़ाकर भागने की कोशिश की। परम विनम्र भाव से महाराजा साहब से निवेदन किया, "जो काम मैं करता हूँ, उसे कोई मूर्ख से भी मूर्ख अधिक सफलता के साथ कर सकता है, मुझे घर जाने की छुट्टी दे दीजिये।" किन्तु उन्होंने यही कहा, "बड़े मूर्ख हो जो ऐसा सोचते हो, प्रत्येक काम में व्यक्तित्व की छाप रहती है। प्राइवेट सेक्रेटरी का काम तो बहुत भारी है, मुझे जूते पहनाने का भी काम जो करता है, वह वही कर सकता है और कोई नहीं।" वैसे तो अठारह वर्ष में अठारह ही शिशिर-बसन्त आये होंगे लेकिन मैं उनसे ऊबा नहीं, हर एक बसन्त नई छटा लेकर आता था। प्राइवेट सेक्रेटरी के नाते मेरी निजी ड्यूटियाँ तो थीं हीं, किन्तु तबेले के बन्दर की भाँति दूसरों की अलाय-बलाय भी मेरे सिर पड़ जाती थी। मेरे कर्तव्य दो प्रकार के थे—एक खासगत के, दूसरे रियासत से सम्बन्ध रखने वाले। प्राइवेट सेक्रेटरी का सबसे कठिन कार्य था मेहमानों की खातिरदारी और विदाई। महाराज के देहावसान के पश्चात् मुझे अवकाश ग्रहण करना पड़ा, क्योंकि उनके साथ ही उनके प्राइवेट सेक्रेटरी का पद भी गया। मुझे अठारह वर्ष में बीस वर्ष के हक की पेंशन मिल गई।

●

छतरपुर राज्य से लौटने पर मैंने जैन बोर्डिङ्ग हाउस आगरा की अनाहारी वा अनारी आश्रमाध्यक्षता (वार्डनशिप) स्वीकार की। जलेसर में मेरा पैतृक घर है किन्तु वहाँ न तो बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध था और न मेरे स्वाध्याय का सुभीता। आगरा में विद्यार्थी जीवन व्यतीत करने के कारण उससे विशेष मोह हो गया था। उसको छोड़ने की इच्छा नहीं होती थी। मेरे आर्थिक सलाहकार मकान बनाने में सहमत न थे। किन्तु चिड़ियाँ अपने नीड़ में विश्राम लेती हैं, साँप के भी बाँबी होती हैं, भेड़िया अपनी माँद में रहता है, चूहे भी अपने बिल खोद लेते हैं, तो मेरे शरीर को आतप और मेघ से सुरक्षित रखने के लिए टूटा-फूटा मकान भी न हो, आत्मभाव जाग उठा। मुझे किराये के मकानों से चिढ़ सी हो गयी थी। मुफ्त के मकान अब भाग्य में कहाँ ? जेल जाने की शरीर में सामर्थ्य नहीं। अब बस अपना ही मकान बनाने का कठोर सङ्कल्प किया। मकान के लिए जमीन तलाशने लगा। जहाँ मैं जमीन चाहता था वहाँ की एक-एक इञ्च जमीन बिक चुकी थी। एक गड्ढा अछूता था। प्रेमान्ध की भाँति उसके प्रत्यक्ष दोष भी मैं न देख सका। जमींदार महोदय ने मेरे सिर पर उल्लू की लकड़ी फेरी। दो सौ रुपये में गड्ढा भर जाने की बात में आ गया और बात की बात में बयनामा करा लिया। जमीन मिलते ही कारीगर और ठेकेदार उसी भाँति मँडराने लगे, जिस प्रकार मुर्दे को देखकर गिद्ध मँडराते हैं। बिना आगा पीछा देखे, विघ्नेश का नाम लेकर, नींव खुदाई शुरू हुई। नींव के लिए समझता था, गड्ढे होने के कारण कम खुदाई की आवश्यकता होगी। जिधर गड्ढा नहीं था उधर थोड़ी ही दूर पर पक्की जमीन निकल आई और गड्ढे की ओर जितना खोदा जाता, उतनी ही पक्की जमीन दूर होती थी। नींव जैसे-जैसे नीचे जाती, वैसे-

वैसे ही मेरा दिल भी गड्ढे में बैठता जाता। अन्त में सभी ने मुक्तकण्ठ से बड़ी बुद्धिमत्ता प्रदर्शित करते हुये, तहखाने का परामर्श दिया, मानो तहखाना कोई ऐसा छू-मन्तर था जिससे मेरी कठिनाइयों का अन्त हो जायगा। तहखाना बनना शुरू हुआ और ईंट चूने का स्वाहा होने लगा। लखनऊ निवासी मेरे मित्र शिवकुमार जी ने आशीर्वाद दिया कि मुझे गड्ढे में गुप्त धन गढ़ा मिल जायगा। मैंने कहा कि गढ़ा हुआ धन तो क्या मिलेगा, किन्तु मैं अपना कठिनता से सञ्चित किया हुआ धन ईंटों के रूप में पृथ्वी में गाढ़ रहा हूँ। पुराने लोग धन जमीन में ही गाढ़ते थे। सनातन धर्म की रीति से मेरा रुपया वसुन्धरा बैङ्क में जमा होने लगा।

दूसरे प्रोफेसरों को कोठियों में रहते देख मैं भी प्रोफेसरों में करीब-करीब बेमुल्क का नवाब था। मुझे भी कोठी बनाने का शौक चर्राया था। मेरे सामने दो आदर्श थे। श्री भोंदा-राम जी ठेकेदार चाहते थे कि अकबर की इस नगरी में कम से कम लाल पत्थर के किले की टक्कर का एक दूसरा किला बनवाऊँ और मेरी इच्छा थी कि अपने पड़ोस के काछियों के अनुकरण में एक झोंपड़ी डाल लूँ। इन्हीं परस्पर विरोधिनी इच्छाओं के फलस्वरूप मेरा मकान तैयार हो गया।

सितम्बर (१९३९) के महीने में, पानी की त्राहि-त्राहि मची हुई थी। खैर फिर भी गरीब किसानों की सार को भस्म करने वाली आहों के बादल बनते दिखाई दिये। ऐसा मालूम होने लगा कि अब दीनदयाल के कान में भनक पड़ी। "घूम धूआँरे कारे कजरारे" श्याम घनों को देखकर मेरा मन मयूर नृत्य करने लगा। मेह के कारण शरीर में जो स्फूर्ति आई थी उससे प्रेरित हो लिखने बैठ गया। कभी-कभी बाहर जाकर मेघाच्छादित गगन मण्डल की शोभा निरख लेता था। किन्तु मैं यह नहीं समझता था कि इस सौन्दर्य में इतना विष भरा है। पीछे की तरफ प्रायः एक फुट पानी भर गया। मेरी सौन्दर्योपासना अविचलित रही। क्योंकि ऐसा कई बार हो चुका था। सायंकाल तक सारा दृश्य रस के दोनों अर्थों में रसमय था। वह जलमय था और आनन्दमय भी। यद्यपि पानी के साथ थोड़ी-थोड़ी आशङ्का बढ़ रही थी। तथापि मामला रस से विरस नहीं हुआ था। यह सब ऊहापोह हो ही रहा था कि पास की जमीन का पानी मर्यादा के बाहर होकर मेरी जमीन में आ गया। थोड़ी ही देर में पानी रोशनदान के मुँह तक पहुँच गया और उनमें होकर जल प्रपात होने लगा। नाइग्रा फॉल मैंने देखा तो नहीं है किन्तु फिर भी कह सकता हूँ कि वास्तविकता पर कल्पना का रंग चढ़ा लेने से उसी का सा कुछ-कुछ दृश्य उपस्थित हो गया। एक साथ बिजली ठप हो गई। सूची-भेद्य अन्धकार का साम्राज्य हो गया। लालटेन की पुकार होने लगी। एक टूटी-फूटी टार्च थी किन्तु उसके ढूँढ़ने के लिए भी टार्च की जरूरत पड़ती। खैर जैसे-तैसे दीपक का आयोजन हुआ: उसको झंझावात का सामना करना पड़ा। मेरे चाकर देव पड़ौस से लालटेन लाये। इतने में मेरा चालीस फुट लम्बा सेलर सैण्ट जॉन्स कालेज के स्विमिंग बाथ की होड़ करने लगा। प्रलय-पयोधि उमड़ रहे थे। प्रालेय हलाहल नीर बरसने लगा। मेरे दरिया में तूफान आ गया। मैं अपने हाल को नूह की किश्ती या मनु की नौका समझ रहा था। उसी समय मेरी गुर्विणी (भैंस) की समस्या मेरे सामने आई। उसका छप्पर भी तालाब बन चुका था। मेरे घर के सामने भी

पानी बहने लगा और मेरा मकान प्रायद्वीप से द्वीप बन गया। बरांडे और शयनागार का भी फर्श बैठ गया और उनकी टाइल मेरे बैठते हुए दिल की समता करने लगे। तब जल्दी से मैंने बनर्जी साहब का निमन्त्रण स्वीकार किया। मकान से ताला लगाकर उनका द्वार खटखटाया। उन्होंने मुझे, मेरे नौकर तथा मेरी भैंस को अपने यहाँ आश्रय दिया। सुबह उठकर जलप्लावन का व्यापक एवं भयंकर दृश्य देखा। मेरा घर भी पानी में था, फिर मेरे नारायण होने में क्या कसर थी? इस प्रकार बिना करनी के ही मैं नर से नारायण बना।

प्रातःकाल ही आगरे के महेन्द्रजी अपने नामरासी नन्दन कानन बिहारी सुरराज की काली करतूतों की आलोचना करने निकल पड़े थे। वे अजानु जल को पार कर मेरे यहाँ पधारे। उन्होंने चुँगी देवी के रसिकपति श्री सेठ ताराचन्दजी से आग बुझाने का इञ्जन, पानी की बाधा शमन करने के लिए, माँगने का वायदा कर लिया। इञ्जन आया भी लेकिन अधिक प्रभावशाली और मुझसे कम मुसीबतजदा लोगों के हाथ पड़ गया। उस रोज सिवाय सहानुभूति प्राप्त करने के कुछ न कर सका। दूसरे दिन अगस्त ऋषि का याँत्रिक अवतार फायर ब्रिगेड का पम्प टन-टन करता हुआ आया। उस रोज की भीषण वर्षा के कारण फायर ब्रिगेड को भी हार माननी पड़ी। जितना पानी निकलता उतना ही रक्तबीज की भाँति और बढ़ आता। बेचारे विद्यार्थियों ने—जिनमें नृपतसिंह, सत्यदेव पालीवाल, चिरञ्जीलाल एकाकी, पद्मसिंह शर्मा, तारासिंह धाकरे, प्रमोद चतुर्वेदी का नाम मुझे स्मरण है, कमर-कमर पानी में घुस कर बाहर का पानी रोकने के लिए मिट्टी भरे बोरों का बाँध बाँधा। किन्तु सब निष्फल हुआ। तीसरे दिन फिर टिटहरी प्रयत्न शुरू हुए। परातों से पानी उलीचा गया। चौथे दिन बड़ी सिफारशों से इञ्जन मिला। सेलर का पानी निकला और इस प्रकार पूरे सप्ताह बाद जल बाधा मिटी। शायद ब्रज पर भी ब्रजराज का सात रोज कोप रहा था।

●

मेरे पिताजी ने मुझ से एक बार पूछा कि बेटा नौकरी में कुछ रुपया जमा किया है? मैंने कहा "हाँ, वह खेत में जमा है।" मेरी खेती नितान्त निष्फल नहीं थी। व्यापार का मुझे अधिक विस्तृत अनुभव है। खेती में रुपया न खराब कर मैं रुपया घर भेजने लगा। वह रुपया एक समीपवर्ती अन्न और कपड़े के व्यापारी के यहाँ आठ आना सैकड़े की ब्याज पर जमा होना शुरू हुआ। एक या डेढ़ वर्ष के बाद ही मेरे सेठजी को दस-पन्द्रह हजार का टोटा आया, उसमें वे मेरे भी चार हजार दे बैठे। ब्याज के लोभ में मूल भी गया। मैंने तीन-चार बार शेयर भी खरीदे, किन्तु जिस कम्पनी में मैंने भाग लिया उस कम्पनी का भाग फूटा और साथ ही मेरा भी। रिजर्व बैंक के शेयरों का भाव गिरने पर मैंने उनको बेच डाला किन्तु जब से मैंने उनको बेचा है तब से उनका भी भाव बढ़ गया है। लोग बीमा कराना कम जोखिम का काम समझते हैं। जोखिम कम्पनी का अधिक रहता है। किन्तु दो एक कम्पनियों में तो पालिसी लैप्स हो गई और जिसमें चलती रही वह लिक्वीडेशन में आ गयी। मैंने रुई और सोने में भी अपनी भाग्य परीक्षा की किन्तु उसमें एक साथ अढ़ाईसौ की हानि हुई। सोना जब बाईस रुपया तोला हुआ तो पचास तोला सोना खरीदने की सूझी। कानपुर में वह

सोना चोर के हाथ लगा और उसके बाद भाव भी ऊँचा चढ़ गया। मैं हाथ मलता रह गया। अब तो धक्के खाकर होशियार हो गया हूँ। गाँठ में कुछ न रहने पर यह बात गाँठ बाँध ली है कि 'आधी छोड़ एक को धावे, आधी रहे न पूरी पावे।'

•

पहले पहल मेरे लेखों को इलाहाबाद के 'विद्यार्थी' ने अपनाया था। पहला लेख 'साहित्य के क्रम विकास' पर था। कलाओं में काव्य के स्थान पर शायद मैंने ही पहला लेख लिखा था। यह १९१२ या १३ की बात है। १९१३ में छतरपुर पहुँच गया था। उसी साल 'शान्ति धर्म' नाम की मेरी पहली किताब निकली थी। देवेन्द्रप्रसाद जैन के प्रकाशन को देखकर मैं मुग्ध हो गया था। जिस प्रकार एक फ्रांसीसी महिला ताजमहल को देखकर इस शर्त्त पर प्राण त्याग करने को तैयार हो गई थी कि उसकी भी कब्र ताजमहल जैसी बनादी जाय, उसी प्रकार मैं भी लेखक बनने को इस शर्त्त पर तैयार हो गया कि देवेन्द्रप्रसाद के अन्य प्रकाशनों की सी सजधज के साथ मेरी भी पुस्तक इण्डियन प्रेस में छपवा दी जाय। पुस्तक प्रकाशित तो प्रेम-मन्दिर आरा से हुई किन्तु छपी इण्डियन प्रेस में ही। फैदरवेट पेपर और चाँदी के वर्कों के साथ घुटी हुई स्याही के कारण उसका गेटअप बड़ा आकर्षक हो गया था। मुझे लेखक जीवन की सबसे बड़ी प्रसन्नता तब हुई जब एक रोज ह्वीलर की बुकस्टाल के छोकरे ने मुझे मेरी ही पुस्तक यह कहकर दिखाई कि "बाबू साहब! यह नई पुस्तक आई है, बड़ी अच्छी निकली है।" दूसरी किताब 'फिर निराशा क्यों?' के नाम से छपी। मेरे मन में यह बात आई कि मैं गद्य ऐसा लिखूँ कि जो पद्य के कान काटे। इसी प्रेरणा से 'फिर निराशा क्यों?' लिखी। उस समय गद्य काव्य का लिखना बहुत ही प्रारम्भिक अवस्था में था। इस पुस्तक का सम्पादन श्री शिवपूजन सहाय ने किया था। इसी ने मुझे हिन्दी के निबन्ध लेखकों की पंक्ति में बैठने का प्रवेशपत्र दिलाया। श्री शुकदेवबिहारी मिश्र की सिफा-रिश से मुझे 'मनोरञ्जन पुस्तकमाला' में 'कर्तव्यशास्त्र' लिखने को मिला। लोकमान्य तिलक के गीता-रहस्य के सुनने से मेरी यह धारणा हुई कि भारतीय दृष्टिकोण से कर्तव्यशास्त्र लिखा जा सकता है। मनोरञ्जन पुस्तकमाला में एक पुस्तक छप जाने से मैं अपने को लिक्खाड़ समझने लगा। नागरी प्रचारिणी सभा से मेरा सीधा सम्बन्ध हो गया, उसके लिए 'तर्कशास्त्र' और 'पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास' लिखा। अभी तक मैंने दार्शनिक पुस्तकें ही लिखी थीं। मैंने छतरपुर जाते ही 'नवरस' के विषय का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। उस समय अयोध्या नरेश के लिखे हुए 'रस रत्नाकर' के अतिरिक्त हिन्दी गद्य में इस विषय का और कोई ग्रन्थ न था। इस विषय पर पहला लेख इन्दौर के पहले साहित्य सम्मेलन के लिए लिखा। उसी को विस्तृत कर पुस्तकाकार कर दिया। 'ठलुआक्लब' के शीर्षक का सुझाव जैराम के० जैराम से हुआ। ये पुस्तकें स्वान्तः सुखाय लिखीं, शेष पुस्तकों का अधिकांश में 'उदर निमित्त' निर्माण हुआ। लेखक भी मैं ठोकपीट कर ही बना हूँ। प्रतिभा अवश्य है किन्तु यह एक तिहाई से अधिक नहीं। मेरे लेखन में दो तिहाई परिश्रम और चोरी रहती है। लेखन के पीछे ठोस पाण्डित्य का प्रदर्शन अधिक रहता है। मुझमें पाण्डित्य का विस्तार चाहे हो किन्तु गहराई नहीं है और बावन तोले पाव रत्ती वाली यथार्थता और निश्चयता और भी

कम । किन्तु मैं इस कमी को सफलतापूर्वक छिपा लेता हूँ । लेखन से मुझे अर्थ-लाभ भी हुआ और यश लाभ भी, किसकी मात्रा अधिक रही यह नहीं कह सकता । मुझे शिकायत किसी और से नहीं है । मैंने अपने जीवन में कोई कहानी नहीं लिखी । इसलिए नहीं कि वह लिखने योग्य चीज नहीं है वरन् इसलिये कि मुझमें कहानी लिखने की योग्यता नहीं है । इसी प्रकार कवि हृदय पाकर भी मैं कविता नहीं लिख सका । इसका कारण तो यह है कि जब तक गहरी वेदना न हो तब तक कल्पना जाग्रत नहीं होती ।

●

लेखन के सम्बन्ध में संक्षेप में मैं यह कह सकता हूँ कि मुझे चोरी की कला आ गई है । मुझे दूसरों की कृतियों में बिना ताला तोड़े या एक्सरे का प्रयोग किये ही रत्न मिल जाते हैं । रत्न अपने ही प्रकाश से प्रकट हो जाते हैं । उन रत्नों को मैं वैसा ही बाजार में नहीं ले जाता । उनको थोड़ा बहुत गढ़ता हूँ, जिससे पहचान में नहीं आवें । सम्भव है कि वे इस प्रयत्न में थोड़े बहुत विकृत भी हो जाते हों । लेकिन मेरी चोरी आज तक पकड़ी नहीं गई । बस मेरे जीवन की यही सफलता है । मेरी रचनाओं में तार्किक क्रम अधिक रहता है । यह मेरे दार्शनिक संस्कारों का फल है । मुझे हास्य का एक पुट देने में उतनी ही प्रसन्नता होती है जितनी कि प्राचीन समय के सूत्रकारों को एक अक्षर या मात्रा के बचाने में । मैं लिखता तो बिना विचारे ही हूँ, इससे कभी-कभी पछताना भी पड़ता है, लेकिन बहुत कम । लेख के प्रारम्भ में थोड़ा बहुत अधिक परिश्रम कर लेता हूँ । बिना तीन चार कागजों का बलिदान किये किसी सफल लेख का श्रीगणेश नहीं होता । मेरे लेख में काट-छाँट और घटा बढ़ी भी होती है । बीच में से ऐरो लगाकर जोड़ा भी अधिक जाता है । मेरी शैली में बहुत से दोष हैं जो कभी-कभी उसके गुणों को दबा लेते हैं । मैं अपनी भाषा को आडम्बरपूर्ण बनाने से बचाता हूँ । लेकिन सरल भाषा को गौरव-शालिनी बनाना मुझे नहीं आता । इसी कारण मेरी भाषा में शैथिल्य आ जाता है । बहुत से दोष होते हुए भी लोगों ने मेरे लेखों को पढ़ने योग्य समझा है । इसका यही कारण है कि मैं कहने के लिए कुछ तथ्य की एक बात खोजता हूँ और उसे येनकेन प्रकारेण पूर्णतया हृदयङ्गम करने का प्रयत्न करता हूँ । उसमें हास्य का पुट देकर उसे ग्राह्य बना देता हूँ । यही मेरी कलम का राज़ है ।

मैं उन लोगों में से हूँ जो अपने निजी निबन्धों के लिए बिना कुछ पढ़े नहीं लिख सकते । वास्तव में मेरे लेखन में एक तिहाई दूसरे से पढ़ा होता है । एक बटा छह उसके आधार से स्वयं प्रकाशित और ध्वनित विचार होते हैं, एक बटा छह सप्रयत्न सोचे विचार रहते हैं और तिहाई मलाई के लड्डू की बर्फी बना कर चोरी को छिपाने वाली अभिव्यक्ति की कला रहती है ।

मैं अब यह अनुभव करता हूँ कि लेखक रुपयों के बदले में अपना क्या कुछ नहीं देता किन्तु शोषण में किसी प्रकार की जबरदस्ती नहीं है । उससे मुझे धन और ख्याति प्राप्त करने का अवसर मिलता है । लेखन कार्य ने मेरे जीवन का भार हलका करने में सहायता की है । लिखने से ही मेरा जीवन सरस और सम्पन्न बना है ।

ख्याति की चाह को मिल्टन ने बड़े आदमियों की अन्तिम कमजोरी कहा है, लेकिन शायद यह मेरी आदिम कमजोरी है, क्योंकि मैं छोटा आदमी हूँ। यश लोलुपता के पीछे दुःख भी काफी उठाना पड़ता है। ख्याति की चाह ही जिसको मैं दूसरों की आँखों में धूल झोंकने के लिए साहित्य-सृजन की अदम्य प्रेरणा कह दूँ, मुझे इस समय जाड़े की रात में गद्दे लिहाफ का संन्यास करा रही है। मान मद तो मुझ में नहीं है, फिर भी बड़े आदमियों द्वारा अपमान को सहन नहीं कर सकता हूँ। गरीब आदमी द्वारा किया हुआ अपमान मैं महर्षि भृगु की लात की भाँति सहर्ष स्वीकार कर लेता हूँ क्योंकि वह बिना किसी कसक के या बिना किसी हीनता ग्रन्थि के सहज में दूसरों का अपमान नहीं करता। क्रोध भी मैं अपने से बड़ों पर ही करता हूँ। छोटों पर दिखावटी क्रोध भी नहीं करता। द्वेष तो मैं किसी से नहीं रखता।

●

जिस प्रकार एक देव मन्दिर में देवता तो बहुत से होते हैं किन्तु प्रधान पद पर एक ही देवता प्रतिष्ठित होता है, अथवा राजनीतिक उपमान चाहिए तो यों कह लीजिए कि जिस प्रकार एक राष्ट्र में छोटे पूरे बहुत से राज्य हो सकते हैं किन्तु प्रधान सत्ता एक ही की होती है उसी प्रकार मेरे शरीर में रोग तो बहुत हैं परन्तु ब्रिटिश सत्ता की भाँति प्रधान सत्ता मधुमेह की है।

यद्यपि मैं अभी "अङ्गं गलितं पलितं मुण्डम् दशनविहीनं जातं तुण्डम्, करधृतकम्पित शोभित दण्डम्" वाली श्री शङ्कराचार्यजी द्वारा की हुई वृद्ध की परिभाषा से कम से कम दो तिहाई अंश में दूर हूँ और इस भय से कि कोई यह न कह दे कि 'वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डम्' मैं दण्ड धारण भी नहीं करता, फिर भी निशक्त होकर यदि पातक, राजा, रोग इन तीनों में से किसी का भी शिकार बनूँ तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

ईश्वर की कृपा से बाइबिल में बताई हुई मनुष्य की आयु को मैंने पार कर लिया है और उसके लिए मैं हृदय से अनुगृहीत हूँ क्योंकि साठ वर्ष के पश्चात् मैं एक-एक दिन को ईश्वरीय देन समझता हूँ। अब 'जीवेम शरदः शतम्' के वैदिक आदर्श को कहाँ तक पूरा कर सकूँगा इसको वेदों का कर्त्ता ईश्वर ही जाने। मैं तो पन्द्रह का पहाड़ा पाँच तक पढ़ लेने में अपने को कृत-कार्य समझूँगा। मैं चाहता हूँ कि जब तक जीऊँ तब तक 'कुर्वन्नेह कर्माणि जिजीविषेच्छितं समाः' की उक्ति चरितार्थ करूँ।

[बाबूजी की 'मेरी असफलताएँ' पुस्तक से संकलित]

●

[सौभाग्य से बाबूजी की दोनों इच्छाएँ पूरी हो गईं। उनका स्वर्गवास ७५ की आयु पूरी होने के बाद ही हुआ और वे जब तक जीवित रहे साहित्य की सेवा करते रहे। —सम्पादक]

श्री विश्वम्भरदयालु गुप्त

बाबूजी का परिवार
और
उनका पारिवारिक जीवन

बाबूजी जैसे सन्त और महामानव के लिये समस्त संसार ही कुटुम्ब होता है (वसुधैव कुटुम्बकम्) उनका जीवन विरत जनीन विभुता को आत्मसात् करता है। उनके कुछ शिष्य उनके परिवार के सदस्य-तुल्य ही नहीं बन गये थे, वरन् कुछ व्यक्ति तो उनके निकटतम आत्मीय जनों से भी अधिक उनके निकट थे। ऐसे महापुरुष के परिवार की परिधि खींचना कुछ कठिन ही काम है।

बाबूजी का जन्म एक सम्भ्रान्त वैश्य कुल में हुआ था। उनके पूज्य पिताजी बाबू भवानीप्रसाद जी इटावे में मुन्सरिम थे। उनकी माता का नाम गोमती देवी था। वे अपने माता-पिता के ज्येष्ठ पुत्र थे। पिता जी अत्यन्त ही धार्मिक विचार के पुरुष थे। कचहरी में सरकारी काम करते समय मन में राम-नाम का जप किया करते थे। जीवन में नितान्त ईमानदारी बरतते थे। उनकी इस ईमानदारी का एक उदाहरण मुझे बाबू जी ने बताया था। बाबूजी जब आठवीं कक्षा के विद्यार्थी थे, तो उनके पिताजी को मैनपुरी से आगरा आने का काम पड़ा। मैनपुरी पर गाड़ी छूट जाने के भय से वे टिकट न ले सके। आगरा फोर्ट स्टेशन पर भी किसी ने उनसे टिकट न माँगा। बाहर निकल कर उन्होंने मैनपुरी का डेढ़ टिकट खरीदा और वहीं फाड़ कर फेंक दिया। बाबूजी कहा करते थे कि इस एक घटना का उनके जीवन पर अक्षुण्ण प्रभाव पड़ा था। जब वे छतरपुर राज्य में महाराजा के निजी-सचिव और फिर मुख्य न्यायाधीश भी रहे तो ऐसे कितने ही अवसर आये जब बड़े प्रलोभनों के कारण उनके पैर डगमगाये (उन दिनों रियासतों में ऐसी बातें साधारण थीं) किन्तु

पिताजी का वह उदाहरण उनके ऐसे परीक्षा के क्षणों में सम्बल की भाँति यकायक सामने आ जाता था और उनके डगमगाते पैर फिसलने से बच जाते थे। इसका एक उदाहरण उनके राजकीय जीवन के अध्याय में भी पढ़ने को मिलेगा।

माता गोमती देवी सूर के पद और तुलसी की चौपाइयों को बड़े भक्ति-भाव और संगीत के स्वर में नित्य-प्रति कई घण्टे पढ़ा करती थीं। उनको राम-भक्ति के भजन स्वयं बनाने की भी प्रतिभा थी। ऐसे कुल में जन्म लेने से बाबूजी के संस्कार में भगवान् के प्रति आस्था, नैतिकता में अटूट निष्ठा और जीवन में कलात्मकता का होना स्वाभाविक ही था।

बाबूजी के एक छोटे भाई श्री रामचन्द गुप्त हैं। ये हिमाचल प्रदेश सरकार में अर्थ विभाग के उप-सचिव थे। वहाँ से अब अवकाश ग्रहण कर चुके हैं। आजकल शिमला में 'योगोदा आश्रम' (एक आध्यात्मिक संस्था) के संचालक हैं। ये बाबू जी के समान ही सरल, निश्छल एवं उदार हैं। स्वाधीनता से पूर्व वे पौलिटिकल-विभाग में भी कई उच्च पदों पर रह चुके थे, अतएव उनकी व्यावहारिकता अधिक परिमार्जित है। धर्म में अटूट श्रद्धा, अपने स्वर्गीय पिताजी के समान ही है। साधु-संतों में ही अधिक समय व्यतीत करते हैं। गेरुआ-वस्त्र-धारी मनुष्य के लिये यों ही नत मस्तक हो जाना, उनका स्वभाव बन गया है। "ना जाने किस रूप में नारायण मिल जायँ" में उनको पूर्णरूपेण विश्वास है। बाबूजी की एक छोटी बहिन थीं। कई वर्ष पूर्व वह अपने समृद्ध परिवार को छोड़कर परलोक सिधार चुकी हैं।

बाबूजी का विवाह मेरठ निवासी सेठ श्री पूरनमलजी की पुत्री से हुआ था। बाबूजी की पत्नी का नाम पूज्या भगवती देवी है। बाबूजी के तीन पुत्र और पाँच पुत्रियाँ हैं। पुत्रों के नाम क्रमशः रामशंकर, शिवशंकर और विनोदशंकर हैं। रामशंकर जी सैन्ट्रल एक्साइज विभाग में एक सम्मानित पद पर हैं। उनके दूसरे पुत्र डा० शिवशंकर, एम० डी० भोपाल मैडिकल कॉलेज में फार्माकौलौजी विभाग के अध्यक्ष हैं। औषधियों पर अनुसंधान कर रहे हैं, जिससे भारत में ही नहीं, विदेशों में भी उनके काम की सराहना हो चुकी है। सबसे छोटे पुत्र पुरातत्व विभाग में हैं। उनकी पुत्रियों के नाम क्रमशः रामेश्वरी देवी, सीता देवी, सुधा देवी, उमा देवी और प्रभा देवी हैं। ये पाँचों पुत्रियाँ संभ्रान्त कुलों में ब्याही हुई हैं। और इस प्रकार बाबूजी का परिवार अत्यन्त ही समृद्ध और सुखी कहा जा सकता है। अपने जीवन के पिछले कुछ वर्षों में तो उन्हें कुछ शारीरिक व्याधायें लग गई थीं, लेकिन इन रोगों के होते हुये भी वह अपने को नीरोग ही समझा करते थे। 'शरीर व्याधि मन्दिरम्' के अनुसार छोटे-मोटे रोग चलते रहना तो शरीर का स्वभाव ही समझते थे। बाबू जी सरस्वती के पुत्र तो थे ही, साथ ही साथ उन पर लक्ष्मी की भी महती कृपा रही थी। धन, वैभवपूर्ण यदि उनके जीवन को सातों सुखों का एक नमूना कहा जाय तो उचित ही होगा।

●

मेरे ऊपर बाबूजी की महती कृपा रही थी। पित्र-स्नेह का अधिकारी में था ही (जामात्र होने के कारण), किन्तु मेरी साहित्यिक रुचि के कारण मुझे वे अपने सहायक के रूप में ही मानते थे। एक अखिल-भारतीय-सेवा में होते हुये भी मुझे कई वर्ष आगरा रहने

को मिला। इस अवधि में उनके सान्निध्य में रहने का सौभाग्य भी मुझे पर्याप्त मिला। बाबूजी से जो मैंने सीखा यह है 'दूसरे के दृष्टि-कोण को महत्त्व देना'। एक बार मैं बाबूजी की कोठी पर ठहरा हुआ था। उनकी कोठी के आउट-हाउस में ऐसे लोग रहा करते थे जो किराया न देने के बजाय, घर के छोटे मोटे काम कर दिया करते थे। माताजी अंगीठी जला रही थीं। उन्हें उसमें काफी परेशानी हो रही थे। उन्होंने कई आवाज लगाईं, लेकिन आउट-हाउस से कोई नहीं आया। इस पर मुझे क्रोध आया और मैंने एक लड़के को डाँटा। बाबूजी सब सुन रहे थे उन्होंने मुझे बुलाकर कहा कि डूँगर (उनका निजी सेवक) ही अंगीठी जला देता, उस लड़के को अपना काम करने देते। फिर उस लड़के को बुलाकर उसके काम-काज की पूछ-ताँछ करने लगे, कदाचित् उसे दुखी जान कर उससे सहानुभूति प्रकट कर रहे थे। मुझे यह सब अच्छा नहीं लगा। तभी बाबू जी ने एक पुस्तक पढ़ने को दी। उसमें मैंने एक श्लोक पढ़ा :—

यो यजेदपरिश्रान्तो मासि मासि शतं समाः।
न क्रुद्ध्येद्यश्च सर्वस्य तयोरक्रोधनोऽधिकः ।। 'महाभारत'

एक व्यक्ति सौ वर्ष तक प्रतिमास यज्ञ करता है, दूसरा व्यक्ति कभी क्रोध नहीं करता। दोनों में क्रोध न करने वाला श्रेष्ठ है। बाबू जी के परिवार में रहने से जो यह शिक्षा मुझे मिली, उससे मेरे स्वभाव में बड़ा परिवर्तन हुआ है।

घर का सारा प्रबन्ध उनकी धर्म पत्नी ही किया करती थीं। जितना रुपया मिला, लाकर अपनी धर्मपत्नी को दे दिया। फिर न उनसे कभी हिसाब लिया और न यह जानने की चिन्ता की कि खर्च कैसे चलेगा। बाबूजी पारिवारिक और सामाजिक जीवन में समन्वय रखते थे। न इतनी लिप्ति कि धोबी और दूध का हिसाब स्वयं ही कर रहे हैं और न इतनी उदासीनता कि पता ही न हो कि घर में क्या हो रहा है। कबीर के कथनानुसार 'गृही में वैराग्य' के आदर्श को अपने पारिवारिक जीवन में उन्होंने उतारा था। बाबूजी के शब्दों में 'कुछ लोग ऐसे हैं जिनको घर की तो परवाह नहीं, बच्चों के लिये दवा हो या न हो, घर में चूहे ही नहीं आदमी भी एकादशी करते हों, बेचारी धर्म पत्नी नैयायिकों के अनुमान के प्रत्यक्ष आधार स्वरूप आर्द्रेन्धन (गीले-ईंधन) और अग्नि के संयोग से उत्पन्न धुएँ से अग्निहोत्री ऋषियों की भाँति आरक्त लोचन (धुएँ के अतिरिक्त क्रोध से भी) बनी रहती हों, किन्तु उन्हें सभाओं के संचालन और नेतापन से काम। घर में उनके पैर, जाल में पड़ी हुयी मछली की भाँति फट-फटाया करते हैं।'

घर की समस्याएँ उनको विचलित नहीं कर सकती थीं। "दुःख और कठिनाइयों पर विजय पाने में ईश्वर की कृपा के अतिरिक्त मेरी हास्यप्रियता और 'काव्यशास्त्र विनोदेन' कालयापन करने की प्रवृत्ति ही सहायक है। वास्तविक दुःखों से जिनमें स्वजनों की बीमारी मुख्य हैं, अवश्य दुःखी हुआ हूँ, किन्तु कल्पित दुःखों–विशेषकर आर्थिक कठिनाइयों–से मैं विचलित नहीं हुआ हूँ।" घर पर कितनी ही हानि हो जाय, किन्तु वे किसी से कुछ न कहते थे, और न उनका दिल ही दुःखी होता था। उनकी धारणा थी कि यदि घर के छोटे-मोटे कामों में शक्ति व्यय की जाय तो कदाचित् दस, बीस रुपये की बचत हो जायेगी। इसकी अपेक्षा तो

कुछ लिख पढ़ लिया जाय तो अच्छा है। गृहस्थ जीवन में नई-नई समस्यायें उठा करती हैं। इन क्षण-क्षण में नवीनता धारण करने वाली समस्याओं में भी वे रमणीयता अनुभव करते थे। 'क्षणे क्षणे यन्नवता मुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' अर्थात जो क्षण क्षण में नवीनता धारण करे वही रमणीय है। एक बार मण्डी सईद खाँ में जब वे भूसा खरीद रहे थे तो उनके एक मित्र ने बाबूजी से कहा 'कहाँ साहित्य और दर्शन और फिर यह भूसे का भाव' बाबूजी ने सरल भाव से उत्तर दिया 'बहुत से लोग तो जीवन से छुट्टी पाने के लिये कला का अनुसरण करते हैं, किन्तु मैं कला से छुट्टी पाने के लिये जीवन में प्रवेश करता हूँ।'

•

उनका पारिवारिक जीवन समन्वयात्मक एवं सन्तुलनपूर्ण था। वे कहा करते थे कि हमें अपने जीवन में धर्म, अर्थ और काम की साधना सन्तुलनपूर्वक करनी चाहिये। उनकी राय में धर्म में इतना न लग जाना चाहिये कि अपना परिवार अर्थ संकट में पड़ जाय। वे इस प्रसंग में राम और भरत की भेंट का उदाहरण दिया करते थे। जब भरत चित्रकूट पहुँचे तो भगवान राम ने कुशल समाचार पूछने के साथ-साथ यह भी पूछा कि अर्थ से धर्म में बाधा तो नहीं पड़ती और धर्म से अर्थ में किसी प्रकार का व्यवधान तो नहीं पड़ता, और प्रीति और लोभ तथा काम से धर्म और अर्थ में तो बाधा नहीं पड़ती ?

अच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थधर्मेण वा पुनः।
उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन न विबोध्यसे ॥

त्याग के साथ अर्थ का भोग उनके जीवन का दृष्टिकोण था। अपने स्वजनों एवं आश्रितों की सुख सुविधा का ध्यान रखते हुये आनन्द से जीवन व्यतीत करना ही वे उचित समझते थे। उन्होंने अपना जीवन स्तर इतना ऊँचा कभी नहीं किया कि बलाई आमदनी का सहारा लेना पड़े। उनका कहना था कि विलासमय जीवन के बढ़े हुये खर्चों की पूर्ति के लिये हमें बेईमानी का सहारा लेना पड़ता है। इससे तो अच्छा है कि हम जीवन में मितव्ययता लायें। नैतिकता उनके पारिवारिक जीवन का एक विशाल प्रकाश स्तम्भ ही रहा है।

उनके परिवार में पूरा साम्यवाद रहता था, अधिकारी और अधिकृत की भावना लेशमात्र भी नहीं थी। परिवार के सदस्यों के प्रति वात्सल्य का ही नियंत्रण था—अधिकार का नहीं। किसी प्रकार का शासन न था। "शासन का अभाव ही शासन की श्रेष्ठता होती है," (That Government is best which governs least) इसमें वे पूर्ण विश्वास रखते थे। उनको बच्चों पर डाट-फटकार करते हुये कभी न देखा। अपने अध्ययन कक्ष में जब वे लिखने पढ़ने में लग जाते थे, तब कोई भी चीज उनकी एकाग्रता में बाधा नहीं कर सकती थी। बाल बच्चे उनके कमरे में, यहाँ तक कि उनकी चारपाई पर भी उछलकूद करते रहते थे, किन्तु वे अपने काम में ऐसे ही लगे रहते थे, मानों कि उस कमरे में कोई है ही नहीं (प्रायः उन्हें चारपाई पर लेट कर पढ़ने की आदत थी)।

आडम्बरहीनता बाबूजी के परिवार की एक विशेषता रही थी। कोई कभी मिलने आता, बाबूजी तुरन्त ही उससे मिलते थे। बातचीत में न कृत्रिमता और न पालिश। उनके हृदय में जो विचार प्रस्फुटित हुए वे गंगा की निर्मल धारा के समान बह निकले। हाँ, यदि
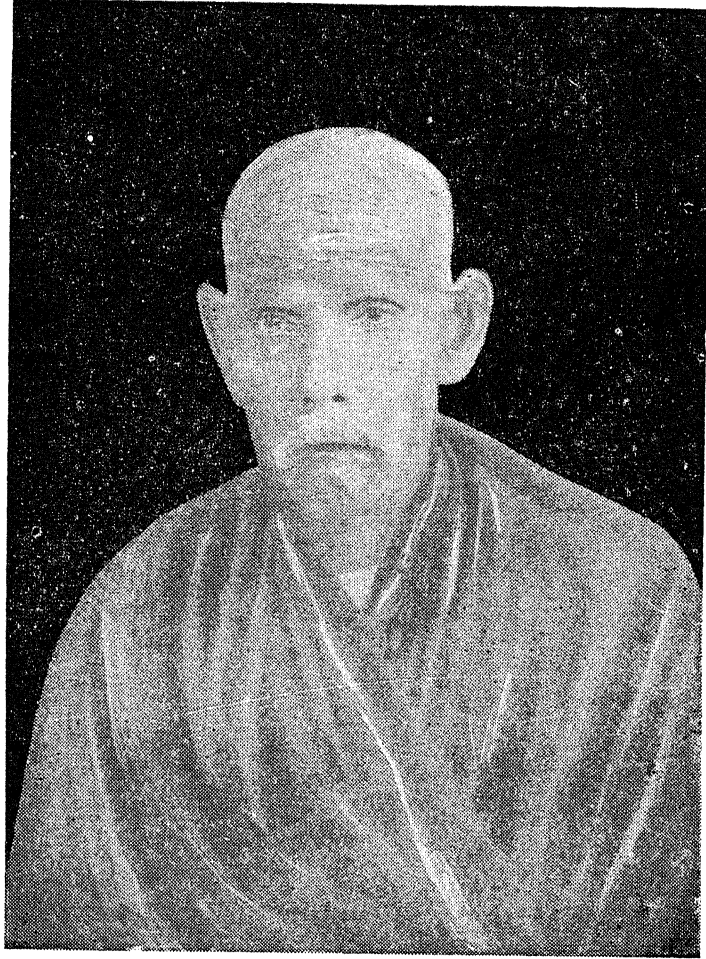
बाबूजी के पूज्य पिता स्व० श्री भवानीप्रसाद जी

बाबूजी की सहधर्मिणी श्रीमती भगवती देवी

सत्य कटु होता था तो वे उसे प्रकट न करते थे। क्योंकि वे किसी के हृदय को ठेस नहीं पहुँचाना चाहते थे। उनका प्रसन्न मुखमण्डल उनकी आन्तरिक निच्छलता का ही मुकुर था। उनका गौर वर्ण, सुगठित शरीर, निर्मल मेधा और विलक्षण प्रतिभा स्वतः ही उनके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करते थे। जो व्यक्ति एक बार मिलने आया वह सदा के लिये आपके प्रेम सूत्र में बंध जाता था। उनके कुछ विद्यार्थी तो उनके परिवार के अंग बन गये थे। डॉ० सत्येन्द्र, डा० नगेन्द्र, डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', श्री सत्यदेव पालीवाल, डा० श्रीकृष्ण दास, श्री जगदीशप्रसाद अग्रवाल, श्री गोपालप्रसाद व्यास, डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना, डा० टीकमसिंह तोमर, डा० विजयेन्द्र स्नातक, डा० देवेन्द्रकुमार जैन, डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन', श्री विश्वम्भर 'अरुण' इत्यादि सज्जनों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन लोगों के बीच बाबू जी को अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता था। इनके द्वारा बाबूजी के यश की रक्षा होती रहेगी।

बाबूजी का वात्सल्य-वारिधि इतना विस्तीर्ण था कि उसकी परिधि में सेवक, पशु-पक्षी तथा लता-वृक्ष भी आते थे। पशु पक्षियों के प्रति उन्हें कितना स्नेह था, यह उनके जीवन की एक घटना से प्रकट होता है। जब छतरपुर राज्य की सेवा छोड़कर आगरा आने को हुये तो उनकी गाय, भैंसों की एक समस्या सामने आई। उन्हें वहीं पर बेच दें या किसी को यों ही दे दें, यही हल मालूम पड़ता था। लेकिन बाबूजी ने उन्हें अपने साथ ही लाने का निश्चय किया। जब उनकी धर्म पत्नी ने चिन्ता प्रकट की कि आगरा में तो अपने रहने के लिये भी जगह नहीं है, तब जानवरों को फिर कहाँ रखेंगे। बाबूजी ने केवल यह उत्तर दिया कि जैसे हम रहेंगे वैसे ये जानवर भी रह लेंगे। जब प्रातः अपने बगीचे में पौधों में पानी लगाते थे तो उनकी डालें और पत्तियों को घुमाकर ऐसे दार्शनिक भाव से देखते थे कि मानो उनसे बात कर रहे हों।

सेवक जो भी उनके सम्पर्क में आया, वही उनके परिवार का सदस्य बन गया। बैनी राम 'नाई', सावँलिया 'बीज वाला', और राधेलाल 'फल वाला' इत्यादि बाबूजी के परिवार के ऐसे ही निकट हो गये थे जैसे नल-नीर और बानर श्री रामचन्द्र जी के लिये। यदि कोई उनकी सेवा-सुश्रुषा अच्छी तरह से करता था तो वह यह नहीं समझते थे कि वह आदमी तो रुपये के बदले में काम कर रहा है, वरन् यह मानते थे कि उनके ऊपर वह कितना उपकार कर रहा है। उनके पास जब वे अस्वस्थ थे तो एक निजी सेवक रहता था। एक बार जब मैं उनके पास बैठा हुआ था तो किसी काम की आवश्यकता हुई। मैंने उसे एक नौकर के भाव से ही पुकारा, इस पर बाबूजी ने मुझे बताया कि कविवर विद्यापति को जब अधिक शारीरिक पीड़ा हुई थी तो स्वयं शंकर जी ने उनके यहाँ आकर सेवक का काम किया था। मैं तो इतना भक्त नहीं रहा, किन्तु समझता हूँ कि अपने पुत्रों के नाम में शंकर लगाने के कारण उनको पुकारते-पुकारते महाराज शंकर जी प्रसन्न हो गये हैं और उन्होंने ही कृपा करके यह लड़का मेरे पास भेजा है। एक सेवक के प्रति कितनी उदारता और कृतज्ञता ! भला ऐसे परिवार में रहकर कौन न अपने को धन्य मानेगा।

आनन्दप्रियता बाबूजी के परिवार की एक विशेषता रही थी। घर का वातावरण वैसे

ही मंगलमय रहता था। त्यौहारों पर तो कई दिन पहले और कई दिन बाद तक उत्सव चलते रहते थे। बाबूजी त्योहारों में देवी-देवताओं के लिये पूजा-पाठ बड़ी तन्मयता से करते थे। लक्ष्मी-पूजन में काफी समय लगाते थे और संस्कृत के श्लोकों का संगीत के स्वर में उच्चारण करते थे। भक्ति में गद्-गद् उनका वह रूप बड़ा मनमोहक लगता था। इसी प्रकार गोवर्द्धन की पूजा पर परिवार के लोगों के साथ उनकी परिक्रमा करते समय जब उनके कनिष्ठ पुत्र विनोद जोर से गोवर्द्धन महाराज की जय बोलते थे तो वायुमण्डल ही गूँज उठता था। अपने साठ वर्ष बीतने पर उन्होंने इन उत्सवों में अपना जन्म-दिन मनाने का एक उत्सव और सम्मलित कर लिया था। जन्म-दिन बसन्त पंचमी से एक दिन पूर्व मनाया जाता था। वैसे तो नागरी-प्रचारिणी में उनके शुभ-चिन्तक, मित्र और शिष्य उन का जन्म दिन मनाते ही थे, किन्तु अपने घर पर वे यह उत्सव ईश्वर के प्रति कृतज्ञता प्रकाशन के रूप में ही मनाते थे। जन्म-दिन के उत्सवों पर सामाजिकता के साथ वैयक्तिकता आ ही जाती है। एक बार इसी प्रसंग में उन्होंने कहा कि "ऐसे अवसर पर दयालु मित्र मेरे अन्दर कुछ ऐसे गुण देख लेते हैं जो मुझ में हैं ही नहीं। मैं उनकी भावनाओं का आदर करता हूँ। और उन गुणों को अपने में विकसित करने के लिये प्रयत्नशील होता हूँ जब चार चोरों के कहने से गाय का बछड़ा कुत्ता बन गया था, तो क्या सज्जनों की मंगल कामनाओं से विपरीत सत्य नहीं हो सकता।"

परिवार में 'अतिथि-सत्कार-परायणता' एक परंपरागत गुण रहा है। गार्हस्थ जीवन को भौतिक रूप से ही सम्पन्न नहीं होना चाहिये वरन् आध्यात्मिक और मानसिक रूप से भी सम्पन्न होना वांछनीय है। इसके लिए साधोः संग आवश्यक है। वैराग्य उनका आदर्श न था वरन् धर्म, अर्थ, काम के साथ सम्पन्न और पूर्ण जीवन ही उनका आदर्श था। नीचे लिखे श्लोक के अनुसार ही बाबूजी ने अपना पारिवारिक जीवन बनाया था :--

सानन्दं सदनं सुताश्च सुधियः कान्ता मनोहारिणी।
सन्मित्रं सुधनं स्वयोषितरतिः सेवारताः सेवकाः॥
आतिथ्यं सुरपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपानं गृहे।
साधोः संग उपासना च सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः॥

'अर्थात् जहाँ सुन्दर आनन्द पूर्ण घर हो, बुद्धिमान लड़के हों और सुन्दर स्त्री हो (कहीं-कहीं 'प्रिय वादिनी' पाठ है), अच्छे मित्र हों, ईमानदारी से कमाया हुआ धन हो, अपनी स्त्री से प्रेम हो, नौकर सेवापरायण हो (उसको सेवापरायण बनाना मालिक के सद्व्यवहार पर रहता है.) घर में अतिथि सत्कार हो, देव-पूजन होता हो, साधुओं की संगति हो और सदा उपासना भजन कीर्तनादि चलते रहें, वहाँ का गृहस्थाश्रम धन्य है।'

●
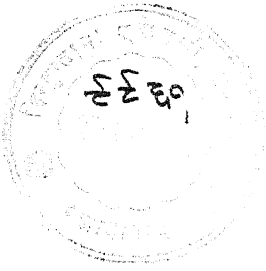
सुश्री प्रभा गुप्त

परिवार के बीच में

बाबूजी को पिता के रूप में पाकर हमें अमूल्य-निधि प्राप्त हुई थी। वे साधारण पिता न थे—वे तो पिता से भी ऊपर थे। उनके गुणों का वर्णन करना मेरी जैसी अल्पमति के लिए सम्भव नहीं। मैं उनकी सबसे छोटी पुत्री हूँ—(मुझ से छोटा एक भाई भी है) अतः उनके आरम्भिक जीवन के परिवार के संरक्षक के रूप को न बता सकूँगी। अपने आठ-दस वर्ष के जीवन काल के बाद की ही स्मृति मेरे मानस-पटल पर अंकित है जिसे व्यक्त करते हुए मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मानो मैं पुनः उसी अवस्था में पहुँच गई होऊँ। पिता जी के शान्त, सौम्य स्वभाव ने हमारे बाल-हृदय पर भी ऐसा प्रभाव डाला था कि भय से नहीं वरन आदर प्रेम की मिश्रित भाव-भूमि में हमारी बाल सुलभ चंचलता स्वतः ही संयमशील हो जाती थी। इसी को सम्भव है प्रीति का भय कहते हैं। वैसे घर में हम भाई बहन लड़ते झगड़ते तथा जिद्द भी करते थे किन्तु वे इसमें कोई हस्तक्षेप नहीं करते थे। न वे किसी का पक्ष लेते और नहीं विरोध करते। अपने को इससे तटस्थ ही रखते। न्याय तो वे अच्छा कर सकते थे क्योंकि यह भी उनका विषय था किन्तु उससे उभय पक्ष में से किसी का हृदय दुखे, ऐसा वे नहीं चाहते थे।

हाँ, वे हमारे हँसने खेलने में हमारा साथ कभी-कभी अवश्य दिया करते थे—जैसे धूप में बैठ कर हाथ की उँगलियों की विभिन्न मुद्राओं की छाया में वे कई जानवरों की मुखाकृतियाँ दिखाते। कागज की नाव, टोप, हवाईजहाज, गुब्बारा और रात दिन का खेल बनाकर देते थे। छोटे-मोटे हाथ के चमत्कार को जिसे हमारी बाल बुद्धि सहज में पकड़ न पाती उसे जादू का खेल कह कर हमारा मनोरंजन करते। ऐसे ही अनेक खेलों से हमारा

मनोरंजन करते थे। खेलने के लिए खिलौने इत्यादि लाते ही रहते थे।

हमारे ज्ञान-वर्धन के लिए वे कभी किसी वैज्ञानिक आविष्कार के सम्बन्ध में बताते अथवा कोई पौराणिक कथा बताते। ग्रहण का वैज्ञानिक तथा धार्मिक कारण तथा उसका प्रभाव बताते थे। पिताजी को त्योहारों, मेले तथा उत्सवों में भी रुचि थी। प्रत्येक त्योहार और पर्व की विशेषता तथा इतिहास बताते। टेसू के तीन सरकंडों पर धड़ स्थित होने का इतिहास उन्होंने बताया। रामचन्द्र जी की बारात तथा दशहरे पर राम-रावण का युद्ध तथा सवारियाँ दिखाने ले जाते थे। दीवाली पर भी शहर की दीपमालाओं की झिलमिल झलक दिखाने ले जाते थे। इस प्रकार उन्होंने हमारे बचपन में हमारे मनोरंजन का हर प्रकार से ध्यान रखा।

बचपन में हमें पढ़ाने के लिए अध्यापक ही रखे जाते थे किन्तु दसवीं कक्षा में परीक्षा से पहले वे हमारी कठिनाइयों को दूर करने के लिए थोड़ा बहुत अवश्य समझा दिया करते थे। इसके बाद तो उच्च कक्षाओं में पढ़ाने में रुचि लेते थे। मैंने उनके सम्पर्क में बहुत कुछ सीखा क्योंकि मेरे पाठ्य विषय भी उनकी ही रुचि के रहे। हिन्दी तो मेरा अन्त तक पाठ्य विषय रहा। उनकी यही इच्छा थी कि मैं साहित्य में रुचि रखूँ तथा साहित्य-सृजन करूँ। हमारी परीक्षा के दिनों में स्वयं चिन्तित रहते तथा परीक्षा में आने योग्य प्रश्नों को तैयार करवाते थे। प्रश्न पत्र ठीक न होने पर भी उन्होंने कभी डाट फटकार कर हतोत्साहित नहीं किया वरन अगले प्रश्न-पत्र के लिए उन्होंने प्रोत्साहन ही दिया। परीक्षा मे अनुत्तीर्ण होने पर भी सदा सान्त्वना ही दी।

यद्यपि पिताजी का सारा समय पठन-पाठन और लेखन में ही व्यतीत होता तथापि उन्होंने परिवार को कभी विस्मृत नहीं किया। घर में रहकर घर की आवश्यकताओं तथा उसकी उलझनों और समस्याओं के मध्य उनका साहित्य-सृजन चलता रहा। उसके लिए उन्होंने एकान्त और नीरवता की खोज नहीं की। परिवार से पलायन की अपेक्षा उसमें रहकर उसके सुख-दुख में अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करना अपना धर्म तथा कर्तव्य समझा। वे परिवार में निजीपन और सहवास सुख का अनुभव करते थे। वे अपने पारिवारिक जीवन से पूर्णरूपेण संतुष्ट थे क्योंकि 'मेरी दैनिकी का एक पृष्ठ' लेख में उन्होंने लिखा है, "वैसे इन झंझटों के होते हुए भी मैं अत्यन्त सुखी हूँ। चारों ओर अनुकूलता और आज्ञाकारिता है। मैं हृदय की सच्चाई से कह सकता हूँ कि जन्म-जन्मान्तर में भी मेरा जन्म इसी परिवार में हो। मैं मोक्ष के लिए उत्सुक नहीं।" इसी आनन्द में स्वभाव और प्रकृति के कारण उनके साहित्य में सर्वत्र आनन्द और हास्य व व्यंग्य का पुट है।

बाबूजी का जीवन बड़ा व्यस्त ही रहा—जिसमें साहित्यिक व्यस्तता (स्वाध्याय, अध्यापन तथा लेखन कार्य) के साथ सामाजिक और पारिवारिक व्यस्तता भी सम्मिलित रहती। किन्तु उनमें यही विशेषता रही कि उन्हें साहित्यिक, सामाजिक और पारिवारिक जीवन में समन्वय की भावना बनाए रखी। उनके जीवन के विविध रूपों में संघर्ष को स्थान न मिला। इसी कारण उनके किसी भी कार्य में बाधा उपस्थित न हुई और उनका साहित्य समृद्ध हुआ। उन्होंने निवृत्तिकी अपेक्षा प्रवृत्ति को ही अधिक श्रेयस्कर समझा। विश्राम करके भौतिक जीवन
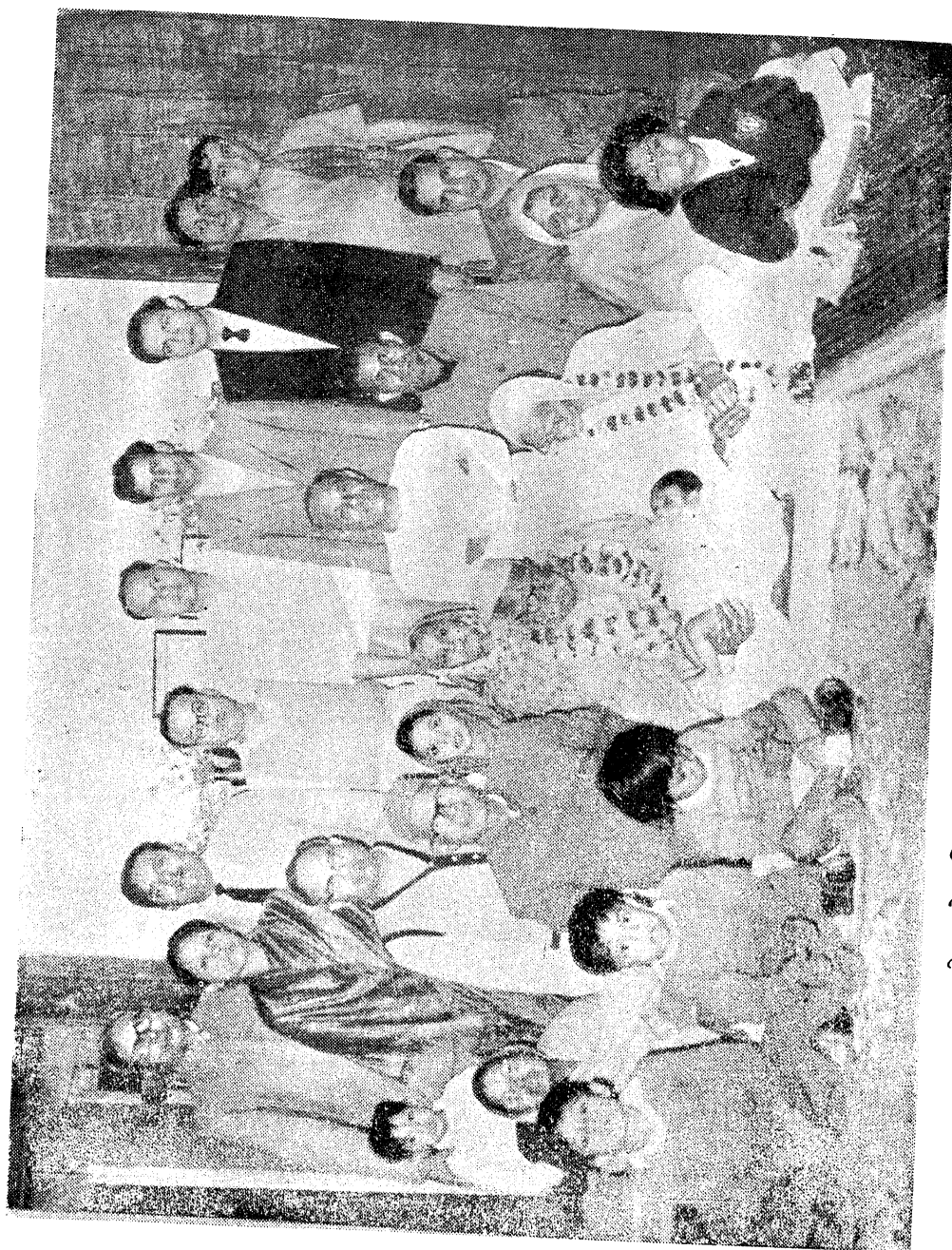
वाबूजी अपने अन्तिम जन्म-दिवस के अवसर पर परिवारी-जनों के बीच में
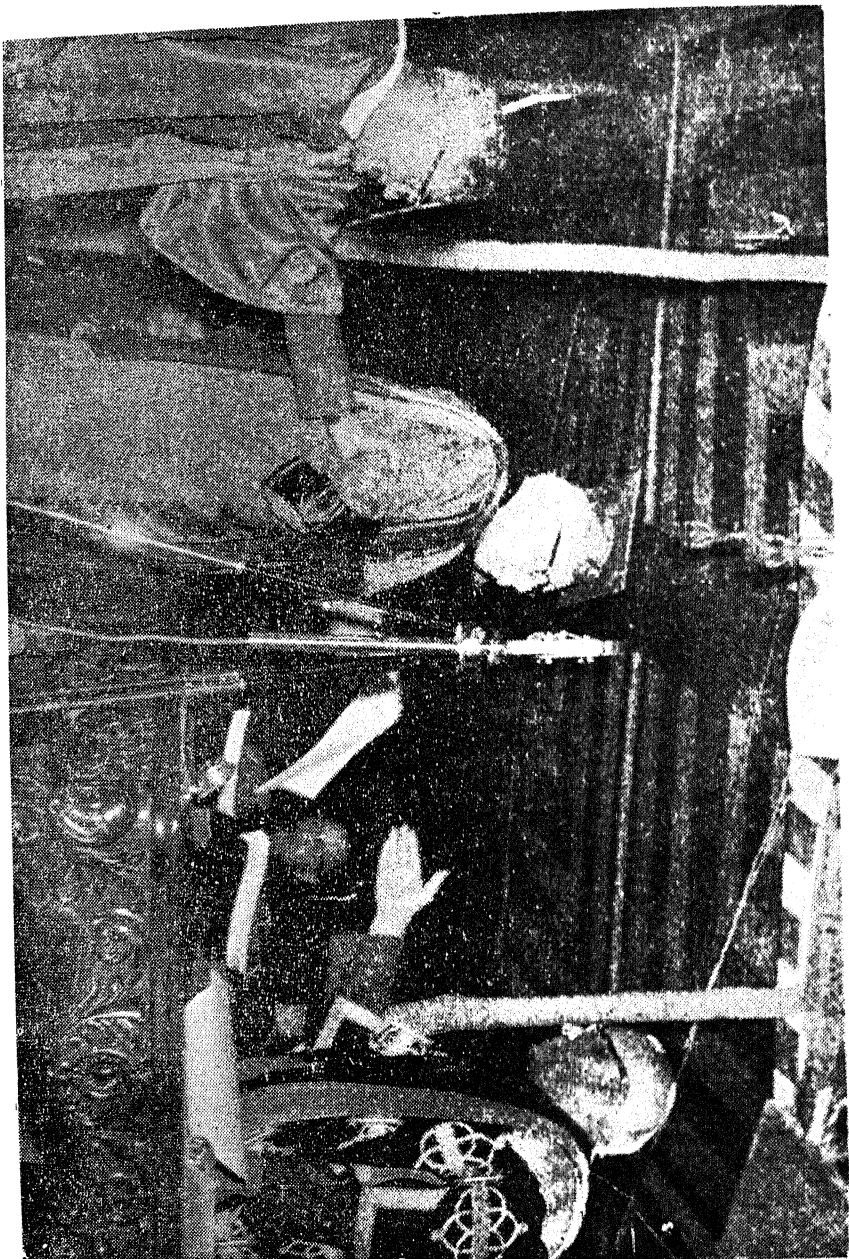
बाबूजी को आगरा विश्वविद्यालय द्वारा डीलिट् की उपाधि से सम्मानित करते हुए
तत्कालीन कुलपति श्री वी. वी. गिरि।

को लम्बा करके उसमें ऊब और नीरसता उत्पन्न करने की अपेक्षा कार्यरत रह कर जीवन की सम्पन्नता को बढ़ाया।

लगभग आठ-दस वर्षों से उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता था फिर भी उनके पढ़ने-लिखने का क्रम चलता ही रहा। इससे पूर्व उनकी दिनचर्या बड़ी नियमित ही रही। पहले वे प्रातः चार बजे उठ कर लिखा करते थे क्योंकि उस समय घर का वातावरण पूर्ण-रूपेण शान्त होता तथा उस पुण्य बेला में शारीरिक तथा मानसिक स्फूर्ति भी रहती। तीन घंटे लिखने के पश्चात वे सुबह की चाय पीते और थोड़ी सैर करने सड़क पर जाते। लौट कर बगीचे की सैर तथा निरीक्षण करते और अपनी रुचि के अनुसार माली अथवा नौकर को आदेश देते थे। थोड़ी बहुत जो शाक सब्जी निकलती उसको कटवा-तुड़वा कर घर में लाते हुए बड़े प्रसन्न होते। फूलों का उन्हें बहुत शौक था अतः बगीचे में फूल के पौधे अधिक होते थे।

बगीचे से लौटकर शौचादि से निवृत्त होकर दाँतुन मंजन कर दूध तथा इच्छानुकूल नाश्ता लेते। नाश्ते के बाद अखबार पढ़ते तथा अन्य लिखने पढ़ने का कार्य करते थे। जब कालेज जाना होता तो नहा धोकर पहले प्रेस जाते। अपनी पुस्तक के छपने की प्रगति देखने तथा प्रूफों में काट छांट करने के लिए वहीं से कालेज जाना और घर लौटते हुए बाजार से आवश्यक वस्तु (अपनी रुचि के फल और सब्जी तथा अन्य छोटी-मोटी वस्तुएँ) लेते आते थे। घर आकर ही भोजन करते थे। भोजन के उपरान्त फल तथा सौंफ, सुपारी अथवा पान अवश्य लेते।

भोजन के बाद एक घंटा विश्राम करते थे। सोकर उठकर पहले बादाम, मखाने अथवा अन्य मेवा खाते फिर पानी पीते और थोड़ी देर हम सब के मध्य बैठते तथा इधर उधर की बातें सुनते और करते। हँसते तथा हँसाते भी। फल खाते और पुनः अपने पलंग पर ही लेटे-लेटे पढ़ते तथा कोई लेख लिखना हुआ तो मेज पर लिखते। पत्र लिखने का समय भी दोपहर को ही होता अथवा सुबह ही लिख लेते। पत्रों का भी काम उनके पास अधिक था। निजी पत्रों के साथ साहित्यिक मित्रों के तथा विद्यार्थियों के पत्र भी आते थे। पत्रों के पाने की जितनी उत्सुकता उनको होती उतनी ही उत्तर देने में तत्परता भी रहती। ऐसा तो कभी न होता कि वे किसी का उत्तर न दें चाहे वह व्यक्ति अपरिचित ही क्यों न हो। अपरिचित वे ही होते जो साहित्य के जिज्ञासु अथवा विद्यार्थी हों अतः उन्हें उत्तर न देने का अर्थ होता उन्हें हतोत्साहित करना जो वे न चाहते थे। वे तो सभी की सहायता तथा मार्गदर्शन करना चाहते थे। इसी से तो वे सब के प्रिय बने। निजी पत्रों में पुत्र-पुत्रियों तथा अपने भाई के पत्रों की तो विशेष प्रतीक्षा रहती और देर से पत्र आने से वे चिन्तित हो जाते थे।

शाम के तीन चार बजे के लगभग कोई साहित्य का जिज्ञासु अथवा कालेज का ही विद्यार्थी पहुँच जाता तो उसकी शंका समाधान करते। मित्र भी कोई न कोई आ ही जाते थे जिनका वे स्वागत सत्कार करते। शाम का जलपान करते (जो ऋतु के अनुकूल बदलता रहता वैसे बाद में अपनी अस्वस्थ अवस्था में वे दूध ही पीते जिसमें थोड़ा चाय का पानी डलवा लिया करते थे) जलपान के पश्चात् अपनी छड़ी और टोपी लेकर सैर के लिए चले जाते थे। लौटते हुए अपने पड़ोसियों से खड़े खड़े ही अथवा रुककर वार्तालाप करते और घर आकर

भी थोड़ी देर हम सब में बैठकर बातें करते ।

रात्रि का भोजन वे सात-आठ बजे के बीच में कर लेते थे—रेडियो पर समाचार सुनते और किसी की वार्ता अथवा भाषण सुनते और उसके बाद शास्त्रीय संगीत की हल्की मधुर ध्वनि चलती रहती तो वे सोने का उपक्रम करते । सोने से पूर्व दूध भी अवश्य पीते थे । यही दिनचर्या अस्वस्थ होने पर भी थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ चलती रही किन्तु तब चलना फिरना कम हो गया था । सुबह चार बजे भी नहीं उठ सकते थे क्यों कि उन्हें रात्रि में नींद नहीं आ पाती थी अतः देर से ही उठने लगे थे । अपने लिखने तथा पढ़कर सुनाने के लिए एक सहायक भी रख लिया था । अधिक समय चारपाई पर ही बीतने लगा । मित्रों से मिलने अथवा किसी सभा सोसाइटी में जाना भी कम कर दिया था, रिक्शा ताँगे में ही कहीं जा सकते थे । अपने इतने व्यस्त जीवन में उन्होंने कभी थकान अनुभव नहीं की । इतना अवश्य था कि व्यर्थ की बातों तथा बहस में वे अधिक नहीं बैठ सकते थे ।

पिताजी को घर में किसी के थोड़े से भी बीमार हो जाने पर बड़ी चिन्ता हो जाया करती थी । उसके लिए वे स्वयं डाक्टर के पास जाते और बुलाकर लाते अथवा रोगी को ही अपने साथ डाक्टर के पास ले जाते । उनके निधन के पाँच छः दिन पहले की ही बात है कि जब कि उन्हें अपना ही कष्ट बहुत था–मेरा मुँह एलर्जी से सूज गया था - उसकी भनक उनके कान में पड़ गई तो फौरन घबरा कर पूछा कि क्या हो गया प्रभा को ? कुछ नहीं कहकर बात टाल दी । वे अधिक बोलने में असमर्थ थे अतः चुप रह गए ।

बाबूजी के शौकों में पढ़ने लिखने का शौक तो प्रमुख था ही । बगीचे का शौक तथा पर्य्यटन का शौक सुविधा सुलभ होने पर ही अधिक रहा । खाने पीने का भी शौक रहा, पूरी पराँठे, कचौरी, पकौड़ी तथा चीले बड़ी रुचि से खाते थे । खाने में तीन चार सब्जियाँ, रायता चटनी, अचार तथा सलाद होता तभी उन्हें अच्छा लगता । खिचड़ी, चावल तथा ताहिरी की भी विशेष रुचि थी । उसके साथ पापड़ और दही उन्हें विशेष रुचिकर थे । दूध की सभी चीजें उन्हें अच्छी लगतीं । मक्खन, दही मठा उन्हें रुचिकर था—इसी कारण गाय अथवा भैंस पालने का भी उन्हें शौक रहा । मिष्ठान्न से भी उन्हें रुचि थी किन्तु मधुमेह तथा रक्त-चाप के रोगों ने मीठा, नमक तथा घी सभी छुड़ा दिया । उन्होंने स्वयं खाने पीने में बड़ा संयम रखा । खाने अथवा स्वाद के पीछे अपने शरीर को कष्ट में नहीं डाला । बाद में तो उन सभी वस्तुओं के स्थान पर उबली हुई सब्जियाँ तथा हलके फुलके ही रह गए । फल का शौक था वह अवश्य चलता रहा ।

जैसा उनका सरल स्वभाव था वैसा ही सादा और सरल वेश भी था । स्वच्छता और सरलता को ही उन्होंने अपने जीवन में अपनाया । घर की सजावट में भी उन्हें विशेष रुचि रही । प्रिय, हितकर और मर्यादित सौन्दर्य को ही उन्होंने महत्व दिया । सौन्दर्य चाहे बाह्य हो अथवा आन्तरिक वे सदा उससे आकर्षित रहे । फिर स्वच्छ और सात्विक सौन्दर्य की ही उन्होंने सराहना की ।

सत्य की उन्होंने सदा सराहना की । भ्रष्टाचार से भी स्वयं दूर रहे किन्तु विरोध करने और परउपदेश की प्रवृत्ति न होने से उन्होंने दूसरों से कुछ न कहा । अपने को ही

आदर्शरूप में दूसरों के समक्ष रखा। वे दूसरों से ऐसी बात कभी न कहते जिससे किसी का जी दुखे। उसके लिए कभी स्पष्ट दो टूक बात न कहकर कुछ अपनी तथा कुछ दूसरे की बात को समन्वित रूप दे देते थे। उन्हें दूसरों के साथ प्रिय सत्य का व्यवहार ही अच्छा लगता था। सत्यप्रियता के साथ न्याय प्रियता भी उनके स्वभावगत थी। निर्बल का उन्होंने पक्ष लिया। नौकर के प्रति उनका व्यवहार सदा सदय ही रहा। उसको सेवक की अपेक्षा सहायक कह कर मान देते। वे दूसरे के दुख को तन मन और धन से यथा सामर्थ्य दूर करने का प्रयत्न करते। उन्होंने अपनी अपेक्षा दूसरे के पक्ष को श्रेष्ठता दी। दूसरों की कमजोरियों अथवा न्यूनताओं के प्रति उनका हृदय उदार रहा। परछिद्रान्वेषण की अपेक्षा अपनी ही भूल और न्यूनताओं को उन्होंने स्वीकार किया। सहनशीलता के आगार थे वे और स्वार्थ तो छू तक न गया था उन्हें। इसी उदार वृत्ति के कारण वे कदा सदा वैर विरोध से बचे रहे।

अन्ध विश्वास से प्रेरित धर्म में उनका विश्वास नहीं था। वरन वह बुद्धिवाद से प्रभावित तथा तर्क सम्मत ही रहा। भक्ति भावना उनकी भावमय अधिक थी। राम और कृष्ण में उनकी बड़ी आस्था थी—उनके गुणों का वर्णन करके तथा उनके आदर्शों को अपने चरित्र में उतार कर ही उन्होंने उनकी सच्ची उपासना की। उनके साहित्य में भी यत्र-तत्र मर्यादा पुरुषोत्तम राम के आदर्श के उदाहरण मिलते हैं। बैठ कर संध्योपासना तो बहुत अल्प समय की ही होती थी। स्नान करते समय भी वे कितने ही श्लोक बोला करते थे। उनके स्तुति के श्लोक कुछ गीता तथा रामायण के भी होते। उनके स्तुति के श्लोकों में यह मुख्य थे —'शान्ताकारं भुजंगशयनं पद्माभं सुरेशं·······।' 'यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुत:·········।' 'नमामि भक्ति वत्सलम् नमामि शीलकोमलं·······।' 'जय रामरमारमणं शमना भवतापभयाकुल पाहि जनम्········।' 'कर्पूरगौरं करुणावतारं संसारसारं भुजगेन्द्रहारं' तथा सरस्वती वन्दना 'या कुन्देन्दुतुषारहारधवला·········।' अग्नि में घी तथा सामग्री की कुछ मंत्रों के साथ आहुतियाँ देते तथा अन्त में 'सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्त निरामया सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुखभाग्भवेत्।' तथा 'मंगल भवन अमंगल हारी द्रवहु सो दशरथ अजिर बिहारी।' के साथ समाप्त करते। व्रत उपवास वे अधिक नहीं करते थे। जन्माष्टमी तथा शिवरात्रि का व्रत अवश्य कर लेते थे, यह तो उनकी सूक्ष्म उपासना पद्धति किन्तु सत्य, न्याय, परोपकार तथा अहिंसा आदि को अपने जीवन में अपना कर ही उन्होंने ईश्वर की सच्ची आराधना की।

पिताजी का ज्ञान बहुत विस्तृत था; साहित्य में ही नहीं वरन धर्म, विज्ञान, न्याय, मनोविज्ञान, इतिहास तथा समाज शास्त्र आदि अनेक विषयों का उन्हें विशद ज्ञान था। साहित्य में भी भारतीय साहित्य के साथ पाश्चात्य साहित्य का भी पर्याप्त ज्ञान था। उनकी जिज्ञासु प्रवृत्ति तथा अध्ययन में लगन ने ही उनमें इतने असीम ज्ञान का भण्डार भरा था।

धनार्जन में भी उन्होंने अपना परिश्रम कम ईश्वर की कृपा को ही अधिक माना। उन्होंने सम्यक आजीविका का अधिक ध्यान रखा। इसीलिए जीवन में आवश्यक सुख भोग और वैभव का उपभोग किया। अन्यायार्जित विलास-वैभव से वे सदा दूर रहे। उन्होंने धन से ऊपर जन को अधिक महत्व दिया। अत: धन को सब की सुख सुविधा का साधन मात्र

समझा। धन को जीवन के उचित उपयोग में व्यय करना ही उसका सदुपयोग माना। धन का दान भी विद्यादान की भाँति खुले दिल से किया।

अपने निजी सम्बन्धों के साथ आगरा तथा अपने मकान में भी उन्हें बड़ा लगाव रहा। अन्त समय में पत्नी तथा उनके सभी पुत्र-पुत्रियाँ, जामाता-पुत्र बधुएँ, पौत्र-दौहित्र, भाई-भावज तथा मित्र आदि सभी उपस्थित थे—मकान अपना था और शहर भी अपना जैसी उनकी इच्छा रही होगी—सब कुछ उन्हें प्राप्त हुआ। इसके साथ उनकी कामना अपने जीवन के सम्बन्ध में भी पूर्ण हुई—पचहत्तर वर्ष उन्होंने पूरे कर लिए थे। अपने 'आत्म विश्लेषण' में उन्होंने लिखा है, "धन के अभाव में अर्जित यश और पूर्वकृत पुण्यों के आधार पर जीवन चल रहा है और आशा करता हूँ कि चौदह को पाँच से गुणा करने में सफल हो जाऊँगा और पंद्रह का पहाड़ा पंजे तक पढ़ गया तो अपने को पूर्णकाम समझूँगा"। ऐसे थे वे पूर्ण काम और सच्चे योगी !

•
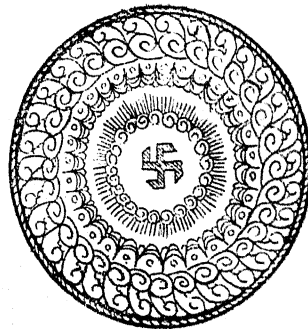
श्री रामशंकर गुप्त

रियासती जीवन में

बाबूजी दर्शन-शास्त्र में एम० ए० थे। परन्तु अपने पिताजी की भावना के आदर हेतु वकालत भी पास की। 'पाइनियर' में निकले एक विज्ञापन द्वारा छतरपुर महाराज के दार्शनिक सहचर (Philosopher Companion) के रूप में रियासत की सेवा में प्रवेश किया। महाराज छतरपुर विद्वानों का बड़ा आदर किया करते थे। उनके दरबार में कई उच्च विद्वान थे जिन्हें वे राज्य के नवरत्न कहा करते थे। इन्हीं नवरत्नों में से बाबूजी एक थे। बाबूजी के व्यक्तित्व से महाराज इतने अधिक प्रभावित हुये कि कुछ समय पश्चात् उन्हें निजी-सचिव (Private Secretary) भी बना लिया। तदुपरान्त बाबूजी ने राज्य के मुख्य न्यायाधीश एवं दीवान (मुख्य-मंत्री) के पद पर भी कई वर्ष तक काम किया।

दार्शनिक-सहचर के रूप में महाराज अपनी व्यक्तिगत समस्याओं को भी बाबू जी के सामने रखते थे और बाबू जी के बताये हल का आदर करते थे। इसी कारण उनका नाम भी 'मास्टर साहब' पड़ गया था। बाद में यही सम्बोधन बाबूजी की वृत्ति का पर्याय भी बन गया था। महाराज कभी प्रातः ४-५ बजे कभी रात १०-११ बजे तक भी अपनी समस्याओं पर तर्क-वितर्क करने अथवा अपने समाधान के लिए बाबूजी को बुला लिया करते थे।

राज्य में उन्हें सुख-सुविधा तथा वैभव की समस्त सामग्री उपलब्ध थी। किन्तु बाबू जी इन सब वैभवों से ऊपर, नितान्त सरल जीवन ही बिताते थे। 'गृही में वैराग्य' उनका आदर्श था। अपने आगे-पीछे नौकर-चाकर घुमाना उन्हें कतई पसन्द न था। राजमद उन्हें छू तक नहीं गया था। उनका चपरासी 'रमोला' अथवा ताँगे-वाला 'फत्तेखाँ' यदि आने में

देर कर देते, तो बाबूजी उनकी प्रतीक्षा किये बिना सरकारी कागजात हाथ में ले, पैदल ही दफ्तर चल देते थे। यदि चपरासी रास्ते में मिल गया तो ठीक, अन्यथा उसके घर पर भी एकाध बार आवाज लगाकर उसे कागजात देकर स्वयं चले जाते थे। किन्तु उस चपरासी पर कभी भी उन्होंने क्रोध प्रकट नहीं किया। कभी-कभी ताँगा कोठी पर देर से पहुँचता, तब तक बाबू जी दफ्तर के लिए चल पड़ते थे। बाबूजी आगे-आगे और पीछे ताँगा चला जाता था। लोग कह दिया करते थे कि बाबूजी की दार्शनिकता का प्रभाव इस घोड़े पर भी पड़ गया है।

बाबूजी अपने राजकीय-कर्तव्य के पालन में सदैव सचेत रहते थे। राज्य और महाराज की भलाई में ही अपनी भलाई मानते तथा उसी में प्रसन्नता होती थी। इस बात का उन्हें सदा ध्यान रहता था कि राज्य का धन उचित रूप से ही व्यय हो। वे राज्य के धन को ऐसी ही सावधानी से व्यय करते तथा होने देते जैसा कि वे अपने निजी धन को। इस सावधानी बरतने में उन्हें अनेक बार दूसरे लोगों का कोप भाजन भी होना पड़ा, बुराई सहनी पड़ी। किन्तु उस बुराई का उत्तरदायित्व उन्होंने अपने ऊपर ही लिया, महाराज पर थोपने का कभी विचार ही नहीं किया चाहे महाराज के आदेश से ही ऐसा क्यों न किया गया हो। महा-राज इतने उदार थे कि चाहे उनका कर्मचारी कितना भी अपव्यय क्यों न करता था उसे अलग नहीं करते थे। प्राइवेट सेक्रेटरी के नाते ऐसे लोगों से बाबूजी की टक्कर हो जाती थी। उदाहरणार्थ राज्य के मोटर कार चालकों में प्रत्येक गाड़ी के लिए प्रति मास एक टायर तथा चार ट्यूब बदलने तथा उनके स्थान पर खरीदने का 'बन्देज' था। महाराज को मालूम था कि इतनी जल्दी एक टायर और चार ट्यूब खराब नहीं हो सकते—फिर भी महाराज उस 'बन्देज' को चलने देते। बाबूजी ने उन लोगों को समझाया फिर भी उस अपव्यय को न रोक सके अन्त में उनमें से कई चालकों को राज्य की सेवा से अलग कर देना पड़ा। महाराज को वह अच्छा नहीं लगा।

राज्य में जितना सामान खरीदा जाता था वह प्राइवेट सेक्रेटरी के द्वारा ही खरीदा जाता था। एक बार एक बड़े सौदागर से बाबूजी ने कई हजार रूपये का सामान खरीदा। उसने बाबूजी को कमीशन ले लेने का संकेत किया। बाबूजी ने पूछा कितना बनता है, फिर उस सौदागर से कहा बिल में लिख दीजिये—बाबू जी की इस मितव्ययता तथा राज्य-निष्ठा से महाराज बड़े प्रभावित हुये। एक ऐसे ही प्रकरण में जब कि महाराज तो एक अँगरेज सौदागर से कई वस्तुयें खरीदना चाहते थे, किन्तु बाबूजी उन वस्तुओं का अधिक मूल्य होने के कारण उन्हें खरीदने में आनाकानी कर रहे थे, तो अँगरेज सौदागर ने व्यंग्य किया कि "आप महाराज हैं या प्राइवेट सेक्रेटरी"? महाराज ने उत्तर दिया "हूँ तो मैं ही महा-राज, किन्तु जहाँ तक रुपये पैसे का मामला है, अपने प्राइवेट सेक्रेटरी के शासन में चलना पसंद करता हूँ क्योंकि मुझे विश्वास है वह राज्य की भलाई के ध्यान से ही ऐसी राय देता है"।

एक बार मलैहरा ग्राम का एक सम्पन्न व्यापारी किसी हत्या के मामले में पकड़ा गया। बाबूजी उस समय मुख्य-न्यायाधीश भी थे। वह पान की एक टोकरी लाया। कोठी के

दरवाजे पर ही मुझे देकर चला गया। मैं उसे लेकर अन्दर गया और कौतूहलवश उसे खोल डाला। मेरी आयु उस समय सात-आठ वर्ष की रही होगी। पान की टोकरी के अन्दर एक भारी लिफाफा निकला उसमें नोटों की गड्डी थी। मैं उस गड्डी को जैसे ही खोलने लगा बाबूजी अन्दर से आ निकले। उन्होंने तुरन्त चपरासी से कहा कि उस आदमी को अन्दर बुलायें। बाबूजी ने चुपचाप बिना एक शब्द कहे वह लिफाफा उसे लौटा दिया और उसे चले जाने का आदेश दिया। मुकदमे में उस व्यापारी के आदमी को फांसी की सजा ही सुनाई। बाद में महाराज ने अपने विशेष अधिकार का प्रयोग कर मृत्यु-दण्ड को आजन्म कारावास में परिणत कर दिया। कई वर्ष पश्चात् उस घटना के संदर्भ में बाबू जी ने बताया कि यदि वह मनुष्य रुपयों के लालच के बजाय अपना दोष स्वीकार कर पश्चात्ताप करता तो कदाचित वे भी उसे वही सजा देते जो महाराज ने दी थी।

रियासत में चाटुकारिता और गुटबंदी खूब थी। बाबूजी इन सबसे परे थे और चाटु-करिता को बिल्कुल प्रोत्साहन न देते थे। 'ठलुआक्लब' बाबूजी ने उसी समय लिखा था। उस पुस्तक में रियासत के ऐसे ही अधिकारियों पर व्यंग्य किया गया है। बाबूजी का समय या तो महाराज के साथ अन्यथा कष्ठमाला (महाराज का निजी पुस्तकालय) में ही व्यतीत होता था। इस प्रकार राज्य की गुटबंदियों से वे एकदम अलग थे। यदि किसी का पक्ष न्याय-युक्त होता तो बाबूजी उसकी सिफारिश महाराज से अवश्य कर देते, किन्तु किसी के विरोध में कहना उन्होंने कभी नहीं सीखा। उनके इसी व्यवहार के कारण उनसे अमैत्रीपूर्ण व्यवहार कभी किसी ने नहीं किया। इसीलिए बाबूजी को अजातशत्रु के विशेषण से विभूषित किया गया था।

बाबूजी ने स्वयं लिखा है कि रियासत की नौकरी में यदि किसी प्रकार कठिनाई थी तो केवल इतनी कि प्रायः विपरीत हित के लोगों को प्रसन्न रखना पड़ता था। महाराज स्वयं विद्वान थे और विद्वानों का आदर करते थे। जब कभी भी पोलिटिकल विभाग का अनुचित हस्तक्षेप होता था उस समय कठिनाई अधिक हो जाती थी। परन्तु बाबूजी अपनी समन्वयवादी नीति से सब सुलझा लेते थे और इसी कारण दार्शनिक एवं साहित्यिक होते हुए भी, शासक का कार्य भी कुशलतापूर्वक सँभाल सके। बाबूजी की सेवा का उद्देश्य था एक मात्र महाराज का हित। महाराज के देहावसान के पश्चात राज्य पोलिटिकल विभाग के अन्तर्गत रीजैन्सी चला गया। पोलिटिकल विभाग के उच्च पदाधिकारी ऐसे व्यक्ति को राज्य में रखना अपने लिए श्रेयस्कर नहीं समझते थे जो महाराज के इतने निकट तथा उनका इतना हितैषी रहा हो। बाबूजी को महाराज की अहित की बातों से—जो उनकी मृत्यु के बाद होने लगीं, बड़ी मानसिक वेदना रहा करती थी। अतएव, उन्होंने राज्य की सेवाओं से विश्राम लेना ही उचित समझा।

•

डा. टीकमसिंह तोमर

अध्यापक के रूप में

सरस्वती के वरद् पुत्र स्व. बाबू गुलाबराय के दर्शन करने का सर्वप्रथम अवसर मुझे १९३५ अथवा १९३६ ई० में मिला था। श्री महेन्द्रजी ने साहित्य-रत्न-भण्डार में किसी साहित्यिक आयोजन की व्यवस्था की थी। उस उत्सव में देखी हुई बाबूजी की वह सरल, निश्छल एवं भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाली प्रतिमूर्ति आज भी मेरे हृदय-पटल पर अंकित है।

जुलाई १९३६ ई० में सेंट जॉन्स कालेज में हिन्दी एम० ए० की कक्षायें प्रारम्भ हुई। बाबूजी अवैतनिक प्राध्यापक पद पर नियुक्त हुये। उस समय उस कालेज के हिन्दी विभाग में तीन अध्यापक—डा० हरिहरनाथ टण्डन, पं० अम्बिकाचरण शर्मा तथा बाबूजी थे और छात्र-संख्या पाँच थी। इस प्रकार गुरु तथा शिष्य का निकट सम्पर्क अत्यन्त सुगम था। समस्त गुरुजन जिस लगन, परिश्रम और आत्मीयता से शिक्षण कार्य करते थे उसे देखकर प्राचीन भारतीय परिपाटी का स्मरण हो आना स्वाभाविक था।

बाबू गुलाबराय आलोचना के सिद्धान्त तथा हिन्दी-साहित्य के इतिहास का अध्यापन करते थे। इस गम्भीर एवं गहन विषय को सरल, सुबोध एवं स्पष्ट शैली में हृदयंगम कराने में आप अत्यन्त पटु थे। भारतीय तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों की विभिन्न दृष्टियों से विश्लेषणात्मक पद्धति से व्याख्या करके उनका समन्वित स्वरूप प्रस्तुत करने में बाबूजी अधिक चतुर थे। आपकी अध्यापन-शैली स्पष्ट, स्वाभाविक एवं सरल थी।

हरीपर्वत थाने के पास जिस स्थान पर आजकल दिगम्बर जैन इण्टर कालेज है वहाँ

पर उन दिनों जैन छात्रावास था। श्री महेन्द्रजी ने बाबूजी को वहाँ का वार्डन बनवा दिया था। कालेज के अतिरिक्त अध्ययन विषयक समस्याएं लेकर मैं बिना किसी रोक-टोक बाबूजी के निवास-स्थान पर पहुँच जाया करता था। आप बड़े स्नेह और सौजन्यपूर्ण व्यवहार से मिलते और उचित मार्ग-दर्शन करते थे। मेरे छात्र-जीवन में आप मेरी जो उत्तर-पुस्तकें जांचा करते थे वे मेरे पास आज भी सुरक्षित हैं। उन पर दृष्टिपात करने पर मुझे बाबूजी के आलोचक और अध्यापक के उस समन्वित रूप की झांकी मिल जाती है जो उनके शास्त्रीय ग्रन्थों 'सिद्धान्त और अध्ययन', 'काव्य के रूप' आदि में प्रस्फुटित हुई है। आपकी रचनाओं में जिस व्याख्यात्मक एवं विश्लेषणात्मक शैली का प्रयोग हुआ है वह आपके सफल अध्यापक होने का यथेष्ट प्रमाण है।

१९३८ ई० में मैंने एम० एम० की परीक्षा दी थी। जिस दिन परीक्षाफल घोषित हुआ उसी दिन बाबूजी मेरे निवास-स्थान पर आ पहुँचे। आह्लाद मिश्रित स्नेहपूर्ण स्वर में उन्होंने कहा—"तुम परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये हो। तुम्हें हार्दिक बधाई है।" मैं अवाक् रह गया। उस समय मैं संकोच, लज्जा और आत्मग्लानि की भट्टी में तप रहा था। सोच रहा कि यह कर्तव्य तो मेरा था कि गुरुजनों के पास जाऊँ पर हुआ इसके विपरीत। मई के महीने की दोपहर की तपन की चिन्ता न करते हुए पसीने में सराबोर बाबूजी स्वयं आ उपस्थित हुये। यह था उनका शिष्य के प्रति असीम स्नेह। उस समय से अनेक बार मेरे हृदय में यह भाव आए हैं कि आधुनिक वैज्ञानिक एवं यान्त्रिक युग में बाबू गुलाबराय के अध्यापकीय आदर्श का अनुकरण बहुत कुछ कल्याणकारी हो सकता है।

बाबूजी सदैव दार्शनिक विचारधारा में निमग्न रहा करते थे। १९४४-४५ ई० की बात है। मैं एम० ए० संस्कृत की तैयारी कर रहा था। मुझे "टेन प्रिंसिपल उपनिषद्स" नामक पुस्तक की आवश्यकता पड़ी। मैं बाबूजी से यह ग्रन्थ लेने के लिए जा रहा था कि मार्ग में ही भेंट हो गई। उनके घर पहुँचते ही मैं बराण्डे में कुर्सी पर बैठ गया, और बाबूजी घर के भीतर चले गये। बहुत देर तक प्रतीक्षा करने के उपरान्त मैंने आवाज लगाई। "कौन है ? कैसे आए ?" कहते हुए बाबूजी मेरे सामने आकर खड़े हो गये। मैंने अपनी बात दुहराई। बाबूजी ने सहज भाव से कहा, "अरे ! मैं एकदम भूल गया। क्षमा करना।" और वह पुस्तक अन्दर से लाकर मुझे दे दी। उनका यह व्यवहार मेरे प्रति उनकी उपेक्षा-भाव का द्योतक नहीं था वरन् उनके मनन, चिन्तनशील स्वभाव का परिचायक था।

बाबू गुलाबराय को जितने निकट से मैंने देखा उतने निकट सम्पर्क का सौभाग्य सम्भवतः उनके किसी और शिष्य को नहीं मिला होगा। वह द्विवेदी-युग से लेकर मरण-पर्यन्त साहित्य-सर्जना में रत रहे। उनकी कृतियों के विषय में उनसे जब कभी भी चर्चा चलाई जाती तो वह नम्रतापूर्वक कह दिया करते थे—मुझे जो कुछ आता है, वह लिख देता हूँ। उसके गुण-दोष का विवेचन पाठकों पर छोड़ देता हूँ। वस्तुतः समालोचक ही सच्चा पारखी है, जैसा गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—

मनि-मानिक-मुक्ता छवि जैसी।
अहि-गिरि-गज-सिर सोह न तैसी॥

नृप किरीट तरुनी तनु पाई ।
लहहिं सकल सोभा अधिकाई ।।
तैसेहि सुकवि कवित बुध कहहीं ।
उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं ।।

इस प्रकार बाबूजी का व्यक्तित्व अद्वितीय था । उनकी प्रतिभा सर्वतोन्मुखी थी । उनकी साहित्य साधना अनुकरणीय थी । वे एक आदर्श अध्यापक थे । यद्यपि उनका पार्थिव शरीर नष्ट हो गया है, पर उनकी आत्मा हमें सदैव सत् प्रेरणा-प्रदान करती रहेगी ।

•
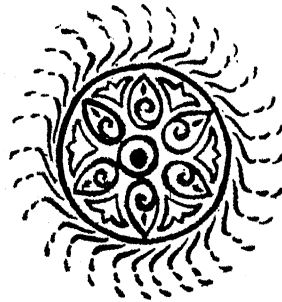
डा. द्वारिकाप्रसाद सक्सेना डी. लिट्

अनुसंधान-निर्देशक के रूप में

स्वर्गीय आचार्यप्रवर बाबू गुलाबराय जी केवल मेरे अनुसंधान-निर्देशक ही नहीं, अपितु पथप्रदर्शक भी रहे हैं। मुझे अपने विद्यार्थी-जीवन में जिन आर्थिक विषमताओं का शिकार होना पड़ा था, उन्हें सरलता एवं सुगमता से हटाने में बाबूजी का बड़ा हाथ रहा था। यदि बाबूजी अपनी उदारता एवं अनुकम्पा के द्वारा मुझे नागरी-प्रचारिणी-साहित्य-विद्यालय आगरा में अध्यापन कार्य की सुविधा प्रदान न करते, तो मेरा अध्ययन आगे नहीं चल सकता था। बाबूजी ने अपनी प्रथम भेंट में ही मुझे इस तरह अपना लिया था कि अपने अंतिम क्षणों तक वे मुझे अपना ममत्व प्रदान करते रहे। मैं बाबूजी को अपने परिवार का वयोवृद्ध उपदेशक एवं निर्देशक मानता था और बाबूजी भी मुझे अपने आत्मीय जन की भाँति प्यार एवं दुलार देते थे। मेरे लिए साहित्य का मार्ग बड़ा ही अगम्य एवं असूझ था, किन्तु बाबूजी ने प्रेरणा देकर मुझसे लेख लिखने का आग्रह किया और जब मैं अपना प्रथम लेख 'साहित्य-संदेश' में प्रकाशित कराने के लिए बाबूजी को दिखाने गया, तब उसमें आवश्यक संशोधन करने की सलाह देते हुए मेरे नव-उत्साह को उन्होंने और बढ़ाने का ही प्रयत्न किया, उसे भंग नहीं किया। इसी कारण मैं तो अपने साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण करने के लिए बाबूजी का ही आभार मानता हूँ और उनकी प्रेरणा एवं उनके प्रोत्साहन के फलस्वरूप ही आज आलोचना के क्षेत्र में चार क़दम रखने योग्य हुआ हूँ। जिस समय बाबूजी को आगरा विश्वविद्यालय ने विशिष्ट विद्वान् (एमीनेंट स्कॉलर) के रूप में शोध-निर्देशक नियुक्त किया, उस समय बाबूजी ने स्वयं सर्वप्रथम मुझे अपने तत्वा-

वधान में शोधकार्य करने की प्रेरणा दी। मैं भी निर्देशक की खोज में था। बाबूजी को पाकर मैं धन्य हो गया और आज मुझे इस बात का गर्व है कि मैं बाबू गुलाबराय जैसे मूर्धन्य लेखक एवं आलोचक का सर्वप्रथम शोध-कार्य करने वाला शिष्य हूँ। बाबूजी के अनुभूतिपूर्ण एवं प्रौढ़ अनुभवगम्य निर्देशन में अपना शोध-कार्य समाप्त करके उनके तत्वावधान में सर्वप्रथम पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त करने का श्रेय आज केवल मुझे ही प्राप्त है। इसी कारण अनुसंधान-निर्देशक के रूप में बाबूजी को मैंने अधिक निकट से देखा है और उनकी दिव्य अनुभूति एवं प्रौढ़ मनीषा का अधिक साक्षात्कार किया है।

बाबूजी एक तत्वान्वेषी निर्देशक थे। उनकी दृष्टि सदैव तत्व की खोज पर लगी रहती थी और वे साधारण बातों में से भी एक महत्त्वपूर्ण तत्व की बात निकाल लेते थे। एक बार मैं प्रसाद जी की रचनाओं का वर्गीकरण एवं विश्लेषण करके बाबूजी को दिखाने गया। आपने अन्य रचनाओं के बारे में तो कुछ नहीं कहा, किन्तु जब वे प्रसाद के 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक के विषय में मेरे विचार सुनने लगे तब तुरन्त उनका ध्यान एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण बात की ओर गया और मुझसे बोले कि "इस नाटक में मोक्ष (तलाक) का विवेचन तो है ही, परन्तु साथ ही यहाँ 'वीरभोग्या वसुंधरा' की तरह रमणी को भी वीरभोग्या ठहराया गया है और यह बतलाया गया है कि जो व्यक्ति रमणी की रक्षा नहीं कर सकता, उसे उसके भोगने अथवा उसका पति बनने का भी अधिकार नहीं है।" बाबूजी का यह विचार सर्वथा मौलिक एवं नवीन था और उनकी तत्वान्वेषी प्रवृत्ति का परिचायक था। इसी प्रकार एक बार मैं भारतीय संस्कृति के बारे में अपनी एक समस्या लेकर बाबूजी के सम्मुख उपस्थित हुआ। प्रायः भारतीय लेखकों ने भी भारतीय संस्कृति को विभिन्न संस्कृतियों का सम्मिश्रण अथवा 'कम्पाउण्ड कल्चर' घोषित किया है। इस पर मेरी समस्या यह थी कि जब हमारी संस्कृति विभिन्न संस्कृतियों का सम्मिश्रण है तब उसमें भारतीयता कहाँ? वह तो "चूँ-चूँ का मुरब्बा" हो गई है। इस पर बाबूजी ने बड़े पते की बात बताई, जो मुझे ही क्या प्रत्येक भारतवासी को अधिक रुचिकर प्रतीत होगी और जिसमें बाबूजी की तत्वान्वेषिणी बुद्धि किस तरह अपना कौशल प्रदर्शित कर रही है यह देखते ही बनता है। आपने बताया कि "इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतीय संस्कृति में अन्य विविध संस्कृतियों का सम्मिश्रण हुआ है। परन्तु यह सम्मिश्रण उसी तरह हुआ है जिस तरह गंगा नदी में विविध नदी-नालों का सम्मिश्रण होता है और जैसे सभी नदी-नाले गंगा में मिलकर गांगेय रूप धारण कर लेते हैं वैसे ही भारतीय संस्कृति में आकर भी विविध संस्कृतियाँ मिली हैं, किन्तु वे सब भारतीय संस्कृति के अखंड स्रोत में मिलकर उसकी पावनी शक्ति द्वारा गांगेय रूप हो गई हैं।"

बाबूजी समन्वयवादी थे। अतएव उनकी प्रवृत्ति सदैव यही रहती थी कि किसी भी विचार का खंडन न किया जाय। यदि खंडन भी करना पड़े तो इस तरह किया जाय कि उसका भी विचार मान्यता प्राप्त करले और अपना विचार भी अपना उचित स्थान ग्रहण करले। उदाहरण के लिए बहुत से विद्वान् कामायनी को महाकाव्य मानने में संकोच करते थे। कुछ तो इसे महाकाव्य न कहकर केवल रूपक काव्य तथा एकार्थ काव्य कहना अधिक समीचीन समझते थे। इस पर विचार-विमर्श करने के लिए मैं बाबूजी के पास पहुँचा। बाबूजी बोले यह तो

ठीक है कि 'कामायनी' में प्राचीन शास्त्रीय प्रणाली का महाकाव्यत्व नहीं है और इसे रूपक काव्य अथवा एकार्थ काव्य माना जा सकता है परन्तु ऐसा करिये कि 'कामायनी' को न तो प्राचीन महाकाव्य संबंधी मान्यताओं के आधार पर महाकाव्य बताइये और न इसे कोरा रूपक-काव्य तथा एकार्थ काव्य कहकर आधुनिक मान्यताओं का प्रदर्शन काव्य बताइये, अपितु यह लिखिए कि "कामायनी आधुनिक युग की परिवर्तित विचार-धारा के आधार पर निर्मित एक नूतन महाकाव्य है, जिसमें प्राचीन एवं आधुनिक अथवा भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों प्रकार की मान्यताओं के दर्शन होते हैं।" ऐसा कहने से 'कामायनी' के आधुनिक आलोचकों के विचारों की मान्यता भी सिद्ध हो जाती है और प्राचीन काव्य-पद्धति की भी रक्षा हो जाती है। इसी तरह मेरे सम्मुख 'कामायनी' के नायक मनु के बारे में बड़ी समस्या उत्पन्न हुई थी, क्योंकि आदर्श-वादी महाकाव्यों की भाँति मनु में उच्च मानव एवं पुरुषोत्तम के गुण न दिखाकर प्रसाद ने एक साधारण व्यक्ति के गुण एवं दोष दिखाये हैं। अतः प्राचीन शास्त्रीय पद्धति के अनुसार मनु को कामायनी का नायक नहीं माना जा सकता है। इस पर बाबूजी ने बड़ा अच्छा रास्ता निकाला। आपने बताया कि "प्रसाद जी ने मनु में जातीय गुणों का समावेश करके तथा उसमें साधारण मानव के समान दोष दिखाकर मनु को आदि मानव या किसी काल-विशेष का पुरुष न बनाकर सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक नायक बनाने का प्रयत्न किया है और प्रसाद जी का यह प्रयत्न आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के सर्वथा अनुकूल ठहरता है, जो आधुनिक युग की एक विशिष्ट प्रवृत्ति है।" इस कथन द्वारा समस्या भी हल हो गई और बाबूजी की समन्वयवादी प्रवृत्ति का भी आभास मिल गया कि वे सभी का समन्वय करके साहित्य का सृजन करना अधिक समीचीन समझते थे और इसी आधार पर आलोचना भी करते थे तथा निर्देशन भी।

बाबूजी एक जागरूक निर्देशक थे। उन्हें सदैव इस बात का ध्यान रहता था कि शोध-कर्त्ता अपना कार्य सुचारु रूप से कर रहा है अथवा नहीं। जब कभी उन्हें मैं जहाँ कहीं भी मिल जाता था, वे तुरन्त मुझसे शोध-कार्य की प्रगति के बारे में पूछा करते थे और प्रायः उन अड़चनों एवं असुविधाओं को जानने की चेष्टा किया करते थे जो मेरे मार्ग में उपस्थित हुआ करती थीं तथा उन्हें दूर करने के लिए भरसक प्रयत्न भी किया करते थे। मेरा शोध-कार्य पूर्ण नहीं हुआ था कि बाबूजी बीच में ही बीमार पड़ गये। वे प्रायः मुझसे मेरी लिखी हुई पांडुलिपि को पढ़-वाया करते थे, क्योंकि बाबूजी को पढ़ने में तकलीफ़ होती थी। दूसरे वे बैठने में भी असमर्थ हो गये थे। एक बार उन्हें बीमारी ने बहुत सताया और वे अपने सुपुत्र डा० शिवशंकर गुप्ता के पास इन्दौर चले गये। इधर मैं आगरे में ही था। इन्दौर में रुग्णावस्था के होते हुए भी बाबूजी को अहर्निश मेरे शोध-प्रबंध का ही ध्यान रहता था। मैं तो समझ रहा था कि इन्दौर जाकर बाबूजी मेरे बारे में सब कुछ भूल गये होंगे और अब मेरे पास इतना धन भी नहीं है कि बाबूजी से सत्परामर्श लेने मैं बार-बार इन्दौर जा सकूँगा। मैं तो ऐसा ही सोचता हुआ एक दिन बैठा था कि अचानक बाबूजी का निम्नांकित पत्र मुझे मिला—
प्रिय द्वारिकाप्रसाद जी,

हम लोग सकुशल यहाँ आ गये। आशा है तुम्हारा कार्य ठीक चल रहा होगा। मुझे मालूम नहीं कि तुमने प्रबंध के साथ पुस्तक-सूची दी है या नहीं। उसका अच्छा प्रभाव पड़ता

है। न तैयार की हो तो तैयार कर लेना। संस्कृत, अंग्रेजी, हिन्दी की अलग-अलग। उसमें भी थोड़ा क्रम रखना—साहित्य-विषयक एक साथ, दर्शन-विषयक एक साथ। अँग्रेजी दर्शनों के विवेचन के साथ यह लिख देना कि यह तो नहीं कहा जा सकता कि इन दर्शनों का कोई सीधा प्रभाव प्रसाद जी पर पड़ा है, तथापि वे अपने समय के व्यापक प्रभावों से अछूते न थे। जब तुम अपना प्रबंध भेज दो तब मुझे लिख देना। श्री रामप्रकाश दीक्षित मिले तो उनसे मेरे समाचार कह देना और मेरा पता भी बता देना। पत्रोत्तर की प्रतीक्षा करूँगा। (हस्ता.) गुलाबराय

उक्त पत्र अविकल रूप में अंकित है। इससे स्पष्ट पता चलता है कि बाबूजी को अपनी रुग्णावस्था में भी मेरे शोध-प्रबंध का कितना ध्यान रहता था। साथ ही वे अंत में अपना अमूल्य सुझाव देना भी नहीं भूले। यह भी उनकी ऐसी जागरूकता की जो एक शोध-निर्देशक के लिए अत्यंत आवश्यक है और जिसके बिना कोई भी शोधकर्त्ता ठीक ढंग से अपना कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता।

बाबूजी के पास प्रायः शोध-कर्त्ता आते ही रहते थे और सभी विषयों पर बाबूजी अपना सत्परामर्श दिया करते थे। कभी-कभी बाबूजी का परामर्श प्राप्त करने के लिए आए हुए शोधकर्त्ताओं के मध्य मैं भी उपस्थित रहता था और बाबूजी की स्मृति एवं उनकी सूझबूझ को देख-देख कर आश्चर्य में पड़ जाता था। कोई बाबूजी से काव्य-शास्त्र की चर्चा करता और वे उसे साहित्य दर्पण, काव्य प्रकाश आदि की बातें बताते। कोई उनसे दर्शन-शास्त्र पर चर्चा करता और बाबूजी भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन के तुलनात्मक सिद्धान्तों को उसे समझाते और कोई शोधकर्त्ता उनसे बँगला एवं हिन्दी के तुलनात्मक साहित्य पर चर्चा छेड़ देता और बाबूजी उसे भी अपनी गुलाबी-राय देकर कृतकृत्य कर देते थे। बाबूजी की राय के बारे में डा० रामविलास शर्मा ने प्रायः यह प्रसिद्ध कर दिया था कि बाबूजी सदैव अपने नाम के अनुकूल गुलाबी राय दिया करते हैं। निस्संदेह बाबूजी की राय गुलाबी अवश्य होती थी, किन्तु उस राय का अपना महत्त्व था। उसमें निष्कपटता एवं निश्छलता भरी रहती थी और वह कभी किसी के विरोध में नहीं होती थी। इसीलिये बाबूजी की गुलाबी राय पाने के लिए अनेक हिन्दी के विद्वान् आगरा आते रहते थे और सदैव कृतकृत्य होकर ही लौटते थे।

बाबूजी अपने ही क्या, सभी शोधकर्त्ताओं की भरपूर सहायता किया करते थे। कोई उनसे पुस्तकें ले जाता था और कोई उनसे परिचय-पत्र लेने आता था। प्रायः बाबूजी मुझसे कहा करते थे कि मेरी कितनी ही पुस्तकें आजकल के शोधकर्त्ता ले गये और फिर लौटाने नहीं आये। धन के इच्छुक शोधकर्त्ताओं के लिए बाबूजी कभी-कभी ऐसे-ऐसे छोटेमोटे कार्य दे देते थे, जिनसे उन्हें कुछ धन प्राप्त हो जाता था। जब मैं स्वयं बनारस जाने लगा तो मुझे वहाँ श्री रायकृष्णदास जी एवं विनोदशंकर व्यास जी के लिए बाबूजी ने परिचय-पत्र दिये और बताया कि इनसे मिलने पर आपको समस्त आवश्यक सामग्री प्राप्त हो जायेगी। इसमें संदेह भी नहीं कि बाबूजी के पत्र ने रायजी से मेरा घनिष्ट परिचय करा दिया और मुझे उनसे प्रसाद जी के बारे में जितनी जानकारी प्राप्त हुई, उतनी अन्य किसी से नहीं हुई। 'इन्दु' की सारी फाइलें मुझे राय जी के पास ही प्राप्त हुई, जिनसे प्रसाद जी के क्रमिक साहित्यिक विकास का अध्ययन करने में मुझे अधिक सुविधा हुई।

बाबूजी से मैं समय-असमय सभी क्षणों पर मिल आता था। कभी-कभी तो दोपहर के समय यदि कोई समस्या मेरे सामने उपस्थित होती थी तो धूप या लू की परवाह न करते हुए जैसे ही मैं बाबूजी के पास पहुँचता और जब वे आराम करते हुए मिलते वैसे ही वे मुझे अपने पास बुला लेते और घंटे दो घंटे लेटे-लेटे ही मेरी समस्या का समाधान करने में आनंद लेते। बाबूजी में आलस्य तनिक भी नहीं था। वे कभी-कभी तो अपना लेखन-कार्य बंद करके भी मेरी समस्या सुनते और उसका समाधान करके पुनः अपने कार्य में लग जाते। इस तरह बाबूजी ने कभी मुझे न तो निराश किया और न कभी मुझे उनसे मिलने के लिए बाहर बैठे-बैठे प्रतीक्षा करनी पड़ी। यह थी उनकी शोधकर्त्ता के प्रति स्नेह-भावना, जिसका भाजन होकर मैं आज भी अपने को कृतकृत्य समझता हूँ।

इस प्रकार अपने शोध-काल की धुँधली स्मृतियों का अध्ययन एवं अनुशीलन करते हुए मैंने बाबूजी के स्वभाव एवं उनकी निर्देशन-पद्धति की ओर जो कुछ संकेत किया है उससे पता चलता है कि बाबूजी में एक उच्चकोटि के अनुसंधान-निर्देशक के सभी गुण विद्यमान थे। वे स्वयं विद्या-व्यसनी थे, खूब अध्ययन करते थे और नई-नई मान्यताओं के प्रति सजग रहते थे। उन्हें कभी सुयश एवं आत्म-सम्मान की चाह नहीं थी। जब कभी मैं उनके विचारों के लिए उनके ग्रंथों को उद्धृत करने की बात कहता था तब वे तुरंत यही उत्तर देते थे कि डा० श्याम-सुंदर दास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी आदि के ग्रंथों को उद्धृत करो। यद्यपि बाबूजी शास्त्रीय पद्धति की आलोचना एवं विवेचना के पक्षपाती थे, तथापि उन्हें नवीन आलोचना-पद्धति भी अरुचिकर न थी। वे प्रभाववादी आलोचना को भी बुरा नहीं मानते थे और कहीं-कहीं यदि मैं अपने विचारों को अधिक भावुकतावश या अधिक प्रभावित होने के कारण अपने शोध-प्रबंध में रख देता था तो वे उसमें आवश्यक सुधार करके उनको परिष्कृत एवं परि-मार्जित रूप प्रदान कर देते थे। इस तरह एक अनुसंधान-निर्देशक के रूप में उनकी परिपक्व बुद्धि, प्रौढ़-मनीषा, सुसम्बद्ध विचार-पद्धति, तात्विक-सूझबूझ, समन्वयात्मक विवेचना-प्रणाली आदि की कहाँ तक सराहना की जाय और उनकी उदारता, सहृदयता, कार्य-कुशलता, परदुःख-कातरता, जागरूकता आदि की कहाँ तक प्रशंसा की जाय। यह सब तो सूर्य को दीपक दिखाने के समान है, क्योंकि न मुझमें इतनी सामर्थ्य है और न इतनी प्रतिभा जिसके बल पर अपने अगाध पांडित्यपूर्ण प्रतिभाशाली गुरुवर के गुणों का वर्णन कर सकूँ। फिर भी जो कुछ गुण मुझमें हैं, मेरी कृतियों में हैं वे सब उन्हीं के हैं, और जो दोष हैं वे सब मेरे हैं।

●

डा. मुरारिलाल शर्मा 'सुरस'

सम्पादक के रूप में

बाबू गुलाबराय प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार थे। उनका कार्यक्षेत्र आलोचना, निबंध (साहित्यिक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक), पत्र एवं पुस्तक-सम्पादन तक में ही सीमित था। वे 'साहित्य-संदेश' के सम्पादक थे। उनके अधिकांश निबंध इसी पत्र में प्रकाशित हुए थे जो बाद में विविध पुस्तकों में संकलित किये गये। उनके लिखित साहित्य का अनुशीलन करने से उनकी प्रतिभा, सूझबूझ, अध्ययनशीलता की प्रवृत्ति, सरल बोधगम्य भाषाभिव्यक्ति, कठिन से कठिन गम्भीर विषय को सरल से सरल और सरस रूप में पाठक के सामने प्रस्तुत करने की क्षमता का सहज में ही अनुमान हो सकता है। उनकी मौलिक रचनाऐं उनके विद्वत्तापूर्ण अध्ययन, विवेचन, विश्लेषण, परीक्षण का जिस प्रकार सच्चा निदर्शन प्रबुद्ध साहित्यकारों के लिए प्रस्तुत करती हैं उसी प्रकार उनके सम्पादित और संशोधित साहित्य में उनकी छात्रोपयोगी बोधगम्य भाषा और अभिव्यक्ति उनके सरल व्यक्तित्व की साक्षी के रूप में उपस्थित होती है।

बाबूजी का सम्पादक-व्यक्तित्व तीन रूपों में उपलब्ध है—(१) पुस्तक सम्पादक (२) संशोधक (३) पत्रकार। उनकी सम्पादित पुस्तकों के दो वर्ग हैं (क) जिनका सम्पादन उन्होंने अकेले ही किया है (ख) जिनमें किसी अन्य व्यक्ति का सहयोग लिया है।

उनकी सम्पादित पुस्तकों की सूची निम्नांकित है—

[क] पुस्तक	प्रकाशन वर्ष	प्रकाशक
(१) भाषा भूषण	सन् १९३३	साहित्यरत्न भण्डार, आगरा
(२) मंजरी भाग १	सन् १९४०	गयाप्रसाद एण्ड संस, आगरा

	पुस्तक	प्रकाशन वर्ष	प्रकाशक
(३)	मंजरी भाग २	सन् १९४०	गयाप्रसाद एण्ड संस, आगरा
(४)	मंजरी भाग ३	सन् १९४०	गयाप्रसाद एण्ड संस, आगरा
(५)	मंजरी भाग ४	सन् १९४०	गयाप्रसाद एण्ड संस, आगरा
(६)	युगधारा	सन् १९४८	दी ऑरियेंटल पब्लिशर्स लि०, आगरा
(७)	गांधीय मार्ग	सन् १९५३	गयाप्रसाद एण्ड संस, आगरा
(८)	गद्य प्रभा	सन् १९५६	दी एजुकेशनल प्रेस, आगरा
(९)	गद्य सुधा	सन् १९६२	लायल बुक डिपो, ग्वालियर
(१०)	एकादशी	सन् १९६२	गयाप्रसाद एण्ड संस, आगरा
(११)	प्रसाद जी की कला	(?)	साहित्यरत्न भण्डार, आगरा

[ख]	पुस्तक	प्रकाशन वर्ष	सहयोगी सम्पादक	प्रकाशक
(१२)	कथा कुसुमांजलि	सन् १९४२	जैनेन्द्रकुमार	दी यूनिवर्सिटी बुक डिपो, आगरा
(१३)	आलोचक रामचन्द्र शुक्ल	सन् १९५२	डा. विजयेन्द्र स्नातक	आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली
(१४)	कथा कुसुमां-जलि	सन् १९५६	डा. शिवमंगलसिंह 'सुमन'	दी यूनिवर्सिटी बुक डिपो, आगरा
(१५)	कथा कुसुमां-जलि	सन् १९६२	डा. किरण कुमारी गुप्त	दी यूनिवर्सिटी बुक डिपो, आगरा

इनके अतिरिक्त अपने जीवन के अंतिम काल में उन्होंने श्री विश्वभर 'अरुण' के सहयोग से 'तुलसी की कला' पुस्तक के सम्पादन का कार्य किया था जो अभी अप्रकाशित रूप में है।

उपर्युक्त सम्पादित पुस्तकें दो प्रकार की हैं (अ) पाठ्यक्रमों में स्वीकृत (इ) मौलिक, विचारपूर्ण एवं गम्भीर विषयों पर गवेषणापूर्ण साहित्यिक आलोचना।

(अ) जिनमें विविध प्रकार के निबंध, कहानियाँ एवं कविताएँ संकलित की गई हैं। इनका सम्पादन करते समय छात्रों को परीक्षोपयोगी सामग्री देने तथा तदनुसार अन्य कठिनाइयों को दूर करने के लिए भी आवश्यक सामग्री प्रस्तुत की गई है। कहानियों, निबंधों एवं आलोचनाओं का संकलन करते समय सम्पादक ने लब्धप्रतिष्ठ लेखकों की वे रचनाएँ चुनी हैं जिनमें मानव-प्रकृति का अध्ययन, मनोवैज्ञानिक तथ्यों का उद्घाटन, ज्ञान-वृद्धि के साथ मानसिक क्षितिज का विस्तार, नागरिकता, मानवता और राष्ट्रीय-भावना को उद्दीप्त करके जागृत बनाये रखना, साहित्यिक परम्परा एवं संस्कृति से परिचय, लेखकों की रचनाओं के साथ उनके चित्र देकर उनके साहित्यिक व्यक्तित्व एवं उनकी प्रवृत्तियों को समझने का अवसर देने का प्रयत्न किया गया है। इन संकलनों के निबंधों एवं कहानियों की विशेषता यह है कि ये शिक्षाप्रद और मनोरंजक तो हैं ही,साथ ही वे साहित्यिक अभिरुचि को उद्बुद्ध करने में सक्षम हैं। परीक्षा की दृष्टि से छात्रों को कहानियों तथा गद्य के विकास-क्रम की रूपरेखा जानने की आवश्यकता ध्यान में रखकर विद्वान्

सम्पादक ने सरल भाषा में साहित्यिक प्रवृत्तियों के वैविध्य तथा लेखकों एवं कहानीकारों के रचना कौशल से परिचित कराने का अच्छा प्रयत्न किया है। इण्टरमीडिएट तथा बी.ए. के छात्रों के लिए सम्पादित पुस्तकों में पाद-टिप्पणियों, अंतर्कथाओं एवं पाठ के कठिन स्थलों को स्पष्ट करके रचना की सौन्दर्यानुभूति कराने की चेष्टा की गई है।

(इ) सम्पादित पुस्तकों––'युगधारा', 'गांधीय-मार्ग', 'आलोचक रामचन्द्र शुक्ल', 'प्रसाद जी की कला'–में भी बाबूजी ने अपने कतिपय मौलिक एवं विचारपूर्ण निबंध संकलित किये हैं जिनमें अन्य विद्वानों के लेखों के साथ उन्होंने गम्भीर एवं वैज्ञानिक विवेचन के द्वारा प्रतिपाद्य विषय की विचारपूर्ण समीक्षा प्रस्तुत की है। बाबूजी ने काव्यरूपों तथा आलोचनाओं का अध्ययन प्रस्तुत करते समय भारतीय एवं पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र का विधिवत् अनुशीलन एवं हिन्दी का समन्वित काव्यशास्त्रीय पक्ष प्रस्तुत किया है। भविष्य में जब हिन्दी का काव्य-शास्त्र लिखा जायगा तब बाबूजी की मौलिकता, उनका व्यापक एवं स्वस्थ चिन्तन तथा दार्श-निक पद्धति पर किया गया गम्भीर विश्लेषण इस दिशा में पर्याप्त सहायक सिद्ध होगा।

संशोधक-सम्पादक का कार्य जितना दायित्वपूर्ण है उतना ही संशोधक का भी है क्योंकि पुस्तकों में संकलित सामग्री का विधिवत् अवलोकन करके यह निश्चित करना आवश्यक है कि जो पाठ्यसामग्री प्रस्तुत की जाय वह छात्रों के लिए बोधगम्य हो एवं उनके मानसिक क्षितिज की परिधि से आगे या पीछे न हो। बाबूजी ने संशोधक की हैसियत से चार पुस्तकों––नाटक निकुंज (सन् १९३६), साहित्य-सरोवर प्रवेशिका (सन् १९४७), साहित्य सरोवर भाग १ (सन् १९४९), निबंध पारिजात (सन् १९५१)––का पर्यालोचन एवं परिवीक्षण किया।

पत्रकार–बाबूजी ने अपने जीवन में केवल एक ही पत्र––'साहित्य-संदेश' का सम्पादन किया। वस्तुतः पत्रकार के दायित्व को समझते हुए और तदनुसार लेखक और पाठक की रुचि का परिष्कार करते हुए पत्र का विधिवत् सम्पादन करना भी एक कला है। पत्र के प्रारम्भिक दिन तो सम्पादक की अग्नि-परीक्षा के होते हैं। इस प्रकार यदि वह अपने गुरुतर कर्त्तव्य भार का ठीक प्रकार समायोजन न कर सका तो वह अपने कर्त्तव्य से च्युत् तो होता ही है, उसका पत्र या तो डूब जाता है या दलबन्दी का माध्यम बनकर अस्वास्थ्यकर वातावरण पैदा करता है। साहित्यिक प्रवृत्तियों के प्रेरक महारथी आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'साहित्य-संदेश' के जुलाई १९३७ के प्रथम अंक में––

'साहित्यस्य समुन्नति लोकानां रंजनं तथा
कृत्वा साहित्य संदेशं तिष्ठत्वं शरदां शतम्।'

की मंगल कामना की थी। प्रसन्नता की बात है कि बाबूजी की निष्ठा और कुशलतापूर्ण निर्देशन में पत्र ने जिन रीति-नीतियों को अपनाया उनपर चलकर वह आज भी साहित्य का सन्देश साहित्यिक जनता तक अप्रतिहत गति से निरन्तर पहुँचा रहा है।

पत्र की नीति––'साहित्य-संदेश' को 'साहित्यिक-सुरुचि-प्रसारक मासिक पत्र' के रूप में प्रारम्भ किया गया था जिसमें कविता, कहानी तथा आलोचनाएँ छापी गईं, किन्तु सितम्बर १९३७ के अंक में सम्पादक जी ने 'सामयिक प्रसंग' शीर्षक के अंतर्गत एक टिप्पणी दी जिसके अनुसार पत्र की नीति में परिवर्तन किया गया और कविता तथा कहानी को त्याग कर

केवल आलोचना को ही 'साहित्य-संदेश' में प्रश्रय देने का संकल्प किया गया। इसके बाद बाबूजी वरेण्य साहित्यकारों से पत्र के सुधार के सम्बन्ध में सुझाव देने का अनुरोध किया। इस सम्बन्ध में प्राप्त हुए सुझावों का उन्होंने स्वागत तो किया किन्तु डा. वासुदेवशरण अग्रवाल के कतिपय सुझावों से असहमत होते हुए उन्होंने अपना संकल्प पुनः दुहराया––"साहित्य सन्देश आलोचना प्रधान पत्र है.... अधिकांश बड़े पत्रों की तरह 'साहित्य संदेश' विश्व भर की समस्त समस्याओं को अपने कलेवर में धारण करने की सामर्थ्य नहीं रखता। वह तो एक क्षुद्र प्रयास है और एक दिशा में अपनी सारी क्षुद्र शक्ति लगाना अच्छा समझता है।" यद्यपि इसके बाद भी नवम्बर १९३७ तथा अप्रैल १९३९ के अंकों में कुछ कविताएँ छपीं किन्तु उसके बाद से तो 'साहित्य संदेश' पूर्णतः आलोचना प्रधान पत्र बन गया जिसमें साहित्यकारों के कृतित्व––कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि––के सम्बन्ध में विश्लेषणात्मक एवं आलोचना-प्रधान निबन्ध छापे गये।

आलोचक एवं सम्पादक–पाठकों तथा लेखकों को किसी भी प्रकार का भ्रम न हो इसलिए बाबू गुलाबराय जी ने 'आलोचक के कठिन कर्त्तव्य' की ओर ध्यान दिया और व्यक्तिगत राग-द्वेष को नगण्य मानकर सच्चाई और ईमानदारी से ग्रंथों की आलोचना की। पं. शुकदेवबिहारी मिश्र ने अपने ग्रंथ 'मिश्र-बंधु विनोद' की प्रतिकूल आलोचना का भी स्वागत किया और इसे 'विचार स्वातंत्र्य' का ही लक्षण माना।

अपने सम्पादकीय दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए सितम्बर १९३७ के अंक में बाबूजी ने किसी भी आलोचक के मत से सोलह आने सहमत न होते हुए भी उसकी लिखी हुई आलोचना को अविकल रूप से छापने का निश्चय प्रकट किया। वह भी केवल एक ही निश्चय पर कि लेख में कोई बात शिष्टता के विरुद्ध न हो। बाबूजी स्वयं किसी भी प्रकार के वाद-विवाद के हामी न थे फिर भी उन्होंने अपना अभिमत प्रकट किया––"यदि कोई ग्रंथकार महोदय यह समझें कि उनके साथ अन्याय हुआ है तो हम प्रत्यालोचना भी छापने को तैयार रहेंगे।" अपने इस कथन को उन्होंने अंत तक निभाया।

अपने पाठकों के साहित्य के नये प्रकाशनों से निरंतर अवगत कराते रहने के लिए बाबूजी ने 'अपने सम्बन्ध में' शीर्षक के अंतर्गत एक त्रिसूत्री फार्मूला प्रकाशित किया जिससे 'साहित्य-सन्देश' को अधिक सुरुचि सम्पन्न बनाया जा सके।

उन्होंने 'साहित्य-सन्देश' में कतिपय स्थायी स्तम्भ 'हमारा मासिक साहित्य', 'साहित्योद्यान की झलक', 'मासिक सुपाठ्य सामग्री', 'साहित्य समाचार,' 'सामयिक प्रसंग', 'पते की बातें' आदि प्रारम्भ किये जिनसे पाठकों को हिन्दी साहित्य की विभिन्न गतिविधियों एवं उनकी कार्य दिशाओं का ज्ञान हो सके। 'साहित्य परिचय' शीर्षक के अंतर्गत प्रकाशित पुस्तकों की आलोचना उसी विषय के अधिकारी विद्वानों से कराई जिससे पुस्तक का सही मूल्यांकन हो सके। इसके अतिरिक्त 'साहित्यिक पत्र' शीर्षक से एक नई विधा का श्रीगणेश किया जिसमें आलोचना एवं साहित्य के सम्बन्ध में श्री सत्येन्द्र और श्री गुलाबराय तथा श्री जैनेन्द्रकुमार और श्री रामकुमार वर्मा के प्रश्नोत्तर दिये गये।

कलाकार के प्रति उनका दृष्टिकोण––सच्चे कलाकार को झूठी प्रशंसा के लालच में न

भटक जाना चाहिए, अतः बाबूजी की स्पष्ट राय थी कि "....पाठक की अपेक्षा लेखक का अधिक उत्तरदायित्व है क्योंकि उसका स्थान शिक्षक का है। पाठकों की दाद पाने के लिए बहुत से लेखक अपने परिमाण से नीचे झुक जाते हैं और ठकुर सुहाती साहित्य की रचना करने लगते हैं। सच्चे कलाकार को न तो एकदम इतना ऊँचा उठ जाना चाहिए कि उसकी कृति जनता के लिए एकदम दुरूह हो जाय और न इतना नीचा गिर जाना चाहिए कि वह जनता के उत्थान में कुछ भी सहायता न दे सके। उसे जनता को साथ लेकर आगे बढ़ना चाहिए।....लेखक और पाठक की रुचि का जब साम्य होता है तभी साहित्य की वृद्धि होती है। हमको गुणी बनाने के साथ गुणग्राहक बनाने की भी आवश्यकता है।" इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने लेखकों को याद दिलाया कि हमारा अभिप्रेत केवल आधुनिक साहित्य की चर्चा ही नहीं है, हमें प्राचीन साहित्य की चर्चा करके समालोचना के सिद्धान्तों एवं आदर्शों का पुनर्निर्माण एवं पुर्न-वीक्षण करना चाहिए। हिन्दी में जिस प्रकार के साहित्य--बाल-साहित्य, प्रौढ़-साहित्य, जीवनी-साहित्य, हास्य-व्यंग्य-साहित्य आदि की कमी है, उसकी पूर्ति करने के लिए भी उन्होंने लोगों का ध्यान आकर्षित किया।

साहित्यकारों से सम्बन्ध--रियायत करके मैत्री निभाने वाला आलोचक किसी भी कृति या लेखक की आलोचना करने में सच्चाई से अपना कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता। बाबूजी की यह विशेषता थी कि वे मैत्री को यथावत् रखते हुए भी आलोचक के कर्तव्य के प्रति सदैव जागरूक रहते थे। जिन साहित्यकारों से बाबूजी के घनिष्ठ सम्बन्ध थे उनकी पुस्तकों की आलोचना करने में भी उन्होंने कोई कसर न रखी। ऐसा करते समय भी उनके मन में किसी भी प्रकार का द्वेष या ईर्ष्या भाव न होता था। अपने प्रति किये गए उपकारों को सादर स्मरण करके और उनका आभार स्वीकार करते हुए उन्होंने मिश्रबन्धु कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' की आलोचना की। अपने मंतव्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा--"प्रस्तुत पुस्तक की आलोचना के साथ यदि मैं उसके रचयिता के प्रति अपने निजी सम्बन्ध की दो-एक बातें लिख दूँ तो पाठक-गण सम्पादकीय अधिकार के इस दुरुपयोग को क्षमा कर देंगे।....आलोच्य पुस्तक के लेखकों ने 'मिश्रबन्धु विनोद' में मुझे अपना मित्र कहा है, यह उनकी कृपा है। छतरपुर राज्य में वे दीवान थे। उनकी कृपा का मैंने लाभ उठाया।....मैं उनका बहुत कुछ आभारी हूँ। इस आभार को स्वीकार करते हुए भी मैं उनके साथ पक्षपात करने नहीं जा रहा। जो बातें मुझे खटकी हैं, उन्हें मैंने निःसंकोच पाठकों के सम्मुख रखा है। 'दोषा वाच्या गुरोरपि', समालोचक कीट का रूप धारण कर मुझमें भी वृश्चिक की भाँति डंक मारने की आदत हो गई है। आशा है उदार लेखकगण मुझे मेरे कर्तव्य के लिए क्षमा कर देंगे।" इस प्रकार उन्होंने उक्त ग्रंथ की शिष्ट-व्यंग्यात्मक शैली में आलोचना करते हुए गुण-दोष विवेचन किया। ('साहित्य संदेश', जून १९३९, पृ. ४१७)।

इसी प्रकार उन्होंने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' की भी आलोचना की --"कुछ लोगों की दृष्टि में इसमें विस्तार तथा संतुलन का अभाव है। किसी को आवश्यकता से कम और किसी को अधिक विस्तार देना इसका मुख्य दोष है। यह बात अवश्य माननी पड़ेगी कि इतने विस्तृत वर्णनों में कभी-कभी पाठक यह भूल जाते हैं कि वे इतिहास पढ़ रहे हैं या

आलोचना ग्रंथ। इस ग्रंथ में संश्लेषण और प्रवृत्तियों के अध्ययन की कमी नहीं है, तथापि इसका झुकाव विश्लेषण की ओर अधिक है।"

आलोचना के मान-दण्ड—साहित्य की विविध विधाओं की आलोचना के मानदण्ड स्थिर करने के लिए बाबूजी ने स्वयं लेख लिखे और अधिकारी विद्वानों से भी लिखवाए। उनका कहना था कि आलोचना के भी कुछ ऐसे स्थिर मानदण्ड निश्चित होने चाहिए जिससे किसी भी रचना का सही मूल्यांकन हो सके क्योंकि जिस रचना पर एक आलोचक ९५ प्रतिशत अंक दें, दूसरा उसे ५ प्रतिशत के योग्य समझे तो ऐसी दशा में आलोचना का क्या मानदण्ड रहेगा? लेखक और उसकी कृति के साथ ईमानदारी और सचाई से न्याय किया जाना चाहिए।

बाबू गुलाबराय जी का निश्चित मत था कि साहित्य के आलोचक को शिष्ट होना चाहिए। मतभेद का होना तो स्वस्थ मनोवृत्ति का ही निदर्शन है, परन्तु गाली-गलौज और मतभेद में बड़ा अन्तर है। 'साहित्य-संदेश' में प्रकाशित आलोचना और प्रत्यालोचनाओं में उन्होंने सदैव विनम्र दृष्टिकोण रखा और किसी के प्रति कभी भी दुराग्रह प्रकट नहीं किया।

उपर्युक्त विवरण से यह सुस्पष्ट है कि बाबूजी का सम्पादक-व्यक्तित्व बड़ा ही सौम्य, विनम्र, राग-द्वेष रहित निष्पक्ष आलोचक के रूप में नीर-क्षीर विवेकी हंस की भाँति दिखाई देता है। उन्होंने छात्रोपयोगी पाठ्य-पुस्तकों में बोधगम्य सामग्री संकलित करके उनके ज्ञान-विज्ञान के मानसिक क्षितिज को विस्तीर्ण करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है साथ ही सुविज्ञ एवं प्रबुद्ध साहित्योन्मुखी प्रवृत्तियों को अध्ययनशील विद्यार्थियों के लिए विचारपूर्ण, गम्भीर, विश्लेषणात्मक मौलिक निबन्धों के द्वारा जो दिशा-निर्देश किया है वह निश्चय ही आचार्य शुक्ल की समीक्षा-पद्धति की दिशा को प्रगतिशील दृष्टिकोण प्रस्तुत करने में सक्षम है।
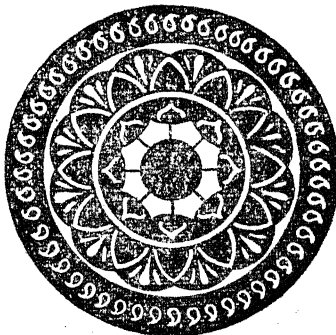
श्री गोपालप्रसाद व्यास

लेखक के रूप में

बाबूजी मूलतः लेखक थे । गंगा का ध्येय जैसे समुद्र में मिलना है, वैसे ही उनका परम ध्येय लिखना ही था । वह वैश्य परिवार में उत्पन्न हुए थे । छतरपुर महाराज के प्राइवेट सेक्रेटरी रह चुके थे । चाहते तो कोई भी अच्छा रोजगार अपना सकते थे । परन्तु उन्होंने लेखन-वृत्ति ही चुनी । 'यथालाभ सन्तोष' के सिद्धान्त पर लेखन से जो मिल जाता, उस पर ही अपनी गुजर करते थे ।

बाबूजी की दिन-चर्या भी लेखनमय थी । वह उतना ही पढ़ते जितने से उन्हें लेखन में सहायता मिलती । वह उतना ही सोते जिससे लिखने में उन्हें ताजगी प्राप्त हो सके । वह इतना ही जागते कि लिखने में थकावट न हो । उन्हीं पत्र-पत्रिकाओं, सम्पादकों और प्रकाशकों से उनका सम्बन्ध रहता, जो उनका लिखा छाप दें । व्यर्थ के जग-व्यवहार में फँसकर, संस्थाओं के प्रपञ्चों में उलझकर या अलग से अपनी गोल्डन बनाकर उन्होंने अपनी लेखनी-तटस्थता को बन्द नहीं किया । पूरे पचास वर्ष तक वह लिखते ही गए । पचास-साठ से कम पुस्तकें उन्होंने नहीं लिखीं । उन पुस्तकों के विषय, आकार और वर्णन-शैलियों को देखकर आश्चर्य होता है कि बाबूजी इतना वृहद्, इतना विविध और ऐसा विशिष्ट कैसे लिख गए ?

उनके लिखने का तरीका भी निराला था । रद्दी कागज हों, बच्चों की स्कल की कापियाँ हों, छपे हुए नोट्स हों; विज्ञप्तियों के खाली पृष्ठ हों; गर्ज यह कि जो भी सामने आया, उस पर वे लिखना शुरू कर देते थे । लिखने के लिए सादे या विशेष कागज शायद

ही उन्होंने कभी खरीदे हों। यही हाल कलम-दावात का भी था। न उनका कोई अपना पेन था, न अपनी दावात। लिखने का कोई अपना कमरा भी उन्होंने नहीं बनाया था। छोटे-छोटे बच्चे मेज-कुर्सियाँ लगाकर स्कूल का काम करते थे और बाबूजी बड़े-बड़े ऐतिहासिक ग्रन्थ अपनी खाट पर बैठकर लिखा करते थे। उनके लिखने का कोई समय भी न था। सुबह, दोपहर, शाम, रात जब जैसी आवश्यकता हो और जहाँ ध्यान जम जाये, वहीं जम जाते थे।

उनके बड़े-बड़े ग्रन्थों में सभी पंक्तियाँ उन्हीं की लिखी नहीं होती थीं। कभी-कभी वह अपने मित्रों और शिष्यों से भी मदद ले लिया करते थे। वह उन्हें बता दिया करते थे कि अमुक विषय पर यह लिखना है और इस सम्बन्ध में अमुक-अमुक पुस्तक से यहाँ-यहाँ सहायता मिल सकती है। लिख देने पर वह स्वयं उसे देखते थे, ठीक करते थे और कभी-कभी तो लिखे हुए को पूरा-पूरा बदल भी देते थे। उनके कई ग्रन्थों में ऐसी छोटी-मोटी सेवाएँ करने का सुयोग मुझे भी प्राप्त हुआ था। ये अमूल्य सेवाएँ बड़ी सुखद और ज्ञान-वर्धक हुआ करती थीं। इनसे बहुत कुछ सीखने को मिला करता था। बाबूजी के सौम्य-सम्पर्क में आने का सुयोग तो इनसे मिलता ही था।

बाबूजी के लेखन से कम्पोजीटर घबराया करते थे। कागज ही नहीं उनकी लिखावट भी अस्त-व्यस्त होती थी। दोनों तरफ के हाशियों का उपयोग भी वह लिखने में वाक्य के वाक्य बढ़ाकर किया करते थे। कोई नई बात सूझी और उन्होंने पलट कर पुराने वाक्य के साथ नया वाक्य और जोड़ दिया। पन्ना सीधा भी लिखा हुआ करता था और उल्टा भी लिखा हुआ करता था। आड़ा भी लिखा हुआ करता था और तिरछा भी। हमेशा स्याही से ही नहीं, ये परिवर्तन और परिवर्द्धन पेन्सिल से भी किए जाते थे। यह सिलसिला पाण्डुलिपि में ही नहीं, बाबूजी अन्तिम प्रूफ तक में भी परिवर्द्धन करते रहते थे।

बात यह है कि वे वास्तव में ज्ञान के भण्डार थे। जब किसी विषय पर लिखने बैठते, तो सूक्तियाँ, पद, श्लोक, देशी-विदेशी विद्वानों के विचार और अनेकानेक मौलिक भाव उनके सामने उपस्थित होते जाते थे और उदार भाव के बाबूजी किसी को भी उदास करना नहीं चाहते थे। उनके कुछ मित्र इस लेखन-शैली का अक्सर परिहास उड़ाया करते थे, बाबू जी के पीछे भी और उनके सामने भी। पर उन्होंने ऐसी आलोचनाओं पर ध्यान नहीं दिया। एक बार उन्होंने मुझसे कहा था—"लोग किसी लेख या पुस्तक को भाषा या शैली के लिए नहीं पढ़ते, रचनाएँ हमेशा ज्ञानवर्द्धन और सिद्धान्त समर्थन के लिए पढ़ी जाती हैं। मेरे पास जो कुछ है, उसे मैं सहज रूप से पाठकों के सम्मुख रख देता हूँ। सार-असार देखना उनका काम है।" बाबूजी ने जीवन में किसी का उग्र विरोध नहीं किया। अपने विरोधियों का भी नहीं। वह विरोधियों में भी सद्‌गुण खोजने के अभ्यासी थे। किसी लेखक या पुस्तक में उन्हें कमी नजर आती, तो उसे कहने से पूर्व वह उस व्यक्ति या रचना के गुणों का पहले वर्णन करते और विरोध करते दबी जबान में ऐसे कि—"यदि ऐसा हुआ होता तो अधिक अच्छा था।"

बाबूजी की इसी वृत्ति के कारण हिन्दी समालोचना में एक नई समीक्षा-पद्धति का जन्म हुआ। इसे लोग गुलाबरायी शैली या समन्वय-पद्धति कहने लगे। इसमें न प्रबल

समर्थन न उग्र विरोध, गुणों की चर्चा अधिक, दोषों का केवल दिग्दर्शन। उद्देश्य लेखक को प्रोत्साहन और पाठकों को कृति का परिचय। 'साहित्य-सन्देश' ने उनके निर्देशन में इसी पद्धति को स्वीकार किया था। 'साहित्य-सन्देश' ही नहीं बाबूजी का समस्त लेखन और जीवन दर्शन भी इसी शैली का है। उनका मत था कि लेखक को मताग्रही नहीं होना चाहिए। नए विचारों के लिए उसे अपने ज्ञान-कपाट हमेशा खोले रखने चाहिए। मतवाद तो मूढ़ाग्रह है। मूढ़ाग्रही कभी भी कल्याणकारी और श्रेयस्कर लेखक नहीं हो सकता। बाबूजी के समस्त लेखन का निचोड़ अगर दो शब्दों में प्रकट किया जाए तो वे हैं—'कल्याण और श्रेय।' निस्सन्देह उन्होंने हमारे साहित्य का कल्याण किया और श्रेय के भागी बने।
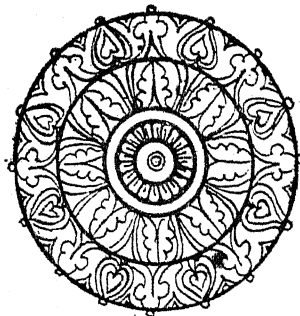
डा. वासुदेवशरण अग्रवाल

हँसमुखी साहित्यिक

श्री बाबू गुलाबराय जी से मेरा पहला परिचय सन् १९३५-३६ के लगभग हुआ। मैं उस समय मथुरा संग्रहालय में अध्यक्ष के पद पर काम कर रहा था और बाबूजी आगरे में अध्यापन कार्य करते थे। आगरे के बहुत से नवयुवक साहित्यिक मथुरा आकर मिलते-जुलते रहते थे। उनके मुख से प्रायः बाबू गुलाबरायजी के यश और मधुर व्यक्तित्व की चर्चा सुनने को मिलती थी। लगभग उसी समय मेरे परामर्श और प्रेरणा से ब्रज के उत्साही साहित्यिक कार्यकर्ताओं ने ब्रजसाहित्य मण्डल की स्थापना की। उसका कार्य वेग से चलने लगा और उसकी एक शाखा आगरे में भी स्थापित हुई। आगरे में इसके मुख्य कार्यकर्त्ता और प्रेरणादायक स्रोत बाबूजी ही बने। साहित्यिक नेतृत्व की मशाल उन्हीं के हाथ में थी। उनके भीतर और बाहर ऐसा मिठास था जो नए आते हुए साहित्यिकों को न केवल आगरे में किन्तु मथुरा से भी अपनी ओर खींच रहा था। उन्हीं में श्री महेन्द्र, नगेन्द्र और मथुरा के सत्येन्द्र जी भी थे। इन सबसे मिलकर मुझे बहुत सुख हुआ। उस समय ब्रजसाहित्य मण्डल के कार्यकर्त्ताओं में हार्दिक श्रद्धा का भाव था और नया साहित्यिक उन्मेष निर्माणात्मक प्रवृत्ति को लेकर चल रहा था। एक दूसरे के प्रति आस्था और प्रेम था। वे चाहते थे कि ब्रजसाहित्य मण्डल को रचनात्मक प्रवृत्तियों से भर दें। मण्डल के कितने ही कार्यकर्ताओं के नाम इस समय मेरे मन में आ रहे हैं और उनके उमड़ते हुए उत्साह का स्मरण करके मैं गद्गद् हो रहा हूँ। श्री मास्टर कामेश्वरनाथ, पं. जवाहरलाल चतुर्वेदी, जोशी बाबा, राधेश्याम, बाबू वृन्दावनदास, श्री प्रभुदयाल मीतल

भी हमारे सहयोगियों में थे। मण्डल के परिवार की अन्तरंग सदस्यता के लिए सभी लालायित दिखाई पड़ते थे। सार्वजनिक क्षेत्रों के कार्यकर्त्ता भी मण्डल में आये। फलस्वरूप मथुरा और आगरे में साहित्यिक माधुर्य के नए दर्शन होने लगे जिसके लिए ब्रज की सांस्कृतिक भूमि सदा से प्रसिद्ध थी। सचमुच आज मेरे मन में ब्रज जनपद का जो उभरा हुआ चित्र है उसमें मुझे सभी कुछ मधुर दिखाई पड़ रहा है। एक बार बड़ी साहित्यिक मण्डली के साथ हम लोग नन्दगाँव बरसाने गए और वहाँ मन्दिर के आंगन में ब्रज की ग्राम बालाओं का तरंगित नृत्य देखकर आत्म-विभोर बन गए। उस समय श्रीनारायण चतुर्वेदी भी हमारे साथ थे। दूसरी बार इन्हीं साहित्यिकों की मण्डली ने परासौली गाँव की यात्रा की और वहाँ सभा में कितने ही भाषण हुए। लौटते हुए हम लोग श्री सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार के प्रेम-सरोवर में पहुँचे जो एक प्रकार से उनकी भक्तिभाव का एकान्त साधना केन्द्र था। वहाँ सभी तर माल से छके, जिसकी उस समय ब्रजभूमि में कमी न थी।

एक बार का स्मरण मुझे आ रहा है जब आगरा के एक कालिज की ओर से एक गोष्ठी उद्यानयात्रा के लिए मथुरा आई, उसमें मेरे पुराने परिचित मित्र और बन्धु श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त और श्री हरिहरनाथ टण्डन भी थे और बाबूजी भी आये हुए थे। गोष्ठी मथुरा के सेठजी के यमुनाबाग में आयोजित की गई थी। दिन भर हम लोग हँसी की तरंगों में तैरते रहे और साहित्यिक गोदोहन से मिले हुए दुग्धामृत का रस चखते रहे। इन्हीं उत्तम प्रसंगों के अवसर पर बाबू गुलाबराय के विषय में मेरी कई धारणायें स्थिर हुई। मैंने जाना कि वे भीतर-बाहर रसपूर्ण हास्य से भरे हुए हैं। उनमें शुष्कता का अभाव है। मैंने यह भी समझा कि उनके मन में साहित्यिक इतिहास और संस्कृति के लिए बहुमुखी दीप्तिपट खुले हैं जिनके द्वारा वे हिन्दी क्षेत्र के अतिरिक्त और विषयों में भी गहरी रुचि रखते थे। एक बार मैं उनके नवनिर्मित गोमती निवास में भी ठहरा था। यहाँ और भी निकट से उनका परिचय मिला। उनके लिए मित्रमण्डली के समान घर भी मधुर हास्य की एक किरण थी। दूसरी बार वे लखनऊ आये और मेरे पूज्य पिताजी से मिलकर बहुत प्रसन्न हुए। उन दोनों सत्पुरुषों का वह सम्मिलन आज भी मेरे मन में हरा-भरा है। ऐसे निर्मल साहित्यिक के लिए अपनी श्रद्धांजलि प्रदान करके मुझे विशेष प्रसन्नता हो रही है।

●

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

सहज मानव और महान् साहित्यिक

स्व० डा० (बाबू) गुलाबराय जी ने अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक हिन्दी सेवा की है। वे उन निःस्पृह साहित्य-सेवियों में थे जिन्होंने साहित्यिक कार्य को सेवा का मार्ग समझ कर सोत्साह काम किया है; जिनके सामने साहित्यिक-सर्जना ही एक मात्र लक्ष्य था, और सारी बातें आनुषंगिक थीं; जिन्होंने अपने सहज स्नेह से नये साहित्यकारों का उत्साह-वर्धन किया और अनायास साहित्यिक कार्यकर्ताओं की शक्तिशाली टोली अपने इर्द-गिर्द बना ली। जिन दिनों उन्होंने साहित्य सर्जना का काम शुरू किया उन दिनों साहित्य-सेवा का कोई पुरस्कार नहीं था। जिन लोगों ने गंभीर विषयों पर पुस्तकें लिखकर हिन्दी को प्रभावशाली भाषा बनाया उनमें उनका महत्वपूर्ण स्थान है। उनकी निःस्पृह सेवावृत्ति का एक उदाहरण मुझे सन् १९४० में मिला। मैं उन दिनों अभिनव भारती ग्रंथमाला की योजना बना रहा था। अनेक नये-पुराने लेखकों से पत्राचार हुआ। बाबूजी को भी मैंने एक पुस्तक देने के लिये लिखा। उन्होंने तुरन्त ही बौद्ध धर्म पर अपनी लिखी पुस्तक भेज दी। कई लेखकों ने बहुत सी शर्त्तों की बात लिखी थी। इसलिये मैंने डरते-डरते उनकी शर्त्तों के बारे में पूछा। बाबूजी का उत्तर बहुत संक्षिप्त था। उन्होंने लिखा था कि 'गृहस्थ के घर में पैसे की जरूरत रहती ही है, इसलिये प्रकाशक से यदि कुछ दिलवाना संभव हो तो भिजवा दीजिएगा। पुस्तक तो मैंने इसलिये भेज दी कि आप की योजना से मैं उत्साहित हुआ हूँ और यथाशक्ति इसे सफल बनाना अपना कर्तव्य समझता हूँ!' केवल एक और लेखक से मुझे ऐसा उत्साह वर्धक पत्र मिला था परन्तु वे भारतीय नहीं थे। वे थे प्रसिद्ध चीनी विद्वान प्रो० तान-युन-शान, जिन्होंने भारतवर्ष को

अपनी द्वितीय मातृ भूमि बना ली है। उन्होंने भी अपनी पुस्तक के लिये सिर्फ इतना ही लिखा था कि यदि इससे कुछ लाभ हो तो वह पैसा शान्तिनिकेतन के हिंदी भवन को दे दें! बाबूजी के प्रति मेरे मन में बहुत आदर भाव था पर मैं समझता था कि इतने प्रसिद्ध लेखक की शर्त्तें कुछ ऐसी होंगी जिनका पूरा करना कठिन होगा। इस उत्तर ने मुझे आश्चर्य-चकित कर दिया और मैं धीरे धीरे उनके बहुत निकट आ गया। अपने से छोटों का सम्मान करना और अच्छी योजनाओं के लिये उत्साहित करना उनका स्वभाव था। उनके स्नेह और आदर में एक अद्भुत सहज भाव था। वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध होने पर उनमें अभिमान कहीं छू भी नहीं गया था। सहज स्नेही, सहज विद्यानुरागी, सहज मानदाता थ वे!

आगरे जाकर उनके दर्शन किए बिना लौटना कठिन था। भय रहता था कि उन्हें पता लगा तो वे स्वयं चले आएँगे। वृद्धावस्था उनके उत्साह को रंचमात्र भी क्षीण नहीं कर सकी थी। सच पूछा जाय तो अवकाश ग्रहण करने के बाद उन्होंने जितना कुछ लिखा वह बहुत अधिक धैर्य और उत्साह के बिना संभव ही नहीं था। केवल पुस्तक रूप में ही नहीं, विद्यार्थियों को निरन्तर विद्या-दान देते रहने में भी उन्होंने कभी आलस्य नहीं अनुभव किया। वस्तुतः उनका ग्रंथ लेखन भी विद्यार्थियों को विद्यादान करने का ही एक रूप था। वे सच्चे गुरू थे।

बाबूजी की लेखनी गंभीर विषयों पर चली है। दर्शन, तर्कशास्त्र, काव्य-शास्त्र आदि पर तो उनका अधिकार था ही परन्तु हल्के-फुल्के ढंग के हास्य-व्यंग्य पर भी उनका समान भाव से अधिकार था। उनके व्यंग्य बड़े मार्मिक होते थे। इस प्रकार दोनों प्रकार की शैलियों पर पूर्ण अधिकार उनके अत्यन्त सहृदय और सरस व्यक्तित्व के कारण ही संभव था। दूसरों को हीन बना कर व्यंग्य करना उन्हें पसंद नहीं था, अपने को ही इस प्रकार की परिस्थिति में डालकर मार्मिक रहस्योद्घाटन करना उनका विशिष्ट कौशल था। जिस व्यक्ति में पूर्ण आत्मविश्वास और स्वाभिमान होता है वही ऐसा कर सकता है।

बाबूजी 'अधीतमाध्यपितमर्जितं यशः' के मूर्तिमान् रूप थे। उनके स्नेह, वैदुष्य और सहृदयता ने अनेक कृती व्यक्तित्वों को गौरवशाली बनाया है। उनको गुरू और गुरूतुल्य मानने वालों की संख्या बहुत अधिक है। उन्होंने हिंदी संसार को बहुत दिया है। वे दोनों हाथ लुटाने वालों में थे। कभी उन्होंने प्रतिदान की आशा नहीं रखी। वे सब प्रकार से महान् थे।

उनके स्वर्गवास से हिंदी साहित्य का एक दृढ़स्तंभ टूट गया है। आगरा का साहित्यिक जगत सूना हो गया है, विद्यार्थियों का मार्गदर्शक उठ गया है। हिंदी के लिये यह एक अपूरणीय क्षति है।

इस अवसर पर मैं इस सहज मानव और महान् साहित्यिक के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पण करता हूँ।

•
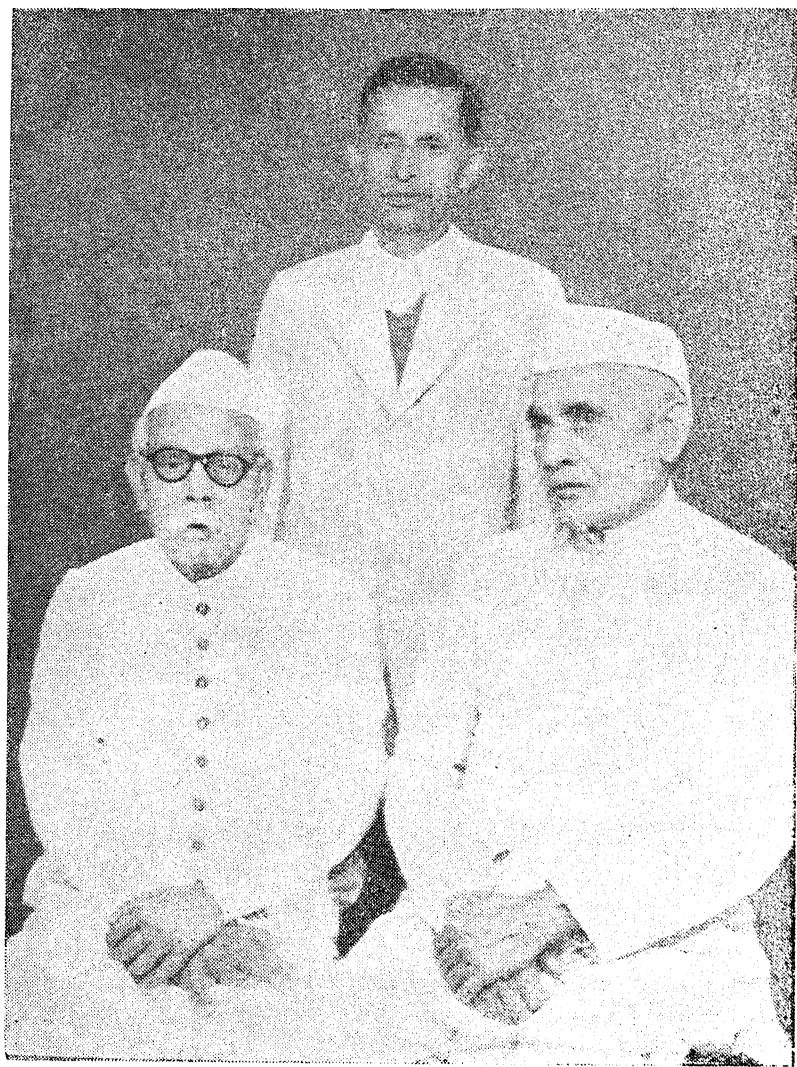
डा० सत्येन्द्र (खड़े हुए) एवम् पं० रामनरेश त्रिपाठी के साथ बाबूजी

पं० हरिशंकर शर्म्मा डी. लिट

उच्चकोटि के मानव

बाबू गुलाबरायजी एम. ए., डी. लिट् जहाँ सुप्रसिद्ध साहित्यकार और विद्वान थे, वहाँ वे उच्चकोटि के 'मानव' भी थे। 'मानवता' उनमें प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी। जिन लोगों का बाबूजी से व्यक्तिगत सम्बन्ध या सम्पर्क रहा वे उनके इस सद्‌गुण को भली भाँति जानते हैं। इन पंक्तियों के लेखक का सम्बन्ध बाबूजी से बहुत पुराना था। वह उनसे बड़ा प्रभावित रहा। मैंने बाबूजी को कभी क्रोध करते या किसी को बुरा कहते नहीं देखा। वे जो कुछ कहते सद्‌भावना एवम् स्नेह के साथ कहते थे। किसी के अनौचित्य की वाणी या लेखनी से आलोचना करते थे तो बड़ी शिष्टता से युक्त तर्कों के आधार पर करते थे। विनोदप्रियता एवम् स्नेहशीलता उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी। 'वसन्त पंचमी' से एक दिन पूर्व उनका जन्मोत्सव, उनके निवास-स्थान पर ही मनाया जाता था। आगरा नगर के प्रायः सभी हिन्दी-सेवी सज्जन उसमें सम्मिलित होते थे। बाबूजी वृद्ध थे, परन्तु उनके विचारों में सजीवता विद्यमान थी। मैं उन्हें महाकवि अकबर की एक शेर सुनाता और पूछता बाबूजी आप 'वृद्ध' तो नहीं हैं। बाबूजी मुस्कराकर बड़े गम्भीर भाव से कहते—नहीं, अभी मैं बूढ़ा नहीं हूँ—क्योंकि मुझमें 'जिन्दादिली'—'सजीवता' बराबर बनी हुई है।

महाकवि अकबर का वह शेर यह है—

जईफी जिन्दगी में वक्त की बेजा रवानी है,
अगर जिन्दादिली है तो बुढ़ापा भी जवानी है।

बाबूजी के साथ यात्रा करने में बड़ा आनन्द आता था, ऐसा सौभाग्य भी मुझे प्राप्त

हुआ, यानी मैं और बाबूजी कई बार साहित्यिक सम्मेलनों में दूर-दूर तक आमन्त्रित होकर गये और कई-कई दिनों तक रात-दिन साथ रहे। वे दिन याद आते हैं। बाबूजी ने आगरा नागरी प्रचारिणी सभा की भी अच्छी सेवा सहायता की थी। आपकी आगरा में भी खूब प्रतिष्ठा थी। सब वर्गों के लोग आपका मान आदर करते थे। श्री महेन्द्रजी के 'साहित्य-रत्न-भण्डार' से प्रकाशित मासिक-पत्र 'साहित्य-सन्देश' के आप वर्षों प्रधान सम्पादक रहे और सद्उद्योग द्वारा उसे बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त कराया। कितनी ही विद्वत्तापूर्ण पुस्तकें लिखीं। व्यंग्य-विनोद भी आप बहुत सुन्दर लिखते थे। आलोचना और गम्भीर विषयों पर विद्वत्तापूर्ण निबन्ध लिखने में तो आपने खूब प्रतिष्ठा प्राप्त की। भाषण भी आप के बड़े भावपूर्ण और प्रभावशाली होते थे। १९५८ ई० में आगरा विश्वविद्यालय ने आपको आपकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर, साहित्याचार्य (डी. लिट्.) की सम्मानित उपाधि प्रदान की थी। उस समय एक बड़ा आनन्दोत्सव मनाया गया, उसमें पद्मभूषण डाक्टर वृन्दावनलाल वर्मा भी पधारे थे। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखकर मेरे पास भेजी थीं और आदेश दिया था कि मैं महाकवि की ओर से उन्हें सभा में पढ़कर सुना दूँ। वे पंक्तियाँ ये थीं—

वय से गुलाबरायजी को क्यों न दूँ असीस
किन्तु झुकता है उन्हें श्रद्धा से स्वयं ही सीस।

बाबूजी कई महीने बीमार रहे। बीमारी में मैं तथा अन्य मित्र-मिलापी मिलने जाते तो बड़ी सजीवता से वार्त्तालाप करते और रोग की भयंकरता से घबराते न थे। यही कहते थे जो होना है सो होगा।

•
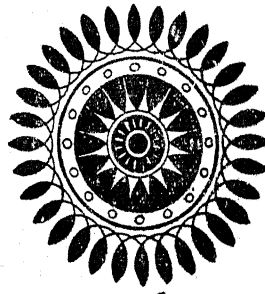
डा. नगेन्द्र

हमारे बाबूजी

बाबू गुलाबराय के शरीरपात के साथ हिन्दी का एक और गौरव-स्तम्भ ढह गया। उनके लौकिक जीवन की समाप्ति से हिन्दी साहित्य की द्विवेदी युगीन नैतिक सांस्कृतिक परम्परा का अंत हो गया। यों तो न जाने कितने व्यक्ति अपने पिता आदि गुरुजनों को बाबूजी कह कर सम्बोधन करते होंगे किन्तु कुछ स्वनामधन्य महापुरुष ऐसे हैं जो सार्वजनिक बाबूजी बन गये हैं, अथवा शास्त्रीय शब्दावली में जिनके लिये बाबूजी सम्बोधन का साधारणीकरण हो गया है:—काशी के साहित्यजनों के बाबूजी थे स्वर्गीय डा० श्यामसुन्दर दास, प्रयाग के बाबूजी थे राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन और इसी प्रकार आगरा के साहित्य-समाज में बाबूजी के नाम से स्वर्गीय गुलाबराय प्रसिद्ध थे।

बाबूजी के दर्शन मैंने पहली बार सन् १९३३ में सैंट जॉन्स कालेज के एक छात्रावास में आयोजित कृष्ण जन्माष्टमी उत्सव में किए थे। मैं उन दिनों बी० ए० का विद्यार्थी था। बाबूजी से मेरा परोक्ष साहित्यिक परिचय भी पुराना न था। उनके दर्शन से कोई एक वर्ष पहले ही अपनी एक पाठ्य पुस्तक में निबन्धकार के रूप में मैंने उन्हें पहली बार जाना था। उस समय साहित्यिक के विषय में मेरी जो रमणीय धारणा थी उसकी तुष्टि उनके लेख में मुझे नहीं मिली थी। इसलिए उनके प्रति मेरे मन में कोई विशेष आकर्षण उत्पन्न नहीं हुआ था। बाबूजी का साक्षात्कार करने पर भी मेरे आकर्षण में विशेष वृद्धि नहीं हुई। उन्होंने गीता पर अँग्रेजी में भाषण दिया था। वह भाषण, जहाँ तक मुझे स्मरण है, बुरा नहीं था। किन्तु मेरे किशोर मन में तो साहित्यकार का चित्र ही दूसरा था। फिर भी

मेरा विश्वास है कि उनके गम्भीर पाण्डित्य तथा सरल व्यक्तित्व से मेरे मन में निश्चय ही एक प्रकार का श्रद्धाभाव उत्पन्न हुए बिना नहीं रहा था।

बाबूजी उस समय कदाचित् छतरपुर से आये थे, उसके बाद वे आगरा में ही आकर बस गए थे। धीरे-धीरे आगरा के साहित्यिक जीवन में उनका प्रभाव बढ़ने लगा। साहित्य-यश का प्रार्थी मैं भी उनके सम्पर्क में आने लगा और मैंने शीघ्र ही बाबूजी का नैकट्य प्राप्त कर लिया। इसके साहित्यिक तथा वैयक्तिक दोनों ही कारण थे। साहित्यिक कारण एक तो यह था कि वे ललित साहित्य से वास्तव में इतने दूर नहीं थे जितना मैं समझता था। दूसरा, यह कि आगरा में उस समय वे ही एक ऐसे परम्परानिष्ठ विद्वान थे जिनके मन में छायावाद के प्रति सहानुभूति थी। तीस वर्ष पूर्व की वह बात मुझे आज भी स्मरण है, जब महादेवी वर्मा पर उनका पहला लेख प्रकाशित हुआ था और महादेवी ने कवि के स्वाभिमान की रक्षा करते हुए नवप्रकाशित 'नीरजा' की प्रति तुरंत ही उनके पास भेजकर अपनी मौन कृतज्ञता व्यक्त की थी। छायावाद के बाद प्रगतिवाद आया और उसके बाद नटी साहित्य का सृजन और प्रचार हुआ। आयु-क्रम के अनुसार मुझे अधिक गतिशील होना चाहिये था किन्तु मैं दोनों में से किसी के साथ समझौता न कर पाया और बाबूजी की उदारता दोनों को निरंतर मान देती रही। वैयक्तिक कारणों में सबसे प्रमुख था उनका अत्यन्त निश्छल एवं सरल स्वभाव। बाबूजी के व्यक्तित्व में मैंने विद्या और विनय का अद्भुत समन्वय देखा। वे अपने निर्दम्भ स्वभाव के कारण साहित्यिक परिसंवाद आदि में प्रायः अपने को छोटा बनाकर दूसरे को गौरव दे देते थे। इसका मेरे मन पर बड़ा प्रभाव पड़ता था—प्रत्यक्ष रूप से उनकी महत्ता की स्वीकृति के कारण और अप्रत्यक्ष रूप से अपने अहंकार की सृष्टि के कारण।

बाबूजी के चरित्र का आधार तत्व था समन्वय प्राचीन और नवीन का समन्वय, पौरस्त्य और पाश्चात्य का समन्वय, बौद्धिक और रागात्मक का समन्वय। अपने जीवन और साहित्य दोनों में बाबूजी के लिए समन्वय सहजसिद्ध रहे। गृहस्थ बाबूजी में गुरुता और ममता का सहज समन्वय था, सामाजिक बाबूजी में नीतिवाद और मानवता का, साहित्यकार बाबूजी में भावना और बौद्धिकता का सहज समन्वय था, दार्शनिक बाबूजी में प्रवृत्ति और निवृत्ति का, और धार्मिक बाबूजी में सर्वधर्ममय ज्ञान और भक्ति का सहज समन्वय था। इसके लिए उन्हें प्रायः साधना नहीं करनी पड़ी। कदाचित बाबूजी के संस्कार और उनकी व्युत्पत्ति दोनों ही इसके लिए उत्तरदायी थे। अपने पिता से उन्हें आस्तिक वैष्णव संस्कार और दर्शन के अध्ययन से समरस जीवन-दृष्टि प्राप्त हुई थी।

समन्वय के इस मौलिक गुण के कारण बाबूजी की अन्तश्चेतना मनोग्रन्थियों से प्रायः मुक्त थी। यों उनके जीवन में का काफी संघर्ष रहा था और उन्होंने उतार-चढ़ाव भी कम नहीं देखे। ऐसी परिस्थित में किसी के मन में भी गाँठ पड़ जाना अस्वाभाविक नहीं था किन्तु बाबूजी का मन कदाचित् उससे पहले ही इतना संस्कृत और स्निग्ध हो चुका था कि कठोर जीवन की रगड़ से वह मसृण ही होता गया। बाबूजी ने साधना से अपनी आत्मा में इतने सौमनस्य का संचय कर लिया था कि द्वेष और प्रवंचना की कटुता उसमें सर्वथा विलीन हो जाती थी। उनका अहं इतना लचीला बन गया था कि दम्भ के घात उन

पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते थे। विनयपत्रिका का यह पद उनके जीवन का आदर्श रहा है :—

कबहुँक हौ यह रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ–कृपालु–कृपा तें संत-सुभाव गहौंगो।।
जथा लाभ संतोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो।
परिहित-निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबाहौंगो।।
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
विगत मान सम सीतल मन, पर गुन, नहीं दोष कहौंगो।।
परिहरि देह जनित चिन्ता, दुख सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि, अविचल हरिभगति लहौंगो।।

बाबूजी ने वस्तुतः इस मंत्र को फलीभूत करने के लिए मौन तपस्या की और इसका प्रमाण यह है कि आज उनका कोई शत्रु नहीं था। आगरा का साहित्यिक जीव राग-द्वेष और वर्गभेद से मुक्त नहीं रहा। बाबूजी को भी कीचड़ में खींचने के बार-बार प्रयत्न हुए। उनके ऊपर भी पंक-मार्गियों ने कीचड़ उछाली किन्तु वे कमल के समान उससे सदा ऊपर रहे। इस सफलता का रहस्य वास्तव में उनके इस वाक्य में निहित है, जो एक बार उन्होंने किसी ऐसे ही प्रसंग में मुझ से कहा था "मेरे मित्रों के मित्र मेरे मित्र हैं किन्तु मित्रों के शत्रु मेरे शत्रु नहीं हो सकते।" यह कोई नैतिक सूक्ति नहीं थी, बाबूजी के जीवन का अनुभूत सत्य था।

बाबूजी का साहित्यिक जीवन तीन युगों में होकर गुजरा था। और उसकी सफलता का प्रमाण यह है कि परम्परा-भिन्न, प्रायः विपरीत, प्रवृत्तियों से युक्त इन तीनों में से प्रत्येक युग उनको अपना विशिष्ट साहित्यकार मानता रहा। द्विवेदी युग के गद्यमय साहित्य के उन्होंने विवेकपुष्ट गद्य दिया, छायावाद के भावना कल्पना-प्रधान युग को उन्होंने वैयक्तिक निबन्ध तथा प्रत्ययवादी दर्शन से पुष्ट आलोचना दी और प्रगति के युग में भी वे अपने स्वस्थ मानववादी जीवन-आदर्शों के कारण अत्यंत लोकप्रिय साहित्यकार बने रहे।

आज जब मैं अपने विगत पच्चीस वर्षों के साहित्यिक जीवन पर दृष्टि डालता हूँ तो जो स्निग्ध-सरल मूर्ति सबसे ऊपर उभर कर आती है वह कदाचित् उन्हीं की है, और मेरा मन शत–शत अभिवादनों में प्रणत होकर श्रद्धा–गद्गद उनके चरणों में झुक जाता है।

●

बाबू वृन्दावनलाल वर्मा डी. लिट्

चिरस्मरणीय व्यक्तित्व !

मैं एक मुकद्दमे की पैरवी करके वकील-भवन में आया था कि तार मिला—'महाराज आप से मिलना चाहते हैं। कल सबेरे की गाड़ी से हरपालपुर स्टेशन पर आ जाइये, मोटर तैयार मिलेगी—गुलाब राय'। तार छत्रपुर से आया था। सन् १९२९—३० की बात है। निकट ही एक वकील मित्र खड़े थे। कहने लगे,—'महाराज तुम्हें अपना दीवान बनाना चाहते हैं, पहुँचो।'

'अजी दीवान तो क्या, मैं राजा का चपरासी भी बनने लायक नहीं हूँ'—मैंने उत्तर दिया। हँसी में बात डूबने उतराने लगी।

उस समय छत्रपुर के महाराज विश्वनाथसिंह थे। हिन्दी साहित्य के बड़े प्रेमी। मैं सोचने लगा कि बुलाये जाने का कारण संभव है कानूनी सलाह हो क्योंकि वकालत ख़ासी चल रही थी। मेरे कुछ उपन्यास 'गढ़ कुंडार', 'प्रेम की भेंट' इत्यादि प्रकाशित हो चुके थे। परन्तु साहित्यिक कारण की ओर मेरा ध्यान नहीं गया।

चल सका दूसरे दिन संध्या की गाड़ी से। हरपालपुर स्टेशन पर गाड़ी मिल गई। दिन भर वहीं बनी रही थी। मैं सबेरे की गाड़ी से नहीं जा सका था, क्योंकि झाँसी में काम था। रात के समय छत्रपुर पहुँचा। विश्राम-गृह पर एक सज्जन मिले। ठिगना सा कद, गम्भीर आकृति, चश्मे के भीतर बारीक दृष्टि। 'तार मैंने भेजा था, दिन में आपकी प्रतीक्षा होती रही', —यह बाबू गुलाबराय थे। नाम सुन रक्खा था, पहली भेंट उसी क्षण हुई थी।

मैंने क्षमायाचना की। कारण बतला कर उनसे निवेदन किया,—'मैं इसी समय

महाराज साहब से भेंट करने के लिये तैयार हूँ, भोजन लौट कर लूँगा।'

वह मुस्कराये। बोले,—'महाराजा साहब के मिलने का समय चार बजे प्रातःकाल का होगा।'

'चार बजे प्रातःकाल !'

'जी हाँ, उन्हें यही समय पसन्द है।' फिर वही मुस्कान। मैंने बुलाये जाने का कारण पूछा।

'मुझे नहीं मालूम। वही बतलायेंगे।'

'सबेरे की गाड़ी से आ जाता तो दिन में मिल लेता।'

'जी नहीं, वह दिन में शायद ही किसी से मिलते हों।'

'पोलीटिकल एजेण्ट से भी नहीं ?'

'वह और बात है जिस पर मैं कुछ नहीं कह सकता,'—वह फिर मुस्कराये। मैं सोच रहा था कि क्या बाबू गुलाबराय कभी खिलखिलाकर भी हँसते होंगे ?

उन्होंने भोजन का प्रबन्ध किया और यह कह कर चले गये—'ठीक साढ़े तीन बजे मोटर आ जायगी, महल आप चार बजे पहुँच जायेंगे।'

मुझे लगा कि रात भर जागते रहना पड़ेगा। ऐसा कौन सा काम है जिसके लिये बुलाया गया हूँ ? रात भर के जागरण की दलेल की शङ्का कचोटने लगी। चाहे जिस समय सो जाना और किसी निश्चित घड़ी पर जाग पड़ना बस की बात नहीं थी। एक पुस्तक और समाचार-पत्र साथ ले गया था। कभी इसे और कभी उसे पढ़ते लौटते पलटते रात बीती। मोटर ठीक साढ़े तीन बजे आ गई। रात का सन्नाटा था। मैं तैयार होकर ठीक समय पर महल में पहुँच गया। महाराज जाग रहे थे। शिष्टाचार के साथ बिठलाया और पहली ही बात जो उन्होंने की, वह यह प्रश्न था,—

'आपका उपन्यास 'प्रेम की भेंट' मुझे बहुत पसन्द आया। उसकी पात्रा उजियारी का अन्त में क्या हुआ ?'

तो क्या इसी के लिये इन्होंने मुझे झाँसी से बुलाया है ? तुरन्त मन में कौंधा, हँसी उमड़ी और जहाँ की तहाँ दबा दी गई। सूर्योदय के पहले तक उसी पुस्तक के कई प्रसंगों पर चर्चा होती रही। अन्त में महाराज बोले,—'खजुराहो गये कभी आप ?'

'नहीं महाराज, कभी नहीं गया।'

'तो आज अवश्य देख लीजिये। निकट ही मनियागढ़ है, उसे भी देख लेना। चंदेले वहीं से चले थे।'

मैं सोचता विचारता चला आया—क़ानूनी सलाह के लिये नहीं बुलाया गया तो कोई बात नहीं, प्रसिद्ध ऐतिहासिक सुन्दर कलाकेन्द्र खजुराहो तो देखने को मिल जायगा, सारा परिश्रम वसूल हो जायगा।

यात्रा करने के पहले मैं बाबू गुलाबराय से मिला और उन्हें सारी कहानी सुना डाली। मुझे हँसी आ जाती थी और वह केवल मुस्कराते रहे, गम्भीरता में घुली मुस्कान और आँखों में सूक्ष्म व्यङ्ग।

मैंने कहा,—'मैंने समझा था कि शायद किसी क़ानूनी मामले की सलाह के लिए बुलाया हो।'

'असफलता में सफलता मिल जाती है',—उसी मुस्कान के साथ यह व्यङ्ग। और भी, —'लिख डालिये कभी खजुराहो, मनियागढ़ इत्यादि पर। उजियारी तो उसमें आयेगी नहीं।'

'अंधियारी को ले आऊँ ?'

'तार भी संभवतः पहुँचेगा, परन्तु दिन की गाड़ी से नहीं, रात की गाड़ी से बुलाये जायेंगे।'

बाबू गुलाबराय तब छत्रपुर महाराज के निजी सचिव थे। गम्भीर विचारक, सूक्ष्म-दर्शी और बारीक व्यङ्गकार। मेरे ध्यान में यही आया।

इसके उपरान्त छत्रपुर में एक बार और थोड़े से क्षणों के लिये भेंट हुई। फिर आगरा में अनेक बार।

उनकी विख्यात रचना 'मेरी असफलतायें', प्रकाशित होते ही मुझे भेंट स्वरूप मिल गई थी। अपने ढंग की अद्वितीय रचना। उनकी साहित्यिक गहराई और सूक्ष्म व्यञ्जना सब उसमें।

जब सन् १९५७ में उन्हें डी. लिट. की उपाधि आगरा विश्वविद्यालय ने दी, मुझे बहुत हर्ष हुआ था। समारोह में मैं भी गया। तब वह कुछ अस्वस्थ थे, परन्तु उस गंभीर मुस्कान में कमी नहीं आई थी।

उसके बाद भी भेंट होती रही। मैं जब कभी आगरा जाता उनके निवास स्थान पर अवश्य पहुँचता।

रहन सहन उनका सीधा सादा, बातचीत गंभीर और कभी कभी किसी न किसी सूक्ष्म दूरदर्शी व्यङ्ग की पुट।

बाबू गुलाबराय की देन हिन्दी साहित्य के लिये अमर है। उनका व्यक्तित्व मिलने वालों को कभी नहीं भूलेगा।

●

डा. बलदेवप्रसाद मिश्र

प्रेरक व्यक्तित्व

श्री बाबू गुलाबराय जी से मेरी प्रत्यक्ष भेंट प्रौढ़ावस्था में हुई। इसके पूर्व एक बार मेरे ग्रंथ 'साकेत-संत' पर आकाशवाणी से वार्ता प्रसारित करने का उन्हें अवसर आया था। उस समय उन्होंने मुझ सरीखे अपरिचित व्यक्ति को जो प्रेमपूर्ण पत्र भेजा था उससे उनकी महानता टपकी पड़ती थी। तभी से मैं उनकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। फिर सन् १६५६ में डाक्टर सत्येन्द्र महोदय ने 'मानस में उक्ति-सौष्ठव' पर भाषण देने के लिये आगरा विश्वविद्यालय के हिन्दी विद्यापीठ की ओर से मेरे पास निमन्त्रण भेजा। उस समय बाबू साहब कुछ अस्वस्थ थे। परन्तु उन्होंने आग्रहपूर्वक भोजन के लिये मुझे अपने यहाँ आमंत्रित किया और उस प्रथम प्रत्यक्ष साक्षात्कार ही में मुझे इस प्रकार घुला मिला लिया मानों हम दोनों बरसों से मिलते जुलते रहे हों।

श्री बाबू गुलाबराय जी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने अनेक विषयों पर कलम चलाई है और अनेक प्रकार से हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि की है। वे जितने ही गम्भीर चिंतक और विवेचक थे उतने ही सरल सरस विनोदी भी थे। 'मेरी असफलताएँ' अपने ढंग की उनकी अद्वितीय कृति है। सामान्य विद्यार्थियों की पाठ्य पुस्तकों से लेकर एम. ए. तक की कक्षाओं के अध्ययन योग्य सामग्री उन्होंने दी है। जिनमें 'सिद्धान्त और अध्ययन' सदृश ग्रंथ भी हैं। जीवन के अंतिम क्षणों तक उनकी लेखनी ने विश्राम नहीं लिया।

यों तो इस संसार में कोई अमर होकर नहीं आया है और बाबू साहब ने तो आजकल का युग देखते हुए पूरी आयु पाई थी किन्तु जिस व्यक्ति से समाज का किसी न किसी क्षेत्र में कल्याण

हो रहा हो उसका उठ जाना एकदम खल जाता है। बाबू साहब का दिवंगत होना हिन्दी के लिये एक कठोर आघात ही था। उनका प्रेरक और प्रतिभाशील व्यक्तित्व जीवित जाग्रत रूप में हम लोगों के बीच अजर अमर होकर विद्यमान रहे यह किस हिन्दी प्रेमी की आकांक्षा न रही होगी। परन्तु मर्त्य समाज की ऐसी अमर्त्य आकांक्षाएँ कहाँ पूरी हो सकती हैं ? हम भले ही दैव को दोष देते रहें परन्तु पूरी निष्ठुरता के साथ वह तो अपना काम कर ही गुज़रता है।

साहित्य-स्रष्टा ही नहीं किन्तु साहित्य निर्मिति के बड़े प्रेरक के रूप में भी बाबू गुलाबराय जी का सादर स्मरण किया जाता है। वस्तुतः वह ऊँचा-पन किस काम का जो स्वतः में सीमित रहे; जिसमें "पथिकन छाया न मिलै" और जिसके "फल लागैं अति दूर"। सच्चा साहित्यकार वह है जो सहज सहृदय भी हो। "निज कवित्त केहि लाग न नीका, सरस होउ अथवा अति फीका, जे पर-भणिति सुनत हरषाहीं ते नरवर थोरे जग माहीं"—गोस्वामी तुलसीदास जी की इस कसौटी के अनुसार उसे 'नर वर' कहना चाहिये। सुवर्ण के साथ ही साथ वह पारस भी बन जाय, इसी में उसकी महत्ता है। पर भणिति को परखने के लिये दोष-दृष्टि से अधिक तोष-दृष्टि की आवश्यकता रहती है। ऐसे ही पारखी की प्रेरणाओं से आगामी साहित्य स्रष्टाओं का निर्माण होता है। बाबू गुलाबराय ऐसे ही मनीषी पारखी थे।

आगरा विश्वविद्यालय ने डी. लिट्. की अपनी सर्वोच्च उपाधि उन्हें अर्पित कर अपने कर्तव्य का ही निर्वाह किया किन्तु बाबू गुलाबराय जी की मानवता उनके आचार्यत्व से भी ऊँची रही। इसीलिये डाक्टर होकर भी श्री गुलाबरायजी 'बाबू साहब' ही कहाते रहे। साहित्यकारों का एक ही गोत्र होता है और वह है सरस्वती गोत्र। उनका एक ही परिवार होता है और वह है भारती परिवार। उस परिवार में 'बाबू साहब' का जो महत्त्व है वह 'आचार्य महोदय' का नहीं। 'बाबू साहब' में आत्मीयता है, 'आचार्य महोदय' में कुछ विलगाव। हमने श्री गुलाबरायजी को खोकर निश्चय ही एक कुशल आचार्य खो दिया है परन्तु उससे कहीं अधिक खो दिया है हमने अपने 'बाबू साहब' को, जिनकी स्थान-पूर्ति के लिये मस्तिष्क के साथ ही साथ हृदय के भी धनी सुकृती ही सामने आ सकते हैं।

•
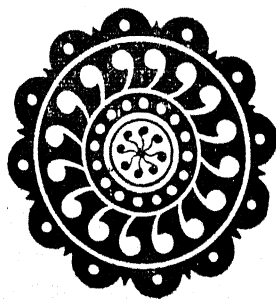
पं. सूर्य्यनरायण व्यास

विनोद मूर्ति

राष्ट्र भाषा हिन्दी को शासकीय प्रतिष्ठा देने की बात स्वीकार करके भी उसे सिंहासन पर प्रतिष्ठित न होने देना यह हिन्दी का—जो इस देश की सर्वाधिक अधिकारिणी है—अपमान ही है, इस अपमान को जैसे न सहकर सहसा हिन्दी के जो मूर्धन्य-मनीषी एक-एक कर उठते गए, उन में बाबू गुलाबराय जी भी अन्यतम थे। छतरपुर में वे शासकीय सेवा में थे, तभी से मैं उनका नाम जानता था और यश से भी परिचित था, काव्य-मर्मज्ञता को जानकर ही मैं उनकी ओर आर्कषित हुआ था। परंतु प्रत्यक्ष परिचय, या पत्र-व्यवहार का प्रसंग प्रस्तुत नहीं हुआ, उनकी साहित्य-सेवा से बराबर मेरा सम्पर्क बना रहा। उनकी कई रचनाएँ बराबर मंगवाता रहा, और पढ़ता रहा, उनके चित्र से प्रौढ़ता और गंभीरता झलकती थी, किंतु जब उनके व्यंग्य-विनोद से भरे हुए लेख, और संस्मरण पढ़ता तो सहसा यह विश्वास नहीं कर पाता था कि यह वयोवृद्ध-गंभीर पुरुष अपने अंतर में 'नवरत्न' की ओजस्विनी प्रवाहित कर सकता है। दार्शनिक और विनोदी एक साथ कैसे हो सकता है। चेहरा अवश्य दार्शनिक का था, परंतु उनकी आँखों में विनोद-व्यंग्य की चुहल चमकती दिखलाई देती थी। वर्षों तक उनकी कृतियों की रहस्यमयी-ग्रंथी में उलझता रहा। आरंभ में उनके गंभीर अध्ययन से मैं उन्हें ब्राह्मण ही समझता रहा,एकाध-बार उन्होंने अपनी किसी (निबन्ध की) संग्रह-पुस्तक के लिए मेरा लेख भी चाहा था, उसी प्रसंग में पत्र-व्यवहार भी हुआ, किंतु अप्रत्यक्ष परिचय तक ही सीमित रहा।

१९४२ ई. में हरिद्वार में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन श्री पं. माखनलाल चतुर्वेदी जी की अध्यक्षता में हो रहा था। श्रद्धेय टंडन जी, और पं. जगन्नाथप्रसादजी शुक्ल वैद्यराज

के अत्यंत आग्रह पर मुझे विज्ञान-परिषद् की अध्यक्षता के लिए हरिद्वार जाना पड़ा। उस समय साहित्य परिषद् के अध्यक्ष डा. रामकुमार वर्मा थे और दर्शन परिषद् के बाबू गुलाबराय जी। भाई रामकुमार जी तो मेरे पड़ौस ही के कमरे में गंगा तट पर ठहरे थे, और बाबूजी एक मंजिल नीचे ठहरे हुए थे, वहाँ हाथियों पर सभी अध्यक्षों की शोभा यात्रा निकलने वाली थी। भाई वर्मा जी कभी हाथी पर नहीं बैठे थे। उन्होंने मेरे साथ बैठना चाहा ताकि सुरक्षित रह सकें, परंतु बाबूजी पहिले तो हाथी पर बैठना ही नहीं चाहते थे, जब मैंने आग्रह किया कि आप तो छतरपुर राज में रहे हैं, हाथियों से और कई दिग्गजों से आपका पाला पड़ा है, इसी तरह दर्शन में भी हाथी का दर्शन किया है आपको तो हाथी ठीक पहचान लेंगे, चिंता का कोई कारण नहीं। सुनकर बाबूजी बहुत हँस पड़े, फिर भी मुझे जानने की उत्सुकता कायम रही। तब बन्धुवर कन्हैयालाल जी मिश्र प्रभाकर ने उन्हें जब बतलाया तो मेरा हाथ पकड़ कर बड़े प्रेम से मिले, तथा बहुत प्रसन्न हुए, कहने लगे अब ज्योतिर्विद् ने आदेश दिया है तो हाथी पर बैठना निरापद हो गया। हरिद्वार के सारे राजमार्ग पर जुलूस घूमा, और जब श्रवणनाथ ज्ञान मंदिर के पास पहुँचा तो बाबूजी ने हाथी से उतर कर समाधान व्यक्त करते हुए कहा 'महाराज ! आज बुढ़ापे की लाज आपके आदेश और आशीर्वाद से रह गई !'

बाबूजी दीखने में अवश्य गंभीर थे, किंतु हृदय से बड़े ही सरल और विनोदी थे। स्व० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी की तरह मिलती-जुलती आकृति थी, गंभीर रहकर भी वे ऐसी मीठी चुटकी लेते थे, और सूझकारी सुंदर-व्यंगोक्ति करते थे कि वाह ! रोजाना प्रातः-सायं चाय, दूध, फल-नाश्ते के लिए हम लोग साथ ही बाबूजी के कमरे से लगे एक टेबल पर मिल जाते थे, वहाँ विनोदी वातावरण बन जाता था। एक रोज सायंकाल टेबल पर बैठे चाय पान चल रहा था, बाबूजी अपने परिवार सहित निजी कमरे में थे, कुछ लिख रहे थे, चाय की व्यवस्था करने वाले सज्जन को भी यह खटका कि आज बाबूजी टेबल पर नहीं आए हैं। सीधा तो नहीं जरा टेढ़ा प्रश्न करते हुए उन सज्जन ने मुझसे पूछा—'चाय ले आऊँ ? या बाबूजी की प्रतीक्षा की जाएगी ?' मैं इन सज्जन का आशय ताड़ गया, यों व्यंग-विनोद में वह भी रस लेते थे, मैंने कहा "भई, कौन कोस-दो कोस की बात है ? पड़ौस के कमरे में जाकर कह दो कि सभी लोग आपकी प्रतीक्षा में उपवास कर रहे हैं !" वे सज्जन पहुँचे और ठीक यही बात बाबूजी से कह सुनाई, बाबूजी कलम छोड़ तुरंत बाहर आ गए, और हँसते हुए टेबल पर जम गए। मेरी ओर देखते हुए कहा—"तो अब 'पारणा' (व्रतान्त-भोजन) हो जाए, मैं तो लिखने में भूल ही गया था।"

मैंने कहा "बाबूजी, आप वास्तविक दार्शनिक हैं, मैंने कुछ देशी-विदेशी दार्शनिकों की कथा पढ़ी थी, कल्पित समझ रहा था, पर आज मैंने सार्थकता समझी।"

"नहीं महाराज, उतना ऊँचा दार्शनिक न बना दीजिए। बीबी-बच्चे साथ हैं, और फिर यह हरिद्वार भी ! मेरी मुश्किल ही हो जायगी।"—बाबूजी बोले।

हम सभी लोग मुक्त हँसी में खो गए, चाय-नाश्ता आदि सामने आ गया था, फिर मैंने कहा —'आप तो व्यावहारिक-दर्शन के पंडित हैं, नीरस-वेदान्त के नहीं, इसलिए हमारा अनुरोध है कि 'चाय दर्शन' पर एक ग्रंथ लिखा जाए और वह आप जैसे विनोद-मूर्ति अधिक सफलता से लिख सकेंगे।'

"पर चाय पर वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत में मिले तो उसका दार्शनिक-रूप उत्तम हो सकेगा, अन्यथा 'दिग्दर्शन'-मात्र होगा।'—बाबूजी ने कहा।

मैंने मजाक में बतलाया कि—'बाबूजी, इस दर्शन का हम लोगों ने बड़े जोर शोर से अध्ययन किया है। यदि आप आगरा में सहायता कर दें तो हम पूरा थीसिस प्रस्तुत कर देंगे, शर्त यह है कि डी० लिट्० प्राप्त हो जाए।"

बाबूजी खूब हँसे, कहने लगे कि "अभी तो इतना लिख-पढ़ लेने पर भी हमको आगरा वालों ने नहीं पूछा है। आपका मार्गदर्शन हमें मिल जाए तो हम ही डॉक्टर बन जाएँगे।"

बहुत देर तक वेद-पुराण-गीता, उपनिषद् आदि से हमने 'चाय' शास्त्र लेकर कई उद्धरण प्रस्तुत किए, बाबूजी बेहद प्रसन्न हो गए। उन उद्धरणों को यहाँ लिखा जाए तो एक स्वतंत्र लेख ही बन जाएगा।

हरिद्वार के बाद फिर वर्षों तक बाबूजी से भेंट नहीं हो सकी। एक दो बार सकारण पत्राचार जरूर हुआ। कुछ वर्ष हुए बाबूजी संभवतः माधव कॉलेज उज्जैन के किसी कार्यक्रम में निमंत्रित होकर आए थे। प्रो. बद्रीनारायण जी के साथ मेरे यहाँ भी समय निकाल कर आए। हरिद्वार के बाद यह दूसरी प्रत्यक्ष भेंट थी। संभवतः एक घण्टा बैठे। बहुत-सी बातें होती रहीं। दर्शन, आलोचना, कविता,साहित्य, विनोद सभी पर बारी बारी से चर्चा चलती रही। इस बार बाबूजी का शरीर जरा जीर्ण अधिक लगा। परंतु उनकी बलवती आत्मा में ओज वही था, विनोद का भी पुट बराबर जग रहा था। हरिद्वार का हाथी, और 'चाय दर्शन' भी चर्चा का विषय था, कौन जानता था कि साहित्य के साधक की यह अंतिम तीर्थ-यात्रा होगी। बाबूजी से केवल दो बार ही प्रत्यक्ष मिलने का अवसर आया। किंतु उनकी विद्वत्ता, सहृदयता, सरलता ने मुझे बहुत प्रभावित किया। हिन्दी को बाबूजी ने निबन्ध और आलोचना-साहित्य की जो देन दी है, वह मानदण्ड बन गई है। दर्शन के तो वे अधिकारी विद्वान थे ही, किंतु विनोद में भी उनकी अपनी शैली रही है। जीवन भर साहित्य-साधना में ही उन्होंने लगा रखा, 'काव्य-शास्त्र-विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' के वे जीवित उदाहरण थे। हिन्दी को उनके अभाव से बहुत क्षति हो गई है। राष्ट्रभाषा के राज-प्रासाद के जो आधार-स्तम्भ रहे हैं, एक साथ भूकम्प की तरह धरा-शायी हो गए हैं। उनके उठ जाने से पुरानी पीढ़ी का और अभिनवता को आदर देने वाला प्रौढ़ विद्वान् नहीं रहा। उन्होंने आजन्म राष्ट्र भाषा को माध्यम बनाने में सर्वोत्तम योग दिया है। इतिहास में वे सदैव स्मरणीय बने रहेंगे।

●

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

एक स्मृति-चित्र

मँझला कद, दोहरा शरीर, गोल चेहरा, बड़ी-बड़ी मूँछें, जिनमें बायीं ओर किसी घाव के कारण ज़रा-सी संध, खलवाट सिर और आँखों पर सीधा-सादा चश्मा, कुर्ते के ऊपर बन्द गले का कोट और चेहरे पर अपूर्व भोलापन—२०-२२ वर्ष पहले की स्मृतियों में स्वर्गीय बाबू गुलाबराय का यही चित्र मेरे मन के पर्दे पर अंकित है।

मुझे बिलकुल याद नहीं, कि मैं बाबूजी से पहले दिल्ली में मिला अथवा आगरे में। मेरी फ़ाइल में उनका कोई पत्र भी नहीं, लेकिन मुझे याद है कि भाई सत्येन्द्र (डा० सत्येन्द्र) ही के कारण मैं उनके निकट आया। बाबूजी 'साहित्य सन्देश' का सम्पादन करते थे। उसमें कभी-कभी मेरा कोई लेख अथवा मेरी किसी पुस्तक का रिव्यू छपता था। १६४० में मेरा प्रथम उपन्यास 'सितारों के खेल' छपा था। उस पर बाबूजी ने ऑल इण्डिया रेडियो से समालोचना की थी, जो बाद में 'सारंग' में छपी। बाबूजी ने मेरे उस प्रथम उपन्यास की भरपूर प्रशंसा की थी। उपन्यास तो मेरा वह पहला ही था और पहली रचना के दोष भी उसमें थे, लेकिन बाबू जी ने उसमें गुण ही गिनाये। उन्होंने लिखा—

"कला की दृष्टि से यह उपन्यास बहुत उत्कृष्ट है। इसमें कल्पना का अच्छा चमत्कार है। जहाँ उपन्यास का अंत दिखायी देता है, वहीं उसमें एक नया मार्ग खुल जाता है, कौतूहल बना रहता है। इसका चरित्र-चित्रण भी सुन्दर है। बंसी की मृत्यु-जीवन के बीच की अवस्था एक सुन्दर कल्पना है। उस अवस्था में लता का उसकी सेवा करना भारतीय रमणियों का गौरव बढ़ाता है, परन्तु उसके (बंसी लाल को) जहर देने में विदेशी मनोवृत्ति आ जाती है। अश्क

जी के शब्द-चित्र बड़े सुन्दर हैं। भाषा भी बड़ी सजीव है, यद्यपि उसमें कहीं-कहीं अंग्रेज़ी मुहावरा और पंजाबीपन आ गया है। कुल मिलाकर उपन्यास बहुत सफल है।"

प्रकट ही यह सब उन्होंने नये उपन्यासकार को प्रोत्साहन देने के लिए ही लिखा था। आज यदि वे जीवित होते और उन्हें इसी उपन्यास पर लिखना होता तो निश्चय ही वे उसकी आलोचना भी करते।

दो-तीन बार उनसे भेंट की भी याद मुझे है। मैं १९४१ में ऑल इण्डिया रेडियो, दिल्ली में आ गया था और वहाँ नाटक लिखने के साथ-साथ हिन्दी सलाहकार भी था और मैंने पहली बार ऑल इण्डिया रेडियो से उस वक्त के चोटी के हिन्दी लेखकों को दिल्ली बुलाया था। आगरा में रहने के कारण बाबूजी दिल्ली जोन में आते थे, इसीलिए प्रायः रेडियो स्टेशन पर वार्त्ता प्रसारित करने आते थे।

मैं बाबूजी को एक हमदर्द आलोचक और हमदर्द व्यक्ति के रूप में जानता था। क्रोध से आँखें तरेर कर बात करते अथवा गुस्से से होंठ फड़फड़ाते मैंने उन्हें कभी नहीं देखा। लेकिन उनके मन में कहीं सामाजिक कुरीतियों के प्रति घोर वितृष्णा भी थी और उनके चेहरे पर चाहे क्रोध के लक्षण न दिखायी दें, लेकिन उनके मन में उनके प्रति क्रोध ज़रूर होगा। क्योंकि वे अध्यापक तथा आलोचक ही नहीं थे, सुधारक भी थे।

उनके सुधारक-रूप का परिचय भी मुझे उन्हीं दिनों मिला।

उन दिनों आगरा के एक युवक कवि श्री चिरंजीलाल 'एकाकी' दिल्ली आ गये थे। बाबू-जी ने ही उनका परिचय मुझे दिया था। वे गोरे रंग के लम्बे, पतले, छरहरे, सुन्दर युवक थे। अच्छे गीत लिखते थे और उन्हें अच्छे ढंग से गाकर सुनाते थे। जहाँ तक मुझे याद है, मैंने उनको रेडियो में दो-एक प्रोग्राम भी दिये थे।

एक दिन 'एकाकी' जी मुझको अपने घर ले गये। वहाँ बाबूजी भी आये हुए थे। तब एकाकी जी ने बताया कि उनकी शादी हो गयी है और चूंकि उनके माता-पिता उनसे नाराज़ हैं, इसलिए पिता तुल्य बाबूजी ही उनके साथ जाकर शादी करा लाये हैं।

पूछने पर एकाकी जी ने सारा किस्सा सुनाया। बात यह हुई कि एकाकी जी के पिता ने कहीं उनकी सगाई कर रखी थी। बाद में लेन-देन के मामले में कुछ झगड़ा हो गया और उनके पिता ने सगाई छोड़ दी। श्री एकाकी बाबूजी के छात्र थे और उनके सुधारवादी विचारों से प्रभावित थे। उन्होंने कहा कि मैं यहीं शादी करूँगा। यद्यपि उन्होंने लड़की नहीं देखी थी, रंग-रूप में भी उनसे कहीं घट कर थी, लेकिन अपने वचन का पालन करना उन्हें श्रेयष्कर लगा। क्रोध के कारण पिता ने उन्हें घर से बाहर निकाल दिया। एकाकी जी बाबूजी के पास गये। बाबूजी ने न केवल दिल्ली में उनके काम का प्रबन्ध कर दिया वरन् उनके साथ जाकर वहीं उनकी शादी भी करा लाये।

बाबूजी की याद आते ही मेरे सामने एकाकी जी का चेहरा घूम जाता है और बाबूजी की भोली, सम्वेदनशील, उदार आकृति के साथ-साथ उनके सुधारवादी रूप की झलक भी आँखों में कौंध जाती है।

●

डा. मोहनलाल शर्मा

व्यक्तित्व के धनी

'परिर्वातिनि संसारे मृतः को वा न जायते ।
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ।।'

बाबू गुलाबराजी का उदय एक ऐसे समय में हुआ था जबकि हिन्दी भाषा अपने साहित्य-भण्डार की पूर्ति के लिए अपने पैरों पर खड़े होने का प्रयत्न कर रही थी। बाबूजी ने अपने जीवन में भाषा और साहित्य की अनेक गतिविधियों का अवलोकन किया। बाबूजी ने परतन्त्र भारत की साहित्यिक सेवाओं को भलीभाँति निरखा परखा और स्वतन्त्र भारत की हिन्दी साहित्य सेवा के अवलोकनार्थ भी वे १५ वर्ष तक जीवित रहे। किन्तु शिशु साहित्यकार से वयोवृद्ध साहित्यकार तक पहुँचते-पहुँचते बाबूजी ज्यों के त्यों बने रहे। उन्होंने अपने जीवन में किसी परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया। उनका जीवन दर्शन शाश्वत था। वे स्वयं जिस प्रकार अपने जीवन में रहे, साहित्य में भी ठीक वैसे ही दृष्टिकोण को स्थायी रूप प्रदान किया। जिस प्रकार सूर्य के उदय और अस्त के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता बाबूजी इसी प्रकार जीवन-पर्यन्त अपने सिद्धान्तों पर अटल रहे। परिवर्तन जैसा शब्द उनके जीवन कोश में नहीं था।

धोती, कुर्त्ता अथवा कमीज और टोपी—साधारणतया यही बाबूजी के वस्त्र थे। देखने में जितने सरल, साहित्यिक अभिरुचि में उतने ही उत्कृष्ट, परिश्रमी इतने कि अच्छे-अच्छे साहित्यिक मल्ल उनके सामने से अखाड़ा छोड़ कर चम्पत हो जायँ, तिस पर भी लड़े आज तक वे किसी से नहीं। मेरी जहाँ तक जानकारी है, बाबूजी की लड़ाई शायद ही किसी व्यक्ति से हुई

हो। बाल सुलभ स्वभाव, प्रकृति से सहनशील, सब कुछ आगा-पीछा देख लेने वाले ये महा-रथी कभी किसी से अबे-तबे बोलते भी तो नहीं सुने गये।

पेंसठ वर्ष की अवस्था तक आते-आते उनका स्वास्थ्य बहुत कुछ गिर चुका था। 'साहित्य-सन्देश' के सहायक सम्पादक के रूप में मैं चार छः बार उनसे मिला किन्तु अपनी पिछली भेंट की वर्तमान भेंट से तुलना करके देखता तो लाख प्रयत्न करने पर भी उनके स्वभाव और रहन-सहन में कोई अन्तर नहीं देख पाता था। 'बाबू गुलाबराय अङ्क' के सिल-सिले में एक बार यों ही धृष्टतावश मैं चर्चा करने पहुँच गया, देखा कि उनका मुखमण्डल नितान्त भावशून्य था। मुखाकृति और समस्त मनोभाव वैसे के वैसे ही। आगरा विश्व-विद्यालय ने उनको डी० लिट्० की उपाधि से सम्मानित किया किन्तु बाबूजी के जीवन में तो जैसे कोई घटना ही नहीं घटी हो, वैसे ही शान्त स्वभाव, परिवर्तनहीन स्वरूप और किसी भी प्रकार के सम्मान से विचलित न होने वाले साहित्यकारों में से थे।

बाबूजी की महत् एकरूपता को संस्कृत के निम्न श्लोक से अधिक स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है—

उदेति सविता ताम्रः ताम्र एवास्तमेति च।
संपत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता॥

अर्थात् जैसा कि उपर कहा जा चुका है सूर्य के उदय और अस्त होने की एकरूपीय अवस्था के समान बाबूजी सम्पत्ति और विपत्ति सभी अवस्थाओं में स्थित चित्त रहने वाले थे।

अँग्रेजी में एक कथन है "Style is the man himself" यह बात बाबू गुलाबराय जी के विषय में पूर्णरूपेण सार्थक होती है। बाबूजी की कृतियों में हमें उनके व्यक्तित्व की एक झलक बराबर मिल जाया करती है। वे जिस अखण्ड शान्ति के साथ साहित्य-सृजन करते रहे वह सराहनीय है। अपने स्वभाव के अनुरूप ही उनके साहित्य में हमारा परिचय एक ऐसे वातावरण से होता है जो अत्यन्त शान्तिपूर्ण एवं सुखद है। बाबूजी ने सदैव समन्वय को महत्त्व दिया अथवा यह भी कहा जा सकता है कि उन्हें कभी बात का विरोध करने का समय ही नहीं मिला। उनका प्रभाव ऐसा कि विरोध कभी उनके सामने टिक ही नहीं पाया।

दर्शनशास्त्र का अध्ययन बाबूजी ने मनोयोगपूर्वक किया था, अतएव दार्शनिकता के प्रति आग्रह होना भी उनकी कृतियों से प्रतिभासित होता है। किन्तु उनके दर्शन से विषय अधिक कठिन बन गया हो ऐसी बात भी नहीं, उन्होंने सदैव विषय को बोधगम्य बनाने का भरसक प्रयास किया।

बाबूजी एक सफल शिक्षक थे। सफल शिक्षकपन उनके साहित्य से भी झलकता है। प्रत्येक विषय का सुबोध रूप में प्रस्तुत करना उनकी आदत में आ गया था। 'हिन्दी साहित्य के सुबोध इतिहास' से बाबूजी ने विद्यार्थी वर्ग का जितना हित साधन किया है उतना सम्भवतः अन्य किसी पुस्तक ने नहीं किया होगा। इतिहास का यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय बन गया।

हमें इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि बाबूजी पत्रकार भी थे। उन्होंने जहाँ तक भी बन पड़ा 'साहित्य सन्देश' के द्वारा साहित्य की वर्षों तक सेवा की। 'साहित्य सन्देश'

की नीति––जो कि अब स्थायी बन गई है, उनके समय में ही पूर्णरूप से निश्चित हो चुकी थी।

गद्य के लेखक होने के नाते लोग यह भी कल्पना कर सकते हैं कि बाबूजी एक शुष्क प्रकृति के व्यक्ति होंगे। किन्तु उनके विषय में बात बिलकुल विपरीत है। बाबूजी अत्यन्त विनोदप्रिय व्यक्ति थे और अपनी रचना में हास्य का पुट देने का प्रयत्न बराबर किया करते थे। यह हास्य उनके आत्म परिचयात्मक निबन्धों में तो और अधिक मुखरित हो गया है। यह हास्य दो प्रकार से उत्पन्न हुआ है; प्रथम हास्यप्रद घटनाओं की सृष्टि द्वारा और दूसरे शैली के द्वारा। बाबूजी के आत्मपरक निबन्धों में हास्य के ये दोनों रूप मिल जाते हैं।

बाबूजी का व्यक्तित्व भारतीयता के रंग में रँगा हुआ था। यद्यपि उन्होंने आलोचना के विभिन्न रूपों के विवेचन में पाश्चात्य समालोचना से सहायता ली है किन्तु जीवन में उन्हें शायद ही विदेशियों की कोई वस्तु पसन्द आई हो। वे विशुद्ध भारतीय थे, भारतीय संस्कृति और साहित्य की सच्ची झलक हमें उनके ग्रन्थों में मिलती है।

व्यंग्य एवं कटूक्तियों को बाबूजी कोई महत्त्व नहीं देते थे। परिणामस्वरूप उनके साहित्य में हमें बहुत कम उदाहरण व्यंग्य के मिलते हैं। इस विचार से उनका साहित्य उनके जीवन से पूर्णरूपेण प्रभावित है।

बाबूजी के व्यक्तित्व में हमें बाल-सुलभ सरलता तथा दार्शनिकोचित गाम्भीर्य का पूर्ण समन्वय मिलता है। ये ही गुण उनके साहित्य में भी आ गये हैं। उनके साहित्य में सरल से सरल विषयों का विवेचन भी उतने ही कौशल के साथ किया गया है, जितने कौशल के साथ गम्भीर विषयों का विवेचन। 'काव्य के रूप' तथा 'सिद्धान्त और अध्ययन' नामक पाण्डित्यपूर्ण विषयों पर सफल लेखनी चलाने वाला साहित्यकार 'व्यवसाय के आवश्यक गुण' जैसे विषयों पर भी सफलतापूर्वक लिख सकता था, इस बात को जानकर हमें उनकी बहुमुखीय दक्षता की प्रशंसा करनी पड़ती है।

संक्षेप में, बाबूजी का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली था। उन्होंने अपने जीवन के स्वयं के अनुभवों से जितना सीखा उतना किसी ग्रन्थ विशेष से नहीं। साहित्य की विभिन्न परीक्षाओं पर भी उनके जीवन के विभिन्न अनुभवों का आभास पड़ा है। उनका जीवन किसी पर्वतीय सरिता के समान पहाड़ी चट्टानों को पार करने वाला नहीं था वरन् एक ऐसी मैदानी सरिता की भाँति था जिसने अपने सम्पूर्ण जीवन में कभी कोई राह नहीं बदली तथा सदैव से मन्द-मन्द, मन्थर-मन्थर गति से प्रवाहित होती रही हो। उनका जीवन परिवर्तनहीन रहा जिसकी गहरी छाप उनके व्यक्तित्व पर पड़ी। उनके व्यक्तित्व में हमें सारल्य, गाम्भीर्य, पाण्डित्य, बौद्धिकता, हास्य एवं एकरूपता आदि अनेक गुणों का समन्वय मिलता है। वे आकर्षक और महान व्यक्तित्व के धनी थे जिसका अमिट प्रभाव उनके साहित्य पर भी है।

●

श्री शम्भूनाथ शुक्ल
(भूतपूर्व वित्तमंत्री, म. प्र. सरकार)

अनवरत साहित्यव्रती

बाबू गुलाबराय जी हिन्दी साहित्य के एक ऐसे अथक और अनवरत साहित्य सेवी के रूप रूप में याद किये जायेंगे, जिन्होंने वृद्धावस्था के प्रहारों से जर्जर हो जाने के बाद भी अपनी लेखनी को विराम नहीं दिया और जो आखिरी सांस तक अपने विविध और विशाल अनुभव तथा विपुल अध्ययन और चिंतन को समूची मानसिक ताजगी और सजग दृष्टि के साथ साहित्य देवता को अर्पित करते रहे। वृद्धावस्था और रोग ने अब उन्हें शारीरिक रूप से शिथिल कर दिया था तब भी वे बोल कर लिखाते थे और दूसरों के मुख से विभिन्न ग्रंथों और शोध प्रबन्धों को सुनकर उन पर अपनी सम्मतियां देते थे। उन्होंने एक क्षण के लिये भी स्वयं को साहित्य की धारा से असम्पृक्त नहीं रहने दिया। अत: उनके लिये मुझे "अनवरत साहित्यव्रती" शब्द का प्रयोग सबसे अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।

साहित्य सेवा को गुलाबराय जी ने अपना जीवन-व्रत बना लिया था जिसका एक अर्ध शताब्दी तक वे अनवरत रूप से निर्वाह करते रहे। उनकी यह सुदीर्घ सृजनशीलता आधुनिक हिन्दी साहित्य-विशेषत: निबन्ध और आलोचना साहित्य के इतिहास का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग बन गयी है।

अपने जीवन के बिल्कुल अंत के कुछ वर्षों में वे समय समय पर अपने पुत्र के साथ रहने के लिये भोपाल आया करते थे। मुझे उनके सम्पर्क में आने का सौभाग्य इसी समय प्राप्त हुआ। उनके अनवरत साहित्यव्रती रूप की कुछ झलकें इसी अवधि में मुझे जब तब देखने को मिलीं, यद्यपि उनके नाम और कृतित्व से मेरा परिचय पुराना था। विशेषत: 'तुलसी दल' मासिक

पत्र की हमारी योजना के सम्बन्ध में उन्होंने बड़ी रुचि से हमारा मार्ग-दर्शन किया और उसके परामर्शदाता मंडल में भी सम्मिलित होने के हमारे आग्रह को सहर्ष स्वीकार किया। उनके सहयोग और उनकी सत्प्रेरणा के बल पर इस पत्रिका का मार्ग प्रशस्त हुआ।

बाबू गुलाबरायजी के साहित्यिक व्यक्तित्व से मेरा परिचय उस समय का है जब मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय का छात्र था और उसके बाद के कुछ वर्षों में जब 'बाल सखा' के सम्पादकीय विभाग में रहते हुये साहित्य संसार से मेरा प्रत्यक्ष का सम्पर्क था, यह परिचय और भी विकसित हुआ। उन्होंने कुछ वर्ष छतरपुर में भी बिताये थे। इस कारण एक स्थानीय अपनेपन की सहज भावना के फलस्वरूप उनके प्रति मेरी आत्मीयता और श्रद्धा भाव और भी अधिक जाग्रत रहे।

बाबू गुलाबरायजी में प्रतिभा और कर्मठता का अपूर्व योग था। कितने ही विषयों और कितनी ही दिशाओं में उनकी गति थी। साहित्य, धर्म, संस्कृति, विज्ञान और मनोविज्ञान सभी ज्ञान विज्ञान की शाखाओं पर उनकी प्रतिभा के फूल खिले और महके।

बाबू गुलाबरायजी की सबसे बड़ी देन मेरी दृष्टि में यही है कि उन्होंने साहित्य, दर्शन और संस्कृति जैसे गंभीर विषयों को बोधगम्य और सुपाच्य रूप से प्रस्तुत किया। उनके निबन्धों और उनकी समालोचनाओं ने हमें एक साहित्यिक शिक्षा दी। उन सहस्रों पाठकों और विद्यार्थियों के लिये जो गहन बौद्धिकता में न जाकर साहित्य सागर के मोतियों को तट पर बैठ कर पाना चाहते हैं, बाबू गुलाबराय जी के निबन्धों से श्रेष्ठ और कोई माध्यम नहीं। हिन्दी जैसी भाषा के लिये जिसका साहित्य अपेक्षाकृत नया है और जिसे सारे देश के लोगों को अपनाना है इस प्रकार का कार्य एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी। उन्होंने साहित्य के तत्व, उसके अर्थ और उसकी परम्परा का जो सामंजस्यपूर्ण विश्लेषण और मधु संचय अपनी कृतियों में प्रस्तुत किया है वह अनुपम और अपूर्व है।
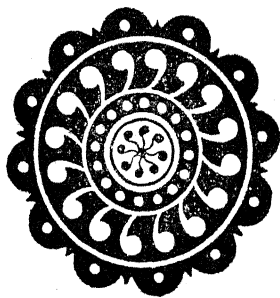
श्री सूर्यनारायण अग्रवाल

कुछ अन्तरंग संस्मरण

जुलाई १९०९ में हाई स्कूल पास कर मैं इंटर में पढ़ने आगरा जाकर वैश्य बोर्डिंग हाउस में रहा। वहाँ जिन अनेक साथियों से परिचय हुआ उनमें बाबू गुलाबराय जी एक विशेष व्यक्ति थे। पढ़ने तथा आयु में मुझसे दो वर्ष वे आगे थे किन्तु उनके स्वभाव की कोमलता और सब के प्रति भ्रातृभाव के कारण मैं उनके लिए वैसा ही था कि जैसा उनकी कक्षा का कोई उस छात्रावास में रहने वाला। उस महान् व्यक्ति के लिए छोटे बड़े का भाव यदि किसी रूप में था तो प्रेम और स्नेह की कोटि के विचार से। अन्यथा उनके लिए सब बराबर ही थे और सब ही उन पर बराबर अधिकार रखने का स्वत्व प्रदान करने की कृपा करते थे। मिलने, बैठने, भोजन करने एवम् बोर्डिंग हाउस में अनेक प्रकार से संसर्ग प्रदान करने में वह सब के लिए एक समान थे। उनकी उदारता एवम् सदैव रहने वाली हंसमुखीवृत्ति का सब ही लाभ उठाते थे। उनके संसर्ग में आने वाले सभी मेरे समान नवयुवकों को नई नई पुस्तकों का ज्ञान तथा अनेक विषयों की बातें ज्ञात होती रहती थीं। उनका सदैव पुस्तकों का साथ तथा नवीन विचारों की ऊहापोह रहती थी। जिन्होंने उनका संसर्ग अच्छा पाया उनके जीवन पर उनकी बातों की छाप पड़ी और वे भी पुस्तक प्रेमी होकर अपने अपने जीवन में कोई विशेषता ला सके। मुझे भी किंचित परिणाम में यह सौभाग्य प्राप्त हो सका। इसके लिए मैं उनको सदैव प्रेम श्रद्धा और आदर के साथ याद रखता हूँ और चाहता हूँ कि यह भाव उनके प्रति सदैव मेरे साथ रहे। उस छात्रावास में नए आने वालों को कुछ घटिया समझा जाने वाला स्थान मिलता था। बाबू गुलाबराय जी सभी कमरों में चक्कर लगाते रहते थे और बोर्डिंग के सभी छात्रों को अपना भाई मानकर सब पर

अपने स्नेह की वर्षा करते रहते थे। वह सब के थे और सब उनके थे।

इस समय बाबू गुलाबराय जी के पूज्य पिता मुंशी भवानीप्रसाद जी मैनपुरी की जजी के दफ्तर में किसी अच्छे पद पर थे। मेरे पूज्य बड़े भाई बाबू धर्मनारायण जी भी वहीं वकालत करते थे। इससे हम लोग छुट्टियों में कभी कभी मैनपुरी भी साथ जाते थे। मुंशी भवानीप्रसाद जी बड़े सात्विक धार्मिक पुरुष थे। मैनपुरी जजी में सभी उनका आदर करते थे। वह तो स्नेह की मानो मूर्ति ही थे। श्री गुलाबराय की माता भी बड़ी स्नेहमयी थीं। वे गुलाबराय जी के सभी साथियों को उनका आधा नाम लेकर पुत्रवत पुकारती थीं। भोजन कराती थीं तथा अपना प्यार बहाती थीं। मुझे भी उनकी स्नेह-सरिता में बहने का सौभाग्य मिला था।

मैनपुरी जाने से पूर्व मुंशी भवानीप्रसाद जी इटावा मुंसिफी के दफ्तर में किसी पद पर थे। मेरे घर के समीप ही पुराने शहर में पंसारी टोला में रहते थे। वहाँ के एक प्रसिद्ध संत श्री सोती-बाबा जी महाराज के वे परम भक्त थे। सुनता आया हूँ कि श्री गुलाबराय जी के जन्म से उन महात्मा का कुछ गहरा सम्बन्ध था। शायद वह स्वयं श्री गुलाबराय हो कर जन्मे थे। इस प्रकार इटावा और मैनपुरी से अधिक सम्बन्ध रहने के कारण भी मुझे बाबू गुलाबराय जी से घनिष्टता प्राप्त करने का सौभाग्य मिला। यह घनिष्टता बराबर बढ़ती गई और अभी तक उनके कुटुम्ब से तथा मेरे घर के लोगों से चल रही है।

जिस समय बाबू गुलाबराय जी वैश्य बोर्डिंग आगरा में रहते थे यह संस्था वहाँ के अन्य छात्रावासों में एक विशेष स्थान रखती थी। तब आगरे में सैंटजांस तथा आगरा कालेज ही प्रधान थे। बलवंत राजपूत कालेज उस समय इंटर तक ही था। वैश्य बोर्डिंग में रहने वाले छात्र ऊपर लिखे दोनों कालेज ही में पढ़ते थे। किसी कालेज का इससे विशेष सम्वंध न था। लेकिन बाबू गुलाबराय तथा उनके कुछ अन्य प्रतिभा-सम्पन्न साथियों के कारण वैश्य बोर्डिंग की विशेष ख्याति थी। खेलने में, पढ़ने में, वाक्-शक्ति में एवम् परीक्षाओं में, इसमें रहने वाले छात्र उच्च स्थान प्राप्त करते थे। ऐसा होते हुए भी वहाँ कुछ साधारण श्रेणी के विद्यार्थी भी थे जो कि ताश इत्यादि खेलने एवम् तमाशे वगैरह देखने में अपना समय और पैसा खर्च करते थे। बाबू गुलाबराय जी का व्यवहार सब भाइयों के प्रति समान ही रहता था। सभी के कमरों में वह जाकर बैठ आते थे तथा सभी उनका आदर करते थे। आगरे में पधारने वाले तब किसी विशेष नेता या पुरुष से वैश्य बोर्डिंग के हम छात्र बाबू गुलाबराय जी के नेतृत्व में मिलने जाते थे। बाबूजी उनसे वार्तालाप आरंभ करते थे और हम सब उसमें सम्मिलित होकर सुखी होते थे। इस प्रकार का कोई प्रयत्न बिना बाबूजी को आगे रख कर हम नहीं कर पाते थे। बाबूजी भी इन कार्यों को सहर्ष अपना अधिकार विशेष मानकर करते थे।

जिन लोगों ने बाबूजी को देखा है वह जानते हैं कि वे शरीर में स्वस्थ थे। उनका पेट कुछ बड़ा था। इसी कारण हम सब (वैश्य बोर्डिंग के ऐसे छात्र जो उनसे स्वतंत्रता पूर्वक बात करते थे) उनको गणेश जी कह कर पुकारते थे। वह सदैव हँसते रहते थे। अक्सर ऐसा होता था कि वह चारपाई पर लेट जाते थे, और हम लोग उनके पेट से समकोण बनाकर उसको तकिआ मानकर लेट कर उनसे बातें करते रहते थे तथा खुश होते रहते थे। वह भी इसमें एक प्रकार का आनन्द अनुभव करते थे।

भोजन का परिमाण उनका साधारण था लेकिन पेट बड़ा होने के कारण कभी हँस-हंसी में वह अधिक भी भोजन कर लेते थे। एक बार वह भोजन करके चौके से बाहर आ रहे थे। मैं तथा दो और साथी भोजन करने जा रहे थे। भोजन की मिकदार पर बात होने पर बाबूजी ने कहा कि यद्यपि वह भोजन कर चुके हैं फिर भी वह हम में से प्रत्येक को हरा सकते हैं। हमारे अनुरोध पर वह फिर चौके में बैठ गए और उन्होंने १६ रोटियां और खाई जो कि हम में से किसी ने भी भूखे होने पर भी उस समय खाने की हिम्मत न दिखलाई।

बाबूजी अपनी पढ़ाई की पुस्तकों के अतिरिक्त अनेक विषयों पर नई नई पुस्तकें पढ़ते रहते थे। सदैव उनके हाथों में मैं कोई न कोई पुस्तक पाता था। उसके विषय में भी बात करना उनको अच्छा लगता था। वह ज्ञात तथा अज्ञात रूप में सदैव अपने साथियों को विद्याव्यसनी होने का शौक देते रहते थे। कालेज के अध्यापक एवम् प्रधानाध्यापक विद्यार्थी भाव से उनका विशेष मान करते थे। वह भी कभी कोई ऐसी बात अपनी तरफ से नहीं होने देते थे कि जिसमें वह दृढ़ता से हटे माने जावें। कालेज की शासन व्यवस्था में जिन बातों में अन्य विद्यार्थी लोग भाग कर बचने का प्रयत्न करते थे बाबूजी उसका डट कर मुकाबिला करते थे और उनके सत्य व्यवहार पर अधिकारियों को हँस कर उनको माफ कर देना पड़ता था। सत्य व्यवहार में दृढ़ता उनके जीवन की एक खास बात थी।

बाबूजी अपने विद्यार्थी जीवन में दूसरी श्रेणी के विद्यार्थी रहते थे। सदैव पास हो जाते थे। कभी भी विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में उन्होंने कोई विशेष स्थान नहीं पाया था किन्तु अपने अध्यापकों के वह सदैव प्रेम भाजन रहे थे। वह सब उनका विशेष ख्याल रखते थे। यद्यपि वह पूजा पाठ कुछ नहीं करते थे लेकिन एम. ए. में वह सेंट जांस कालेज में पढ़ते समय हिन्दू होने का अपना अभिमान् कायम रखते थे। वह समय पश्चिमी संस्कृति और भारतीय संस्कृति के परस्पर स्पर्धा का काल था। सेंट जांस कालेज के ईसाई अधिकारी कभी भारतीय संस्कृति का उपहास करते थे। यदि उस समय बाबूजी वहाँ होते थे तो विद्यार्थी होने पर भी वह उसका उत्तर दिए बिना न रहते थे। उनके नैतिक बल तथा साहस से उपहास करने वालों को प्रायः लज्जित सा हो जाना पड़ता था।

एम. ए. पास कर बाबूजी का विद्यार्थी जीवन समाप्त होने पर वह छतरपुर में महाराजा विश्वनाथ सिंह देव जी के पास मास्टर रूप में चले गए। महाराजा साहब को दर्शन शास्त्र के नवीन ग्रंथों के भाव जानने का शौक था। बाबूजी का वहाँ कुछ समय तक यही काम रहा कि अंगरेजी भाषा में प्रकाशित होने वाली नई दर्शन विषयक पुस्तकों को मंगवाना, उनको पढ़ना और उनका सार महाराजा साहब को सुनाना। इस कार्य को बाबूजी बहुत सुन्दर रूप से कितने ही वर्षों तक करते रहे। इससे उनको अपने ज्ञान की वृद्धि करने का विशेष उत्तम अवसर मिला। वह महाराजा साहब के पास खुश रहते थे। महाराजा साहब भी उनका आदर करते थे। कष्ट उनको केवल एक बात से होता था। महाराजा साहब को अक्सर रात को नींद नहीं पड़ती थी। तब वह इनको बुलावा भेजते थे। इनको जागकर महलों में जाना पड़ता था। वहाँ वही नवीन पुस्तकों में दिए ज्ञान की चर्चा चलती थी। महाराजा भी विद्याव्यसनी थे। बाबूजी भी इसी प्रकार के भारतीय थे। दोनों में परस्पर प्रेम और श्रद्धा थी। इससे सब बात

निभ जाती थी।

छतरपुर में बाबूजी को कई हिन्दी साहित्य सेवियों का संसर्ग मिला जिनमें पं. श्यामविहारी मिश्र, पं. सुकदेवविहारी मिश्र तथा श्री वियोगी हरि प्रधान रहे। महाराजा साहब की कृपा से वहाँ बाबूजी ने पर्याप्त अध्ययन किया और उन्होंने राज्य के पुराने पुस्तकालय का अच्छा उपयोग किया। साहित्य सृजन वहीं से प्रारंभ हो गया और अनेक विषयों पर बाबूजी द्वारा लिखी छोटी और बड़ी पुस्तकें विविध प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित होने लगीं। बाबूजी को अपनी मातृभाषा हिन्दी का बड़ा ख्याल था और उनकी हार्दिक इच्छा थी कि वह अनेक विषयों पर पुस्तकें लिखकर मातृभाषा साहित्य की कमी की कुछ पूर्ति कर सकें। इसको उन्होंने अपने अध्यवसाय से पूर्ण भी किया।

महाराजा के कृपा भाजन होकर बाबूजी ने वहाँ अपनी सांसारिक उन्नति भी की और वे महाराजा साहब के प्राइवेट सेक्रेटरी हो गए। इस कार्य को बाबूजी ने बड़ी कुशलता से और कई बार काफी दृढ़ता से सम्पादन किया। सच्चाई को प्रकट कर महाराजा के स्वामिभक्त बने रहने में कई कठिन परिस्थितियों पर बाबूजी ने अपना ख्याल नहीं किया, महाराजा का साथ दिया और यथाशक्ति उनकी प्रतिष्ठा में बाधा नहीं पड़ने दी। एक बार खुले हुए ६० स्कूलों को बंद कर देने के महाराजा साहब के निश्चय पर उन्होंने रियासत की नौकरी से स्तीफा भी दिया पर महाराजा साहब ने दूसरे ही दिन दरबार के अवसर पर अपनी प्रथम आज्ञा को सुधार कर स्कूलों को फिर उसी प्रकार से कायम रहना तै करके बाबूजी का मान रक्खा।

बाबूजी को छतरपुर रियासत के उत्तराधिकारी के लिए बड़ा ख्याल था। महाराज साहब के कोई राजकुमार न था। बाबूजी ने बड़ी रानी से आज्ञा पाकर महाराज साहब को एक विवाह और करने को तैयार कर विवाह करवा दिया। भगवत् कृपा से नई रानी जी के एक राजकुमार का जन्म भी हुआ। बाल्यकाल ही से उन राजकुमार की उत्तम शिक्षा हो, इसके लिए भी बाबूजी ने हो सकने वाला प्रयत्न किया। बाबूजी के जीवन का उत्तम काल छतरपुर ही में व्यतीत हुआ और महाराज साहब के स्वर्गवास के बाद वह छतरपुर से आकर आगरे में रहने लगे। यहीं आकर बाबूजी ने देहली दरवाज़े पर आगरे में वह अपनी कोठी बनवाई कि जिसको 'गोमती निवास' कहते हैं।

हिन्दी में पुस्तकें लिखने और उनके प्रकाशन का आयोजन करने का काम तो बाबूजी ने छतरपुर ही में आरंभ कर दिया था तथा वहीं रह कर अपनी साहित्य सेवा का अधिकांश कार्य कर लिया था। आगरा आकर यहाँ निवास करने पर बाबूजी को थोड़ा आर्थिक संकट पड़ा। छतरपुर में जो वेतन मिलता था शायद उसका एक चौथाई ही पेंशन रूप में मिला। गृहस्थी का भार था। पुत्र पुत्रियों की शिक्षा चलानी थी। उनके व्याह शादी की भी चिंता थी। भगवत् कृपा से संकटकाल शीघ्र समाप्त होकर बाबू जी आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत कर नई पुस्तकों की रचना करने लगे। आगरे के प्रसिद्ध साहित्य सेवी श्री महेन्द्र जी के सहयोग से बाबू जी ने 'साहित्य संदेश' नाम के मासिक पत्र का सम्पादन भी प्रारम्भ किया। यह साहित्य विषय में अपने ढंग का एक अनूठा मासिक पत्र रहा है और अब भी चल रहा है। इसके द्वारा बाबूजी ने हिन्दी साहित्य की अनेक बातों की आलोचना और चर्चा चलाई। जैसे आचार्य

श्री पं. महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने अपनी 'सरस्वती' मासिक पत्रिका द्वारा उस समय के अनेक लेखकों को आगे बढ़ाया था, बाबूजी ने भी कितने ही हिन्दी भाषा के नवीन एम. ए. पास अध्यापकों को साहित्य में गहरी गति प्राप्त करने में सहायता प्रदान की।

'साहित्य संदेश' पत्र के विशेष अंकों द्वारा हिन्दी भाषा के आलोचना साहित्य का बहुत बड़ा कार्य हुआ। बाबूजी ने हिन्दी साहित्य सृजन के काम में साहित्य ही को एवम् उससे सम्बंध रखने वाली बातों ही को लिया था। कुछ लेख भी तैयार किए थे तथा कुछ छोटी छोटी पुस्तकें हास्य विषय पर भी बनाई थीं। उनके प्रधान ग्रंथ साहित्य के अंगों से सम्बंध रखने वाले ऐसे निकले कि जिन विषयों पर कुछ काव्य ग्रंथों को छोड़ कर गद्य में पुस्तकें थी ही नहीं। मनोविज्ञान एवम् दार्शनिक विषयों पर भी बाबूजी ने लिखा और कई बार बाबूजी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दार्शनिक सम्मेलनों के प्रधान भी हुए। नागरी प्रचारिणी सभा आगरा के अधिवेशनों में बाबूजी के भाषण होते रहे। उत्तर प्रदेश तथा उसके आस पास के नगरों में समय समय पर होने वाले साहित्यिक आयोजनों में बाबूजी पधारते रहे, बोलते रहे और साहित्यिक बातों की चर्चा बराबर चलाते रहे। रेडियो पर भी समय समय पर बाबूजी के भाषण साहित्य और साधारण दार्शनिक विषयों पर होते रहे। आगरे में रह कर बाबूजी एक ऐसे निस्पृह साहित्यक विभूति रहे कि जो सरलतापूर्वक सब ही को उपलब्ध थे तथा जिनका उपयोग सभी अपनी अपनी आवश्यकता और दक्षता के अनुकूल कर लिया करते थे। उदारमना बाबूजी किसी को इनकार न करते थे तथा उनके पास से कोई निराश होकर न लौटता था।

बाबूजी अपने खानपान में काफी सावधान रहने वाले थे फिर भी अधिक चिंतन और साहित्य सेवा करने के कारण बाबूजी को मधुमेह रोग का आरंभ हो गया। इससे उनका शरीर कुछ शिथिल होने लगा लेकिन उस रोग पर भी उनका इतना काबू रहा कि उसके द्वारा होने वाले किसी भयानक उत्पात से वे बचे रहे। किसी प्रकार के फोड़ा फुंसी से उनको कभी कोई विशेष कष्ट न हुआ।

उत्तर भारत के विश्वविद्यालयों में हिन्दी को विशेष स्थान मिलने पर बाबूजी की पुस्तकें बी. ए., और एम. ए. में पाठ्य पुस्तकें हुईं और बाबूजी की आलोचनाओं से विद्यार्थी बड़े लाभान्वित होने लगे। हिन्दी जगत में बाबूजी का नाम एक उत्तम साहित्य सेवी के रूप में प्रचार पागया। सेंट जांस कालेज के हिन्दी विभाग में प्रत्येक सप्ताह कुछ घंटे बी. ए. और एम.ए. के विद्यार्थियों को पढ़ा देने की भी व्यवस्था बाबूजी के सुपुर्द की गई। इससे बाबूजी को कोई विशेष आर्थिक लाभ न हुआ फिर भी बाबूजी ने मातृभाषा सेवा का एक साधन मानकर इसको सहर्ष स्वीकार किया और उस पर कार्य करते रहे। आगरे के मर्मज्ञ साहित्य सेवियों में बाबूजी का एक उच्च स्थान रहा तथा उनकी और उनके साहित्यिक कार्यों की चर्चा साहित्य सेवियों के द्वारा बराबर होती रही। आखिर आगरा विश्वविद्यालय के अधिकारियों को भी उनके प्रति अपने पवित्र कर्तव्य का भान हुआ और उस विश्वविद्यालय की तरफ से उनको डी. लिट. की उपाधि अर्पित करके उनका मान किया गया था ऐसे साहित्य सेवी के उचित मान से विश्वविद्यालय का मान बढ़ाया गया। यह बात बाबूजी के जीवन में जीवन के अंत से कुछ वर्ष पूर्व ही हो पाई थी। बाबूजी डाक्टर गुलाबराय के नाम से पुकारे जाने लगे। उनको इसका कोई विशेष

ख्याल या अभिमान न था। वह तो सदैव के समान ही ऐसा होने पर भी निराभिमान् रहकर सबके लिए उसी समान उपलब्ध रहे कि जैसे वे पूर्व में थे।

बाबूजी की मनुष्यता बड़ी उच्च श्रेणी की थी। वह कभी किसी को ना न करते थे। जो कोई भी कुछ आशा लगाकर बाबूजी के पास आया बाबूजी ने उसकी अभिलाषा पूरी करने का प्रयत्न किया। साधारण कोटि के गृहस्थ होने के कारण जहाँ तक मुझे ज्ञात है उनके पास कोई अधिक धन प्राप्त करने की आशा से न आता था किन्तु फिर भी यदि कोई भूखा प्यासा भिखारी आ जाता था तो उसे भी वह यथाशक्ति उसका मान रख कर उसकी ज़रूरत की पूर्ति करते थे। स्वयं कभी किसी से आकांक्षा न करते थे। कहा नहीं जा सकता कि भगवान् की हस्ती में उनका कितना विश्वास था लेकिन वह कभी कोई पूजा पाठ न करते थे। कभी कभी उन के मुखसे अवतारों की प्रार्थना के सुन्दर संस्कृत पद सुनने का मुझे अवसर मिला था। मेरे प्रश्न पर उन्होंने कहा था कि वह पद केवल उनके शाब्दिक सौंदर्य के लिए कहते थे। इतना ही आनन्द वह उनसे ले लेते थे।

मनुष्यता का ख्याल रखने वाला अभिमानी नहीं होना चाहिये। बाबूजी ऐसे ही थे। यदि उनमें अभिमान का अंश कभी देखने को मिला तो वह केवल इस बात में कि बाबूजी कभी भी मनुष्य कोटि से नीचे का कोई कार्य न करते थे। लड़ाई झगड़ा उनका कभी किसी से न होता था। वह इस तरह से दूसरों की क्रूरता को भी किसी अंश में सह लेते थे। वह कहते थे कि क्रूरता सह लेने से इतना गिराव नहीं होता कि जितना उसका मुकाबिला करने से। पहली हुई कटु बात का वह स्मरण भी नहीं रखते थे। फौरन उसको भूल जाने का प्रयत्न करते थे। दूसरों की आलोचना भी उनके मुख से बहुत कम सुनने को मिली। यदि कभी उन्होंने किसी की आलोचना की भी तो उसके साहित्यिक कृत्यों ही की।

बाबूजी के पास हिन्दी साहित्य में नवीन प्रकाशित होने वाले छोटे और बड़े अनेक ग्रंथ आलोचना के लिए आते थे। वृद्धावस्था में इस कार्य को कर सकने में वह बड़ी कठिनाई अनुभव करते थे फिर भी यथाशक्ति करने का प्रयत्न करके लेखकों का मान और उनकी इच्छा पूर्ति को करते थे। कहते कि जो कोई ग्रंथ भेजता है उसकी प्रशंसा पा सकने की आशा से भेजता है। वह थोड़ी बहुत प्रशंसा कर दिया करते थे।

बाबूजी के पास सभी प्रकार के ग्रंथों का ढेर रहता था। कोई कोई उनमें ऐसे भी होते थे कि जिनको अप्राप्य या दुष्प्राप्य भी कहा जा सकता था। यदि कोई उनसे कोई ग्रंथ मांग कर ले गया और उसे लौटा न सका तो ये उसकी चिंता न करते थे। एक बार उनका दिया एक अप्राप्य ग्रंथ मुझे से एक ठग ले गया जो कि फिर मुझे न मिल सका। इसका मुझे बड़ा खेद रहा। बाबूजी ने मुझे समझाया कि मैं इसकी चिंता न करूँ। जो हो गया सो हो गया। भविष्य में सावधानी बरतनी चाहिये।

बाबूजी में अनेक गुण थे। वह उदार थे, निराभिमानी थे तथा एक महत्ताशाली मनुष्य थे। उन्होंने उनके संसर्ग में आने वालों को भी अपने समान बनाने का सफल प्रयत्न किया। अपने देश की साहित्यिक सेवा की, अपने कुटुम्ब का मान बढ़ा कर उसे ऊँचा उठाया तथा अनेक व्यक्तियों को अपने प्रेमी छोड़कर संसार से यात्रा की।

डा० रामदत्त भारद्वाज, डी. लिट्.

वे गुलाब थे

जब से मैंने गुलाबरायजी के 'तर्क शास्त्र' (तीन भाग) के दर्शन किये, तब से मैं उनकी ओर आकृष्ट हुआ। १९१९ से १९२५ ई० तक मैं कालिज का छात्र और दर्शन का अध्येता रहा। उस समय मैं उक्त कृति की महत्ता इतनी न समझ सकता था जितनी तब जब मैंने स्वयं तर्कशास्त्र को पहले अँग्रेजी के, तदनन्तर हिन्दी माध्यम से भारतीय एवं यूरोपीय तर्कशास्त्रों को तुलनात्मक रूप से पढ़ाना प्रारम्भ किया। मुझे आश्चर्य होता था कि बाबू गुलाबराय की समझ कितनी स्पष्ट और अभिव्यक्ति कितनी सरल है! 'तर्कशास्त्र' के उपर्युक्त तीनों भाग और 'कर्त्तव्य शास्त्र' उन दिनों लिखे गये जब कि हिन्दी उतनी विकसित नहीं थी जितनी आज है। उन दिनों कालिजों में हिन्दी कहाँ पढ़ाई जाती थी? अतएव इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि बाबूजी हिन्दी के उन्नायकों में अग्रगण्य कर्मठ थे।

यद्यपि बाबूजी 'नवरस' का प्रणयन १९२० ई० में कर चुके थे, तथापि मुझे उसे अध्ययन करने का अवसर १९४० में प्राप्त हुआ। इस ग्रन्थ में उन्होंने रसों की व्याख्या पश्चिमी मनोविज्ञान के आधार पर की है, जो समुचित ही थी। इस व्याख्या-शैली का स्पष्टास्पष्ट सुप्रभाव उनके अनेक परवर्ती प्रतिभाशाली व्याख्याताओं पर अवश्य पड़ा। उनके इस ग्रन्थ ने अन्य विद्वानों को काव्यशास्त्र की ओर भी प्रवृत्त किया, ऐसा कहने में मैं अपने को तथ्य से दूर नहीं समझता। 'नवरस' के कतिपय निष्कर्षों से भले ही हम अब सहमत न हों, तथापि उसका ऐतिहासिक महत्त्व अक्षुण्ण है, इतना तो निर्विवाद है।

१९४४ ई. के लगभग मैं किसी कार्य से आगरा गया, तब गोमती निवास (दिल्ली दर-

वाज़ा) में मेरा प्रथम साक्षात्कार बाबूजी से हुआ। उस समय मैंने तुलसीदास-रत्नावली-सम्बन्धी सोरों-सामग्री की चर्चा की, और उनसे दर्शन-सम्बन्धी एक प्रश्न भी किया जिसके उत्तर से मुझे बड़ी प्रसन्नता मिली। प्रश्नोत्तर तो मुझे अब स्मरण नहीं; किन्तु उनके उत्तर से मुझे ऐसा लगा था कि उनका दार्शनिक चिन्तन उनकी साहित्यिक चर्चा से न पिछड़ा और न अभिभूत हुआ था।

१९५० ई. के लगभग बाबू गुलाबराय किसी सार्वजनिक उत्सव में सोरों पधारे थे। मुझे भी वहाँ जाने का अवसर मिला था। उत्सव की समाप्ति पर मैं उन्हें इक्के में सोरों से कासगंज लिवा लाया। तत्रस्थ श्रीगणेश इंटरमिडिएट कॉलिज के भव्य प्रकोष्ठ में उनका उपयुक्त स्वागत और भाषण हुआ। तदनन्तर वे मेरे गृह को पवित्र करते हुए आगरे चले गये। सोरों से कासगंज आते समय मैंने उनसे पूछा था कि आपको अपनी कृतियों में कौन सी कृति सर्वश्रेष्ठ लगती है? वे बोले कि 'सिद्धान्त और अध्ययन'।

मुझे उनके कुछ मनोवैज्ञानिक निबन्ध और 'मेरी असफलताएँ' नामक आत्मकथा के अंश को पढ़ने का अवसर मिला। 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' वास्तव में सुबोध अतएव छात्रोपयोगी है। उनकी शैली सर्वत्र सुबोध और सरल है। उनके व्यंग्य क्या हैं—डाक्टर के इंजेक्-शन। यदि पं. रामचन्द्र शुक्ल अपने मत प्रतिपादन में साग्रह प्रतीत होते हैं, तो गुलाबराय जी अपनी बात बड़ी स्वाभाविकता के साथ कह कर तुरन्त आगे बढ़ जाते हैं। उनकी आलोचना कटु नहीं होती। डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में "तीखे व्यंग्य से मुक्त कोमल हास्य की धवलता स्निग्ध रूप से इन निबन्धों की वस्तु शैली में रमी रहती है. . . व्यक्ति-परक निबन्धों के अतिरिक्त वस्तु-परक निबन्ध भी गुलाबराय ने अनेक लिखे हैं। इनमें विषय प्रतिपादन स्वच्छ एवं स्पष्ट शैली में किया जाता है—प्रत्येक विचार-बिन्दु सहज रूप में खुलता जाता है और उनमें आपस में तर्क-सम्मत सम्बन्ध रहता है। इन विचारों के पीछे लेखक का नैतिक दृष्टिकोण सर्वत्र विद्य-मान रहता है, किन्तु यह नैतिकता कठोर नहीं होती—लेखक के व्यक्तित्व की कोमलता उसे सहिष्णु बनाये रखती है।"

बाबू गुलाबराय के स्वर्गवास से कुछ ही वर्ष पूर्व मुझे काव्यशास्त्र के पाठन का अवसर मिला। मैंने अपनी 'काव्यशास्त्र की रूपरेखा' के निमित्त उनके 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' का विशेष उपयोग किया और अपनी इस रचना में अनेक स्थलों पर उनके मत को उल्लेख-नीय समझा। उन्होंने जिस सुगम शैली से काव्यशास्त्रीय ग्रन्थियों को सुलझाया है वह उन्हीं की देन है, उनके निष्कर्षों का आधार है, पौर्व-पाश्चात्य धाराओं का गंभीर अध्ययन। वे स्वच्छ मस्तिष्क अथवा क्लीअर हेडिड थे; इसी कारण उनकी शैली इतनी सरल और सार्थक है। समझाते हुए उन्हें अपनी ओर से भी कुछ कहना पड़ता था, जिसे उनकी मौलिक देन कही जा सकती है। उन्हें अपनी बात पर आग्रह न था, अतएव उनकी मौलिकता स्पष्ट होते हुए भी प्रच्छन्न रहती है। देखिए काव्य शास्त्रीय 'प्रेरणा' 'प्रयोजन' और 'हेतु' का पारस्परिक सम्बन्ध, कितनी सरलता एवं संक्षिप्तता से बताकर वे आगे बढ़ जाते हैं :—"प्रेरणा प्रयोजन का आन्तरिक रूप है। प्रयोजन आकर्षक के रूप में होता है और प्रेरणा में आगे बढ़ाने की शक्ति रहती है। हेतु का अभिप्राय उन साधनों से है जो कि कवि काव्य-रचना में सहायक होते हैं"।

जब आगरा विश्वविद्यालय ने गुलाबराय जी को सम्मानित कर डी. लिट. उपाधि से किया, तो मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई, क्योंकि मैंने वर्षों पूर्व 'नवीन भारत' के अध्यक्ष को ऐसा सुझाव दिया था।

मेरी धारणा है कि विषय प्रतिपादन में डॉ. गुलाबराय, डॉ. श्यामसुन्दर दास के समान अथवा अधिक स्पष्ट और सरल हैं, भाव में स्यात् कुछ अधिक गम्भीर हैं। तत्कालीन साहित्योद्यान में यदि पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी चम्पा, डॉ. श्यामसुन्दर दास बेला और पण्डित रामचन्द्र शुक्ल कमल थे, तो बाबू गुलाबराय गुलाब थे।
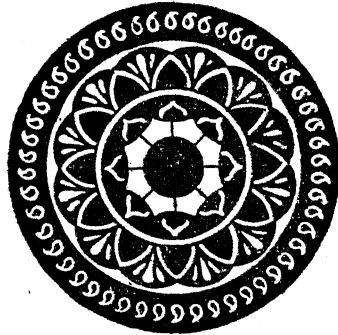
श्री रामनारायण अग्रवाल

आस्थावान महामानव

बात ता. १७ मार्च की है, उस दिन आगरा में ब्रज-कला-केन्द्र का उद्घाटन था। उत्सव के कार्यक्रम के उपरान्त मैं बाबू गुलाबराय जी के दर्शनों के हेतु उनके गोमती-निवास पर पहुँचा। उस समय लगभग दोपहर के ढाई बजे थे। ग्रीष्म के कारण वातावरण में घोर स्तब्धता थी,कोठी के द्वार बंद थे परन्तु बाबूजी के अध्ययन कक्ष का द्वार थोड़ा सा खुला था। मैंने उसी में से झाँका तो बाबूजी के चिर-परिचित कमरे में उनकी पुस्तकें, मेज, कुर्सी सब यथावत् थीं, परन्तु बाबूजी की कुर्सी पर एक दूसरे ही अधेड़ से सज्जन बैठे कुछ लिख रहे थे। मुझे बाबूजी की कुर्सी पर इस प्रकार एक दूसरे अपरिचित व्यक्ति का बैठना और काम करना कुछ अजीब सा लगा, परन्तु मुझे कुछ कहने और पूछने का कोई अवसर न देकर वे सज्जन एकदम हाथ जोड़कर कुर्सी से उठ खड़े हुए और बड़ी विनम्रता से बोले—"कहिए क्या आज्ञा है।"

मैंने कहा—"मैं बाबू गुलाबराय जी से मिलना चाहता हूँ, बाहर से आया हूँ।"

"जी अभी लीजिए, आइये" यह कह कर मुझे उस कमरे के अन्दर ही एक दूसरे कमरे में ले गये जो बाबूजी के अध्ययन-कक्ष से ही सटा है और वहाँ बाबूजी की पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य आवश्यक वस्तुऐं जैसे बिस्तर, पहनने के कपड़े आदि रखे रहते थे तथा चारपाई बिछी रहती थी।

इस समय यह कमरा बड़ा ही अस्त-व्यस्त था, बीच में ही चिरपरिचित चारपाई पड़ी थी, इधर उधर कुर्सियाँ अव्यवस्थित पड़ी थीं और उनपर सामान बेतरतीब बिखरा था, परन्तु यह सब देख कर मुझ पर उसकी कोई खास प्रतिक्रिया नहीं हुई क्योंकि मैं जानता था कि बाबूजी सदा आन्तरिक सौन्दर्य के उपासक रहे हैं। ऊपरी टीमटाम की उन्होंने कोई चिन्ता कभी नहीं

की। इसलिए मैं बीच में बिछी चारपाई पर ही बैठ गया और उक्त सज्जन बाबूजी को मेरी सूचना देने अन्दर चले गये।

पहले भी ऐसा कई बार हुआ है कि बाबूजी को उनके दर्शनों के लिए हमने समय और असमय पाकर उन्हें भीतर से बाहर बुलवाया, परन्तु वे कभी बाहर आने में ३-४ मिनिट से अधिक समय नहीं लेते थे, परन्तु आज मुझे लगभग १५ मिनिट बाबूजी की प्रतीक्षा करनी पड़ी। मैं सोच रहा था कि मैंने आज इस आराम के समय आकर बाबूजी के प्रति अक्षम्य अपराध किया है। मेरा अनुमान था कि बाबूजी अन्दर आराम से सो रहे हैं, और उन्हें मेरे कारण उठाया गया है, इस कारण ही यह विलम्ब हुआ है। परन्तु जो भूल होनी थी वह हो चुकी थी। यह सोच कर मैं उद्विग्न-भाव से वहीं बैठा रहा। इस समय मैं देख रहा था कि गर्म हवा निश्चिन्त खड़े वृक्षों से टकरा टकरा कर उनमें थपेड़े मार रही थी, जिसकी ध्वनि उस नीरव वातावरण में वातायन के माध्यम से मैं भली प्रकार सुन सकता था।

मैं विचारों में उलझा था कि बहुत ही क्षीण ध्वनि में हल्की सी खाँसी का स्वर सुनाई पड़ा। इसे बाबूजी के आगमन की पूर्व-सूचना मानकर मैं खाट से उठकर खड़ा हो गया और दो क्षण बाद ही मैंने देखा कि वे सज्जन जो बाबूजी को सूचना देने अन्दर गये थे, उन्हें अपनी भुजाओं में भरे कमरे में ला रहे थे। मैंने बाबूजी को इस दयनीय स्थिति में देखा तो हृदय हिल गया। उस समय बाबूजी के चरण इतने अशक्त हो गये थे कि उन्होंने शरीर का भार तक उठाने में असमर्थता प्रकट कर दी थी। उधर नेत्रों ने जिनके बल पर बाबूजी ने अनेक ग्रंथ रत्नों की रचना की थी उनसे असहयोग कर दिया था। उनके पलक सूजकर बंद हो गये थे और उन्होंने बाबूजी को मानो अब और कुछ न देखने को आगाह कर दिया था, परन्तु जब मैंने आगे बढ़कर बाबूजी को प्रणाम किया तो स्वर से मुझे पहचान कर भी उन्होंने उसकी पुष्टि के लिए बरबस नयनों को टिमटिमाने का यत्न करते हुए सस्नेह पूछा "क्या रामनारायण हैं?"

बाबूजी को लाकर खाट पर लिटाया गया। परन्तु उस समय उन्होंने बैठने की ही इच्छा प्रकट की। तब उनका शरीर उनकी इच्छा के अनुरूप सहयोग देने में एकदम असमर्थ हो चुका था। इसलिए पीठ के गर्दन तक भारी भारी तकियों पर ही बाबूजी को बैठाया जा सका। भूमि से उनके पाँव हमने हाथ से उठाकर ही खाट पर रखे। उनकी गर्दन ठीक ढंग से ठहर नहीं पा रही थी, इसलिए एक और तकिया उनके सिर के नीचे लगाया गया, तब बाबूजी स्वस्थ्य होकर बैठ सके।

बाबूजी ने बातचीत का सिलसिला आरंभ करते हुए कहा—"क्षमा करना भाई, आज तुम्हें बहुत प्रतीक्षा करनी पड़ी, क्योंकि मैं लघुशंका करने गया था, बड़ी कठिनाई से पेशाब हुआ, काफी समय लग गया।"

मैंने कहा—"बाबूजी! आपको इस समय आकर मैंने बड़ा कष्ट दिया। आप तो बड़े दुर्बल हो गये हैं।"

बाबूजी बोले—"हाँ भाई अब शरीर साथ नहीं देता, पर तुम आ गये यह बहुत अच्छा हुआ। रेडियो पर तुम्हारी वाणी तो नित्य सुनता हूँ परन्तु देखने की बहुत इच्छा थी। इस बार चीन के आक्रमण के बाद ब्रजभाषा में वीर रस के जो कार्यक्रम आपने दिये हैं वे बहुत अच्छे थे।"

बाबूजी की यह बात सुनकर मुझे कुछ आश्चर्य हुआ—"मैंने कहा बाबूजी क्या आप अस्वस्थ होते हुए भी रेडियो सुनते हैं।"

वे बोले—'अब मैं स्वयं तो कुछ पढ़ने लायक हूँ नहीं, आँखे साथ नहीं देतीं। कभी किसी से पढ़वा कर ही कुछ सुनता हूँ। मुख्य रूप से आजकल रेडियो से ही मुझे आत्मिक भोजन मिलता है। तुम्हारे ब्रजभाषा के कार्यक्रम का तो मैं एक नियमित श्रोता ही बन गया हूँ।" इसके बाद बाबूजी का समालोचक सजग हो उठा और उन्होंने कई कार्यक्रमों की समालोचना कर डाली। उनके गुण और दोषों पर अपने विचार व्यक्त किये, तथा बहुत कुछ पूछा भी और कहा भी।

इस बातचीत में लगा कि बाबूजी के शरीर के सब अवयव यद्यपि शिथिल हो गये थे, परन्तु उनका मस्तिष्क और विवेकपूर्ण रूप से स्वस्थ और जाग्रत था। यही नहीं साहित्य-चर्चा में वे अपने आप को अधिक स्वस्थ अनुभव करते थे।

किन्तु अधिक बोलने में उन्हें हँफहफी आती थी और उनके शरीर पर अधिक जोर पड़ता था। इसलिए मैंने उस प्रसंग को बदलते हुए कहा "बाबूजी इधर आपके कई पत्र मुझ मिले थे, उससे ऐसा आभास नहीं होता था कि आप इतने अस्वस्थ हैं।"

"हाँ शरीर कमजोर हो गया है, इसी से मैं अस्वस्थ हूँ, परन्तु रेडियो सुनकर जब कोई सुझाव या कोई विशष बात मन में आती है तो उसे लिख देता हूँ।" इसके बाद बाबूजी ने दिल्ली के कई व्यक्तियों की कुशल क्षेम मुझ से पूछी जिन्हें वे जानते थे।

मेरा हृदय यह देखकर श्रद्धा से भर गया कि आज जब बाबूजी को स्वयं अपनी देह की सार-सवाँर तक करने की सुधि नहीं रही है तब भी वे अपने शिष्यों, मित्रों और प्रेमियों की कुशल क्षेम के लिए हृदय से व्यग्र थे।

बाबूजी की उस अवस्था को देखकर मैं यह सब भली प्रकार समझ गया था कि बाबूजी की स्वस्थ आत्मा अब उनके जर्जर शरीर के भार को अधिक नहीं ढो सकेगी, परन्तु बाबूजी उस समय भी जीवन के प्रति आस्थावान थे, इसलिए ऐसी संभावना नहीं थी कि हिन्दी से उसके गुलाब की महक इतनी शीघ्र तिरोहित हो जायेगी, परन्तु स्वयं बाबूजी एक भक्त हृदय व्यक्ति थे और उन्होंने 'कर्म प्रधान विश्व कर राखा' पर जहाँ आस्था रखी वहाँ "हुइ है सोई जो राम रचि राखा" पर भी अटल विश्वास रखा और राम की इच्छानुसार ही वे हम सबको छोड़कर हमारे बीच से उठ गये।

यह ठीक है कि बाबूजी उन व्यक्तियों में नहीं हैं जो शरीर के साथ ही मर जाते हैं। उन्होंने जो देन साहित्य को दी है वह अभी युग युगों तक उन्हें अमर रखेगी, परन्तु साहित्यकार होने के साथ ही साथ बाबूजी के हृदय में अपने स्नेहियों के लिए जो एक सरस सागर लहलहाया करता था उसमें अवगाहन करने से जो लोग बंचित हो गये हैं उनका दुख दूर होने की संभावना अब कदाचित नहीं है। बाबूजी साहित्यकार के साथ साथ एक आस्थावान महामानव और विनोदी जीव थे जिनमें अभिमान नाम मात्र को भी न था और उनके लिए छोटे बड़े सभी समान थे तथा वे सदैव ही सबसे हृदय खोल कर मिलते थे।

●

कुँवर हरिश्चन्द्रदेव वर्मा 'चातक'

खिले हुए गुलाब

गुलाब फूलों का राजा है, भाविक की भावना है "चाहे एक साँझ के लिए ही मैं गुलाब बन जाऊँ, तुम मुझे अपनी कोमल उँगलियों से छुओ ! मेरे साथ खेलो ! और मुझे तोड़ कर अपने जूड़े में खोंस लो !" उस घड़ी को पकड़ना आसान नहीं है जब ऐसी भावना उठी होगी ?

जिसकी हर साँस एक मूक संगीत का स्वर है, जिसकी गोदी से सुरभीली सुबह अँगड़ाई लेकर उठती है, उसका स्पर्श कितना कीमती है ! फुल्ल गुलाब ही नहीं, गुलाव की कली भी कम नहीं है—

'यह रंग गुलाब की कली का–
नकशा है किसी की कमसिनी का'

लाज से लाल मुँह को देखकर गुलाब की याद आती है–

'फूल डूबा हुआ गुलाब में था–
उफ ! वो चेहरा हिजाब आलूदा' ।

गुलाब के साथ प्रकृति के हृदय की धड़कन गुँधी हुई है । लोगों के होठों पर दिलों में गुलाब सदा अमर है ।

यदि गुलाब बोल सकता तो क्या बोलता—इसमें तर्क की बहुत गुंजायश है, औरों की मैं नहीं जानता, मेरा कवि हृदय कहना चाहेगा–कि बसंत के स्वागत में जब गुलाब खिला होगा—और जब उसने प्यार का सपना देखा होगा—तो उस सपने में उसने निश्चय देखा

होगा—"कि भारतीय साहित्योद्यान में भी एक अमर गुलाब है—जिसका सौरभ दिग-दिगन्त में व्याप्त है। जिसके आगे मेरी क्या बिसात है।"

सच में श्री बाबू गुलाबराय जी ने जीवन को जीने की दृष्टि दी है। हिरण्य की चमक से जिनकी लेखनी की आभा मंद नहीं हुई। उन उँगलियों पर गिने जाने वाले साहित्यकारों में से—बाबू गुलाबराय जी भी एक थे। उनके गद्य में भी कविता बोलती थी। उनके गद्य की तुलना वासन्ती प्रभात की स्वर्णिम उषा या रंगीन इन्द्रधनुष से या कवि के कोमल गीति काव्य से की जा सकती है। पुष्प-भार से विनत हरसिंगार, या पवित्र चन्दन-वृक्ष सा बाबू जी का वृद्धत्व था।

आगरा में रहते हुये मैं चाहता था कि मेरी हर सुबह उनके पुण्य दर्शन से शुभ हो, मेरी हर साँझ उनके साहचर्य से गौरवान्वित हो।

दर्द के रिश्ते-सा मानवता का रिश्ता सबसे बड़ा है। बाबूजी उस रिश्ते के निभाने में सबसे आगे थे। मैं प्रायः उनके पास घंटों बैठकर सोचता था कि जिस मालिक ने इस गुलाब के होठों में हँसी भरी है, वही मालिक इसे सदा इसी प्रकार हरा-भरा हँसता रक्खे !

'यह गुलाब का फूल न मुरझाये
पहले ही आ जाना।
मेरे नयनों के नभ में प्रिय !
इन्द्रधनुष से छा जाना।'

शायद मेरे इस गीत की शुरुआत वहीं बैठकर हुई थी। मुझे गर्व है कि मैंने बहुत नजदीक से उनके जीवन को पढ़ा है। घंटों बैठकर विचार-विनिमय किया है। सदैव उन्होंने मेरा स्वागत एक निर्मल हँसी के साथ किया है। पूछने पर कहा है "कि वैसे तो ठीक हूँ, परन्तु बिल्कुल ठीक नहीं हूँ"। अस्तु कहीं मैंने पढ़ा था—'कि गीत गुलाब में—गुलाब टहनी में—टहनी बाग में—और बाग जमीन पर है। तब मैं सोचने लगा था 'कि भारत में आगरा, आगरा में बाबू गुलाबराय—गुलाबरायजी के जीवन में सुन्दर साहित्य, और साहित्य में लोक मङ्गल के तत्व, कैसा विचित्र सादृश्य है ?

गुलाबराय के जीवन में ही जो अपूर्व गुलाब खिला था—उससे अनुराग और आनन्द का जो भीना-भीना पराग चतुरस्त्र झरता था, रसेच्छुक भावुक भ्रमरों की उससे पूर्ण तृप्ति होती थी।

मुझे लगता है कि गुलाब मेरे हृदय में उग आया है। गुलाब मुझ में खिल रहा है—गुलाब की अथाह आवाज मुझ में फूटना चाहती है।

गुलाब के प्रगाढ़ स्नेह की छाया में जिन्दगी के क्षण कितने प्यारे लगते थे—

'जो तेरी याद से मामूरो नगमा ख्वाँ गुजरे—
वो लम्ह कितने हँसी किस कदर जवाँ गुजरे ?'

—डा० जिगर साहब

भोली लड़की के निश्छल उल्लास के ढेर-से, उलझे प्रश्नों के उत्तर-से मन के होठों पर रस की बिसरी पहिचान-से मेरे बाबूजी मुझे सदैव प्रिय लगते थे।

'ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैनन
त्यों-त्यों खरी निकरै सी निठाई ।'

बाबूजी ने भविष्य की पीढ़ी को अपना वर्तमान अर्पित कर दिया था । साहित्य-संगीत की जो वंशी उन्होंने छेड़ी उसके स्वर पतझरों में बसन्त खिलाते हैं । "छाती का रक्त दान देकर---उसने गुलाब की कलियाँ खिलाईं, तुम्हें शुद्ध सोना बना दिया, और खुद राख बनकर बिखर गया, खुद हुआ अमा-छाया और तुम्हारे घर को उसने सुख शान्ति और पूर्णिमा के चाँद से सजाया," उड़िया कवि के ये उद्‌गार मानो बाबूजी पर ही लिखे गये हों ? माँ की करुणा जैसे कभी नहीं थमती वैसे ही उनकी कोमल हृदय-वृत्ति और लेखनी अथक रहीं । आकाश के होंठ यदि सिये न होते तो शायद वह भी मेरे स्वर का साथ देकर यही कहता--"कि दिशाओं को महकाता हुआ यह गुलाब सबका है, इसे जी भर देखलो । प्यार कर लो । समय रहते इस भावना-पुष्प के परिमल से हृदय जुड़ा लो । इस आलोक से फैलने वाले प्रेम प्रकाश को नमस्कार कर लो । यह दिव्य है । स्तुत्य है !!"

श्री विसेन्त यूदोवारो की एक भावना है "कवियो ! तुम गुलाब पर क्यों लिखते हो, अपने गीतों में गुलाब खिलाओ ।" सो हमारा तो यह सशरीरी खिला हुआ गुलाब ही था--जिससे अहरहः साहित्य के गुलाब फूटते थे ।
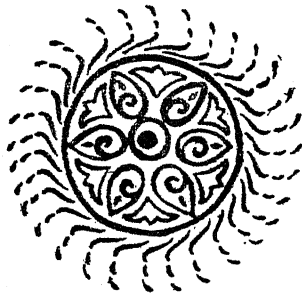
श्री रामवरणसिंह 'सारथी'

माटी के फूल

यह संसार एक प्रकार का उपवन है; एक कलाकार का गढ़ा हुआ मधुवन है। इस उपवन और मधुवन में अनेक प्रकार के पेड़-पौधे प्रतिदिन उगते, पनपते और फिर कालचक्र की झंका के झकोरे में पड़कर उखड़ कर टूट-फूट जाते हैं। प्राणी का शरीर भी एक प्रकार का माटी का पौधा है, जिसमें कर्म के विविध फूल खिलते हैं, लालसाओं की मंजरी लगती है, भावनाओं की टहनियों में मनोरथों के फूल लगते हैं। इन रेखाओं की सीमा में बाबू गुलाब राय जी एक प्रकार के माटी के फूल थे, जो खिले और खिलकर एक बार आँखों के देखते-देखते मुरझा गये। हाँ, छोड़ गये सिर्फ मादकतामयी परिमल के मीठे-मीठे तथा मधुर-मधुर····अपना सुगंध से ओत-प्रोत सौरभ। फूल विनष्ट हो चुका किन्तु उसके सौरभ का विनाश नहीं होगा। फूल की पंखुड़ियाँ टूट जायेंगी किन्तु उसकी मुस्कुराहट की रेखा दिन दिन खिलती ही रहेगी। मेरे विचार से बाबू गुलाबरायजी इसी ढंग के माटी के फूल थे। आज उनका शरीर हिन्दी-साहित्य संसार के बीच नहीं है, पर उनके कामों का मधुमय परिमल, गुणों का लावण्यमय सौरभ और तपों की सुगंध किसी भी दशा में नहीं मिट सकती। काल शरीर को छीनता है। जीवन को लूटता है, स्थूल रूप पर आक्रमण करता है, सूक्ष्म स्वरूप का तो वह बाल बाँका भी नहीं कर सकता। बाबू गुलाबरायजी के सूक्ष्म शरीर के आगे आज काल की दाल भी नहीं गल सकी है और उसकी क्रूरता की क्रूर आँखे वहाँ तक नहीं पहुँच पाई हैं। माटी के जिन फूलों में इस प्रकार के बल होते हैं, तेज रहते हैं, ओज की दीप्ति रहती है, संस्कार के सूर्य चमकते हैं, उन फूलों का नाश कभी नहीं होता। बाबू गुलाबरायजी काटों के बीच खिले थे,

मुसीबतों की हवाओं में पनपे थे, अनेक प्रकार की यातनाओं के मध्य पनपे थे, इस कारण आज भी उनकी साधनाओं की आभा से हिन्दी संसार का कोना-कोना प्रकाशित हो रहा है। उनकी साधनाओं की आभा आगरे के ताजमहल तथा सोमनाथ के मंदिर के समान है, जिनमें प्रेम और तप दोनों का समन्वय है। उनके जीवन का कोना-कोना तप और प्रेम के गाढ़े रंग में रंगा हुआ था।

आज की दुनिया तो चमक के पीछे पागल है, चटपटे आवरण के पीछे परेशान है; किन्तु, चमक और आवरण के मध्य ठोस वस्तु की तोल बहुत कम लोग करते हैं। बाबू गुलाब रायजी इसके विपरीत थे। वे अपने जीवन की यात्रा में चमक-दमक से बहुत दूर रहकर ठोस काम करना जानते थे। यही वजह है कि आज सचाई दुधारी तलवार बनती जा रही है। सच्ची बात कहने वालों का सिर काट लेने को बराबर तैयार रहते हैं तथा उसके पीछे उसे डुबाने के लिए संकट की सरिता प्रवाहित होने लगती है। समीक्षा शास्त्र के साधक होने के नाते बाबू गुलाबरायजी को सदैव सच्ची बात सत्य हरिश्चंद्र के समान कहनी पड़ती थी। कितने लोग उनकी बात को पढ़कर, सुनकर और देखकर तिलमिला उठते थे और कितने लोग उन्हें सच्ची बात लिखने से मना करने पर तुले रहते थे। साहित्यिकों की दुनिया में भी राज-नीति से विशेष चाटुकारिता की प्रवृत्ति बढ़ती चली जा रही है और साहित्य के विविध उपादन, काव्य, उपन्यास, कहानी कला, संगीत एवं नाटक में चारण प्रवृत्ति के समालोचकों की बाढ़ सी आ गई है। इन दिनों समालोचकों की भी बरसाती मेढ़कों की तरह बारात जमी हुई है। हर जगह उनकी गद्दी मानो सत्ताधारी राजनैतिक नेताओं की भाँति स्थापित हो रही है और उस स्थापित राजगद्दी पर बैठने के लिए हल्के-फुल्के विचारकों की कृपा से राजसिंहा-सन गढ़े जा रहे हैं। इस प्रकार के गंदे वातावरण एवं दूषित वायुमंडल के बीच पलकर बाबू गुलाबरायजी समीक्षा नहीं करते थे। जिस प्रकार सुयोग्य डाक्टर किसी रोगी को ठीक-ठीक जाँच तथा परीक्षा कर लेने के बाद ही उसे दवा लिखने एवं पथ्यापथ्य बतलाने का साहस करता है, और रोगी की अपनी अभिरुचि को ठुकराते रहता है, उसी प्रकार वे अपने जीवन में किसी भी साहित्यकार की कृति को तौलने में रचनाकार की रुचि की ओर ध्यान नहीं देते थे। छोटे से छोटे और बड़े से बड़े साहित्यकार भी अपनी रचना को सर्वश्रेष्ठ रचना सिद्ध करने के लिए समीक्षाशास्त्र में नित्य नवीन सिद्धांत घुसेड़कर अपनी बहादुरी एवं वीरता का फतवा देकर अपने सिर अनायास गौरव का राजमुकुट रखकर साहित्यिकों की गलियों में घूम-घूम कर सर्वश्रेष्ठता का संगीत गाते फिरते हैं। गुलाबरायजी को इस प्रकार की छिछली प्रवृत्ति को विनष्ट करने में अपनी कर्तृत्व शक्ति का सबल प्रमाण देना पड़ा।

गुलाबरायजी में मानवोचित सहृदयता की पवित्र गंगा प्रवाहित होती रहती थी, जिसके चलते उनके यहाँ अथवा उनके जीवन के किनारे विविध विचारों, विविध प्रकृतियों के नवीन अथवा चूड़ांत साहित्यकारों की भीड़ लगी रहती थी। वे समदर्शी बनकर अपनी शक्ति के अनुसार दोनों तरह के कलाकारों को प्रतिष्ठा देने में अपना गौरव मानते थे। किसी छोटे साहित्यकार की भी रचना को वे रद्दी की टोकरी में फेंक कर निश्चित बन जाने की कला को अपने जीवन के आवास में नहीं अपनाये थे। प्रत्येक साहित्यकार की रचना को वे

गौर से पढ़ते थे और यदि उस रचना को 'साहित्य संदेश' के अनुरूप नहीं पाते थे, तो वे उसे लौटा देने की व्यवस्था करते थे। इस तरह छोटे-छोटे साहित्यकार अथवा बड़े-बड़े साहित्य-क.र अपनी रचना की त्रुटि को स्वयं समझते थे और पुन: उसमें सुधार करने का प्रयास करते थे। इस तरह उनमें सर्जनात्मक प्रकृति की बहुलता थी। सर्जनात्मक प्रवृत्ति से साहित्यकारों को भी बहुत लाभ पहुँचता है। सर्जना में मौलिकता काम करती है। सर्जना का काम करना आसान नहीं है। सभी सृजनहार कहलाने का दुस्साहस नहीं कर सकते। बाबू गुलाबरायजी सृजन भी करते थे और संकलन भी कर लिया करते थे। नवीन साहित्यकारों तथा समीक्षकों के सृजन करने में उनका विशेष हाथ रहा है। 'साहित्य संदेश' के द्वारा उन्होंने साहित्यकारों और समीक्षकों दोनों की सर्जना की है।

समीक्षा शास्त्र के प्रत्येक डगर को साफ सुथरा रखना बाबू गुलाबरायजी का ही अपना काम था। पाश्चात्य और प्राचीन परम्परा की सुरक्षा करते हुए वे समीक्षा करने के सभी दृष्टिकोण को अपनाकर समीक्षा किया करते थे। उनकी समीक्षायें पाश्चात्य और प्राचीनता दोनों का सम्मिश्रण हैं। ऐसा लोगों का विचार है कि समीक्षाशास्त्र के जितने सबल और प्रामाणिक सिद्धान्त पाश्चात्य देश के विचारों के पास उपलब्ध हैं, उतना भारतीय विचारकों के पास संचित नहीं है। समीक्षात्मक सिद्धान्त की दिशा में भारतीय विचारक बिल्कुल पिछड़े हुए हैं। यह युग विज्ञान और तर्क का है। समीक्षा में विज्ञान और तर्क की प्रधानता रहती है। साधारणत: इस कथन में बहुत अधिक सचाई दिखलाई पड़ती है। क्या भारतीय विचारक विज्ञान और तर्कशास्त्र से अनभिज्ञ और कोरे थे ? वैदिक-संस्कृत और लौकिक-संस्कृत साहित्य में विज्ञान की प्रचुरता नहीं है तो फिर विश्व के किस देश के साहित्य में विज्ञान की भरमार है ? खेद है कि हमारे यहाँ के समीक्षक भारतीय काव्य-साहित्य के वैज्ञानिक पहलू अपना कर साहित्य-शास्त्र और काव्य-शास्त्र पर विचार अभिव्यक्त करने वाले मनीषी चिंतकों की वाणी को अध्ययन नहीं करते। बाबू गुलाबरायजी दोनों तरह के विचारों को अपनाकर समीक्षा किया करते थे। आधुनिकता का वे परित्याग करना नहीं चाहते थे और प्राचीनता से विलग रहने के भी पक्ष में नहीं थे, उनमें यह एक बहुत बड़ी बात थी। यह उनमें विशिष्ट प्रकार की साधुता थी, प्रतिभा थी, सूझ थी और ज्ञान की प्रभा थी। यह ठीक है कि आज की दुनिया पहले की अपेक्षा बहुत छोटी हो गई है; लोग एक दूसरे के संपर्क में सुगम्य तरीके से आ गये हैं, और लोग एक दूसरे से जुड़ गये हैं। परन्तु प्राचीन और नवीन दोनों को जोड़-तोड़ करने वाली भावनाएँ बिल्कुल भारतीय हैं। भारतीय भावनाओं में विघटन की प्रकृति से संगठन की प्रकृति अधिक है। लोग भावना से मिलते हैं, जुड़ते हैं और टूटते-फूटते हैं। बाबू गुलाबरायजी इस गूढ़ रहस्य को भली भाँति समझते थे और इस कारण उन्होंने अपनी समीक्षा में दोनों प्रकार के विचारों को अपनाया तथा उससे काम किया।

बाबू गुलाबरायजी के सामने बहुत प्रकार की समस्याएं थीं। जितनी समस्याएँ उनके पास थीं, आज उतनी समस्याएँ नहीं हैं। देश पराधीन था। पराधीन देशों के नागरिकों में बड़ी विचित्रता रहती है। जनक्रांति और राष्ट्रीय क्रांति के नाम पर काव्य और कविता में

अजीब-अजीब ढंग की लहर उठ खड़ी होती है। बाबू गुलाबराय के सामने भी ऐसी ही समस्याएँ उपस्थित हुईं। कुछ लोग किसान और मजदूर को प्रमुखता देकर मार्क्स सिद्धान्त को अपना कर कविता और साहित्य के प्रत्येक अंगों में प्रगतिवाद का आवरण देखना चाहते थे। वे संम्पूर्ण साहित्य को प्रगतिवाद के गाढ़े रंग में रंग देने की क्रिया कर रहे थे। मार्क्स के चरण-चिन्हों को अपना कर चमकने वाले साहित्यकारों के लिए साहित्य तथा काव्य की आत्मा प्रगतिवाद थी। उनके लिए 'प्रगतिवाद' ही सब कुछ था। और कुछ लोग गाँधीजी के विचारों के पोषक बनकर प्रगतिवाद की निन्दा करने लगे थे। राष्ट्रीयता उमड़ रही थी। राष्ट्र की सदियों की तंद्रा टूट रही थी। जन-जागृति अंगड़ाई ले रही थी। इस कारण हर जगह क्रांतिकारी भावना फूल-फल कर पनप रही थी। गाँधीवादी लोग 'राष्ट्रीयता' की धारा में प्रवाहित होकर कविता करने लगे थे। कुछ सरदार भगतसिंह, खुदीराम बोस वगैरह वाम पंथियों की टोलियों में विभक्त होकर कविता की रचना करने लगे थे। अजीब सरगर्मी थी। बड़ी विचित्र सुगबुगाहट थी और अनोखी सनसनी थी। पलायनवाद से लेकर छायावाद, रहस्यवाद, प्रतीकवाद, नियतिवाद और सामंतवाद की हवा साहित्य-संसार में बड़ी जोर से चल रही थी। लोग एक दूसरे से अलग रह कर काम करने लगे थे। ऐसी अवस्था में एक चतुर माली के समान सभी तरह के विचारों के फूलों को बाबू गुलाबरायजी ने अपनी समीक्षा के धागे में गूंथ कर एक सुन्दर माला बना दिया। बहुत लोगों की बुद्धि चकरा रही थी और वे अंधेरे में भटक रहे थे। गुलाबरायजी ने सबों को 'साहित्य-सन्देश' में न्योता देकर बुलाया और सबों को विचारों को सम्मान के साथ अभिव्यक्त करने का सुनहरा मौका दिया। इस प्रकार कुछ दिनों के बाद लोगों के दिलों में जो मनोमालिन्य था, उसका परिहार हुआ। द्वेष के दैत्य का अंत हुआ। क्रोध का वेग शांत हुआ। अंधकार मिटा। कुहासा साफ हुआ। उन्होंने कितना बड़ा महान काम किया। इतनी बड़ी शक्ति बाबू गुलाबराय में थी। आज वह शक्ति चिन्मयता में मिल गई है। चेतन पुरुष में परिलिप्त हो गई है। हम इसके लिए चिन्तित हैं, विह्वल हैं, बेचैन हैं और आँसू बहाते हैं। यह ठीक भी है। क्योंकि मनुष्य दुर्बल प्राणी है। किन्तु, अच्छा मनुष्य वही है, जो उनके चरण-चिन्हों को अपना कर आगे बढ़े और उनके कामों को पूरा करने में अपने जीवन को लगा देने में गौरव माने।

●

डा. ब्रजगोपाल तिवारी

आकर्ले के 'बाबा राव'

"इंगलैंड से, जहाज द्वारा, बंबई से रेल द्वारा, और हरपालपुर से कार द्वारा, छतरपुर पहुँचे हुए, मुझे केवल ५ मिनट ही हुए थे; कपड़े बदलना तो दूर रहा, मैं मुँह भी न धोने पाया था कि एक मोटा सा, बद-शकल, भद्दे वस्त्र-धारी व्यक्ति मेरे (गेस्ट-हाऊस वाले) कमरे में घुस आया और पर्दा उठाकर, शान से, बोला, 'हिज़ हाईनेस, महाराजा साहब'। इतने में, मोटे आदमी के पीछे पीछे ही एक व्यक्ति और भी आ गया ...."—यह है उन शब्दों का थोड़ा सा रूपान्तर, जिनके द्वारा ऑकर्ले महोदय ने बाबू गुलाबराय के विषय में अपनी प्रथम धारणा चित्रित की है। बाबू गुलाबराय ही प्रथम भारतीय थे, जिनसे उसका परिचय इस देश में पहुंचने पर हुआ।

पर पांच महीने भी बीतने न पाए थे कि इस अंग्रेज पत्रकार की (बाबू गुलाबराय विषयक) धारणा में बड़ा परिवर्तन हो गया; इसके मन में तिरस्कार के स्थान पर प्रशंसा का उदय हुआ। जब बाबूजी कुछ दिनों की छुट्टी पर, छतरपुर से आगरा जाने वाले थे, यही ऑकर्ले उनके चलने के पूर्व, उनके घर पर जाकर, उनसे मिला; यह दोनों का अन्तिम संपर्क होना था, क्योंकि प्राय: १५ दिन बाद ही ऑकर्ले स्वयं सदा के लिये, इंगलैंड वापस जाने वाला था। अत: इस अन्तिम संपर्क के बाद, यह अंग्रेज़ लेखक बाबूजी के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए, उन्हें एक 'दयालु और नेक सज्जन' के रूप में निरूपित करता है। इस प्रकार, पहली धारणा, ऑकर्ले के मन में, अन्त में, प्रशंसा का रूप धारण कर लेती है।

यह परिवर्तन (विकास) हुआ कैसे? ऑकर्ले कलाकार , प्रसिद्ध रोज़नामचा-नवीस,

तो अवश्य है, पर बाबू गुलाबराय के चरित्र-चित्रण के विकास-क्रम में, उसने जान-बूझ कर किसी शैली का प्रयोग नहीं किया है। अतः उसकी धारणा का यह परिवर्तन उन (प्रायः) दैनिक संपर्कों और संवादों का फल है, जिनके द्वारा दार्शनिक गुलाबराय ने इस अंग्रेज लेखक को भारतीय रीतियों, नीतियों, परम्पराओं, विचारों आदि का परिचय दिया था। इस विद्वान् भारतीय दार्शनिक और साहित्यिक के ठोस चरित्र, दृढ़ आत्मबल और आन्तरिक सच्चाई ही का प्रभाव था, जिसके कारण ऑकर्ले को अन्त में, इनकी नेक, दयालुता और सज्जनता की प्रशंसा करनी पड़ी।

ऊपर से, राजकुमार के शिक्षक, पर यथार्थ में, स्वयं महाराज साहब के मुसाहिब के रूप में सन् १९२४ के आसपास जे. आर. ऑकर्ले (J.R. Ackerley) छतरपुर में दिसम्बर से मई के प्रथम सप्ताह तक रहा। उसने अपने रोजनामचे में प्रायः प्रत्येक दिन की दिनचर्या का जीता-जागता वर्णन लिखा है। यह अंग्रेज पत्रकार न तो विद्वान ही था और न ही इसका किसी वाद या धर्म से सम्बन्ध था; फिर भी इसकी सहानुभूति निर्धनों के प्रति अवश्य थी। इसकी 'डायरी' 'ए हिन्दू हॉलिडे' ('A Hindoo Holiday') अर्थात् 'हिन्दुओं के बीच में कुछ छुट्टी के दिन' के नाम से प्रकाशित हुई थी और अब भारत में दुष्प्राप्य है। शायद उस समय की अंग्रेज़ सरकार के सुझाव पर इसके पात्रों के नाम बदल दिये गये थे; इस प्रकार इसमें बा. गुलाबराय को 'बाबा राव' का नाम दिया गया था।
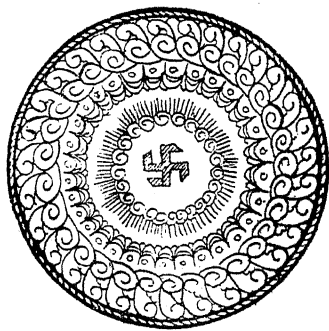
श्री सत्यप्रकाश मिलिंद

आचार्य प्रवर

चुस्त पाजामें और लम्बे बन्द गले के कोट में काले फ्रेम का चश्मा लगाए और टोपी लगाए इस वयोवृद्ध तपस्वी को देख कर कभी कभी तो वकील के किसी मुंशी का या पुराने सेठ-साहूकार का ही अनुमान भले लगाया जा सकता हो, पर इतने महान् साहित्यकार, विचारक या दार्शनिक होने की तो कल्पना भी कर सकना संदिग्ध सा लगता था।

बाबूजी की बाह्य-आकृति को देखकर ऐसी कल्पना निश्चय ही नहीं की जा सकती थी कि वह साहित्य अन्वेषक इतनी सामंजस्यकारी गहराई तक इतनी मज़बूती से पैठ सकता था और इसकी लेखनी से इतने अच्छे साहित्य का आविर्भाव भी हो सकता था। गम्भीर चिन्तन और गहन-विचारणा के बाद भी बाबूजी की विनोद-प्रियता एक उदाहरण बन गई थी।

मैं कई बार शान्ति के क्षणों में उस महान् साहित्यकार के व्यक्तित्व और कृतित्व पर जब दृष्टि डाल कर देखता हूँ तो ऐसा लगता है कि उनकी कीर्ति-कौमुदी की प्रभा अत्यधिक विस्तृत बन गई थी। उस महान् साहित्य-उन्नायक ने अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक साहित्य साधना को जिस तत्परता से निभाया, उससे हम हिन्दी के प्रेमियों को निश्चय ही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। सरस्वती का वह लाड़ला पुत्र जिसने वकालत पास की हो और जो १६ वर्ष तक छतरपुर में प्राइवेट सेक्रेटरी के रूप में कार्य करता रहा हो, कटुतम संघर्ष करके हिन्दी माँ के श्रीचरणों में निरंतर साधनारत हो सका। उर्दू से विद्याध्ययन प्रारम्भ करने वाला यह महान् साहित्यकार संसार की कठोर वास्तविकताओं से जूझता हुआ आगे बढ़ा और जीवन के अन्तिम दिनों में तो उसका मनन, चिन्तन और विचार-प्रकाशन इतना गहन और मूल्यवान हो गया था

कि हर व्यक्ति उससे मार्गदर्शन के लिए लालायित रहता था। मेरे ऊपर बाबूजी की जो महान् कृपा थी, उसको शब्दों द्वारा आंक सकना मेरे लिए सम्भव नहीं है। मैं समझता हूं कि आज बाबूजी के उठ जाने से निश्चय ही मेरे ऊपर से एक बहुत बड़ा साया उठ गया है। अभी पहली फरवरी को बाबू जी का जो पत्र आया था, वह उनके अपने हाथ का न था। केवल अन्त में जो कुछ पंक्तियां उन्होंने अपने हाथ से बढ़ाई थीं, वैसी पचासों पंक्तियां उनके हाथ की ही मेरे पास उनके अनेक पत्रों में भरी पड़ी हैं :—"आप भी प्रोस्टेट से पीड़ित रहते हैं, यह जानकर दुःख हुआ। उसका अच्छी तरह से इलाज कराते रहिए। अवहेलना मत कीजिए। अपना हाल लिखते रहा करें। मेरा स्वास्थ्य ऐसा ही चल रहा है किन्तु ठीक है। शुभकामनाओं सहित। गुलाबराय।"

बाबूजी बहुत ही दृढ़-संकल्प थे और उनकी राष्ट्रीय विचारधारा बहुत ही अडिग थी। 'मेरी असफलताएँ' में उन्होंने स्वयं ही लिखा था:—"जब मैं किसी बात का संकल्प कर लेता हूं, तो उसकी पूर्ति के लिए अन्ध-प्राय हो जाता हूं।" मेरी दृष्टि में यही दृढ़ संकल्प-प्रवृत्ति बाबूजी की महान् सफलता का मूलमन्त्र थी। जीवन को पूर्ण अविभाज्य इकाई मान कर ही आचार्यश्री ने आज की दुनियाँ की विखंडन की नीति का कई बार अपने निजी पत्रों में मुझे विरोध करते हुए लिखा था। एक व्यक्तिगत पत्र में श्रद्धेय बाबूजी को मैंने विदित नहीं कैसे लिख दिया था कि आपको तो अब तक किसी न किसी विश्वविद्यालय को डी. लिट् देकर अपने को सम्मानित कर ही देना चाहिए था तो उन्होंने कितने स्पष्ट शब्दों में लिखा होगा कल्पना करके देखिए :— "डी. लिट् की बात आजकल व्यक्ति की उपासना है। दूसरे, उसके मिलने न मिलने से विशेष हानि लाभ भी नहीं है।"

बाबूजी शतवर्षी होंगे, मेरी ऐसी धारणा सी बन चुकी थी, पर पता नहीं क्यों किस कारण किस जल्दी में वे इस दुनियां से कूच कर गए। विश्वामित्र, व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी, कबीर, निराला, शुक्लजी और द्विवेदी जी का वह वंशज भी आज स्वर्ग में जा कर अपने पूर्वजों से मिलने को उतावला हो उठा। हम हिन्दी सेवी और प्रेमी आज इस नये दैवी प्रहार को कैसे और कितना सहन कर सकेंगे, इसकी कल्पना मात्र से ही हम तिलमिला उठते हैं।

कुछ दिन हुए मैं मोहवश बाबूजी को कह बैठा कि अब वे श्रम करना कम कर दें तो उन्होंने तुरन्त ही उत्तर दिया था कि "वे अगर चलना-फिरना और काम करना छोड़ दें तो जल्दी ही उनका शरीर बेकार हो जावेगा।" निश्चय ही इसी कारण पिछले कुछ दिनों से स्वास्थ्य काफी खराब हो जाने पर भी बाबूजी ने अपने जीवन में काम करने की प्रवृत्ति को समाप्त नहीं होने दिया।

बाबूजी के ये अमूल्य पत्र, इनकी एक एक पंक्ति और इनका एक एक शब्द आज मेरी आँखों के आगे आ कर अनेक धुंधले और बिखरे चित्र ला कर खड़ा कर देते हैं। उनके पांडित्य के प्रति तो आज समस्त विश्व ही सादर सिर झुकाता है, पर मेरी और भी अधिक आस्था उनके सहज स्वभाव, उनकी सादगी और सब से ऊपर उनकी मधुर स्पष्टवादिता के प्रति है। मुझे ऐसा लगता है कि यह दैवी प्रहार मेरे जीवन के संघर्ष को और भी बढ़ा देगा क्योंकि व्यक्तिगत ऊहापोह और मानसिक सन्ताप के क्षणों में जिस महर्षि और मनीषी की ओर मैं प्रायः विश्वास और श्रद्धा के साथ निस्संकोच देख सकता था वह भी आज उस अनन्त पथ पर चला गया जिससे आज तक न लौटकर कोई आया ही है और न आएगा ही।

●

श्री सेवक वात्स्यायन

शालीनता की मूर्ति

बाबू गुलाबराय से मेरा परिचय एक संयोग की बात थी। सन् '५९ में मैं एम. ए. हिन्दी परीक्षा की तैयारी कर रहा था। आलोचना के प्रश्न पत्र के लिये डा. भगवत्स्वरूप मिश्र का प्रकाशित शोध-प्रबन्ध "हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास" देखने के पश्चात् बाबूजी का 'सिद्धान्त और अध्ययन' पढ़ने का अवसर मिला और पाया कि एक उद्धरण अँग्रेजी में-- 'To have sensations······critic' जो मिश्रजी ने अपनी कृति में कार्लाइल के नाम से दे रखा था। बाबूजी के 'सिद्धान्त और अध्ययन' में स्पिनगर्न के नाम से उल्लिखित था। दोनों तो शुद्ध हो ही नहीं सकते थे, मैं किसे ठीक मानूँ, इस अनिश्चय में मेरी बुद्धि उक्त दोनों ही विद्वानों को शंका की दृष्टि से देखने लगी। इतने से ही सन्तोष नहीं हुआ। मैंने छानबीन और पूछताछ प्रारम्भ की किंतु मुझे सन्तोष नहीं हुआ।

डा. भगवत्स्वरूप मिश्र को अपनी पुस्तकीय शंका पहिले ही लिख चुका था, उत्तर नहीं मिला। और बाबूजी को संकोचवश अभी तक नहीं लिख सका था। अनुभव के कारण पर कुछ यह अविश्वास भी था कि बड़े लोग, हर ऐरे गेरे को, महत्त्वपूर्ण पत्रों का भी उत्तर नहीं देते। क्योंकि अब कोई चारा न था। मैंने निराश भाव से बाबूजी को लिखा और जिसकी सम्भावना अत्यल्प थी--सप्ताह भर के भीतर ही बाबूजी से अग्रोल्लिखित कृपा-पत्र उपलब्ध हुआ।

प्रिय वात्स्यायन जी,

कृपा पत्र मिला, तदर्थ धन्यवाद। स्पिनगर्न की किताब इस समय मेरे पास नहीं है। सम्भव है स्पिनगर्न ने कार्लाइल का उद्धरण दिया हो। ऐसा ही पत्र श्री मिश्रजी को लिखकर पूछ

लीजिएगा। उन्होंने अपनी थीसिस में लिखा है वह अधिक प्रामाणिक होगा। अधिक प्रकाश न डाल सकने के लिए क्षमा याचना सहित--गुलाबराय।"

पत्र स्पष्ट बताता है कि लेखक ने चर्चित उद्धरण स्पिनगर्न का ही बताया जो सही था। स्पिनगर्न की पुस्तक का उल्लेख स्पष्ट है और यदि कार्लाइल का होता तो भी बाबूजी ने स्पिन गर्न द्वारा ही उद्धृत देखा था। पत्र के प्रारम्भिक दो वाक्य इस तथ्य के प्रमाण हैं। तब तक मुझे स्पिनगर्न की पुस्तक मिल गई और शंका का पूर्ण समाधान हो गया। आगे अप्रैल में डा. मिश्र का भी पत्र मिला कि यह वाक्य स्पिनगर्न का ही है। द्रष्टव्य यह है कि बाबूजी ने अपनी बात के सही होने का विश्वास रखते हुए भी दूसरे की सम्मान-रक्षा का उत्तरदायित्व (पत्र का तीसरा वाक्य) कितनी विनम्रता से निभाया है जो बाबूजी के व्यक्तित्व के विषय में तुलसी की यह उक्ति चरितार्थ करता है 'सबहिं मान प्रद आपु अमानी'। पत्र की अन्तिम पंक्ति उनके शिथिल शरीर बल की ओर संकेत करती है। यद्यपि अब आयु ने उन्हें जर्जर बना दिया था। किन्तु विद्या-प्रदत्त विनय उनका नित्य अलंकार बना रहा।

आगे जब भी मुझे कोई साहित्यक अथवा वैयक्तिक शंका और समस्या होती, मैं बाबूजी से अत्यन्त आत्मीयता-पूर्ण समाधान पाता। इधर पर्याप्त समय से मैं उन्हें नहीं लिख सका था कि अकस्मात् गत १५ अप्रैल के हिन्दुस्तान टाइम्स में उनके निधन का दुस्समाचार पढ़ा। हिन्दी के ढहते दुर्ग की एक और दीवाल टूट गई। मैंने उनके पत्र ढूँढ़ने चाहे किन्तु मुझ से पहले दीमक उनका भोजन कर चुकी थी। केवल पूर्वोल्लिखित एक पत्र कुछ स्वस्थावस्था में मिला, सौभाग्य से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण।

इस महात्मा के चिर वियोग की व्यथा के साथ मार्मिक वेदना इस बात में हुई कि जहाँ नेताओं के छींकने,खाँसने और सर्दी-जुकाम तक के विस्तृत हवाले समाचार-पत्रों में दिये जाते हैं, चोरी, डकैती, और बलात्कार के समाचार मोटे अक्षरों में प्रकाशित किये जाते हैं, वहाँ भाव और वाणी के सम्राट् साहित्यकारों की मृत्यु जैसी घटनाओं के लिए केवल तीन-चार पंक्तियाँ। सचमुच वे हिन्दी के अग्रणी निबन्धकार थे। बाबूजी अपने व्यक्तित्व में इतने महान और बुजुर्ग थे कि चिरयौवना मृत्यु भी उन तक सकुचाती और लजाती अवगुण्ठन में आई होगी और उनके यशःशरीर की ओर तो भला वह देख ही क्या सकी होगी।

●

श्री मन्हेंद्र रायजादा

सहृदय साहित्यिक

स्वर्गीय बाबू गुलाबरायजी के दर्शन करने का प्रथम सौभाग्य मुझे ३० दिसम्बर १९४८ को प्राप्त हुआ था। साहित्यरत्न की मौखिक परीक्षा देने प्रातः ६ बजे जब मैं हर्बर्ट कालेज, कोटा के प्रांगण में पहुँचा तब ज्ञात हुआ कि आगरा से श्रद्धेय बाबू गुलाबरायजी हमारी मौखिक परीक्षा लेने आये हैं। यह सूचना प्राप्त कर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि हिन्दी के एक उच्चकोटि के विद्वान, साहित्यकार हम लोगों की मौखिक परीक्षा लेने आये हैं तथा उनके दर्शन करने का हमें सौभाग्य प्राप्त होगा। साथ ही मन में अनेक प्रकार की आशंकाएँ भी उत्पन्न होने लगीं न मालूम यह साहित्य-महारथी क्या-क्या पूछेगा। यह सब कुछ मैं सोच ही रहा था कि मेरा नाम पुकारा गया। सहसा मैं चौंक गया कि प्रथम परीक्षार्थी के रूप में मौखिक परीक्षा के लिए मुझे ही बुलाया गया था। कालेज भवन में प्रवेश करते ही मैंने देखा कि भवन के बीच में एक बड़ी मेज के सामने एक कुर्सी खाली रखी थी तथा टेबुल के दूसरी ओर दो कुर्सियाँ रखी थीं, जिनमें से एक पर श्रद्धेय बाबूजी तथा दूसरी पर हमारे हिन्दी के प्राध्यापक श्री तिवारीजी विराजमान थे। मैंने सर्वप्रथम उन्हें सादर अभिवादन किया, प्रत्युत्तर में बाबूजी ने सिर हिलाया तथा 'बैठिए'––कहा। मैं सामने की रिक्त कुर्सी पर बैठ गया। मोटे फ्रेम वाले चश्में से दो बड़ी-बड़ी आँखें मेरी ओर दस पंद्रह सेकिंड तक देखती रहीं, तत्पश्चात् बाबूजी ने प्रश्न पूछना प्रारम्भ किया तथा पूछते ही चले गये। प्रश्नों की झड़ी लगादी––प्रसाद, प्रेमचन्द, कबीर शुक्ल जी आदि के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न क्रमशः पूछे और मैं अपनी बुद्धि के अनुसार उत्तर देता चला गया। लगभग ३० मिनट तक निरन्तर पूछते रहने के पश्चात् वे बोले, "धन्यवाद, अब आप जाइये।"

परीक्षा भवन से जब मैं बाहर आया पसीने पसीने हो रहा था । भवन से बाहर आकर मैं खड़ा ही हुआ था कि गुरुवर प्रो० तिवारीजी ने बाहर आकर कहा, "महेन्द्र, तुम यहीं रुकना, जाना मत ।" और इतना कहकर वे पुनः अन्दर चले गये। मैंने सोचा लगभग ३० मिनट तक झकझोरने पर भी सम्भवतः परीक्षक महोदय सन्तुष्ट नहीं हुए, क्या मुझे पुनः मौखिक परीक्षा के लिए बुलाया जावेगा ? शेष परीक्षार्थियों को एक एक कर बुलाया गया और मैं बाहर बैठा प्रतीक्षा करता रहा । अन्तिम परीक्षार्थी ने बाहर आकर मुझ से कहा, "आपको अन्दर बुलाते हैं ।" मैंने भवन के अन्दर प्रवेश किया ही था कि प्रोफेसर तिवारीजी मिले और मेरे कंधे पर हाथ रखते हुए बोले, "बाबूजी तुम्हारे उत्तरों से संतुष्ट हुए हैं । आज रात्रि की गाड़ी से वे आगरा जायेंगे । हिन्दी समिति के तत्वावधान में आज तीन बजे कालेज में उनका प्रवचन होगा, तुम सारी व्यवस्था कर लेना ।" इसी बीच बाबूजी कुछ कागजों को समेटकर तथा टोपी सिर पर लगाते हुए हम लोगों की ओर ही आये और उनके निकट आते ही प्रो. तिवारीजी ने मेरा परिचय सा देते हुए कहा, "यह महेन्द्र रायजादा हमारे कालेज की हिन्दी समिति के मंत्री हैं ।... आपको कालेज के छात्रों से उपदेशात्मक दो शब्द कहने के लिये तीन बजे पधारना होगा ।" बाबूजी मूँछों में किंचित् मुस्कराये फिर बोले "ये महेन्द्र और छात्र मेरा पीछा ही नहीं छोड़ते····। अच्छा तो अब चलिये, तीन बजे आना ही पड़ेगा ।" बाबूजी द्वारा कहे गये प्रथम वाक्य में अन्तर निहित व्यंग्य तब तो मैं नहीं समझ पाया था । ठीक तीन बजे बाबूजी कालेज के सभा भवन में पधारे और अपना सारगर्भित उपदेश अत्यंत सरस एवं प्रभावशाली भाषा में दिया । सभी उपस्थित श्रोतागण मंत्रमुग्ध से बैठे रहे । उनके इस प्रथम प्रवचन को सुनकर मैं भी बहुत अधिक प्रभावित हुआ था और वह सदैव के लिए आचार्य श्री गुलाबरायजी के साहित्यिक व्यक्तित्व की अमिट छाप छोड़ गया ।

एम. ए. करने के पश्चात् अग्रज श्री राजेन्द्रजी के परामर्श से मैं जुलाई १९५१ में आगरा नागरी प्रचारिणी सभा में अध्यापन कार्य करने के लिए चला गया तथा 'साहित्य रत्न भंडार' के स्वामी तथा 'साहित्य-संदेश' के वर्तमान सम्पादक श्री महेन्द्रजी का कुछ दिनों तक अतिथि बनकर रहा । आगरा पहुँचने के प्रथम दिन ही सन्ध्या के समय श्री महेन्द्रजी की कोठी (बंगले, पर श्रद्धेय गुलाबरायजी से कोटा के पश्चात् दूसरी बार साक्षात्कार करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । सौम्य स्वभावधारी, सादगी एवं शान्ति की प्रतिमूर्ति बाबूजी को सामने, दूर से आता हुआ देखकर मैंने तुरन्त ही उन्हें पहचान लिया और उठकर अभिवादन किया । बाबूजी मुझे देखते ही कुछ ठिठके और मेरी ओर दृष्टि गड़ाये कुछ क्षणों तक देखते रहे । इतने में ही श्री महेन्द्रजी ने कहा, "यह मेरे नाम राशि हैं, राजेन्द्र सक्सेना के छोटे भाई हैं, नागरी प्रचारिणी में अध्यापन कार्य के लिए कोटा से आये हैं ।" बाबूजी मेरे निकट ही मूढ़े पर बैठ गये । मैंने उन्हें उनके कोटा पधारने तथा साहित्यरत्न की मौखिक परीक्षा लेने की बात स्मरण दिलाई । उन्होंने कहा, "तभी मैं सोच रहा था कि सम्भवतः तुम्हें कभी कहीं देखा है ।" इसके पश्चात् बाबूजी तथा श्री महेन्द्रजी के बीच काफी देर तक बातचीत होती रही । तब बाबूजी 'साहित्य संदेश' के यशस्वी सम्पादक थे ।

इसके पश्चात् तो, आगरा में श्रद्धेय बाबूजी से मिलने के अनेक अवसर प्राप्त हुए। कभी 'साहित्य-रत्न भण्डार' में कभी 'नागरी प्रचारिणी सभा' में तो कभी उनके निवासस्थान पर उनके दर्शन करने का अनेक बार सौभाग्य प्राप्त होता ही रहता था। नागरी प्रचारिणी सभा में उन दिनों पाक्षिक गोष्ठियाँ होती थीं उनमें बाबूजी पधारते थे। इसके अतिरिक्त प्रगतिशील लेखक संघ की गोष्ठियों में भी वे बहुधा पधारते थे। डा. रामविलास शर्मा, डा सत्येन्द्र पं० हरिशंकर शर्मा, स्वर्गीय रांगेय राघव, डा. पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', श्री राजेन्द्र यादव भी इन गोष्ठियों में सक्रिय रूप से भाग लेते थे।

उन गोष्ठियों में विभिन्न साहित्यकारों द्वारा रचनाएँ पढ़ी जाती थीं। रचना पढ़ने के पश्चात् रचना के सम्बन्ध में विचार-विनिमय तथा आलोचनायें-प्रत्यालोचनायें प्रस्तुत की जाती थीं। अंतिम आलोचना श्री गुलाबरायजी की ही हुआ करती थी और सभी लोग उनकी बात को मान्यता एवं सम्मान प्रदान करते थे।

श्रद्धेय बाबूजी नये लेखकों को सदैव प्रोत्साहन देते थे तथा उनकी रचनायें बड़े मनोयोग से सुनते थे। जहाँ भी अपेक्षित होता था उसमें उचित सुधार करने का सद्परामर्श भी दिया करते थे। सुझाव देने का ढंग उनका इतना सरस और सौहार्दपूर्ण हुआ करता था कि पता ही नहीं चलता था कि साहित्य का यह आचार्य कितना अमूल्य सुझाव दे रहा है और नवोदित लेखक की रचना में चार चाँद लग जाया करते थे। उन दिनों मैंने गुलेरी जी की अमर कहानी 'उसने कहा था' पर एक आलोचनात्मक लेख लिखा था। बाबूजी ने उसे देखा था और पसंद किया था साथ ही उन्होंने उसमें कुछ सुधार करने का सद्परामर्श भी दिया था। मुझे भी उनका स्नेह प्राप्त होता रहता था, वे सदैव मुझे अपने अमूल्य सद्परामर्श से लाभान्वित किया करते थे। वास्तव में उनेक विचारों से मैं बहुत अधिक प्रभावित हुआ हूँ। उन्होंने मुझे 'नवरस' की एक प्रति भी भेंट की थी जो आज तक मेरे पास बाबूजी के आशीर्वाद एवं मधुर स्मृति के रूप में सुरक्षित है, जो कि मेरे लिये ग्राज उनकी अमूल्य थाती बन गई है।

डा० कामिनी कान्छल

बाबूजी के ग्रन्थों का परिचय

बाबूजी के समस्त कृतित्व का यथासम्भव प्रकाशन अनुसार संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करने के लिए उनकी सारी रचनाओं को तीन वर्गों में विभाजित करना युक्तिसंगत होगा :—

- मौलिक रचनाएँ,
- सम्पादित-ग्रंथ और
- भूमिकाएँ।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत आने वाले समस्त साहित्य को निम्न वर्गों में प्रस्तुत किया जा सकता है :—

(क) दार्शनिक साहित्य,
(ख) निबन्ध साहित्य,
(ग) आलोचना साहित्य,
(घ) विविध साहित्य।

इन वर्गों में बाबूजी के प्रकाशित साहित्य को वर्गों के अन्तर्गत रखकर ही उनके प्रकाशन क्रम के अनुसार उनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जायगा।

(१) **'शान्ति धर्म'** सन् १९१७ में कुमार देवेन्द्र प्रसाद प्रेम मन्दिर, आरा से प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में पांच अध्याय हैं जिनमें आत्मरक्षा, संघर्षणयुक्त आत्मरक्षा, साम्यमयी आत्मरक्षा, शान्ति धर्म तथा उसके अंग की चर्चा की गई हैं।

(२) **'कर्त्तव्य शास्त्र'** पुस्तक सन् १९१९ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुई। इसके अन्तर्गत ग्यारह अध्याय हैं। जिनमें कर्त्तव्यशास्त्र का विषय और उसकी आवश्यकता, कर्त्तव्यशास्त्र का अन्यान्य शास्त्रों से सम्बन्ध, कर्त्तव्याकर्त्तव्य सम्बन्धी निर्धारण का विषय, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णायिक, सुखवाद, उपयोगितावाद, विकासात्मक सुखवाद, आत्म-विजय, आत्म-प्रतीति, समाज और कर्त्तव्य पालन, कर्त्तव्य परायण जीवन का विवेचन किया गया है। इसके पश्चात् पांच परिशिष्ट भी दिए हैं जिनमें क्रमश: कर्त्तव्य सम्बन्धी रोग, निदान और चिकित्सा; सुख; कर्त्तव्य-विकास; कर्त्तव्य सम्बन्धी साहित्य तथा शब्द सूची दी गई है।

(३) **'तर्क शास्त्र'** (पहला भाग) सन् १९२५ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुआ। इसमें दस अध्याय हैं। जिनमें तर्क शास्त्र का विषय और उसकी उपयोगिता, विचार और उसके नियम, पद, तार्किक वाक्य, वाच्य, धर्म विभाग और वर्गीकरण, पदार्थ या संज्ञाएँ, विभाग और वर्गीकरण विभाग, लक्षण या परिभाषा, अलैंगिक या अव्यवहित अनुमान; लैंगिक या व्यवहित अनुमान का विवेचन है।

(४) **'पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास'** सन् १९२६ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा, से प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक को प्राचीन दर्शन, माध्यमिक दर्शन तथा आधुनिक दर्शन तीनों खंडों में विभाजित करके विवेचन किया गया है। प्राचीन दर्शन का वर्णन तीन अध्यायों में किया गया है। इसके प्रथम अध्याय में थेलीज, एनैक्सि मैण्डर, एनैक्सि मेनीज, हिप्पो, इडीयस, डीपोजेनीज, पापी थागोरस, जेनोफेनीज़, पार्मेनिडीज़, ज़ीनो, मेलिसुसहेरैक्लीट्स, एम्पेडोक्लीज़, डीमोक्रीट्स, एनैक्सागोरस, प्रोटेगोरस परमाणुवाद, चित्-शक्ति तथा वितंडावादी की चर्चा की है।

द्वितीय अध्याय में सुकरात की शिष्य-परम्परा को बताया गया है। इसमें सुकरात, प्लेटो, अरिस्टाटल, प्रकृति का सिद्धान्त, ज्ञान-मीमांसा और मनोविज्ञान, आत्मा, अरस्तू, तर्कशास्त्र, द्वितीय दर्शन अथवा विज्ञान, मनोविज्ञान, आचार, राजनीति, सुकरात, प्लेटो एवं अरस्तू का वर्णन किया है।

प्राचीन दर्शन के तीसरे अध्याय में यूनानी-रूमी दर्शन को प्रस्तुत किया है। इसमें ज़ीनो (स्टोइक), एपीक्यूरस (सुखवाद), पीरो (संशयवाद), सेक्लटस, एम्पिरिक्स और एनेसिडिमस, फाइलो, प्लोटिनस, पर्फेरी, आयौम्बिलक्स, हयोक्लस प्लोकस दार्शनिकों की चर्चा की है।

माध्यमिक दर्शन को दो अध्यायों में विभक्त किया है। इसके प्रथम अध्याय में धर्म-प्रधान दर्शन के अन्तर्गत ऑगस्टिन ज्ञान और उसका आधार, स्काट्स एरिजेना, एन्सेलम, टामस एक्वाइनस, डंस स्काट्स तथा ओकम के मतों को दिया है। इसके द्वितीय अध्याय में वर्त्तमान काल का उदय दिखाया है जिसमें ब्रूनों, कैम्पेनेका, फ्रैंसिस बेकन तथा हॉब्स के विचारों को दिया है।

आधुनिक दर्शन को दो भागों में विभक्त किया है। इसके प्रथम भाग में दस अध्याय हैं। इसके पहले अध्याय में अवसरवाद और उससे प्रभावित दर्शन की चर्चा की है जिसमें डेकार्टे, मेलेब्रांस, ज्यूलिक, स्पाइनोजा, लीब्नीज का दर्शन दिया है। दूसरे अध्याय में ब्रिटिश अनुभववाद और उसके अन्तिम फल का वर्णन है। जिसमें लाक, बर्कले, ह्यूम, रीड, स्काटलैंड के अन्य दार्शनिक, कौंडिलैक के मतों को प्रस्तुत किया है।

तीसरे अध्याय में जर्मनी के प्रत्ययवाद (१) का विवेचन है। इसमें कांट का दर्शन दिया है।

चौथे अध्याय में जर्मनी के प्रत्ययवाद (२) को प्रस्तुत किया है किन्तु उसमें फिक्ट तथा शैलिंग दार्शनिकों की विचाराधारा को दिया है। पांचवें अध्याय में जर्मनी का प्रत्ययवाद (३) के अन्तर्गत हैगेल, प्रकृति की मीमांसा (यांत्रिक संयोग), रासायनिक योग, जीवन-शक्ति तथा मन की मीमांसा का वर्णन किया है।

छठे अध्याय में हैगेल के बाद का जर्मन विचार दिया है जिसमें शोपेनहोर, निशे तथा हर्बर्ट के दर्शन की चर्चा है। सातवें अध्याय में प्रत्यक्षज्ञानवाद के अन्तर्गत कौम्ट, सामाजिक स्थिति, सामाजिक उन्नति तथा मिल के विचारों का वर्णन है। आठवें अध्याय में विकासवाद को दिखाया है जिसमें डार्विन, स्पेन्सर, हैमिल्टन, हक्सले, अन्य भौतिक द्रव्यवादी दार्शनिक टिन्डेल और हैगेल के दर्शन को दिया है।

नवें अध्याय में हैगेल के पीछे का जर्मन विचार के अन्तर्गत फैक्नर, बुन्ट, लोट्जे, एडवर्ड वन हार्टमान के मतों को दिया है। दसवें अध्याय में रुडोल्फ ओइकन का दर्शन दिया है।

आधुनिक दर्शन के दूसरे भाग में चार अध्याय हैं। इसके प्रथम अध्याय में नवीन प्रत्यय-वाद की चर्चा है जिसमें ग्रीन, ब्रेडले, रोइस, प्रोफेसर बोसेन्कैट, प्रिंगिल-पैटीसन, क्रोची मैक-टेगर्ट, जेम्स वार्ड, के दर्शन को दिया है। द्वितीय अध्याय में क्रिया-प्रधान दर्शन का वर्णन है। इसके अन्तर्गत विलियम जेम्स, शिलूर, ड्यूई, दार्शनिक रीति, मनोविज्ञान, प्राकृतिक द्रव्य, एकानेकवाद, कर्त्तव्याकर्त्तव्य, धर्म का तत्व, बर्गसन तथा सृजनात्मक-विकास को प्रस्तुत किया है।

तृतीय अध्याय में नवीन वस्तुवाद के अन्तर्गत बर्ट्रेन्ड रसेल, एस. एलेकजेन्डर, अमेरिका का नवीन वस्तुवाद में पीरी और होल्ट, परीक्षात्मक वस्तुवाद में ड्रेक तथा स्ट्रांग के दर्शन को दिया है। चतुर्थ अध्याय में यूरोपीय दर्शन की वर्तमान स्थिति और उसका भविष्य पर दृष्टि-पात किया है।

(५) **'तर्कशास्त्र'** (द्वितीय भाग) सन् १९२७ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में तर्क-शास्त्र (पहले भाग) के बचे हुए कुछ निगमनात्मक तर्क के सिद्धान्त दिए हैं अर्थात् यह पुस्तक ग्यारहवें अध्याय से प्रारम्भ होती है। इसके इस अध्याय में लैंगिक अनुमान के अन्य रूप और श्रृंखलाएं दी हैं। बारहवें अध्याय में सापेक्ष अनुमान, तेरहवें अध्याय में वैकल्पिक अनुमान, चौदहवें अध्याय में निगमनात्मक लैंगिक अनुमान की सीमा, उपयोगिता और सत्यता, तथा पन्द्रहवें अध्याय में तर्काभास का वर्णन किया है। इसके पश्चात् इसमें आगमनात्मक तर्क दिया है जिसको ग्यारह अध्यायों में विभक्त किया है। इसके पहले अध्याय में आगमन अथवा व्याप्तिग्रह के साधन, दूसरे अध्याय में निरीक्षण और प्रयोग, तीसरे अध्याय में आगमन का आधार, चौथे अध्याय में कल्पना, पांचवें अध्याय में गणनात्मक आगमन, छठे अध्याय में उपमान, सातवें अध्याय में कारणवाद, आठवें अध्याय में कार्यकारण तथा अन्य नियत सम्बन्धों के निश्चय करने की पद्धति, नवें अध्याय में साक्षित्व (शब्द प्रमाण), दसवें अध्याय में आगमन की भूलें, तथा ग्यारहवें अध्याय में विज्ञान की सीमा और ज्ञान के समन्वय का विवेचन है।

(६) **'तर्कशास्त्र'** (तीसरा भाग) १९२९ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग से प्रकाशित हुआ। इसमें भारतीय तर्कशास्त्र के सिद्धान्त दिए गए हैं। इसको आठ अध्यायों में विभक्त करके विवेचन किया गया है। इसके पहले अध्याय में

प्रमा और अप्रमा, दूसरे अध्याय में प्रत्यक्ष, तीसरे अध्याय में अनुमान, अनुमान के प्रकार और उसके अंग, व्याप्ति ग्रहोपाय. अनुमान के सम्बन्ध में मतभेद, चौथे अध्याय में उपमान, पांचवें अध्याय में शब्द प्रमाण, छठे अध्याय में ऐतिह्य, अर्थापत्ति आदि अन्य प्रमाण, सातवें अध्याय में तर्क, वाद, जल्प, वितंडा, छल और हेत्वाभास, तथा आठवें अध्याय में जाति और निग्रहस्थान का वर्णन है। इसके पश्चात् परिशिष्ट भी दिए हैं। परिशिष्ट (क) में न्यायशास्त्र का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया है। परिशिष्ट (ख) में साहित्य-सूची, परिशिष्ट (ग) में न्यायशास्त्र के कर्त्ता महर्षि गौतम का समय दिया है। परिशिष्ट (घ) में स्याद्वाद का वर्णन है

(ख) निबन्ध-साहित्य

(१) **'फिर निराश क्यों'** सन् १९१८ में गंगा पुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ से प्रकाशित हुई। इसके अन्तर्गत अठारह अध्याय हैं। जिनमें फिर निराश क्यों, मनुष्य की मुख्यता, सत्ता सागर, समष्टि-व्यष्टि, हमारा कर्त्तव्य और हमारी कठिनाइयाँ, सौन्दर्योपासना, कुरूपता, विश्व-प्रेम और विश्व सेवा, अपूर्ण की पूर्णता, पुनीत पापी, स्वयं भू सुधारकों का सुधार, दुःख, भूल, हमारे नेता कौन, कर्मयोग की मोक्ष, संघर्ष, विफलता तथा चिर बसन्त का वर्णन है।

(२) **'मैत्री धर्म'** सन् १९२६ में हिन्दी पुस्तक भण्डार, लहेरियासराय (बिहार) से प्रकाशित हुई। इसमें चार अध्याय हैं जिनमें क्रमशः हमारी आवश्यकता, मित्र परीक्षा, मित्रता का स्वरूप, तथा मैत्री धर्म और विश्व प्रेम का विवेचन है।

(३) **'ठलुआ क्लब'** सन् १९२८ में (राजा) रामकुमार प्रेस बुक डिपो, लखनऊ से प्रकाशित हुई। इसमें नौ अध्याय हैं। इनमें मधुमेही लेखक की आत्मकथा, बेकार वकील, विज्ञापन युग का सफल नवयुवक, निराश कर्मचारी, समालोचक, प्रेमी वैज्ञानिक, सिद्धान्ती, आलस्य भक्त तथा आफत का मारा दार्शनिक का वर्णन किया गया है।

(४) **'प्रबन्ध प्रभाकर'** नामक पुस्तक सन् १९३४ में हिन्दी-भवन, जालंधर से प्रकाशित हुई। काव्य का लक्षण और उसका मानव जीवन से सम्बन्ध, ललित कलाओं में काव्य का स्थान, समाज पर साहित्य का प्रभाव, साहित्य में अपने समय के जातीय भावों की छाप होती है, सत्यं शिवं सुन्दरम्, कला कला के लिए अथवा जीवन के लिए, एको रसः करुण एव, सामाजिक उन्नति में दृश्य काव्य तथा सिनेमा का स्थान, भारतीय नाटकों में शोकान्त नाटक का अभाव एकांकी नाटक—उसका स्वरूप और महत्व, उपन्यासों के अध्ययन से हानि लाभ, समाचार पत्रों का महत्व और उपयोग, सभ्यता के विकास के साथ कविता का ह्रास होता है, साहित्य और जातीयता, आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, वर्तमान हिन्दी कविता में अलंकारों का स्थान, हिन्दी में हास्य रस, वैष्णव सम्प्रदाय का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव, मुसलमानों की हिन्दी सेवा, हिन्दी का कहानी साहित्य, हिन्दी-उपन्यास का विकास, हिन्दी-साहित्य में निबन्ध का विकास, हिन्दी-साहित्य में समालोचना, हिन्दी का प्रगतिशील साहित्य, हिन्दी में वीररस तथा राष्ट्रीय भावना, हिन्दी साहित्य में स्त्रियों की देन, हिन्दी के नाटक और रंगमंच, छायावाद और रहस्यवाद, भक्तिकाव्य पर एक आलोचनात्मक दृष्टि, सूफी सम्प्रदाय और निर्गुण काव्यधारा, महात्मा कबीर, सूरदास, भक्त शिरोमणि तुलसीदास, सूर सूर तुलसी शशि उडुगन केशवदास, कविवर बिहारी और उनकी सतसई, महाकवि भूषण की काव्य सम्बन्धी विशेषताएँ, मैथिली-

शरण गुप्त, प्रसाद जी का काव्य सौष्ठव, कविवर निराला जी का व्यक्तित्व और कृतित्व, महादेवी जी की रहस्य-साधना; हिन्दी नाट्य साहित्य को प्रसाद जी की देन, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, ब्रज-भाषा और खड़ी बोली, मातृभाषा का महत्व, राष्ट्रभाषा का स्वरूप, देवनागरी लिपि की श्रेष्ठता और उसकी कुछ न्यूनताएं, हिन्दी भाषा और साहित्य पर विदेशी प्रभाव, क्या विज्ञान का धर्म और कविता से पारस्परिक विरोध है ?' वर्त्तमान वैज्ञानिक आविष्कारों का महत्व, नागरिक के कर्त्तव्य और अधिकार लोकतंत्र बनाम तानाशाही, इतिहास-उसकी सीमाएं-उसके अध्ययन का उद्देश्य और महत्व, ग्राम सुधार, भारतीय नारी पर पश्चिमी प्रभाव, क्या युद्ध अनिवार्य है ? गांधीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, विश्व-शान्ति के उपाय, ताजमहल की आत्म कहानी, साम्प्र-दायिकता, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता, भारत की सांस्कृतिक एकता,भूदान यज्ञ, पंचशील, राज्य- पुनर्गठन, तथा उद्योगों का राष्ट्रीयकरण-निबन्धों पर प्रकाश डाला गया है ।

(५) **'विज्ञान विनोद'** पुस्तक सन् १९३७ में गयाप्रसाद एंड संस, आगरा से प्रकाशित हुई। इसमें - विज्ञान क्या है, गेलीलियो और दुरबीन, सर आईज़क न्यूटन और गुरुत्वाकर्षण, गगन मंडल की सैर, तार, एलेकज़ेन्डर ग्रेहमबेल और टेलीफून, आकाशवाणी, 'बेतार का तार' राजन किरण (एक्सरे), बिजली के अन्य प्रयोग, रसायनशास्त्र और उसके प्रयोग, मेडेम क्यूरी और रेडियम, शक्ति के भंडार कोयला और पैट्रोल, बैसीमर और फ़ौलाद, रेलगाड़ी, राबर्ट फुल्टन और बाष्प नौका, मोटरकार, पनडुब्बी नाव, वायुयान, एडीसन और ग्रामोफ़ोन, फोटोग्राफ़ी सिनेमा और टाकीज़, मुद्रण यंत्र, लाइनो टाइप, टाइप राइटर चार्ल्स डार्विन का विकासवाद, सर जगदीशचन्द्र बसु, डाटक्र सिमसन और क्लोरोफार्म, पास्च्चुर और कीटाणुवाद, सर रौस और मलेरिया कीटाणु, भोजन तत्व और विटामिन इन विषयों को लेकर निबन्ध लिखे गए हैं। अन्त में परिशिष्ट दिया है जिसमें विद्युत और चुम्बकत्व की चर्चा की है ।

(६) **'जीवन पथ'** सन् १९४८ में गयाप्रसाद एंड संस, आगरा से प्रकाशित हुई । इसमें हारिए न हिम्मत बिसारिए न राम, समाज और व्यक्ति का लेन-देन, हमारा कर्त्तव्य पथ, आदर्श जीवन, आत्मोन्नति, सफाई और व्यायाम, मानसिक उन्नति, चरित्र निर्माण, मित्रता समाज के प्रति हमारा कर्त्तव्य, स्वावलम्बन, पुरुषार्थ और संलग्नता, मिष्ट भाषण और शिष्टा-चार, समय का सदुपयोग, सद्व्यसन, संघर्ष, आत्म संयम और अनुशासन, नागरिक के कर्त्तव्य और अधिकार, भारतीय संस्कृति के आधार स्तम्भ, देश-प्रेम और देश सेवा, तथा विश्व प्रेम और मानवता पर पृथक्-पृथक् रूप से निबन्ध हैं इसके अतिरिक्त वीरता[1] तथा योग्यतानुकूल व्यवसाय चुनना[2] विषय पर भी निबन्ध हैं ।

(७) **'आत्म निर्माण'** सन् १९५० में प्रकाशक गयाप्रसाद एंड संस, आगरा की ओर से प्रतिभा प्रकाशन मन्दिर, दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इसमें हमारे जीवन का लक्ष्य, विद्यार्थी-जीवन, संतुलित भोजन, सदाचार, शील और विनय, वीरता और साहस, आत्मसंयम और अनु-शासन, शिष्टाचार, वार्तालाप, अवकाश के क्षण, मानसिक संतुलन, देश के प्रति हमारा कर्त्तव्य,

---

१-२ 'वीरता' निबन्ध मिश्रबन्धु का है तथा 'योग्यतानुकूल व्यवसाय चुनना' निबन्ध माधव-राव सप्रे का लिखा हुआ है ।

तथा विफलताओं से विचलित न होना —निबन्ध हैं। इसके अतिरिक्त ब्रह्मचर्य के साधन,[१] स्वास्थ्य,[२] मुझसे सब अच्छे हैं,[३] तथा क्षमा[४] निबन्ध भी हैं।[५]

(८) **'मन की बातें'** सन् १९५४ में आत्माराम एंड संस की ओर से प्रतिभा प्रकाशन मंदिर, दिल्ली से प्रकाशित हुई। इसमें अंधेरी कोठरी, मनोविश्लेषण-शास्त्र के प्रमुख सम्प्रदाय, फ्रायड और कामवासना (क, ख), स्वप्न संसार, प्रभुत्व कामना, भावनाग्रन्थियां, हीनता-ग्रन्थि, प्रदर्शन, आन्तरिक संघर्ष व अन्तर्द्वन्द्व, नित्य की भूलें, कानों सुनी, भेड़िया धसान, हम हंसते क्यों हैं ? लयात्मक मानसिक जीवन, स्प्रिच्युअलिज्म—इन विषयों पर निबन्ध लिखे गए हैं। अन्त में अनुक्रमणिका भी दे दी है।

(९) **'मेरे निबन्ध (जीवन और जगत)'** सन् १९५५ में गयाप्रसाद एंड संस, आगरा से प्रकाशित हुआ। इसमें तीस निबन्ध हैं जिनमें मेरी दैनिकी का एक पृष्ठ, आत्म-विश्लेषण, मेरा मकान, मेरे नापिताचार्य, व्यापारे वसति लक्ष्मी, कुशल व्यापारी के गुण, ग्राहक पटाने की कला, एजेन्ट कैसा हो ?, विज्ञापन की कला, मिल मजदूर, चोर बाजार, मनुस्मृति में कर्जे का कानून, हीनता ग्रन्थि, पूर्व-निर्णय, ढुकरिया पुराण, फैशन का मनोविज्ञान, प्रोपेगैन्डा, रसराज हास्य, सूरदास जी और बाल-मनोविज्ञान, अधिकारी और अधिकृत, गांधीवाद और भारतीय परम्परा, राष्ट्रोन्नति में जातीय गर्व की महत्ता, साम्प्रदायिकता और राष्ट्रीयता, भारत का समन्वयवादी संदेश, रामराज्य और वर्तमान भारत, स्वतंत्र भारत, भारत के प्रथम चुनाव, भारतीय संस्कृति, ब्रज की जीवन ज्योति गौ, तथा नए और पुराने का समन्वय-इन विषयों का वर्णन किया गया है।

(१०) **'कुछ उथले कुछ गहरे'** सन् १९५६ में शिवलाल अग्रवाल एंड कम्पनी (प्रा.) लिमिटेड, आगरा से प्रकाशित हुई। इसमें डाक्टर स्तोत्र, गोस्वामी जी के जीवन पर नया प्रकाश, अक्कल बड़ी कि भैंस, चोरी एक कला, पृथ्वी पर कल्प वृक्ष, जय उलूकराम, सम्पादक राज, मेरे एक शिकारपुरी मित्र, सांवलिया बीज वाला, भजगोविन्दं भजगोविन्दं गोविन्दं भज मूढ़ मते, सौन्दर्योपासना और कुरूपता, संघर्ष और उसके शमनोपाय, मानवता के आधार-स्तम्भ, राष्ट्रीयता और उसके बाधक, वर्तमान असन्तोष के कारण, स्वतंत्रता के बाद, जीवन और दर्शन, हिन्दू आदर्शों के अनुसार संतुलित जीवन, साहित्य और राष्ट्र निर्माण, हिन्दी पर साम्राज्यवाद का आरोप निराधार, लेखक और प्रकाशक, अखिल भारतीय ब्रज साहित्य मंडल, मथुरा अधिवेशन के अवसर पर सभापति पद से दिया हुआ अभिभाषण, साहित्य के मूल्य, विज्ञान की सीमा और ज्ञान का समन्वय, कर्त्तव्य की सापेक्षिता और निरपेक्षिता, पंचशील, भूदान यज्ञ दलबन्दी रोग और उसका उपचार, आर्थिक उन्नति और मानव- उत्थान, ब्रज संस्कृति की विशेषताएं, श्रीमद्भगवद्गीता का सांस्कृतिक एवं व्यावहारिक पक्ष, रक्त चाप—इन विषयों पर निबन्ध प्रस्तुत किए गए हैं।

१–५ 'ब्रह्मचर्य के साधन' निबन्ध महात्मा गांधी का है। 'स्वास्थ्य' निबन्ध मिश्रबन्धु का है। 'मुझसे सब अच्छे हैं' निबन्ध घनश्याम दास बिड़ला का है तथा 'क्षमा' निबन्ध माधव प्रसाद मिश्र का लिखा हुआ है।

(११) **'विद्यार्थी जीवन'** सन् १९५६ में ओरियंटल पब्लिशर्स (आगरा) प्रा. लिमिटेड से प्रकाशित हुई। इसमें विद्यार्थी जीवन, चरित्र निर्माण, शारीरिक श्रम, स्वदेशी, सदाचार, शील और विनय, वीरता और साहस, सच्ची स्वतंत्रता, आत्मसंयम और अनुशासन, शिष्टाचार, वार्तालाप, अवकाश के क्षण, पर्यटन, मानसिक संतुलन, सेवापथ, तथा विफलताओं से विचलित न होना—विषयों पर पृथक्-पृथक् रूप से निबन्ध लिखे गए हैं। इसके अतिरिक्त स्वास्थ्य[1] एवं मुझसे सब अच्छे हैं[2]—पर भी निबन्ध हैं।

(१२) **'मेरी असफलताएँ'** नामक ग्रंथ सन् १९५७ में साहित्य-रत्न भंडार, आगरा से प्रकाशित हुआ। इसके अन्तर्गत तेईस अध्याय हैं जिनमें बालस्तावत् क्रीड़ासक्तः, मार्शल ला, उसे न भूलूँगा, नमोगुरुदेवेभ्यो, सेवा के पथ पर, सेवाधर्मः परम गहनोयोगितामप्यगमाः, सैर का मूल्य, पट-परिवर्तन, मेरा मकान-मेरी मूर्खता की साकार मूर्ति, हानि लाभ का लेखा-जोखा, नर से नारायण, आधी छोड़ एक को धावे, खट्टे अंगूर, श्रीराम जी-प्रीत्यर्थ, एक स्केच, शैल-शिखिर पर, ठोक पीट कर लेखकराज (१,२,३,), हाथ झारि कै चलै जुआरी, मेरी दैनिकी का एक पृष्ठ, शरीरं व्याधि-मन्दिरम्, प्रभु जी मेरे औगुन चित न धरौ—का वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् परिशिष्ट में चार निबन्ध दिए हैं जिनमें चोरी : कला के रूप में, कम्पोजीटर स्तोत्र, मेरे नापिताचार्य, तथा सत्तरवीं वर्षगांठ पर—हैं।

(१३) **'अध्ययन और आस्वाद'** सन् १९५७ में आत्माराम एण्ड संस की ओर से प्रतिभा प्रकाशन मन्दिर, दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इसमें साहित्य के मूल्य, साहित्यिक जीवन के दो पक्ष, समालोचक के कर्तव्य और गुण, भारतीय आलोचना पद्धति, मनोविश्लेषण और आलोचना, आलोचन-सम्बन्धी मेरी मान्यताएँ, कवि समय, काव्येषु नाटकं रम्यम्, संचारी भावों की संगति, कहानी का मनोवैज्ञानिक सत्य, कहानी की प्रणालियां और शैलियां, भक्तिकाल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, भक्तिकाल की भाव-समन्विति, ब्रजभाषा साहित्य का प्रवृत्तिगत विकास, कबीरदासजी के दार्शनिक सिद्धान्त, गोस्वामी तुलसीदास और साहित्य-सृजना, विनयपत्रिकाः एक संक्षिप्त अध्ययन, भ्रमरगीत प्रसंग, रामचन्द्रिका का प्रबन्ध-निर्वाह, केशव की अलंकार-योजना, सूरदास जी की भक्ति भावना, स्वतन्त्रता के उपासक-भूषण, सेनापति का प्रकृति चित्रण, भारतेन्दुजी का प्रकृति वर्णन, भारतेन्दु जी की भक्ति भावना और धार्मिक विचार, आधुनिक काव्य की दार्शनिक विचारधारा, कामायनी की भावमूलक व्याख्या, आंसू की प्रेम मीमांसा, पन्तजी की उत्तरा का युग सन्देश, हिन्दी के हास्य लेखक (बालमुकुन्द गुप्त), द्विवेदीजी के काव्य-सम्बन्धी विचार, द्विवेदीजी आलोचक के रूप में, शुक्लजी की विचार-समन्वित, शुक्लजी के मनोवैज्ञानिक निबन्ध, चिन्तामणि के निबन्ध, प्रसादजी का प्रकृति-चित्रण, प्रसादजी के काव्य-सम्बन्धी विचार, अनुसंधान का स्वरूप और उसके विविध क्षेत्र, बिहारी का सौन्दर्य बोध—इन विषयों पर निबन्ध हैं। इसके अतिरिक्त साहित्यिक फूल, पौधे और वृक्ष पर भी एक निबन्ध है।[3]

१-२ 'स्वास्थ्य' पर निबन्ध मिश्रबन्धु का है। 'मुझसे सब अच्छे हैं' घनश्याम दास बिड़ला का लिखा हुआ है।

३ 'साहित्यिक फूल, पौधे और वृक्ष' निबन्ध एकाकी का लिखा हुआ है।

(१४) **'राष्ट्रीयता'** सन् १९६१ में गयाप्रसाद एड संस, आगरा से प्रकाशित हुई । इसमें ग्यारह अध्याय हैं जिनमें राष्ट्रीयता और उसके उपकरण, भारत की राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रीय गौरव की चेतना और राष्ट्रीय शिक्षा, सच्ची राष्ट्रीयता स्वकर्त्तव्य पालन में, सच्ची स्वतंत्रता और आत्म-संयम, राष्ट्रीयता और उसके बाधक, पार्थक्य भावना और दूषित अहम्, सदोष और निर्दोष राष्ट्रीयता, साम्प्रदायिकता-राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता, देश के प्रति हमारा कर्त्तव्य, भारत का समन्वयवादी सन्देश—विषय पर निबन्ध प्रस्तुत किए गए हैं । परिशिष्ट (१) में हमारे राष्ट्र के प्रतीक, परिशिष्ट (२) में पन्द्रह अगस्त और राष्ट्रीय गर्व की भावना, परि शिष्ट (३) में दलबन्दी रोग और उसका उपचार दिया है ।

(१५) **'जीवन रश्मियां'** सन् १९६२ में शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी (प्राइवेट) लिमि-टेड, आगरा से प्रकाशित हुई । इसमें तेईस निबन्ध हैं जिनमें सज्जन और सज्जनता, उच्च जीवन स्तर, घरेलू लड़ाई झगड़े, नेता के आवश्यक गुण, पारिवारिक जीवन और निजी सम्बन्ध गणतंत्र दिवस का शिव संकल्प, नवयुग का साहित्यकार क्या लिखे ?, ब्रिटिश शासन के वे दिन, मेरी प्रवास-भीरुता, मेरा चौहत्तरवां जन्म दिवस, मेरे जीवन को सफल बनाने वाला, मेरे मानसिक उपादान, प्रीतिभोज-समस्या : मीमांसा, बस आपकी शुभ सम्पत्ति की कसर है, सीमा-वर्त्ती चोर, भारतीय लेखक और मधुमेह, हस्ताक्षर या ब्रह्माक्षर, पृथ्वी पर कल्पवृक्ष, शीर्षकहीन लेख, बौद्ध कला के प्रहरी-सांची के स्तूप, छतरपुर और खजुराहो के पुनर्दर्शन, सुरम्य झीलों का नगर भोपाल, तथा कवीन्द्र रवीन्द्र, शिमला-स्मृति—की चर्चा की गई है ।

(१६) **'भारतीय संस्कृति की रूपरेखा'** सन् १९६२ में साहित्य प्रकाशन मंदिर, ग्वालियर से प्रकाशित हुई । इसके अन्तर्गत चार अध्याय हैं । पहला अध्याय भारतीय संस्कृति की रूप-रेखा है जिसमें संस्कृतियों का सम्मिश्रण का विवेचन है । दूसरा अध्याय भारतीय साहित्य में संस्कृति का है जिसमें वैदिक साहित्य, वैदिक विचारधारा, रामायण और महाभारत, पुराण, स्मृतियां, महाकाव्य, खंड और मुक्तक काव्य, संस्कृत नाटक, भारतीय धर्म और दर्शन की रूप-रेखा, तथा हिन्दी भाषा और साहित्य का वर्णन है । तीसरा अध्याय भारतीय कला और विज्ञान का है जिसमें वास्तु और मूर्त्तिकला, चित्रकला, संगीत तथा प्राचीन भारत में वैज्ञानिक उन्नति की चर्चा की है । चौथा अध्याय सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था का है जिसमें वर्णाश्रम धर्म, सोलह संस्कार, भारतीय समाज में नारियों का स्थान, प्राचीन राज व्यवस्था, तथा भारत का अन्य देशों से सम्पर्क का विवेचन है । इसके पश्चात् परिशिष्ट भी दिया है ।

(१७) **'सांस्कृतिक-जीवन'** सन् १९६२ में गयाप्रसाद एण्ड संस, आगरा की ओर से दी एजुकेशनल प्रेस, आगरा से प्रकाशित हुई । इसमें भारतीय संस्कृति के आधार स्तम्भ, भारत की सांस्कृतिक एकता, आदर्श जीवन, मानवता के मूल सिद्धान्त, विश्व प्रेम और मानवता, मिष्ट भाषण और शिष्टाचार, आत्मनिर्माण, नागरिक के कर्त्तव्य और अधिकार, आत्म संयम और अनुशासन, चरित्र निर्माण, संतुलित जीवन, स्वावलम्बन, नए और पुराने का समन्वय, ललित कला और काव्य—विषयों को प्रश्नात्मक शैली में लिखा है ।

(ग) आलोचना साहित्य :

(१) **'नवरस'** सन् १९२० में श्री नागरी प्रचारिणी सभा, आरा से प्रकाशित हुआ ।

इसके अन्तर्गत अठारह अध्याय हैं जिनमें रस निर्णय, रस-सामग्री, शृंगार रस, हास्य रस, करुण रस, रौद्र रस, वीररस, भयानक रस, वीभत्स रस, अद्‌भुत रस, शान्त रस, वात्सल्य रस, नवरसेतर रस, रसाभास और भावभास, रसों की शत्रुता एवं मैत्री, रस दोष, रसों का अन्य काव्यांगों से सम्बन्ध, तथा रस निष्पत्ति का पृथक पृथक अध्याय में विवेचन किया गया है।

(२) **'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास'** सन् १९३८ में साहित्य-रत्न भंडार, आगरा से प्रकाशित हुआ। इसके अन्तर्गत हिन्दी के पूर्व की भाषाएं, हिन्दी के पूर्व की भाषाओं का काल विभाग, हिन्दी साहित्य का काल-विभाग और क्षेत्र, तथा चारों कालों के (वीरगाथा काल, भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिक काल) साहित्य का विवेचन किया है।

(३) **'हिन्दी-नाट्य-विमर्श'** सन् १९४० में मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर से प्रकाशित हुआ। इसमें पहले अध्याय में काव्य में नाटक का स्थान, दूसरे अध्याय में नाटकों का उदय, तीसरे अध्याय में नाटक के तत्व, चौथे अध्याय में नाट्य साहित्य, तथा पांचवें अध्याय में 'शकुन्तला', 'उत्तररामचरित', 'चित्रांगदा', 'चन्द्रगुप्त' नाटकों का आलोचनात्मक परिचय दिया है। अन्त में परिशिष्ट भी दिया है जिसमें प्रबोध चन्द्रोदय, भारत दुर्दशा, शाहजहां, ध्रुवस्वामिनी, बुद्धदेव, ज्योत्सना तथा भोर का तारा नामक नाटकों में से नाटकों की शैलियों के उदाहरण स्वरूप कुछ उद्धरण दे दिए गए हैं।

(४) **'आलोचना कुसमांजलि'** सन् १९४६ में मेहरचन्द लक्ष्मणदास, दिल्ली के यहाँ से प्रकाशित हुई। इसमें सन्त साहित्य के प्रवर्तक महात्मा कबीर, प्रेमपीर का प्रचारक मलिक मुहम्मद जायसी, गोस्वामी तुलसीदास, आचार्य कवि केशवदास, प्रेम पीड़ा की प्रतिमूर्त्ति मीराबाई, नवयुग के वैतालिक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, नवीन धारा के प्रवर्तक कवि प्रसाद, हिन्दी काव्य की वर्तमान स्थिति पर पृथक्-पृथक रूप से लिखा गया है। इसके अतिरिक्त रसिक भक्त महात्मा सूरदास, रसिक कवि बिहारीलाल, वीररस के उत्थापक भूषण, तथा राष्ट्रप्रेरणा के भक्त कवि मैथिलीशरण गुप्त पर भी पृथक रूप से लिखा गया है।[1]

(५) **'काव्य के रूप'** सन् १९४७ में आत्माराम एंड संस की ओर से प्रतिभा प्रकाशन मंदिर, दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इसमें साहित्य का स्वरूप काव्य की परिभाषा और विभाग दृश्य काव्य विवेचन, श्रव्य काव्य, श्रव्य काव्य मुक्तक काव्य, श्रव्य काव्य (कथा साहित्य उपन्यास), श्रव्य काव्य गद्य (कथा साहित्य कहानी), तथा श्रव्य काव्य-अन्य विधाएं (निबन्ध, जीवन और आत्म कथा, पत्र साहित्य एवं समालोचना)—इन विषयों को लेकर बाबूजी ने विवेचन प्रस्तुत किया है।

(६) **'सिद्धान्त और अध्ययन'** पुस्तक सन् १९५१ में आत्माराम एंड संस, दिल्ली की ओर से प्रतिभा प्रकाशन मन्दिर दिल्ली से प्रकाशित हुई। इसके अन्तर्गत काव्य की आत्मा, काव्य की परिभाषा, काव्य और कला, साहित्य की मूल प्रेरणाएं, काव्य के हेतु, सत्यं शिवं सुन्दरम्, कविता

---

१ 'रसिक भक्त महात्मा सूरदास,' 'रसिक कवि बिहारीलाल,' वीररस के उत्थापक भूषण' तथा 'राष्ट्र प्रेरणा के भक्त कवि मैथलीशरण गुप्त' पर प्रो. सत्येन्द ने लिखा है। उनको इस पुस्तक में बाबूजी ने दे दिया है।

और स्वप्न, काव्य के वर्ण्य, रस और मनोविज्ञान, रस निष्पत्ति, साधारणीकरण, कवि और पाठक के त्रयात्मक व्यक्तित्व, काव्य के विभिन्न रूप, काव्य का कलापक्ष, शब्द शक्ति, ध्वनि और उसके मुख्य भेद, अभिव्यंजनावाद एवं कलावाद, तथा समालोचना के मान—विषयों को लेकर प्रसाद पूर्ण शैली में विवेचन किया गया है।

(७) **'हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास'** सन् १९५२ में सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा से प्रकाशित हुआ। इसके अन्तर्गत हिन्दी साहित्य का काल-विभाग तथा चारों कालों के (आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल, आधुनिककाल) साहित्य का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया है।

(८) **'साहित्य और समीक्षा'** सन् १९५५ में आत्माराम एंड संस की ओर से प्रतिभा प्रकाशन मन्दिर, दिल्ली से प्रकाशित हुई। इसमें—साहित्य और हमारी मानसिक वृत्तियां; काव्य, विज्ञान और धर्म; कवि और कविता, काव्य के तत्व, रस परिचय, काव्य के विभिन्न रूप, गुण और रीतियां, काव्य के दोष, प्रमुख अलंकार, शब्द की शक्तियां, छन्द तथा समालोचना इन विषयों की चर्चा की गई है।

(९) **'हिन्दी काव्य विमर्श'** सन् १९५५ में आत्माराम एंड संस की ओर से प्रतिभा प्रकाशन मन्दिर, दिल्ली के यहां से प्रकाशित हुई। इसमें वीर कवि चन्दबरदाई, सन्त कवि महात्मा कबीर, सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी, विद्यापति का हिन्दी-साहित्य में स्थान, रसिक भक्त महात्मा सूरदास, नन्ददास जी का भंवरगीत, राम-भक्त गोस्वामी तुलसीदास, आचार्य कवि केशवदास, रसिक कवि बिहारीलाल, नवयुग के वैतालिक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त, छायावाद-रहस्यवाद, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला', सुमित्रानन्दन पंत, महादेवी वर्मा, प्रगतिवाद, वैदेही-वनवास - एक संक्षिप्त समीक्षा, रत्नाकर जी का उद्धव-शतक, हिन्दी काव्य की वर्तमान स्थिति पर पृथक्-पृथक् अध्यायों में प्रकाश डाला गया है।

(१०) **'हिन्दी-गद्य का विकास और प्रमुख शैलीकार'** पुस्तक सन् १९५९ में शिवलाल अग्रवाल एंड कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड, आगरा से प्रकाशित हुई। इसमें हिन्दी गद्य के विविध सोपान, काव्य के विभिन्न रूप और विशेषतः निबन्ध पर प्रकाश डाला गया है। निबन्ध के शास्त्रीय विवेचन के साथ निबन्ध-साहित्य के विकास की रूप-रेखा भी प्रस्तुत की गई है। प्रमुख शैलीकारों में बाबूजी ने श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द, बालकृष्ण भट्ट प्रतापनारायण मिश्र, बाल-मुकुन्द गुप्त, महावीरप्रसाद द्विवेदी, माधवप्रसाद मिश्र, श्यामसुन्दरदास, पद्मसिंह शर्मा, पूर्ण-सिंह, चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी,' रामचन्द्र शुक्ल, गुलाबराय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, जय-शंकर प्रसाद, प्रेमचन्द, वियोगी हरि, रायकृष्णदास, डा० रघुवीर सिंह, सियारामशरण गुप्त, महादेवी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, जैनेन्द्रकुमार, डा० नगेन्द्र तथा नन्ददुलारे वाजपेयी जी को लिया है। इन शैलीकारों का जीवन-परिचय, निबन्ध किस कोटि के हैं, निबन्ध किन विषयों पर हैं, भाषा शैली कैसी है—इनका विवेचन करते हुए भाषा तथा शैली का विवेचन करते समय भिन्न-भिन्न लेखकों के विभिन्न निबन्धों को ही आधार स्वरूप ग्रहण किया है।

(घ) **विविध-साहित्य**

(अ) **बाल-साहित्य**

(१) **'बाल प्रबोध' प्रवेशिका भाग** १,२ सन् १९४० में गयाप्रसाद एंड संस, आगरा से प्रकाशित हुई। (२) **'बाल प्रबोध'** प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ सोपान सन् १९४० में गयाप्रसाद एण्ड संस, आगरा से प्रकाशित हुए।

(आ) **टिप्पणी साहित्य**

(१) **'युगधारा अवगाहन'** सन् १९५० में दी नेशनल बुक डिपो, आगरा से प्रकाशित हुई। इसके अन्तर्गत 'युगधारा' नामक पुस्तक की टिप्पणियां हैं। इसमें शब्दार्थ, भावार्थ तथा कविताओं के काव्य-सौन्दर्य का उद्‌घाटन किया गया है।

(२) **'सत्य हरिश्चन्द्र सटीक'** साहित्य रत्न भंडार, आगरा से प्रकाशित हुआ। इसमें भारतेन्दु का वंश परिचय, विद्याध्ययन, विवाह एवं पर्य्यटन, स्वभाव, मृत्यु, देश सेवा और स्वदेश प्रेम, तथा उनकी शैली की चर्चा करते हुए, 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के शब्दार्थ, भावार्थ, अलंकार, छंद तथा स्थान-स्थान पर नोट भी प्रस्तुत किए हैं। इस नाटक का रस-निरूपण, पात्रों का परिचय, विशेषताएं एवं दोष निराकरण भी किया है।

(इ) **जीवनी साहित्य**

(१) **'अभिनव भारत के प्रकाश स्तम्भ'** सन् १९५५ में लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा के यहां से प्रकाशित हुई। इसमें महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, सरदार बल्लभ-भाई पटेल, डाक्टर राधाकृष्णन, पं. मदनमोहन मालवीय, सरोजनी नायडू, रामकृष्ण परमहंस, योगी अरविन्द, कवीन्द्र रवीन्द्र, भारतेन्दु, हरिश्चन्द्र सर चन्द्रशेखर बेंकट रमन, तथा तेनसिंह की जीवनियां प्रस्तुत की हैं।

(२) **'सत्य और स्वतंत्रता के उपासक'** सन् १९५५ में नारायण प्रकाशन, आगरा के यहां से प्रकाशित हुई। इसमें भगवान बुद्ध, महर्षि सुकरात, स्वतंत्रता की देवी जोन, दास प्रथा का विरोधी अब्राहम लिंकन, विश्व का महान् विचारक कार्ल मार्क्स, महात्मा टालस्टाय, साहित्य-मनीषी जार्ज बर्नार्ड शा, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, कवीन्द्र रवीन्द्र, विश्व वन्द्य महात्मा गांधी, योगी अरविन्द, युग का महानतम वैज्ञानिक अल्बर्ट आइंस्टीन, विज्ञानाचार्य सर चन्द्रशेखर बेंकट रमन, शान्ति के अग्रदूत जवाहरलाल नेहरू तथा अदम्य उत्साही शेरपा तेनसिंह की जीवनियाँ हैं।[1]

विशेष

(३) **'रहस्यवाद और हिन्दी कविता'** सन् १९५६ में सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा से प्रकाशित हुई। यह निवन्ध हिन्दी साहित्य सम्मेलन के द्वितीय इन्दौर अधिवेशन की साहित्य परिषद में पढ़े जाने के लिए लिखा गया था। अवकाशाभाव के कारण यह लेख वहाँ

---

१ कवीन्द्र रवीन्द्र, विश्व वन्द्य महात्मा गाँन्धी, योगी अरविन्द, विज्ञानाचार्य सर चन्द्र-शेखर बेंकट रमन, शान्ति के अग्रदूत जवाहरलाल नेहरू, तथा अदम्य उत्साही शेरपा तेनसिंह की जीवनियां 'अभिनव भारत के प्रकाश स्तम्भ' नामक पुस्तक में भी हैं।

नहीं पढ़ा गया। फिर यह लेख 'वीणा' में छपा। इस निबन्ध को पुस्तकाकार रूप डा० शम्भुनाथ पांडेय ने दिया। जैसा कि बाबूजी ने कहा है कि 'मुझे यह अनुभव होने लगा है कि लेख के लिए मेरा निबन्ध चाहें जितना पूर्ण हो पुस्तक के लिए बहुत अपूर्ण था। उसमें बढ़ाने घटाने की मुझ में सामर्थ्य न थी। मैंने यह कार्य डाक्टर शम्भुनाथ पाण्डेय को सौंपा। उन्होंने मूल में कम से कम दो तिहाई अंश जोड़ा है। मुझे इतना संतोष है कि मेरे मूल निबन्ध में रहस्यवाद सम्बन्धी प्रारम्भिक सिद्धान्त सब आ गए थे। उनकी उदाहरण सहित व्याख्या अपेक्षित थी। वह डाक्टर साहब ने बड़ी कुशलता से पूरी कर दी। उनकी सहायता के बिना उस निबन्ध को जैसा का तैसा छापने का मेरा साहस न होता।'[1]

इसके अंतर्गत रहस्यवाद का सामान्य परिचय, दर्शन और रहस्यवाद, सूफी दर्शन और रहस्यवाद, ज्ञान मार्गी संत परम्परा में रहस्यवाद, सूफी प्रेम गाथाएं और रहस्यवाद, आधुनिक काव्य में रहस्यवाद, आधुनिक रहस्यवाद की साहित्यिक पृष्ठिभूमि, उपसंहार एवं मूल्यांकन तथा रहस्यवाद का महत्त्व और उसकी न्यूनताओं को प्रत्यांकित किया है। अन्त में परिशिष्ट भी दिया है जिसमें पाश्चात्य विद्वानों द्वारा की गई रहस्यवाद की कुछ व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं।

२. सम्पादित साहित्य

(१) **'भाषा-भूषण'** सन् १६३३ में साहित्य रत्न भंडार, आगरा से प्रकाशित हुआ। इसमें नायक, नायिका भेद, अनुभाव भेद, हाव (दस), विरह की दशाएँ, रस, स्थायीभाव, उद्दीपन, आलम्बन, विभाव, व्यभिचारी, विभिन्न अलंकारों की परिभाषाएँ तथा उदाहरणों को बाबूजी ने संकलित किया है। हिन्दी की 'विशेष योग्यता' परीक्षा में 'भाषा-भूषण' नामक प्रसिद्ध अलंकार ग्रंथ रखा गया था। इस ग्रंथ का कोई संस्करण उपलब्ध न होने के कारण बाबूजी ने इसका सम्पादन किया। इसमें मूल ग्रंथ का पाठ कई प्रतियों से संशोधन करके छापा गया है।

(२) **'मंजरी' भाग** १, २, ३, ४, सन् १६४० में गयाप्रसाद एंड संस, आगरा से प्रकाशित हुई जिसमें बाबूजी ने बालक-बालिकाओं के निमित्त सरल हिंदी कविताओं का संकलन किया है।

(३) **'युगधारा'** संग्रह सन् १६४८ में दी ओरियंटल पब्लिशर्स लिमिटेड, आगरा से बी० ए० के परीक्षार्थियों के निमित्त प्रकाशित हुआ। इसमें मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, अयोध्यासिंह उपाध्याय, बलदेव प्रसाद मिश्र, सुमित्रानदंन पन्त तथा सुश्री महादेवी वर्मा आदि कवियों तथा कवियत्री की कविताओं का संग्रह गुलाबरायजी ने किया है। अन्त में टिप्पणियाँ भी दी हैं जो कविताओं के कठिन शब्द एवं स्थलों को समझने में सहायक हैं।

(४) **'कथा कुसुमांजलि'** संग्रह सन् १६५२ में दी यूनिवर्सिटी बुक डिपो, आगरा से प्रकाशित हुई। इसके सम्पादक श्री जैनेन्द्रकुमार तथा गुलाबरायजी दोनों ही हैं। इसके अन्तर्गत प्राचीन, नवीन नथा नवीनतम तीनों प्रकार की कहानियों का संग्रह है। संकलित कहा-

---

१. गुलाबराय, रहस्यवाद और हिन्दी कविता के दो शब्द में।

नियों के प्रारम्भ में गुलाबराय जी ने परिचय दिया है तथा उनकी विशेषताओं को भी अंकित कर दिया है।

(५) **'आलोचक रामचन्द्र शुक्ल'** सन् १९५२ में आत्माराम एंड संस, दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इसके सम्पादक गुलाबराय जी तथा विजयेन्द्र स्नातक हैं। इसमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के जीवन, व्यक्तित्व और कृतित्व पर आलोचनात्मक प्रकाश डालने वाले विभिन्न विद्वानों के लेखों का संकलन किया गया है।

(६) **'गाँधीय मार्ग'** सन् १९५३ में गयाप्रसाद एंड संस, आगरा से प्रकाशित हुआ। इसमें, गाँधी-मानस-सम्बन्धी मौलिक लेखों को बाबूजी ने संकलित किया है।

(७) **'कथा कुसुमांजलि'** संग्रह सन् १९५६ में यूनिवर्सिटी बुक डिपो, आगरा से प्रकाशित हुई। इसके सम्पादक गुलाबराय एवं डा. शिवमंगल सिंह 'सुमन' हैं। इसमें इन्टरमीडियेट के स्तर के योग्य हिन्दी कहानियों का संकलन किया गया है।

(८) **'गद्य प्रभा'** संग्रह सन् १९५६ में दी एजुकेशनल प्रेस, आगरा से प्रकाशित हुआ। इसमें हिन्दी गद्य की भिन्न-भिन्न शैलियों का प्रतिनिधित्व करने वाले निबंधों का संकलन किया गया है।

(९) **'कथा कुसुमांजलि'** संग्रह सन् १९६२ में दी यूनिवर्सिटी बुक डिपो, आगरा से प्रकाशित हुई। इसके सम्पादक गुलाबराय तथा डा. किरणकुमारी गुप्त हैं। इसके अन्तर्गत विश्वविद्यालय स्तरीय हिन्दी कहानियों का संकलन किया गया है।

(१०) **'गद्य सुधा'** नामक संकलन सन् १९६२ में लायल बुक डिपो, ग्वालियर द्वारा प्रकाशित हुआ। इसमें छात्रोपयोगी निबंधों का संकलन हुआ है।

(११) **'एकादशी'** संग्रह सन् १९६२ में गयाप्रसाद एंड संस, आगरा से प्रकाशित हुई। इसमें साहित्यिक महत्त्व की ग्यारह कहानियों का संकलन हुआ है।

(१२) **'प्रसादजी की कला'** संग्रह साहित्य रत्न भंडार, आगरा से प्रकाशित हुआ। इसमें प्रसादजी पर विभिन्न लेखकों के लिखे निबंधों को संकलित किया गया है।

३. भूमिका लेखन के रूप में साहित्य

(१) **'सूर-मुक्तावली'** सन् १९३६ में गयाप्रसाद एंड संस, आगरा से प्रकाशित हुई। इसके सम्पादक श्री हरदयालुसिंह हैं तथा संशोधक चतुर्वेदी अयोध्याप्रसाद पाठक हैं। इसका प्राक्कथन गुलाबरायजी ने लिखा है।

(२) **'निबन्ध रत्नाकर'** सन् १९५२ में रत्न प्रकाशन मन्दिर, आगरा से प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक को डा० सत्येन्द्र ने लिखा है। इसकी भूमिका गुलाबरायजी ने लिखी है।

(३) **'शैशव'** सन् १९५८ में गयाप्रसाद एंड संस, आगरा से प्रकाशित हुई। इसको श्री वीरेन्द्र 'मृदु' ने लिखा है। इसका प्राक्कथन गुलाबरायजी ने लिखा है।

(४) **'भारत उठ रहा है'** सन् १९६१ में गयाप्रसाद एंड संस, आगरा से प्रकाशित हुई। इसके लेखक श्री मनोरंजन क्रान्छल तथा श्री सत्यनारायण अग्रवाल हैं। इसकी भूमिका गुलाबरायजी ने लिखी है।

●

डा. विश्वनाथ शुक्ल

मेरी असफलताएँ

'मेरी असफलताएँ' अनेक दृष्टियों से बाबू गुलाबरायजी की एक अनूठी कृति है। अन्य भाषाओं की बात हम नहीं जानते, आत्मकथा साहित्य में हिन्दी में अपनी शैली की सम्भवतः यह एक ही पुस्तक है। इसमें लेखक ने स्वयं को मूर्खता या अज्ञता का केन्द्र बिन्दु मानकर हास्य रस के आलम्बन रूप में चित्रित किया है, किन्तु फिर भी साहित्य के उच्च उद्देश्य 'शिवेतरक्षतये' को उन्होंने निरन्तर अपने सामने रखा है। बाबूजी सच्चे अर्थों में एक साहित्यिक जीव थे। जीवन की विषम से विषम और दुःखमय परिस्थिति का उपयोग भी वे किस प्रकार साहित्यिक कार्यों के लिए कर लेते थे, इसका प्रमाण उनकी आत्मकथा 'मेरी असफलताएँ' है। पुस्तक के अभिधान से ही लेखक ने अपने इस मन्तव्य और केन्द्रीय भाव को व्यक्त कर दिया है कि इस आत्मकथा के नायक ने अपने जीवन की सफलताओं और उपलब्धियों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान अपनी असफलताओं और त्रुटियों को दिया है। उनके स्पष्ट और सत्य उल्लेख से इस आत्मकथा में कुछ ऐसा अद्भुत आकर्षण आ गया है कि कोई भी सहृदय मानव इसके नायक के प्रति श्रद्धा से प्रणत हो जाता है। वह उस अर्थ में हास्य रस का आलम्बन नहीं रहता, जिस रूढ़ और प्रचलित अर्थ में हम अपने को आश्रयरूप में प्रतिष्ठित कर हास्य की रस-चर्वणा करते हैं। यहाँ वर्णित हास्य के विभावानुभावव्यभिचारिसंयोग से जिस रस की निष्पत्ति होती है, उसमें से अंगीरस की भाँति शान्त रस निरन्तर व्यंजित होता चलता है—लेखक हमें सतत रूप से मानवता की उस उच्च भूमि की ओर इंगित करता हुआ मिलता है जहाँ पहुँचकर कबीर ने कहा था—

कबिरा आप ठगाइए, और न ठगिए कोय।
आप ठगे सुख होत है, और ठगे दुःख होय॥

अपनी इस पुस्तक की भूमिका—'दो शब्द बक़लम खुद' में बाबूजी ने अपनी आत्मकथा लिखने के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"मेरे पास ख्यातनामा महापुरुषों के से कोई अमूल्य अनुभव, राजनीतिक रहस्य, साहित्यिक सेवाएँ, जीवन-आदर्श और धार्मिक एवं नैतिक सिद्धान्त बतलाने को नहीं हैं, फिर मैं अपने पाठकों का धन और समय क्यों नष्ट करूं? 'मन्दः कवि यशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्'। उपहास में भी मेरी लक्ष्य-सिद्धि है।

फ़ारसी में एक हिकायत है कि एक अक्लमन्द से किसी ने पूछा कि आपने अक्लमन्दी किससे सीखी? उत्तर मिला—'अज़ बेवकूफ़ाँ' अर्थात् मूर्खों से। ठीक इसी भाव को रखकर आप लोग भी मेरी पुस्तक से लाभ उठा सकेंगे।

इस आत्मकथा के आधार पर हम बाबूजी के स्वभाव की निश्छलता, निरभिमानिता, नम्रता, आडम्बरहीनता और हास्य—इन पाँच विशेषताओं का अनुभव कर सकते हैं। बाबूजी ने अपने पूर्ववर्ती कुछ प्रसिद्ध और यशस्वी आत्मकथा लेखकों—महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और श्यामसुन्दरदास का उल्लेख किया है और मन ही मन संकोच में पड़ गए हैं कि इतने स्वनामधन्य महापुरुषों के आत्मचरितों की श्रृंखला में उनकी आत्मकथा की कड़ी कहीं अशोभन तो न दिखेगी? यह भावना बाबूजी की शुद्ध विनम्रता ही कही जायगी और उन्होंने अपनी तारतमिक लघुता को भी जो आत्मकथा का नायक बनाने का औचित्य प्रदान किया उसके लिए लिखा है—

"बड़े आदमियों के चरित्र में इतनी बड़ी बड़ी बातें रहती हैं कि उनके लिए किसी को कवि बना देना सहज सम्भाव्य है। मुझसे तो वे बातें कोसों दूर हैं। वे शायद मेरे उच्छृंखल स्वप्नों के क्षेत्र से भी बाहर हैं किन्तु मुझे अपने तुच्छ जीवन में कुछ हास्य और मनोरंजन की सामग्री मिली है, उसको आपके सामने रखने का मोह संवरण नहीं कर सकता। मैं तो रत्नों से तो नहीं काँच की मणियों से आपका मनोरंजन करना चाहता हूँ। आप सच्चे वेदान्तियों की भाँति कंचन को मिट्टी न समझकर मिट्टी में कंचन देखिए।"

आत्मकथाकार के व्यक्तित्व के बाबूजी ने दो पहलू माने हैं:—एक चरितनायक का, दूसरा लेखक का। 'मेरी असफलताएँ' के नायक वे स्वयं हैं। स्वयं को वे एक अत्यन्त साधारण (मीडियोकर) व्यक्ति मानते हैं और उसके व्यक्तित्व में कोई आकर्षण नहीं लेखते। उसके जीवन में कोई ऐसी प्रकाण्ड घटनाएँ या अद्‌भुत प्रसंग नहीं, जो पाठक को अपनी ओर आकर्षित करें। हाँ, एक लेखक के रूप में वे अपनी क्षमता और शक्ति से परिचित हैं। उनके पास हास्य और व्यंग्य की विलक्षण प्रतिभा है। अपने हास्य का स्वरूप-लक्षण भी वे 'साहित्यिक हास्य' कहकर स्पष्ट कर देते हैं। अपनी पुस्तक में उन्होंने व्यर्थ का (Unproductive) सस्ता, 'धौल धप्पे' और 'हू हक' का हास्य नहीं बिखेरा है। मनोरंजन के द्वारा भी मनुष्य जीवन को अपने अनुभवों और साधना के द्वारा उच्चतर बनाने की कामना उनकी सदाशयता का प्रमाण है। अपने इन अनुभवों और दोषों के उल्लेख द्वारा वे यह ध्वनित करते हैं कि 'मैं डूबा तो डूबा, तुम न डूबना।' यही सच्चे साहित्य का संदेश हो सकता है। यही कान्तासम्मितउपदेश द्वारा

शिवेतरक्षति उसका उद्देश्य हो सकता है। इसी सार्वभौम हित की कसौटी पर खरी उतरने के कारण 'मेरी असफलताएँ' एक अत्यन्त लोकप्रिय पुस्तक हुई। १९६० ई. तक ही इसके हज़ारों प्रतियों के पाँच संस्करण निकल चुके हैं। अब भी इसकी लोकप्रियता दिनोंदिन बढ़ रही है।

तेईस शीर्षकों एवं चार परिशिष्टों में विभक्त इस आत्मकथा में बाबू गुलाबराय जी ने अपने सत्तर वर्ष से भी अधिक दीर्घ जीवन का बाल्य से बार्धक्य तक का क्रमिक विकास दिखाया है। अपने प्रारम्भिक जीवन, अपने गुरुओं, अपनी रियासती नौकरी, अपने मकान निर्माण, अपने लेखक बनने के इतिहास तथा अपने दैनिक जीवन के कार्यों के उन्होंने अत्यन्त सजीव वृत्तचित्र अत्यन्त रोचक शैली में खींचे हैं। कुछ शीर्षक स्वयं ही बहुत आकर्षक हैं, जैसे—सेवाधर्मः परम-गहनो योगिनामप्यगम्यः।' 'मेरा मकान—मेरी मूर्खता की साकार मूर्ति,' 'ठोकपीटकर लेखक-राज', 'हाथ झारिके चले जुआरी'। आदि।

किसी लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार के विषय में उसकी स्वयं की आत्मकथा से अधिक प्रामाणिक ज्ञान और क्या हो सकता है। वह अनेक घटनाओं और प्रसंगों के माध्यम से अपना अन्त-र्बाह्य खोलकर रख देता है। आत्मकथा एक प्रकार से उसकी जीवनव्यापी दैनिकी (डायरी) का संक्षिप्त किन्तु पूर्णरूप है जिसमें जीवन के साधारण और असाधारण, उत्थान और पतन, दिशा और मोड़, प्रेरणा और पराभव, सभी का एक धरातल पर सर्वेक्षण होता है। यही आत्मकथा-साहित्य का महत्त्व है। इससे संग्रह-त्याग का विवेक होता है। बाबूजी की आत्म-कथा से भी उनके गुणदोषों और जीवन-दर्शन का ज्ञान होता है। 'प्रभु जी मोरे औगुन चित न धरौ,' सूर की इस प्रसिद्ध पंक्ति को शीर्षक मानकर उन्होंने अपने दोषों पर एक जगह प्रकाश डाला है—'ख्याति की चाह को मिल्टन ने बड़े आदमियों की अन्तिम कमज़ोरी कहा है लेकिन शायद यह मेरी आदिम कमज़ोरी है, क्योंकि मैं छोटा आदमी हूँ। यश-लोलुपता के पीछे दुःख भी काफ़ी उठाना पड़ता है। ख्याति की चाह ही, जिसको मैं दूसरों की आँख में धूल झोंकने के लिए साहित्य-सृजन की अदम्य प्रेरणा कह दूँ—मुझे इस समय जाड़े की रात में गद्दे लिहाफ़ का संन्यास करा रही है।" 'ख्याति की चाह' को यहाँ बाबूजी ने अपनी सहज नम्रता और सौजन्यवश लोकेषणा का पर्याय मान लिया है जिसे तुलसीदास ने 'सुतबित लोकईसना तीनी' में परिगणित कर क्लेश का कारण मानते हुए त्याज्य बताया है। किन्तु वास्तव में साहित्य-स्रष्टा की लोकेषणा वह तामसी और राजसी वस्तु नहीं है जो त्याज्य हो। वह तो स्पृहणीय है और काव्य—व्यापक अर्थ में साहित्य-सर्जन का प्रथम उद्देश्य—'यशसे' द्वारा प्रतिष्ठित किया गया है। वैसे भी भारतीय तत्त्वचिन्तकों ने यशः संचय को महापुरुषों का प्रकृतिसिद्ध सहज-स्वभाव बताया है—

'यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्।'

अतः वृद्धावस्था में भी निरालस्य होकर शीत की लम्बी लम्बी 'मृगनेत्रा' रात्रियों में सुकोमल शय्या के सुख का परित्याग कर साहित्य-साधना करना बाबूजी का स्पृहणीय गुण माना जायगा, दोष नहीं। जहाँ उन्होंने पशुओं और मनुष्यों के सामान्य धर्मों के तारतम्य के द्वारा अपने अवगुणों का स्पष्ट उल्लेख किया है वहाँ लिखते हैं—'आहारनिद्राभयमैथुनंच' में और गुणों के

साथ भय मुझमें प्रचुर मात्रा में है। इसे मैं पहले गिनता हूँ।' आहार को पंडितों ने पहला स्थान दिया है, किन्तु मैं उसे भय के पश्चात् दूसरा स्थान देता हूँ। अच्छे भोजन का लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता।—'जब मैं न बातें करता हूँ और न पढ़ता हूँ तब सोना ही चाहता हूँ। इसीलिए मैंने अपने 'ठलुआ क्लब' का समर्पण सुखदुःख की अपनी चिरसंगिनी परम प्रेयसी शय्या देवी को किया है। रियासत में रहकर मुझमें दो ही विलासताएँ आयी हैं, एक दिन में सोने की और दूसरे धूप में न चलने की।" —"शेष जीवधारियों की शेष कमज़ोरियाँ भी मुझमें उचित सीमा के भीतर वर्तमान हैं। अन्तिम को मेरी अवगुणों की सूची में अन्तिम ही स्थान मिला है। उसको मैं मानसिक रूप देने का ही गुनहगार हूँ क्योंकि मनोभाव का उचित स्थान मन में ही है।' 'नेत्रसुखं केन वार्यते' के सिद्धान्त को मैं मानता हूँ। किन्तु गंजे के नाखून की भाँति नेत्र की ज्योति भी ईश्वर की दया से मन्द ही है। नेत्रों के पाप से भी यथासम्भव बचा ही रहता हूँ। किन्तु मानसिक दृष्टि मन्द नहीं हुई है। उस दिन को मैं दूर ही रखना चाहता हूँ जब मनमोदकों से भी वंचित हो जाऊँ।" सामान्यतया हाड़मांस के प्रत्येक प्राकृत मानव-प्राणी में ये बातें पाई जाती हैं। अतः किसी व्यक्ति विशेष को इनका आस्पद मानना ठीक नहीं है। किन्तु आत्मकथा लेखक में जो सचाई और ईमानदारी अपेक्षित है, बाबू गुलाबराय जी ने उसका निर्वाह किया है। इसीसे इस आत्मकथाकार के प्रति पाठक के हृदय में प्रेमानुभूति जग जाती है। गुणों और दोषों का संकाय ही मानवत्व है। उसमें निरे गुण ही गुण हों, या निरे अवगुण ही अवगुण हों, यह अनैसर्गिक है। बाबूजी इस आधारभूत सत्य में विश्वास करते हैं। अपने जीवनदर्शन और साहित्यिक कृतित्व के संबंध में उन्होंने अपनी सत्तरवीं वर्षगाँठ पर जो वक्तव्य दिया था, वह महत्वपूर्ण है। उन्होंने कहा था—"मुझमें कमजोरियाँ और बुराइयाँ हैं और भलाइयाँ भी हैं। मैं चाहता हूँ कि मेरा मूल्यांकन मेरी समग्रता में हो। मैं भी दूसरों का मूल्यांकन समग्रता में करना सीखा हूँ। इसीलिए दूसरों से मेरी अनबन कम होती है। मेरे जीवनदर्शन में दूसरों के दृष्टिकोण को महत्व मिला है।—ज्ञान के मन्दिर में मैंने बेचारे अछूतों की भाँति सत्य की कुछ दूर से ही झाँकी पायी है। उसके आगे मैं सदा नतमस्तक रहा हूँ। 'बुधजनसकाशात्' जो कुछ भी सीख सका हूँ, उसने मुझे मदान्धता के ज्वर से बचाए रखा है। यद्यपि मैंने पर्याप्त साहित्यिक मान पाया है, तथापि मैं अपनी न्यूनताओं से भली प्रकार अवगत हूँ। मैंने दूसरों की कृतियों की सराहना की है और इसलिए मैंने अपने अल्पज्ञान को एक वरदान ही समझा है। इस अल्पज्ञान के कारण मैं दूसरों के थोडे से कृतित्व की अवहेलना नहीं कर सका हूँ। इसी के कारण मैं उन भूल-भुलैयों और पेचीदगियों से बचा रहा हूँ, जो दूसरों को चक्कर में डाल देती हैं। मैं मध्यम श्रेणी के लोगों के लिए ही लिख सका हूँ। इसीलिए मेरा साहित्य लोकप्रिय हुआ है।" अपने साहित्य के इस मूल्यांकन से इस कृतिकार ने यह व्यंजित कर दिया है कि वह विषयवस्तु की दृष्टि से बहुत मौलिक होने का दावा नहीं करता। हाँ, अपनी अभिव्यक्ति और लेखनशिल्प में वह पर्याप्त मौलिकता रखता है और सम्भवतः इसीलिए उसे लोकप्रियता प्राप्त हुई है।

शैली-शिल्प की दृष्टि से 'मेरी असफलताएँ' का महत्व विषय-वस्तु के महत्व से कुछ कम नहीं है। बल्कि लेखक ने विषय वस्तु को कुछ भी महत्व नहीं दिया है, और उसे 'कुछ हास्य

और मनोरंजन की सामग्री' मात्र माना है, किन्तु वस्तुतः विषय-वस्तु से वह व्यंजना निकलती है कि समाज में ऐसे अवांछित और अनैतिक तत्त्व हैं जिन्होंने इस आत्मचरित के नायक के सौजन्य और सादगी का दुरुपयोग किया। ऐसे व्यक्तियों पर लेखक ने अपने व्यंग्य और हास्य से गहरा प्रहार किया है, यद्यपि यह अपने को 'बलि का बकरा' बनाता है पर प्रहार स्वयं घातक पर पड़ता है। यह चोट लेखक की वचन-भंगिमा या वक्रोक्ति से जन्म लेती है। इसीलिए लेखक को अपनी यह कृति बहुत प्रिय है। इसमें वह अपने अहम् की तुष्टि पाता है। इसमें वह अपनी निबन्धशैली का पूर्ण प्रतिनिधित्व भी मानता है। इस पुस्तक के तृतीय संस्करण की भूमिका में बाबू गुलाबराय जी ने लिखा है—"इस पुस्तक में मेरा आत्मचरित है। इसमें चाहे मेरी असफलताएँ ही क्यों न हों, इसका सम्बन्ध मेरे अहं से है। 'आत्मन कामाय सर्वंप्रियं भवति'। इस न्याय से इसके महत्व की अधिक उपेक्षा न की जा सकी। इसमें मेरे गुण दोषों के साथ मेरी शैली के भी गुण दोषों का समावेश हो गया है। इस पुस्तक के निबन्ध मेरी शैली का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं।" इस प्रकार इस आत्मकथा का महत्त्व निर्विवाद है। इसके आधार पर हम बाबूजी की लेखन शैली की स्वरूपगत विशेषताओं तक सरलता से पहुँच सकते हैं। यद्यपि बाबूजी की शैली का प्राणभूत तत्व, उसकी हास्य-व्यंग्य प्रवणता है, तथापि वर्णन में कहीं-कहीं स्वभावोक्ति भी सरसता का संचार कर देती है, जैसे :—

"हम लोग एक ब्राह्मणी बुढ़िया के घर के दूसरे भाग में रहते थे। उसका नाम था दिबारी की माँ। मैं अपेक्षाकृत अभावों की दुनिया में पला था। न तो मेरी महत्त्वाकांक्षाएँ ही बढ़ी थीं, और न सुविधाओं का अभाव था।—घर का वातावरण धार्मिक था। माता जी सूर और कबीर के पद गाया करती थीं। मुझ पर प्रह्लाद की कथा का बड़ा प्रभाव था।"

बाबूजी की शैली की एक बहुत ही स्पष्ट विशेषता है—प्रसिद्ध मुहावरों, लोकोक्तियों, सुभाषितों और प्रसिद्ध साहित्यकारों, कवियों, दार्शनिकों और नीतिकारों की उक्तियों का सुष्ठ उपयोग। यह सामग्री वे संस्कृत, हिन्दी, अरबी, फ़ारसी और अँग्रेजी से ग्रहण करते हैं। आनुपातिक क्रम में प्रथम स्थान संस्कृत-हिन्दी को और व्यक्तियों में कालिदास, भर्तृहरि तुलसी, सूर और कबीर को प्राप्त है। सम्भवतः तुलसी की उक्तियों का उन्होंने सर्वाधिक उपयोग किया है। उसमें भी चूँकि रामचरितमानस से उनका बाल्य-परिचय था, सर्वाधिक उक्तियाँ रामचरितमानस से ली हैं। इस पुस्तक के दो पृष्ठों में ही मुझे रामचरितमानस की निम्नांकित पाँच उक्तियाँ मिल गईं :—

१. सन्त-हंसगुन गहहिं पय, परिहरि बारिबिकार।
२. चहिय अमिय जग जुरइ न छाछी।
३. कामी बचन सती मन जैसे।
४. श्रवन समीप भए सित केसा।
५. रामकृपा कछु दुर्लभ नाहीं।

इन्हीं दो पृष्ठों में रामचरितमानस की इन उक्तियों के अतिरिक्त तुलसीदास के अन्य ग्रन्थों के भी उद्धरण हैं। संस्कृत-हिन्दी के उद्धरणों को बाबू जी चार प्रकार से प्रयुक्त करते हैं :

१. मूल उद्धरण को अपने वाक्य का अंग बनाकर।

२. मूल उद्धरण के अस्तित्व को पृथक रखते हुए वाक्यांश रूप में।

३. मूल उद्धरण में अपने मन्तव्य के अनुसार कुछ परिवर्तन करके, और

४. उद्धरण के अनुवाद को अपने वाक्य का अंग बनाकर।

यहाँ चारों प्रकार की शैलियों के उदाहरण प्रस्तुत हैं :

१. अ—'मैं इस महत्वाकांक्षा को कीर के कागर लीं' छोड़ भी देता।'
   आ—'मंगल को 'स्वर्णशैलाभदेहम्' हनूमान जी की गुरधानी बांटता।'

२. अ—'मुझे बाबा तुलसीदास की' 'दण्ड जतिन कर' वाली उक्ति में संदेह है।'
   आ—'विद्यारम्भे विवाहे च' के अनुसार उन्होंने गणेश जी के बारह गणों का उच्चारण किया।'

३. अ—'मैं हंस तो नहीं हूँ जो 'पय पियइ परिहरि बारि बिकार।'
   आ—'योगेनान्ते तनुत्यजाम्' के स्थान पर 'रोगेणान्तेतनुत्याम्।'

४. अ—'केन्वस शू' को तुषार हार' तथा कपूर कुन्देन्दुसम धवल बना लेते थे।'
   आ—वे व्यक्त होकर नियतिकृतनियमरहिता ब्रह्मा की सृष्टि के नियमों से परे रहनेवाली रुचिर रचनाओं की सृष्टि करने लग जाते हैं।

उद्धरणों का एक और उपयोग उन्होंने अपनी शैली में किया है—कभी वे सांगरूपक बाँधकर अपने कथन में रंजकता ला देते हैं, जैसे,

'भगवान् को छछिया भर छाछ के बजाय बेलन के बल जगत् की कलिमा मिलाकर उँगलियों पर नचाने वाले कम्पोजीटर देव की अनुपस्थिति में काटछाँट की।' (पृ. १६७) संस्कृत की स्तोत्र-शैली में इस पुस्तक के परिशिष्ट में उनका जो 'कम्पोजीटर स्तोत्र' है वह उनकी एक विशिष्ट शैली का उदाहरण है। उसमें उपमा, रूपक, श्लेष और अनुप्रासों का विशेष प्रयोग किया गया है, एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"आप ही अपने विशाल विद्युत्विनिन्दित क्षिप्र और चंचल कर पुटों द्वारा देश-विदेश में वाग्देवी का विस्तृत साम्राज्य स्थापित कर देते हैं।" (पृष्ठ २०१)

संस्कृत, हिन्दी, अरबी, फ़ारसी और अँग्रेजी साहित्य के उद्धरण बाबूजी ने अपने कथन को अधिक रंजक, प्रामाणिक और प्रभावशाली बनाने के लिए दिये हैं। इससे उनकी मौलिकता में निश्चय ही कमी आई है, पर यह उनकी बहुश्रुतता और अध्ययनशीलता का भी प्रमाण है। उनकी मौलिकता विरोध और व्यंग्य में विशेष रूप से व्यक्त हुई है, जैसे,

१. 'यदि आप इस पुण्यकार्य में मेरा सहयोग देंगे तो मैं अपनी असफलताओं के वर्णन में अपने को सफल समझूँगा।'

२. 'मिठाई मैं मोल लेकर बहुत कम खाता हूँ क्योंकि मैं आफ़त मोल नहीं लेता।'

बाबूजी की भाषा अधिकांश संस्कृतगर्भित हिन्दी है, किन्तु फ़ारसी के पूर्व अध्ययन के संस्कार से कभी कभी स्वाद या ज़ायका बदलने के लिए वे ऐसी भाषा भी लिख जाते हैं—'मुझ जैसे शर्मदार, पस्तकद और पस्तहिम्मत मनुष्य-डुबान तो नींव गहरी हो गई है। अशरफ़ुलमख़लूक़ात हाथी से किस बात में कम हूँ। फिर भी अभी 'दिल्ली दूरस्त' की भाँति प्लिन्थ दूर है।" (पृष्ठ ८२)

बाबूजी की शैली का प्रधान तत्त्व उसकी हास्य प्रवणता है। उसी में उसका चमत्कार निहित है। हास्य का पुट देने के लिए एक बार वे भाषा में आडम्बर को भी स्थान देने में नहीं चूकते। वे प्रायः गम्भीर प्रसंगों में भी हास्य का समावेश करते हैं। जहाँ हास्य के कारण अर्थ का अनर्थ होने की सम्भावना हो, या अत्यन्त ही करुण प्रसंग हो, वहीं वे हास्य के प्रयोग से बचते हैं, अन्यथा वे अपने निबन्धों में प्रसंगवश हास्य का स्वागत करते हैं।

बाबूजी ने अपने हास्य के कुछ टेकनीक भी बताए हैं :—

१. कहावतों या अवतरणों में अपने अनुकूल हेरफेर कर लेना (जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं।)
२. श्लिष्ट शब्दों के प्रयोग, जैसे, जो कुछ (रुपया) जमा था, अब वह खेतों में जमा है।
३. मुहावरों के लाक्षणिक अर्थ का अभिधेयार्थ में प्रयोग, जैसे—'अधिक वर्षा से बगीचा नष्ट होने पर उन्होंने लिखा, 'मेरी मेहनत पर पानी पड़ गया।' पपीते में फल आने पर लिखा, 'मेरी मेहनत सफल हो गई।'
४. सूक्तियों के विशिष्ट अर्थों का अभिधा में प्रयोग, जैसे—काशीफल की बेल में फल न आने पर उन्होंने गीता का यह श्लोकार्ध लिख दिया —'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'
५. बेमेल बातों के कुलाबे मिलाना—जैसे, "उर्दू फ़ारसी के शब्द और मुहावरे भी कभी-कभी पूर्व जन्म में किए हुए पुण्य की भाँति सहायक होते हैं।"
६. अपनी किसी आदत या प्रकृतिगत दोष के कारण स्वयं को उपहास्य बनाना—जैसे, "भुलक्कड़ भी मैं अव्वल दर्जे का हूँ, यद्यपि इतना नहीं कि चश्मा लगाकर चश्मे को ढूँढ़ता फिरूं अथवा स्टेशन जाते हुए ऐसा भान होने पर कि घड़ी घर भूल आया हूँ, जेब से घड़ी निकालकर देखूं कि घर से घड़ी लाने क समय है या नहीं।—फ़ाउण्टेन पेन, छड़ी, छाता और टोपी खो जाना तो साधारण बात है, मैं ओवरकोट तक खो चुका हूँ। यदि नहीं भूला हूँ तो दो चीज़ें—एक अपने को और दूसरा अपना चश्मा।"

'मेरी असफलताएँ' में बाबूजी ने अपनी भाषाशैली के दोषों का विवेचन स्वयं किया है। भाषा को आडम्बर से दूर रखने के प्रयत्न से उनकी भाषा में शैथिल्य आ जाता है। सरल भाषा को गौरवशालिनी बनाने में उन्होंने अपनी असमर्थता स्वीकार की है। उन्होंने कहीं कहीं अपनी भाषा का पांडित्य से बोझिल और कृत्रिमता के दोष से युक्त होना भी स्वीकार किया है। उसमें उन्होंने पुनरुक्ति दोष के दर्शन भी किए हैं। ऐसे बहुत से दोषों के रहते हुए भी जो उनकी रचनाएँ लोकप्रिय हुई हैं, उसका कारण उन्होंने बताया है, "मैं कहने के लिए कुछ तथ्य की बात खोजता हूँ और उसे येन केन प्रकारेण पूर्णतया हृदयंगम कराने का प्रयत्न करता हूँ। उसमें हास्य का पुट देकर उसे ग्राह्य बना देता हूँ। यही मेरी क़लम का राज़ है।"

इस प्रकार एक आत्मकथाकार एवं लेखक के व्यक्तित्व का सच्चा स्वरूप व्यक्त करने के कारण बाबू गुलाबरायजी की आत्मकथा 'मेरी असफलताएँ' का उनके समूचे साहित्य में एक विशिष्ट महत्व का स्थान है।

●

डा. विश्वनाथ मिश्र

समीक्षा पर पाश्चात्य प्रभाव

बाबू गुलाबरायजी हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में उन दिनों अग्रसर हुए जब महात्मा गाँधी के नेतृत्व में हमारा स्वाधीनता आन्दोलन निरन्तर घनीभूत हो रहा था। साहित्यकार सहज रूप में भावुक, अनुभूतिप्रवण और ग्रहणशील होता है; और वह कितना भी युग-युग की भावनाओं को अभिव्यक्त करने की बात कहता हो, युग का—अपने समय का—दर्शन उसकी रचनाओं में प्रकट होता ही है। इसी सहज वृत्ति को लेकर बाबूजी ने पाश्चात्य मनोविज्ञान, साहित्य-शास्त्र एवं दर्शन ग्रंथों का गंभीर अध्ययन करके भी भारतीय साहित्य-दर्शन का पक्ष ग्रहण किया। पाश्चात्य प्रभाव उनके ऊपर जितना कुछ है भी, उसका प्रयोग उन्होंने भारतीय साहित्य-दर्शन के सम्यक विवेचन के लिए किया है। पश्चिम के मनोवैज्ञानिकों में उन्होंने विलियम जेम्स, मार्ग्रेट ड्रमन्ड, सिडनी हर्बर्ट मेलोन, कार्ल लैन्ज, विलियम मैक्ड्यूगल आदि के ग्रंथों का अध्ययन किया है। रस सिद्धान्त की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए बाबूजी ने चार्ल्स डार्विन के ग्रंथ 'एक्सप्रेशन ऑफ इमोशन्स इन मैन ऐण्ड एनीमल्स' तथा डब्लू. बी. कैनन की रचना 'बॉडिली चेन्जेज़ इन पेन, हंगर फियर ऐंड रेज' से भी उद्धरण दिये हैं। सिग्मण्ड फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धान्त तथा एल्फ्रेड एडलर और कार्ल जुंग के मनोवैज्ञानिक विचारों का भी वे यथास्थान उल्लेख करते हैं। पाश्चात्य दार्शनिकों में इमैनुअल काण्ट, जार्ज व्लिहेल्म, फ्रेडरिक हीगल, हेनरी बर्गसाँ, बेनेडेटो क्रोचे आदि के साहित्यिक मन्तव्यों की भी उन्होंने चर्चा की है। पश्चिम के कुछ साहित्यकारों वर्ड्स्वर्थ, शेली, हैज़लिट, थैकरे, कारलायल आदि के भी अवतरण यदा-कदा उनके निबन्धों में मिल जाते हैं। किन्तु पश्चिम के इस विस्तृत सम्पर्क का

उपयोग, उन्होंने अपने देश के साहित्यशास्त्र को भली प्रकार समझने और समझाने के लिए ही किया है, उसके आलोक से उनकी दृष्टि में भारतीय साहित्यशास्त्र और स्पष्ट हो गया है; और उनका आलोचना साहित्य उसी स्पष्ट दर्शन का व्याख्यान है।

बाबूजी का सर्वप्रथम आलोचना ग्रंथ 'नवरस' (१९२०) है। सन् १९२९ ई. में उसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ; और रस-सिद्धान्त के विवेचन में पाश्चात्य मनोविज्ञान का उपयोग इस परिवर्द्धित संस्करण में ही देखने को मिला। सर्वप्रथम बाबूजी ने भारतीय साहित्य-शास्त्र में नवरसों के विवेचन में, जो गूढ़ मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त अप्रस्तुत रूप से वर्तमान है, उनके उद्घाटन का प्रयास किया। प्रारम्भ में रस निर्णय के प्रकरण में पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार मानसिक संस्थान की तीन प्रकार की अनुभूतियों—समवेदनात्मक, भावात्मक और और संकल्पात्मक—की चर्चा है। इसके अनन्तर भाव के सम्बन्ध में तीन मत दिये गये हैं, (१) भाव एक प्रकार के समवेदन हैं; (२) समवेदन नहीं वरन् समवेदन के गुण हैं; (३) भाव की समवेदन और संकल्प दोनों से ही स्वतंत्र स्थिति है। इसी स्थल पर पश्चिम के प्रसिद्ध मनो-वैज्ञानिकों विलियम जेम्स और कार्ल लैंज के मन्तव्य का उल्लेख है:—

"अनुभावों का अनुभव ही भाव है; हम रोते पहले हैं और दुःख पीछे होता है।"

किन्तु बाबूजी को यह विचार स्वीकार नहीं है:—

"पहले बाह्य कारणों द्वारा मन में भाव की उत्पत्ति होती है और पीछे से भाव का व्यंजक या परिचायक अनुभाव होता है।"

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक भाव (फीलिंग्स) और आवेग (इमोशन्स) में अन्तर करते हैं किन्तु बाबूजी भाव से दोनों का ही तात्पर्य ले रहे हैं।

डार्विन के ग्रंथ 'एक्सप्रेशन ऑफ़ इमोशन्स इन मैन ऐण्ड एनीमल्स' का उल्लेख बाबूजी ने 'नवरस' में अनेक स्थलों पर किया है। मनोगत भावों के शारीरिक अभिव्यंजन के विषय में डार्विन के विचारों का विस्तृत उल्लेख है:—

(१) हमारे विकास और शरीर रक्षा में कुछ क्रियाएँ विशेष सहायक रही हैं;

(२) किसी विशिष्ट मानसिक स्थिति में हम प्रतिकूल व्यवहार—यथा प्रेम में क्रोध—का भी प्रदर्शन करते हैं;

(३) हमारे संकल्प से स्वतन्त्र, स्नायु-संस्थान द्वारा संचालित क्रियाएँ भी अनेक हैं। किन्तु डार्विन के इन विचारों को बाबूजी अपनी रस-सिद्धान्त की व्याख्या के साथ भली प्रकार जोड़ नहीं पाये हैं। इसी प्रकार सात्विक भावों के वैज्ञानिक विवरण में मानव मस्तिष्क का शरीरवैज्ञानिक अध्ययन भी प्रकरण से पूर्णतः असम्बद्ध रह गया है।

इस पर सामान्य रूप से विचार करने के अनन्तर अलग-अलग रसों का अध्ययन है; और इस विवेचन में भी अनेक स्थलों पर पाश्चात्य विचारकों के मतों की चर्चा है। शृंगार रस के विवेचन में फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धान्त का उल्लेख है। इसी रस के प्रसंग में बोम गार्टन, हेम्सटर ह्विस, कान्ट, शेलिंग, हीगल, कॉजिन और क्रोचे की सौंदर्य की परिभाषाएँ भी उद्धृत हैं। हास्य के प्रकरण में प्रारम्भ में अंग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार विलियम मेकपीस थैकरे का हास्य रस की उपयोगिता के विषय में एक उद्धरण है, और उसके बाद इस रस के सम्बन्ध

में हैज़लिट, बर्गसाँ और मैक्ड्युगल के मतों की विस्तृत चर्चा है। करुणा के विषय में हीगल का एक उद्धरण है। वीर रस पर विचार करते हुए कारलायल के ग्रंथ 'हीरो ऐण्ड हीरो-वरशिप' के आधार पर कवि, नीतिज्ञ, भविष्यद्वक्ता, लेखक और दार्शनिक को भी वीर स्वीकार करने का आग्रह है। भयानक रस के विवेचन में कैनन की रचना, 'बॉडिली चेन्जेज़ इन पेन, हंगर, फियर ऐण्ड रेज' का संदर्भ देते हुए भय में थूक सूख जाने का उल्लेख है।

भारतीय साहित्य-शास्त्र में स्वीकृत 'नवरसों' पर विचार करने के अनन्तर बाबूजी ने मैक्ड्युगल द्वारा स्वीकृत मूल-मनोवृत्तियों के साथ उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस प्रसंग में विभिन्न मनोवृत्तियों के साथ नवरसों का तालमेल बैठाते हुए, शान्त रस पर पहुँच कर उनका वक्तव्य है कि यह तो निवृत्ति है, इसलिए इसमें प्रवृत्ति के लिए स्थान नहीं है। अन्त में उनका निष्कर्ष है कि स्वीकृत मनोवृत्तियों और रसों के अतिरिक्त भी, मनोवृत्तियाँ और रस हैं, उनकी खोज होनी चाहिए।

बाबूजी का सैद्धान्तिक आलोचना का दूसरा ग्रंथ 'सिद्धान्त और अध्ययन' है। सन् १९५१ में इसका पर्याप्त परिष्कृत एवं परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित हुआ। इसमें उनका प्रयास भारतीय साहित्यशास्त्र की महान उपलब्धियों को सहज बोध-गम्य बनाना रहा है, किन्तु अनेक स्थलों पर पाश्चात्य विचारकों के विशिष्ट मतों की चर्चा है तथा कुछ स्थलों पर उनका प्रभाव भी ग्रहण किया गया है। पाश्चात्य प्रभाव विशेष रूप से 'कविता और स्वप्न', 'रस और मनोविज्ञान', 'अभिव्यञ्जनावाद और कलावाद' और 'समालोचना के मान' प्रकरणों में है। अन्य निबन्धों में यदा-कदा पाश्चात्य विचारकों के मत उद्धृत कर दिये गये हैं। इस ग्रंथ में फ्रायड, एडलर, जुंग, क्रोचे, ब्रैडले, स्पिनगर्न आदि के साहित्यिक विचारों का अधिक सुलझा हुआ विवेचन मिलता है।

'काव्य की परिभाषा' शीर्षक प्रकरण में बाबूजी ने विंचेस्टर द्वारा निरूपित साहित्य के चार तत्वों—भावतत्व, कल्पनातत्व, बुद्धितत्व और रचनातत्व—का संक्षिप्त उल्लेख किया है, विवेचना उनकी अपनी है। उसके बाद शेक्सपियर, वर्डस्वर्थ, मिल्टन, कॉलरिज, कारलायल, मैथ्यू आर्नल्ड, डा. जानसन और हडसन की काव्य की परिभाषाएँ दी गई हैं। काव्य और कला के पारस्परिक सम्बन्ध एवं विभिन्न कलाओं का तुलनात्मक विवेचन करते हुए हीगल की ललित कलाओं की सैद्धान्तिक विवेचना का पर्याप्त सहारा लिया गया है, कुछ सामग्री वर्सफील्ड के 'दि जजमेंट इन लिटरेचर' से भी गृहीत है। साहित्य की मूल प्रेरणाओं पर विचार करते हुए फ्रायड, एडलर और जुंग के मतों का भी उल्लेख है। एडलर के इस विचार के स्पष्टीकरण के लिए कि हीनता की भावना से मुक्त होने एवं आत्मप्रतिष्ठा के लिए ही कोई व्यक्ति महान कार्य करता है, बाबूजी ने बिथोवियन के साथ कबीर, तुलसी और भूषण का उदाहरण दिया है। इसी प्रसंग में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा स्वीकृत कला के विभिन्न प्रयोजनों के विषय में कला कला के अर्थ, कला जीवन के अर्थ, कला जीवन से पलायन के अर्थ, कला जीवन में पलायन के अर्थ, कला सेवा के अर्थ, कला आत्मानुभूति के लिए, कला आनन्द के अर्थ, कला विनोद के अर्थ और कला सृजन की अदम्य आवश्यकता-पूर्ति के अर्थ की भी व्याख्या है। इसी प्रसंग में टॉलस्टाय के कला सम्बन्धी विचारों का भी उल्लेख है। 'कविता और स्वप्न' में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रस्तुत सामग्री का सुन्दर प्रयोग है, यह निबन्ध विस्तृत अध्ययन की अपेक्षा रखता है।

फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धान्त को बाबूजी ने भली प्रकार ग्रहण किया है। 'कविता और स्वप्न' शीर्षक निबंध में प्रारम्भ में तो उन्होंने पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के अनुसार स्वप्न प्रक्रिया का सामान्य विवेचन किया है। किन्तु जब वे कहते हैं, "(स्वप्न-प्रक्रिया में) हमारी अभिलाषाएँ भी बहुत कुछ योग देती हैं। हमारी चिन्ताएँ, उपचेतन में दबी हुई अभिलाषाएँ, अतृप्त वासनाएँ और कभी-कभी ऐसी बातें जिनकी हमारे मन पर छाप पड़ी हो, कल्पना के चित्रों के चुनाव में कारण बनती हैं।" (पृष्ठ ६६) तो फ्रायड का प्रभाव आरम्भ हो गया है। इसके अनन्तर उन्होंने फ्रायड के विचारों का स्पष्ट उल्लेख भी किया है—'फ्रायड ने स्वप्न के सम्बन्ध में बहुत कुछ अनुसन्धान भी किया है किन्तु उन्होंने उपचेतन में दबी हुई अतृप्त वासनाओं और विशेषकर काम वासनाओं पर अधिक जोर दिया है। उनके मत से स्वप्न में प्रतीकत्व भी होता है जो कि वासना पूर्ति के नग्न स्वरूप पर आवरण डाल देता है। अधिकांश स्वप्न अभिलाषा-पूर्ति के या किसी चिन्ता का हल ढूँढ़ने के होते हैं। वह भी एक प्रकार की अभिलाषा पूर्ति है।" (पृष्ठ ६६)

फ्रायड ने साहित्य सृजन की प्रक्रिया को स्वप्न-दर्शन की प्रक्रिया की भाँति माना है। बाबूजी ने भी कविता को स्वप्न तो नहीं, उसकी कुटुम्बिनी माना है, और दिवा-स्वप्नों के बहुत निकट बताया है। किन्तु आगे चलकर कविता की जो व्याख्या उपस्थिति की है वह पूर्णतः फ्रायड के ही अनुरूप है :—

"स्वप्न की तरह कविता करने में चाक्षुष प्रत्यक्ष की अपेक्षा मानसिक क्रियाओं का प्राधान्य होता है। कवि की रुद्ध और दबी हुई अभिलाषाएँ तथा वासनाएँ निर्झर के स्रोत की भाँति फूट पड़ती हैं और वह अपने अभिलिषित संसार का स्वप्न-द्रष्टा की भाँति मानसिक प्रत्यक्ष कर लेता है। उसमें उसकी अहं भावना की तृप्ति हो जाती है। जो बातें वह अपनी प्रेयसी से कहना चाहता है, कविता में उनके शब्दचित्र उपस्थित कर उनको मुखरित कर लेता है। मानस के भरत आदि पात्रों में तुलसी की भक्तिभावना बोलती हुई सुनाई पड़ती है। कविता की पंक्तियाँ कवि के सुख-दुःख की वाहिनी बन जाती हैं। कवि अपने भावों को व्यक्त करके कुछ हलकेपन और शान्ति का भी अनुभव करता है; शायद वह मिलन का सुख भी प्राप्त कर लेता है और किसी न किसी अंश में मनमोदकों से उसकी भूख भी बुझ जाती है।"

फ्रायड ने मनोविश्लेषण सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए अतृप्त आकांक्षाओं के अधीक्षक (सेंसर) को धोखा देकर प्रतीकात्मक रूप में प्रकट होने की बात भी कही है तथा कभी-कभी वासना का उन्नयन भी स्वीकार किया है। बाबूजी को उसकी ये विचार-सरणियाँ भी मान्य रही हैं :—

"फ्रायड के स्वप्न-द्रष्टा की भाँति कवि किन्हीं अंशों में प्रतीकों (सिम्बल्स) से भी काम लेता है। कभी कामवासना पर भक्ति का आवरण डाल दिया जाता है और कभी-कभी कवि-गण ज्ञान और भक्ति पर वासना का शर्करा वेष्टन चढ़ा कर उसको अधिक ग्राह्य बना देते हैं, कभी आध्यात्मिक आनन्द का भौतिक आनन्द की शब्दावली में चित्रण कर उसको लोक सामान्य की अनुभव की पहुँच में लाया जाता है।"

इसके अनन्तर बाबूजी ने काव्य के प्रतीक विधान अप्रस्तुत आयोजन एवं अलंकार

सौष्ठव को भी स्वप्न-प्रक्रिया की भाँति प्रसूत माना है :—

"कवि के रूपक भी स्वप्न के से प्रतीक ही होते हैं। यदि वे किसी भाव के प्रतीक नहीं होते तो वे कवि के हृदय की उत्कंठा के चिह्न तो होते ही हैं। कवि जिस उत्कृष्ट रूप में अपने वर्ण्य विषय को देखना चाहता है, उसी के वह रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार बना लेता है। उत्प्रेक्षा का अर्थ ही है उत्कृष्ट प्रेक्षण इच्छा। रूपक का भी अर्थ है रूप का आरोप। रूपकों और उत्प्रेक्षाओं द्वारा कवि एक हल्के प्रकार से अपनी अभिलाषा पूर्ति कर देता है। स्वप्नों में भी प्रायः रूपकों का सा आरोप रहता है।" इस व्याख्या के अनन्तर बाबूजी ने काव्यसृजन और स्वप्न प्रक्रिया की समानता स्पष्ट शब्दों में स्वीकार कर ली है :—

"प्रायः सभी कविताएँ किसी न किसी रूप में कवि का स्वप्न होती हैं अर्थात् वह वास्तविकता को जिस रूप में देखता है या देखना चाहता है, इस बात की वे परिचायिका होती हैं। कविता की अपेक्षा नाटक में स्वप्न का सा आत्मभाव का द्वैधाकरण (स्प्लिटिंग ऑफ पर्सनाल्टी) कुछ अधिक रहता है। कवि और विशेषकर नाटककार अपने को विशिष्ट पात्रों की स्थिति में रख लेता है। स्वप्न में यह कार्य अवचेतन रूप से किन्तु पूर्णता के साथ होता है।"

फ्रायड के विचारों को, साहित्यालोचन के क्षेत्र में, इस प्रकार बाबूजी ने सम्यक् विस्तार दिया है।

बाबूजी ने 'कविता और स्वप्न' के इस प्रकरण में कल्पना की व्याख्या करते हुए भी पाश्चात्य प्रभाव आत्मसात् किया है। पाश्चात्य विचारकों के आधार पर ही उन्होंने कल्पना के संकल्पित (एक्टिव) और असंकल्पित (पैसिव) दो प्रकार बताये हैं। असंकल्पित कल्पना को उन्होंने दिवा-स्वप्नों या स्वच्छन्द कल्पना (फैन्सी) के रूप में विकसित होते हुए माना है। कल्पना के दो अन्य प्रकार सृजनात्मक (प्रोडक्टिव) और पुनरावृत्यात्मक (रिप्रोडक्टिव) भी इसी आधार पर विवेचित हैं। इस विवेचना में पाश्चात्य मनोविज्ञान की कुछ और पारिभाषिक शब्दावली भी अनुवादित रूप में प्रयुक्त हुई है, यथा : संवेदन (सेन्सेशन्स), स्वतः चालित स्नायविक उत्तेजना (ऑटोमैटिक नर्वस एक्साइटमेंट), अनियंत्रित सम्बन्ध-ज्ञान (फ्री एसोसियेशन), घनीकरण (कन्डेन्सेशन), स्थानान्तर करना (डिस्प्लेसमेंट), भाव-तादात्म्य (एम्पैथी), सहानुभूति (सिम्पैथी) आदि।

बाबूजी ने 'रस और मनोविज्ञान' शीर्षक निबन्ध में प्रारम्भ में भाव और मनोवेग का अन्तर स्पष्ट किया है; उसके बाद मनोवेग के सम्बध में अनेक पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के मत उपस्थित किए हैं, और उनसे अपना विभेद बताया है। इसके अनन्तर मार्ग्रेट ड्रमन्ड और सिडनी हर्बर्ट मैलोन के ग्रंथ 'एलीमेंट्स ऑफ़ साइकोलाजी' के आधार पर मनोवेगों के वर्णन के लिए अपेक्षित सामग्री की चर्चा है :—

The nature of its object (the kind of situation which, when percieved, imagined or remembered arouses it.)

2. Its affective quality, pleasant, painful or practically indifferent, the massiveness or volume of the affection, its normal intensity.

3. Mode of influencing the will (active tendencies involved.)

4. Bodily expression—(a) internal organic sensations (b) Muscular movements.

5. Different modifications of the emotions (if any) at different stages of mental development.

इस तालिका के आधार पर मनोवेग के वर्णन के लिए प्रथम अपेक्षित सामग्री वस्तु-निरीक्षण की प्रवृत्ति अथवा वस्तुस्थिति का यह स्वरूप विशेष है जिसके दर्शन, कल्पना एवं स्मरण से वह उद्‌बुद्ध होता है। बाबूजी ने इसका तालमेल आलम्बन और उद्दीपन विभावों से ठीक ही बैठाया है। मनोवेगों के प्रकाशन के लिए दूसरी अपेक्षित सामग्री उसका प्रभावात्मक गुण है। उसके फलस्वरूप उत्पन्न सुख, दु:ख या अपरक्तता की अनुभूति, इस प्रभाव का विस्तार एवं उसका स्वाभाविक वेग ; बाबूजी ने इस प्रसंग को भारतीय साहित्यशास्त्र में स्वीकृत विभिन्न रसों के मानसिक प्रभावों के साथ जोड़ा है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने, विभिन्न भावों के, हमारी संकल्प-शक्ति को प्रभावित करने के जो विविध प्रकार, मन या शरीर में उनकी जो आन्तरिक एवं बाह्य अभिव्यञ्जनाएँ मानी हैं, गुलाबराय जी उन्हें अनुभाव से संयुक्त करते हैं। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने आयुवृद्धि के साथ मानसिक विकास के विभिन्न धरातलों पर मनोवेग के जो बदलते हुए रूप स्वीकार किये हैं; बाबूजी का कहना है कि भारतीय साहित्य-शास्त्र में इस सम्बन्ध में विशेष नहीं लिखा गया, लिखे जाने की अपेक्षा है। इसके अनन्तर उन्होंने मैक्ड्युगल का मन्तव्य दिया है कि सहज वृत्तियाँ मनोवेगों का मूल हैं एवं मनोवेग स्वाभाविक प्रवृत्तियों के भावात्मक पक्ष हैं। भारतीय साहित्यशास्त्र के स्थायी भावों को वे किसी न किसी सहज प्रवृत्ति से सम्बन्धित स्वीकार करते हैं, इस सम्बन्ध में बाबू जी का वक्तव्य द्रष्टव्य है।

(१) श्रृंगार का सम्बन्ध प्रजनन (पेयरिंग) और सामाजिक या एक साथ रहने की प्रवृत्ति (सोशल ऐंड ग्रिगैरियस इन्स्टिंक्ट्स) से है।

(२) हास्य का सम्बन्ध हास्य (लाफ्टर) से है।

(३) करुण के स्थायी भाव शोक का सम्बन्ध आर्त-प्रार्थना (अपील) और अधीनता स्वीकृति (सबमिशन) से है।

(४) रौद्र का सम्बन्ध युद्ध वृत्ति (कॉम्बेट) से है।

(५) वीर का सम्बन्ध अस्तित्व स्थापन (एसर्शन) और प्राप्तीच्छा (एक्वीजीशन) से है।

(६) भयानक का सम्बन्ध भागने की प्रवृत्ति (इंस्टिक्ट ऑफ एस्केप) से है।

(७) अद्‌भुत का सम्बन्ध औत्सुक्य (क्यूरियोसिटी) से है।

(८) वीभत्स का सम्बन्ध विकर्षण (रिपल्शन) से है।

(९) वात्सल्य का सम्बन्ध संतान स्नेह (पेरेन्टल इंस्टिक्ट) से है।

शान्त रस को बाबूजी ने पहले तो किसी प्रवृत्ति के साथ नहीं जोड़ा किन्तु बाद को वे उसे अधीनता स्वीकृति (सबमिशन) से सम्बद्ध मान लेते हैं। संचारी भावों में उन्होंने कुछ को सहज प्रवृत्तियों से सम्बन्धित और कुछ को पूर्ण स्वतंत्र माना है। यह तुलनात्मक अध्ययन बहुत वैज्ञानिक नहीं है, फिर भी बाबूजी के साथ यह स्वीकार किया जा सकता है कि स्थायी और संचारी भावों

का विभेद पाश्चात्य मनोविज्ञान के मौलिक (प्राइमरी) और व्युत्पन्न (डिराइव्ड) भावों से भिन्न है। बाबूजी का अन्तिम वक्तव्य भी स्वीकार्य है :—

"पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुकूल रस-सिद्धान्त की पूरी-पूरी व्याख्या नहीं हो सकती है।"

उन्होंने कारण भी ठीक ही दिया है कि रस सिद्धान्त वस्तुतः यहाँ के दार्शनिक चिन्तन की उपज है, मन के वैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित नहीं।

पश्चिम के कई आलोचकों की चर्चा 'साधारणी-करण' पर विचार करते हुए बाबूजी ने की है। सर्वप्रथम ए. ई. मैन्डर के तादात्म्य (एम्पैथी) का उल्लेख है :—

Empathy connates the state of reader or spectator who has lost for a while his personal self-consciousness and is identifying himself with some character in the story or screen.

—साइकॉलोजी ऑफ एव्री मैन ऑर वुमैन (पृष्ट ५६)

इस भाव तादात्म्य से प्रसन्नता क्यों होती है इस सम्बन्ध में मैन्डर का कथन है कि तादात्म्य के द्वारा दर्शक की कोई आरम्भिक आवश्यकता जिसकी पूर्ति उसके वास्तविक जीवन में नहीं होती (जैसे जङ्गल में शेर मारना, दुश्मन को घुटने टिका देना, चोरी का पता लगा लेना आदि) पूर्ण हो जाती है। क्रोध, शोक और भय का अनुभव भी (यदि उसके साथ वैयक्तिक क्षति न हो) हमारी आवश्यकताओं में से हैं। मेन्डर के इस विचार की सम्पुष्टि के लिए बाबूजी ने कुछ अन्य मनोवैज्ञानिकों द्वारा वास्तुकला से मिलने वाले आनन्द का भी उल्लेख किया है :—

"अच्छे विशाल खम्भों में हम इसलिए आनन्द लेने लगते हैं कि हम उनमें अपना प्रक्षेपण (प्रोजेक्शन) कर उनका भार संभालने की शक्तिजन्य प्रसन्नता का अनुभव करने लग जाते हैं।" इस प्रकरण में किसी पाश्चात्य समीक्षक का निम्नलिखित उद्धरण भी है :—

"We have only one way of imagining things from inside and that is putting ourselves inside them."

अर्थात् वस्तु की भीतरी कल्पना का एक ही मार्ग है और वह है अपने को उनमें रख देना। बाबूजी के विचार से—"छायावाद का प्रकृति वर्णन कुछ-कुछ इसी प्रकार का है।"

आइ. ए. रिचर्ड के सम्बन्ध में भी बाबूजी की यह धारणा है कि वे अपने दो निबन्धों "भावसम्प्रेषण का सिद्धान्त" और "कलाकार की सर्वसाधारणानुकूलता" में साधारणीकरण के निकट पहुँच गये हैं :—"मनुष्य की प्रवृत्तियाँ प्रायः एक सी होती हैं इसी कारण कवि समस्त भावों को जागृत करने में समर्थ होता है। जहाँ पर कवि का अनुभव पाठक के अनुभव के साथ एक्य नहीं रखता. . . वहाँ पर उसे सफलता न मिलेगी। इस दृष्टि से रिचर्ड का कहना है कि कलाकार का यथासम्भव विलक्षण मनोवृत्ति कदापि नहीं होनी चाहिए। इसी प्रसंग में क्रोचे का भी उल्लेख है, दान्ते का रसास्वाद करने के लिए हमें उसके ही धरातल तक पहुँचना चाहिए।"

काव्य के कला पक्ष पर विचार करते हुए बाबूजी ने पश्चिम के इस विचार—कला की मूल प्रेरणा सृजन की अदम्य आवश्यकता है—को स्वीकार किया है। इसी प्रसंग में रिचर्ड के विचार—भाव सम्प्रेषण के सिद्धान्त का पुनः उल्लेख है। भाषा को कवि की मनोदशा का

पाठक, श्रोता या सामाजिक परिस्थिति में स्थानान्तरण का माध्यम माना गया है। रिचर्ड के साथ बाबूजी ने यह भी स्वीकार किया है कि जितना व्यक्ति का विचार सुगठित होगा, जितनी भाषा में मूर्तता होगी और जितनी कि पाठक को वर्णित विषय की जानकारी होगी उसी मात्रा में समान भावों को उत्पन्न करने में उसे सफलता मिलेगी। शैली के सम्बन्ध में बाबूजी की धारणा है कि उसमें व्यक्तित्व और निर्व्यक्तिकता का सम्मिश्रण वांछनीय है, सम्पुष्टि के लिए मिडिल्टन मरे का उद्धरण है :—

"It (highest style) is a combination of the maximum of personality with the maximum of impersonality ; on the one hand it is a consentration of peculiar and personal emotion, on the other hand it is a complete projection of this personal emotion into the created thing."

बाबूजी ने आगे चलकर 'काव्यादर्श', 'वक्रोक्ति जीवित' आदि के उद्धरण देकर यह सिद्ध किया है कि भारतीय आचार्य भी शैली के दोनों पक्षों को स्वीकार करते हैं।

बाबूजी ने शैली पर विचार करते हुए क्विन्टीलियन के भौगोलिक दृष्टि से शैली के विभाजन एटिक, एशियाटिक और रोडियन का भी उल्लेख किया है। पाश्चात्य आचार्यों के अनुसार शैली के आवश्यक गुणों का उल्लेख उन्होंने श्री करुणापति त्रिपाठी की पुस्तक "शैली" के आधार पर किया है। पाठक के मस्तिष्क पर पड़े प्रभाव की दृष्टि से शैली के गुण इस प्रकार हैं :—

"व्याकरण से सम्बद्ध शुद्धता के अतिरिक्त स्पष्टता (पारस्पिक्विटी), सजीवता (विवेसिटी), लालित्य (एलियेन्स), उल्लास (एनीमेशन) और लय (म्यूज़िक) इन पाँच गुणों का होना आवश्यक है।"

मिंटो के अनुसार :—

"सरलता (सिम्पिलसिटी), स्वच्छता (क्लीयरनेस), प्रभावोत्पादकता (स्ट्रेंग्थ), मर्मस्पर्शिता (पैथॉस), प्रसंग-सम्बन्धता (हार्मनी) और स्वर-लालित्य (मैलोडी)।"

विंचेस्टर का आधार लेकर बाबूजी ने शैली पर विचार करने के लिए नई दृष्टि उपस्थित की है :—

काव्य के तत्व को ध्यान में रखते हुए शैली के गुणों के चार विभाग कर लेने चाहिए :— (१) रागात्मकता (२) बौद्धिक तत्व (३) कल्पना तत्व और (४) भाषा-शैली। रागात्मक गुणों में प्रभावोत्पादकता, मर्मस्पर्शिता, सजीवता और उल्लास कहे जा सकते हैं। बौद्धिक गुणों में संगति, क्रम और सम्बद्धता स्थान पाएँगे। कल्पना सम्बन्धी गुणों में चित्रोपमता मुख्य है। भाषा में व्याकरण की शुद्धता, स्पष्टता, स्वच्छता, लालित्य लय, प्रवाह आदि गुण उल्लेखनीय हैं. . . . अच्छी शैली में ये सभी गुण वाँछनीय हैं किन्तु विषय के अनुकूल उनका न्यूनाधिक्य हो जाता है।

बाबूजी ने अपने 'अभिव्यञ्जनावाद एवं कलावाद' निबन्ध में पश्चिम के दो आधुनिक साहित्यिक वादों बेनेडेटो क्रोचे के अभिव्यञ्जना सिद्धान्त और आस्कर वाइल्ड, स्पिन्गार्न आदि के कला के लिए कला के आदर्श की विवेचना उपस्थित की है। आचार्य शुक्ल ने क्रोचे के अभि-

व्यञ्जनावाद को कुन्तक के वक्रोक्तिवाद के समकक्ष घोषित किया है; किन्तु बाबूजी ने क्रोचे के पर्याप्त उद्धरणों से शुक्लजी के इस विचार का खंडन करके इस पाश्चात्य दार्शनिक की विचार-धारा का अधिक प्रामाणिक रूप उपस्थित किया है। शुक्लजी का विचार था कि क्रोचे विषय-वस्तु की उपेक्षा कर अभिव्यञ्जना पर बल देता है। बाबूजी ने स्पष्ट किया कि वह विषयवस्तु को प्रेरक तत्व के रूप में मानता है; किन्तु उससे अधिक स्वयं प्रकाश ज्ञान की मानसिक प्रक्रिया को महत्व देता है,क्योंकि उसी को लेकर कला सृष्टि सम्भव है। शुक्लजी के अनुसार क्रोचे वाग्वैचित्र्य पर बल देता है, किन्तु बाबूजी ने सिद्ध किया है कि वह सफल अभिव्यञ्जना को महत्व देता है, वह अभिव्यञ्जना सहज भी हो सकती है और वक्रता लिए हुए भी । इस विचार की सम्पुष्टि के लिए उन्होंने क्रोचे की अलंकार सम्बन्धी धारणा को आचार्य शुक्ल का उदाहरण देते हुए प्रस्तुत किया है; अलंकार को बाह्य विधान के रूप में नहीं वरन् अभिव्यञ्जना का अंग, अविभाज्य तत्व होकर आना चाहिए। बाबूजी ने आलोचकों के इस मत का भी उल्लेख किया है कि क्रोचे के अनुसार कला नीतिनिरपेक्ष होनी चाहिए। बाबूजी के अनुसार क्रोचे वास्तविक कला-सृष्टि कलाकार के मानस में मानता है; और उस कला सृष्टि को बाह्य जगत के जीवन प्रवाह की प्रतिच्छाया से संप्रेरित स्वीकार करता है। वह कला सृष्टि यदि अनीतिपूर्ण है, तो उसके लिए कलाकार नहीं, वरन् वह समाज उत्तरदायी है जिसने कलाकार में कला-सृजन की प्रेरणा जगायी है। किन्तु जब कलाकार अपने मानस की उस कलासृष्टि का बाह्य प्रत्यक्षीकरण प्रस्तुत करता है तो उसके ऊपर नीति और सदाचार के बन्धन लगाये जा सकते हैं। बाबूजी ने इस प्रकार क्रोचे की विचारधारा को सही रूप में प्रस्तुत किया है और उससे उनका विरोध मत-वैभिन्य भी नहीं है।

किन्तु आस्कर वाइल्ड, स्पिन्गार्न आदि के 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त पर बाबूजी को आपत्ति है। सर्वप्रथम उन्होंने इन कलावादियों के मूल मन्तव्य को प्रस्तुत किया है। कला और आचार के क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं। काव्य सौन्दर्यानुभूति की भाषा है। उसमें कल्पना पर अधिक बल होता है। आचार का सम्बन्ध वास्तविक जीवन से है, जीवन वास्तविकता को महत्त्व देता है, इसलिए आचार वस्तुपरक है। फिर कला 'नियतकृत नियम रहिताम्' एवं 'अनन्य परतन्त्राम्' है। कलाकार अपने स्वतंत्र जगत का निर्माण करता है। इस जगत का मूल्यांकन इसी जगत के जीवन मूल्य, कलागत मूल्यों के आधार पर होना चाहिए; आचारगत मूल्यों के आधार पर नहीं जिनका वास्तविक जीवन से सम्बन्ध है, 'कलार्थे कला' के सिद्धान्त की यह बड़ी सटीक व्याख्या है; किन्तु बाबूजी ने इसके बाद तर्क दिया है। काव्य का क्षेत्र केवल सौंदर्यानुभूति मात्र नहीं, वरन् व्यापक जीवन है, इसलिए इसका मूल्यांकन सौंदर्य-मूल्य मात्र पर नहीं वरन् व्यापक जीवन मूल्यों के आधार पर होना चाहिए।

पाश्चात्य विचारक प्लेटो ने मानव जीवन के लिए सत्य, शिव, सुन्दर के आदर्श की प्रतिष्ठा की थी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उसे साहित्य के प्रसंग में भी स्वीकार किया था और बाबूजी उसके साथ सहमति प्रकट करते हैं, अर्थात् कला के लिए कला के स्थान पर उन्हें 'सत्यं, शिवं, सुन्दरं' का दृष्टिकोण मान्य है, साहित्य में लोकहित की भावना होना इस प्रकार वे आवश्यक मानते हैं।

बाबूजी ने 'आलोचना के मान' शीर्षक निबंध की भी अधिकांश सामग्री पाश्चात्य प्रभाव से ग्रहण की है। प्रारम्भ में आलोचना का व्युत्पत्तिपरक अर्थ दिया गया है और फिर राजशेखर की काव्य-मीमांसा से तीन उद्धरण देकर साहित्यालोचन के व्यवसाय की विवेचना की गई है। उसके बाद मैथ्यू आरनॉल्ड के 'ऐसेज़ इन क्रिटिसिज़्म' के अवतरण से पाश्चात्य प्रभाव आरम्भ हो जाता है। आलोचक के आवश्यक गुणों का विवेचन, कविवर जगन्नाथदास 'रत्नाकर' के ऐलेक्जेन्डर पोप के 'ऐसेज ऑन क्रिटिसिज़्म' के अनुवाद आलोचनादर्श पर आधारित है। इसके बाद आलोचना के चार प्रकार सैद्धान्तिक, निर्णयात्मक, व्याख्यात्मक और प्रभावात्मक---का विवेचन है। आत्मप्रधान आलोचना से अध्ययन आरम्भ होता है, अमरीकी आलोचक स्पिन्गार्न के एक उद्धरण से इस आलोचना पद्धति को स्पष्ट किया गया है। सैद्धान्तिक और निर्णयात्मक संज्ञाएँ अंग्रेजी के स्पेकुलेटिव तथा जूडीशियल शब्दों के अनूदित रूप हैं। व्याख्यात्मक आलोचना में प्रारम्भिक स्पष्टीकरण के अनन्तर एलिजाबेथ बैरेट, ब्राउनिंग की मुक्तछन्द की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करते हुए शास्त्रीय नियमों के प्रति विद्रोह की भावना का प्रतिपादन है। फिर मोल्टन के आधार पर निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक आलोचनाओं के पारस्परिक विभेद बताये गये हैं। इसके अनन्तर टी. एस. इलियट, शिवले, आइ. ए. रिचर्ड, मिडिल्टन मरे आदि के उद्धरण देकर पश्चिम से आयी हुई आलोचना की कुछ नयी आलोचना पद्धतियों---ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, तुलनात्मक आदि---का विश्लेषण है। पश्चिम में इधर काव्य में बिम्ब विधान की दृष्टि से अध्ययन की परम्परा चली है। बाबूजी ने हिन्दी कविता से इस प्रकार के कुछ चाक्षुष, गत्यात्मक, ध्वनिपूर्ण, गंधमय और स्पर्श चित्रों के उदाहरण एकत्र किए हैं। फ्रायड के मनोविश्लेषण के हिन्दी आलोचना पर प्रभाव की भी इस प्रकरण में चर्चा है।

बाबूजी का तीसरा आलोचनात्मक ग्रंथ 'काव्य के रूप' है, इसमें विभिन्न साहित्यिक रूपों का भारतीय और पाश्चात्य साहित्य शास्त्रों के आधार पर तात्विक विश्लेषण है। प्रथम दो निबंध 'साहित्य का स्वरूप' और 'काव्य की परिभाषा और विभाग' भूमिका के रूप में हैं। प्रथम निबंध की अधिकांश सामग्री भारतीय साहित्यशास्त्र से गृहीत है; किन्तु अन्त में मैथ्यू आरनल्ड की धारणा कि कविता जीवन की व्याख्या या आलोचना है, के भाव को समाहित कर लिया गया है। काव्य की परिभाषा देने का प्रयास तो भारतीय विचारकों के मन्तव्यों को समेट कर है किन्तु काव्य के विभिन्न रूपों के विवेचन में पाश्चात्य साहित्य दर्शन का पर्याप्त प्रभाव है। प्रारम्भ में व्यक्तिनिष्ठ एवं समाजोन्मुख दृष्टियों के आधार पर काव्य के विषयीगत (सब्जेक्टिव) और विषयगत (ऑबजेक्टिव) भेद किए गए हैं। काव्य के इस विभाजन को अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों पर भी आधारित दिखाया गया है। इसके अनन्तर गीति-काव्य, प्रकथनात्मक काव्य एवं महाकाव्य का संक्षिप्त विवेचन है। गद्य और पद्य की अलग-अलग विधाओं पर संक्षेप में विचार किया गया है। फिर भारतीय पद्धति के आधार पर काव्य के दृश्य और श्रव्य रूपों का विवेचन है। श्रव्य काव्य के अन्तर्गत गद्यविधा के पाश्चात्य प्रभाव से गृहीत नवीन साहित्यिक रूपों--उपन्यास, कहानी, जीवनी, निबंध, पत्र और गद्यकाव्य को भी सम्मिलित कर लिया गया है।

बाबूजी ने इस भूमिका भाग के अनन्तर नाटक के रचनाविधान का विश्लेषण उपस्थित किया है। यह विश्लेषण कथावस्तु, चरित्रचित्रण, संवाद, देश-काल, रचना-शैली और उद्देश्य के अनुक्रम में पाश्चात्य साहित्य के विधान पर आधारित है, किन्तु विस्तृत विवेचन में भारतीय और पाश्चात्य दोनों दृष्टियों का उपयोग है, इसीलिए कथावस्तु के विवेचन में हम कार्यावस्थाओं, अर्थप्रकृतियों और संधियों के साथ जर्मन आलोचक फ्रेटॉग द्वारा निरूपित पिरा-मिड रूप का संविधान भी दे सके हैं। अरस्तु के काव्यशास्त्र के आधार पर दुःखान्त नाटक की भी मीमांसा की गयी है। पाश्चात्य नाट्यकला के विकास पर भी कुछ पृष्ठ हैं।

बाबूजी ने इसी प्रकार अन्य साहित्यिक रूपों के विवेचन में भारतीय और पाश्चात्य प्रमुख समन्वित साहित्यिक दृष्टि का उपयोग किया है, किन्तु उनका झुकाव पाश्चात्य दृष्टिकोण की ओर बढ़ता गया है। महाकाव्य की परिभाषा उन्होंने इसी प्रभाव को आत्मसात करके बनायी है :—

"महाकाव्य वह विषयप्रधान काव्य है जिसमें कि अपेक्षाकृत बड़े आकार में जाति में प्रति-ष्ठित और लोकप्रिय नायक के उदात्त कार्यों द्वारा जातीय भावनाओं, आदर्शों और आकांक्षाओं का उद्घाटन किया जाता है।"

दण्डी, विश्वनाथ आदि भारतीय आचार्यों द्वारा प्रस्तुत परिभाषाओं की यहाँ छाया भी नहीं है। इसी प्रकार प्रगति काव्य का निम्नलिखित तात्विक विश्लेषण भी पाश्चात्य प्रभाव से अनुप्राणित है :—

"प्रगीत काव्य के तत्व हैं—संगीतात्मकता और उसके अनुकूल सरस प्रवाहमयी कोमल-कान्त पदावली, निजी रागात्मकता (जो प्रायः आत्मनिवेदन के रूप में प्रकट होती है) संक्षिप्तता और भाव की एकता। यह काव्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक अन्तःप्रेरित होता है और इसी कारण इसमें कला होते हुए भी कृत्रिमता का अभाव रहता है।"

भारतीय नीतिकाव्य की परम्परा ऋग्वेद से आरम्भ होती है और वह व्यक्तिनिष्ठ से आर्थिक सामाजिक चेतना से अनुप्राणित है, बाबूजी ने उसके तात्विक विश्लेषण का प्रयास किया होता तो अच्छा था। इसके बाद पाश्चात्य गीतिकाव्य के प्रकार संबोधनगीत, शोकगीत, व्यंगगीत, विचारात्मक और उपदेशात्मक विभेदों को स्पष्ट किया गया है। उपन्यास, कहानी, निबंध आदि का पाश्चात्य प्रभाव से गृहीत साहित्यिक विवेचन है।

बाबूजी के आलोचना साहित्य पर पाश्चात्य समीक्षा का प्रभाव बड़े व्यापक और गंभीर रूप में तथा प्रारम्भिक रचनाओं से ही दृष्टिगत है। उनके प्रथम आलोचना ग्रन्थ 'नवरस' में हम उन्हें पाश्चात्य मनोविज्ञान के प्रकाश सिद्धान्त की नवीन व्याख्या का प्रयास करते हुए देखते हैं। इस काव्य में उन्होंने डार्विन, कैनन, मैकड्यूगल आदि के मनोवैज्ञानिक ग्रंथों का प्रभाव ग्रहण तो किया है, किन्तु वे उसे आत्मसात नहीं कर पाये हैं ; वह अश्लिष्ट ही रह गया है। उनके दूसरे ग्रन्थ 'सिद्धान्त और अध्ययन' में पाश्चात्य प्रभाव संश्लिष्ट रूप में दृष्टिगोचर होता है। हीगल और वर्सफोल्ड का ललित कलाओं का विवेचन उन्हें युक्तिसंगत लगा है। एडलर का यह विचार कि मनुष्य हीनता की भावना से मुक्त होने के लिए महान कार्य करता है, इसे स्वीकार करके बाबूजी ने कबीर, तुलसी और भूषण की काव्यगत प्रेरणाओं को स्पष्ट किया

है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों में फ्रायड का प्रभाव उनके ऊपर सर्वाधिक है। फ्रायड की स्वप्न की व्याख्या उन्हें मान्य है। कविता को भी वे इसी पाश्चात्य विचारक की भाँति स्वप्न या दिवास्वप्न की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के अनुरूप अतृप्त आकांक्षाओं की सम्पत्ति स्वीकार करते हैं। तभी तो उनका विचार है कि प्रायः सभी कविताएँ किसी न किसी रूप में कवि का स्वप्न होती हैं। नाटक में उन्होंने स्वप्न की आत्मभाव के द्विधाकरण की अभिव्यक्ति मानी है। रस सिद्धान्त को उन्होंने पाश्चात्य मनोविज्ञान के सहारे फिर एक बार समझने का प्रयास किया; और इस संबंध में उन्होंने मार्ग्रेट ड्रमन्ड और हर्बर्ट मेलोन के ग्रन्थों से विशेष सहायता ली। किन्तु इस प्रयत्न में उन्हें एक सीमा तक ही सफलता मिली; और इसीलिए उन्हें कहना पड़ा कि इस सिद्धान्त की पाश्चात्य मनोविज्ञान के आधार पर पूरी व्याख्या हो ही नहीं सकती। पाश्चात्य आलोचकों में कलावादियों आस्कर वाइल्ड, स्पिनगार्न आदि का तो बाबूजी ने विरोध किया है किन्तु आई. ए. रिचर्ड के विचार उन्हें बहुत कुछ मान्य रहे हैं। आचार्य शुक्ल ने क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद को कुन्तक के वक्रोक्तिवाद का विलायती अभ्युत्थान घोषित कर दिया था। बाबूजी ने अपने गंभीर अध्ययन से दोनों की पृथकता सिद्ध की। बाबूजी के शैली के विवेचन और आलोचना के मानों के विश्लेषण में पाश्चात्य प्रभाव कुछ स्पर्श है। अपने तीसरे ग्रन्थ 'काव्य के रूप' में भी पाश्चात्य प्रभाव उन्होंने पर्याय रूप में आत्मसात किया है। 'महाकाव्य', 'नाटक' आदि के विवेचन में पाश्चात्य आलोचकों के मतों की ओर उनकी रुचि अधिक है। अँग्रेजी प्रभाव से गृहीत साहित्यिक विधाओं का विवेचन पूर्णतः पाश्चात्य आलोचना ग्रन्थों के आधार पर है। बाबूजी के व्यावहारिक आलोचना ग्रन्थों में भी पाश्चात्य प्रभाव को अभिव्यक्ति मिली है, किन्तु वह अस्पष्ट रूप में ही है और किन्तु वह यहाँ अध्ययन का विषय नहीं है।
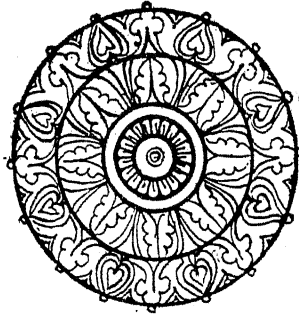
डा. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

सैद्धान्तिक आलोचना में मौलिकता का स्वरूप

कहा गया है कि मौलिकता उस स्रोत का गोपन है, जिस स्रोत से लेखक प्रेरणा लेता है किन्तु बाबू गुलाबराय ने जहाँ से, जो कुछ ग्रहण किया है उसका स्पष्ट उल्लेख किया है, यही नहीं उन्होंने बार-बार कहा है कि वह आलोचना में सर्वथा मौलिक आलोचक नहीं हैं। किन्तु बाबजी ने यह भी नहीं कहा कि वह मौलिकता से रहित हैं। वस्तुतः बाबूजी ज्ञान के क्षेत्र में श्रमविभाजन के सिद्धान्त को मानते थे। उदाहरण के लिए प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र और योरोपीय काव्यशास्त्र के अनेक सम्प्रदायों और सिद्धान्तों की चर्चा उनके आलोचना ग्रंथों में मिलती है किन्तु वह इन क्षेत्रों में मान्य विद्वानों की व्याख्याओं, टीकाओं और आलोचनाओं को आधार बना कर चले हैं, फिर भी वह पूर्णतः किसी एक लेखक के साथ सहमत नहीं हुए, यहीं उनकी मौलिकता का स्वरूप पहचाना जा सकता है। बाबूजी मूलतः एक मानवतावादी विचारक थे। मानवतावाद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति और कृति के शुभपक्ष पर अधिक ध्यान देता है और चिंतन और निर्णय का अधिकार अपने और दूसरों के लिए सुरक्षित रखते हुए विभिन्न विचारकों के निर्णयों के अतिवाद को समाप्त करने का प्रयत्न करते हुए एक "मिश्रित आलोचनाविधि" के आविष्कार की कोशिश करता है अतः ऐसे व्यक्ति की मौलिकता इस तथ्य में निहित होती है कि उसने विभिन्न साहित्यों और विचार-ग्रन्थों का अवलोकन कर, अपने जीवन-गत अनुभवों से शिक्षा लेकर, किस प्रकार की रुचि, किस प्रकार की मान्यताओं और किन मूल्यों का विकास किया है, चूँकि उसका निर्णय इन्हीं रुचियों, मूल्यों और मान्यताओं के आधार पर होता है अतः शतशः लेखकों की कृतियों से त्याग

और ग्रहण की प्रक्रिया में हम बाबूजी जैसे लेखक की चयन-शक्ति का स्वरूप देखकर, उनकी मौलिकता का स्वरूप समझ सकते हैं।

बाबूजी के सम्मुख दो प्रकार के पाठक रहते थे, छात्र और आलोचक। छात्रों के लिए अपनी कृति को वह विभिन्न लेखकों के मतों से सजाते थे और आलोचकों के लिए वह अपना स्वतंत्र मत देते थे। जिस प्रकार किसी अध्यापक से हम यह आशा करते हैं कि वह वर्ण्यविषय पर पूर्वसामग्री का उल्लेख करेगा, विधिपूर्वक और स्पष्टता के साथ विषय-विस्तार करेगा और साथ ही उसके विवेचन से यह भी झलक उठेगा कि अध्यापक केवल पूर्व सामग्री का प्रस्तुत-कर्त्तामात्र नहीं है अपितु वह एक विचारक भी है और उसकी अपनी दृष्टि के प्रकाश में पूर्वतथ्य और मत भी एक नए क्रम में, एक नए परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत हुए हैं, जो अन्त में नवीन निर्णयों के लिए हमें प्रेरित करते हैं, उसी प्रकार बाबूजी अपनी आलोचना में एक मौलिक अध्यापक के रूप में प्रकट हुए हैं, इस तथ्य को नकारना बाबूजी के साथ अन्याय है।

'सिद्धान्त और अध्ययन' की प्रस्तावना में बाबूजी ने सर्वप्रथम छात्रों के लिए साहित्य-शास्त्र की आधार शिलाएँ प्रस्तुत की हैं। सारी सामग्री दूसरों से उद्धृत है किन्तु विचारक की दृष्टि सर्वत्र विद्यमान है। हिन्दी में जो अतिवादी धारणाएँ फैली हुई थीं, उन्हें संतुलित करने की कामना पग-पग पर मिलती है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल मुक्तक काव्य के साथ न्याय नहीं कर सके, इस बात को ध्यान में रखकर बाबूजी ने लिखा है :—"प्रबन्ध काव्यों में जितना रस का परिपाक हो सकता है, उतना मुक्तक काव्यों में नहीं (किन्तु), मुक्तक काव्यों में व्यञ्जना की प्रधानता के साथ अपनी एक विशेष श्री होती है—अमरुकः कवेरेकः श्लोकः प्रबन्ध-शतायते, अर्थात् अमरुक का एक-एक श्लोक सौ-सौ प्रबन्ध काव्यों के बराबर माना गया है।"[1]

छात्रों और अन्य पाठकों में बाबूजी की आलोचना का आदर केवल सुलभ सामग्री, स्पष्ट-सरल शैली और सुबोधता के कारण ही नहीं है, अपितु उनकी आलोचना को स्वीकृति बाबूजी के संतुलित निर्णयों के कारण भी मिली है। प्रायः किसी एक शास्त्र का विशेषज्ञ उस शास्त्र के आतंक से आतंकित होकर, मनुष्य के सामान्य मनोविज्ञान की उपेक्षा कर बैठता है, उदाहरणतः हिन्दी में मनोविश्लेषणपरक आलोचना में सर्वाधिक बल अंतर्मानस पर ही है और इस अंतर्मानस को एक "परमस्वतंत्र" बाह्य-परिस्थितियों के प्रभाव से अविच्छिन्न रूप में प्रस्तुत किया गया है, इसी प्रकार समाज-शास्त्रीय आलोचना में लेखकों की "सृजन प्रक्रिया" पर विचार बहुत कम हुआ है, इसी प्रकार दार्शनिकता-प्रधान आलोचना में प्रत्येक तथ्य को आत्यन्तिक आनन्द और आलोक के सन्दर्भ में ही व्याख्यायित किया गया है, बाबूजी की मौलिकता इस तथ्य में भी निहित है कि मनोविज्ञान और दर्शन के श्रेष्ठ छात्र होने पर भी उन्होंने एक स्पृहणीय तटस्थता को कभी तिलांजलि नहीं दी, उनका विश्लेषण मनुष्य और समाज के "सामान्य मनोविज्ञान" पर आधारित है; वह किसी मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय पर आधारित नहीं है। मौलिकता की माँग ही है कि लेखक अपने को बड़े से बड़े विचारक से भी आतंकित न होने दे, चिन्तन के क्षेत्र में अपनी अस्तित्व रक्षा का एक मात्र उपाय यही है कि प्रत्येक विचारक उन पक्षों को खोज

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन—पाँचवाँ संस्करण, पृष्ठ ६, प्रस्तावना

ले जिन पर किसी अन्य विचारक ने बहुत अधिक बल दिया है अथवा किन्हीं अन्य आयामों की उपेक्षा की है। इस अधिक बल देने या किन्हीं पक्षों की उपेक्षा की "मात्रा" का ज्ञान भी उसे होना चाहिए, स्पष्टतः बाबूजी में यह गुण समसामयिक अनेक आलोचकों से अधिक था।

बाबूजी की आलोचना का प्रारम्भ उस युग में हुआ जब एक ओर बाबू श्यामसुन्दरदास पाठ्य ग्रन्थों का निर्माण कर रहे थे और प्राचीनतावादी सेठ कन्हैयालाल पोद्दार जैसे विद्वान् प्राचीन काव्यशास्त्र को यथावत् प्रस्तुत कर रहे थे, तीसरी ओर रामचन्द्र शुक्ल जैसे आचार्य प्राचीन-नवीन की चर्चा कर एक आलोचना प्रणाली का आविष्कार कर रहे थे। बाबूजी में ये तीनों प्रवृत्तियाँ एक साथ मिलती हैं, बाबूजी ने श्यामसुन्दरदास के कला विभाजन के पूर्व ही हीगेल के कलाविभाजन पर एक निबंध लिखा था, और इस निबंध में भी बाबूजी हीगेल से आतंकित नहीं दीखते और यहाँ भी उनका संतुलनवाद दिखाई पड़ता है। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने "रसमञ्जरी" में बाबूजी के "नवरस" की भूलें दिखाई हैं, इसके उत्तर में बाबूजी ने अपनी "शास्त्रीय भूलों" को स्वीकार करते हुए अपनी मौलिकता और योगदान पर इस प्रकार प्रकाश डाला है :—

"'नवरस' में भूलें अवश्य हैं लेकिन उसमें गुण भी हैं। वह सबसे पहली पुस्तक है जिसमें शास्त्र की पीटी हुई लकीर से हट कर नए दृष्टिकोण से रस के सिद्धान्तों पर विचार किया गया है, वह पहली पुस्तक है, जिसमें काव्यप्रकाश और साहित्य दर्पण के उदाहरणों को छोड़कर, हिन्दी के प्राचीन और नवीन कवियों के उदाहरणों को मान दिया गया है, और उसमें ही पहली बार इस के मनोवैज्ञानिक पक्ष को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया गया तथा स्थायीभावों का मौलिक सहज वृत्तियों (Primary Instincts) से सम्बन्ध जोड़ा गया है।"[१]

"नवरस" के इस ऐतिहासिक योगदान और मौलिकता को विस्तृत कर देना या उसे कम करके आँकना बाबूजी की पवित्र स्मृति के प्रति विश्वासघात है।

बाबूजी ने स्पष्टतः आचार्य शुक्ल की श्रेष्ठता को स्वीकार किया है, किन्तु बाबूजी में, आतंकित होने के लिए जिस मंद मेधा की आवश्यकता होती है, उसका अभाव था, शुक्ल जी पर उनका "मौलिक निर्णय" स्मरणीय है :—

"वे ख्याति के योग्य भी थे क्योंकि उनका एक निश्चित दृष्टिकोण था, और उसी दृष्टि-कोण से उन्होंने सारे काव्य क्षेत्र की जाँच पड़ताल की। उनमें सबसे बड़ा गुण संगति और विचारों की दृढ़ता का था जो कहीं-कहीं ऊब दिलाने वाली पुनरुक्ति के दोष का तटस्पर्शी बन जाता है।"[२]

बड़े से बड़े विचारक के अनावश्यक कोणों को घिसकर उसके मतों को ग्रहणीय बनाने का कार्य बाबूजी ने "पूर्ण मौलिकता" के साथ किया है, कारण यह था कि बाबूजी ने तर्कविद्या द्वारा अनुमान शक्ति का सर्वाधिक विकास कर लिया था, वह किसी भी दर्शन के जनता पर प्रभाव का अनुमान करने में सिद्धहस्त लेखक थे। जीवन संघर्षों में खुलकर भाग लेने और बहुत कुछ सहने के बाद वह इस तथ्य पर पहुँचे थे कि मानव जीवन एक संकुल जीवन है, वह केवल बुद्धि

---

१. वही, पृष्ठ २५ २. वही, पृष्ठ २८।

से शासित नहीं है और तर्कसंगत तो कदापि नहीं है। परम्परा से प्राप्त संस्कार, प्रवृत्तियाँ, वर्तमान युग की रोमांचक विचारधाराओं और भविष्य निर्माण की आकुलता के साथ-साथ सामाजिक व्यवस्था-विशेष में रहने के कारण प्रभावित मानव चेतना के विषय में कोई एक विचारधारा, पूर्णतः ग्रहणीय नहीं हो सकती। यही कारण है कि बाबू जी किसी एक विचार-धारा, किसी एक सम्प्रदाय को स्वीकृति नहीं दे सके। समग्रतः उन्हें गांधीवादी-वैष्णव विचारक माना जाता है, पर तथ्य यह है कि उनकी निस्संगता सर्वत्र स्पष्ट है। उनका पाथेय "कामन-सैन्स" था, कोई विशेष दर्शन (आइडियौलॉजी) नहीं।

बाबूजी की कोणनाशक मौलिकता—बाबूजी मतों के ध्रुवीकरण (पोलराईज़ेशन) में विश्वास न करते थे। मानव जीवन के गंभीर अध्ययन ने उन्हें आश्वस्त कर दिया था कि जीवन विरोधों में संगति स्थापना इस विचित्र विधि द्वारा कर लेता है कि हमें आश्चर्य होता है। इस "विधि" का निरीक्षण हम चाहे न कर सकें किन्तु इस विधि के परिणामस्वरूप प्राप्त अध्ययन विषयों को वह अपनी तार्किक बुद्धि से देख लेते थे अतः सर्वथा विरोधी तत्त्वों में भी उन्हें 'समन्वय' के तन्तु मिल जाया करते थे। कभी-कभी उपहासास्पद लगने वाले बाबूजी के समन्वय वस्तुतः उनके उक्त दृष्टिकोण पर ही आधारित हैं। अलंकार सम्प्रदायों पर विचार करते हुए यद्यपि वह 'रस' के समर्थक थे पर 'रसवाद' के वह अंध-अनुगामी नहीं थे। अलंकारों को पन्त जी से पूर्व बाबूजी ने ही उन्हें "हृदय के उत्साह" से सम्बंधित बताया था :—

"फिर भी अलंकार नितान्त बाहरी नहीं हैं. . . . वे कवि या लेखक के हृदय के उत्साह के साथ बँधे हुए हैं, हमारी भाषा की बहुत कुछ सम्पन्नता अलंकारों पर ही निर्भर है।"[१]

अलंकारों के विषय में बाबूजी का मत रसवादियों का कोणभंजक है।

बाबूजी साहित्य में शैली से 'वस्तुतत्त्व' को अधिक महत्त्व देते थे। बाबूजी ने कहीं भी इस बिन्दु पर अनुपम गहराई और अपेक्षित विस्तार से विचार नहीं किया किन्तु हिन्दी में किस आलोचक ने इस महत्त्वपूर्ण बिन्दु पर गहराई से विचार किया है? ज्ञातव्य यह है कि बाबूजी शैली और 'कन्टेण्ट' का ध्रुवीकरण स्वीकार नहीं करते थे, वस्तुतः साहित्य के क्षेत्र में वह किसी प्रकार का ध्रुवीकरण नहीं मानते थे। वस्तु और शैली दोनों वस्तुतः लेखक की दृष्टि, प्रयोजन और उनके प्रति भावावेग पर निर्भर हैं, शैली ऊपर से ओढ़ा हुआ कोट नहीं है, वह स्रष्टा के उद्देश्य और उद्देश्य के प्रति उसकी मानसिक प्रतिक्रियाओं को रूपायित करने वाली एक आंतरिक प्रक्रिया है, जिसमें शब्द और कथन-प्रकार लेखक के "विज़न" और अनुभूति-जगत् के अनुरूप स्वतः प्राप्त हैं अर्थात् कोई लेखक किसी विशेष शैली को 'फैशन' के रूप में न अपना कर, सृजन-प्रक्रिया की अनिवार्यता के रूप में अपनाने को विवश होता है। जिन लेखकों में शैली को मात्र फैशन के रूप में अपनाया गया है, वे लेखक ही नहीं हैं, कुछ और भले ही हों। अतः वस्तु और शैली का ध्रुवीकरण असंगत है, जार्ज लुकाच ने इस सन्दर्भ में बताया है कि जेम्सज्वायस के यूली-सिस में चेतना प्रवाह विधि मात्र शैली नहीं है, एक सृजनात्मक सिद्धान्त (Formative Principle) है। जेम्स ज्वायस एन्द्रिक संवेदनों का चित्रण करना चाहता था किन्तु थामस

१. वही, पृष्ठ ३५

मन के "मॉनोलॉग इंटीरियर" (Monolog Interior) में लेखक का उद्योग पात्रों का आंतरिक विश्लेषण और सामाजिक सम्बन्धों की व्यंजना है, यही कारण है कि थामस मन ने महाकाव्य की कथात्मक शैली में लिखा है, जेम्स ज्वायस विचारों और भावों का विश्लेषण नहीं करना चाहता अतः वह केवल 'चेतनाप्रवाहविधि' द्वारा ही अपने को व्यक्त कर सकता था।[1]

बाबूजी इस तथ्य से परिचित थे कि वर्ण्य-वस्तु ही शैली का निर्धारण करती है, इसी आधार पर उन्होंने अलंकार और अलंकार्य पर विचार किया है :—"कविता का सौन्दर्य अलंकार और अलंकार्य की पूर्णता में है।"[2] मौलिकता प्रदर्शन में विश्वास न रखने वाले बाबूजी ने इस विवेचन की मौलिकता को पाठकों की दृष्टि से हटाने के लिए कुंतक को उद्धृत कर दिया है। बाबूजी की सबसे बड़ी मौलिकता, मौलिकता के स्रोतों के गोपन में नहीं, अपितु स्वयं मौलिकता के गोपन में ही निहित है।

साहित्य शब्द की परम्परागत शब्दों में व्याख्या करते हुए बाबूजी ने लिखा है कि साहित्य में काव्यांगों में ध्रुवीकरण अनावश्यक और अनुचित है, यही कारण है कि बाबूजी जीवन भर अन्य लेखकों के कोने घिस-घिस कर उनके नुकीलेपन को समाप्त कर स्वीकृति दिलाने के लिए संघर्ष करते रहे, उनका 'समन्वयवाद' वस्तुतः साहित्य के क्षेत्र में उदारतावाद, गुण-ग्राहकता का ही प्रतीक नहीं है अपितु साहित्य के क्षेत्र में वस्तुतः ध्रुवीकरण के लिए गुंजायश ही नहीं है, जिस प्रकार प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक प्राप्त विचार में विरोधों का समन्वय होता है, उसी प्रकार 'सौन्दर्य' या 'रस' या 'ध्वनि' विरोधी तत्त्वों का समन्वय ही है।

यह कहा जा सकता है कि बाबूजी के समन्वयवाद की यह व्याख्या इस लेख के लेखक की अपनी मौलिक व्याख्या है किन्तु बाबूजी वस्तुतः जान या अनजान में, शायद अंतश्चेतनात्मक विधि द्वारा समन्वयवाद को इसीलिए मानते थे क्योंकि किसी भी "सृष्टि" में हम विरोधी शक्तियों का 'समन्वय' देख सकते हैं। कहीं-कहीं बाबूजी का समन्वय विरोधी तत्वों का 'मिश्रण' जैसा प्रतीत होता है किन्तु ऐसे स्थल कम हैं।

सभी जानते हैं कि काव्य-परिभाषा का कार्य असम्भव है। कोई सर्वमान्य लक्षण आज तक प्राप्त नहीं हो सका। बाबूजी ने स्पष्टतः इस तथ्य को स्वीकार किया है :—"इन सब बातों को एक परिभाषा के संकुचित घेरे में बाँधना कठिन है"[3] यहाँ "इन सब बातों" के अन्तर्गत बाबूजी उन सब बातों को नहीं गिनते जिन्हें हम गिनना चाहते हैं, अर्थात् वह संकुलता के प्रत्येक पक्ष और प्रत्येक तथ्य का उल्लेख नहीं करते किन्तु काव्य एक संकुल क्रिया है, अतः साधारण परिभाषाएँ काव्य या सौन्दर्य के स्वरूप की परिचायक हो नहीं सकतीं—इस तथ्य से परिचित होना भी क्या साधारण उपलब्धि है ? बाबूजी के संतुलित निर्णयों की विशेषता ही यह है कि परिणाम के विचार की दृष्टि से वे मौलिक हैं किन्तु उन परिणामों पर पहुँचाने वाली

---

१. The Meaning of Contemporary Realism—George Lukacs, London, 1962, Page 17.

२. सिद्धान्त और अध्ययन—पृष्ठ ३५

३. सिद्धान्त और अध्ययन—पृष्ठ ५५

चिंतन-प्रक्रिया का वर्णन न होने से वे बहुत साधारण, दूसरों से गृहीत और इसलिए अनाकर्षक लगते हैं।

बाबूजी को मनोवैज्ञानिक आलोचक माना जाता है। उन्होंने फ्रायड, युंग एडलर की व्याख्या की है। उन्होंने युंग को भारतीय दृष्टिकोण के अधिक निकट पाया है।[1] इस सन्दर्भ में बाबूजी ने 'आत्मा' पर भी मनोवैज्ञानिक विधि से विचार किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि बाबूजी की परम्परागत शब्दावली से हम उनके वास्तविक आशय को नहीं समझ पाते। बाबूजी प्रायः सम्पूर्ण पुराने विश्वासों की "वैज्ञानिक" व्याख्या करने का प्रयत्न करते थे। उनके द्वारा प्रयुक्त "भूमा वैं सुखम्" और "एकोऽहं बहुस्याम" का अर्थ भारतीय अर्थ से भिन्न अर्थात् "मौलिक" है फिर भी बाबूजी की चेतना का एक भाग पुरानी धारणाओं को यथावत् स्वीकार करके प्राचीन के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त किया करता था। वास्तविकता यह है कि उनकी आलोचना में 'ईश्वर', 'आत्मा', 'धर्म' आदि धारणाओं की भी मनोविज्ञान के प्रकाश में "मौलिक" व्याख्या मिलती है। बाबूजी ने स्थायी भावों का सम्बन्ध प्रवृत्तियों से जोड़ा है पर प्रवृत्तियाँ सभ्यता के विकास की अवधि में संशोधित होती हैं, यह तथ्य भी यहाँ स्वीकृत है। बाबूजी ने इस सन्दर्भ में विलियम जेम्स, मेकडयूगल, शेंड, भगवानदास आदि मनोवैज्ञानिकों का हवाला दिया है, इस प्रसंग में भी मानसिक जगत् के आन्दोलनों—विचारों, भावादि का परस्पर सम्बन्ध इस प्रकार संकेतित किया गया है :—

"हमारे यहाँ आचार्यों ने मनोवेगों को टकसाली रुपयों की भाँति बिल्कुल अलग नहीं माना है, हर एक स्थायीभाव एक समुद्र के समान है, जिसमें संचारी भावों की लहरें सी उठती रहती हैं, कल्लोला इव वारिधौ। मनोवेग गतिमान संस्थान हैं, संचारीभाव उसकी गति के पद हैं।"[2]

यहाँ भी मनोभावों की संकुलता को बाबूजी ने अपनी मौलिक दृष्टि से पहचान लिया था। बाबूजी भारतीय विभाजन और भावों के मनोवैज्ञानिक विभाजन के अन्तर को स्पष्ट करते हुए यह प्रमाणित करते हैं कि काव्यशास्त्र के विवेचन में मनोविज्ञान का अंधानुसरण अभीप्सित नहीं है :—

"हमारे यहाँ का स्थायी और संचारियों का विभाजन चारों खूँट पाश्चात्य मनोविज्ञान के विभाजन से नहीं मिलता है, विभाजन का आधार भिन्न है, हमारे यहाँ का विभाजन रस परि-पाक है, पाश्चात्य का आधार मनोवैज्ञानिक है, हमारे यहाँ के विवेचन की महत्ता इस बात में है कि लोग भावों के बाह्य अभिव्यंजकों का यथातथ्य वर्णन कर सकें और अपने सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दे सकें।[3]

बाबूजी ने मनोवैज्ञानिक प्रश्नों पर पाश्चात्य मनोविज्ञान के प्रकाश में ही विचार किया है किन्तु इन मनोवैज्ञानिकों के प्रति अपने मतभेद को वह स्थान-स्थान पर प्रकट करते गए हैं। लगता

---

१. वही, पृष्ठ ७२
२. वही, पृष्ठ १८७
३. वही, १९०

है कि मनोवैज्ञानिकों के भी वह कोने घिसते चले हैं। वस्तुतः हिन्दी का गौरव इसी प्रकार की स्वतंत्र चिंतन शक्ति से ही बढ़ सकता है। यह सच है कि बाबूजी ने मनोविज्ञान और शरीरशास्त्र (फिजियौलॉजी) अथवा पाश्चात्य और समाजवादी देशों में विकसित मनोविज्ञान का सम्मिलित अध्ययन करके मौलिक निर्णय नहीं निकाले, किन्तु हिन्दी में यह कार्य अबतक किसी आलोचक ने नहीं किया अतः बाबूजी से यह आशा रखना वैसा ही है जैसे नवयुवकों की यह आशा रखना कि सारा कार्य बुजुर्गों के ज़िम्मे है, नई पीढ़ी तो कोसने, कराहने, कसमसाने और कोलाहल के लिए ही है। बाबूजी की मौलिकता का निर्णय उनकी अपनी परिधि में अवस्थित है, **इस तथ्य में कि उन्होंने मात्र मधुसंचय ही नहीं किया है अपितु एक सहृदय पुष्पप्रेमी की भाँति जब वह किसी पुष्प के पास मधुसंचय करने पहुँचे हैं, तब उस पुष्प का श्रेष्ठ अंश ग्रहण करते समय, कृतज्ञता प्रकट करते-करते यह भी कह गये हैं कि अमुक पुष्प में, उसके रस में, उसकी सुगन्धि में क्या कमी है। बाबू गुलाबराय को मात्र मधुमक्षिका सिद्ध करने वाले शायद यह नहीं जानते कि ठीठ से ठीठ मधुमक्षिकाएँ पुष्पों को यह नहीं बता सकतीं कि उनके सौन्दर्य और रस में क्या अवांछनीय है? वह निराला के कुकुरमुत्ते की तरह किसी गुलाब को उसकी कमियों पर नहीं डाँटते अपितु वह कुसुमों के कान में धीरे से अपनी आलोचना कह देते हैं। हिन्दी आलोचना में सत्य को हितकर और मधुर बनाकर बाबूजी ही कह सके।** इससे उनमें तेज और शौर्य का अभाव मिलता है। किन्तु उनमें उस सत्य के प्रति पूर्ण निष्ठा मिलती है जिसे वह सत्य समझते थे। सौन्दर्य के विषय में भी उनकी यही दृष्टि है, वह सत्य होने पर उसे इस डर से दुहराने में हिचकते न थे कि लोग उन्हें अमौलिक कहेंगे, उन्हें अपने सत्य की विषय प्रिय थी, अपनी मौलिकता नहीं।

यह भी कहा गया है कि बाबूजी भारतीय काव्यशास्त्र का गहराई के साथ विश्लेषण नहीं करते, मात्रछात्र-तोषिणी वृत्ति का पथ अपनाते हैं, उदाहरणतः 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा अन्य ग्रंथों और लेखों में जहाँ भी उन्होंने 'रस' सम्बन्धी व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं, सबकी सब 'सेकेंण्ड हैण्ड' हैं—'साहित्य संदेश' के "गुलाबराय स्मृति अंक" में डा० प्रेमस्वरूप गुप्त ने बाबूजी द्वारा नाट्य-संधियों,अवस्थादि के विवेचन को सतही बताया है, जो शायद ठीक भी है किन्तु बाबूजी की मौलिकता त्याग और ग्रहण में निहित है, जैसा कि कहा जा चुका है। देखना यह चाहिए कि भारतीय काव्यशास्त्र को किस सीमा तक किस रूप में बाबूजी आज की आलोचना के लिए अपनाना चाहते हैं और उसका उन्होंने क्या औचित्य प्रस्तुत किया है? बाबूजी की सैद्धान्तिक आलोचना में दृष्टि समग्र दृष्टि है। वह किसी एक पक्ष पर "अनुसंधान" न करके हिन्दी की आधुनिक आलोचना की एक स्पष्ट विधि-निर्माण करना चाहते थे। ऐसा व्यक्ति किसी एक पक्ष के विषय में, सम्भव है, अधिक न जानता हो किन्तु बाबूजी का अध्ययन इतना तो था ही कि वह "आधुनिक आलोचना विधि" का एक रूप प्रस्तुत कर सकें। बाबूजी इसीलिए किसी एक आयाम के "विशेषज्ञ" नहीं, अपितु साहित्य के सभी अंगों के "विचारक" थे। आजकल के विचारहीन विशेषज्ञ जब अपनी किसी "विचारक" से तुलना करते हैं तो पंडित बालकृष्ण भट्ट के शब्दों में "बड़ी कुढ़न" होती है। "विचारक अनावश्यक विवरण को बाधक मानता है, विशेषज्ञ उस विवरण को ही सर्वस्व मानता है, विशेषज्ञ विचारक हो सकता है,

विचाररक विशेषज्ञ हो सकता है, जो दोनों गुणों को रखते हैं, वे प्रणम्य हैं किन्तु यदि "केवल विशेषज्ञ" और" केवल विचारक" में चयन करना हो तो विचारक ही श्रेष्ठ है क्योंकि वह अनेक विशेषज्ञों को जन्म दे सकता है। हिन्दी आलोचना के विकास का एक प्रमुख लक्षण यह है कि इधर जब से "अनुसंधान" मुख्य हुआ है, तब से "विचारक" का महत्व कम होता जा रहा है। हिन्दी के शोध ग्रन्थों में वैचारिक स्तर का ह्रास हमारी विवरणप्रियता का परिणाम है, इसका यह अर्थ नहीं कि विवरण-प्रियता त्याज्य है, विवरण के बिना विचारक अपना कार्य नहीं कर सकता किन्तु विवरण नींव मात्र है, जिस पर सिद्धान्तों और मूल्यों का भवन खड़ा होता है। साधन को साध्य मानना भूल है अतः बाबूजी के विवरण की भूलों का विशेष महत्त्व नहीं है।

साधारणीकरण के सम्बन्ध में हिन्दी में एक विवाद खड़ा हो गया है। बाबूजी ने शुक्ल जी की विषयगत व्याख्या और डा० नगेन्द्र की विषयीगत व्याख्या पर विचार कर यह निर्णय दिया है कि विषयगत और विषयीगत का यह ध्रुवीकरण निराधार है। यहाँ भी बाबूजी रस और साधारणीकरण पर लेखकों के अतिवाद को बचाकर साहित्य के आनन्द और उसकी प्रेषणीयता को विषय और विषयीगत दोनों दृष्टियों को एक साथ मानते हैं। वस्तुतः सौन्दर्य विषय और विषयी के मध्य सम्पर्क और सम्बन्ध का नाम है, अतः यहाँ भी बाबूजी अतिवादी लेखकों के कोणघर्षक रूप में दिखाई पड़ते हैं।

बाबूजी क्रोचे और अभिव्यंजनावाद, कल्पना और भाव, बुद्धि और भाव, कला और जीवन, प्रतिभा और श्रम, रस और अलंकार, भाव और भाषा, वर्ण्य वस्तु और अभिव्यक्ति प्रकार–प्रत्येक स्थान पर अतिवादों से बचने का प्रयत्न करते हुए दिखाई पड़ते हैं। वह जीवन के अध्ययन और मनुष्य की चेतना की अपनी परख को अन्य लेखकों के सिद्धान्तों और मान्यताओं से अधिक महत्व देते थे। यह एक ऐसा सूत्र है जो बाबूजी की सारी आलोचना में विद्यमान है, उनके बिखराव को संग्रहित करने का कार्य केवल उक्त सूत्र को सर्वदा ध्यान में रखकर ही सम्भव है।

एक व्यक्तिगत प्रसंग के साथ यह लेख समाप्त करूँगा। जब मैं बाबूजी और डा० सत्येन्द्र जी के साथ श्रीयुत महेन्द्र जी के 'साहित्य संदेश' (आगरा) का सह-सम्पादक था तो एक दिन एक लेख मैंने बाबूजी को दिखाया। उस लेख में एक शब्द था, 'भावराहित्य',[१] अर्थात् ऐसा काव्य जिसमें भाव का अभाव हो। बाबूजी मेरे प्रयोग को देखकर मुस्कराए, वही निश्छल, शिशु–मुस्कान। और बोले — "तुम और डा० सत्येन्द्र इस तरह लिखना चाहते हो कि सीधी बात भी दुर्गम लगने लगती है।" मैं यह सुनकर कुछ कुढ़ा और कुछ अमर्ष के साथ मैंने कहा–"बाबूजी, आप मौलिकता को पसन्द क्यों नहीं करते, यहाँ शब्द का ही सही, एक मौलिक प्रयोग तो है, सत्येन्द्र जी भी मौलिक शब्द प्रयोग करते हैं, आप इसे पसन्द क्यों नहीं करते ?" बाबूजी पुनः मुस्कराए और कहने लगे "भाई, मैं मौलिकता अमौलिक बनने में मानता हूँ, सत्य को सहज ढँग से कहना ही ठीक है"।

मौलिकता अमौलिक बनने में है, यानी सहज होने में, अहंकारहीन होने में, आडम्बर छोड़ने में, संवेदन को सरल ढंग से कहने में— सत के ग्रहण, असत् के त्याग और दूसरों के प्रति कोमल रहकर भी अपनी मान्यताओं के प्रति दृढ़ रहने में है। **बाबूजी में मौलिकता है किन्तु**

वही मौलिकता, जिसे वह स्वयं मौलिकता समझते थे । एक बार उन्होंने कहा था—"मौलिकता की सनक और सब मानसिक रोगों से घातक होती है, इससे मैं बचता हूँ, कभी-कभी लगता है कि साहित्य के क्षेत्र में इतना कहा जा चुका है कि बहुत अधिक मौलिकता की आशा दुराशा ही है।"

कितनी दृढ़ता थी, बाबूजी में। अपनी इस मौलिकता की रक्षा के लिए सदैव तत्पर। परन्तु पाठक या श्रोता को सदैव यही प्रतीत होगा जैसे वहाँ कोई आग्रह नहीं है। बाबूजी का मतपरिवर्त्तन न तो उनका मन जीत कर किया जा सकता था, न विरोध करके क्योंकि वह स्वयं अपना मत परिवर्त्तित करने के लिए सदैव तत्पर रहते थे पर स्वतः निर्णय पर पहुँचे बिना वह अपना मत कभी न बदलते थे।

एक बार 'साहित्य संदेश' के सम्पादकीय में मैंने एक उपन्यासकार के "सनसनीवाद" पर टिप्पणी लिख दी। लेखक महोदय ने साहित्य संदेश के विरुद्ध एक चर्चा प्रकाशित करके लेखकों में बँटवाया और Sensationalism को बिना समझे बूझे मुझपर कसकर आरोप किए। बाबूजी को मैंने वह पर्चा दिखाया और सम्पादकीय में एक कड़ी टिप्पणी लिखने की अनुमति माँगी। बाबूजी ने कहा कि "उपेक्षा करो, नहीं तो "सनसनीवाद" प्रमाणित हो जाएगा"—मैं हँस पड़ा किन्तु मैंने कहा कि बाबूजी चाहें तो मेरी टिप्पणी के विरुद्ध लिखकर लेखक को प्रसन्न कर लें, किन्तु बाबूजी हँसकर कहने लगे, "भाई, मौन रहने से आलोचक और लेखक दोनों प्रसन्न रहते हैं"।

ऐसी थी दृढ़ता बाबूजी में जो उनकी मौलिकता की तरह उनकी सैद्धान्तिक और व्याख्यात्मक आलोचना में उसी तरह छिपी हुई है जिस प्रकार बाबूजी की मूँछों में उनकी मुस्कराहट छिपी रहती थी, और जिसप्रकार उनकी कोट की जेबों में सन्तरे की फाँकें और मूँगफलियाँ गुप्त रूप से पड़ी रहती थीं। मेरा यह सौभाग्य रहा है कि मुझे बाबूजी ने अपनी मौलिकता ही नहीं बताई, अपितु अपनी मूँगफलियाँ भी खिलाई हैं, मुझे तो वह सन्तरे की फाँकें और मूँगफलियाँ खिलाते समय भी "मौलिक" लगते थे क्योंकि वह यह कभी नहीं बताते थे कि उनकी जेबों में कितने सन्तरे और कितनी मूँगफलियाँ हैं !
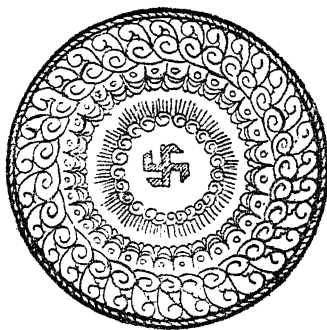
डा. प्रेमस्वरूप गुप्त डी. लिट्

शास्त्रीय आलोचना

"शास्त्रीय आलोचना" से मेरा मतलब सैद्धान्तिक आलोचना से है। कहना यों पड़ा कि स्वयं बाबूजी ने "निर्णयात्मक आलोचना" (Judicial criticism) को शास्त्रीय आलोचना कहा है। निर्णयात्मक आलोचना में सैद्धान्तिक आलोचना का व्यावहारिक प्रयोग मुखर होता है।

हिन्दी आलोचना के इतिहास में बाबूजी का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इस क्षेत्र में उन्होंने बहुत लिखा और बहुत दिन से लिखा। प्रशंसा की बात यह रही कि वे हिन्दी साहित्य के बढ़ते-बदलते रूपों के प्रति पूर्णत: जागरूक रहे।

आलोचना से सम्बन्धित उनकी मुख्य कृतियाँ निम्न हैं :—

१—नवरस, २—सिद्धान्त और अध्ययन, ३—काव्य के रूप, ४—साहित्य-समीक्षा, ५—अध्ययन और आस्वाद, ६—हिन्दी-नाट्य-विमर्श, ७—हिन्दी-काव्य-विमर्श।

इसके अतिरिक्त 'साहित्य-सन्देश' के विविध लेखों में उनका आलोचना-सम्बन्धी कार्य बिखरा हुआ है।

इस सब में से शुद्ध शास्त्रीय समीक्षा की परिधि में पहिली तीन पुस्तकें ही आती हैं— 'नवरस', 'सिद्धान्त और अध्ययन', 'काव्य के रूप।' कतिपय लेख भी इस कोटि के हैं। शेष का सम्बन्ध व्यावहारिक समीक्षा से अधिक है। यों व्यावहारिक समीक्षाओं में भी सैद्धान्तिक विवेचन बिखरे मिलते हैं। हिन्दी के लिए यह अस्वाभाविक नहीं रहा।

'नवरस', 'सिद्धान्त और अध्ययन', 'काव्य के रूप'—इन तीनों कृतियों में से पिछली दो ने

बाबूजी को हिन्दी-जगत् में रमा दिया। इस हिन्दी-जगत् में हिन्दी के विद्यार्थी और अध्यापक दोनों ही आते हैं। दोनों ही के लिये बाबूजी आश्रयणीय और अपरिहार्य हो गये थे, अब भी बहुत सहारा देते हैं। उपयोगिता की दृष्टि से उनके कार्य का मूल्य भारी रहा।

"नवरस" एक बड़ी कृति है—छः सौ पृष्ठ से ऊपर की। इसके दो संस्करण निकले थे, दूसरे में कुछ संशोधन भी हुए थे। दोनों सन् ३० के आस-पास निकले। नवरस ने एक ऐतिहासिक काम किया था। पिछली दो कृतियों ने उस योगदान को अक्षुण्ण रखते हुए आगे बढ़ाया था।

बाबूजी के इस ऐतिहासिक योगदान का मूल्यांकन हम शास्त्रीय आलोचना की युगीन स्थिति पर दृष्टि डाल कर ही कर सकते हैं। आचार्य शुक्ल से पूर्व की हिन्दी आलोचना बचकानी थी। व्यावहारिक आलोचना में प्रभाववादी ढंग की हलकी-फुलकी बातें, देव और बिहारी के झगड़े। शास्त्रीय आलोचना में "मक्खी पर मक्खी मारो, आँखें मीचे चले जाओ"। शास्त्रीय पुस्तकें मिल नहीं पा रहीं थीं, जो मिल रहीं थीं, समझ नहीं पड़ रहीं थीं, जो समझ पा रहे थे, हिन्दी में सफाई से लिख नहीं पा रहे थे। शास्त्र को पुनर्व्याख्यात या विकसित करने का सवाल कम था।

आचार्य शुक्ल के पदार्पण से स्थिति में क्रान्ति आयी। उनमें भारतीय साहित्य एवं भारतीय प्रकृति की बड़ी ठीक पहिचान थी, साथ ही वे आलोचना-क्षेत्र के पश्चिमी ज्ञान के प्रति भी जागरूक थे। अतः संस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थों की अनुपलब्धि और भाषा-गत कठिनाइयों के कारण परम्परावादी शास्त्रीय आलोचना से सर्वाङ्गीण सम्पर्क न रख पाते हुए भी उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल से मौलिक सिद्धान्त-सृष्टि की। इस सिद्धान्त-सर्जना में भारतीय साहित्य की प्रकृति का परिचय था, पश्चिमी उपलब्धियों की प्रेरणा थी, और साथ में था नैतिकतावादी दृष्टिकोण। परिणाम यह हुआ कि उनकी सैद्धान्तिक सर्जना परम्परावादी शास्त्रीय आलोचना की स्थापनाओं से चाहे मूलतः दूर नहीं हुई, पर परम्परावादिनी भी नहीं बनी। इस स्वस्थ योगदान से निस्सन्देह आलोचना का विकास हुआ। पर यदि शास्त्रीय आलोचना का इतिहास अलग से लिखा जाय तो इतिहास-लेखक को यही लिखना होगा कि शुक्ल जी के कार्य से परम्परावादी शास्त्रीय आलोचना को धक्का लगा। बहुत सी बातों में शुक्लजी की मान्यताएं शास्त्र से मेल नहीं खातीं। शास्त्रीय आलोचक की दृष्टि में शुक्लजी "अशास्त्रीय" हो जाते हैं।

परम्परावादी शास्त्रीय आलोचना को इस युग में दो ओर से आघात सहना पड़ा—एक तो भारतीय दृष्टिकोण से मेल न रखने वाली पश्चिमी आलोचना-पद्धतियों के हिमायतियों की ओर से, दूसरे शुक्लजी से। शुक्लजी शास्त्रीय आलोचना के लिए अपने थे, उन्होंने पश्चिम से भी वही चुना था जो भारतीय प्रकृति के अनुकूल था। अतः शास्त्रीय आलोचना के लिए विधर्मी आलोचना की अपेक्षा सधर्मी शुक्लजी की आलोचना की ओर से होने वाला आघात अधिक घातक था। इसीलिए परम्परावादी और परम्परानुयायी शुक्ल-परवर्ती आलोचकों ने शास्त्रीय पराम्परावाद की शुक्लजी से अधिक रक्षा की है। डा. श्यामसुन्दरदास, पं. रामदहिन मिश्र, बाबू गुलाबराय, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डा. नगेन्द्र—और भी नाम लिये जा सकते

हैं। पर शुक्लजी जो दे चुके थे, उसका मूल्य कम नहीं था। अतः शुक्लोत्तर परम्परावाद उनके महत्व को स्वीकार भी करता है, उनकी आलोचना भी करता है। परिणाम में वह स्वयं भी रूढ़ नहीं रह गया, उदार और विकसित परम्परावाद बनता चला गया है, चला जा रहा है।

बाबू गुलाबरायजी ऐसी स्थिति में शास्त्र को सामने लेकर आये और शुक्लजी द्वारा प्रवर्तित स्वच्छन्दता की उन्होंने एक बाड़ लगा दी। सैद्धान्तिक आलोचना की दृष्टि शास्त्र की ओर पुनः उन्मुख हो गयी। आज शास्त्र की कितनी खोज-बीन है ; अनुवाद, व्याख्याएं, शोध, पाठ-संशोधन, विविध-मुखी अध्ययन, और न जाने क्या-क्या। सैद्धान्तिक आलोचना की इस शास्त्र-निष्ठ अभिरुचि की उद्दीप्ति में सन् ३० के आस-पास "नवरस" लिखने वाले बाबू गुलाबरायजी का कितना हाथ है, इसे आज हम सोचना भी नहीं चाहते।

"नवरस" में एक ऐतिहासिक काम और हुआ। बाबूजी ने रस के मनोवैज्ञानिक पक्ष को उभारा। मैक्डूगल के आधार पर मूल-प्रवृत्तियों के साथ स्थायी भावों की तुलना-परीक्षा करते हुए उन्होंने भारतीय रसवाद को मनोवैज्ञानिक सिद्ध किया। अंग्रेजी के माध्यम से काम करते हुए डा. पी. वी काणे इस प्रकार का एक प्रयास कर चुके थे। पर हिन्दी के क्षेत्र में यह नयी बात थी। परिणाम यह हुआ कि रस के मनोवैज्ञानिक अध्ययनों की ओर प्रवृत्ति बढ़ी। बाबूजी फ्रायड को भी 'नवरस' में सामने लाये। 'नवरस' में दिये गये मनोविज्ञानाश्रित निर्णय यद्यपि अधिक स्थायी नहीं हैं। स्वयं मैक्डूगल की मान्यताओं पर मनोविज्ञान के क्षेत्र में एक बड़ा प्रश्न-चिह्न लग गया है, और आधुनिक मनोविज्ञान बहुत आगे बढ़ गया है। परिणामतः रस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी आज बहुत आगे बढ़ गया है, उसका मनोविज्ञान ही नहीं, दूसरे विज्ञानों की उपलब्धियों के प्रकाश में अध्ययन किया जाता है, फिर भी इस सब से हिन्दी के उस आचार्य का महत्त्व कम नहीं हो जाता जिसने इस दिशा का उद्घाटन हिन्दी के क्षेत्र में किया था।

"नवरस" में आधे से अधिक अवकाश शृंगार को मिला है। पुरानी प्रवृत्ति है। रस नौ ही नहीं लिये गये, भक्ति, वात्सल्य, सख्य आदि का भी निरूपण हुआ है। सारे निरूपण का मुख्य आधार विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण' है। पर एक प्रगति हुई है—उदाहरण हिन्दी के प्राचीन नवीन कवियों से चुने गये हैं। सर्वतोभावेन उसे हिन्दी का रस-ग्रन्थ बनाने का प्रयास बाबूजी ने किया था।

"नवरस" में शास्त्रीय भूलें थीं, कुछ उदाहरण भी पूर्णतः संगत नहीं थे। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने "रसमंजरी" में उनकी आलोचना की थी। उन भूलों में से कुछ का ही समर्थन किया जा सकता है। वस्तुतः बाबूजी के निरूपणों में यत्र-तत्र कुछ शास्त्रीय भूलें मिल ही जाती हैं। पर मैं कह चुका हूँ, नवरस का महत्त्व शास्त्रीय आलोचना के इतिहास में रखकर आंकना चाहिए।

"सिद्धान्त और अध्ययन" तथा "काव्य के रूप" मार्केट में आ जाने पर "नवरस" पीछे पड़ गया। सच्ची बात तो यह है कि बाबूजी हिन्दी-जगत् में व्यापक हुए इन्हीं पुस्तकों से। यहाँ बाबूजी की शास्त्रीय आलोचना बहुत विकसित दिखायी देती है। इन ग्रन्थों में निहित आलोचना को "शास्त्रीय" की अपेक्षा "सैद्धान्तिक आलोचना" कहना अधिक उपयुक्त होगा। शास्त्रीय विषयों की अपेक्षा नवीन विषय अधिक विवेचित हैं। इनमें पुराने काव्य की आत्मा,

काव्य की परिभाषा, काव्य के हेतु, रस, भाव, रस-निष्पत्ति, ध्वनि-गुणीभूत, शब्द-शक्ति जैसे विषय तो हैं ही, साथ ही काव्य और कला, साहित्य की मूल प्ररणाएं, सत्यं शिवं सुन्दरम्, कविता और स्वप्न, रस और मनोविज्ञान, अभिव्यंजनावाद और कलावाद, आलोचना के मान जैसे नवीन विषय भी निरूपित हैं। प्राचीन विषयों का निरूपण भी शास्त्रीय दृष्टिकोण के साथ-साथ पाश्चात्य दृष्टिकोण को भी सामने रखकर किया गया है। "काव्य के रूप" में भी नाटक, महाकाव्य, खण्डकाव्य के साथ-साथ साहित्य की नूतन विधाओं--उपन्यास, कहानी, निबन्ध, जीवनी, आत्मकथा, गद्य-काव्य, रिपोर्ताज, समालोचना आदि--का निरूपण भी है।

वस्तुतः बाबूजी हिन्दी की युगीन आवश्यकता के प्रति पूर्ण जागरूक थे। साथ ही साहित्य और समीक्षा के बढ़ते हुए चरणों से वे परिचित थे। भारतीय काव्यशास्त्र से उनका अच्छा परिचय था। साहित्य-दर्पण, दशरूपक, काव्य-प्रकाश उनके प्रिय ग्रन्थ रहे। अभिनव-भारती को भी उन्होंने कहीं-कहीं टटोला था। अपने युग के हिन्दी के मूर्द्धन्य आलोचकों में, कहना चाहिए, उनका शास्त्र-ज्ञान बहुत साफ़ था। दर्शन के वे अच्छ विद्यार्थी थे। दूसरी ओर मनोविज्ञान और पश्चिमी काव्यशास्त्र तथा सौन्दर्यशास्त्र की उपलब्धियों के लिए भी उन्होंने सहानुभूति से द्वार खुला रखा था। इस ज्ञान के समन्वित योगदान से वे आंखों के सामने फैली हुई हिन्दी की अध्यापन-क्षेत्रीय आवश्यकता की पूर्ति करना चाहते थे। और, इसे स्वीकार करने में किसी को कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि उन्हें अपने लक्ष्य में भारी सफलता मिली थी।

इस उद्देश्य की प्रमुखता के दो प्रभाव हुए--उनके कार्य में बड़ी भारी सफाई और स्पष्टता रही। जो कहा, साफ़ कहा, निर्णयात्मक ढंग में कहा। ईमानदारी उनकी विशेषता थी। अतः जो जहाँ से लिया, साफ़ बता दिया। जिसकी बात नहीं जँची, साफ़-साफ़ पर मीठे शब्दों में उसका खण्डन कर दिया। बाबू श्यामसुन्दरदास, आचार्य शुक्ल, डा. नगेन्द्र--सब के साथ वे आवश्यकता समझने पर शिष्ट असहमति प्रकट कर देते हैं। लीपा-पोती उनका स्वभाव नहीं था। दूसरा प्रभाव उक्त उद्देश्य का यह हुआ कि उन्हें शास्त्र की उलझनों में जाने की आवश्यकता न हुई। संस्कृत काव्यशास्त्र के अनेक विषय उलझे हुए हैं। अनेक आचार्यों के वक्तव्यों की ठीक व्याख्या और मन्तव्य-प्रस्तुतीकरण का कार्य पड़ा हुआ है, जिसके बिना किसी शास्त्रीय आलोचक का बढ़ना कठिन है। प्रायः बाबूजी को उनकी छानबीन से अधिक सरोकार नहीं रहा। अध्ययन-अध्यापन-क्षत्रीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए उन्हें यह सब अनिवार्य प्रतीत नहीं हुआ था। वस्तुतः उनके युग के लिए इस क्षेत्र में यह आवश्यकता इस रूप में नहीं थी। आज का अध्यापक भी इससे बच कर नहीं निकल सकता। तो, बाबूजी के निरूपणों में यत्र-तत्र शास्त्रीय उलझनों की सुलझन नहीं है, बच निकलने का भाव है। कहीं उलझन को छूते-छूते उनका प्रयास लटका रह जाता है। कभी-कभी, पर कम, शास्त्र का प्रस्तुतीकरण निर्भ्रान्त भी नहीं रह जाता।

पर इससे बाबूजी के कार्य का महत्त्व कम नहीं होता। जहाँ तक उपयोगिता का प्रश्न है, उनके कार्य की उपयोगिता उनके अभीष्ट क्षेत्र में आज भी बनी हुई है। रहा स्थायी मान-मूल्यांकन का प्रश्न, सो उनके योगदान का महत्त्व "ऐतिहासिक" है, इसे स्वीकार करने में किसी

को संकोच नहीं होना चाहिए। वे निश्चय ही शास्त्रीय आलोचना को साहित्य के बढ़ते चरणों के साथ मिला कर आगे बढ़ा कर लाये हैं। उसकी आत्मा को और वेष-भूषा को उन्होंने पूर्णतः भारतीय रखा है, पर साथ ही उन्होंने उसे किसी भी अर्थ में "बैकवार्ड" नहीं रहने दिया। शास्त्र के अवलम्ब का मार्ग उन्होंने सामने रखा है, उलझनों से आने वाले सुलझें।

बाबूजी की शास्त्रीय आलोचना की मुख्य विशेषता है "समन्वय"। उसकी आत्मा भारतीय शास्त्र का चिन्तन है, पश्चिमी चिन्तन का पूर्ण उपयोग होते हुए भी उसकी परिणति भारतीय चिन्तन के साथ सामंजस्य में ही है।

बाबूजी की विषय-निरूपण-शैली अपने में बहुत साफ़ है। प्रायः पहिले विषय पर भारतीय आचार्यों के मतों का स्पष्ट प्रतिपादन, आवश्यकता प्रतीत हुई तो व्याख्या और स्पष्टीकरण, फिर पाश्चात्य दृष्टि का प्रत्युपस्थापन साथ में अपनी समीक्षात्मक टिप्पणियाँ रहती हैं। वस्तुतः इन टिप्पणियों में ही बाबूजी मौलिक हो उठते हैं। उनकी इन मौलिक दृष्टियों को संकलित कर उनकी मान्यताओं से सहज परिचित हुआ जा सकता है।

बाबूजी पूर्व और पश्चिम में समन्वय करके तो चले, पर भारतीय आदर्शों के लिए हानिकारक समझौता उन्होंने कभी नहीं किया। आचार्य शुक्ल के समान उनकी नैतिक दृष्टि भी सदा ऊपर रही। शुक्लजी की दृष्टि जहां विशेष रूप से वस्तु-गत थी, बाबूजी की दृष्टि वस्तु और विषयी का समन्वय करके चलती थी। सौन्दर्य, साधारणीकरण, काव्यास्वाद आदि के विषय में उन्होंने यही दृष्टि अपनायी थी।

एक प्रकृत आचार्य के नाते बाबूजी ने निरूप्य विषयों के कसे हुए शास्त्रीय लक्षण भी प्रस्तुत किये हैं। कविता, नाटक, उपन्यास इत्यादि के लक्षणों को उदाहरण-स्वरूप लिया जा सकता है। इन परिभाषाओं में पूर्व और पश्चिम के चिन्तनों की उपलब्धियों को समेटने तथा लक्षण को व्यापक एवं उदार बनाने की प्रवृत्ति झलकती है।

शास्त्रीय आलोचना प्रकृत्या रूखा विषय है। पर बाबूजी के हाथों वह रूखा नहीं रह जाता। व्यंग्य और विनोद के छींटे उसे हलका कर देते हैं। शैली के प्रवाह के कारण पाठक को "एनासिन" की आवश्यकता नहीं पड़ती।

हमें आशा है, हिन्दी-जगत् उनके इस महत्त्वपूर्ण योग-दान के प्रति कृतज्ञ होगा।

डा. शिवप्रसाद गोयल

बाबूजी के सैद्धान्तिक समीक्षा के ग्रन्थ

बाबू गुलाबराय शुक्ल-युग के मूर्द्धन्य समालोचकों में से हैं। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के काल से ही समालोचना के क्षेत्र में पदार्पण करने वाले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दरदास तथा मिश्रबन्धुओं के अनन्तर बाबूजी की गणना होती है। शुक्ल-युग इन समालोचकों का उत्कर्ष-काल था। इस पीढ़ी के समालोचकों में समय की गति और ताल के साथ आगे बढ़ते रहने वालों में वे अग्रगण्य हैं।

बाबूजी की समालोचना के दो पक्ष हैं—१. सैद्धान्तिक तथा २. व्यावहारिक। जिस समालोचना में साहित्य के विविध अङ्गों और विधाओं के विवेचन के साथ कुछ सिद्धान्त स्थिर किये जाते हैं, वह सैद्धान्तिक आलोचना होती है और जिसमें उन सिद्धान्तों के आधार पर किन्हीं कृतियों का मूल्यांकन किया जाता है, वह व्यावहारिक समालोचना होती है। प्रस्तुत लेख में हम उनकी सैद्धान्तिक समालोचना के ग्रन्थों पर विचार करेंगे।

नवरस

बाबू गुलाबराय का सैद्धान्तिक समालोचना-सम्बन्धी सर्वप्रथम ग्रन्थ है 'नवरस'। इसका लघु संस्करण सन् १६२७-२८ में प्रकाशित हुआ था। सन् १६३२ में इसका परिवर्तित और परिवर्द्धित बड़ा संस्करण निकला। हिन्दी में 'नवरस' के प्रकाशन से पूर्व इस विषय का केवल महाराज अयोध्या का 'रस-रत्नाकर' उपलब्ध था। किन्तु उसमें बाबूजी के नव-रस के से विवेचन का अभाव था। श्री कन्हैयालाल पोद्दार का 'काव्य-कल्पद्रुम' तब तक प्रकाश में नहीं आया था। इस प्रकार समालोचना-जगत् में रस-मीमांसा के क्षेत्र में बाबू गुलाबराय

अग्रदूत कहे जा सकते हैं। मनोविज्ञान के पंडित बाबू गुलाबराय ने रस-विषय को नूतन भूमिका में देखते हुए यह अनुभव किया कि रीति-ग्रन्थों में भी नवरसों का वर्णन है ; उसके आधार पर भावों का मनोविज्ञान भलीभाँति लिखा जा सकता है । उन्होंने इस बात का पूर्ण उद्योग किया कि रसों के वर्णन में जो गूढ़ मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त अप्रस्तुत रूप से वर्तमान हैं, उनका पूर्णतः उद्घाटन हो जाय ।

'नवरस' ६३४ पृष्ठों का एक बड़ा ग्रन्थ है जिसमें १८ अध्याय हैं । इसमें लेखक ने रस-विषय को मनोविज्ञान की छाया में समझने-समझाने का एक नया दृष्टिकोण अपनाया है। रीतिकाल में रस की इतनी मिट्टी पलीत हुई कि आधुनिक युग में लोग काव्य और रस को व्यावहारिक जीवन में घातक समझ कर छोड़ने लगे ।[1] बाबूजी ने इस मनोवृत्ति का परिष्कार करने के लिए ही प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की । नवरस की रचना जीवित मानव-समाज और उसके काव्यमय चित्रों को रुचि के साथ समझने में सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से हुई है । अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में बाबूजी ने मनोविज्ञान का सहारा लिया है ।

नारी के सम्बन्ध में प्रचलित धारणाओं को बाबूजी ने एक नवीन रूप प्रदान किया है । कामवासना के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि "कुछ मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि स्त्री वा पुरुषों में कामेप्सा का आधिक्य मस्तिष्क की एक बीमारी के कारण होता हैं। पुरुषों में यह बीमारी Satyriasis (सैटीरिएसिस) और स्त्रियों में Nynphomania (निनफोमेनिया) अर्थात् कामोन्माद कहलाती है ।"[2] उन्होंने शृंगार-रस और कामवासना में एकत्व स्थापित किया है तथा परकीया नायिका और उप-पति के प्रेम को उचित घोषित किया है । फ्रायड ने व्यक्ति के मानसिक जगत को दो स्तरों में विभाजित माना—चेतन और अचेतन । चेतन वह भाग है जिसका हमें सक्रिय ज्ञान रहता है और जो हमारी समस्त सामाजिक क्रियाओं को परिचालित करता है । अचेतन वह भाग है जिसका सक्रिय ज्ञान नहीं होता किन्तु वह व्यक्ति की उन अनेक अक्षय इच्छाओं का भंडार है जो अज्ञात रूप से उसकी प्रत्येक गतिविधि को नियंत्रित एवं परिचालित करती रहती हैं । चेतन मन में हमारी सभी इच्छाएँ समाहित नहीं रहतीं । इस स्तर पर हमारी वे ही इच्छाएँ रहती हैं जो प्रचलित सामाजिक नैतिकता की कसौटी पर खरी उतरती हैं और जिन्हें सामाजिक मान्यता प्राप्त है।

किन्तु अचेतन मन हमारी सभी दमित, निर्वासित एवं अतृप्त इच्छाओं का भण्डार है। वे सभी इच्छाएँ, जिन्हें सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं है, यहाँ आकर एकत्र हो जाती हैं। अचेतन मन में स्थित ये असामाजिक इच्छाएँ बार-बार चेतन मन में आने का प्रयास करती हैं। फ्रायड के अनुसार सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य की अचेतन स्थित कुण्ठाओं का दमन तीव्रतर होता जा रहा है जिसके फलस्वरूप मनुष्य के विक्षिप्त होने की सम्भावनाएँ अधिक

---

१. लोग अभी तक काव्य का विषय बहुत अनुपयोगी समझते हैं और इसी कारण वर्तमान समाज में काव्य का यथोचित आदर नही।

—नवरस, गुलाबराय (द्वितीय संस्करण की भूमिका), पृष्ठ ९

२. नवरस, गुलाबराय, पृष्ठ १९० ।

बढ़ती जा रही हैं।[1] उप-पति और परकीया का प्रेम सामाजिक मान्यता के विपरीत और अचेतन स्थित दमित वासना का चेतन में प्रवेश कर उसकी पूर्ति के प्रयास का परिणाम है, जो मनुष्य को भावी विक्षिप्तता से बचाने वाला है। इसी में उक्त प्रेम की सार्थकता कही जा सकती है जिसे बाबूजी ने उचित माना है।

हिस्टीरिया, कामोन्माद आदि अनेक मानसिक रोगों को पहले दैवी आपदा या भूत-प्रेतादि का प्रकोप समझा जाता था। ऐसे अनेक मानसिक रोग थे जिनका निदान और जिनकी चिकित्सा चिकित्सक-जगत में नहीं थी। वियना के विद्वान् जोसेफ ब्रुअर्ट ने इन अनेक पीड़ाओं का कारण पीड़ित व्यक्तियों का मानसिक असन्तुलन बताया। वे इस परिणाम पर पहुँचे कि मनोजगत् के व्यवस्थित होते ही ये व्यक्ति साधारण स्वस्थ प्राणियों के समान जीवन-यापन में समर्थ हो जायँगे। उसके बाद पाश्चात्य जगत् में मनोविश्लेषण-सम्बन्धी अनेक रहस्यपूर्ण अनु-संधान हुए जिनके फलस्वरूप अनेक मानसिक उलझनों को सुलझाया गया। बाबूजी ने 'नवरस' नामक ग्रन्थ में कामवासना को समझाने के लिए इन पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को ग्रहण किया है।

'नवरस' के चौथे अध्याय में हास्य-रस के अन्तर्गत 'ह्यमर' तथा 'विट्' का अन्तर समझाने में बाबू गुलाबराय ने आई० ए० रिचार्ड्स, टी० एस० इलियट आदि पाश्चात्य विद्वानों के विचारों का आश्रय लिया है। साहित्यिक भावों के वैज्ञानिक स्वरूप को उन्होंने शरीर विज्ञान की प्रक्रिया के माध्यम से समझाया है। गणित-विज्ञान के विशद आँकड़ों के द्वारा षड्ऋतुओं की व्याख्या तो अतिविज्ञानवाद प्रस्तुत करने लगती है। किन्तु इस सब विवेचन से हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि रस-सिद्धान्त के विवेचन में बाबू गुलाबराय ने पश्चिम का अन्धानुकरण किया है। वास्तव में बाबूजी ने अपने रस-विवेचन में पाश्चात्य दृष्टिकोण का पुट देकर पौर्वात्य दृष्टि की एकांगिता को दूर करने का यत्न किया है और इस प्रकार रस-सिद्धान्त को एक नये मौलिक परिपार्श्व में प्रस्तुत किया है और नूतन स्थापनाएँ की हैं।

सिद्धान्त और अध्ययन

सैद्धान्तिक समालोचना सम्बन्धी बाबूजी का दूसरा ग्रन्थ है—'सिद्धान्त और अध्ययन।' इस ग्रन्थ में पौर्वात्य और पाश्चात्य आचार्यों के मतों का दिग्दर्शन कराते हुए बाबूजी ने इस ग्रन्थ में साहित्यिक सिद्धान्तों का विवेचन किया है। इस ग्रन्थ में बाबूजी का दृष्टिकोण प्रायः

---

१. **देखिए—**

(a) Civilization & its Discontents, *Freud.*

(b) The relation of the poet to day-dreaming, collected papers.

(c) Psychology and Literature, *Jung* (Chapter—Modern man in search of Soul)

(d) Psychology of C. J. Jung, Dr. Jolan Jacopi (Chapter--Nature & structure of Psyche.)

समन्वयात्मक ही रहा है। कला की परिभाषा[1] और कला का प्रयोजन[2] बताते समय वे सभी दृष्टिकोण उपस्थित कर अपना समन्वयात्मक मत देते देखे जाते हैं। बाबूजी ने कला और काव्य का घनिष्ट सम्बन्ध बताया है। भारत में काव्य को कला के आवरण में देखने-परखने की परिपाटी नहीं मिलती। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल काव्य को कला के अन्तर्गत नहीं मानते। पश्चिम में काव्य को कला माना गया है और ललित कलाओं में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। बाबूजी पर इस क्षेत्र में रस्किन, मैथ्यू आर्नोल्ड आदि विद्वानों का प्रभाव लक्षित होता है। वे ऑस्कर वाइल्ड आदि के 'कला कला के लिए' अथवा ए० सी० ब्रडले के 'काव्य-काव्य के लिए' का सिद्धान्त नहीं मानते। वे उसे 'लोकहिताय' और महाकवि तुलसीदास के 'स्वान्तःसुखाय' के योग से निर्मित मानते हैं। उनका कथन है कि जब तक 'लोकहित' के साथ 'अन्तः' का रस नहीं मिलेगा, तब तक कोई रचना काव्य नहीं बन सकती, नीतिग्रन्थ भले ही बन जाय। बाबूजी के इस विवेचन में उनकी समन्वयात्मक मौलिकता दृष्टिगोचर होती है।

बाबू गुलाबराय सुन्दरं के उपासक हैं। उन्होंने कला और साहित्य में भाव-सौन्दर्य को महत्त्व दिया है। भारत में भाव-सौन्दर्य की अपेक्षा कर्म-सौन्दर्य को अधिक महत्ता दी जाती है, किन्तु पश्चिम में लैसिंग के सौन्दर्यशास्त्र तथा विकलमैन, कॉलरिज और क्रोचे के भाव-सौन्दर्य के सिद्धान्तों का बड़ा मान है। बाबू गुलाबराय की सौन्दर्योपासना अधिकतर पश्चिम के सौन्दर्यशास्त्र और अभिव्यंजनावाद से प्रभावित जान पड़ती है।

काव्य के रूप

सैद्धान्तिक समालोचना का बाबूजी का तीसरा ग्रन्थ है—'काव्य के रूप'। 'सिद्धान्त और अध्ययन' में उन्होंने काव्य के व्यापक सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं तो 'काव्य के रूप' में काव्य-साहित्य की विविध विधाओं का शास्त्रीय विवेचन और उनका हिन्दी सम्बन्धी इतिहास भी प्रस्तुत किया है। ये दोनों ग्रन्थ मिल कर काव्यालोचन के क्षेत्र को पूरा कर देते हैं। 'काव्य के रूप' में जहाँ महाकाव्य और नाटक के क्षेत्र में बाबूजी ने पौर्वात्य सिद्धान्तों का ही मुख्य रूप से आश्रय लिया है, वहाँ कहानी और उपन्यास के विवेचन में पाश्चात्य सिद्धान्तों को अधिक ग्रहण किया है। काव्य की विभिन्न विधाओं का सैद्धान्तिक विवेचन करते हुए 'काव्य के रूप' में लेखक ने विभिन्न विद्वानों के विचारों को प्रस्तुत कर उनकी व्याख्या करते हुए विभिन्न मतों में सामञ्जस्य स्थापित कर अपनी स्वतंत्र परिभाषाएँ भी प्रस्तुत की हैं। काव्य-विधाओं के तत्त्वों को समझाते हुए हिन्दी साहित्य से विस्तृत उद्धरण देकर अपने विवेचन की पुष्टि की है।

बाबूजी के सैद्धान्तिक विवेचन के सब ग्रन्थों के अध्ययन से यह पता चलता है कि उन्होंने अपने सैद्धान्तिक विवेचन में पूर्व और पश्चिम के काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का समन्वय करके उसे एक नवीन रूप दिया है—दोनों के साम्य-वैषम्य का निर्देश करते हुए दोनों में समता स्थापित कर एक नूतन उपलब्धि की है।

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन, गुलाबराय (द्वितीय संस्करण), पृष्ठ २२-२४
२. वही, पृष्ठ ५०

डा. दीनदयालु गुप्त डी. लिट्

बाबूजी के निबन्धों का मूल्यांकन

हिन्दी में निबन्ध साहित्य का आरम्भ भारतेन्दु युग में हुआ। इसके पूर्व यद्यपि हिन्दी गद्य रचनाएं मिलती हैं किन्तु उनका प्रतिपाद्य विषय कथात्मक होने के कारण वे कहानी के अधिक निकट हैं। यों उन्हें कथात्मक निबन्ध कह सकते हैं। भारतेन्दु युग में (१८५०-१९०० ई०) हिन्दी राज दरबार और शिक्षा-क्षेत्र में उपेक्षा की दृष्टि से देखी जाती थी। देश की तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक हीन परिस्थितियों से भारतेन्दुकालीन हिन्दी साहित्यकार भलीभाँति परिचित थे। उन्होंने इन्ही विषयों को अपनी लेखनी का विषय बनाया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की साहित्य-सृजन-प्रतिभा का प्रसार बहुमुखी था। वे हिन्दी के प्रथम निबन्धकार थे। उन्हीं के प्रोत्साहन से उनके मण्डल के अन्य लेखकों ने भी इस दिशा में पर्याप्त कार्य किया। इस युग के निबन्धकारों में पं. बालकृष्ण भट्ट, पं. बद्रीनाथ भट्ट, प्रेमघन, पं. प्रताप नारायण मिश्र, पं. अम्बिकादत्त व्यास, बाबू बालमुकुन्द गुप्त और पं. राधाचरण गोस्वामी हैं। इस युग के निबन्ध बहुधा सामाजिक सुधार की दृष्टि लेकर व्यंग्य और विनोद के साथ लिखे जाते थे। भारतेन्दु युग के पश्चात् द्विवेदी युग का आरम्भ हुआ। इस युग में द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के माध्यम से हिन्दी-भाषा का परिमार्जन किया। द्विवेदी युग में साहित्यिक निबन्धों के अतिरिक्त दर्शन, इतिहास आदि विषयों पर भी लेखकों ने अपने विचार प्रकट करने आरम्भ किये। द्विवेदी युग में साहित्यकार की दृष्टि कुछ अधिक व्यापक हुई और अनेक प्रकार के गम्भीर निबन्ध लिखे गये। इस युग के प्रमुख निबन्धकार पं. पद्मसिंह शर्मा, पं. माधव मिश्र, पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, गोपालराम गहमरी, ब्रजनन्दन सहाय, मिश्रबन्धु आदि हैं। बाबू

श्यामसुन्दरदास और पं. रामचन्द्र शुक्ल भी द्विवेदी युग के अन्त के निबन्धकार हैं। पं. रामचन्द्र शुक्ल ने विविध नवीन विषयों पर विशिष्ट शैली में निबन्धों की रचना की। शुक्लजी ने विषय और शैली दोनों दृष्टियों से हिन्दी निबन्ध साहित्य को समृद्ध बनाया।

बाबू गुलाबरायजी का जन्म (१८८८ ई०) तो भारतेन्दु युग में हुआ परन्तु उन्होंने लेखन-कार्य द्विवेदी युग में आरम्भ किया। अस्तु उनकी शैली और विचारधारा द्विवेदी युग से अधिक प्रभावित है। उनकी बाद की रचनाओं में छायावाद युग से आगे तक की विचाराधारा व्यक्त हुई है। वे बहुमुखी प्रतिभा के विद्वान थे। उन्होंने साहित्य तथा ज्ञान के विविध अंगों से संबंधित अनेक विषयों पर निबन्ध लिखे हैं। बाबू गुलाबराय दर्शनशास्त्र के एम. ए. थे और उनका साहित्यिक तथा व्यावहारिक जीवन सम्बन्धी ज्ञान बहुत विस्तृत था। उनकी विवेचन शैली, सरल, सुबोध तथा विचारपूर्ण थी। हिन्दी के वर्तमान युग के वे एक प्रमुख निबन्धकार थे।

पाश्चात्य तथा आंग्ल साहित्य में निबन्ध शब्द का व्यवहार व्यापक अर्थ में हुआ है। भारतीय साहित्यशास्त्रकारों ने निबन्ध की साहित्यिक विधा तथा उसकी परिभाषा को देने का प्रयास नहीं किया। जिस अर्थ में अंग्रेजी में 'ऐसे' शब्द का प्रयोग होता है उसी अर्थ में हिन्दी में निबन्ध शब्द का प्रयोग किया जाता है। निबन्धकार विविध विषयों पर अपने विचारों को एक सिलसिले में बांधकर गद्यशैली में व्यक्त करता है। इस रचना में भाव और विचार चाहे किसी भी सूत्र से लिये गये हों, अथवा स्वयं लेखक की उदभावनाएं ही हों, उनके निबन्धों में लेखक के निजी दृष्टिकोण का सम्मिश्रण रहता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने निबन्ध की परिभाषा के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है—"यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्ध में ही सबसे अधिक सम्भव है। इसीलिए गद्य शैली के विवेचक उदाहरणों के लिए अधिकतर निबन्धों को ही चुना करते हैं।"

निबन्ध की शैली, स्वरूप तथा विषय की दृष्टि से अनेक भेद -प्रभेद हो सकते हैं। बहुधा निबन्ध के चार भेद किये जाते हैं (१) विचारात्मक और विवेचनात्मक (२) भावात्मक (३) वर्णनात्मक और (४) कथात्मक तथा विवरणात्मक। विचारात्मक और विवेचनात्मक निबन्धों में विचार तत्व की प्रधानता रहती है। दर्शन, मनोविज्ञान, विविध शास्त्रों से संबंधित विचारों का विवेचन उनका प्रतिपाद्य विषय होता है। ऐसे निबन्धों के लिए गम्भीर अध्ययन और अनुभव की बहुत आवश्यकता है। बाबू गुलाबराय के निबन्धों में 'फिर निराशा क्यों' तथा 'कुछ उथले कुछ गहरे' नामक संकलनों के कुछ निबन्ध विचार प्रधान होने के कारण इस कोटि में आते हैं। भावात्मक निबन्धों में भाव तत्व की प्रधानता रहती है। इनका सम्बन्ध हृदय से अधिक रहता है। इस प्रकार के निबन्धों में एक व्यक्ति, वर्ग अथवा समाज के भावों का निबंधन होता है। विचारात्मक निबन्धों का सम्बन्ध बुद्धि से होता है तो भावात्मक निबन्धों का हृदय से। इस प्रकार के निबन्धों में रागात्मिकता वृत्ति प्रधान रहती है। बाबू गुलाबराय की कृतियों में 'भक्ति रीति निराली है' तथा 'चिर बसन्त' आदि निबन्ध भावात्मक हैं। वर्णनात्मक निबन्धों में वर्णन की प्रधानता रहती है, इनमें किसी वस्तु अथवा घटना अथवा

प्रकृति के दृश्य का वर्णन यथातथ्य रूप में रहता है। भावात्मक तथा वर्णनात्मक निबन्धों में कल्पना तत्व का भी समावेश रहता है। ऐतिहासिक घटनाओं, महापुरुषों की संक्षिप्त जीवनियां या संस्मरण आदि का विवरण कथात्मक तथा विवरणात्मक निबन्धों की कोटि में आते हैं। 'जीवन रश्मियां' नामक पुस्तक में संग्रहीत विवरण तथा बाबू गुलाबराय के 'छतरपुर और खजुराहो का पुनदर्शन' निबन्ध इसी कोटि में रक्खे जा सकते हैं। शैली की दृष्टि से निबन्ध दो प्रकार के और कहे जा सकते हैं (१) व्यक्तिपरक (२) वस्तुपरक। व्यक्तिपरक निबन्धों में लेखक के निजी व्यक्तित्व की भी झलक देखने को मिलती है। इस कोटि के निबन्धों में लेखक की आप-वीती, सुख-दुःखात्मक बातों का व्यक्तीकरण होता है। बाबू गुलाबराय के 'मेरी असफलताएं' नामक संग्रह के अधिकांश लेख तथा 'जीवन रश्मियां' के कुछ लेख इसी प्रकार की लेखक की व्यक्तिगत भावनाओं को प्रकट करते हैं।

उपर्युक्त कोटियों के अतिरिक्त कुछ ऐसे निबन्व भी हैं जिन्हें हम हास्य-व्यंग्यात्मक निबन्ध की कोटि में रख सकते हैं। बाबू गुलाबराय के अधिकांश निबन्ध हास्य-व्यंग्य से भी सराबोर हैं। उन्होंने हास्य को 'रसराज' कहा है। उनके 'ठलुआ क्लब' नामक संग्रह में इसी प्रकार के लेख हैं। 'कुछ उथले-कुछ गहरे' नामक संग्रह में' 'तुलसीदास के जीवन पर नया प्रकाश' में वर्तमान आलोचकों, 'जय उलूकराज' में लक्ष्मी के कृपापात्र धनिक वर्ग तथा 'कल्प-वृक्ष' में विज्ञापनों पर मीठा व्यंग्य है।' 'मेरी असफलताएँ' के भी कुछ निबन्ध इस कोटि में आते हैं। इन निबन्धों के माध्यम से बाबूजी ने समाज तथा जीवन में फैली हुई विभिन्न कुरीतियों पर अत्यन्त मधुर व्यंग्य किये हैं और मीठी चुटकियों में सुधार की ओर उन्मुख किया है।

बाबू गुलाबराय के निबन्धों को विषय और शैली की दृष्टि से विभाजित निबन्ध के विभिन्न वर्ग-उपवर्गों में हम समाविष्ट कर सकते हैं। मोटे तौर पर उनके निबन्धों को हम आलोचनात्मक, साहित्यिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक आदि विविध कोटियों में भी रख सकते हैं।

'प्रबन्ध प्रभाकर', 'कुछ उथले कुछ गहरे', 'मेरे निबन्ध', 'अध्ययन और आस्वाद' तथा 'जीवन रश्मियां' आदि उनके प्रमुख निबन्ध-संग्रह हैं। 'प्रबन्ध प्रभाकर' नामक पुस्तक में उनके ६० निबन्ध संग्रहीत हैं। उक्त निबन्धों में आरम्भ के १५ तथा अन्त के दो निबन्धों को छोड़कर शेष निबन्ध समीक्षात्मक हैं। उनमें विभिन्न साहित्यिक विषयों तथा भाषा, 'भाषा का इतिहास' आदि विषयों का विवेचन है। 'कुछ उथले कुछ गहरे' नामक संग्रह में विद्वान लेखक ने जीवन और जगत की अनुभूतियों को व्यक्त किया है।

'मेरे निबन्ध' नामक निबन्ध संग्रह में वैयक्तिक, व्यापारिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक आदि विषयों से संबंधित २८ निबन्ध संग्रहीत हैं। वैयक्तिक लेखों में लेखक ने अत्यन्त मनोरंजन शैली में आप-बीती को प्रस्तुत किया है। 'मेरा मकान' सम्बन्धी लेख में कचहरियों में उर्दू भाषा के प्रचलन तथा रिश्वत पर मीठा व्यंग्य द्रष्टव्य है। उनके व्यापारिक लेख बहुत उपयोगी हैं। इनमें व्यापार की महत्ता, उसके लिए उपयुक्त साधन, स्थान, आवश्यकताओं तथा व्यापारी के उच्च नैतिक स्तर पर बल देते हुए कुशल व्यापारी के आवश्यक गुण बताये हैं। बाबू गुलाबराय के विचार से "व्यापारी को व्यापारी होने के अति-

रिक्त सद्नागरिक होना भी आवश्यक है क्योंकि कर्तव्यनिष्ठ मनुष्य की प्रतिष्ठा व्यापार में भी बढ़ती है। उसको अपने निजी लाभ के अतिरिक्त देश की समृद्धि और सम्पन्नता का भी ध्यान रखना चाहिए।" 'मिल मजदूर' नामक लेख में मिल मालिक तथा मजदूरों के आपस में सहयोग करने पर बल दिया गया है और आये दिन जो उनमें आपस में कटुता उत्पन्न हो जाती है उसके शमन के लिए कुछ आवश्यक सुझाव भी दिये गये हैं जिनके द्वारा उनमें आपसी सौहार्द का वातावरण बनाये रक्खा जा सकता है। "चोर बाजार" नामक लेख में व्यापारिक भ्रष्टाचार की रोकथाम के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण सुझाव दिये गये हैं जिनको अपनाने से देश में चोरबाजारी कम की जा सकती है।

मनोवैज्ञानिक निबन्धों में 'ठुकरिया पुराण' में परम्परागत लोक विश्वासों की चर्चा मनोवैज्ञानिक ढंग से की गयी है। 'रसराज-हास्य' में हास्य की मूल वृत्तियों की चर्चा करते हुए उसकी उत्पत्ति के कारणों तथा उसके भेदों का सोदाहरण विवेचन किया गया है। सामाजिक तथा राजनैतिक लेखों में हमें बाबूजी की देशभक्ति, राष्ट्रीयता, साम्प्रदायिक एकता आदि के सम्बन्ध में सुष्ठ तथा स्पष्ट विचारों का दिग्दर्शन होता है। उपर्युक्त निबन्धों से विदित होता है कि यद्यपि बाबूजी परोक्ष रूप से किसी राजनैतिक पार्टी से सबंधित नहीं थे फिर भी उनमें वे सभी गुण विद्यमान थे जो एक देशभक्त तथा राष्ट्रप्रेमी के लिए आवश्यक हैं।

बाबू गुलाबराय जी के साहित्यिक निबन्धों का एक और संग्रह 'अध्ययन और आस्वाद' शीर्षक से है जो समय समय पर उन्होंने लिखे थे। इसमें ४० निबन्ध संग्रहीत हैं। इन निबन्धों का वर्ण्य-विषय साहित्य-विवेचन है और शैली विचारात्मक है। ये निबन्ध साहित्य के सिद्धान्तों तथा विभिन्न काव्य रूपों की विवेचना करते हैं। कवियों की आलोचना की दृष्टि से भी उन्होंने लेख लिखे हैं। इन लेखों की भाषा-शैली प्रभावात्मक और सुबोध है। उनके निबन्धों का अन्तिम संग्रह 'जीवन रश्मियां' के नाम से प्रकाशित है। उक्त पुस्तक में २३ निबन्ध संग्रहीत हैं। इनमें भी राजनैतिक, वैयक्तिक, हास्य-व्यंग्य तथा यात्रा सम्बन्धी विषयों का समावेश है। इस संग्रह के कुछ निबन्धों में उन्होंने देश की दयनीय दशा का वास्तविक चित्र खींचा है। अंग्रेजी शासन-काल में देश परतंत्र था तथा अधिकांश देशवासियों के रहन-सहन का स्तर अत्यन्त निम्न था। जिन लोगों के रहने का स्तर ऊंचा था, उनका नैतिक पतन हो चुका था। उन्हें विदेशी वस्तुएं प्रिय थीं। इन सब बातों को बाबू गुलाबराय ने अपने उक्त निबन्धों में दर्शाया है। एक स्थल पर वे अपने उद्गार प्रकट करते हुए कहते हैं—"जीवन स्तर को ऊंचा रखना एक सामाजिक कर्तव्य है जिससे समाज में हमारा सम्मान ही नहीं बढ़ता वरन् चित्त की स्फूर्ति और प्रसन्नता के साथ कार्य क्षमता भी बढ़ती है। किन्तु इसके साथ ही भ्रष्टाचार और बेईमानी का आश्रय न लेना पड़े। नैतिक स्तर भी ऊंचा रहे साथ ही प्रकृति से भी हमारा सम्पर्क न छूटे। हमारे वस्त्र, अलंकरण, सज्जोपकरण आदि स्वदेशी हों जिन पर हम गर्व कर सकें।" 'ब्रिटिश शासन के वे दिन' नामक लेख में उन्होंने अंग्रेजकालीन सामाजिक, राजनैतिक जीवन का वास्तविक चित्र खींचा है और गौरांग प्रभुओं की कृपा तथा टुकड़ों पर जीने वाले तत्कालीन रायबहादुरों और अवसरवादी अंग्रेज भक्तों की कड़े शब्दों में भर्त्सना की है। इससे उनकी देशभक्ति और राष्ट्र-प्रेम का स्पष्ट परिचय मिलता है। उक्त लेख में अपने विचार प्रकट करते

हुए वे लिखते हैं––"उन दिनों राजभक्ति में ही त्राण था। जो राजा महाराजा राजभक्त थे, उनको अभयदान मिला हुआ था और जो अक्खड़ टाइप के थे जैसे महाराजा बड़ौदा, इन्दौर आदि उन्हें स्वास्थ्य सुधार के बहाने इंगलैंड, स्विटजरलैण्ड या पेरिस जाने का सत्परामर्श दिया जाता था. . . . हास-विलास और वैभव ऐश्वर्य के जीवन में दासता की कालिमा लगी हुई थी।"

अपने अनेक निबन्धों में उन्होंने घरेलू समस्याओं को भी उठाया है और उनके समाधान में अनेक महत्वपूर्ण एवं व्यावहारिक सुझाव भी दिये हैं जिनके द्वारा निजी घरेलू कटुता को बहुत सीमा तक कम किया जा सकता है।

बाबू गुलाबराय के सम्पूर्ण निबन्ध साहित्य का अवलोकन करने पर हम कह सकते हैं कि विषय तथा प्रतिपादन-शैली की दोनों दृष्टियों से वे एक उच्च कोटि के निबन्धकार थे। उन्होंने लगभग १६१० ई० से लिखना आरम्भ किया और लगभग ५० वर्षों तक वे अपनी सबल लेखनी द्वारा साहित्य, समाज तथा देश की सेवा करते रहे। हिन्दी के वर्तमान काल के निबन्धकारों में बाबू गुलाबराय एक प्रमुख लेखक रूप में चिरस्मृत रहेंगे।
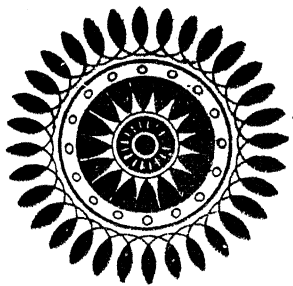
श्री देवेन्द्रकुमार जैन

बाबूजी के मनोवैज्ञानिक निबंध

मनोविज्ञान मानव-मन की अंतश्चेतना से सम्पृक्त विज्ञान है, अतः इसमें मानव-मन की इच्छा, अनुभूति, सहज प्रक्रिया तथा फलनिरुपिणी शक्ति का समाहार होता है।[1] इसलिए साइकोलोजी शब्द साइक् और लोगस् से बना है जिसका धात्वर्थ क्रमशः 'आत्मा' तथा 'बात-चीत करना' से है। १९वीं शती तक अन्तर्निरीक्षणात्मक पद्धति के द्वारा चेतनानुभूति का अध्ययन ही मनोविज्ञान का विषय रहा परन्तु बीसवीं शती में मनोवैज्ञानिकों ने मानव अनुभूति और व्यवहार दोनों विषयों को प्रधानता दी। अतः आधुनिक मनोविज्ञान अनुभूति और व्यव-हार के विज्ञान पर आधृत है।[2]

---

1. "Psychology is the science of mental life, both of its phenomena and their conditions. The phenomena are such things as we call feelings, desires, cognition, reasoning decisions and the like." 'Principles of Psychology.' *W. James*, Macmillan (1890), Vol. I, page I.
2. (a) Psychology is "The positive science of the conduct or behaviour." *W. MC Dougall*. 'Outline of Psychology' Thirteen Edition, 1944. p. p. 38 "Introductory".

   (b) "Psychology is the positive science of mental process and dispositions." 'Social Psychology' --*Robert, H. Thoulous Ph. D.* 'The scienee of Psychology.' p.p. 10, Ch. I, Third impression.

मनोविज्ञान मानसिक आवेग, संवेग का विज्ञान है तथा इसी का समकक्षी दर्शन दार्शनिक चिंतना का विज्ञान है। मनोविज्ञान या दर्शन बुद्धि की प्रक्रियाएं हैं। मनोविज्ञान में जब हृदय की रागात्मिका प्रवृत्ति का सामंजस्य होता है, तब उसमें एक विशेष प्रकार की सरसता, तरलता, गंभीरता और मार्दव आता है। मनोविज्ञान वस्तुतथ्य का यथातथ्य वर्णन और विवेचन करता है। इसीलिए उसमें शुष्कता का समाहार भी हो जाता है परन्तु जब उसका अनुशीलन एक साहित्यकार आत्मीयता के साथ करता है, तब स्वभावतः उसमें संवेदनशीलता और सर-सता आ जाती है। तभी वह मनोवैज्ञानिक निबंध अधिक प्राणवान होता है।

प्रतिपादन शैली

मनोवैज्ञानिक निबन्धों में प्रतिपाद्य विषय के साथ ही उसकी प्रतिपादन शैली का भी अपना महत्त्व है। जहाँ मनोवैज्ञानिक सिद्धांत पक्ष का ठोस विवरण प्रस्तुत करता है वहाँ मनोवैज्ञानिक निबंधकार सिद्धांत और व्यवहार दोनों पक्षों का संतुलित वर्णन और विवरण प्रस्तुत करता है। मनोवैज्ञानिक निबन्धकार की यह विशेषता है कि वह सिद्धांत निरूपक निबन्धों को भी सरस, सरल और प्रभावाभिव्यंजक रूप में प्रस्तुत करता है। मनोवैज्ञानिक निबन्धों के लिए विश्लेषण और व्याख्या अपेक्षित है। इन निबन्धों में समास और व्यास (आग-मनात्मक, निगमनात्मक) दोनों शैलियों का सौंदर्य द्रष्टव्य है।

समास शैली की यह विशेषता है कि वह कथ्य का संकोच कर उसको प्रभावात्मक रूप में प्रस्तुत करती है। **व्यास शैली** विषय का विस्तार कर उसको स्पष्ट करती है। व्यास शैली की यह विशेषता है कि वह भाव या विचार की व्याख्या प्रस्तुत करती है और उस भाव या विषय का अन्य समानान्तर रूप से साम्य वैषम्य प्रस्तुत करती है। दोनों प्रकार के विषयों में एक व्यावर्त्तक या विभाजक रेखा (Mark of demarcation मार्क आव डिमार्केशन) अंकित कर देती है। मनोवैज्ञानिक निबन्धों के ये दोनों रूप हैं। इसी पद्धति का व्यवहार निबन्धकार अपने निबन्धों में करते हैं। बाबू गुलाबराय ने मनोवैज्ञानिक निबन्धों का अध्ययन दो दृष्टियों से किया है। उनके मनोवैज्ञानिक निबन्ध 'मन की बातें' नामक पुस्तक में संकलित हैं। उनके मनोवैज्ञानिक निबन्ध अनुभूति और व्यवहार दोनों ही पद्धतियों को लेकर विकसित हुए हैं। इन मनोवैज्ञानिक निबन्धों में मानव मन की विविध भावनाओं का विधिवत् तथा साहित्यिक दोनों रूपों में अध्ययन किया गया है। मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि को आधार बनाकर लिखे गए निबन्ध, तथा मानव मन की सहज अनुभूतियों को माध्यम बनाकर लिखे गए निबन्धों में बाबूजी की प्रतिभा सहज परिलक्षित होती है। कुछ निबन्ध ऐसे हैं जिनमें बाबूजी ने मनोविज्ञान का स्पर्श भी दिया है तथा कहीं कहीं उसका अनुभावन भी किया गया है, परन्तु प्रतिपादन में मौलि-कता परिलक्षित होती है। इस प्रकार बाबूजी ने अपने इन निबन्धों में अनुभूति तथा व्यवहार दोनों दृष्टियों का समाहार किया है। इसी तथ्य का इस प्रकार भी स्पष्टीकरण किया जा सकता है कि बाबूजी ने प्रतिपादन और प्रतिपाद्य दोनों शैलियों से अपने निबन्धों का साज-शृंगार किया है। इसीलिए इन निबन्धों में कथ्य और कथन शैली दोनों पद्धतियों का व्यवहार किया

गया है। बाबूजी ने अपने निबन्ध के विषय में स्वयं भी स्पष्टीकरण किया है।[1] बाबूजी के इस कथन से स्पष्ट है कि उन्होंने मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि पर तथा साधारण मनोविज्ञान की विषयभूमि पर अपने निबन्धों की रचना की है। इसी पद्धति पर उनके मनोवैज्ञानिक निबन्धों का विभाजन किया जाएगा।

१. शुद्ध मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि पर आधृत निबन्ध

शुद्ध मनोविज्ञान पर आधृत निबन्धों के अन्तर्गत बाबूजी के 'अंधेरी कोठरी', 'भावना ग्रंथियां', 'हीनताग्रंथि' की परिगणना की जाएगी। मूल विषयाधार इन निबन्धों का मनोविज्ञान ही रहा है। परन्तु केवल मात्र मनोविज्ञान का आधार लेकर इन निबन्धों को शुष्क और नीरस नहीं बनाया गया है, इनमें साहित्यिकता का भी समावेश किया गया है।

२. मनोविज्ञान का आधार लेकर लिखे गए निबंध

'प्रभुत्व कामना', 'प्रदर्शन', 'आंतरिक संघर्ष' व 'अंतर्द्वन्द्व', 'कानों सुनी', 'भेड़िया धसान'—इन निबन्धों में मनोविज्ञान का स्पर्श है तथा कहीं कहीं मनोविज्ञान की भावभूमि का भी समावेश हो गया है।

इन सब निबन्धों से यह स्पष्ट है कि इनमें दोनों पद्धतियों का समाहार होते हुए भी साहित्यिकता तथा निबन्धकला का अभाव नहीं है। "सच्चे अर्थ में सब निबन्ध वैज्ञानिक हैं भी नहीं, जैसे 'भेड़िया धसाने', 'कानों सुनी', आदि किन्तु इनका भी एक मनोवैज्ञानिक पहलू है। ये मानव प्रवृत्ति के द्योतक हैं, उनका सम्बन्ध सामाजिक मनोविज्ञान से है।"[२]

स्पष्टतः इन सभी निबन्धों में मानव मन से सम्बद्ध सभी भावनाओं, आकांक्षाओं का स्फुरण हुआ है। इसके उपरांत बाबूजी के विविध भावनाओं से सम्बद्ध तथा मनोविज्ञान पर आधृत निबन्धों का समीक्षण किया जाएगा।

१. 'मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि पर आधृत निबन्ध' 'अंधेरी कोठरी'

मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि पर आधृत इस निबन्ध में बाबूजी ने **फ्रायड** के सब कान्श्यस (sub conscious) अवचेतन का आधार ग्रहण किया है। फ्रायड ने जिसको अवचेतन कहा है, बाबूजी ने उसी का नाम 'अंधेरी कोठरी' रखा है।

अवचेतन मानव मन के विज्ञान से सम्बद्ध है। इसका सम्बन्ध केवल मात्र मानव की इच्छा, अभिलाषा, संवेदना ही से नहीं अपितु यह मानव मन की बाह्य चेतना के विचार, इच्छाओं से भी अभिव्यंजित है।[3]

---

१. "मैंने मनोविश्लेषण की दृष्टि से अधिकांश समस्याओं का अध्ययन किया है किन्तु उसकी सब जगह दुहाई नहीं दी है। जहाँ साधारण मनोविज्ञान से काम चलता है, वहाँ उसे स्वीकार किया है। मनोविश्लेषण भी साधारण मनोविज्ञान की अवहेलना नहीं करता।"
'मन की बातें' 'अपनी बात' (घ), १९५४।

२. 'मन की बातें', 'अपनी बात' (ग), बाबू गुलाबराय, १९५४, प्रकाशक–आत्माराम एण्ड संस।

३. "This use of word unconscious is used to denote not only the inner presentation of our sensations, ideas and feelings but also self consciousness, the attention expressly directed to our sensations, ideas, and

फ्रायड का अवचेतन से तात्पर्य

फ्रायड ने अवचेतन का विस्तृत विवेचन १९वें अध्याय में किया है। फ्रायड का मत है कि प्रत्येक मानसिक **प्रक्रम** अवचेतन में रहता है। उसका अस्तित्व अवचेतन में रहने के पश्चात् उसका अभिव्यंजन चेतन मन में होगा। परन्तु यह प्रक्रिया हरेक स्थान पर नहीं रहती। फ्रायड का इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट मत है कि मानसिक प्रक्रम की पृष्ठभूमि में कुछ समय के लिए इन प्रक्रमों का स्थान रहता है, तदुपरांत उनका निष्कासन चेतना या चेतन संस्थान में होता है। इसीलिए अवचेतन मन का अपना विशिष्ट स्थान है। बाबूजी ने 'अंधेरी कोठरी' में इसी तथ्य का उद्घाटन किया है।

फ्रायड का अवचेतन के सम्बन्ध में मत है कि प्रत्येक प्रक्रम या प्रक्रिया पहले अचेतन मानसिक स्थान में रहता है पर कुछ अवस्थाओं में आगे बढ़कर चेतन संस्थान में आ जाता है।[1]

इससे स्पष्ट है कि फ्रायड की दृष्टि में प्रत्येक इच्छा, अभिलाषा, कामवासना, दैनिक भूलें आदि मनुष्य के अंतश्चेतन में रहती हैं और समय समय पर उनका अभिव्यंजन होता रहता है। **फ्रायड** ने मानसिक संस्थान को एक पूर्वकक्ष की संज्ञा से अभिहित किया है। उसका कथन है कि "अवचेतन संस्थान की तुलना एक बड़े पूर्वकक्ष से की जा सकती है जिसमें अनेक प्रकार के मानसिक उत्तेजन, मनुष्यों की तरह, एक दूसरे के ऊपर आच्छादित हैं।"[2] इसी तथ्य का और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए फ्रायड ने कहा कि "मान लें कि प्रत्येक मानसिक प्रक्रम पहले एक **अचेतन अवस्था या कला** (phase) में रहता है और इसमें से सिर्फ परिवर्धित होकर चेतन कला में आ जाता है—बहुत कुछ वैसे ही जैसे फोटो पहले नैगेटिव है और फिर पौजेटिव प्रिंट के द्वारा भिन्न बन जाता है, पर हर नैगेटिव पौजेटिव नहीं बनाया जाता और इसी तरह यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक प्रक्रम पहले अचेतन मानसिक संस्थिति में रहता है।[3]

बाबूजी ने इसी कथ्य का वर्णन और विवेचन प्रकारान्तर से '**अंधेरी कोठरी**' में किया है। उनका कथन है कि 'अपनी हीनताओं और दुर्बलताओं, अपनी अन्तस्तलवासिनी कलुष

feelings." 'Outiines of Psychology'. *Harald Haffding*, Ch. III. 'The Conscious and the unconscious'. p.p. 72.

१. "It may be best expressed as follows—Each single process belongs in the first place to the unconscious psychical system; from this system it can under certain conditions proceed further into the conscious system." 'A General Introduction to Psycho Analysis' *Sigmind Freud*, Authorised Translation–*Joan Riviere*

Published 1935, by Liver Right Publishing Corporation, 19th lecture–'Resistance and Repression' p. p. 260.

२. "The unconscious system may therefore be compared to a large ante-Room, in which the various mental excitements are crowding upon one another, like individual beings." lecture p. 260, *Freud*, 1935.

३. 'फ्रायड मनोविज्ञान'—अनुवाद देवेन्द्र वेदालंकार, व्याख्यान (१८) पृष्ठ २४६

कालिमाओं, ईर्ष्या और घृणा की भावनाओं को हम अपने मन के पिछले तहखाने में प्रायः अज्ञात रूप से भेज देते हैं, किन्तु वे वहाँ निर्जीव स्पंदनशून्य बक्स और बोतलों की भाँति चुपचाप नहीं पड़ी रहतीं वरन् वे भीतर ही भीतर प्राचीन काल से व्यक्ति के घर की मीसन मिट्टी की अंगीठी में राख से ढंकी हुई कंडे की आग की भाँति हांडी के दूध को उष्णता पहुँचाती रहती हैं।[१]

निकास के मार्ग

फ्रायड ने दमित वासनाओं के निकास के मार्ग के लिए विभिन्न दैनिक भूलों, स्वप्न आदि की ओर संकेत किया है, इसी के साथ उनका एक उज्ज्वल पक्ष भी सामने रहा है। स्वप्न, दैनिक भूलों, आदि का भी अपना एक महत्त्व होता है। इसका सम्बन्ध मनुष्य के शारीरिक विकारों आदि से होता है। फ्रायड का इस सम्बन्ध में मत द्रष्टव्य है।[२] **फ्रायड** के उद्धरण से स्पष्ट है कि भूल आकस्मिक (Accidental) नहीं होती, उसका सम्बन्ध मनुष्य के अंतर्मन से होता है। आकस्मिक भूलों का कोई अस्तित्व नहीं, वे महत्वहीन और अनावश्यक होती हैं, परन्तु उनमें अतिरंजना और अतिरेक होता है।[३]

उदात्त पक्ष

फ्रायड के इन सब विवरणों से स्पष्ट है कि प्रत्येक संस्थान के पीछे उसका आंतरिक अंतर्मन विद्यमान रहता है। प्रत्येक भावना, आकांक्षा तथा स्वप्न, दैनिक भूल, हँसी मज़ाक आदि का भी केन्द्र हमारा अंतर्मन या अंधेरी कोठरी होता है। इन सबके होते हुए भी फ्रायड ने एक उदात्त पक्ष भी सामने रखा है। इन सब बहिर्वृत्तियों और अंतप्रर्वृत्तियों का भी एक महत्त्व है और वह है उनका उन्नयन (Sublimation)। इन वृत्तियों का उदात्तीकरण हो जाता है।[४]

---

१. 'मन की बातें', 'अंधेरी कोठरी', पृष्ठ ३, बाबू गुलाबराय।

२. "Every thing that can be observed in mental life will be designated at one time or another as a mental phenomena. It depends, however, whether the particular mental phenomena is directly due to bodily, organic or material agencies." *Freud* "Fourth Lectutre", "The Psychology of Errors" p.p. 54, Published 1935.

३. "They also appear to be unmotivated, insignificant and unimportant but, in addition to this, they have very clearly the feature of superfluity." *Freud* "Fourth Lecture" Published 1935, p.p. 55

४. "We call this process sublimation, by which we subscribe to the general standard which estimates social aims above sexual (ultimately selfish) aims. Incidently subilmation is merely a special case of the connection existing between sexual impulses and other a sexual one's." "A General introduction to Psychoanalysis" *Freud.* Published in 1935 by Liver Right Publishing Corporation, 22nd lecture, p.p. 302.

प्रतिपादन शैली

बाबूजी ने फ्रायड के 'अवचेतन' की पृष्ठभूमि पर अपने इस निबन्ध का विन्यास किया है। प्रतिपाद्य विषय फ्रायड का है परन्तु प्रतिपादन शैली में उनकी अपनी पृथक् विशेषता है। उनके निबन्धों की यह विशेषता है कि वह गूढ़, गंभीर, दार्शनिक आदि सूक्ष्म विषयों में भी सरसता और सुचारुपन और सजीवता लाने का प्रयास करते हैं। बाबूजी ने इस निबन्ध में भी अपने प्रतिपाद्य विषय को मुहावरों, लोकोक्तियों आदि से पुष्ट कर प्रस्तुत किया है जिससे वह नीरस नहीं होने पाया है। इस निबन्ध में व्यास शैली का आधार ग्रहण किया गया है :—

"इन नयनाभिराम चित्तोत्फुल्लकारी अगरू धूम से सुवासित शोभन स्थलों के अतिरिक्त सम्पन्न घरों में भी कुछ ऐसे स्थान हैं, जिनको सार्वजनिक दृष्टि से बचाया जाता है और जहाँ 'एषांक्वापि गलिर्नास्ति तेषां वाराणसी गतिः' की भांति 'स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते केशः दन्ताः नखाः नराः' के से अशोभन एवं तात्कालिक उपयोग में न आने वाले पदार्थ सुरक्षित रहते हैं।"[1]

बाबूजी ने इस निबन्ध को रोचक और सरस बनाने का सफल प्रायास किया है। बाबूजी ने अपने इस निबन्ध में अवचेतन मन को स्पष्ट करते हुए उसका पोषण साहित्यिक शैली में किया है। अवचेतन मन की भावनाओं का स्पष्टीकरण करने के लिए मूर्त्त उपमानों की योजना की।[2]

अवचेतन मन का स्पष्टीकरण मनोविज्ञानिक आधार को लेकर किया गया है। परन्तु प्रतिपादन आत्मीय शैली में किया गया, यही इस निबन्ध की विशेषता है।

प्रतिपाद्य विषय

भावना ग्रंथियाँ और हीनता ग्रंथि

बाबूजी ने भावना ग्रंथियों और हीनताग्रंथि नामक अध्याय में कुंठा की उत्पत्ति और उपशमन का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया है। अतः मनोवैज्ञानिक शब्दावली में हीनताग्रंथि के लिए फ्रसट्रेशन (Frustration), प्राइवेशन (Privation) आदि शब्दों का व्यवहार होता है। अतः पहले इनका स्वरूप विवेचन किया जाएगा।

कुंठा या विफलता

कोई भी वस्तु जो एक निश्चित लक्ष्य की ओर पहुँचने में बाधा या रुकावट उत्पन्न करती है, कोई भी वस्तु जो एक प्रेरक की संतुष्टि में हस्तक्षेप करती है, बाधा कहलाती है।[3]

---

१. 'मन की बातें', 'अंधेरी कोठरी', पृष्ठ १

२. "वे भावनाएं अनुपयोगी सामान या परिष्कृत बालकों अथवा फटी मिर्जई और फटी विवाइयों से रेखांकित चरणों वाले किन्तु मस्तक की सौभाग्य रेखाओं से शून्य नाते गोते के भाई बंधों की भाँति पर्दे के पीछे पहुँचा दिए जाते हैं।""अंधेरी कोठरी" 'मन की बातें', पृष्ठ ४

३. "The word frustration is used in two ways. Sometimes to refers to a stimulus and sometimes to a response. Sometimes it means the unsurmounted obstacle, or the failure to surmount it and sometimes it means the subjects reactions to failure, especially when that reaction is very emotional."

"Psychology" *Rovers, S. Wordswarth & Marquis* Twentieth Edition, Ch. XII, Choice, conflict, frustration. p. 375.

वर्गीकरण

भावना ग्रंथियां या कुंठाओं का वर्गीकरण भारतीय साहित्य में नहीं मिलता यद्यपि कुंठा के लिए ग्रंथि शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है। **मुंडकोपनिषद** में 'भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः' तथा **बिहारी** में 'परत गांठ दुर्जन हिय' आदि रूप इसी के साक्षी हैं। परन्तु मनोविज्ञान में कुंठा या विफलता का अध्ययन सुनिश्चित रूप में किया गया है। मानव मन की सभी बाह्य और आंतरिक ग्रंथियों का सूक्ष्म विवेचन और विश्लेषण किया गया है।

रोसेन्जवेग (Rosenzweig) ने अपनी पुस्तक[१] में कुंठाओं का महत्वपूर्ण विभाजन किया है। उसने कुंठाओं का विभाजन दो प्रकार से किया है—एक वे जो बाह्य परिवेश से उत्पन्न होती हैं, दूसरे वे जिनका प्रादुर्भाव आंतरिक परिवेश से होता है।

रोसेन्जवेग ने प्रथम प्रकार बाह्य कुंठा या कमी को निश्चित किया है। दूसरी बाह्य कुंठा क्षति (Deprivation or loss) है। तृतीय प्रकार वह है जिसमें विविध प्रकार की रुकावटें और बाधाएँ उपस्थित होती हैं। आंतरिक कुंठाओं में मनुष्य के शारीरिक विकारों, निर्बलता, बुद्धि की कमी आदि की परिगणना की जाती है जिसके कारण मनुष्य अपने चरमलक्ष्य पर पहुँचने में बाधित (Obstruct) हो जाता है। 'Ichheiser' ने अपनी पुस्तक[२] में कुंठाओं के प्रादुर्भाव की चार श्रेणियां निश्चित की हैं—पहली कुंठा कार्य (Function) की है। द्वितीय कुंठा अवधारण (Conviction), तृतीय कुंठा महत्वाकांक्षा (Ambition), तथा चौथी कुंठा क्षतिपूर्ति (Response) की है।

कुंठाओं की परिभाषा और विभाजन के उपरान्त कुंठा की मूल प्रविधि के विषय में भी अवगत होना आवश्यक है। इन कुंठाओं के मूल में क्या परिस्थिति और विषमता रहती है, उसका भी मनोवैज्ञानिकों ने अध्ययन किया है। **एडलर** ने हीनताग्रंथि को विशेष महत्व दिया तथा उसने इसका स्पष्टीकरण भी किया। हीनता ग्रंथि के मूल में न्यूनताएं, हीनताएं, दृष्टिदोष, अकुलीनता आदि हैं जो कुंठा को उत्पन्न करती हैं। एडलर का मत[३] द्रष्टव्य है। कुंठाओं का अध्ययन करने के लिए मानव की जन्मजात प्रवृत्तियों, आंतरिक परिस्थितियों का अध्ययन करना अपेक्षित है, ऐसा एडलर का मत है।

---

१. "Frustration as an experimental problem," VI.
'General outline of Frustration', 'Character and Personality', 7 (1938), 151-160.

२. "On certain conflicts in occupational life."
'Occupational Psychology', 14 (1940), 107-111.

३. "Of extreme importance for the understanding of cogenital inferiority and predispositions to disease are the reseaches into the glands of internal secretion in which morphologic as well as functional deviations have been discovered."
'The Neurotic Constitution' *Alfred Adler*, Authorised English Translation by Bernard Glueck M. D. 1921.
Ch. I 'The feeling of Inferiority' p. p. 3.

संवेगात्मक विफलता के उद्गम के विषय में **राबर्ट वुडवर्थ** ने स्पष्ट विवेचन किया है उसने विफल करने वाली परिस्थितियों को चार प्रमुख श्रेणियों में विभक्त किया है—

१. निर्वैयक्तिक बाधा द्वारा प्रेरित व्यक्ति के मार्ग में रुकावट।

२. किसी अन्य व्यक्ति द्वारा प्रेरित व्यक्ति के मार्ग में बाधा।

३. एक ही व्यक्ति में धनात्मक प्रेरकों का संघर्ष।

४. एक धनात्मक और एक ऋणात्मक प्रेरक का संघर्ष।

(क) इसी के अन्तर्गत शैथिल्य, सुस्ती या थकान ऋणात्मक प्रेरक हो सकते हैं।

(ख) बहुधा ऋणात्मक प्रेरक किसी प्रकार का भय उत्पन्न करते हैं।

संवेगपूर्ण विफलता में व्यक्ति का व्यवहार

विफलता की स्थिति में जो प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है उसको बुद्धि की मात्रा के अनुसार तीन भागों में बाँटा गया है—

१. अविचारपूर्ण संवेगात्मक प्रतिक्रियाएं

क. निस्सहायता की परेशानी

ख. अवसमर्पण (Regression) रिग्रैमन

ग. स्थिरीकरण (Fixiation) फिक्शेशन

घ. दमन (Repression) रिप्रैसन

२, बोध को स्थान्तरित करना

अ. मुझ जैसे अल्पायु और अनुभवहीन युवक के लिए यह कार्य बहुत कठिन है।

आ. काम तो बुरा नहीं, परन्तु यह मेरे पेशे और मनोवृत्ति के अनकूल नहीं, इसलिए महत्वहीन है।

इ. अंगूरों तक न पहुँच पाने पर लोमड़ी ने कहा था कि 'अंगूर खट्टे हैं' वैसे ही काम न कर पाने पर काम को बुरा बताना।

३. किसी स्थानापन्न की तलाश

इसमें व्यक्ति कार्य की असफलता से पलायन करके किसी अन्य क्षेत्र में जाता है।

४. कल्पना सृष्टि या दिवास्वप्न

क्षतिपूर्ति

क्षतिपूर्ति का सिद्धांत उन लोगों पर लागू होता है जो शारीरिक या अन्य कमियों के कारण हीनता की भावना से पीड़ित होते हैं तथा जो किसी अन्य दिशा में, बहुधा उसी से संबंधित दिशा में जिसमें वे अभावग्रस्त होते हैं, उत्कृष्ट योग्यता प्राप्त करके अपने आत्मसम्मान और प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करना चाहते हैं।[१]

प्रतिपादन शैली और प्रतिपाद्य विषय

बाबूजी के इन दोनों निबन्धों में प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से मनोविज्ञान के तत्वों का

---

१. 'मनोविज्ञान' रावर्ट वुडवर्थ, मार्क्विस, अध्याय १२
अनुवादक—उमापतिराय चंदेल, पृष्ठ २३१, हिन्दी संस्करण, प्रथम, १९५२

पूर्ण समाहार हुआ है। 'भावनाग्रंथियां' और 'हीनताग्रंथि' ये दोनों अध्याय एक दूसरे से सम्पृक्त हैं। 'भावनाग्रंथियों' में बाबूजी ने कुंठा के उद्भव के विषय में विभिन्न तत्वों का उल्लेख किया है (मातृरतिग्रंथि, भयग्रंथि, आत्मग्लानि, घृणा आदि)। इसी के साथ हीनता-ग्रंथि में उन तत्वों का विश्लेपण किया गया है। इसके अंतर्गत झिझक, सस्ते साधन, शान का प्रदर्शन, खुशामद, खट्टे अंगूर, नकटा समुदाय, रोग विकृतियां, निदान और चिकित्सा आदि का समाहार किया है जो पूर्णतः मनोविज्ञान के उपकरण हैं। स्पष्टतः उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक विवे-चन को दृष्टि में रखकर यह स्पष्टरूपेण कहा जा सकता है कि बाबूजी ने अपने इन दोनों निबन्धों को मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि के आधार पर लिखा है।

प्रतिपादन शैली की दृष्टि से भी बाबूजी के इन निबन्धों का महत्व है। बाबूजी ने सिद्धान्तपक्ष को तो प्रस्तुत किया ही है, साथ ही इन विषयों में उनकी प्रतिपादन शैली भी सरस, सुंदर और स्वच्छ रूप में परिव्यक्त हुई है। **व्यवहारकौशल** की दृष्टि से इसमें स्थान स्थान पर उदाहरणों, मुहावरों का विधान हुआ है जिससे यह नीरस नहीं होने पाया है :—

"जिनके पास धन वैभव नहीं होता और फलतः जो लोग चाटुकार भृंगों के कलगुंजन से वंचित रहते हैं उन बेचारों को अपने ढोल आप पीटने पड़ते हैं। जो लोग कुछ करके दिखा देते हैं उनकी शैली भी दुधारू गाय की लात की भाँति सह्य हो जाती है किन्तु ढपोरशंखों की बड़ी मट्टीपलीत होती है।"[१]

इस प्रकार मुहावरों का सौष्ठव 'खट्टे अंगूर' शीर्षक से इसी अध्याय में मिलता है।

निष्कर्षतः इन निबन्धों के विषय में यह ज्ञातव्य है कि बाबूजी की अंतर्दृष्टि इन निबन्धों में एक मनोवैज्ञानिक या तत्ववेत्ता दार्शनिक की न होकर एक साहित्यिक निबंधकार की रही है। अतः **राबर्ट वुडवर्थ** और **एडलर** आदि मनोवैज्ञानिक विद्वानों के विषयों का अध्ययन करने पर भी बाबूजी की चेतना से एक निबन्धकार का रूप परिहृत नहीं हुआ है। परिणामतः मनो-विज्ञान के तत्वों का अनुशीलन करने पर भी मनोविज्ञान की पद्धति और प्रवृत्ति का पूर्णरूपेण समाहार नहीं हुआ है। मनोविज्ञान में जिस प्रकार परिभाषा, वर्गीकरण और विभाजन के उपरान्त उसके सूक्ष्म तंतुओं और अवयवों का विवेचन और विश्लेषण किया जाता है, उस प्रकार का दृष्टिकोण इन निबन्धों में चरितार्थ नहीं होता क्योंकि इन निबन्धों की अंतरात्मा सिद्धान्ततः मनोवैज्ञानिक न होकर निबन्धकार की रही है।

मनोविज्ञान का आधार लेकर लिखे गए निबन्ध

आंतरिक संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व

इस निबन्ध में बाबूजी ने मानव मन में उठने वाले संघर्ष और अंतर्द्वन्द्व का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया है। बाबूजी ने इसके प्रतिपादन में, प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से मनोविज्ञान का ही आधार ग्रहण किया है। अर्थात् मनोविज्ञान में आंतरिक संघर्ष आदि के लिए जिन तत्वों का समाहार होता है, उसका इस निबन्ध में समाहार हुआ है परन्तु प्रतिपादन में मौलिकता द्रष्टव्य है :—

---

१. 'मन की बातें', हीनताग्रंथि, पृष्ठ ८२।

"संघर्ष प्रवृत्तियों का एक संस्थान है जिसमें दो से अधिक असंगत व्यवहार प्रक्रिया प्रेरित होती है और जो एक समय में पूर्ण रूप से संतुष्ट नहीं की जा सकती।"[१]

स्पष्टतः **वोरिंग** की इस परिभाषा में बाह्य और आंतरिक दोनों प्रकार के तथ्यों की ओर प्रकारान्तर से इंगित किया गया है। मानव मन में यशेप्सा, प्रभुत्वकामना, प्रेम व्यापार, उदरपोषण आदि बाह्य संघर्षों के साथ ही, इच्छा, अभिलाषा, आकांक्षा आदि आंतरिक मनोवृत्तियों का भी विशिष्ट महत्व है। **पर्सविल, एम. साइमन्डस** ने भी मानव मन की इन्हीं प्रवृत्तियों, तथा विरोधी भावनाओं की ओर संकेत किया है, जिनमें एक अभिलाषा का विरोध दूसरी प्रवृत्ति के स्वतंत्रता का मार्ग उन्मुक्त कर देता है।[२] बाबूजी ने भी अपने इसी निबन्ध में इसी तथ्य का पोषण किया है, थोड़े हेर फेर के साथ।[3] बाबूजी ने प्रकारान्तर से इसी प्रवृत्ति का पोषण किया है, जो मनोविज्ञान के अनुकूल है। लेविन ने अपनी पुस्तक[४] में संघर्षों के कारणों की तीन श्रेणियां निर्धारित की हैं—

१. जिसमें व्यक्ति दो विरोधी अभिलाषाओं या प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख होता है।

२. जिसमें व्यष्टि पूर्णतः इच्छा या अभिलाषा के साथ उस परिस्थिति को हटाने के लिए सामना करता है।

३. जिसमें व्यक्ति दोनों परिस्थितियों को हटाने के लिए उन्मुख होता है, जिसमें वह दोनों से बचने की इच्छा करता है।

लेविन द्वारा प्रतिपादित इन तीनों श्रेणियों में बाबूजी के 'आंतरिक संघर्ष का अंतर्द्वन्द्व' नामक अध्याय में प्रथम दो प्रवृत्तियों का परिचय मिलता है। पहली प्रवृत्ति बाह्यात्मक है जो बर्हिमुखी होती है। इसके अंतर्गत मनुष्य अपनी शारीरिक अभाव की पूर्ति जीवन के अन्य क्षेत्र

---

१. Conflict has already been defined as a state of affairs in which two or more incompatible behaviour trends are evoked that cannot be satisfied fully at the same time."

'Foundations of Psychology'—*Edwin Garrigues Boring etc.* Copy Right, 1948 by John Willy & Sons, Ch. 22, "Personal Adjustment", conflict, p. p. 523.

२. Conflict differs from frustration in that it is the simultaneous operation of two incompatible action system—drives, needs, wishes, purposes, tendencies, impulses and so forth. Normally when there are two incompatible action systems stimulated one is inhibited giving the other freedom of action.

३. "अंतर्द्वन्दों के शमन के लिए एक अभिलाषा को दबा देना नितांत आवश्यक नहीं। दोनों अभिलाषाओं की पूर्ति का मार्ग भी निकल सकता है किन्तु यह प्रायः सहज नहीं होता है और जिस पक्ष को दबाया जाता है उसके सम्बन्ध में कसक बनी रहती है।"

'गुलाबराय' 'आंतरिक संघर्ष का अंतर्द्वन्द्व' (मन का समझौता) 'मन की बातें', पृष्ठ १०१

४. *Lewin*—"A Dynamic Theory of Personality"
MC Graw Hill Book Campany, Inc. 1935; p. p. 88–94.

में करता है यथा बाबूजी द्वारा रचित इस निबन्ध में यशेप्सा, प्रभुत्वकामना, प्रेमव्यापार आदि प्रवृत्ति। आंतरिक पक्ष में दो विरोधी प्रवृत्तियों में एक का उपशमन होना आवश्यक है। इस दूसरी प्रवृत्ति की बाबूजी ने अपने इस निबंध में प्रसाद के नाटक का उद्धरण देकर पुष्टि की है।[1]

बाबूजी ने निष्कर्ष रूप में अंत में इन प्रवृत्तियों के महत्व पर प्रकाश डाला है। अंतर्द्वन्दों का चरित्र विकास में योगदान क्या है, इसका उल्लेख किया है।

निष्कर्ष

बाबूजी के इस निबन्ध में मनोवैज्ञानिकों द्वारा प्रतिपादित मनोविज्ञान के (संघर्ष) तत्वों का स्पष्ट रूप से व्यवहार हुआ है। आंतरिक और बाह्य दोनों प्रवृत्तियों का इसमें विवेचन और विश्लेषण हुआ है। प्रतिपाद्य विषय यद्यपि मनोविज्ञान से प्रभावित है तथापि इसमें शैली की दृष्टि से कोई नवीनता परिलक्षित नहीं होती। प्रतिपादन शैली रोचक और सरल है, परन्तु विचारगांभीर्य और मार्मिक अंतर्दृष्टि का अभाव है। निबंधत्व के गुणों का अध्याहार इसमें नहीं हुआ है। समास और व्यास शैली दोनों में से किसी का भी स्पष्ट और सुनिश्चित रूप ग्रहण नहीं किया गया है। स्पष्टता और स्वच्छता ये दो गुण ही इसमें विद्यमान हैं।

भेडिया धसान

बाबूजी के इस निबन्ध में अनुकरण, मूलतः अंधानुकरण की प्रवृत्ति की ओर लक्षित किया गया है। इस निबन्ध का मनोविज्ञान के इमीटेशन से तत्वतः कोई सम्बन्ध नहीं। लेखक ने इसमें सामान्य व्यावहारिक जीवन में घटित अनुकरण की प्रवृत्ति की ओर निर्देश किया है। इस अनुकरण की प्रवृत्ति का अध्ययन बाबूजी ने सामाजिक रूढ़िगत मान्यताओं की दृष्टि से किया है और निष्कर्ष रूप में अनुकरण की उपयोगिता की ओर उपलक्षित किया है। इस निबन्ध में यद्यपि मनोविज्ञान की विचारधारा का सर्वथा परिहार किया गया है तथा सिद्धान्ततः और तत्वतः उन तत्वों का समावेश नहीं किया गया है तथापि इसका एक मनोवैज्ञानिक पहलू है। अनुकरण की प्रवृत्ति स्वभावतः राजनीति, साहित्य, धर्म आदि विभिन्न क्षेत्रों में प्रयोग में लाई जाती है। बाबूजी ने अपने इस निबन्ध में निष्कर्ष रूप में यह प्रतिपादित किया कि अनुकरण करना अमनोवैज्ञानिक नहीं परन्तु अनुकरण बुद्धिपूर्वक किया जाना चाहिए। अनुकरण सुविचारित होना चाहिए।[2]

अनुकरण की इस वैचारिक स्वाभाविकता की ओर **स्टाउट** ने संकेत किया है, और उसका महत्व प्रतिपादित किया।[3]

---

१. 'मन की बातें'—'आंतरिक संघर्ष का अंतर्द्वन्द्व', पृष्ठ ९९
(प्रसाद के नाटक)

२. "जिन बातों का अनुकरण किया जाता है वे सब बातें बुरी नहीं होतीं किन्तु अनुकरण यदि बुद्धिपूर्वक किया जाय तो हम लकीर के फकीर बनने से बच जाते हैं।"
"भेड़ियाधसान", "मन की बातें" पृष्ठ १३३

३. "Imitation affects primarily a communication of ends, not a transference of specific actions. Thus imitation is a specific development of attention." "Manual of Psychology"—*F. Stout*
Book III, Ch. 3, p.p. 357

मूलतः बाबूजी का यह निबन्ध मनोविज्ञान को अंतर्दृष्टि में रखकर नहीं लिखा गया, अतः इसी कारण इस निबन्ध में प्रतिपादन शैली का व्यवहार समीचीन हुआ है।

इस निबन्ध के प्रतिपादन में बाबूजी ने व्यावहारिक जीवन में प्रयुक्त मुहावरे और लोकोक्तियों को प्रयुक्त किया है, परिणामतः उसमें सुचारुपन और स्पष्टता परिलक्षित होती है—

"किन्तु जो उनको नहीं भी अपनाना चाहते उनकी गति सांप छंछूदर की सी हो जाती है। रूढ़ि के चक्रव्यूह को तोड़ने का साहस विरले सायर सिंह सपूतों को ही होता है। नौ कनौजिया दस चूल्हे वाली लजवन्ती सभ्यता में ही नहीं वरन् प्राचीन विचार के वैश्यों में भी चौके की लकीर लक्ष्मण जी की बांधी हुई रेखा से अधिक महत्व रखती है।"[१]

निष्कर्ष रूप में बाबूजी के इस निबन्ध में व्यास शैली तथा लोकोक्ति आदि का सौष्ठव दर्शनीय है। इसी कारण शैली में सुबोधता और सरलता है। विचारों की मौलिकता और शैली की सरसता इस निबन्ध के गुण हैं।

प्रभुत्वकामना और प्रदर्शन

बाबूजी द्वारा विरचित इन दोनों निबन्धों में मनोविज्ञान के सिद्धांतों का सैद्धांतिक विवेचन नहीं किया गया है। जीवन की व्यावहारिक मानवीय प्रवृत्तियों का इन निबन्धों में आलेखन हुआ है। अभिधान की दृष्टि से ये दोनों निबन्ध मनोविज्ञान से चाहे सम्बद्ध हों, परन्तु इनके प्रतिपादन से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि इन निबन्धों की अंतरात्मा मनोवैज्ञानिक न होकर निबन्धात्मक है। बाबूजी के इन निबन्धों में जीवन के विविध क्षेत्रों धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक का विवेचन हुआ है, और यह विश्लेषण आत्मीय दृष्टि से हुआ है। उन्होंने 'प्रदर्शन' नामक अध्याय में इस प्रवृत्ति की ओर इंगित किया है। उन्होंने अपने जीवन में घटित, अवलोकित पठित तथ्यों का इस निबन्ध में समावेश किया है और इसी के आधार पर आभूषण प्रदर्शन, सस्ता प्रदर्शन, शोक प्रदर्शन, झूठी कलई, वैभवप्रदर्शन तथा धार्मिक क्षेत्र में पांडित्य प्रदर्शन, ख्यातिलिप्सा आदि का वर्णन, विवेचन किया है। और निष्कर्ष रूप में अंत में इस प्रदर्शन की उपयोगिता और अनुपयोगिता पर अपना मत दिया है।

'प्रदर्शन' अध्याय में उन्होंने अपने जीवन में घटित उदाहरणों की ओर भी संकेत किया है।[२]

इसी प्रकार इसी अध्याय में 'सस्ता प्रदर्शन' शीर्षक से[३] उन्होंने लखनऊ के उदाहरण का पोषण किया है। यह उनके पठित ज्ञान का सूचन करता है।

'प्रदर्शन' के मूल में आत्मश्लाघा वर्तमान रहती है, इसी प्रवृत्ति का सामाजिक मनोवैज्ञानिक विवेचन किया है अर्थात् साधारणतः आत्मगौरव की प्रतिष्ठा मानव मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, इसका व्यावहारिक जीवन से उदाहरण देकर पोषण किया गया है।

इन निबंधों में साधारण मनोविज्ञान का परिचय मिलता है, जो जीवन के अंग है। अतः

---

१. 'भेड़िया घसान', 'मन की बातें', गुलाबराय, पृष्ठ १२६
२. 'प्रदर्शन' पृष्ठ ६० (छतरपुर राज्य का उदाहरण) 'वैभवप्रदर्शन' शीर्षक,—गुलाबराय
३. 'प्रदर्शन' (सस्ता प्रदर्शन), पृष्ठ ८६

इन निबंधों के प्रतिपाद्य विषय से यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि इनमें मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। इनमें तो जीवन के व्यावहारिक ज्ञान का साहित्यिक रूप में वर्णन किया गया है। प्रतिपादन शैली की दृष्टि से इन निबन्धों में स्थान स्थान पर मुहावरों का सौंदर्य लक्षित होता है, इसी कारण इनमें रोचकता और सरसता का समावेश अनायास हो गया है, यद्यपि इनमें सुसम्बद्धता, विचारगांभीर्य का अभाव है :—

"हमारे समाज में गोमुखव्याघ्रहों की कमी नहीं है। आत्मीयता के अवतार बने रहते हैं और समय पड़ने पर बगुले की भाँति घात कर बैठते हैं।"[१]

इस उद्धरण में मुहावरों का विधान हुआ है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि ये निबन्ध व्यावहारिक जीवन के साधारण मनोविज्ञान से युक्त हैं अर्थात् इनमें मानवीय प्रवृत्तियों का आत्मीय शैली से मूल्यांकन किया गया है। मनोविज्ञान की अपेक्षा निबंध कला की ओर झुके हुए हैं।

कानों सुनी

'कानों सुनी' निबन्ध जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, जनश्रुतियों, किंवदंतियों, परम्पराओं, रूढ़ एतिह्य पर आधारित है। इस निबन्ध में इन्हीं प्रवृत्तियों का विभिन्न क्षेत्रों से उदाहरण देकर पोषण किया गया है। इस निबन्ध में केवलमात्र पम्पराओं जनश्रुतियों आदि का वर्णन है, और इतिवृत्त का उल्लेख मात्र कर देना ही इसका उद्देश्य है। किसी गूढ़ विषय का इसमें प्रतिपादन नहीं है। जीवन में घटित सामान्य तथ्यों का ही उल्लेख किया गया है, अतः उत्कृष्टता की दृष्टि से मूल्यांकन करने पर यह निबन्ध खरा नहीं उतरता। अतः इस निबन्ध में व्यावहारिक ज्ञान का ही उल्लेख हुआ है। इन सबके होते हुए भी इसकी एक विशेषता यह है कि इसमें साधारणतः जन जीवन में प्रचलित लोकोक्ति और मुहावरों का स्थान स्थान पर प्रयोग किया गया है जिससे भाषा में किसी प्रकार की कसावट नहीं आने पाई है। उसमें एक प्रकार का प्रवाह आ गया है जिससे निबन्ध सरस बन पढ़ा है। उदाहरण के लिए यह गद्य द्रष्टव्य है—

"कानों और आंखों में तो केवल चार अंगुल का अंतर है किन्तु प्रायः कानों सुनी और आंखों देखी बात में जमीन आसमान का भेद हो जाता है।"[२]

एकाध स्थान पर संदर्भमयी शैली का भी प्रयोग हो गया है—

"जीवन का एक महत्वपूर्ण अंश वैयक्तिक अपवादों, किंवदंतियों, जनश्रुतियों और बेपर की खबरों को महाराज पृथु की भांति सहस्र कर्ण होकर बड़े चाव के साथ सुनने और भगवान शेषनाग के सदृश सहस्र जिह्वा होकर प्रचारित करने में व्यतीत होता है।"[३]

निष्कर्ष

बाबूजी के मनोवैज्ञानिक निबन्धों का अध्ययन करने के उपरान्त निष्कर्ष रूप में यह कहा

---

१. 'प्रदर्शन' 'मन की बातें', गुलाबराय, पृष्ठ ६०।

१. 'मन की बातें', 'कानों सुनी' (११ अध्याय) पृष्ठ ११७, प्रकाशक-आत्माराम एण्ड संस, सन् १९५४

२. वही, पृष्ठ ११७-११८

जा सकता है कि निबन्ध मनोविज्ञान और साहित्य दोनों दृष्टिकोणों के परिचायक हैं। शुद्ध मनोविज्ञान को आधार बनाकर लिखे गए निबन्धों में भी बाबूजी का निबन्ध सौष्ठव अंतर्भूत है, तथा इन निबन्धों के अतिरिक्त अन्य निबन्धों में भी निबन्धकला समाविष्ट है। बाबूजी का अंतर्मन एक निबन्धकार का है और बहिर्मन एक मनोवैज्ञानिक का है। मनोवैज्ञानिक पद्धति के सिद्धान्त पक्ष और साधारण जीवन के व्यावहारिक ज्ञान का इन निबन्धों में विवेचन हुआ है। अत: सर्वतोभावेन बाबूजी के मनोवैज्ञानिक निबन्ध मनोविज्ञान और निबंधकला दोनों ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं। बाबूजी एक दार्शनिक चिंतक हैं अत: उनके इन निबन्धों में भी दर्शन का पुट यथास्थान मिलता है। इसी कारण मनोविज्ञान के साथ दर्शन की तार्किक शैली का भी व्यवहार किया गया है, जिससे प्रतिपाद्य विषय में सुसंगठन और परिष्कृतता आ गई है, तथा प्रतिपादन शैली में बाबूजी का अंतर्मन एक निबन्धकार का रहा है इसी कारण इन निबन्धों में निबंधत्व के गुणों का भी समावेश हो गया है। इन निबन्धों में सरसता और स्पष्टता के गुण विद्यमान हैं, शुक्ल जी के निबन्धों के समान दुरूहता नहीं आने पाई है। अत: मनोवैज्ञानिक निबन्ध भी सिद्धांत और व्यवहार के द्योतक हैं।

•
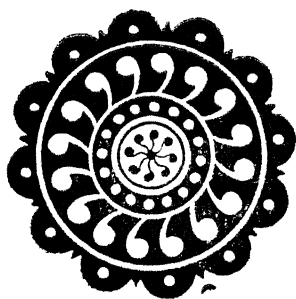
डॉ. गंगाप्रसाद गुप्त "बरसैया"

बाबू गुलाबराय के वैयक्तिक निबंधों की विशेषताएँ

हिन्दी साहित्य-महारथियों में बाबू गुलाबराय जी का नाम सदैव बड़े सम्मान के साथ लिया जायेगा। वे उन आधार स्तंभों में हैं जिन पर साहित्य का बहुत सारा अंश आधारित है। उनकी साधना, उनका जीवन, उनकी कृतियां, उनका आत्मीयपूर्ण सौजन्य व्यवहार सभी कुछ आदर्श और अनुकरणीय रहा है।

बाबूजी की प्रतिभा अद्वितीय एवं बहुमुखी थी—सफल दार्शनिक, आलोचक, निबंधकार, अध्यापक, सम्पादक। बाबूजी जैसी सृष्टा और आलोचक की मिश्रित प्रतिभायें विरल ही मिलेंगी। जीवन के विविध क्षेत्रों का व्यावहारिक ज्ञान अर्जित करनेवाले दिव्यपुंज बाबू गुलाबराय के निबंध हिन्दी में बेजोड़ हैं। उन्हें निबंधकार के रूप में सर्वाधिक ख्याति मिली। निबंधकार की इस लेखनी में बल, चमत्कार, आकर्षण, आत्मीयता, स्वच्छन्दता और निर्भीकता थी।

वैयक्तिक निबंधकार के रूप में बाबू गुलाबराय जी सर्वाधिक सफल और अग्रणी रहे हैं। निबंधों में उनका जीवन, उनकी अनुभूतियां, विचार सभी कुछ हैं। लिखते-लिखते जो प्रसंग आया उसी को लेख का विषय बना लेना आपकी विशेषता थी। चाहे वह प्रेस की बात हो अथवा भैंस का भुस या नर से नारायण बनने की बात। अतः आपके निबंधों में आत्मकथात्मक तत्वों की अधिकता है। डा. शंभुनाथ पांडेय के मतानुसार—"डा. गुलाबराय ने साहित्यिक और आत्मपरक दो प्रकार के निबंधों की रचना की है। उनके आत्मपरक निबंध जिनका एक संग्रह "मेरी असफलताएं" है, विशेष सफल है। उनमें उनका विनोदप्रिय व्यक्तित्व अधिक

प्रगट हुआ है।"[1]

आपके निबंधों में विचारों की सघनता नहीं है। उनमें ठूंस-ठूंस कर विचार नहीं भरे गये। स्वतंत्र विचारों का सरल अभिव्यंजन इनमें मिलेगा। वे विचारों को उलझाकर नहीं वल्कि सुलझाकर संवेदनशील भावनाओं के साथ सरल स्वाभाविक भाषा में व्यक्त करते थे। "भाषा की स्वच्छता, विचारों की स्पष्टता, वाक्य-विधान की सरलता और अभिव्यंजना की सुबोधता इनकी शैली के गुण हैं। तर्क-युक्त प्रमाण, परिणाम आदि इनकी शैली में कम आते हैं। तत्समता का बोझ कहीं नहीं, वह भाषा का सौंदर्य बनकर आती है। वाक्य भी छोटे-छोटे, मिश्र वाक्य वहुत कम, वाक्यों का पारस्परिक शृंखला-संबंध, पर भाषा में फोर्स (शक्ति) और कसाव कम है।"[2] नलिन जी का यह आक्षेप सभी निबंधों के लिए स्वीकार नहीं किया जा सकता। हो सकता है कि प्रारंभिक और विनोदपूर्ण निबंधों में 'फोर्स' की कमी खटके, शेष उनके निबंध पूर्णतः परिपक्व हैं।

उनके वैयक्तिक निबंधों की अधिकांश मात्रा हमें उनके निबंध संग्रह 'ठलुआ क्लब' 'मेरी असफलताएं', 'फिर निराश क्यों', 'मन की बातें', 'मेरे निबंध' आदि में मिलेंगी। इन निबंधों में हमें दर्शन की गहराई, भावों की गंभीरता, प्रमाणों की तार्किकता तथा ऐतिहासिक प्रमाणिकता भले ही न मिले परन्तु आत्मीयता, निकटता, भावुकता, निजीपन और आत्म-चरितात्मकता पूर्णतः मिलेगी।

यदि बाबूजी के वैयक्तिक निबंधों की सभी विशेषताओं को श्रेणीबद्ध करके लिखा जाये तो सर्वप्रथम हमें आत्मपरकता और आत्मीयता का विवेचन करना पड़ेगा। बाबूजी निबंध लिखते-लिखते अपने जीवन पर प्रकाश डालने लगते हैं। सांसारिक घटनाओं का अपने से तारतम्य जोड़ते-जोड़ते न जाने वे कितनी ही संबद्ध-असंबद्ध बातों का उल्लेख कर जाते हैं। 'मेरी असफलताएं' में संग्रहीत सारी सामग्री ही उनका आत्मचरित बन गई है। जीवन के प्रारंभ से लेकर, शिक्षा-दीक्षा, व्यावसायिक भ्रमण, साहित्यिक-कला, लेखन-पद्धति आदि कितनी ही बातों पर प्रकाश डाला गया है। इस संग्रह में संग्रहीत निबधों को पढ़ने से यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि वस्तुत वे निबंध हैं अथवा आत्म-चरित के कुछ अंश। यद्यपि यह सत्य है कि उक्त ग्रंथ आत्म-चरित नहीं है, बल्कि यदा-कदा लिखे गये निबंधों का संकलन ही है, फिर भी उनमें तारतम्य है। आत्मचरितात्मक वैयक्तिक निबंध होने के कारण वहाँ लेखक-पाठक का भाव न रहकर दोनों का तादात्म्य हो जाता है।

दूसरी विशेषता उन निबंधों की यह है कि सर्वत्र 'प्रथम पुरुष' का ही प्रयोग किया गया है। 'मैं', 'मेरे', 'मेरी', 'मेरा' के माध्यम से ही पूर्ण अभिव्यक्ति है। अतः ऐसा प्रतीत होता है जैसे लेखक किसी आत्मीय से अपने 'जीवन की घटनाओं का रोचक वर्णन कर रहा हो। उदा-हरणार्थ—

"मेरे जीवन की सबसे बड़ी असफलता यह थी कि मैंने बसन्त पंचमी से एक दिन पहले

---

१. डा. शंभुनाथ पांडेय—गद्य साहित्य का उद्‌भव और विकास—पृष्ठ १५६
२. श्री जयनाथ नलिन—हिन्दी निबंधकार—पृष्ठ १४२

इस पृथ्वी को भाराक्रांत किया। मेरा जन्म इटावे में हुआ था। मुहल्ले का नाम तो याद है, उसे छपैटी कहते हैं, लेकिन उस घर का पता नहीं लगा सका, जिसमें मेरा जन्म हुआ था।"

\+ + +

'दूसरे प्रोफेसरों को कोठियों में रहते देख मैं भी प्रोफेसरों में करीब-करीब बेमुल्क का नबाब था। मुझे भी कोठी बनवाने का शौक चर्राया था। मेरे सामने दो आदर्श थे। श्रीभोंदा-राम जी ठेकेदार चाहते थे कि अकबर की इस नगरी में कम से कम लाल पत्थर के किले की टक्कर का एक दूसरा किला बनवाऊं और मेरी इच्छा थी कि मैं अपने पड़ोस के काछियों के अनुकरण में एक झोपड़ी डाल लूं।"

कभी-कभी वे निबंधों के रूप में अपनी दैनिकी का चित्र उपस्थित कर देते थे। सुबह से शाम तक उन्होंने क्या किया, किससे मिले, क्या परेशानियां हुईं आदि के विवरण सविस्तार मिलेंगे।

निबंधों में वे अपने व्यक्ति वैचित्र्य का अनुभूतिपूर्ण अंकन बड़े ढंग से करते चलते हैं। कोई दुराव नहीं। सत्य बात को कहना वे अपना धर्म-कर्म मानते थे। सत्य का अभिव्यंजन वे प्रशंसनीय कार्यों में परिगणित करते थे। अतः स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं—"लेखक भी मैं ठोंक-पीटकर बना हूँ। प्रतिभा अवश्य है, परन्तु एक तिहाई से अधिक नहीं। मेरे लेखन में दो तिहाई परिश्रम और चोरी रहती है। मुझमें पांडित्य का विस्तार चाहे हो किन्तु गहराई नहीं है। किन्तु मैं इस कमी को सफलतापूर्वक छिपा लेता हूँ।"

उनके निबंधों की चौथी विशेषता है व्यंग्य-विनोद की। बिना व्यंग-विनोद के उनका लेख ही तैयार नहीं होता। बाबूजी का हास्य-व्यंग्य एक शिष्ट व्यक्ति का हास्य-व्यंग्य है। वे इसके माध्यम से समाज-धर्म-दर्शन संबंधी कितनी ही बातें बड़ी कुशलता से कह जाते हैं। अशिष्ट हास्य-व्यंग्य के पक्ष में वे कतई नहीं हैं। वे नहीं चाहते कि किसी का जी दुखे। सामा-जिक-राजनैतिक व्यंग्यों के माध्यम से वे बड़ी से बड़ी बात कह जाने में बड़े पटु थे। बाबूजी के हास्य-व्यंग्य संबंधी कुछ निबंध उनके संग्रह 'कुछ उथले कुछ गहरे' में मिलेंगे। कुछ निबंध 'ठलुआ क्लब', और 'मेरी असफलताएं' में भी हैं। 'चोरी एक कला', 'सम्पादक राज' 'जयउलूकराज', 'अक्ल बड़ी की भैंस' आदि निबंध उनके व्यंग्य-विनोद के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। 'डाक्टर स्तोत्र' एक ऐसा निबंध है जिसमें वर्तमान स्वार्थी मानवीय प्रवृत्तियों पर सुन्दर ढंग से प्रहार करते हुए उनका उपहास किया गया है। दीन-दुखी और मरणासन्न रोगी के प्रति भी लोभी डाक्टर का निर्दयता एवं निर्ममतापूर्ण व्यवहार किसके कलेजे को न दहला देगा। डाक्टरों के द्वारा आज के युग में किस-किस प्रकार के उचित-अनुचित कार्य किये जाते हैं, इन सबकी झांकी उसमें मिलेगी। इसीलिए उन्होंने डाक्टर को उस निबंध में 'नमो भगवते डाक्टराये' कहा है। 'सम्पादक राज' में सम्पादकों की खबर ली गई है और यह बतलाया गया है कि वे अपने अल्प-साधन के द्वारा किसी एक बात को न जाने क्या से क्या रूप देने का प्रयास करते हैं। वे सम्पादक पर व्यंग करते हुए लिखते हैं—

"नारदावतार! आप नारद मुनि की भांति मिनिस्टरों के स्वर्गलोक की खबरें हम मर्त्य लोगों के पास पहुंचाते हैं। लीडरों के आप विधाता हैं। आपके प्रोपेगण्डा के अमोघ राम-

वाण के बिना कोई चुनाव-युद्ध में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता।"[1]

परन्तु ये कोरे व्यंग्य नहीं हैं। आज इस प्रकार की कितनी ही बातें प्रत्यक्ष जगत में देखने को मिलती हैं जो जीवन के सत्य बन चुके हैं। कुछ सीमित स्वार्थवश लोग क्या से क्या करने को तैयार हैं इसका प्रमाण पीड़ित जन मानस में बिना प्रयास मिल सकता है। बाबूजी का प्रमुख उद्देश्य जन-साधारण की जीवन की वास्तविकताओं का चित्रण करना ही था। वे उस दलित जनमानस को ऊपर उठाना चाहते थे। वर्तमान सामाजिक-राजनैतिक समस्याओं की ओर प्रबुद्ध लोगों का ध्यान आर्कषित करना ही उनका अभिप्रेत था। 'जय उलूक राज' में लक्ष्मीपतियों की खबर ली गई है और करारे व्यंग्य-वाण छोड़े गये हैं। विनोद का एक अंश लीजिए—

"गोस्वामी तुलसीदास 'बारे ते ललात विललात' फिरे थे और चार ही चनों को धर्म, कर्म, काम, मोक्ष रूपी पुरुषार्थ मानते थे। 'जानत हौ चार फल चार ही चनक कों। 'मां-बाप मर चुके थे, बेचारे करते भी क्या।' इसी प्रकार—"लेकिन मुझे गधे के पीछे चलने में उतना ही आनन्द आता है जितना कि पलायनवादी को जीवन से भागने में।"

बाबूजी के वैयक्तिक निबंधों की पांचवीं विशेषता है आख्यायिका सुलभ रंजकता एवं नाटकीय तत्वों के प्रयोग की। उनके निबंधों में कहानी का सा आनन्द मिलता है। निबंध पढ़ते-पढ़ते पाठक यह भूल जाता है कि वह कोई निबंध पढ़ रहा है। जहाँ कुछ कथोपकथन अथवा बातचीत का प्रसंग आया कि वहाँ का आकर्षण और प्रभाव कहीं अधिक प्रभावशाली बन जाता हैं, लगता है जैसे वे किसी आत्मीय से किसी विषय पर साधारण ढंग से निरावरण होकर बातचीत कर रहे हैं। किसी समस्या का समझा-बुझाकर समाधान कर रहे हैं। यथा—

"कभी-कभी जिस बात को हमने खोटे रुपये की भाँति घर में डाल दिया था, वह भूल वश मुँह से निकल जाती है और हमको चार आदमियों में लज्जित होना पड़ता है। जादू सर पर चढ़कर बोलने लगता है। घर में धुंये की भाँति वह छिपाये नहीं छिपता। शिव जी ने विष तो पी लिया था, फिर भी वे अपने कंठ में उसकी नीलिमा न छिपा सके।"

इस अंश को पढ़ने से यही आभास होता है कि लेखक या तो कोई कहानी कह रहा है अथवा जीवन की वह घटना जो अब कहानी बन चुकी है, उससे पाठक को अवगत करा रहा है।

उनके वैयक्तिक निबंधों की छठवीं विशेषता है—स्वच्छन्द विचरण की। वे किसी एक समस्या को उठाकर केवल उसी में सीमित नहीं रहते बल्कि जैसा मैंने प्रारंभ में कहा है कितनी ही अप्रासंगिक बातों में पहुँचकर फिर मूल बात पर आ जाते हैं। बाजार करने की बात कहते-कहते सब्ज़ी, कम्पोज़ीटर, प्रेस, वणिक-वृत्ति, भैंस, कालेज आदि न जाने कहाँ-कहाँ घूमते रहे और लेख की लम्बाई बढ़ती रही। तुलसी संबंधी लेख में 'नाना' शब्द को लेकर विभिन्न स्थलों पर विचरते रहे। व्यक्तिवादी निबंध लेखक की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि वह बंधन हीन होता है। स्वच्छन्द भावनाओं के साथ लेखनी को लेकर उड़ता रहता है। अभी साहित्य की बात है तो फिर राजनीति, और बाद में घर-गृहस्थी और पुनः वही साहित्य।

---

१. कुछ उथले कुछ गहरे—पृ० ३४

यों तो निबंध की प्रकृति स्वच्छन्द है, फिर भी वैयक्तिक निबंधों में इसकी और भी अधिकता रहती है। स्वच्छन्द अभिव्यक्ति का उनका एक अंश उल्लेखनीय है—"नवीनता की धुन में कविता में प्रयोगवाद चल पड़ा है। उनमें छिपकली नहीं तो छिपकली जैसे विषयों पर कविताएं लिखी गई हैं। मैंने भी छिपकली पर लेख लिखना चाहा। छिपकलियों का मेरे घर में बाहुल्य रहते हुए भी मैं उसके संबंध में इतना ही जानता हूँ कि वह सांप की भांति अंडज है परन्तु यह नहीं जानता कि विकास क्रम में पहले सांप आया या छिपकली। उसमें विषैले होने की कथायें भी सुनी थी। मेरे फारसी के अध्यापक ने—उनका असली नाम तो याद नहीं रहा, (उनको मौलवी मियां जान कहते थे) एक फारसी प्रिय लाला की कथा सुनाई थी। वह छिपकली को 'पोशीदाः' (छिप) 'गुंची' (कली) कहते थे। ऐसे ही एक अंग्रेजी अध्यापक कम्बल को लिटिल (कम) 'स्ट्रेंग्थ' (बल) कहते थे।"[१]

इस अंश में प्रयोगवाद, छिपकली, उसका अंडजपन, विकास-क्रम, मौलवी साहब आदि बातों का एक साथ जिक्र किया है।

मनोवैज्ञानिकता का पुट उनके वैयक्तिक निबंधों की सातवीं विशेषता है। वे निबंधों में इस बात का पूरा ख्याल रखते हैं। अपनी इसी सूझ-बूझ के बल पर वे पाठक की मन: स्थिति का अन्त:करण तक प्रवेश कर अध्ययन कर लेते हैं। यही कारण है कि पाठक आपके निबंधों को पढ़कर अपनी अन्तर्भावनाओं, स्थितियों से तुलना करने लगता है और उसे आभास होता है जैसे लेखक ने उसी को लक्ष्य बनाकर लिखा है। 'मन की बातें' नामक संग्रह इसका प्रमाण है। 'हीनता ग्रंथि', 'डुकरिया पुराण' 'अन्तर्द्वन्द', 'फैशन का मनोविज्ञान', 'पूर्व निर्णय' 'प्रभुत्व कामना' आदि निबंध उनकी मनोवैज्ञानिकता के परिचायक हैं।

बाबूजी अपने प्रसंगानुसार पुराने शब्दों-वाक्यों को बदलने में बड़े पटु थे जो उनकी आठवीं विशेषता कही जा सकती है। वे लिखते हैं—"मेरा व्यंग्य यथा संभव नई उपमाओं में तथा पुराने प्रयोगों को नए रूप देने में ही सीमित रहता है। जैसे रघुवंशियों के संबंध में 'योगनान्ते तनुत्यजाम' कहा गया है। मैंने आजकल के लोगों के लिए किया —'रोगेनान्ते तनु: त्यजाम'। 'उम दारु जोषित की नाईं' सबै नचावै राम गुसाईं।" मैंने कर दिया—'उमादास पोषित की नाईं। सबै नचावै दाम गुसाईं।" बाबूजी ने अपने निबंधों में कहावतों-मुहावरों का भी प्रयोग किया है जो उनकी एक अलग विशेषता मानी जावेगी।

इस प्रकार उनके वैयक्तिक निबंधों की ये कुछ विशेषतायें हैं जिनके आधार पर कोई भी पाठक गुलावराय जी को भली प्रकार समझ सकता है। उन्होंने अपने निबंधों के बारे में स्वत: लिखा है जो एक लम्बा प्रसंग है जिसका उद्धृत करना यहाँ बहुत उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। उन्होंने अपनी निबंध-कला पर विस्तृत प्रकाश डाला है। मैं यहाँ उनके तीन अंश लेकर लेख को समाप्त करूँगा—

"मैं दम घुटनेवाले गहरे पानी में नहीं पैठा हूँ और न भूल-भुलैया में पड़ा हूँ। इसीलिए

---

१. बाबू गुलाबराय—साप्ताहिक हिन्दुस्तान—२६ नवम्बर '६१
(शीर्षक हीन लेख)

परेशान नहीं हुआ हूँ। जो सहज में बन आया है वही लिखा और दूसरों को भी अपने साथ हँसाने का प्रयत्न किया।"

"दार्शनिकता के कारण मेरी रचनाओं में अनावश्यक बातें नहीं आने पातीं। मैं अपनी अल्पज्ञता के कारण अपने लेख को अधिक पांडित्यपूर्ण भी नहीं बना सकता, यद्यपि पांडित्य का आभास अवश्य दे लेता हूँ।"

"मेरे निबंध की पहली विशेषता तो यह है कि उनमें वैयक्तिक पुट का प्राधान्य रहता है। उनमें विषय की उपेक्षा नहीं होती किन्तु शैली की मुख्यता रहती है। मेरे निबंध मेरे ही होते हैं।"

इसी प्रकार कितनी ही बातें हैं जो उनके लेखन-कौशल पर प्रकाश डालती हैं। डॉ. सत्येन्द्र ने उनके निबंधों की विशद विवेचना करते हुए लिखा है—"बाबूजी की निबंध कला का मूलाधार इसी भूमि के पाँच तत्व हैं—१—वस्तुनिष्ठता की प्रमुखता २—बंधी-सधी वाक्य रचना ३—परिनिष्ठित शब्दावली ४—व्यवस्थित प्रतिपादन ५—नवीन ज्ञान सामग्री। बाबूजी ने प्रत्येक तत्व को नये प्राणों से अन्वित कर दिया। प्रत्येक तत्व को एक नवीन तत्व, शक्ति और सौंदर्य प्रदान कर दिया। इन समस्त वैशिष्ट्य के साथ एक भव्य वैशिष्ट्य यह मिलता है कि इन सभी बातों का आयोजन बाबूजी के निबंधों में 'समतोल' मिलता है। पाठक यह अनुभव नहीं कर पाता कि कोई बात उबाने वाली कही जा रही है। समतोल वाक्यावली, समतोल शब्दावली से समतोल गंभीरता, समतोल च्युति-विकृति, समतोल ज्ञान-वैविध्य, समतोल उद्धरण, समतोल उदाहरण, इनमें समतोल सरसता तथा समतोल हास्य का व्याप्त प्रकाश से बाबूजी के समतोल व्यक्तित्व का ज्ञान सहज ही हो जाता है।"[१]

गुलाबराय जी के वैयक्तिक निबंध में उनका जीवन, उनकी आत्मा, उनकी अनुभूतियाँ और विचार संकलित हैं।

●

---
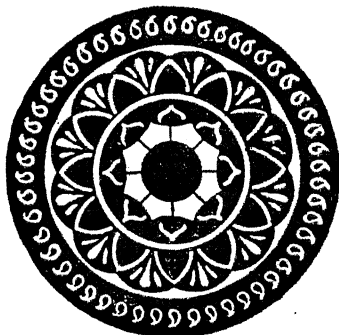
१. डॉ. सत्येन्द्र—'साहित्य संदेश' निबंध विशेषांक

श्री रघुवीरशरण 'व्यथित'

हिन्दी का निबन्ध साहित्य और बाबूजी के निबन्ध

भाव संप्रेषण की विविध विधाओं में निबन्ध भी विस्तृत अर्थ में गद्य काव्य की एक विशिष्ट विधा है। इसमें वैयक्तिक चेतना का संस्पर्श ग्रहण करके भावों की अभिव्यक्ति होती है और इसीलिए बुद्धि, भाव और संकल्प का सुगठित, सुनिश्चित और सुसम्बद्ध आधेय इसमें प्राप्त होता है।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का 'ऐसे' शब्द मूलतः हिन्दी निबन्ध का पर्याय नहीं ठहरता है, सूक्ष्मदृष्टया दोनों में गुण, भाव और शैली की दृष्टि से मूलतः अन्तर है, चाहे व्यवहार में दोनों अधुनातन एक ही अर्थ के द्योतक हैं। 'ऐसे' शब्द का अर्थ है, 'प्रयत्न'। मोंटेन ने इसी अर्थ को ग्रहण करके आत्म-प्रकाशन किया है। आगे चलकर बेकन ने इसका 'उच्छिन्न चिन्तन' के रूप में व्यवहार किया। डॉ. जानसन के विचार में 'ऐसे' मस्तिष्क का शिथिल प्रकाशन मात्र है जिसमें यथाक्रमता और सुश्रृंखलता नहीं रहती है। एंसाईक्लोपीडिया ब्रिटानिका में 'ऐसे' का यों निरूपण किया गया है—विषय का सरल सामान्य निरूपण जो विषय से सम्बद्ध रहता है और जिसका लेखक के जैसा अभीष्ट प्रभाव पड़ता है। विहंगम दृष्ट्या देखने में आता है कि 'ऐसे' में पहले विषय का सुव्यवस्थित, सुश्रृंखल और उदात्त निरूपण सम्मिलित नहीं था जो अन्त में इसको समाहित करके लेखक की वैयक्तिकता को उसकी महत्ता को पूर्णरूपेण अक्षुण्ण रख कर सन्तुलित रूप में आगे आया। आधुनिक निबन्ध शास्त्री एलेग्ज़ेन्डर स्मिथ ने 'ऐसे' की यह परिभाषा दी है—"निबन्ध प्रगीत काव्य से इस बात में बहुत समान है कि प्रगीत काव्य की भाँति यह भी किसी वैयक्तिक भाव भूमि, मानसिक परिस्थिति विशेष से चाहे वह सनकपूर्ण

हो, गम्भीर हो, व्यंग्यात्मक हो, सम्बन्धित रहता है। जिस प्रकार रेशम के कीड़े के चारों ओर कोकून घिर जाता है, उसी प्रकार विशिष्ट भाव या मनस्थिति को केन्द्रित कर निबन्ध लिखा जाता है।" हावर्ड और हिल भी इसी ओर इंगित करते हैं—"साहित्यिक निबन्ध किसी कार्य-विषय का संक्षिप्त संस्करण नहीं होता अपितु मानव मन में उद्भूत विचारों का विषय वस्तु से सुसम्बद्ध अभिव्यंजक होता है। इसकी सबसे विशिष्ट प्रवृत्ति वैयक्तिकता है।" भारतीय संस्कृत साहित्य में 'निबन्ध' शब्द वर्त्तमान तो है लेकिन हिन्दी के 'निबन्ध' से सर्वथा भिन्न है। उन दोनों में केवल धात्वर्थ 'कसा हुआ' 'बँधा हुआ' की ही समानता देखी जा सकती है। "कृता-किकाज्ञान निवृत्तिहेतुः करिष्यते तस्यमया निबन्धः"—(न्यावार्तिक श्लोक १,) और सरस सहृदयता और व्यंग्यात्मकता सन्निहित है। निष्कर्ष रूप में अपनी बात की पुष्टि कर देना उनकी शैलीगत विशेषता है।

विषय की दृष्टि से, वर्त्तमान काल में उपर्युक्त दोनों युगों के निबन्ध साहित्य के अधिकाँश विचारों का विवेचन, भाषा-भाव-रूप में किञ्चित् परिमार्जन और परिष्करण हुआ। प्राचीन रूढ़ मान्यताओं को आपाद-मस्तक परखा-निरखा गया तथा समीचीन न ठहरने पर उनका निराकरण और बहिष्करण किया गया तथा नवीन मान्यताओं की स्थापना निजी वैयक्तिकता के साथ की गई। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक आदि विषय रूढ़ बन गए। इसके विपरीत वर्त्तमान निबन्धकारों में प्रमुखतः डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डा. सत्येन्द्र, डा. नगेन्द्र आदि ने आलोचनात्मक साहित्यिक निबन्ध तत्त्व-दर्शी प्रतिभा और सूक्ष्म परिज्ञान के साथ लिखे। वर्त्तमान काल में हिन्दी निबन्ध साहित्य उच्चतम शिखरों पर सोपानित है।

निबन्ध की आधार भूमि वैयक्तिकता है। मनोविज्ञान हमारे व्यक्तित्व को दो भागों में विभाजित करके देखता है—विषयिनुन्मुखी और विषयोन्मुखी (अन्य शब्दों में आत्मपरक, वस्तुपरक या दृष्टरुन्मुखी और दृष्योन्मुखी)। अतः निबन्ध भी विषयी और विषय की दृष्टि से विषयिनुन्मुखी तथा विषयोन्मुखी होते हैं। इनमें पहले के भी दो प्रकार किये जाते हैं—विचारात्मक और भावात्मक तथा पिछले के भी देश और काल की सीमाबद्धता के अनुसार 'वर्णनात्मक' तथा 'विवरणात्मक' दो प्रकार होते हैं। उपर्युक्त प्रकार के अतिरिक्त निबन्ध की एक कोटि और है जिसे अंग्रेजी में 'पर्सनल ऐसे' (वैयक्तिक निबन्ध) कहते हैं। वैयक्तिकता और व्यक्तित्व का अन्तर सुस्पष्ट है। व्यक्तित्व का सम्बन्ध व्यक्ति की आत्मिक चेतना से होता हैं और इसमें स्वानुभूति का विशद विवेचन होता है। वैयक्तिकता में, व्यक्तिमत्ता तथा व्यक्तिव इन दो स्थितियों में से व्यक्ति की 'स्व' की स्थिति तो अनिवार्यतः अनुस्यूत रहती ही है, इसके साथ-साथ 'पर' की स्थिति भी अनुभावित रहती है। वैयक्तिक निबन्धों में व्यक्ति अपने सुख-दुख, हर्ष विषाद, पीड़ा-कसक, कचोटों-आघातों की सीमाओं में आवद्ध रहता है। और क्योंकि व्यक्तित्व के निर्माण में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार अनिवार्यतः अपेक्षित हैं अतः वैयक्तिक निबन्धों में संकल्प-विकल्पमय बौद्धिक तत्त्व, भावतत्त्व (चित्त विकार) और अहं की विवृत्ति राग-विरागात्मकता अङ्गभंगी भाव से विद्यमान रहती है। बुद्धितत्त्व से निबन्धकार की कला में व्यंग्य, कटुता, हास्य आदि का समावेश होता है, भावतत्त्व नवीन भाव-चेतना की भूमि का

विकास करता चलता है तथा अनुभूतियों के चरमोत्कर्ष में, उनकी अभिव्यक्ति के क्षणों में कल्पना तथा रागात्मकता स्वयमेव उपस्थित होती है। निष्कर्षत: वैयक्तिक निबन्धों में लेखक स्वव्यक्तिमत्ता से व्यक्ति-केन्द्रित होता है।

और इससे पहले 'प्रत्यक्षर श्लेषमपि प्रबन्ध विन्यास वैदग्ध्य निधिनिर्बन्धं चन्के"—वासवदत्ता में हमें प्राप्त है। परन्तु वे अन्यार्थ में प्रयुक्त हैं। 'शिशुपालवध' में 'निश्शेष रूप से बद्ध या गठित रचना को, गद्य वा पद्य की, प्रबन्ध या निबन्ध कहा गया है। 'वहवपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिधीयते, अनुज्झितार्थं संबद्धः प्रबन्धोदुरूदाहरः'—(सर्ग २।७३) इसमें निबन्ध-लेखक के व्यक्तित्व, विषयान्तर और लोक व्यवहार के मृदुल पुट के लिए जो निबन्ध की विशिष्टता होती है, अवकाश नहीं है। आचार्य शुक्ल ने निबन्ध को संस्कृत उक्त के अनुसार (गद्यं कवीनाँ निकषं वदन्ति) गद्य की कसौटी कहा है और भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास वे निबन्ध में ही प्राप्त होना मानते हैं। आँग्ल परिभाषाओं को आत्मसात् करके शुक्ल जी ने निबन्ध की परिभाषा यह दी—'निबन्ध उसे कहना चाहिये जिसमें व्यक्तित्व अथवा व्यक्तिगत विशेषता हो, परन्तु उसके लिए विचारों को विश्रृंखल न किया गया हो और अर्थ योजना के साथ अनुभूति की प्रकृत या लोकमान्य स्वरूप में सुसम्बद्धता भी रहनी चाहिए, भाषा से कसरत या तमाशा न कराया जाय। श्यामसुन्दर दास जी भी निबन्ध में व्यक्तित्व के उभार को महत्त्व देते हैं। डा. सूर्यकान्त शास्त्री इसे स्वगत भाषण मानते हैं और यह कहानी न होकर भी उत्सुकता बनाये रखता है, गाने के स्वर, ताल-लय से रहित होकर भी पाठक को मुग्ध किये रहता है। आँग्ल विद्वान डब्लू. ई. विलियम का परिभाषा से प्रभावित होकर डा. वार्ष्णेय निबन्ध की कोई विशिष्ट परिभाषा न मान कर कहते हैं 'निबन्ध लेखक की रचना का नाम है'। सारांशत: हिन्दी आचार्यों की दृष्टि में निबन्ध में वैयक्तिक चेतना या व्यक्तित्व का होना अनिवार्य है। आँग्ल और भारतीय निबन्ध लक्षणों का अवलोकन करने पर निष्कर्ष यह निकलता है कि आँग्ल प्राचीन 'ऐसे' में वैचारिक सुसम्बद्धता, सुश्रृंखला और सुयोजन का साहित्य था, अधुनातन साहित्यकारों ने वैयक्तिकता के साथ इन्हें भी सन्तुलित किया तथा संस्कृत प्रबन्ध या निबन्ध में वैयक्तिक चेतना का स्पर्श नहीं था, हिन्दी साहित्य-कारों ने इसे विचारात्मकता, सुयोजना, सुसम्बद्धता और कसावट के साथ मुख्य रूप से, आँग्ल साहित्य के प्रभाव से प्रतिष्ठापित किया। आज व्यावहारिक स्तर पर इस प्रकार 'ऐसे' और 'निबन्ध' मूलत: भिन्नार्थक होते हुए भी पर्याय से प्रयुक्त होते हैं। निबन्ध में भावों या विचारों का अर्थध्वनन वैयक्तिक चेतना अथवा चारित्रिक भावभूमि पर आधारित रहता है।

हिन्दी के अब तक के निबन्ध साहित्य को स्थूल दृष्टि पर निम्नलिखित युगों में विभाजित करके देख सकते हैं :—

१. आरम्भिक काल—भारतेन्दु युग १८६२-१९०२
२. माध्यमिक काल—द्विवेदी युग १९०३-१९२५
३. आधुनिक काल— १९२५ से अधुनातन

आरम्भिक काल के निबन्धकारों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, पण्डित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' तथा अम्बिकादत्त व्यास उल्लेखनीय हैं। भार-

तेन्दु के निबन्धों में विषयानुरूप विविध शैलियों का विधान है। आपकी भाषा की विशेषताएँ हैं—मार्मिक और विशद अभिव्यंजना, विदग्धवाक्पटुता, सजीवता, परिष्करण, सुबोधता और व्यंग्यविधान। बालकृष्ण भट्ट ने वर्णनात्मक, भावात्मक, और विचारात्मक सभी प्रकार के निबन्धों के साथ-साथ साधारण विषयों पर—यथा आँख, कान आदि, अपने सूक्ष्म ज्ञान और भावुकता की विशद अभिव्यंजना की है। उनमें स्वानुभूति, व्यंग्यवक्रता, स्वरूप-विधान, सुरुचि सम्पन्नता, मौलिक विचार सरणि आदि का समावेश हुआ है। हिन्दी में मिश्रजी आँग्ल के एडीसन, लेंब, हैजलिट, स्टीवेन्स के समकक्षी हैं। उनका फक्कड़पन, विनोद प्रियता, वाक्पटुता और अलमस्ती उनके निबन्धों में दर्शनीय है। प्रेमघन जी 'गद्य-रचना को एक कला के रूप में ग्रहण करने वाले—कलम की कारीगरी समझने वाले लेखक थे।" व्यास जी में व्याख्यान-पटुता तथा बोल-चाल की शैली के अच्छे नमूने प्राप्त होते हैं। भाषा को ये लोक में जुड़ी रखना चाहते थे।

इस युग में सब मिलाकर गाम्भीर्य, प्रौढ़ता, विचारों की सूक्ष्मता, भाषा सौष्ठव (व्याकरण-परता) का अपेक्षाकृत अभाव है, परन्तु लेखकों में सजीवता, सामाजिकता से समन्वित वैयक्तिकता, सोद्देश्य हास्य-व्यंग्य का पुट लिए हुए जिन्दादिली प्राप्त है। भाषा अकृत्रिम, सरल, मुहावरेदार और कहावतों से युक्त और विचार तथा भावना से परिपुष्ट है। निबन्ध एक वृत्त में प्रवर्त्तित होने वाले माण्डलिक निबन्धों का अभिधान पाने योग्य हैं।

माध्यमिक काल—द्विवेदी-युग में निबन्ध साहित्य, पल्लवित परिष्कृत, विवर्धित और परिवर्धित होने लगा। इस काल के उल्लेखनीय निबन्धकार हैं—आचार्य द्विवेदी, गोविन्द नारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, माधवप्रसाद मिश्र, आचार्य शुक्लजी तथा बाबू गुलाबराय।

आचार्य द्विवेदी निबन्धकार से अधिक आलोचक और भाषा व्यवस्थापक तथा संस्कारक हैं। उन्होंने विचारात्मक निबन्ध ही अधिक लिखे। उनके निबन्धों में निबन्धत्व कम और कथातत्त्व अधिक है, तथा गाँभीर्य, विचार सुगुम्फन और नवविचारोत्तेजना व नवस्फूर्ति नहीं है। उसमें भाषा का सौष्ठव, व्याकरण-सम्मतता, एकरूपता, उचित शब्द-विन्यास तो प्राप्त है, परन्तु, आचार्य शुक्ल के मतानुसार, "विचारों की गूढ़ परम्परा उनमें नहीं मिलती जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर नई विचार पद्धति पर दौड़ सके।" माधवप्रसाद मिश्र की सशक्त लेखनी थी और वे जो कुछ लिखते थे बड़े जोश के साथ लिखते थे,इससे उनकी शैली में प्रगल्भता रहती थी और तर्क, आवेश और भावुकता सबका एक अद्भुत मिश्रण रहता था। उन्होंने राजनीति, धर्म, यात्रा साहित्य पर सब प्रकार के लेख लिखे। बालमुकुन्द गुप्त के निबन्धों में भावुकता तथा कथात्मकता अधिक है। ऐडिसन और स्टील के 'सर रोजर डे कोवटेली' के मनोरंजक चरित्र के समान गुप्तजी ने 'शिवशम्भु के चिट्ठे' में एक भावुक और संवेदनशील चरित्र की सृष्टि की। उनकी 'भाषा बहुत चलती सजीव और विनोदपूर्ण होती थी' और 'उनके विनोदपूर्ण वर्णनात्मक विधान के भीतर विचार और भाव लुके-छिपे रहते थे।' पण्डित गोविन्द नारायण मिश्र के निबन्ध क्लिष्ट शब्द योजना से दुरूह, कृत्रिम, सप्रयास अनुप्रास युक्त तथा अपचनीय समास-बहुल हैं और फलतः स्वाभाविकता, सरलता, स्पष्टता, स्वच्छता और प्रौढ़ि का भाषा से बहिष्कार हो गया है। शुक्ल जी के शब्दों में पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र के गद्य को समास-अनुप्रास में गुँथे शब्द-गुच्छों का एक अटाला समझिये। जहाँ वे कुछ विचार

उपस्थित करते हैं, वहाँ भी पदच्छटा ही ऊपर दिखाई पड़ती है।" अध्यापक पूर्णसिंह ने संभवतः केवल पाँच निबन्ध लिखे, परन्तु उनमें उनकी भावुकता का रसात्मक, आकुल, अनन्य और काव्यात्मक प्रस्फुटन है। विचारों और भावों को एक अनूठे ढंग से मिश्रित करती हुए उनकी नई शैली थी। "उनकी लाक्षणिकता हिन्दी गद्य साहित्य में एक नई चीज थी।" भाषा की उड़ान और शक्ति उनकी लाक्षणिकता में थी। भाषा और भाव की अनूठी विभूति उन्होंने सामने रखी। बाबू श्यामसुन्दर दास भी द्विवेदीयुग के निबन्ट लेखकों में समाहित हैं, परन्तु वे मूलतः आलोचक व समीक्षक ही ठहरते हैं, निबन्धकार प्रायः बहुत कुछ ले दे कर। उनके विषय में आचार्य शुक्ल का यह आशय चरितार्थ होता है कि उन्होंने विद्यार्थियों के लिए उपयोगी पुस्तकों का सरल भाषा में निर्माण किया। द्विवेदी युगीन निबन्ध साहित्य के प्रवर समीक्षक, सुधी विचारक, भावज्ञ, रसज्ञ तलस्पर्शी अन्तर भेदक दृष्टा, नये क्षितिजों को विकसित करने वाले गंभीर समालोचक तथा सम्पन्न निबन्धकार के विविध रूपों में प्रतिष्ठित आचार्य शुक्ल शारदा के प्रिय पुत्रों में हैं जिनसे साहित्य और उसकी विधाओं के मानस-पटल खुलते और बाह्यानुकृतियाँ उदार होती हैं। उनके 'चिन्तामणि' में बुद्धि और हृदय का समंजस योग रहा है तथा प्रत्येक वाक्य में भावों ओर विचारों को ठूँस-ठूँस कर भरा गया है। उनके निबन्धों की दो कोटियाँ हैं—विचारात्मक और भावात्मक। शुक्लजी के मनोवैज्ञानिक निबन्धों की संख्या दस और समीक्षात्मक निबन्धों की ग्यारह है। उनकी भाषा विषयोपयुक्त, मृदु, अनुवर्तिनी, संस्कृत निष्ठ और व्यावहारिक है। उनकी शैली के तीन रूप हैं–सूत्र, व्याख्या और निष्कर्ष। सूत्र उनके निबन्धों में जहाँ-तहाँ बिखरे हैं–यथा, "बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है। भक्ति धर्म की रसात्मक अनभूति है।" व्याख्या में व्यास-पद्धति का आश्रय रहता है जिसमें उनकी वैयक्तिकता गंभीर विद्वता, बाबूजी के निबन्धों को व्यक्ति (प्रतिपादन) की दृष्टि से–विचारात्मक, भावात्मक, मनोवैज्ञानिक तथा वैयक्तिक, तथा विषय की दृष्टि से–व्यावहारिक, सामाजिक, राजनीतिक और वैज्ञानिक ज्ञानवर्धक आदि विभिन्न श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। इनके साथ ही बाबू जी ने श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्यात्मक निबन्धों की भी सृष्टि की है।

विचारात्मक निबन्धों को समीक्षात्मक और शुद्ध विचारात्मक निबन्धों में बाँट कर देखा जा सकता है। बाबूजी के समीक्षात्मक निबन्ध 'सिद्धान्त और अध्ययन', 'अध्ययन और आस्वाद', 'प्रबन्ध प्रभाकर', तथा 'काव्य विमर्श' में संकलित हैं। समीक्षा के सैद्धान्तिक निबन्धों में 'सिद्धान्त और अध्ययन' में १. रस और मनोविज्ञान २. कविता और स्वप्न ३. सत्यं शिवं सुन्दरं ४. अभिव्यंजनावाद और कलावाद ५. कवि और पाठक के त्यात्मक व्यक्तित्व—शुद्ध निबन्ध की दृष्टि से लिखे गए हैं और इनमें निबन्धत्व के गुण अधिक मात्रा में विद्यमान हैं। इनके अतिरिक्त शेष निबन्ध अप्रधान हैं और पुस्तक के अध्याय रूप में लिखित हैं।

'प्रबंध प्रभाकर' में ६८ निबन्ध हैं, इनमें से पहले [illegible] शुद्ध सैद्धान्तिक निबंध हैं और कुछ व्यावहारिक समीक्षा सम्बम्धी। उनके व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी निबन्ध 'अध्ययन और आस्वाद' तथा 'हिन्दी काव्य विमर्श' में संकलित हुए हैं।

बाबूजी के सैद्धान्तिक निबन्धों को त्रिधा विभक्त करके देखा जा सकता है—१. सिद्धान्त प्रतिपादक, २. शास्त्रीय परम्पराभुक्त, और ३. लोकाधारित सैद्धान्तिक साहित्यिक।

१. इन निबन्धों में बाबूजी ने बड़े संयम से काम लिया है और तटस्थता बरती है, परन्तु किसी विशिष्ट मत में कमजोरियों को इंगित कर देना आवश्यक समझा है, उदाहरणार्थ अर्थ प्रकृतियों, सन्धियों और अवस्थाओं में उन्होंने 'दशरूपक'और 'साहित्यदर्पण' को आधार बनाया परन्तु यह लिख दिया कि इनकी संगति नहीं बैठती। श्रद्धास्पद पूर्व आचार्यो का ऋण उन्होंने स्वीकार किया है, परन्तु जहाँ वे उनके मतों को पंगु और सारवत्ता से हीन पाते हैं, दबी परन्तु दृढ़ वाणी में सत्य को निर्दिष्ट कर देते हैं—यथा, वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद के शुक्ल जी के मत की त्रुटि का संकेत और क्रोचे का समर्थन।

२. परम्परामुक्त निबन्धों में उनकी मौलिकता और विचार गांभीर्य परिलक्षित नहीं होता, एक सादगी युक्त तटस्थता से विषय सामग्री का चयन दिख पड़ता है। इनमें उनका दृष्टिकोण पाठन और छात्रोपयोगी रहा है। जबकि शुद्ध सैद्धान्तिक निबन्धों में उत्कृष्ट पृष्ठभूमि प्राप्त है, शैलीगत विशिष्टता और प्रवाह लक्षित है; विचारों की स्पष्टता, उदात्तता स्वच्छता और प्रसंगबद्धता भी पूर्ण रूपेण विद्यमान है।

३. लोकाधारित सैद्धान्तिक साहित्यिक निबन्धों में उनकी व्यावहारिक काव्यात्मकता का, सहज भावुकता और सरलता का परिचय मिलता है और इनमें लोकनिष्ट भावना का साहित्यिक शैली में निरूपण है। सूक्ष्मता का इनमें अभाव है।

व्यावहारिक निबन्धों में सैद्धान्तिक समीक्षा की ही भाँति समन्वय को मूलभूत मापदण्ड स्वीकार किया गया है : निर्णयात्मक आलोचना के स्थान पर उन्होंने व्याख्यात्मक आलोचना को विशिष्ट मान दिया है। बाबूजी की इसी पद्धति को डा. दीक्षित अध्ययनात्मक, डा. माचवे व्याख्यानात्मक, सुमन और मल्लिक समन्वयात्मक, डा. स्नातक व्याख्यात्मक शैली के नाम से अभिहित करते हैं। बाबूजी के इन निबन्धों को अध्ययन की दृष्टि से चतुर्धा वर्गित करके देखा जा सकता है—१. कवि या लेखक २. ग्रन्थ ३. वाद ४. युगीन समस्याएँ। कवि या लेखक के विषय में बाबू जी ने समन्वय की प्रवृत्ति तथा उसके निर्वाह का आदर्श-पालन किया है। ग्रन्थों की आलोचना भाव और कला-दोनों पक्षों को दृष्टिपथ में रखकर की गई है। वाद या प्रवृत्ति में तत्कालीन मूल प्रवृत्ति को अध्ययन का विषय बना कर उपस्थित किया गया है। समन्वय की दृष्टि ने यहाँ भी कहीं अतिवाद नहीं आने दिया है। स्वयं डा. नगेन्द्र ने 'सा. संदेश' के 'स्मृति अंक' में छपे अपने अन्तिम प्रणाम में कहा है कि "छायावाद के बाद प्रगतिवाद आया और उसके बाद नये साहित्य का सृजन और प्रचार हुआ। आयुक्रम के अनुसार मुझे अधिक गतिशील होना चाहिए था, परन्तु मैं दोनों में से किसी के साथ समझौता न कर पाया और बाबूजी की उदारता दोनों को मान देती रही।" ग्रन्थ और वाद सम्बन्धी निबन्धों में मात्र उनकी विशे-षताओं का वर्णन और विवेचन है। एक ही विषय पर अनेक लेख लिखे गए हैं, लेकिन उनमें मौलिकता स्पष्ट होकर सामने नहीं आई है, यद्यपि उनका श्रम-साध्य और सुविचारित अध्ययन उनमें है। सरलता और स्वच्छता का विधान इन निबन्धों की विशेषता है। युगीन-समस्याओं से सम्बन्धित निबन्धों में साहित्यिकता और काव्यात्मकता के छींटे नहीं हैं और न वे जीवन के किसी गंभीर पक्ष पर लिखे गए हैं। निष्कर्षत: बाबूजी की सैद्धान्तिक आलोलचना में उनका आदर्श बहुत उच्चकोटि का है और वे समन्वय करने में भी समर्थ रहे हैं। व्यावहारिक आलोचना

में समन्वय का आदर्श उपस्थित करके उसके उपस्थान में सक्षम नहीं रहे, समन्वय का अतिवादी रूप विशेषकर 'हिन्दी काव्यविमर्श' और 'प्रबन्ध प्रभाकर' में समझौते की कोटि तक भी जा पहुँचता था, यथा 'विद्यापति का हिन्दी साहित्य में स्थान' में। वहाँ वे शुद्ध आलोचक की भूमि पर आधारित नहीं दिखते और उनकी स्थापनाएँ दुर्बल हैं। कहीं-कहीं उनकी आलोचना व्याख्यात्मक स्तर से श्रेणी-विभाजन पर चली जाती है।

विचारात्मक निबन्ध : 'फिर निराशा क्यों' के निबन्ध और 'कुछ उथले कुछ गहरे' में 'जीवन और दर्शन' तथा 'हिन्दू आदर्शों के अनुसार संतुलित जीवन' बाबूजी के विचारात्मक निबन्ध हैं। 'फिर निराशा क्यों' में विचारात्मक निबन्धों के दोनों प्रकार प्राप्त होते हैं १. शुद्ध-विचारात्मक, जिनमें (बाबूजी के) संस्कार, दर्शन और अन्तःप्रेरणाएँ आती हैं। २. विचारात्मक और भावात्मक, जिनमें दोनों का समंजित रूप लक्षित होता है। पहले प्रकार के निबंधों में उल्लेखनीय हैं : १. मनुष्य की मुख्यता २. सत्ता सागर ३. समष्टि-व्यष्टि ४. हमारा कर्तव्य और हमारी कठिनाइयाँ ५. पुनीत पापी ६. भूल ७. कर्मयोग की मोक्ष ८. संघर्ष ९. विफलता। दूसरे प्रकार के हैं : १. फिर निराशा क्यों २. सौन्दर्योपासना ३. कुरूपता ४. अपूर्णता की पूर्णता ५. हमारा नेता कौन।

प्रथम प्रकार के निबन्धों का सृजन जीवन की व्यावहारिक मनोभूमि को दृष्टि में रखकर किया गया है। इनमें दर्शनशास्त्र का विश्लेषण भी है, और हास्य का पुट भी वर्तमान है परन्तु बुद्धि को प्रोत्तेजित करने वाली प्रक्रिया का और बिम्बविधान का अभाव है। दूसरे प्रकार के इन निबन्धों में विश्लेषण, विचारों की मौलिकता, वैयक्तिक तत्त्व, समन्वयात्मक निष्कर्षिणी दृष्टि, सुसंगठित-प्रांजल-काव्यात्मक भाषा और व्यास शैली का उपयोग हुआ है।

मनोवैज्ञानिक निबन्ध : बाबूजी के मनोवैज्ञानिक निबन्ध 'मन की बातें' में संकलित है। इन निबन्धों में मानव अनुभूति और व्यवहार पर वैज्ञानिक स्तर पर रह कर लिखा गया है। इस प्रकार के निबन्धों में प्रतिपाद्य विषय के साथ प्रतिपादन शैली का भी समान महत्त्व है। मनोवैज्ञानिक केवल सिद्धान्त-पक्ष का ठोस विवरण प्रस्तुत करता है। निबन्धकार सिद्धान्त और व्यवहार-दोनों पक्षों का संतुलित वर्णन और विवरण प्रस्तुत करता है। वह इन्हें सविशेष रूप से सरल और सरस बनाकर प्रभावाभिव्यंजक रूप में उपस्थित करता है तथा विश्लेषण और व्याख्या पर दृष्टि केन्द्रित करता हुआ समास और व्यास शैलियों का उपयोग करता है। बाबूजी के शुद्ध मनोवैज्ञानिक निबन्ध ये हैं—१. अंधेरी कोठरी २. भावना ग्रन्थियाँ ३. हीनता ग्रन्थि; ख—मनोविज्ञानाधारित हैं, १. प्रभुत्व-कामना २. प्रदर्शन ३. आन्तरिक संघर्ष व अन्तर्द्वन्द्व ४. कानों सुनी ५. भेड़िया धसान। मनोविज्ञानाधारित निबन्धों में निबन्धकार ने मनोविश्लेषण करके समस्याओं का अध्ययन करने की दृष्टि रखी है। आवश्यकतानुसार मनोविज्ञान में गहरे भी उतरा गया है अन्यथा साधारण मनोविज्ञान को स्वीकार करके चला गया है। इन निबन्धों में, निष्कर्ष रूप में, उन्होंने मानव मन की विविध भावनाओं का विधिवत् और साहित्यिक दोनों रूपों में अध्ययन किया है। शुद्ध-मनोविज्ञान की भूमि पर लिखे गए निबन्धों में भी बाबूजी की प्रतिभा के सहज दर्शन होते हैं। अनुभूति तथा व्यवहार दोनों का समाहार करते हुए प्रतिपादन की मौलिकता उनके इन निबन्धों में उनका सिद्धान्त और कला

दोनों दृष्टियों का निबन्धकारिक वैभव उभरा है। मनोविज्ञान के साथ यहाँ उनकी दार्शनिकता, तार्किक शैली का सुसंगठन और परिष्कार अभिनिविष्ट है। अन्तर्मन एक निबन्धकार का होने के कारण निबन्ध के समस्त गुणों—वर्णन, विवेचन, विश्लेषण, गंभीरता, विचारोत्तेजकता, वैयक्तिकता, सरसता, मार्दव, प्रांजलता, तथा संवेदनशीलता का समावेश है। आचार्य शुक्ल के समान दुरूहता और आतंककारिक अनावश्यक गंभीरता नहीं आने पाई है।

इस वर्ग के कुछ निबन्ध विषय-प्रधान भी हैं। यथा, १. मनोविश्लेषण शास्त्र में प्रमुख संप्रदाय २. फ्रायड और कामवासना ३. स्वप्न संसार ४. नित्य की भूलें ५. हम हँसते क्यों हैं ६. लयात्मक मानसिक जीवन।

भावात्मक निबन्ध बाबूजी ने अत्यल्प लिखे हैं, वे हैं—१. विश्व प्रेम और विश्वसेवा २. भक्ति की रीति निराली है ३. चिर वसन्त ४. स्वयंभू सुधारकों का सुधार ५. दुःख। संख्या दो को छोड़ कर शेष निबन्ध प्रायः पूर्वार्जित ज्ञान और पूर्वाग्रहों से ग्रथित हैं। मूल तथ्य यह है कि इन्हें लिखने से पहले उत्कृष्ट कवियों या आँग्ल विचारकों की धारणाओं को उद्धृत किया गया है और इन्हें केन्द्र में रख कर निबन्धों का समस्त ताना-बाना फैलाया गया है। प्रायः विक्षेप और धाराशैली की मध्यवर्तिनी शैली का इनमें उपयोग है। कथन की विशिष्टता जो निबन्ध में एक अनिवार्य अंग है, इनमें दृष्टिगोचर नहीं होती। भावात्मक होकर भी निबन्ध रसग्राही या रसात्मक नहीं हो पाये, वैचारिकता का भी क्षीण तन्तु इनमें विद्यमान है, इसलिए पाठक की चेतना प्रबुद्ध होकर इनमें रमती नहीं।

बाबूजी के वैयक्तिक निबन्धों पर उनकी सफलता केन्द्रित है। इनमें उनका व्यक्तिगत दुःख, पीड़ा अवसाद, विषमता, कठिनाइयों आदि का अवलोकन है। हास्य-व्यंग्य आदि के विधान से युक्त उनकी व्यक्तिगत कुण्ठाओं, न्यूनताओं, पिछ-धकेलों का भी विनिवेश इनमें हुआ है। ये आत्मिक अनुभूति से संसिक्त हैं। उनके इन उत्कृष्ट निबन्धों में उनकी यथार्थ बिम्बभावना, स्वान्तःसुखाय प्रवृत्ति अधिक मुखरित हुई है। विषयिनुन्मुखता के गुण से अन्वित होकर निबन्ध के प्रमुख गुणों का प्रयोग हुआ है। विषय को अधिक परिमार्जित, परिनिष्ठित, सुसंस्कृत तथा प्रभावव्यंजक बनाने के लिए उदाहरणों, उद्धरणों, लोकोक्तियों तथा मुहावरों का व्यवहार किया गया है। इन निबन्धों में साहित्यिकता, संवेदन, दार्शनिक संस्कार, हास्य-व्यंग्य आत्मीयता के संस्पर्श की प्रविधि और प्रारूप प्राप्त हैं। उनका हास्य प्रायः सोद्देश्य नहीं होता, व्यंग्य सभ्योचित हैं, जिनमें कहीं-कहीं कटूक्तियाँ भी व्यंजित हुई हैं। परन्तु हैं वे सदैव साहित्यिक रूप लिये।

हास्य व्यंग्यात्मक निबन्ध : बाबूजी के 'ठलुआ क्लब' में हास्य-व्यंग्यात्मक निबन्ध हैं और एक वर्ग को आधारित करके लिखे गए है, इनमें व्यक्तियों के रेखाचित्र हैं, लेकिन वे किसी विशिष्ट व्यक्ति पर आधारित नहीं हैं। इन रेखाचित्रों में कुछ काल्पनिक भी हैं। रेखाचित्र ये हैं—१. मधुमेही लेखक की आत्मकथा २. बेकार वकील ३. विज्ञापन युग का सफल नवयुवक ४. निराश कर्मचारी ५. प्रेमी वैज्ञानिक, 'कुछ उथले कुछ गहरे' में संकलित ६. साँवलिया बीजवाला, 'जीवनरश्मियाँ' में ७. मेरे जीवन को सफल बनाने वाला (रेखाचित्र भी है); 'मेरी असफलताएँ' में ८. मेरे शिकारपुरी मित्र तथा ९. मेरे नापिताचार्य इनके

अतिरिक्त, १०. 'सिद्धान्ती' में तथाकथित सैद्धान्तिकों पर, ११. 'आलस्यभक्त' में आल-सियों पर तथा १२. 'आफ़त का मारा दार्शनिक' में दर्शनवादियों की दीर्घसूत्रता तथा ऊहापोह पर व्यंग्य है और 'कुछ उथले कुछ गहरे' में १३. 'तुलसी के जीवन पर नया प्रकाश' में वर्त्तमान आलोचकों पर १४. 'सम्पादकराज' में सम्पादकों पर १५. 'जय उलूकराज' में लक्ष्मी के वाहनों पर, १६. 'अक्कल बड़ी कै भैंस' में पृष्ठ पोषकों पर तथा १७. 'पृथ्वी पर कल्पवृक्ष' में विज्ञापन-बाजी पर, १८. 'बस आपकी शुभ सम्मति की कसर है' में सम्मतिबाजों पर, १९. 'सीमावर्त्ती चोर' में सामाजिक चोर शिष्टों पर २० 'भारतीय लेखक और मधुमेह' में मधु-चर्चा पर, २१. 'हस्ताक्षर या ब्रह्माक्षर' में हस्ताक्षरकारिता पर तथा २२. 'शीर्षक हीन लेख' में विभूक्त व्यंग्य और हास्य हैं। बाबूजी के शब्दों में उनका "हास्य बहुत नुकीला और सोद्देश्य तो नहीं है, परन्तु कहीं-कहीं व्यंग्य के छींटे अवश्य हैं।" व्यंग्य तीन प्रकार का स्वीकार किया जाता है—१. प्रखर २. श्लेषात्मक ३. सरल। बाबूजी का व्यंग्य श्लेष और सरल का मध्यवर्त्ती ठहरता है। "ये निबन्ध अधिकतर शुद्ध विनोद के रूप में जीवन की ऊब दूर करने को लिखे गए हैं।"

विषय की दृष्टि से उनके निबन्धों को सुविधा के लिए निम्न प्रकार से विभाजित करके देखा जा सकता है। १. राजनीतिक (व्यापक अर्थ में) २. सामाजिक ३. ज्ञानवर्धक क. वैज्ञानिक ख. भाषा सम्बन्धी और साहित्येतिहासिक ग. परिचय-तुलनात्मक।

पहले वर्ग में 'राष्ट्रीयता' में लिखे सब १४ निबन्ध तथा निम्नलिखित और उल्लेख्य हैं। १. व्यापारे वसति लक्ष्मी २. कुशल व्यापारी के गुण ३. ग्राहक पटाने की कला ४. मिल मजदूर ५. चोर बाज़ार ६. अधिकारी और अधिकृत ७. गान्धीवाद और भारतीय परम्परा ८. राष्ट्रोन्नति में जातीय गर्व की महत्ता ९. साम्प्रदायिकता और राष्ट्रीयता १० भारत का समन्वयवादी संदेश ११. स्वतन्त्र भारत १२. रामराज्य और वर्त्तमान भारत १३. भारत के प्रथम चुनाव १४. संघर्ष और उसके शमनोपाय १५. राष्ट्रीयता और उसके बाधक तत्व १६. मानवता के आधार स्तम्भ १७. वर्त्तमान असन्तोष के कारण १८. स्वतन्त्रता के बाद १९. जीवन और दर्शन, २० हिन्दू आदर्शों के अनुसार संतुलित जीवन २१. साहित्य और राष्ट्र निर्माण २२. हिन्दी पर साम्राज्यवाद का आरोप निराधार २३. लोकतन्त्र बनाम तानाशाही २४. लेखक और प्रकाशक २५. गणतन्त्र दिवस का शिव संकल्प २५. नवयुग का साहित्यकार क्या लिखे ? २६. अखिल भारतीय अधिवेशन का उद्घाटन भाषण।

इन निबन्धों में सरलता और गम्भीरता और रोचकता का विधान है। विषय की पुष्टि और रोचकता के लिए लोकोक्ति और मुहावरों के प्रयोग की विशेषता सर्वत्र लक्षित है। रोच-कता और साहित्यकता इनमें सर्वत्र अक्षुण्ण रहती है।

सामाजिक निबन्धों में आधुनिक जीवन और समस्याओं पर विचार उपस्थित किए गये हैं। इन निबन्धों में शिक्षा, संस्कृति, मनोवैज्ञानिकता तथा हास्य-व्यंग्य आदि का विधान है। विषय को सुबोध और सरल तथा विनोदपूर्ण शैली में उपस्थित करने की उनकी रीति रही है। वे अच्छी तरह जानते हैं कि लोग कुछ पाने के लिए, समस्या का निदान देखने के लिए निबन्ध पढ़ते हैं। निम्नलिखित निबन्ध उनके सामाजिक निबन्धों में उल्लेखनीय हैं : १. डुकरिया पुराण (मनोवैज्ञानिक-सामाजिक) २. पंचशील ३. भूदान यज्ञ ४. दलबन्दी और उसका

उपचार ५. आर्थिक उन्नति और मानव उत्थान ६. कर्त्तव्य की सापेक्षता-निरपेक्षता ७. श्रीमद् भगवद्गीता का सांस्कृतिक व्यवहार पक्ष ८. व्रज संस्कृति की विशेषताएँ ९. प्रतिभा के क्षेत्र १०. नागरिक के कर्त्तव्य और अधिकार ११. ग्रामसुधार १२. सहशिक्षा १३. हिन्दू समाज में स्त्रियों का स्थान १४. घरेलू लड़ाई-झगड़े १५. मज्जन और सज्जनता १६. ये भुलक्कड़ लोग १७. ब्रिटिश शासन के वे दिन १८. प्रीतिभोज १९. मेरे जीवन को सफल बनाने वाला २०. पार्थक्य भावना और दूषित अहं २१. साँची के स्तूप २२. धन का सदुपयोग २३. उच्च-जीवन स्तर २४. युग पुरुष गाँधी २५. छतरपुर और खजुराहो के पुनर्दशन २६. सुरम्य झीलों का नगर भोपाल।

वैज्ञानिक ज्ञानवर्धक निबन्ध : 'विज्ञान-विनोद' में आपके वैज्ञानिक निबन्ध संकलित हैं। ये हैं—१. विज्ञान क्या है, २. गैलिलियो और दूरबीन ३. सर आइजक न्यूटन और गुरुत्वाकर्षण ४. विलियम हरशैल ५. गगनमण्डल की सैर ६. तार ७. एलेग्ज़ेन्डर और टेलीफून ८. तारहीन संवाद ९. रांजन किरण (एक्स-रे) १०. बिजली के अन्य प्रयोग २१. रसायन शास्त्र और उसके प्रयोग १२. मैडेम क्यूरी और रेडियम १३. राबर्ट फुलटन और वाष्प नौका १४. मोटरकार १५. वायुयान १६. एडीसन और ग्रामोफोन १७. फोटोग्राफी १८. सिनेमा और टाकीज़ १९. दूर दर्शन २०. मुद्रण यन्त्र २१. लाइनो टाइप २२. टाइप राइटर २३. सर चार्ल्स डारविन का विकासवाद २४. सर जगदीश चन्द्र बसु २५. डा. सिमसन और क्लोरोफार्म २६. सर रेनाल्ड रोज़ और मलेरिया कीटाणु २७. भोजन-तत्त्व और विटामिन २८. विद्युत् और चुम्बकत्व २९. क्या विज्ञान, धर्म और कविता का पारस्परिक विरोध है? ३०. वर्त्तमान वैज्ञानिक आविष्कारों का महत्त्व ३१. क्या युद्ध अनिवार्य है ३२. विज्ञान की सीमा और ज्ञान का समन्वय ३३. रक्तचाप।

वैज्ञानिक निबन्धों में भी बाबूजी ने साहित्यिकता लाने का यथा सम्भव प्रयास किया है, परन्तु यह विशेषता सर्वत्र दृष्टिगत नहीं होती। 'विज्ञान विनोद' में साहित्यिकता अत्यल्प है और यथातथ्यता ही अधिक है। वे वैज्ञानिक निबन्धों की रचना में पूर्ण रूप से सामर्थ्यवान् नहीं हैं। वे विषय को आत्मसात् नहीं कर पाये और बुद्धि के स्तर पर ही उसका अर्जन करके रखे हुए थे, अतः वैज्ञानिक निबन्धों के लिए जो अन्तर्भेदिनी दृष्टि, विदग्धता और सरसता होनी चाहिए वह इनमें उपलब्ध नहीं है। वैसे भी ये निबन्ध स्कूली बालकों के लिए लिखे गए हैं और इनमें सहज-ग्राहिता पर सरस ध्यान दियो गया है।

समग्ररूप में विषय सम्बन्धी निबन्धों के निरूपण प्रतिपादन और विश्लेषण में बाबू जी की संचित-ज्ञानराशि, उनके अतीत अनुभवों और व्यापक अन्तर्दृष्टि ने अपने पूर्ण निपुण सामर्थ्य के साथ रोचक सहयोग दिया है। शैलीगत विशेषता, (अधिकतर भारतीय) उद्धरणों दृष्टान्तों, लोकोक्ति, और मुहावरों का तथा आदि, मध्य, अवसान का समुचित निर्वाह हुआ है।

सार रूप में बाबूजी ने विषयिनुन्मुखी और विषयोन्मुखी दोनों प्रकार के निबन्धों की रचना और निर्वाह में उच्चकोटि की सामर्थ्य और पटुता दिखाई है तथा वे उच्चकोटि के सफल निबन्धकार हैं एवं हिन्दी निबन्ध साहित्य में अपना गौरवपूर्ण विशिष्ट स्थान सुरक्षित रखते हैं।

डा० संसारचन्द्र

बाबूजी के ललित निबन्ध

बाबू गुलाबराय के निबन्धकार रूप में हिन्दी निबन्ध-साहित्य का इतिहास विस्तार पाता है। उनका व्यक्तित्व निबन्ध-साहित्य के अनेक युगों की विशिष्टताओं का समाहार है। उनके निबन्धों में द्विवेदी-युग से लेकर आज तक के चिन्तन की सहज भव्यता रूपायित है। इसके अतिरिक्त उनकी अनुभूति की त्रिलोकी भी पर्याप्त विशद एवं व्यापक थी। वस्तुतः उनके सजग निबन्धकार ने यथार्थ की मिट्टी खा रहे अपने भोक्ता कृष्ण के मुँह में जो त्रिलोकी-दर्शन किया था वही उनके वैयक्तिक निबन्धों का मूल कथ्य था जो उनके इस विशेष कोटि के निबन्धों में मुखरित होता है। उनका मनीषीचिन्तक तो उनके सैद्धान्तिक-आलोचनात्मक निबन्धों में अभिव्यक्ति पाता है जबकि उनका भाव-प्रवण अनुभूतिशील भोक्ता उनके वैयक्तिक निबन्धों के माध्यम से प्रकट हुआ है। इन्हीं वैयक्तिक निबन्धों को ही प्रकारान्तर से ललित निबन्ध माना जा सकता है।

निबन्ध कवि-आत्म के दुरावहीन विस्तार का एक विशद मंच है। कवि आत्म का सर्वाधिक ऋजु, प्रकृत, सहज और निसर्ग रूप इसी मंच पर अभिनीत होता है। यह मंच अभिव्यक्ति की एक ऐसी अनौपचारिक भूमि है, जहाँ निबन्धकार अभिव्यक्ति के सभी बन्धनों एवं उपचारों से मुक्त होकर 'एट होम' फील करता है। इस धरातल पर वह दूरी भी कट जाती है जो अभिव्यक्ति की अन्य विधाओं में लेखक और पाठक के बीच अपेक्षित आत्मीयता को पूरी तरह संप्रेषित नहीं होने देती। लेखक अपने पाठक के साथ खुलकर खेलता है। एक दूसरे का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करते हुए दोनों एक गहन मानसिक नैकट्य का अनुभव करते हैं। न

तो लेखक को पात्रों के मुखावट पहनने पड़ते हैं और न यवनिका के पीछ पर्दानशीन होने की विडम्बना सहन करनी पड़ती है। संवादों की कृत्रिम तथा अतिशिष्ट भाषा का प्रयोग करने के लिये भी उसे बाध्य नहीं होना पड़ता और घटनाओं के नाटकीय आडम्बर ओढ़ने से भी वह साफ बच जाता है। अतः निबन्ध आत्माभिव्यक्ति का एक अत्यन्त बेतकल्लुफ आत्मीय धरातल है।

गुलाबरायजी के ललित निबन्धों में अभिव्यक्ति के ऐसे आत्मीय धरातल का महत्त्वपूर्ण विस्तार मिलता है। मैं इस धरातल को एक ऐसी उर्वर भूमि मानता हूँ, जो निबन्धकार के आत्म तारल्य से सिंच कर एक अपूर्व लालित्य को अंकुराती है। इस दृष्टि से बाबू गुलाबराय ने अभिव्यक्ति की इस विशेष भूमि को अपनी मानसिक तरलता से पर्याप्त सींचा है, जिसकी हरीतिमा उनके ललित निबन्धों में छायी है जो उनके आत्म का दुरावहीन विस्तार है। पाठक इसी धरातल पर उनसे गले मिलते हैं। बाबू गुलाबराय पहली मुलाकात में ही उन्हें अपना गरवीदा बना लेते हैं। विश्वास प्राप्त करते ही पाठक अनायास उनके निकट सटक जाता है। उस समय एक घनिष्ट पारिवारिक अनौपचारिकता जगने लगती है जो पाठक और निबन्धकार में एक दृढ़ आत्मीय अनुबन्ध स्थापित करती है।

गुलाबराय के निबन्धों की प्रमुख विशेषता उनकी अति ईमानदारी एवं साहसिक अभिव्यक्ति है। यह निबन्धकार की पाठक के प्रति विश्वासभावना का सापेक्षिक रूप है। पहले तो पाठक पर सहज ही विश्वास जगना कठिन होता है जिसके बिना अपनी एकान्त वैयक्तिक अथवा राज़ की बात नहीं कही जा सकती है। इस दृष्टि से गुलाबरायजी के निबन्ध विश्वास और साहस की विशद परिणति माने जा सकते हैं। इनमें अभिव्यक्ति की निश्छलता का उदात्त रूप निखरा है। लेखक गुप्त को अगुप्त बनाता है। अपनी ऐकान्तिकता को सार्वजनिक रूप देता है। श्री गुलाबराय का निबन्ध सग्रह "मेरी असफलताएँ" इसका प्रकृष्ट उदाहरण है। इस सम्बन्ध में लेखक की आत्म स्वीकृति का एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा :—

"मुझे इतना ही खेद है कि बेवकूफी करने में मैं अपने शिकारपुरी मित्र की भाँति फर्स्ट डिवीज़न न पा सकूँगा। इस क्षेत्र में भी मैं साधारण से ऊँचा नहीं उठ सका हूँ। मुझे अपने मिडियोकर होने पर गर्व है क्योंकि उसमें मेरे बहुत से साथी हैं।[१]"

गुलाबराय के ललित निबन्ध अनुभूति की प्राण-चेतना से स्पंदित हैं। कवि का आत्म-घटित ही कथ्य बनकर उसमें साकार हुआ है। लेखक अपने दैनंदिन जीवन में जो भोगता और जीता है वह उसे ही अपने निबन्धों में प्रस्तुत करता है। अतः उसके निबन्धों में उसका आत्मानुभूत अत्यन्त जीवन्त रूप में उपस्थित होता है। इस सम्बन्ध में लेखक का एक आत्म वक्तव्य द्रष्टव्य है :—

"मैं सरसठ शरद् देख चुका हूँ। मेरे बाल सफेद हो गये हैं, किन्तु धूप में नहीं वरन् शारदीय शुभ्रता देखते देखते। वैसे तो मैंने जीवनोपवन की "सघन कुँज छाया सुखद" और

---

१. 'मेरी असफलताएँ'——दो शब्द, पृ० १–२

"सीतल मंद समीर" में ही विचरण किया है, फिर भी मैं जीवन की धूप से अपरिचित नहीं हूँ, और जितना समय धूप में बिताया है उसका मुझे गर्व है मेरे पैर में बिवाई फट चुकी है और मैं पराई पीर भी जानता......मैं भूला हूँ और ठोकरें भी खाई हैं किन्तु गिरकर उठा अवश्य हूँ। सुबह का भूला शाम को घर वापिस आ गया हूँ।[१]"

उपर्युक्त वक्तव्य से स्पष्ट है कि लेखक की अपनी तीखी एवं मीठी अनुभूतियाँ ही उसका प्रतिपाद्य हैं। उसका दुःख व्यक्तिगत भी है और सार्वजनिक भी। उसने जीवन के उतार-चढ़ाव, सुख-दुःख सब सहे हैं। यथार्थ के भीषण ऊबड़-खाबड़ पर ठोकरें भी खाई हैं और वह गिरा भी है। उसके अनुभूति प्रवण चरणों में बिवाई भी फटी है। जीवन और जगत का ऐसा वास्तविक उपभोग ही उसके ललित निबन्धों का मूल शक्ति कोष है। न तो उसमें तटस्थ दर्शक के ब्यौरे हैं और न ही अभुक्त स्थितियों की प्रतिक्रियाएँ। वह तो उसके विशुद्ध अनुभूत से प्राणान्वित है।

गुलाबराय के ललित निबन्धों का एक और आकर्षक पक्ष उनके हृदय का उन्मुक्त उल्लास है, जो इन निबन्धों की वैयक्तिकता को गहराता है और इन्हें व्यर्थ और अतिरिक्त गम्भीरता से मुक्ति देता है। इस उल्लास की वास्तविक परिणति शैलीगत प्रसादात्मकता में होती है, जो इन निबन्धों में हास्य-व्यंग्य का संचार करती है। लेखक का हास्य ठहाकाजन्य नहीं है। बहुधा हास्य से अगंभीरता आने लगती है जो विद्रूपता तक पहुँच जाती है। इन निबन्धों में हास्य का शिष्ट एवं शालीन रूप मिलता है जो एक ओर तो मूल विषय की निःसर्ग गम्भीरता को नष्ट होने देता और दूसरी ओर पाठक का मनोरंजन भी करता है। इस सम्बन्ध में लेखक का एक आत्मकथ्य प्रस्तुत है : —

"जिन्होंने विचारात्मक साहित्य दिया है वे उससे भाराक्रान्त से प्रतीत होते हैं। ......वे न स्वयं हँसे हैं और न उन्होंने दूसरों को हँसाने का प्रयत्न किया है। मैं दम घुटने वाले गहरे पानी में नहीं पैठा हूँ और न भूल भुलैयों में पड़ा हूँ। इसीलिये परेशान नहीं हुआ हूँ। जो सहज में बन आया वही लिखा और दूसरों को भी अपने साथ हँसाने का प्रयत्न किया।[२]"

अतः उनके ललित निबन्धों में न तो हास्य का मसखरापन मिलेगा और न ही भोंड़ापन। वस्तुतः वह तो नाभि से उठा हुआ एक ऐसा उल्लास है जो कंठ में फूलकर अधरों पर आकर बिखर जाता है। इसीलिये यह प्रकृत्या गहन गंभीर एवं शालीन है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है :—

"जब आप (कम्पोजीटर) डिस्ट्रीब्यूटर रूप से उनको (अक्षरों को) अपने कर-पल्लव में धारण कर "गच्छ गच्छ सुरश्रेष्ठ स्वस्थाने सुखी भवं" का मंत्र पाठ करते हैं, तब वे अक्षर भगवान प्रसन्नतापूर्वक कबूतरखाने से केस के खानों में अपने अपने स्थान को प्राप्त हो

---

१. 'मेरे निबन्ध'———परिचायिका, पृ० क
२. 'मेरे निबन्ध'——परिचायिका, पृ० ख

विराजमान हो जाते हैं।[१]"

इन निबन्धों के हास्य में कहीं कहीं गहरा और पैना व्यंग्य भी छिपा रहता है जो पाठक पर मर्मभेदी चोट करता है। सीधा व्यंग काफी तीखा और असह्य होता है परन्तु हास्य-मिश्रित व्यंग एक प्रकार से टीका लगाकर की जाने वाली शल्यक्रिया है। व्यंग का चीरा लग भी जाता है परन्तु हास्योल्लास के प्रभाव में पाठक उसको महसूस नहीं करता। जब वह करने लगता है तो हास्य की गुदगुदी पुनः एक नशा बन कर उस पर छा जाती है। इसके एक दो उदाहरण देखिये :—

"गल्ला वैसे तो कंट्रोल से मिलता ही है किन्तु गेहूँ इतना भी नहीं मिलता कि ईमानदारी से सत्यनारायण की कथा के प्रसाद के लिये पंजीरी भी बन जाए।[२]"

"मैं उन स्वच्छन्दतावादियों में से नहीं हूँ जो अपने मुखमंडल पर एक रात की उपज को सहन नहीं कर सकते और चाणक्य की तत्परता से नित्यप्रति उसका मूलोच्छेदन करते हैं। मैं चेहरे की वास्तविक स्याही की अपेक्षा आलंकारिक स्याही से बचने की अधिक चेष्टा करता हूँ—अब तो भगवान ने बालों की कालिमा को भी दूर कर दिया है।[3]"

गुलाबराय के ललित निबन्धों का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष उनकी सृजन प्रक्रिया से सम्बन्धित है। लेखक इन निबन्धों का प्रणयन अन्तःप्रक्रिया की रचनात्मक प्रेरणावश करता है। इसे स्वान्तः सुखाय माना जा सकता है। लेखक ने स्वयं इस भावना की पुष्टि की है :—

"यह निबन्ध अखबारों में छपे अवश्य हैं किन्तु इनको भस्मासुर की सी जठराग्नि की पूर्ति के लिये नहीं वरन् "स्वान्तः सुखाय" और सृजन की अदम्य आवश्यकतावश लिखे गये हैं।[४]"

ये निबन्ध एक ओर विशुद्धानुभूति से अनुप्राणित हैं तो दूसरी ओर सृजन और आत्म-प्रकाशन की उद्दाम प्रेरणा से प्रसूत हैं। अतः इन्हें सृजन-प्रक्रिया और अनुभूत्यात्म विकास का चरम प्रकर्ष माना जा सकता है। इनकी एक चारित्रिक विशिष्टता भी है। ये एकान्तिक आलाप और स्वगतकथन तक सीमित नहीं और न ही इन्हें लेखक की आत्मविज्ञप्ति और आत्मसंस्तुति का साधन ही माना जा सकता है। इसमें तो लेखक का आत्म इतना प्रबुद्ध है कि वह आत्मकेन्द्रित और आत्मप्रतिबद्ध होता हुआ भी संबोधित प्रकार का ही है। ललित निबन्धों की इससे बढ़कर और क्या उपयोगिता हो सकती है। इनमें संस्खलित प्राणों को विरेचित कर स्वस्थ बना देने की अपूर्व शक्ति छिपी है। उपयोगिता का यही सूक्ष्म और विशद स्तर इनका वास्तविक प्रतिमान है। इस दृष्टि से बाबू गुलाबराय के निबन्ध पर्याप्त सफल हैं।

---

१. 'मेरी असफलताएँ'—–—कम्पोजीटर स्तोत्र, पृ० १९९
२. 'मेरे निबन्ध'—–—चोर-बाजार, पृ० ६९
३. ,, ,,—मेरे नापिताचार्य, पृ० २९
४. ,, ,,—परिचायिका, पृ० ख

बाबू गुलाबराय के ललित निबन्धों में उनके व्यक्तित्व का आग्रहरहित सहज रूप मुखरित हुआ है। लेखक के विश्वासों, निष्ठाओं और संस्कारों का समवेतरूप जिस शैली विशेष को जन्म देता है वही उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का प्रतिरूप बन जाती है। इसकी सर्वांश व्याप्ति उनके निबन्धों में प्रतिफलित है। मैं इस लेखक को अपनी रचना में आद्यन्त उपस्थिति का परिणाम मानता हूँ। बहुत से निबन्धकार अपने निबन्धों में अब तक उपस्थित नहीं रह पाते। कुछ निबन्धकार तो इस प्रकार की अजनबी मुद्रा में विद्यमान रहते हैं कि पहचाने भी नहीं जाते। डा० गुलाबराय का अपने निबन्धों में अस्तित्व सर्वथा अकृत्रिम है जो अन्त तक बना रहता है यही कारण है कि पाठक उन्हें तुरन्त पहचान लेता है। लेखक की इस उपस्थिति की सबसे बड़ी कसौटी उसके निबन्धों की रुचिरता है। लेखक की अपने निबन्धों से अनुपस्थिति एवं तटस्थता उनमें अजब प्रकार की बोरियत को जन्म देती है। बाबूजी के निबन्धों में इस बोरियत एवं अरुचि का ऐकान्तिक अभाव उनके अपनी रचना से अविराम मानसिक संसर्ग का परिणाम है। इसी में उनके निबन्धों के संघटन शिल्प एवं अभिव्यंजना शैली की प्रौढ़ता, सप्राणता एवं सार्थकता निहित है जो निबन्धकार का एक सजग प्रतिरूप है।

बाबू गुलाबराय के ललित निबन्धों का एक बौद्धिक स्तर भी है। ये न तो अतिरिक्त बौद्धिकता से आक्रांत हैं और न ही अस्पष्ट और दुरूह हैं। उनमें बुद्धितत्व का नियोजन सर्वथा समुचित एवं सानुपातिक ढंग से हुआ है। लेखक इस दिशा में पर्याप्त सतर्क एवं सजग रहा है। इन निबन्धों की बौद्धिक चेतना में स्वाभाविक चिन्तन एवं मनोवैज्ञानिक गहराई भी मिश्रित है जिससे इनके लालित्य पर आंच नहीं आती और इनका साहित्यिक मूल्य सर्वथा अक्षुण्ण रहता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि बाबू गुलाबराय के ललित निबन्ध अनुभूति की प्राण चेतना से सुतरां समन्वित हैं। इनमें लेखक की आत्मा का उन्मुक्त उल्लास है जो शालीन हास्य और गहरे व्यंग्य के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। इनमें लेखक के अनुभूत्यात्मक विकास और सृजन-प्रक्रिया की ऐसी उदात्त परिणतियाँ हैं जिनके पीछे सृजन की उद्दाम प्रेरणा और स्वान्तः सुखाय तथा बहुजन हिताय की भावना कार्यान्वित रहती है। इनमें आत्मकथा लेखक की ईमानदारी के अतिरिक्त सानुपातिक एवं अपेक्षित बौद्धिकता का भी समावेश है। शिल्प की दृष्टि से भी इनमें लेखक का प्राणवान व्यक्तित्व मुखरित हुआ है। समग्रतः ये निबन्ध लालित्य सापेक्ष सभी गुणों से सर्वथा समन्वित हैं।

●

डा० इन्द्रपालसिंह 'इन्द्र'

बाबूजी के साहित्य में हास्य-व्यंग्य

हिन्दी में हास्य-व्यंग्य-साहित्य का प्रायः अभाव है। हास्य की उद्भावना प्रायः अनोखे, असम्बद्ध, विकृत एवं अनियमित उपकरणों द्वारा की जाती है तथा उसका उद्देश्य मनोरंजन होता है। व्यंग्य में आह्लादन के साथ-साथ कोई उच्च संदेश भी निहित रहता है। उसका प्रभाव गम्भीर एवं दूरगामी होता है। जहाँ अस्वस्थ व्यंग्य कटुता को जन्म देता है, वहाँ स्वस्थ व्यंग्य हृदय पर सीधी चोट करता हुआ उसका परिष्कार कर देता है। उच्चकोटि का साहित्यकार इसी प्रकार के व्यंग्य का प्रयोग करता है। बाबू गुलाबराय इसी प्रकार के व्यंग्यकार हैं।

बाबूजी दर्शन, मनोविज्ञान एवं साहित्य शास्त्र के गम्भीर विद्वान थे। इसी कारण उनके व्यक्तित्व में चिन्तन-मनन-जनित-गहन गाम्भीर्य आपूरित था, किन्तु उनके हृदय में इसका अजस्र स्रोत प्रवाहित होता रहता था, जो अपनी उच्छलता के कारण इस गांभीर्य को भी भेद कर छलक उठता था। इसीलिए जहाँ उन्होंने दर्शन एवं तर्क शास्त्र जैसे प्रसा-प्रधान और साहित्य शास्त्र जैसे चिन्तन-प्रधान विषयों पर उच्चकोटि के ग्रंथों का प्रणयन किया, वहाँ विनोद की सरिता प्रवाहित करने वाले ग्रंथों की भी रचना की। उन्होंने 'मेरी असफलताएँ' नाम से आत्म चरित लिखा, जिसमें अपने को ही आलम्बन बनाकर हास्य की अवतारणा की गई है। अन्य को व्यंग्य का आधार बनाकर उसकी दुर्बलताओं पर कटाक्ष करना अत्यन्त सरल है, किन्तु अपनी ही दुर्बलताओं पर स्वयं हँसना सबल व्यक्तित्व का ही कार्य है। अपने जीवन की असफलताओं का इतना सफल चित्रण साहित्य में अत्यन्त

दुर्लभ है । उनके जीवन की अनेक घटनायें ऐसी हैं, जो विनोद की सृष्टि करने के साथ-साथ जीवन की गहनतम अनुभूतियों का भी आभास दिलाती हैं । 'सेवा के पथ पर' में जहाँ छत्तरपुराधीश की गुणग्राहकता और उदारता का वर्णन किया गया है, वहाँ पराधीनता जनित व्यथा की भी व्यंजना की गई है, जो विनोदमयी शैली के कारण कटु सत्य का उद्घाटन करते हुए भी मधुरता से पूर्ण है । 'सैर का मूल्य' तथा 'हाथ झारिके चले जुआरी' सम्बन्धी घटनाओं के वर्णन द्वारा सफेद पोश चोरों और ठगों से सावधान किया गया है । इन दोनों घटनाओं तथा बाढ़ से उत्पन्न संकट के वर्णन की विशेषता यह है कि उनमें अपने पर ही हँसा गया है और खुल कर हँसा गया है । अन्य को विपत्तिग्रस्त देखकर हँसते हुए तो अनेकों को देखा गया है, किन्तु अपनी विपत्ति पर स्वयं ही हँसना वस्तुतः महानता का ही परिचायक है । अपनी हँसी से दूसरों को प्रसन्नता के साथ जीवन के लिये सन्देश मिले—यही सदुद्देश्य बाबूजी के आत्म चरित्र का है । 'मेरा मकान' में ठेकेदारों की प्रवृत्ति और 'जीवन बीमा' में एजेण्टों की वाक्छलना का अत्यन्त विनोदपूर्ण वर्णन किया गया है । 'खेती-व्यापार' में अनुभव हीनता के परिणामों पर प्रकाश डाला गया है ।

बाबूजी ने अनेक व्यंग्य-विनोद पूर्ण निबन्ध लिखे हैं, वे भी सोद्देश्य हैं । 'गोस्वामी जी के जीवन पर नया प्रकाश' में उन आलोचकों पर व्यंग्य किया है, जो अपने पल्लवग्राही ज्ञान के आधार पर अनर्गल बातें कहकर साहित्य में मौलिकता की धाक जमाने की असफल चेष्टा करते हैं । 'पृथ्वी पर कल्प-वृक्ष' में विज्ञापन के आकर्षक साधन अपनाकर जनता के धन को अपहरण करने वाले विभिन्न व्यापारियों पर व्यंग्य किया गया है तथा विज्ञापनों के खोखलेपन का उपहास करके जनता को सावधान किया गया है । 'जय उलूकराज' में लक्ष्मी-वाहनों पर तीव्र कटाक्ष करते हुए उनके अर्थ-संचय की भ्रष्ट-प्रक्रियाओं का उद्घाटन किया गया है । 'सम्पादक राज' और 'डाक्टर स्तोत्र' में ऐसे सम्पादकों और डाक्टरों पर आघात किया गया है, जो अपने गम्भीर उत्तरदायित्व को विस्मृत कर स्वार्थ-साधन में लीन रहते हैं । उन्हें कर्तव्य की प्रेरणा दी गई है ।

बाबूजी ने समाज में होने वाली कुरीतियों तथा भ्रष्टता के विभिन्न रूपों पर भी तीव्र आघात किए हैं । 'प्रीति भोज-समस्याः मीमांसा' नामक निबंध में पारस्परिक स्पर्द्धा, झूठी प्रतिष्ठा तथा थोथे प्रदर्शन के लिए किए जाने वाले अपव्यय पर तीव्र व्यंग्य किया है । इसी निबन्ध में पावनता का अवतार बनने वाले अफसरों पर व्यंग्य करते हुए वे कहते हैं—"रिश्वत न खाने वाले अफसर भी खाना खाने के लिए निस्संकोच पहुँच जाते हैं और उन के पेट की जगह के साथ दिल में भी जगह निकल आती है । एक अँग्रेजी कहावत है—'पेट में मार्ग से दिल का रास्ता है' बहुत अंशों में ठीक बैठती है ।" 'सीमावर्ती चोर' नामक निबन्ध में देशभक्ति और सदाचार पर भाषण देने वाले स्वार्थी नेताओं, कामचोर सरकारी कर्मचारियों, वैध सुविधाओं का अनुचित उपयोग करने वाले अफसरों, चोर-बाजारी द्वारा धन अर्जित करने वाले तथा विभिन्न करों की चोरी करने वाले व्यापारियों, पराई रचना को किंचित परिवर्तन के साथ अपनी मौलिक रचना बताने वाले साहित्यकारों पर तीव्र

कटाक्ष किए गए हैं । इसमें व्यंग्य-विनोद द्वारा लेखक ने समाज के नैतिक स्तर को उन्नत करने का सन्देश दिया है । सरकारी कर नीति एवं इनकम टैक्स-चोरी पर एक साथ व्यंग्य करते हुए बाबूजी कहते हैं :—"और पेशों में तो कम्पटीशन भी बहुत है; चोरी का कम्टीशन चोरों को जेल भेजकर सरकार कम करती रहती है। इनकम टैक्स की बेईमानी के लिए करों का आधिक्य भी उत्तरदायी है । अवैध खर्च की तो क्या-वैध खर्चे-की भी छूट बहुत कम मिलती है । धोखा देकर जो खर्चा वसूल कर लिया जाय, वही बच जाता है ।"

बाबूजी ने कतिपय लेख विशुद्ध हास्य की ही सृष्टि करने के लिए लिखे हैं । उनका उद्देश्य केवल मनोरंजन ही प्रतीत होता है । 'भारतीय लेखक और मधुमेह' इसी प्रकार का निबन्ध है, जिसमें कतिपय आकस्मिक प्रसंगों के समन्वय से हास्य की उद्भावना की गई है । गणेश, शिव तथा विष्णु आदि देवों में 'मधुमेह' की कल्पना कितनी मनोरंजक है । बाबूजी ने अनेक रेखाचित्र लिखे हैं, उनका उद्देश्य भी शुद्ध मनोरंजन ही है। 'मेरे एक शिकार पुरी मित्र' 'साँवलिया बीजवाला' 'मेरे नापिताचार्य' इत्यादि इसी प्रकार के रेखाचित्र हैं। 'मेरे जीवन को सफल बनाने वाला' एक फल विक्रेता का रेखाचित्र है। उसकी फल बेचने की कला का वर्णन करते हुए वे कहते हैं :–"वे अपनी चीज की प्रशंसा करना जानते हैं, केलों के मोटे होने के सम्बन्ध में वे कहेंगे—'सोट की सोट, वल्ली की बल्ली' सन्तरों और मुसम्मियों की सिफारिस में वे कहेंगे कि पतले छिलके के हैं, रस चूता है, लो काटकर दिखा दूँ । यदि उनके पास मुसम्मियाँ हुईं तो मुसम्मियों के गुणगान करेंगे और सन्तरे हुए तो उनकी पुष्टिकारिता की प्रशंसा करेंगे । गंगा गए गंगादास और जमुना गए जमुना-दास ।" 'मेरी असफलतायें' में बाबूजी ने तो अपने दस गुरुओं के संक्षिप्त रेखाचित्र प्रस्तुत किए हैं, जो विनोदपूर्ण होते हुए भी गुरुजनों के प्रति उनकी श्रद्धा-भावना को व्यक्त करते हैं । अपने अँग्रेजी अध्यापक मेजर ओ. डोनैल के सम्बन्ध में वे लिखते हैं–"आइरिश होने के कारण वे शीन के शड़ाके बहुत भरते थे। चपल बुद्धि 'बालक बर्र एक सुभाऊ' विद्यार्थियों ने उनका नाम 'शू-शू साहब' रख लिया था । हाजिरी लेते समय जब वे किसी विद्यार्थी के नाम का कोई अंश उच्चारण नहीं कर सकते तव वे Some thing कह देते थे; किन्तु एक बार सुमित्रानन्दन सहाय का नाम पढ़ते समय उनके नाम के तीनों भागों का उच्चारण न कर सके और Something Something Something कह गये । लड़के ने तो हाजिरी बोल दी, लेकिन सारे क्लास में हँसी की लहर दौड़ गई ।" इस प्रकार की घटनायें केवल हास्य विनोद की अवतारणा के लिए ही वर्णित की गई हैं ।

बाबूजी ने अपनी हास्य-व्यंग्य उत्पन्न करने की कला का उद्घाटन स्वयं ही कर दिया है । वे हास्य की अवतारणा के लिए संस्कृत तथा हिन्दी के अवतरणों को अपने मनोनुकूल परिवर्तित करके प्रयुक्त करते हैं । यथा–जैसे आत्मा के सम्बन्ध में उपनिषदों में कहा गया है—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य,'–वैसे ही यह भी कहा जा सकता है कि 'नायं महिषिपयः बलहीनेन पाच्यः' । इस वाक्य में चाहे व्याकरण और छन्द की अशुद्धि हो, किन्तु बात सोलह आने ठीक है । व्याकरण की अशुद्धि के लिए तो मैं श्री शंकराचार्य के इस अमर-

वाक्य का स्मरण कर लेता हूँ कि –'प्राप्ते सन्निहिते मरणे नहि नहि रक्षति दु'क्रिय करणे ।" कभी-कभी श्लेष मूलक शब्दों से हास्य उत्पन्न कर देते हैं। 'मेरे जीवन को सफल बनाने वाला' शीर्षक ही 'सफल' शब्द के श्लेष से चमत्कारपूर्ण हो गया है। 'स्टेशन मास्टर ने मेरा अन्तिम संस्कार कर दिया' –वाक्य का अन्तिम संस्कार शब्द द्वयर्थक होने से विनोदपूर्ण हो गया है। कभी-कभी शब्दों के वाक्यार्थ का प्रयोग ही कथन को सरस तथा आह्लादक बना देता है। यथा–– 'साइकिल के वे इतने सिद्ध पग (सिद्ध हस्त तो कहना ठीक न होगा) थे कि दिन भर में मेरठ पहुँच जाते थे। 'इसी प्रकार मुहाविरों और लोकोक्तियों के कहीं रूढ़ लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा तथा कहीं उनके वाच्यार्थ द्वारा ही हास्य उत्पन्न किया गया है। यथा––शगल बहुत होलिया, उनसे आरी आगया, किन्तु अब दूर भी नहीं भागा जाता। साँप छंछूदर की गति हो रही है। मेरा उस साधु का सा हाल था जिसने कम्बल के धोखे तैरते हुए रीछ को पकड़ लिया था। फिर वह उस कम्बल को छोड़ना चाहता था, लेकिन कम्बल उसे नहीं छोड़ता।" बाबूजी विचित्र अप्रस्तुत योजना द्वारा भी विनोद उत्पन्न करने में सिद्ध हस्त हैं। यथा–"रस्ते में लखनऊ की लैला की अंगुलियों और मजनू की पसलियों की-सी तो नहीं, किन्तु बिहारी की नायिका की भाँति 'खरी पातरी हूँ लगति भरी सी देह' जैसी हरी-भरी पूर्ण स्वस्थ ककड़ियाँ बिक रही थीं।" कहीं-कहीं यथातथ्य वर्णन द्वारा तीव्र व्यंग्य उत्पन्न किया गया है। 'पृथ्वी पर कल्पवृक्ष' शीर्षक निबन्ध में इसी प्रकार अनेक व्यक्तियों पर व्यंग्य किए गये हैं।

बाबूजी का हास्य अत्यन्त शालीन तथा संयमित है। उन्होंने कुरुचि पूर्ण हास्य की की अवतारणा कहीं नहीं की। उनके व्यंग्य तो जीवन की गंभीर अनुभूतियों से पूर्ण तथा प्रेरणा प्रदायक हैं। हिन्दी साहित्य में उन जैसा हास्य व्यंग्य पूर्ण साहित्य सृजन करने वाला दूसरा दृष्टिगत नहीं होता।

डा० शंकरदयाल चौऋषि
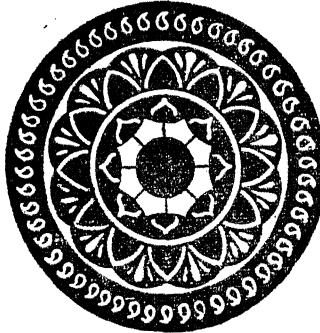
बाबूजी की गद्यशैलियाँ

बाबू गुलाबराय की गद्य-शैलियों का सम्यक अध्ययन करने के लिए, हमें उन्हें व्यक्तित्व सापेक्ष रखना नितान्त आवश्यक रहेगा। 'व्यक्तित्व ही शैली है' के उद्घोषकर्त्ता स्व. बफ़न ने शैली को व्यक्तित्व सापेक्ष माना है। उनके मतानुसार कलम की कला शैली, भावों तथा विचारों की अभिव्यक्ति का वैयक्तिक ढंग मात्र न होकर, व्यक्तित्व अभिव्यञ्जक रहती है। इसका सम्बन्ध भाषा के वाह्यांग तथा अन्तरंग दोनों से तो रहता ही है, साथ ही शैलीकार के मस्तिष्क एवं हृदय से भी प्रगाढ़तः रहता है। उत्तम शैली का प्रथम तथा अन्तिम रहस्य भी यही है कि उसमें लेखक के हृदय एवं मस्तिष्क का योग रहता है। सिद्ध शैलीकार अपनी शैली के द्वारा पाठकों और श्रोताओं के साथ सहज रूप में ही तादात्म्य स्थापित कर लेता है। परिणामतः दोनों के बीच सहृदयतावश भाषा में सरलता, सुबोधता तथा अभिव्यक्ति की स्पष्टता, और भावों एवं विचारों की समीपता स्थापित हो जाती है। उत्तम शैली के ये गुण पाठकों पर मंत्रवत ध्वन्यात्मक तथा अन्तःगुणात्मक प्रभाव अंकित करते जाते हैं।

शैली में ये विशेषताएँ निसंदेह लेखक के व्यक्तित्व के अनुरूप ही हो सकती हैं। शैलीकार अपने व्यक्तित्व को अपनी भाषा-शैली में फूंककर साहित्य-साधना करता है। इसलिए लेखकों की शब्दों में प्राण-फूंकने की अपनी विशिष्ट पद्धति ही शैली की संज्ञा प्राप्त कर लेती है। लेखक शब्दों में तो अपने प्राण की प्रतिष्ठा करता ही है, साथ ही शैली पर अपना रंग, आवरण, अलंकरण आदि भी चढ़ाता है।

व्यक्तित्व तथा शैली का प्रगाढ़ सम्बन्ध स्वीकार करते हुए भी, "व्यक्तित्व ही शैली है"

यह पाश्चात्य समीक्षाशास्त्रियों का मत वस्तुतः एकांगी तथा असंतुलित सा प्रतीत होता है। विशेषतः सिद्ध समीक्षक बाबू गुलाबराय की गद्य-शैलियों का विवेचन करते समय हमें शैली सम्बन्धी उनके विचारों का भी पारायण कर लेना समीचीन होगा। बाबूजी ने भारतीय तथा पश्चिमी सिद्धान्तों का समन्वय करके शैली को मध्यम मार्ग से ग्रहण किया है। वे शैली को न तो वे वस्तुपरक रहने देना चाहते हैं और न पूर्णतः व्यक्तिपरक ही। उन्होंने भी रीति, गुण, वृत्ति का विवेचन शैली के अन्तर्गत ही किया है। व्यवहारिक दृष्टि से यह स्वाभाविक भी है कि शैली व्यक्तित्व की पूर्णतः एवं मूलतः अभिव्यक्ति नहीं रह सकती है। लोकाभिरुचि, विषय वस्तु, एतर मामाजिक संस्कार आदि कई तत्व व्यक्तित्व के प्रभाव को सीमित तथा मिश्रित कर देते हैं। अतः शैली लेखक के व्यक्तित्व के प्रतिबिंब को पूर्ण स्पष्टता से अंकित करने में सक्षम नहीं हो पाती है। इसलिए बाबूजी की समन्वयवादी प्रकृति एवं मध्यम मार्ग को ग्रहण करने का आग्रह औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है। उनकी गद्य-शैलियों का विवेचन करते समय उनका यह सन्तुलित मत ही श्रेष्ठ मार्ग दर्शक हो सकता है।

बाबूजी ने शैली को तीन अर्थों में स्वीकार किया है :

१. अभिव्यक्ति का वैयक्तिक रूप—इसमें बफन की "व्यक्तित्व ही शैली है", वाक्य की प्रतिच्छाया है।
२. अभिव्यक्ति के सामान्य प्रकारों के रूप में—भारतीय समीक्षाशास्त्र में प्रयुक्त रीतियाँ इनके अन्तर्गत हो जाती हैं।
३. वर्णन की उत्तमता के रूप में—इसमें व्यक्ति तथा वस्तु को पृथक् रखकर अभि-व्यक्ति की श्रेष्ठता का विचार होता है।

बाबूजी के ही शब्दों में शैली का स्वरूप यह है, "शैली में न तो इतना निजीपन हो कि वह सनक की हद तक पहुँच जाय, और न इतनी सामान्यता हो कि वह नीरस और निर्जीव हो जाय। शैली अभिव्यक्ति के उन गुणों को कहते हैं जिन्हें लेखक या कवि अपने मन के प्रभाव को समान रूप में दूसरों तक पहुँचाने के लिए अपनाता है।"[१] अन्यत्र भी उन्होंने व्यक्त किया है कि "शैली तत्त्व का सम्बन्ध अभिव्यक्ति से है। इसमें मानसिक पक्ष इतना अवश्य है, किन्तु बल इसमें कलात्मक बाह्य पक्ष पर ही है।"[२]

महाप्राण बाबू गुलाबराय की शैली तथा व्यक्तित्व के विवेचन के संदर्भ में हमें एक और महत्वपूर्ण तथ्य पर भी ध्यान रखना आवश्यक है। सामान्यतः साधारण लेखकों की गद्य शैलियाँ वस्तुन्मुखी बनकर, लेखक के व्यक्तित्व को वस्तुविवेचन में इतना अधिक समाहित कर लेती हैं कि, व्यक्तित्व बौना बनकर उभर नहीं पाता है। जबकि सिद्ध साहित्यकार की व्यक्तित्व प्रभा वर्ण्य विषयादि के आवरणों को चीरकर प्रगट हो जाती है। बाबूजी की भाषा-शैली उनके विशिष्ट व्यक्तित्व की सदैव उद्घोषिका रहती है। हास्य-विनोदमयी प्रकृति के कारण शुष्क

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन : पृष्ठ-१९०
२. काव्य के रूप : पृष्ठ-१

एवं शास्त्रीय विवेचन में भी, व्यक्तित्व का पुट आ जाता है अतः उनके जीवन तथा व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त कर लेना प्रथमतः आवश्यक है।

द्विवेदी एवं उनके परवर्ती युग के यशस्वी गद्य-शैलीकार बाबू गुलाबराय का जन्म, माघ शुक्ल ४, संवत् १९४४ वि. को इटावा नगर में भवानी प्रसाद राय के यहाँ हुआ था। इनके पिता सरकारी कर्मचारी थे। घर का वातावरण अत्यन्त धार्मिक और शान्तिमय था। माता-पिता दोनों ही धार्मिक वृत्ति के होने के कारण, इन पर धार्मिक संस्कार प्रारम्भ से पड़े। पिताजी वेदान्ती थे, और माँ थी अनन्य कृष्ण भक्त। अतः बाबू साहब की दर्शन के प्रति जिस गहन रुचि का हमें दर्शन हुआ है, वह उन्हें पैतृक सम्पत्ति के साथ प्राप्त हुई थी।

जब इनके पिता का स्थानान्तर इटावा से मैनपुरी का हो गया, तो वहीं इनका विद्यारम्भ किया गया। यहीं इन्होंने विभिन्न शालाओं में शिक्षा-प्राप्त की और सन् १९०५ में मिशन हाई स्कूल से एंट्रेंस परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् १९११ में आगरा कालेज से बी. ए. पास करके वहीं सेंट जान्स कॉलेज में अध्यापक हो गये और एम. ए. परीक्षा भी दी। एम. ए. पास करके छतरपुर राज्य की सेवाएं स्वीकार कर लीं। वहीं से विधि की स्नातक परीक्षा, १९१७ में पास कर महाराज के व्यक्तिगत-सचिव हो गये। अपनी कार्यकुशलता तथा प्रतिभा के कारण ये दीवान तथा कालान्तर में प्रमुख न्यायाधीश नियुक्त हुए। बाद में इन्होंने राज्य की सेवाओं से अवकाश ग्रहण कर लिया।

बाबूसाहब ने सन् १९१५ के लगभग ही हिन्दी के साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश किया था। सरकारी सेवाओं के साथ इनकी साहित्य-साधना भी निरन्तर चलती गई। दर्शन-शास्त्र में इनकी विशष अभिरुचि तथा दक्षता रही। फलतः इंदौर तथा पूना के साहित्य-सम्मेलनों के अवसरों पर ये दर्शन परिषदों के सभापति बनाये गये थे।

इनकी साहित्य सेवाओं का सतत् स्रोत प्रायः आगरा से ही प्रवाहित हुआ है। आगरा में सेंट जान्स कालेज के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष के रूप में वे अवैतनिक प्राध्यापक रहे। वहाँ इन्हें हिन्दी-मासिक की सेवाओं का अधिक अवसर प्राप्त हुआ। उन्होंने "साहित्य सन्देश" हिन्दी-साहित्य पत्र का सम्पादन भी किया और उसमें अनेक निबन्ध एवं आलोचनाएँ लिखीं।' हिन्दुस्तानी एकेडेमी' ने उनके "तर्कशास्त्र खण्ड ३" को पुरस्कृत किया, तथा उनकी महान हिन्दी साहित्य की सेवाओं का सम्मान करते हुए आगरा विश्वविद्यालय ने उन्हें डी. लिट्. की उपाधि से विभूषित कर, स्वयं अपने को गौरवान्वित किया।

बाबूजी दर्शन शास्त्र के पण्डित, हिन्दी समीक्षाशास्त्र के मर्मज्ञ, हिन्दी के उत्कृष्ट निबन्ध लेखक, तथा आलोचक थे। हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, फारसी आदि भाषाओं तथा साहित्यों के विद्वान थे। उनके बहु भाषाज्ञान, विपुल अनुभव एवं गहन चिन्तन ने उनकी रचनाओं को पोषित किया है।

स्फुट रचनाओं के अतिरिक्त बाबू गुलाबराय की प्रमुख कृतियाँ निम्नानुसार हैं :—

निबंध-संग्रह—प्रबन्ध-प्रभाकर, निबन्ध-रत्नाकर, कुछ उथले-कुछ गहरे, मेरे निबन्ध, अध्ययन और आस्वाद, जीवन-रश्मियाँ।

समीक्षा—नवरस, हिन्दी-साहित्य का सुबोध इतिहास, सिद्धान्त और अध्ययन, काव्य के रूप, हिन्दी-काव्य-विमर्श, साहित्य-समीक्षा, हिन्दी-नाट्य-विमर्श, हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, हिन्दी कविता और रहस्यवाद, हिन्दी गद्य का विकास और प्रमुख शैलीकार।

आत्मकथा और जीवनी—मेरी असफलताएँ, जीवन पथ, ठलुआ क्लब, अभिनव भारत के प्रकाश-स्तंभ, सत्य और स्वतंत्रता के उपासक।

बाल-साहित्य—फिर निराशा क्यों, विज्ञान विनोद, विद्यार्थी जीवन, बाल-प्रबोध।

दर्शन—शान्ति धर्म, मैत्री धर्म, कर्त्तव्य शास्त्र, तर्क शास्त्र भाग १, २, ३, पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास, भारतीय संस्कृति की रूपरेखा, गाँधीय मार्ग तथा मन की बातें।

सम्पादित—भाषा भूषण, सत्य हरिश्चन्द्र, प्रसाद जी की कला, आलोचक रामचन्द्र शुक्ल।

गद्य-शैली के अध्येता के लिए सर्वाधिक उपयुक्त विधा निबन्ध रहता है। गद्य इसमें प्रौढ़ता प्राप्त करता है। व्याख्यान एवं वक्तृता दोनों के सभी तत्वों का सामञ्जस्य इसमें मिलता है। निबंध लेखक के हृदय का मुक्त संगीत है एवं उसकी मेधा का मापक भी। इतना ही नहीं निबन्ध वह स्वच्छ दर्पण है, जिसमें हम लेखक के यथार्थ चित्र को देख सकते हैं। कथा-कहानी में लेखक अपनी गुप्त अभिव्यक्ति करता है। नाटकों में वह पात्रों में छिपकर अपनी भाषा तथा शैली का दोष उनके मत्थे सरलता से मढ़ लेता है; परन्तु निबन्धों की सीधी सपाट स्थली में, सिर छुपाने को भी उसे स्थान नहीं मिलता है। इसलिए लेखक के व्यक्तित्व की सर्वाधिक अभिव्यक्ति एवं उसकी शैली का उत्कर्ष दर्शन निबन्धों में होता है।

निबन्धकार के रूप में बाबू गुलाबराय का स्थान महत्वपूर्ण है। उनकी निबन्धों की महत्ता का श्रेय उनकी शैली को जितना अधिक प्राप्त है उतना उनकी वस्तु को नहीं। गम्भीर आलोचनात्मक निबन्धों की कठोर भूमि से भी हास्य विनोद के झरने सतत निर्झरित होते रहते हैं। फिर भी सम्यक रूप से उनकी शैली प्रधानतः विवेचनात्मक है। यही विषय वस्तु के साथ में न्यूनाधिक मात्रा में परिवर्तित हुई है। इस प्रकार बाबूजी की समस्त रचनाओं में हमें चार शैलियों के दर्शन होते हैं :—

१. विवेचनात्मक शैली। २. व्याख्यात्मक शैली। ३. हास्य-व्यंग्यात्मक शैली। ४. आत्म-कथात्मक शैली।

उपर्युक्त चार शैलियों में प्रथम एवं प्रधान विवेचनात्मक शैली का ही विस्तृत साम्राज्य रहता है, तथा बीच-बीच में उनकी हास्य-व्यंग्यात्मक शैली उनकी भाषा में मरू-उद्यानों का सौरभ विकीर्ण करती रहती है।

बाबू साहब की विवेचनात्मक शैली उनकी प्रारंभिक रचनाओं में अवश्य ही अधिक गठित, शुद्ध तथा परिष्कृत नहीं है। एक ही परिच्छेद में विवेचनात्मक और वर्णनात्मक अथवा व्याख्यात्मक शैली का वैसा ही मिश्रण है जैसा अंग्रेजी, उर्दू, और संस्कृत के शब्दों का। यद्यपि अंग्रेजी के नये शब्दों के हिन्दी पर्यायवाची शब्द गढ़कर प्रारंभ में अंग्रेजी के मूल शब्दों को कोष्टक में रखकर, उन्हें उनके सहारे लोक-प्रांगण में प्रचलन सिखाया है और दूसरे ही वाक्य में उन्हें स्वतन्त्र व्यवहार को छोड़ दिया है, तथापि कुछ सरल अंग्रेजी के शब्द बिना हिन्दी पर्यायवाची के ही प्रयोग

किये गये हैं। प्रारंभिक परिच्छेद लम्बे हैं, परन्तु सुगठित नहीं हैं। कालान्तर में क्रमशः उनकी भाषा शैली में परिष्कार हुआ है। परिच्छेद संतुलित एवं सुगठित हो गये हैं। यथा—

"दो प्रतिकूल सिद्धान्तों का भी कभी-कभी एक ही परिणाम होता है, हेगिल (Hegel) और हैकल (Hackal) के सिद्धान्तों में बड़ा अन्तर है। एक महाशय यूरोप में आत्मैक-वादियों के शिरोमणि गिने जाते हैं, तो दूसरे महाशय आधुनिक प्रकृतिवादियों में अग्रगण्य हैं, किन्तु दोनों ही की फिलासफी अन्त में हमको नियतिवाद (Determinism) में ले जाती है। दोनों ही के मत से संसार कार्य-कारण की शृंखला में बंधा हुआ है। मनुष्य को संसार में किसी नई बात की गुंजाइश नहीं है। यदि हैगिल के मत से व्यक्ति का समष्टि में लोप हो जाता है तो हैकल के अनुयायियों के लिए मनुष्य, बन्दरों का सकुटुम्बी है। प्रकृतिवाद (Materialism) और आत्मवाद (Spiritualism) दोनों ही मनुष्य का गौरव घटाते हैं। दोनों ही बुद्धि की प्रधानता मानते हुए, हमारे भावों को सत्य का निर्णय करने में कोई स्थान नहीं देते। संसार की उन्नति में भावों की प्रधानता एवं मनुष्य की स्वतंत्रता और गौरव स्थापन करने के लिये कृत साधनवाद (Pragmatism) का उदय हुआ। जेम्स, शिलर और डयूई ये तीन महाशय कृत साधनवाद के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। जेम्स साहब इस मत के प्रधान आचार्य माने जाते हैं। आप अमेरिका के सबसे बड़े फिलासफर समझे जाते हैं।" ('मर्यादा' मार्च १९१७, पृष्ठ ११८९)

बाबूजी की उपर्युक्त भाषा में कुछ ही वर्षों में जो निखार और परिष्कार हुआ, वह बहुत महत्वपूर्ण है। भाषा का न केवल लचरपन ही तिरोहित हो गया, वरन् उसमें शक्ति और गति उत्पन्न हो गई। इसी समय उनमें आचार्य पं. रामचन्द्र शुक्ल की निगमन शैली का अनुकरण करने का प्रयत्न भी प्रतीत होता है। प्रारम्भ में मूल बात कह कर बाद में उसी की पुष्टि और स्पष्टीकरण में असंख्य उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं। फिर भी शुक्ल जी की शैली की गम्भीरता और गाढ़ बन्धत्व उसमें नहीं है। न तो परिच्छेद के प्रारम्भ में वैसे सशक्त एवं संशिलष्ट सूत्र-वाक्य हैं, और न वैसी उनकी व्याख्या तथा विवेचना। बाबूजी इसके स्थान पर एक के पश्चात् दूसरा उदाहरण या उपमाएँ देते चले जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो ये उपमाएँ एक-दूसरे का हाथ पकड़कर खींचती चली जा रही हों। थोड़ी ही देर में एक सुन्दर, प्रभावी शृंखलाबद्ध प्रघट्टक उपस्थित हो जाता है। यह भी उनकी विवेचनात्मक शैली का ही एक ढंग है। इस शैली के भी दो रूप मिलते हैं। (क) एक में सम्पूर्ण प्रघट्टक एक ही अति दीर्घ वाक्य में अनेक उदाहरणों के साथ गूंथा जाता है जो हमें भारतेन्दु की "सूर्योदय" निबन्ध की शैली के अनुरूप है। (ख) दूसरी शैली में, समान धर्मी छोटे-छोटे अनेक वाक्यों में, उदाहरणों को संजोया गया है :

(क) "सौंदर्योपासना में ही मनुष्य और दृश्यमान जगत की एकता का सच्चा प्रमाण मिलता है। जब हम कोकिल के कल कूजने में, भ्रमरावली के मधुर गुंजार में, मछली के स्वच्छ गम्भीर जल में उछलकर विद्युत की-सी चपलता दिखाने में, मदोन्मत्त गजराज की मदभरी चाल में, कमल और शिरीष पुष्पों की कोमलता और सुस्निग्धता में, रंभा स्तम्भों की श्लषणता में, हिम और कपूर की दिव्य

धवलता में, पूर्ण शरदिंदु की सुधा सनी शीतलता में, आकाश की निष्कलंक नीलिमा में, उषाकालीन नवीन मेघों की नेत्र रंजक लालिमा में, कबूतर की लालायित ग्रीवा में, राजहंसों की मंद गति में, तिल कुसुम और शुक तुंड में, उज्ज्वल और सरस मोती के से दानों से भरे हुए अनार में, पक्कबिंब और विद्रुम की विचित्र अरुणाई में, फल-भार-नम्रा-रसाल शाखाओं की विनीत नम्रता में, कल-कलभ शुभ्र शुंड में, त्रिविध समीर और रजतमयी शरच्चन्द्रिका की मृदुत्व मंद मुसकान में, सभी स्त्री और पुरुषों की अलौकिक सुंदरता का आदर्श उपमान उपमेय रूप से स्थिर कर प्रेमास्पद वस्तु के मनोहर रूप की प्रशंसा करते हैं, उस समय हम अपनी सौंदर्योपासना में सारे संसार की एकता का परिचय देने लग जाते हैं।" (सौन्दर्योपासना)

(ख) "कुरूपता के पक्ष में कुछ और भी कहा जा सकता है। रूपहीन वस्तु ही रूपवान वस्तु का आधार-भूत और पालक-पोषक है। कीचड़ से ही कमल की स्थिति है। गुलाब भी कटीले वृक्ष में उगता है। मोती सीप से पैदा होता है। रत्न क्षार-समुद्र से निकलता है। मणि खान से निकलती है। गज मोक्तिक हस्ती के मस्तक से निकलता है। कीट से रेशम उपजता है। शून्य नीलाम्बर में चन्द्रोदय होता है। दुरूह पर्वतों के अंधकारमय गहरों में भाँति-भाँति की जड़ी-बूटियाँ विद्यमान रहती हैं। बड़े-बड़े बीहड़ जंगलों में सहज-सलौने मृग छौने रहते हैं। इसी प्रकार पुष्पों का प्रादुर्भाव वृक्षों से और सघन सुंदर पल्लवों से सुशोभित शाखाओं की स्थिति रूखी और मोटी-मोटी जड़ों से है। मनुष्य की स्थिति वनस्पतियों पर और हरी-भरी लहराती वनस्पतियों की स्थिति जल, वायु और मिट्टी के ढेलों पर निर्भर है।" (कुरूपता)

बाबूजी की साहित्यिक प्रौढ़ा एवं परिपक्कावस्था में विवेचनात्मक शैली पूर्वापेक्षा अधिक सशक्त तथा प्राञ्जल हो गई थी। शब्दाडम्बर, प्रदर्शन तथा अपने कथन की पुष्टि के लिए असंख्य उदाहरणों का आश्रय-ग्रहण करने की प्रवृत्ति परवर्ती रचनाओं में निश्शेष हो गई है। निसंदेह उनकी शैली में, पुष्टि वाक्य के रूप में लोकोक्तियाँ तथा प्रसिद्ध कवियों की पंक्तियों के उद्धरण प्रस्तुत करने की विशेषता अक्षुण्ण बनी हुई है। सामान्यतः उनका वाक्यविन्यास सरल एवं व्याकरण सम्मत है। भाषा में कलात्मकता अथवा प्रभावोत्पादन का आग्रह करके उन्होंने कर्त्ता कर्म क्रिया आदि के क्रम में परिवर्तन नहीं किया है। वाक्य मिश्रित तथा संयुक्त ही अधिक रहते हैं, साधारण कम। यथा—

"भोजन जीवन का एक मुख्य व्यापार ही नहीं, वरन् जलवायु की भाँति एक आवश्यक आधार भी है। इसके अतिरिक्त जब इसके साथ प्रेम और सामाजिकता का लगाव होता है तब वह प्रसन्नता का साधन बनकर एक उत्सव का रूप धारण कर लेता है। प्रीति-भोज क्षमा और दया के यजमान और याचक की भाँति खिलानेवाले और खानेवाले दोनों को परस्परोपकृत बना उनमें सौहार्द्र की भावना दृढ़ करते हैं। प्रीति भोज दाता के हृदय के ओज, उल्लास और

सौहार्द्र का प्रतीक बनकर आता है। यदि वह विद्या की भाँति विनय सम्पन्न भी हो। — 'अमी पियावे मान बिनु, सो जन हमें न सुहाय''—(प्रीति भोज-समस्या) जीवन रश्मियाँ, पृ. १२१

बाबू साहब की इसी विवेचनात्मक शैली का एक विशिष्ट रूप उनके समीक्षात्मक निबन्धों में भी द्रष्टव्य है। उन्होंने साहित्य-समीक्षा का शास्त्रीय तथा व्यावहारिक दोनों ही पक्षों का पोषण किया है। यद्यपि वे हिन्दी में मूलरूप से निबंधकार हैं, और उसी निबन्ध परम्परा में उनके ये समीक्षात्मक निबंध लिखे गये हैं। उनका सैद्धान्तिक आलोचना का प्रथम ग्रन्थ 'नवरस' संक्षिप्त संस्करण में सन् १६२१ में तैयार हो गया था, और १६२७ में वह प्रकाशित हो गया था। उनके जीवन की सरलता, मस्ती, विनोद-प्रियता तथा सहृदयता ही ने उनकी शैली का प्रारूप धारण कर लिया है। अतः सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक आलोचनाएँ भी खण्डनात्मक, परुष और कटु नहीं हो पाती है। आलोच्य साहित्यकार के प्रति सहृदयता तथा सहानुभूति रखते हुए, वे अपनी कलम चलाते हैं। इस समय उनका समन्वयवादी व्यक्तित्व भी सदा सजग रहता है, जो कि उनकी भाषा-शैली, शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास आदि में स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। उनकी गम्भीर समीक्षाएँ भी पूर्णतः गम्भीर नहीं रह पातीं। साधारण निबन्धों की व्यावहारिक भाषा, विनोद-प्रियता जन्य व्यंग्य एवं प्रसाद गुण सम्पन्नता शैली का समन्वय द्रष्टव्य होता है। कोमलकान्त पदावलियाँ तथा अनुप्रास की छटा भी भाषा में लालित्य वृद्धि कर देती है।—

''शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर कहा गया है, ये दोनों ही अभिन्न से हैं। अर्थ के बिना शब्द का कुछ मूल्य नहीं—वह डमरू के डिम डिम से भी कम मूल्य रखता है (डमरू के डिम-डिम से महर्षि पाणि द्वारा प्रतिपादित महेश्वर सूत्रों का जन्म हुआ था)—और शब्द के बिना अर्थ का मानव-मस्तिष्क में भी कठिनाई से निर्वाह होता है, इसलिए तो शब्द और अर्थ की एकता की पार्वती-परमेश्वर की एकता का उपमान बताकर कवि-कुल-गुरु कालिदास ने अपने अमर काव्य 'रघुवंश' के प्रथम श्लोक द्वारा इस अटूट सम्बन्ध को महत्ता प्रदान की थी। शब्द के साथ अर्थ का लगाव है और अर्थ के साथ शब्द का। एक के बिना दूसरे की पूर्णता नहीं, इसलिए दोनों मिलकर ही काव्य का शरीरत्व सम्पादित करते हैं।

यद्यपि बिना शरीर के आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित करना दर्शन शास्त्रियों की बुद्धि-परीक्षा का विषय बन जाता है, तथापि आत्मा के बिना शृंगार की आलम्बन स्वरूपा ललित लावण्यमयी अङ्गनाओं के कोमल कान्त कमनीय कलेवर भी हेय, त्याज्य और वीभत्स के स्थायी भाव घृणा के विषय बन जाते हैं। अतः हमारे यहाँ के आचार्यों ने काव्य की आत्मा को विशेष रूप से अपनी मनीषा और समीक्षा का विषय बनाया है।'' (काव्य की आत्मा)

गुलाबरायजी का अध्यापक रूप, उनकी अन्य सेवाओं के रूपों से अधिक व्यापक और प्रधान है। इससे उनके निबन्धों तथा अन्य रचनाओं में विवेचनात्मक शैली के साथ बहुत सुन्दर ढंग से संभाषण शैली का भी निर्वाह हुआ है। इसमें वे अपने विषय को बोधगम्य एवं अभिव्यक्ति को सप्राण बनाने के लिए बीच-बीच में प्रश्न करके अपने पाठकों को सचेत करते जाते हैं।

"दोष-शुद्धि के लिए दूसरा उपाय प्रायश्चित बतलाया गया है। प्रायश्चित प्रायः उन्हीं अपराधों का होता है, जो विशेषकर धर्म के उस अंग से जिसे आचार कहते हैं, सम्बंध रखते हैं। यह एक प्रकार का दंड तथा मानसिक पश्चात्ताप है। पश्चात्ताप भी दोष-शुद्धि का मुख्य उपाय माना गया है। इससे दोनों को क्षमा मिल जाती है। पाप का दंड देना जब न्याय माना गया है, तब क्षमा कैसी? दंड तो केवल इसलिए दिया जाता है कि अपराधी का सुधार हो जाय, और वह फिर आगे अपराध न करे। यदि वही आशय बिना दंड के ही सिद्ध हो जाय, तो दंड की क्या आवश्यकता? कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि क्षमा से अपराध की जो शुद्धि होती है वह दंड मे नहीं।" (कर्त्तव्य सम्बन्धी रोग, निदान और चिकित्सा)

बाबू श्यामसुन्दरदास भी अध्यापक एवं आलोचक थे; परन्तु दासजी के अध्यापकीय-व्यक्तित्व से सर्वथा भिन्न बाबू गुलाबरायजी का अध्यापक गम्भीर तथा कठोर अनुशासन का आदी नहीं है। स्वभाव तथा छात्रों के नव-रक्त के सम्पर्क ने उन्हें कभी मुहर्रमी नहीं रहने दिया। वे प्रकृति से विनोद-प्रिय तथा हंसोड़ हैं। अतः उनकी शैली में विनोद, परिहास एवं व्यंग्य का बहुत सुन्दर परिपाक उपस्थित हुआ है। विशेषतः उन्होंने सामाजिक और नैतिक निबन्धों में, मार्मिक ढंग से विनोद और व्यंग्यों की उद्‌भावना की है उनके व्यंग्यों में क्षार रहता है जो हृदय को स्पर्श करते ही अपनी प्रतिक्रिया करता है।

उन्होंने अपनी प्रायः सभी शैलियों और परिस्थितियों में हास्य-विनोद एवं व्यंग्य के ये अमृत कण न्यूनाधिक मात्रा में संग्रहीत कर लिए हैं। आश्चर्य तो हमें तब होता है जबकि गम्भीर वैज्ञानिक और शुष्क-सैद्धान्तिक समीक्षा में भी उन्होंने सरसता और हास्य-विनोद की उद्‌भावना की है। लोकोक्तियों, उद्धरणों तथा मुहावरों ने उनकी शैली में जीवन और शक्ति का संचार कर दिया है।

वैसे तो बाबूजी की सभी कोटि की रचनाओं में उनकी हास्य-विनोद-शैली का पुट मिलता है, फिर भी उनके असंख्य लेख प्रधानतः इसी शैली में प्रणीत हुए हैं, जिनमें कि उनका सुरुचि-पूर्ण, शिष्ट एवं स्वस्थ हास्य-विनोद-व्यंग्य निहित रहता है। हास्य-सम्राट जे. पी. श्रीवास्तव का हास्य-विनोद-व्यंग्य जहाँ कई स्थलों पर सुरुचिपूर्ण एवं स्वस्थ नहीं रहा है, वहाँ बाबू गुलाबराय के विशाल हास्य-विनोदात्मक साहित्य के किसी स्थल पर उँगली नहीं उठाई जा सकती है।

(क) "चोरी सम्पन्न या विपन्न वर्गों की ही बपौती नहीं, वरन् रज राजस से अछूते यशोधन कवि और साहित्यकार भी इस जुर्म के जरायम पेशे लोगों में आते हैं। आचार्य राजशेखर ने तो बनियों के साथ कवियों को भी चोरों की श्रेणी में बिठा दिया है। उन्होंने एकदम फतवा दे दिया कि कोई कवि ऐसा नहीं है जो चोर न हो और कोई बनिया ऐसा नहीं है जो चोर न हो—,'नास्त्य चौरः कविः जनो नात्स्य चौरःवणिग्जनः (काव्य मींमासा)।" (सीमावर्ती चोर)

(ख) "विष्णु भगवान क्षीर-सागर में इसीलिए शयन करते हैं कि दुग्ध की हर समय उपलब्धि हो सके। दुग्ध मधुमेह के लिए पथ्य है। पितृगणों की तृप्ति जौ और तिल के साथ उदक (पानी) पाए बिना नहीं होती, इसीलिए हिन्दू जीवन

में पुत्र का महत्व है। भारत के सब देव और पितृगण इस रोग से पीड़ित रहते हैं। फिर उनके उत्तराधिकार में भारतवासी लेखकों को यह रोग क्यों न प्राप्त हो? सरकार को भी चाहिए कि कपित्थ, जम्बूफल और बिल्वपत्रों की उपज बढ़ाने का उपाय करे।" (भारतीय लेखक और मधुमेह)

(ग) "ख्याति की चाह को मिल्टन ने बड़े आदमियों की अंतिम कमजोरी कहा है, लेकिन शायद यह मेरी आदिम कमजोरी है क्योंकि मैं छोटा आदमी हूँ। यश-लोलुपता के पीछे दुःख भी काफी उठाना पड़ता है। ख्याति की चाह ही—जिस को मैं दूसरों की आँख में धूल झोंकने के लिए साहित्य-सृजन की प्रारम्भ प्रेरणा कह दूँ—मुझे इस समय जाड़े की रात में गद्दे-लिहाफ का सन्यास करा रही है। रोज कुआं खोदकर रोज पानी पीने की उक्ति सार्थक करते हुए मुझे भी कालेज के लड़कों को पढ़ाने के लिए स्वयं भी अध्ययन करना पड़ता है। उसकी सुध-बुध भूलकर और यमदूत नहीं तो कम से कम कंजूस कर्जख्वाह की भाँति प्रूफों के लिए प्रातःकाल ही अपने अवांछित दर्शन देनेवाले प्रेस के भूत (कम्पोजीटर) की माँग की भी अवहेलना करते, देश के दंगों के शमन और शरणार्थियों के पाकिस्तान के निष्कासन की भाँति इस लेख को मैं चोटी की प्राथमिकता (Top-priority) दे रहा हूँ।"

(प्रभु जी मेरे औगुन चित न धरौ)

बाबूजी का प्रबल आग्रह भावों की प्रभावपूर्ण अभिव्यञ्जना होने के कारण, वे अंग्रेजी, उर्दू, फारसी ही नहीं अव्यवहारिक और देशज शब्दों का भी प्रयोग करने से नहीं चूके हैं। यही कारण है कि उनकी भाषा प्रौढ़, परिष्कृत और व्याकरण-सम्मत होते हुए भी विजातीय शब्दों और पदों से ओत-प्रोत है। उन्होंने विजातीय शब्दों का जहाँ-जहाँ प्रयोग किया है, वहाँ-वहाँ वे हिन्दी के शब्दों से प्रायः अधिक मार्मिक तथा सशक्त प्रमाणित हुए हैं। ऐसा उन्होंने तब ही किया है, जब हिन्दी का कोई पर्यायवाची शब्द उन स्थलों पर उन्हें उपयुक्त नहीं जँचा है। जैसे—शगल, गप्प हाँकना, जुर्म के जरायम पेशा, फतवा देना, आदि।

अंग्रेजी के फिलासफर, फिलासफी, कम्पोजीटर, सर्विस, डिज़ाइन इत्यादि शब्द तो पर्याप्त मात्रा में निःसंकोच भाव से उनकी रचनाओं में विचरण करते हुए दृष्टिगोचर हो जाते हैं।

संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रति उनका मोह प्रारम्भ में बहुत अधिक रहा है जो समय और अनुभव के साथ कम हो गया है। फिर भी सामासिक, संश्लिष्ट पदावलियाँ, एवं वृत्यनुप्रास की लहरी उनकी परवर्ती रचनाओं में मयूर पंखी ढंग से चुन-चुन कर सजाई गई है। इनमें फिर उर्दू, फारसी, अंग्रेजी आदि के विजातीय शब्दों को प्रविष्ट होने का साहस ही नहीं हुआ है। और द्विवेदी युगीन आलंकारिक संस्कृत के विद्वान पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र का लघु संस्करण सामने आ जाता है। यथा—

(अ) "कहीं तो वैभव-प्रदर्शन दुग्धफेन-विनन्दित धवल धौत चादरों की श्वेतता, कही

प्लेटों की कटाई-सफाई की अनिद्य सुधराई।" (प्रीतिभोज-समस्या मीमांसा)

(आ) "जब गगन-रोही तुषार-मंडित पर्वत श्रृंगों, वर्षा-वारि विलोड़ित नदियों, सघन-श्याम-मेघ-मालाओं, नव किसलय शोभित वृक्षों, नूतन पल्लव और कोमल कलियों से विभूषित लतिकाओं, नीलाकाश के प्रशस्त अंचल पर हीरक खण्ड से जगमगाते हुए शुभ्र नक्षत्रों और विमल सलिल-वाही मधुर निनादों निर्झरों को देखकर हमारा मन मयूर प्रेमोन्मत्त पुलक मुकुलित हो नाचने लगता है, उस समय हमको अपनी और हृदयमान संसार की एकता का अनुभव होने लगता है।" (सौंदर्योपासना)

ऐसे कुछ स्थलों के अतिरिक्त, बाहुलांश में बाबूजी ने अपनी भाषा-शैली को यथाशक्ति सरल और सुबोध रखने का पूर्ण प्रयत्न किया है। अंग्रेजी के शब्दों के पर्यायवाची शब्दों को कोष्टक में रख दिया है, साथ ही कहीं कहीं हिन्दी के शब्दों का अभीष्ट अर्थ संकेत करने के लिए भी कोष्टकों का उपयोग किया गया है। इस प्रकार स्पष्टता, सुबोधगम्यता तथा प्रभावोत्पादन ही बाबूजी की भाषा-शैली के सदैव अन्यतम लक्ष्य रहे हैं।

डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन'
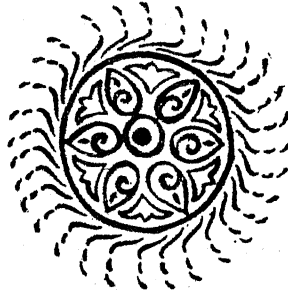
बाबूजी की भाषा-शैली

'हिन्दी' से हमारा तात्पर्य साहित्यिक खड़ीबोली हिन्दी से है। हिन्दी भाषा के मूल स्रोत एवं विकास-परंपरा पर विचार करने पर कुछ लोग कह देते हैं कि हिन्दी की जननी 'संस्कृत' है। इस कथन के समर्थन में दशरूपक की टीका का एक उद्धरण भी प्रस्तुत कर दिया जाता है कि 'प्रकृति' से प्राप्त भाषा का नाम 'प्राकृत' है और संस्कृत भाषा का ही दूसरा नाम 'प्रकृति' है—

"प्रकृतेरागतं प्राकृतम् प्रकृतिः संस्कृतम् ।"

—(धनिक, दशरूपक की टीका, २।६०)

संस्कृत को प्राकृत का मूल और प्राकृत को हिन्दी का मूल समझना, एक भारी भूल है। साहित्य के रूप में नाटकादि ग्रन्थों के अन्तर्गत मिलने वाली प्राकृत भाषाएँ वास्तव में बनावटी भाषाएँ हैं। इन भाषाओं को कवियों ने साहित्य में लाने के लिए बहुत तोड़ा-मरोड़ा है और पूरी तरह से उन्हें अस्वाभाविक तथा कृत्रिम बनाया है। उन्हें कुछ निश्चित नियमों में बाँधकर गढ़ा गया प्रतीत होता है। किन्तु इतनी बात अवश्य है कि उन प्राकृतों की मूल भाषाएँ अवश्य ही प्रारम्भ में जनता द्वारा बोली जाती होंगी। वे मूल भाषाएँ उन जन-भाषाओं से विकसित हुई होंगी, जिनसे वैदिक भाषा का विकास हुआ था। वैदिक भाषा की विकसित परम्परा में पाली और अपभ्रंश आती हैं। हमारे भारतवर्ष में विभिन्न प्रान्तों अर्थात् क्षेत्रों में अनेक अपभ्रंश भाषाएँ बोली जाती थीं। वररुचि का मत है कि अपभ्रंश भाषा प्राकृत नहीं है। रुद्रट के काव्यालंकार (२।११) पर टीका करते हुए श्री नमिसाधु ने लिखा है कि—कुछ लोग तीन

भाषाएँ मानते हैं—(१) संस्कृत (२) प्राकृत (३) अपभ्रंश। मार्कण्डेय ने पाँचाल, मालव, गौड़, औड्र, कालिङ्ग्य, कार्णाटिक, द्राविड़, गुर्जर आदि छब्बीस प्रकार की अपभ्रंश भाषाओं का उल्लेख किया है ?[१] उसके मतानुसार अपभ्रंश भाषाएँ वास्तव में जनता की बोलियाँ ही हैं। यह बात अलग है कि उनका विकास चाहे आर्य स्रोत से हुआ हो अथवा आर्येतर स्रोत से।

अत: आरम्भ में वैदिक भाषाएँ और फिर अपभ्रंश भाषाएँ क्षेत्रीय परिस्थितियों में निरन्तर विकसित होती गयीं और आधुनिक भारतीय भाषाओं का रूप लेती गयीं। बिजनौर, मुरादाबाद, सहारनपुर , मेरठ आदि जनपदों में जो अपभ्रंश बोली जाती थी उसकी विकसित परम्परा में ही आज की जनपदीय खड़ीबोली हमें प्राप्त है और उसी का साहित्यिक रूप 'हिन्दी' नाम से विख्यात है। हिन्दी के अनेक शब्द वैदिक बोलियों से अपभ्रंशों द्वारा हमें प्राप्त हुए हैं। तत्सम, तद्भव, देशज, देशी, विदेशी आदि अनेक शब्द-प्रकारों से हिन्दी का भाण्डार सम्पन्नता को प्राप्त हो रहा है। जहाँ-तहाँ से वाक्याँश, मुहावरे और लोकोक्तियाँ आ-आकार हिन्दी की अभिव्यंजकता को सबल बना रही हैं। भाषाएँ इसी तरह समृद्ध बना करती हैं। साहित्यकार जब अनेक प्रकार के शब्दों तथा मुहावरों को अपने साहित्य में समाविष्ट कर लेते हैं तब वह सम्पत्ति अमर हो जाती है। हिन्दी की वह अमर शब्द-संपत्ति बाबू गुलाबराय जी के साहित्य में किस प्रकार की मिलती है, उसी का दिग्दर्शन कराना इस लेख का मुख्य मंतव्य है। बाबूजी के गद्य को देखकर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वे शुद्ध साहित्यिक खड़ीबोली हिन्दी के लेखक हैं।

भाषा का मुख्य रूप या आधार वाक्य ही होता है। वाक्य का विश्लेषण करते समय हम क्रमश: पद, शब्द, अक्षर और वर्ण तक पहुँच जाते हैं। भाव या विचार का व्यक्त साकार रूप तो वाक्य ही है। किसी साहित्यकार ने अपनी भाव-शृंखला या विचारावली किस ढ़ंग से किस प्रकार के वाक्यों के माध्यम से संसार के समक्ष प्रस्तुत की है, इसी का विश्लेषण तो भाषा-शैली के नाम से पुकारा जाता है। भाषा और शैली ही साहित्यकार का सच्चा स्वरूप है। किसी साहित्यकार की आत्मा और शरीर को पूरी तरह से जानने-पहचानने के लिए यह आवश्यक है कि उसके संपूर्ण वाङमय की भाषा और शैली से पूर्ण परिचय प्राप्त किया जाए। वास्तव में साहित्यकार के साहित्य की भाषा और शैली की अवगति ही उस साहित्यकार का प्रत्यक्ष दर्शन है।

साहित्य की जितनी भी विधाएँ हैं, उनमें निबन्ध सबसे अधिक मुक्त विधा है जिसमें लेखक की भाव-धारा या विचार-प्रवाह उन्मुक्त रूप से अग्रसर होता है। कारण स्पष्ट है कि निबन्ध गद्य साहित्य में व्यक्ति प्रधान रचना है ? इसलिए साहित्य-स्रष्टा का सच्चा स्वरूप भाषा और शैली की दृष्टि से निबन्ध-साहित्य के माध्यम से ही आँका जा सकता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही कहा है कि —"यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक संभव होता

१. आर. पिशल, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, सन् १९५८ ई., पृष्ठ ५.

है।"[1] इसलिए (स्व.) बाबूजी की भाषा-शैली का विवेचन प्रस्तुत करने के लिए हमने निबन्धों को ही विशेष रूप से लिया है और उन्हीं को दृष्टि-पथ में रखकर बाबू गुलाबरायजी की भाषा और शैली का स्वरूप हम यहाँ प्रस्तुत करना चाहते हैं। यदि हम 'फिर निराश क्यों', 'मेरी असफलताएँ', 'मेरे निबन्ध' और 'राष्ट्रीयता', नामक निबन्ध-संग्रहों पर एक आद्यन्त दृष्टि डालें तो उनकी भाषा-शैली का वास्तविक पूर्ण रूप हमारी आँखों के आगे आ जाता है।

भाषा का स्वरूप

बाबू गुलाबरायजी की भाषा के स्पष्टतः दो स्वरूप हमें दृष्टिगोचर होते हैं—(१) गम्भीर एवं उच्चस्तरीय परिष्कृत हिन्दी। (२) सरल एवं व्यवहारिक हिन्दी।

साहित्य-समीक्षा एवं कुछ गम्भीर निबन्धों में विचाराभिव्यक्ति बाबूजी ने तदनुकूल गम्भीर एवं संयत भाषा के माध्यम से ही की है। वहाँ वाक्यों में संस्कृत के तत्सम शब्दों का ही अधिक प्रयोग है। अरबी-फ़ारसी आदि विदेशी भाषाओं की शब्दावली का वहाँ प्रवेश नहीं के बराबर है। मुहावरों तथा लोकोक्तियों के लिए भी वहाँ बहुत-कुछ द्वार बन्द है। इस गम्भीर एवं उच्चस्तरीय परिष्कृत हिन्दी भाषा के वाक्यों को देखा जाए तो पाठकों को पता चलेगा कि वहाँ प्रायः कुछ वाक्य लम्बे-लम्बे रहते हैं। विषय के विचार को स्पष्ट एवं बोधगम्य बनाने के लिए लेखक एक ही बात को दुहराकर कई प्रकार के वाक्यों में व्यक्त करता है। बाबू जी की उच्चस्तरीय परिष्कृत हिन्दी भाषा को देखकर हम कह सकते हैं कि वे कुछ-कुछ उसी मार्ग के पथिक हैं जिस मार्ग पर बाबू श्यामसुन्दरदास चले हैं। दोनों एक ही मार्ग के यात्री क्यों न हों, दोनों ही तो बाबूजी हैं। अन्तर थोड़ा-सा इतना ही है कि बाबू श्यामसुन्दरदास यदि काशी के बाबूजी थे तो बाबू गुलाबराय आगरे के बाबूजी थे। काशी जितना संस्कृत का पक्ष लेती है, उतना आगरा उसका पक्षपाती नहीं। इसीलिए तो अपनी समीक्षा तथा निबन्धों की विचार-श्रृंखला को सरल तथा बोधगम्य बनाने के लिए आगरे के बाबूजी संस्कृत शब्दों के आगे कोष्ठकों में अँगरेज़ी के शब्द प्रस्तुत करते चले जाते थे; जैसे—'भाव वृत्ति' (Sentiment), 'कुशल क्षेम-क्षेत्र' (Welfare centre), 'सामूहिक मन' (Group mind) इत्यादि।

संस्कृत-साहित्य की उपयुक्त सूक्तियों का समुचित प्रयोग कोई सीखना चाहे तो बाबू गुलाबरायजी के निबन्धों को पढ़कर सीख सकता है। 'दर्शन और जीवन' शीर्षक निबन्ध से कुछ उदाहरण प्रस्तुत करके हम इस लेख के पाठकों से यह निवेदन करना चाहते हैं कि पाठक देखें कि निबन्धकार बाबू गुलाबराय जी को संस्कृत-साहित्य की उत्तमोत्तम सूक्तियाँ कितनी याद हैं और उन्हें विचाराभिव्यंजना के क्षणों में कितने कौशल के साथ वे चस्पाँ करते चले चलते हैं। विशेषता यह है कि उनसे विचारों की अभिव्यक्ति में सौन्दर्यमयी साहित्यिक स्पष्टता घटती नहीं, अपितु संवृद्ध होती है। उदाहरण—

"बेचारे दार्शनिक ही बलि के बकरे बनाये जाते हैं—'अजापुत्रं बलिं दद्यात्; दैवो दुर्बल घातकः। प्रदीपः सर्वविद्यानाम्', आन्वीक्षिकी विद्या के उपासक नैयायिकों का 'घृताधारं पत्रं

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास,' नागरी प्रचारिणी सभा काशी, संवत् २००६ वि., पृष्ठ ५०५

वा पात्राधारं घृतं' का उदाहरण देकर मज़ाक उड़ाया जाता है।"[१]

"आत्मवत् सर्वभूतेषु, का सिद्धान्त यदि व्यवहार में आ जाय तो इस संसार को स्वर्ग बनने में देर न लगेगी।"[२]

संस्कृत-सूक्तियों तथा हिन्दी-सूक्तियों को यथा स्थान उद्घृत करते हुए वाक्यों की रचना करते चलना बाबूजी की अपनी निराली विशेषता है।

"परमात्मा एक ही है। विद्वानों ने उसके अनेक रूप बना लिये हैं—"एकं सत विप्राः बहुधा वदन्ति।"[३]

"गोस्वामी तुलसीदास जी ने संत-स्वभाव की प्राप्ति के लिए उत्कण्ठा प्रकट करते हुए कहा है—'परगुन, नहिं दोष कहोगो।"[४]

हम पहले कह चुके हैं कि बाबूजी की उच्चस्तरीय परिष्कृत हिन्दी-भाषा के वाक्य कहीं-कहीं बहुत लम्बे और जटिल हो गये हैं। जैसे—

"एक दूसरे दार्शनिक महाशय के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि एक बार उनको स्टेशन जाते हुए भ्रम हो गया कि वे अपनी घड़ी नहीं लाये और घर लौटकर घड़ी लाने के लिए बड़ी व्यग्रता के साथ वे जेब से घड़ी निकालकर देखने लगे कि इतना समय है कि नहीं कि घर से घड़ी ले आवें, 'बगल में लड़का शहर में ढिढोरा।"[५]

"देश की सामाजिक विषमताओं को दूर करना अर्थात् अछूतों, मजदूरों आदि की स्थिति को सुधारना, दहेज, वृद्ध-विवाह आदि समाज की कुप्रथाओं का सुधार, निरक्षरता का निवारण, स्वास्थ्य-सम्बन्धी जानकारी का प्रसार, मकानों और मुहल्लों की गन्दगी और संकीर्णता को दूर करना, नये और स्वस्थ निवास-स्थानों का निर्माण, रोगी की सेवा, औषधि आदि का प्रबन्ध करना या कराना, लोगों के मनोरंजन और विश्राम के लिए पार्क, व्यायामशाला, क्लब आदि खुलवाना—ये सब समाज-सेवा के ही अंग हैं।"[६]

गम्भीर एवं संयत हिन्दी भाषा के साथ-साथ हम बाबूजी को सरल एवं व्यावहारिक हिन्दी का प्रयोग करते हुए भी देखते हैं। ऐसी भाषा प्रायः चलते तथा व्यावहारिक विषयों के निबन्धों में प्रयुक्त की गई है। हास्य, व्यंग्य आदि के भावों की अभिव्यक्ति में सरल और व्यावहारिक भाषा की ही वाक्यावली अधिकतर दिखाई पड़ती है। तब वे मुहावरों का प्रयोग तो करते ही हैं, किन्तु साथ में स्थान-स्थान पर आवश्यकतानसार अरबी, फारसी, अंगरेज़ी आदि की शब्दावली का प्रयोग भी धड़ल्ले से कर देते हैं। भाषा पाठकों के लिए सरल और स्वाभाविक सिद्ध हो; इसलिए बाबूजी आवश्यकतानुसार 'शुरू', 'ख़याल' आदि विदेशी शब्दों का प्रयोग कर

---

१. 'दर्शन और जीवन' निबन्ध से।
२. 'विश्व प्रेम और विश्व-सेवा' निवन्ध से।
३. 'देश-प्रेम और देश-सेवा' निबन्ध से।
४. 'मानवता के आधार स्तम्भ' ,, ,,।
५. 'दर्शन और जीवन' ,, ,,।
६. 'देश प्रेम और देश-सेवा' ,, ,,।

लेते हैं। भले ही 'शुरू' और 'ख़याल' अरबी के शब्द हों, किन्तु ये हिन्दी में आकर इतने घुल-मिल गये हैं कि इसकी अपनी सम्पत्ति बन गये हैं और इनके समानान्तर अन्य शब्द ऐसे नहीं, जो उसी अर्थ को शीघ्रता तथा सरलता से पाठकों के लिए प्रस्तुत कर सकें। इस प्रकार की व्यावहारिक भाषा में बाबूजी अँगरेजी की शब्दावली तथा लोकोक्तियों का भी प्रयोग कर लेते हैं—

"(Charity begins at home), दान घरवालों से ही शुरू होता है। इसके साथ केवल इतना ख़याल रखना चाहिए कि यदि हममें अपने दान को व्यापक बनाना है तो हम उसे अपने पास के लोगों में संकुचित न रक्खें; वरन् दूसरों को भी अपने दान से लाभ पहुँचावें।" "आवश्यकता के आगे या पीछे देना निरर्थक है—'का वर्षा जब कृषि सुखाने।'"[1]

व्यावहारिक तथा चलते शीर्षकों पर लिखते समय बाबूजी की वाक्य-रचना भी अपेक्षाकृत कुछ छोटी ही रहती है। वे उस समय विचारों या भावों को छोट-छोटे वाक्यों के माध्यम से ही प्रकट करते हैं—

"जिमींदार गुलछर्रे उड़ाते हैं; और असली अन्नदाता गरीब किसान स्वयं भूखे मरते हैं। इसी कारण समाज में विषमता है, द्वेष है और है गृह-कलह।"[2]

शैली का स्वरूप

स्वर्गीय बाबू गुलाबरायजी ने जहाँ विवेचना-प्रधान उच्च साहित्य की सर्जना की है वहाँ साधारण हास-परिहास-सम्बन्धी लेख भी लिखे हैं। इसका कारण यह है कि वे गम्भीर अध्येता होने के साथ-साथ विनोदशील प्रकृति के भी व्यक्ति थे। उनकी हास-परिहास और व्यंग्यमयी रचनाओं में विचारों की अभिव्यक्ति प्रायः अरबी, फारसी और अँगरेज़ी के शब्दों के माध्यम से हुई है। व्यंग्यात्मक शैली में लेखक ने मुसव्वरी, बाइज्ज़त, गुंजाइश, प्रोग्रेस, ड्राइंगरूम आदि शब्दों का प्रयोग अधिक किया है। व्यंग्यात्मक शैली को और अधिक तीव्र बनाने के लिए लोकोक्तियों का भी पर्याप्त प्रयोग किया गया है। जैसे—

"नौ नगद न तेरह उधार; जान बची लाखों पाये, ऊँट के मुँह में ज़ीरा।"

लेखकों के गद्य विधान में प्रायः तीन प्रकार पाये जाते हैं—(१) वर्णनात्मक (२) भावात्मक (३) विचारात्मक। कुछ कुशल साहित्यकार उक्त तीनों का समन्वय भी आवश्यकतानुसार कर लेते हैं। बाबू गुलाबराय जी की समीक्षा-सामग्री तथा निबन्ध-संग्रह को देखकर यह कहा जा सकता है कि वे विचारात्मक गद्यविधान की ओर अधिक झुके हुए हैं। विचारात्मक निबन्धों में समास शैली की अपेक्षा व्यास शैली ही उन्हें अधिक प्रिय है। इसीलिए बाबूजी एक ही विचार-तथ्य को कई तरह से क्रमशः कई वाक्यों में कहते हैं। महात्मा सूरदास की सख्यभाव की भक्ति के विषय में वे लिखते हैं—

"इनकी भक्ति सख्य भाव की है, कहीं-कहीं तो ये बड़े अक्खड़ बन गये हैं और भगवान् से लड़ने को तैयार हो जाते हैं और कहीं-कहीं इतने दीन हो जाते हैं कि इनकी भक्ति दास्य भाव में

१. 'संपत्ति का सदुपयोग' शीर्षक से।
२. 'पूँजीपतियों का स्वार्थ ही संसार की अशान्ति का कारण' निबन्ध से।

परिणत हो जाती है।"[1]

बाबूजी ने द्विवेदी-युग में साहित्य-सर्जना प्रारम्भ कर दी थी। उनकी शैली में हमें यत्र-तत्र अनुप्रासमयी छटा भी छिटकी हुई मिलती है। जैसे—"भारी भयंकरता भूल जाता है।" .....कोमल कलेवर"। .....प्रेम के प्रज्वलित पुनीत पाठक में पार्थक्य का नाश हो जाता है।" .....दारुण दुःख होता है।"[2] यहाँ तक कि निबन्धों के शीर्षक भी सानुप्रास हैं जैसे—'नर से नारायण' आदि।

'मेरी असफलताएँ' और 'ठलुआ क्लब' के निबन्धों की शैली हास्यपूर्ण एवं विनोदशील है। इतना ही नहीं उनकी गम्भीर आलोचनात्मक शैली में भी विनोद का पुट रहता है। उनका विवेचन कभी अव्यावहारिक संस्कृत तत्समता से बोझिल नहीं होने पाता। विषय गम्भीर होने पर भी बाबूजी की अभिव्यंजना शैली उसे सरस, सरल एवं बोधगम्य बना देती है। साहित्यिक उद्धरणों, मुहावरों और लोकोक्तियों से वर्णित विषय तथा विचार को पाठकों के लिए वे स्पष्ट तो कर ही देते हैं; किन्तु साथ ही उनके तर्क और प्रमाण पाठकों से स्वीकृति भी प्राप्त कर लेते हैं। इस पद्धति से बाबूजी की शैली में अपूर्व बल आ गया है। हिन्दी के तद्भव, देशज तथा व्यावहारिक विदेशी शब्द उनकी शैली में आकर ऐसे सुप्रयुक्त एवं अर्थवाही बन जाते हैं कि पाठक विषय को समझने के साथ-साथ एक चसकदार स्वाद भी लेता चलता है। आचार्य शुक्ल की देन के संबंध में बाबूजी लिखते हैं कि—

"शुक्लजी की यही कमजोरी है और यही सबलता कि जिस बात को वे कहते हैं लगाव-लेस के साथ नहीं कहते। बेपेंदी के लोटे की तरह न हिलते-डुलते हैं और न 'गंगा गये गंगादास और जमुना गये जमुनादास' की बात करते हैं।"[3]

आलोचना की ऐसी उत्तम एवं मसृण शैली, जिनमें तर्क का पर्याप्त पुट रहते हुए भी सरसता है, बाबूजी ही हिन्दी को दे सके हैं। आचार्य हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने बाबूजी के सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि "बाबू गुलाबराय की हास्य-विनोदपूर्ण और गम्भीर आलोचना वाली शैली से हिन्दी-गद्य श्रीसम्पन्न हुआ है।"

हिन्दी के जिन दो प्रसिद्ध आलोचकों के सम्पर्क एवं संसर्ग का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है उनमें प्रथम बाबू गुलाबराय जी थे और द्वितीय हैं डा. नगेन्द्र जी। ये दोनों ही साहित्यकार बहुत सोच-विचार के साथ वाक्य-रचना करने वालों में हैं। ये प्रत्येक वाक्य को लिखकर उस पर पूरा मनन करते हैं कि विचार की अभिव्यक्ति वाक्य से ठीक तरह हो रही है अथवा नहीं। मन गवाही नहीं देता तो उसमें काफी काँट-छाँट करते हैं। साराँश यह है कि लिखते नहीं हैं; रचते हैं। बाबू गुलाबराय जी की रचना-शैली वास्तव में मनन-पूर्वक सुधारी हुई शैली है। अपनी लेखन-प्रणाली के सम्बन्ध में बाबूजी ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं—

---

१. 'सूरदास' शीर्षक निबन्ध से।
२. 'विश्वप्रेम और विश्वसेवा' शीर्षक निबन्ध से।
३. 'हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थ और आचार्य शक्ल की देन', आलोचना, इतिहास विशेषांक, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, अक्टूबर, १९५२ ई., पृ० २९

"मेरी लिखकर बार-बार काटने-छाँटने की आदत है। बोलकर तो वही लिखवा सकता है, जो कभी परिवर्तन नहीं करता। मेरा शील मुझे बोलकर लिखवाने की प्रेरणा नहीं देता। मैं सोचने-विचारने में लीन रहूँ और बेचारा स्टेनो कलम लिये मेरी ओर टुकुर-टुकुर देखता रहे।"[1]

अंगरेज़ी साहित्य के विद्वानों ने निबन्ध को व्यक्तिप्रधान रचना ही माना है। वैयक्तिक निबन्धकारों में बाबूजी का स्थान सर्वोच्च है। मौन्टेन की निबन्ध-शैली अँगरेज़ी में जो स्थान रखती है, ठीक वही स्थान हिन्दी-साहित्य में बाबू गुलाबराय जी की भाषा-शैली का है।
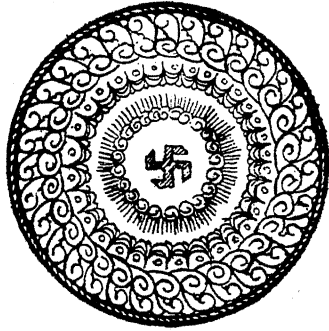
१. डा. विजयेन्द्र स्नातक, साहित्य मनीषी बाबू गुलाबराय, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, दिल्ली, २६ जनवरी ५८ ई., पृ. ४२.

डा० विजयेन्द्र स्नातक

बाबू जी का समन्वयवाद

'जीवेम शरदः शरतम्' को बाबू गुलाबरायजी भारतीय 'एषणा चतुष्टय' कहा करते थे। एषणा त्रय का वर्णन तो शास्त्रों में भरा पड़ा है, किन्तु शतायु होने की इच्छा ऋचा-सम्मत होने के कारण तीनों एषणाओं के मूल में विद्यमान है, ऐसी उनकी धारणा बन गई थी। अपने जन्म-दिन के अवसर पर वह प्रायः इस बात की चर्चा करते थे कि ईश्वर की कृपा से मेरी पुत्रेषणा पूर्ण हुई, मेरे पुत्र योग्य होने के साथ आज्ञाकारी और सेवा-परायण भी हैं। वैश्य कुल में जन्म होने से मैं यह कल्पना कर लेता हूँ कि वित्त से मेरा सम्बन्ध है और वित्तेषणा पूरी न होने पर भी मैं सर्वथा वित्तहीन नहीं हूँ। वैश्य का बैंक में हिसाब होना ही काफी है, बैलेंस होना वित्त की अनिवार्य शर्त मैं नहीं मानता। लोकेषणा की चर्चा बाबूजी बड़े विनोद के साथ किया करते थे। वह प्रायः कहा करते थे कि यश की सीमा नहीं, मापदंड नहीं, उसके शाश्वत या नित्य होने का बोध केवल कालदेवता को है, फिर लोकेषणा की चिन्ता में स्वास्थ्य खराब क्यों किया जाए। हाँ, यशोपार्जन के प्रयत्नों के कभी-कभी अपयश या कटु-तिक्त आलोचना का विषपान करने का अभ्यास अवश्य कर लिया है। शतायु होने को समस्त ऐषणाओं से बड़ा मानता हूँ। स्वास्थ्य के प्रति सजग रहते हुए भी बाबूजी प्रायः अस्वस्थ रहते और शतायुष्य की इच्छा रखते हुए भी ७६ वर्ष की आयु में १३ अप्रैल, १९६३ को वैशाखी पर्व के दिन अपराह्न में ५ बजे उनकी आत्मा इस नश्वर शरीर को छोड़ कर ब्रह्म में लीन हो गई।

बाबूजी की महानता और उदारता के अनेकानेक प्रसंगों में से दो-एक का इस अवसर पर मैं पुण्य-स्मरण करना चाहता हूँ। बाबूजी से मेरा प्रथम परिचय पत्राचार द्वारा हुआ था। सन्

१९४२ में मैंने 'साहित्य-संदेश' में प्रकाशनार्थ एक लेख बाबूजी के 'नवरस' ग्रंथ के विषय में लिखा था। लेख का स्वर प्रशंसा-परक होने से बाबूजी ने उसे वापस करते हुए मुझे पत्र लिखा कि 'अपने सम्पादकत्व में अपनी प्रशंसा छापना शिष्टाचार की मर्यादा का उल्लंघन समझ कर मैं आपका लेख वापस कर रहा हूँ। आप रस-विषयक अन्य प्रश्नों को स्वतंत्र रूप से लिखिए, मैं उन्हें अवश्य छापूंगा।'' यह पत्र-व्यवहार ही मेरे परिचय की आधार-शिला बना। उसके बाद सन् १९४५ में मैं आगरा गया और बाबूजी का अतिथि बना। मैंने अपने आगरा पहुँचने की सूचना बाबूजी को पत्र द्वारा दे दी थी, अतः बाबूजी अपनी कोठी के सामने धूप में बैठे हुए मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। फरवरी का महीना था—धूप बड़ी सुहावनी लग रही थी। बाबूजी ने मुझे पहली बार देखा था—मेरे मंझोले कद को देख कर बोले—'मैं तो 'स्नातक' शब्द के कारण आपको लम्बा-चौड़ा व्यक्ति समझे हुए था। आप तो शरीर से मध्यमवर्गीय अर्थात् मंझोले ही निकले। स्नातक हैं, धूम्रपान क्या करते होंगे, हाँ, धूपपान कीजिए, फिर चायपान उसी के साथ जलपान भी। तदनन्तर केवल पान अर्थात् ताम्बूल।' इस प्रथम सम्भाषण से ही बाबूजी के विनोदी स्वभाव का मुझे पता लग गया। उस दिन आठ-दस घंटे मैं बाबूजी के साथ रहा और साहित्यिक विषयों की डट कर चर्चा होती रही। नए लेखकों को प्रोत्साहित करने के लिए बाबूजी अपनी बात कम कहते और उनकी अधिक सुनते थे। बाबूजी कहा करते थे कि 'मैं अच्छा वक्ता नहीं हूँ। किन्तु अच्छा श्रोता हूँ और कारनेगी ने कहा है कि जो धैर्यवान श्रोता है वही श्रेष्ठ वक्ता भी है।''

बाबूजी के कृतित्व के सम्बन्ध में लेख लिखने का मुझे चार बार अवसर मिला है। चार बार में से तीन बार मैंने बाबूजी की समीक्षा-शैली की कड़ी आलोचना की और तीनों बार बाबूजी का प्रशंसापूर्ण साधुवाद भरा पत्र मुझे मिला। तीनों बार बाबूजी ने मेरे आक्षेपों का संतुलित और समीचीन उत्तर दे कर मेरी आत्मपरक दृष्टि को विषय-परक बनाया। बाबूजी अपनी समीक्षा को समन्वयवादी कहते थे। समन्वय में उनकी अटूट आस्था थी। देशी-विदेशी विद्वानों के मतों में साम्य स्थापित करने के लिए कभी-कभी उन्हें अपनी वैयक्तिक दृष्टि का प्रयोग इस सीमा तक करना पड़ता कि पाठकों को झुंझलाहट होती कि बाबूजी अपनी बात कह रहे हैं या लेखक का मन्तव्य स्थापित कर रहे हैं। त्रुटियों पर उनकी दृष्टि अपेक्षाकृत कम जाती थी और जब जाती थी तब व्यंग्य के आवरण में वह दोष-दर्शन करते थे। मैंने एक बार बाबूजी की समन्वयवादी दृष्टि को नीर-क्षीर विवेकहीन ठहराते हुए कड़े शब्दों में उसकी आलोचना की। मैंने लिखा कि बाबूजी समन्वय के मोह में 'रामायस्वति' और 'रावणाय स्वति' का भेद करना तक विस्मृत कर बैठते हैं। बाबूजी का पत्र मिला कि गाँधीवाद के युग में 'रावणाय स्वस्ति' अपराध नहीं है। राम की स्वस्ति-कामना तो सभी करते हैं, रावण का मंगल यदि मैंने चाहा तो कौन-सा अपराध किया। मैंने समन्वयवादी समीक्षा पर प्रहार करते हुए लिखा था कि समन्वय-साधना में औदार्य और सहानुभूति के अतिरेक से पानी मिला दूध भी शुद्ध समझ लिया जाता है। बाबूजी ने बड़े व्यंग्य के साथ इसका उत्तर दिया कि 'आप को दिल्ली में रह कर शुद्ध दूध टीन के सीलबन्द डिब्बों में मिलता है। डिब्बे का दूध पानी रहित होता है,

अतः शुद्ध है, हम तो ग्वाले से लेते हैं जो जलविहीन दूध बेचना अपने व्यवसाय-धर्म के प्रतिकूल मानता है। यदि उसके साथ हम समन्वय न करें तो दूध से ही वंचित हो जाएँ। साहित्य में भी शुद्ध दूध का व्यवसाय कहाँ होता है। उसमें भी नाना पुराण निगमागम की मिलावट है। यदि मेरी समीक्षा में उस मिलावट की स्वीकृति है तो इसमें आप को त्रुटि क्यों लक्षित होती है।' अपनी समीक्षा के समन्वयवादी दृष्टिकोण पर बाबूजी की टिप्पणी पठनीय है—'मेरा दृष्टिकोण सर्वत्र—और इसलिए आलोचना में भी—समन्वयवादी है। काव्य-कला और साहित्यांगों के विवेचन में मैंने इसी पद्धति को अपनाया है। मैंने अपने ग्रंथों में देशी-विदेशी विद्वानों के मतों का समन्वय करके ही अपनी परिभाषाएँ दी हैं। हमारे प्राचीन साहित्य में धर्म के आध्यात्मिक मूल्यों, अर्थ के भौतिक मूल्यों और काम के सौन्दर्य-सम्बन्धी मूल्यों का समन्वय जीवन का परम लक्ष्य माना गया है। साहित्यिक का कार्य समन्वय और एकीकरण है, विभाजन नहीं। आर्यों का आदर्श भी यही है।' समन्वय-सम्बन्धी मेरे विचारों पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने आज से १४ वर्ष पूर्व बड़ा मृदु व्यंग्य किया था—'आप विभाजन में विश्वास क्यों रखते हैं—हिन्दुस्तान का विभाजन पाकिस्तान के रूप में आपको अच्छा लगता है क्या ! बृजभाषा और खड़ीबोली का विभाजन हिन्दी के लिए श्रेयस्कर है क्या ! सभा-सोसाइटी में मत-विभाजन की परम्परा को आप प्रश्रय देना चाहते हैं क्या ? मैं समन्वय को जीवन का व्यापक धरातल मान कर चलना चाहता हूँ। 'सर्व भवन्तु सुखिनः' समन्वय का स्वर है, जिसका अर्थ दुखी व्यक्ति समझता है और 'सर्व सन्तु निरामयाः' भी समस्त जनता के स्वास्थ्य की मंगल-कामना है, जिसका रहस्य मेरा जैसा रुग्ण व्यक्ति भलीभाँति समझता है।'

जैसाकि हमने पहले भी लिखा है कि बाबूजी की समीक्षा में समन्वय-भावना का प्राधान्य रहता है और समन्वय के लिए वे सिद्धान्तों का उभयपक्षीय विश्लेषण करने की ओर झुके रहते हैं। यह समन्वय समीक्षा में कहाँ तक युक्ति-संगत और स्वीकार्य हो सकता है इस प्रश्न पर विचार करना हम आवश्यक समझते हैं। यदि समन्वय के सभी पहलुओं को दृष्टि में रखकर बाबूजी की समीक्षा-पद्धति का अनुशीलन तथा पर्यालोचन किया जाय तो वही सही मानों में उनकी समीक्षा का मूल्याँकन होगा। हम समन्वय -भावना के सम्बन्ध में पहले बाबूजी का अपना अभिमत प्रस्तुत करके तदनन्तर उसकी विवेचना करेंगे :—

'हमारे प्राचीन साहित्य में धर्म के आध्यात्मिक मूल्यों, अर्थ के भौतिक मूल्यों और काम के सौन्दर्य-सम्बन्धी मूल्यों (Aesthetic values) का समन्वय जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है।····साहित्यिक का कार्य समन्वय और एकत्रीकरण है, विभाजन नहीं। आर्यों का आदर्श भी यही है।'

समन्वय शब्द का प्रयोग ऊपर की पंक्तियों में सिद्धान्तों के समीकरण, विभिन्न मत वादों में अभिन्नत्व या अनेकत्व में एकत्व-स्थापन अथवा साहित्य के विभिन्न प्रेरणा-केन्द्रों का अध्ययन-मनन करके उसमें समानता ढूंढ़ निकालना है। दो विरोधी सिद्धान्तों का समीकरण संभव है, किन्तु उनका सौ फ़ीसदी समन्वय सम्भव नहीं। इसी प्रकार अनेकत्व में एकत्व का सन्धान ही

बौद्धिक प्रखरता से [illegible] सकता है, किन्तु अनेकत्व या भिन्नत्व का अपलाप नहीं किया जा सकता। फलतः समन्वय की प्रवृत्ति लोकहिताय होने पर भी शास्त्रीय तुला पर बावन तोले पाव रत्ती सही नहीं उतरती। दूसरी त्रुटि समन्वयवाद की यह है कि इस शैली को स्वीकार करने से समीक्षक का दृष्टिकोण नीर-क्षीर-विवेकपूर्ण एवं तत्वाभिनिवेशी न होकर समझौते का हो जाता है, जो भले-बुरे दोनों का मेल कराकर संघर्ष को टालने में रहता है। यह समन्वय कभी-कभी 'रामाय स्वस्ति, रावणाय स्वस्ति' की कोटि में पहुंचकर यथार्थ को समझौते के अवगुण्ठन से छिपा लेता है। ऋत और अनृत का एक साथ जय-जयकार करने का अनर्थ भी इसमें सम्भावित रहता है। तीसरा दोष यह है कि दो एकान्त-विरोधी मन्तव्यों या तथ्यों का समन्वय करने के मोह में समीक्षक ज्वलन्त विरोध को नजरअन्दाज कर जाते हैं और वे गवेषणात्मक कोटि के भावक नहीं रहते। समन्वयवाद का चौथा दूषण यह है कि कटुता और स्पष्टवादिता को बचाने के प्रयत्न में समीक्षक नीर-क्षीर-विवेक का अपेक्षाकृत कम ध्यान रखता है। औदार्य और सहानुभूति-तत्व की प्रधानता के कारण पानी-मिला दूध भी शुद्ध समझ लिया जाता है। अब देखना यह है कि क्या बाबूजी ने इस प्रकार के अनर्थ और असंगतियों से बचकर समन्वयवाद को स्वीकार किया है अथवा वे इनमें उलझ गये हैं।

बाबजी की समीक्षा-कृतियों का अनुशीलन इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि सिद्धान्त-पक्ष का प्रतिपादन करने वाले उनके ग्रंथों का समन्वय उपर्युक्त त्रुटियों से प्रायः बचा रहा है। दर्शन-शास्त्र के अध्ययन और उसके यथास्थान प्रयोग ने उन्हें इन दोषों से बचाने में बहुत योग दिया है। उदाहरणार्थ हम उनकी प्रमुख कृति 'सिद्धान्त और अध्ययन' के ऐसे कई स्थलों का निर्देश कर सकते हैं, जहाँ समन्वयात्मक रूप से लिखने पर भी तथ्यों और विरोधों का अनौचित्य-पूर्वक समझौता नहीं किया गया है। 'काव्य और कला' शीर्षक अध्याय में लेखक ने असत्य से समझौता न करके अपना दष्टिकोण सर्वथा स्पष्ट और स्वच्छ रखा है। 'अभिव्यंजनावाद और कलावाद' में तो बाबूजी ने समन्वय का कोई सरल तरीका स्वीकार नहीं किया। आचार्य शुक्ल से अपना मत-विरोध स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है और अन्त में समन्वय के लिए भारतीय दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। क्रोचे के सम्बन्ध में सम्मति प्रकट करने में बड़ी निर्भीकता का परिचय दिया गया है। संक्षप में, सैद्धान्तिक पक्ष में उनका समन्वय सराहनीय और ग्राह्य है।

किन्तु प्रयोगात्मक या व्यावहारिक समीक्षा में बाबूजी की समन्वय भावना दृढ़ भूमि पर अवस्थित नहीं है, और न उनकी स्थापनाओं में बल है। व्याख्यात्मक और निर्णयात्मक समीक्षा-पद्धतियों का समन्वय तो उनकी शैली है, किन्तु काव्य के भाव-पक्ष का उद्घाटन करते समय जहाँ तथ्यों को समन्वय के नाम पर तोड़ा-मरोड़ा गया है, वह आसानी से गले के नीचे नहीं उतारा जा सकता। उदाहरण के लिए 'हिन्दी-काव्य-विमर्श' से हम तीन-चार समीक्षाओं की ओर संकेत करना चाहते हैं। 'विद्यापति का काव्य में स्थान' बताते हुए अन्त में उनके भक्त या शृंगारी कवि होने का बड़ा विचित्र समन्वय हुआ है, जो पाठक को कुछ भी निर्णय करने की क्षमता नहीं देता, 'वे रसिक भक्तों में से थे, कभी भक्ति-भावना प्रबल हो जाती थी और कभी रसिकता का

पल्ला भारी हो जाता था।' आलोचक ने समन्वय तो खूब किया, किन्तु यह कहने का दायित्व अपने ऊपर नहीं लिया कि मूलतः वे क्या थे। इसी प्रकार 'आचार्य कवि केशव' पर लिखने के उपरान्त जो निष्कर्ष निकाले हैं उनमें केशव की 'हृदय-हीनता' के आक्षेप पर कुछ नहीं कहा। उनकी प्रमुख विशेषताओं में उनके भाव-पक्ष की आलोचना की उपेक्षा इसीलिए की है कि समन्वयात्मक दृष्टिकोण के लिए उसमें न्यून अवकाश था। सूर और तुलसी की तुलना में भी समन्वयवादी भावना सफल नहीं हो सकी है। यह ठीक है कि सत्साहित्य में एकता की भावना रहती है, किन्तु व्यक्तिगत रुचि, शैली, अभिव्यक्ति और मान्यताएँ तो सदा रही हैं और रहेंगी, उनमें समन्वय खोजने की प्रवृत्ति मंगलमयी अवश्य है किन्तु न तो वह एकान्त सत्व है और न स्वस्थ प्रवृत्ति ही है।

समन्वयवादी के सामने एकता और अभिन्नता का ध्येय रहता है किन्तु उसे यह नहीं भूल जाना चाहिए कि वह समन्वय के मोह में कहीं राम और रावण का समन्वय तो नहीं कर रहा है। भारतीय संस्कृति समन्वयपरक है, गौतम बुद्ध समन्वयवादी थे, लोकनायक तुलसी भी समन्वयवादी थे और गीता भी भक्ति, ज्ञान और कर्म की समन्वय-चेष्टा से पूर्ण है, किन्तु गौतम बुद्ध को 'ब्राह्मण'-धर्म से प्रत्यक्ष विरोध करके समन्वय को ठुकराना पड़ा। तुलसी को 'रामचरितमानस' में राम-महिमा में ही सब-कुछ प्रतीत हुआ और 'गीता' भी तात्कालिक रूप से कर्म को ही प्रधानता देकर कृत्यकृत्य हुई।

बाबू गुलाबराय जी दार्शनिक कोटि के विचारक थे। साहित्य के राजपथ पर वह दर्शन की पगडंडी से ही आए थे। अतः दर्शन की सूक्ष्मता और तर्क-शीलता उनके साहित्य में आद्योपान्त बनी रही। बाबूजी ने प्रारम्भ में व्यक्तिगत निबंध लिख कर अपनी लेखनी को दर्शन की जटिलता से मुक्त किया। वह कहा करते थे कि 'पाश्चात्य दर्शन-शास्त्र का इतिहास, लिखते समय अपने श्रम के परिहार का सब से अच्छा साधन मुझे व्यक्तिगत निबंध-लेखन से हुआ। यह मेरे प्रारम्भिक निबंधों का ही चमत्कार है कि मैं दर्शन-शास्त्र के बीहड़ वन से निकल कर साहित्य-वाटिका में प्रवेश पा गया और फिर हिन्दी का लेखक, आलोचक और अध्यापक बन बैठा।'

बाबूजी का अपने प्रकाशकों से समन्वयवादी सम्बन्ध रहता था। यह जानते हुए भी कि पुस्तक बिकती है और प्रकाशक रायल्टी नहीं देता, बाबूजी कभी कटु नहीं होते थे। 'नवरस' को छपे जब ३५ वर्ष हो गए और उसके दूसरे संस्करण की नौबत न आई तो बाबूजी ने अपने एक ग्रंथ की भूमिका में मीठी चुटकी ली—'नवरस के दूसरे संस्करण की अभी तक नौबत नहीं आई। मालूम नहीं प्रकाशक महोदय ने उसके पहले संस्करण की कितनी प्रतियाँ छाप डालीं जो खूब बिक्री होने पर भी अभी तक निश्शेष नहीं हुई।' एक प्रकाशक ने उनकी ऐसी पुस्तक छापी जो एक उच्च परीक्षा में पाठ्य-ग्रंथ के रूप में निर्धारित हुई। लगभग दस-बारह हजार परीक्षार्थी होने पर भी पुस्तक की चौदह सौ प्रतियों का हिसाब बाबूजी को मिला। बाबूजी ने मुझे प्रकाशक से मिल कर वस्तु-स्थिति स्पष्ट करने को लिखा। मैं स्थिति क्या स्पष्ट करता। स्थिति तो पहले ही स्पष्ट थी—प्रकाशक महोदय बड़े समन्वयवादी थे। बोले—'हम उखड़े हुए लोग हैं। जो देते हैं सो

बहुत है, बाबूजी तो जमे हुए हैं। बीस जगह समन्वय करते हैं रायल्टी में भी उसी दृष्टि से काम लें।' मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा कि यह प्रकाशक बाबूजी को ठग कर भी ऐंठ से बात करता है। मैंने बाबूजी को जब यह घटना सुनाई तब उन्होंने कहा कि मैं तीन बार प्रयत्न करने में विश्वास रखता हूँ। उस के बाद यदि निराश हुआ तो परिस्थिति से सामंजस्य कर लूंगा। प्रकाशक से समन्वय कैसा। और हुआ भी यही, बाबूजी को उस पुस्तक की रायल्टी का दशांश भी प्राप्त नहीं हुआ। प्रकाशक और लेखक के सम्बन्ध को बाबूजी अनेक अप्रस्तुत विधानों से व्यक्त किया करते थे। उन्हें मैं यहाँ लिखना नहीं चाहता। उनकी धारणा बन गई थी कि अंग्रेजी में एक लेखक का एक प्रकाशक होता है, ऐसी अंग्रेजी की परम्परा है। हिन्दी में एक लेखक के अनेक प्रकाशक और एक प्रकाशक के अनेक लेखक होते हैं। लेखक को किसी एक प्रकाशक के खूंटे से बंध कर नहीं रहना चाहिए। वह कहा करते थे कि पृथ्वी सप्तद्वीपा कहाती है, मेरे प्रकाशक भी 'सप्तप्राँतीय' हैं। मैंने सात प्रान्तों के प्रकाशकों से सम्बन्ध किया, किन्तु यह पृथ्वी मेरे लिए वसुमती सिद्ध न हुई।

बाबू गूलाबरायजी ने लगभग ५० वर्ष तक लेखन-कार्य किया। आलोचना, निबंध, संस्मरण, इतिहास आदि अनेक क्षेत्रों में उनकी कृतियाँ विद्वानों द्वारा समादृत हुईं, किन्तु उनका सामूहिक रूप से अभिनन्दन तो दूर मूल्यांकन भी नहीं किया गया। 'साहित्य-संदेश' ने एक अंक लगभग चार वर्ष पूर्व अभिनन्दन-अंक के नाम से प्रकाशित किया था। किन्तु वह सर्वथा अपर्याप्त था। विश्वविद्यालयों में शोध-कार्य जिस विपुल मात्रा में हो रहा है, उसे देखते हुए बाबूजी सदृश लेखक पर शोध होना नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है। दिल्ली विश्वविद्यालय से श्री देवेन्द्रकुमार जैन ने मेरे निर्देशन में एक शोध-निबंध बाबूजी की निबंध-शैली पर प्रस्तुत किया था, वह प्रकाशित हो गया है। बाबूजी ने उस निबंध की रूप-रेखा देखी थी और उसमें उचित संशोधन भी किए थे।

बाबूजी की सैद्धांतिक समीक्षा की दो पुस्तकों का हिन्दी-जगत में अच्छा सम्मान हुआ। विशेष रूप से अध्ययन-अध्यापन में उनकी ये दो कृतियाँ 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' सभी विश्वविद्यालयों में प्रचार पा गईं। इन दोनों ग्रंथों के प्रकाशन के बाद कई अन्य लेखकों ने इन्हीं के अनुकरण पर समीक्षा-शास्त्र की पुस्तकें लिखीं। एक लेखक ने बाबूजी के ग्रंथ से लगभग १०-१२ पृष्ठ का मैटर उद्धृत कर डाला। जब बाबूजी का ध्यान इस चोरी की ओर आकृष्ट किया गया तो बाबूजी ने मंद मुस्कान के साथ कहा—'यह लेखक महाशय कौन हैं? पुरुष हैं या स्त्री? यदि स्त्री है तो क्षम्य है, यदि स्त्री-वेश में पुरुष है तो भी अवध्य हैं और यदि सच्चे पुरुष हैं तो उनसे प्रार्थना करूंगा कि वह अगले संस्करण में क्षमा-याचनापूर्वक इन पृष्ठों को अपने ग्रंथ से निकाल दें। लेखक से पत्र-व्यवहार के बाद बाबूजी ने उनके विरुद्ध कोई सक्रिय कदम नहीं उठाया। उनका कहना था कि यह साहित्यिक डकैती है और डकैतों से मोर्चा लेना बुद्धिमत्ता नहीं है। अगले संस्करण में हम ही उनका संकेत अपने ग्रंथ में कर देंगे और अपने विषय-प्रतिपादन को अधिक परिष्कृत बना कर नया रूप दे देंगे।'

लेखन को व्यवसाय-रूप में स्वीकृत कर लेने पर भी बाबूजी कभी व्यवसायी लेखक बन नहीं सके। पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर लिखते रहने पर भी कभी उन्होंने पारिश्रमिक का लेखा-जोखा नहीं किया। जिस ने जो कुछ भेज दिया, सहर्ष स्वीकार किया। वह प्रायः कहा करते थे कि लिखते रहना चाहिए, क्योंकि कभी यश से तो कभी अर्थकृतं, कभी व्यवहार विदं तो कभी विशेतर क्षतये का लाभ हो ही जाता है।

डा० कमलाकान्त पाठक
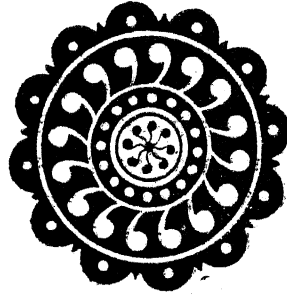
बाबूजी की साहित्य संबंधी मान्यताएँ

बाबू गुलाबरायजी हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में ऐतिहासिक महत्व का कार्य संपादित कर गये हैं। उनका वैशिष्ट्य हिन्दी समीक्षा की विकासशील परंपरा के संवर्द्धन में है। उन्होंने प्राचीन मान्यताओं को ज्ञान के नवीन आलोक में परीक्षित ही नहीं किया, बल्कि पाश्चात्य समीक्षा के सिद्धान्तों को भारतीय काव्य-शास्त्र के साथ समन्वित करने का चिरस्मरणीय प्रयास भी किया। उनकी कालानुसरण की क्षमता का ही यह परिणाम है कि वे नवीन और प्राचीन तथा भारतीय और पाश्चात्य काव्य-दृष्टियों का समाहार कर पाए। इसी कारण उनकी चिन्तन-सरणी इतनी व्यापक हो उठी कि उसके भीतर अनेक मतों या सिद्धान्तों के सारभूत अथवा उपादेय तत्वों का आकलन हो सका। यह उदाराशयी प्रवृत्ति का वह प्रतिफलन है, जिसमें पूर्वाग्रह की सीमाएँ नहीं दिखाई पड़तीं। इसे सारग्राही विचार-पद्धति ही समझना चाहिए। गुलाबरायजी के साहित्य-चिन्तन की यही सहज प्रवृत्ति है।

साहित्य की सारग्राही विचार-पद्धति काव्य-शास्त्र विषयक गंभीर अध्ययन का परिणाम होती है। वह अधीत विषय की संबद्ध ज्ञान के साथ तुलना करती है। विविध मतामतों को वह मननपूर्वक शास्त्रीय संगति देती है। इस प्रक्रिया के अंतर्गत वह विविध सिद्धान्तों को परस्पर पूरक समझने लगती है। पारस्परिक मतभेदों या विरोधों को प्रश्रय न देकर वह प्रत्येक विचार के सत्यांश को ग्रहण करती है। इस प्रकार वह मतवादी भूमिका का परित्याग करती हुई नाना विचारों में साम्य का सूत्र खोज लेती है। सार ग्रहण करते चलने के कारण यह पद्धति विविध मतों की सार्थकता को परीक्षित करती हुई सर्वप्रथम उनकी सार-वत्ता का आकलन करती है,

तब उन्हें संतुलित दृष्टिकोण से समन्वित करने की चेष्टा करती है और अंत में शास्त्र-सम्मत सिद्धान्तों की व्यवस्थित और प्रामाणिक व्याख्या उपस्थित करती है। इस कार्य में वह परंपरा को ढोती ही नहीं है, नई चेतना को आत्मसात् भी करती है। वस्तुतः ऐसा प्रयास किसी भी शास्त्र के पुनर्निर्माण का दिशा-दर्शक होता है। अध्ययन और अध्यापन के कार्य में ऐसे प्रयत्नों का निश्चित महत्व और विशिष्ट उपयोग होता है। मतवादी आग्रहों के अभाव में ऐसी शास्त्र-दृष्टि न केवल निर्भ्रान्ति रह पाती है, बल्कि प्रामाणिक या विश्वसनीय भी होती है। यह निगमन शैली में अपने वे निष्कर्ष उपस्थित कर देती है, जो अध्ययन के क्षेत्र को उद्भासित करते हैं और और जिज्ञासुओं को उपादेय ज्ञान होते हैं। यह कार्य-पद्धति व्याख्याकार आचार्यों की शास्त्र-रचना की शैली से अत्यधिक साम्य रखती है।

पर सार-ग्रहण की शैली वस्तुतः समन्वयशील होती है। ज्ञान के विस्तार और विकास के साथ-साथ समय समय पर उसका सिंहावलोकन करते रहने की आवश्यकता हुआ करती है। यह समन्वयशील साहित्य-दृष्टि उपलब्ध ज्ञान का यथोचित संचयन, उपस्थापन और विश्लेषण करती है। इसका महत्व है बहुमुखी चिन्तन का संग्रह करने में, जो विविध सिद्धान्तों की मर्यादा स्थिर करता है, उनके अभावों को परखता है तथा उनके उपादेय तत्वों या मूल्यवान अंशों को खोज निकालता है। इसी कारण गुलाबरायजी को समन्वयवादी समीक्षक कहा गया है। किन्तु समन्वय कोई सिद्धान्त नहीं है, वह दिशा या प्रवृत्ति है। दृष्टिकोण ही व्यापक या एकाँगी अथवा समन्वयशील या संकीर्ण होता है, सिद्धान्त नहीं। गुलाबरायजी ने किसी नए सिद्धान्त का उपस्थापन नहीं किया। उन्होंने नई व्याख्या या नया विवेचन भी प्रस्तुत नहीं किया। वे रसवादी विचारक हैं, पर उन्होंने उसका भी आग्रहपूर्वक प्रतिपादन नहीं किया। इसीलिए उनका चिन्तन समन्वय का आधार अपना पाया।

जब समन्वयशीलता मात्र प्रवृत्ति है, सिद्धान्त नहीं, तब गुलाबरायजी का साहित्यिक महत्व सिद्ध कर पाने में स्वभावतः कठिनाई अनुभव होने लगती है। वे किसी नए मत या विचार के उद्भावक नहीं हैं। वे सारग्राही मनोवृत्ति के उदारशयी समीक्षक हैं। उन्होंने अतिशय व्यापक दृष्टिकोण रखा और पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर समीक्षा-कार्य किया। सैद्धान्तिक ग्रंथों के रचयिता होते हुए भी वे व्याख्याकार आचार्य हैं। उनकी समीक्षा-शैली को अध्यापकीय आलोचना की शैली कहा गया है, पर इसी कारण वे लोकप्रिय समीक्षक रहे हैं। गुलाबरायजी का महत्व दो दृष्टियों से आँका जाना चाहिये। प्रथमतः उन्होंने भारतीय काव्य-चिन्तन और पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तों को समतुल्य महत्व की वस्तु माना। हिन्दी समीक्षा का नवीन विकास वस्तुतः संस्कृत के काव्य-शास्त्र को उपजीव्य बनाकर अग्रसर हुआ, पर उसमें क्रमशः पाश्चात्य समीक्षा, विज्ञान और दर्शन के तत्व भी संयोजित होते गए। गुलाबरायजी ने इस प्रवृत्ति को भलीभाँति पहचाना और हिन्दी समीक्षा की स्वाभाविक गति को सक्षम बनाया। द्वितीयतः उन्होंने विविध मतों और सिद्धान्तों का तत्व-निरूपण करते हुए वस्तुनिष्ट विवेचन की अनाग्रही पद्धति अपनाई। यह अविरोध की भावना की उपज है और समन्वय इसका परिणाम है। अतएव गुलाबरायजी के साहित्य-चिन्तन का महत्व नव्य दृष्टि और नवीन उपलब्धि

में नहीं है, किन्तु वह स्वच्छ दृष्टि और निर्भ्रान्त उपस्थापन की शास्त्रीय मर्यादा में निदर्शित होता है। हिन्दी समीक्षा की विशिष्ट स्थिति के अंतर्गत ही यह स्थान अपना ऐतिहासिक महत्व स्पष्ट कर पाता है। भिन्न अवस्था और पृथक् परिस्थिति में यही कार्य इसी मूल्य का अधिकारी न हो पाता। संप्रति जिसे शास्त्रीय या एकेडेमिक समीक्षा कहकर नई साहित्य चेतना से शन्य समझा जाने लगा है, उसी प्रवृत्ति विशेष का आरोप गुलाबरायजी के चिन्तन और कार्य पर स्वभावतः हो जाता है, पर यह आरोप न केवल एकांगी वैचारिकता का परिचायक है, बल्कि अर्द्धसत्य भी है। उन्होंने जिस नई चेतना को ग्रहण किया था, उसे वे परंपरा में अंतर्भुक्त भी कर सके थे। इसे प्रमाणित करने के लिए रस-सिद्धान्त की उनकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या ही पर्याप्त होगी।

कालक्रम की दृष्टि से गुलाबरायजी शुक्ल युग के साहित्य-चिन्तक हैं। इसका आशय यह नहीं है कि वे शुक्लजी के अनुयायी हैं। अवश्य ही भारतीय जीवनादर्शों की नैतिक चेतना को उन्होंने ग्रहण किया था। परवर्ती आलोचना की तुलना में वे इसी कारण शुक्लजी के अधिक समीप हैं, पर उनकी चिन्तन-प्रक्रिया का भिन्न स्वरूप और पृथक् आशय है। वे रसवादी समीक्षक हैं और इस क्षेत्र में भी शुक्लजी के सन्निकट हैं। पर उनके चिन्तन की दिशाएँ और सीमाएँ पार्थक्य-बोधक अधिक हैं। जहाँ शुक्लजी की तेजस्विता और प्रखरता उन्हें युग-प्रवर्तक आचार्य के पद पर अधिष्ठित करती है, वहाँ गुलाबरायजी की सारग्राही प्रवृत्ति और संतुलित साहित्य-दृष्टि उन्हें समन्वयशील समीक्षक का पद-गौरव ही प्रदान करती है। साहित्य की सूक्ष्म परीक्षा करते हुए उन्होंने निजी दृष्टिकोण और अपनी मान्यताओं को विश्लिष्ट नहीं किया। उन्होंने नवीन चिन्तन से उपलब्ध सैद्धान्तिक धारणा या साहित्य-संबंधी गहरी विचारणा की साग्रह स्थापना भी नहीं की। उन्होंने अपेक्षाकृत समतल भूमि पर ही अधिक कार्य किया। भारतीय और पाश्चात्य, नवीन और प्राचीन, नीतिवादी और कलावादी, वास्तविकता और कल्पना आदि के संबंधित विविध मतों को समन्वित करने का उन्होंने प्रयास किया। अतएव उन्होंने ज्ञान का दोहन किया, उसका संस्थापन या आरोपण नहीं। वे भारतीय समीक्षा और विशेषतः उसके रसमत से प्रभावित हैं। पर उन्होंने अपने मंतव्य को सर्वत्र निष्कर्ष के रूप में ही उपस्थित किया। उनका महत्वपूर्ण कार्य यह है कि उन्होंने पाश्चात्य समीक्षा और विशेषतः मनोविज्ञान का भारतीय काव्य-शास्त्र और मुख्यतः रस-सिद्धान्त के साथ युगपत् संबंध स्थापित किया। शुक्लजी ने अपने मत की पुष्टि के लिये पश्चिमी ज्ञान का आलोक ग्रहण किया, श्यामसुंदरदासजी ने स्वस्थ चित्त होकर उसका आकलन भी किया, पर गुलाबरायजी ने किंचित् आगे बढ़कर हिन्दी समीक्षा के साथ पश्चिम के काव्यशास्त्र को समन्वित करने की चेष्टा भी की। हिन्दी समीक्षा के विकास में उनके इस प्रदेय का अपना महत्व है।

पर इसी कारण उनकी समीक्षा की कतिपय सीमाएँ भी हैं। किसी नए दृष्टिकोण या नवीन चिन्तन को स्पष्ट करने की ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं हो पाई। साहित्य के सूक्ष्म परीक्षण के क्षेत्र में भी उन्होंने बहुत कम कार्य किया। उन्होंने सभी प्रकार के मतवादों में थोड़ा बहुत तत्व खोज निकाला और उसी को संपादित कर अपना साहित्य-दर्शन उपस्थित किया। मैं

गमझता हूँ कि रसमत में उनकी गहरी आस्था थी,पर उसे भी बलपूर्वक सिद्ध या प्रतिपादित नहीं किया गया। वह उनके चिन्तन की उपलब्धि है, वैचारिक निष्कर्ष है, प्रतिबद्धता या प्रतिज्ञा नहीं।

अस्तु, गुलाबरायजी को शुक्ल-युग का पंडित समीक्षक, उनके साहित्य चिन्तन को शास्त्रा-लोड़न का नवनीत और उनके मंतव्यों को व्याख्याकार आचार्य का निष्कर्ष समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि यद्यपि गुलाबरायजी ने किसी नए मतवाद को न जन्म दिया, न पोषित किया, न अपनी अभिनव व्याख्याओं से हमें चौंकाया, तो भी उनका साहित्य चिन्तन हिन्दी समीक्षा की विकासोन्मुख प्रवृत्ति को गतिशील बनाए रखने में कृतकार्य हुआ। यह आवश्यक है कि हम उनके विचारों को जानें और समझें। साहित्य का शास्त्रीय विवेचन करते हुए उन्होंने अनेक मतों पर प्रकाश डाला, विस्मृत तथ्यों का उद्‌घाटन किया तथा शास्त्र-चिन्तन को नए ढंग का संतुलन दिया। आधुनिक समीक्षकों की तुलना में वे सबसे अधिक संतुलित विचारक हैं। संतुलित चिंतक का दृष्टिकोण व्यापक होता है, ऊँचा या गहरा नहीं। वह शान्त प्रवृत्ति का परिचायक है, उत्साहमयी प्रखरता का द्योतक नहीं। गुलाबरायजी ने अपने साहित्य-शास्त्र विषयक ग्रंथों में इसी संतुलित दृष्टि का निरंतर उपयोग किया। फलतः उनके वक्तव्य मतभेदों की तीव्रता को संयत कर लेते हैं। वे प्रायः स्वतंत्र चिन्तन की निर्विरोध परिणति होते हैं। नए का जितना महत्व होता है, संतुलन का मूल्य उससे घटकर नहीं होता, क्योंकि वही भावी विकास का आधार होता है। गुलाबरायजी की संतुलित विचार-दृष्टि और समन्वयशील चिन्तन प्रवृत्ति का यहाँ थोड़े विस्तार में विवेचन कर लेना उपादेय होगा, अन्यथा उनके विचारों के गाँभीर्य को सतही वस्तु और कार्य की गुरुता को साधारणता समझ लेने की हम भूल कर बैठेंगे।

गुलाबरायजी ने साहित्य के सैद्धान्तिक पक्ष से संबंधित कई ग्रंथ लिखे हैं, यथा—'सिद्धान्त और अध्ययन,' 'काव्य के रूप,' 'नवरस'। रहस्यवाद के संबंध में उन्होंने एक पुस्तक लिखी है और व्यवहारिक समीक्षा विषयक अनेक रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। हमें यहाँ काव्य अथवा साहित्य के संबंध में प्रकट किए गए उनके विचारों की छानबीन में ही प्रवृत्त होना चाहिए। यह स्मरण रखना होगा कि गुलाबरायजी की साहित्य-संबंधी मान्यताएँ अविरोध की भावना, अच्छाई देखने की प्रवृत्ति और वैविध्य में अंतर्निहित एकता की खोज करने का परि-णाम हैं। अतएव ये विवादास्पद कम और विश्वसनीय अधिक हैं। ये तर्कबुद्धि से अनुस्यूत होकर अध्ययन के आधार पर संगठित होती हैं, अतएव अप्रामाणिक नहीं हो पातीं। इस साहित्य-चिन्तन की मूलवर्ती चेतना सांस्कृतिक है, मनोविज्ञान में इसकी संवृक्ति है तथा लेखक की दार्श-निक मनोवृत्ति के कारण यह तत्वान्वेषण में परिणति पाती है।

"नवरस" ग्रंथ के अंतर्गत सर्वप्रथम गुलाबरायजी ने साहित्यिकों को इस प्रकार उद्‌बुद्ध किया था—"कवियों के लिए यह आवश्यक है कि वह जनता की रुचि के अनुकूल चलते हुए उसको उच्च बनाने का उद्योग कर एवं नई-नई परिस्थिति तथा आवश्यकता को देखकर उसके अनुकूल भावों को सहृदयता के साथ व्यक्त कर अपनी तथा अपने जातीय साहित्य की सजीवता का परिचय दें। साहित्य जीवन पदार्थों की भाँति बढ़ता है। यदि हम अपना क्षेत्र प्राचीन विषयों

में ही संकुचित रखते हैं तो हम उसे बंधे हुए पानी की भाँति दूषित कर देंगे। प्राचीन कवियों का आदर करते हुए उनकी अनुकरणीय बातों का अनुकरण करते हुए नवीन और उत्तरोत्तर वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति सत्साहित्य द्वारा करना प्रत्येक विचारशील मनुष्य का कर्तव्य है। सत्साहित्य की उन्नति तथा वृद्धि में देश, जाति एवं व्यक्ति का कल्याण है।" इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि प्रायः पैंतीस वर्ष पूर्व गुलाबरायजी ने कवियों को जो संदेश दिया था, वह उनकी तत्कालीन मनस्थिति का ज्ञापक है। वे परंपरा और नवीनता में तारतम्य स्थापित करते हुए साहित्य को लोक-कल्याण का साधन बनाना चाहते हैं। उन्हें साहित्य के अंतर्गत नैतिक चेतना की अपेक्षा है, पर वे रचना-कार्य को विकासोन्मुख बनाना चाहते हैं, रूढ़ या परंपराबद्ध नहीं। उन्होंने साहित्यिक जड़ता का तिरस्कार किया है और सत्साहित्य की अभ्यर्थना की है। यह उनकी मूलवर्ती विचार-दृष्टि है, जिसका क्रमशः परिष्कार और विकास हुआ है। उनके साहित्य-चिन्तन के आरंभिक स्वरूप की यहाँ स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है। गुलाबरायजी के साहित्य-दर्शन को समझने में उनका यह कथन प्रस्थान-बिंदु की भाँति उपादेय सिद्ध होगा।

काव्य की आत्मा के संबंध में विचार करते हुए रस को ही प्रधानता दी गई है, पर गुलाबरायजी की चिन्तन-प्रक्रिया सभी मतों का सार-ग्रहण भी करती गई है। अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि को वे मुख्यतः अभिव्यक्ति के सौंदर्य से संबंधित समझते हैं। रस और ध्वनि को उन्होंने समान्वित रूप में स्वीकार किया है, किन्तु ध्वनि का संबंध कृति विशेष के साथ होने के कारण वह उन्हें काव्य की पूर्ण व्याख्या नहीं जान पड़ी। कर्त्ता, कृति और पाठक तीनों में समान महत्व पाने के कारण उन्होंने रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। रस के आस्वादन या तज्जन्य आनंद को वे उसका निजी रूप मानते हैं। उन्होंने उसे रमणीयता का चरम लक्ष्य और अर्थस्वरूपा ध्वनि का विश्राम-स्थल कहा है। स्पष्टतः गुलाबराय जी समन्वित उपलब्धि के रूप में रस को काव्य की आत्मा मानते हैं। वे अभिव्यक्ति के सौंदर्य या अर्थ की ध्वनि का लक्ष्य भी रस को ही स्वीकार करते हैं। इस प्रकार वे किसी भी मत का खंडन नहीं करते, बल्कि उसके उपादेय तत्व की खोज कर लेते हैं, जिसे रस-मत में अंतर्भुक्त कर लेने का सक्षम प्रयास हुआ है। पूर्वाचार्यों की मान्यताओं के संदर्भ में यह कार्य सहज साध्य ही था। रस का महत्व उसकी त्रिविध व्याप्ति के कारण है और उसके अन्तर्गत अन्यान्य मतों का अंतर्भाव कर लिया गया है। यह विरोध या समर्थन नहीं, मात्र समन्वय है। साहित्य शब्द में सहित का भाव उन्हें समन्वय-बुद्धि का परिचायक ज्ञात हुआ है। यहाँ विषय का उपपादन करने की स्पष्टता ही नहीं, विवेचन की समन्वय-कारिणी दृष्टि भी है।

काव्य की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए गुलाबरायजी नाना मत-मतान्तरों की परीक्षा करते हैं। वे काव्य को अनुभूति तथा अभिव्यक्ति अथवा भाव पक्ष और कला पक्ष के रूप में विभाजित कर लेते हैं। वे इन दोनों पक्षों को महत्वपूर्ण मानते हैं और परस्पर संबद्ध भी, पर मुख्यता भाव पक्ष को ही देते हैं। इसका कारण यह है कि वे रस को काव्य की आत्मा मानते हैं और रस का भावपक्ष के साथ अविच्छेद्य संबंध है। उनकी दृष्टि में भाव और कला के विभागों का महत्व है अवश्य, पर भारतीय विचारक भीतरी तत्व को प्रधानता देते हैं और पाश्चात्य

चिन्तकों ने बाहरी तत्व पर विशष बल दिया है। दोनों तत्व एक दूसरे के आश्रित नहीं हैं, परस्पर पूरक हैं, विरोधी नहीं, यथा—'गिरा अर्थ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न'। किन्तु गुलाबरायजी ने भारतीय धारणा के अनुसार भाव तत्व को ही काव्य का मूल तत्व माना है, पर उन्होंने कल्पना, बुद्धि और शैली के तत्वों की भी सहृदयतापूर्वक विवेचना की है। भाव और कल्पना के तत्वों को उन्होंने क्रमशः सौंदर्य के आंतरिक और विषयगत पक्षों से संबंधित रखा है। सत्यं और शिवं का संबंध वे काव्य के अंतवर्ती बुद्धि तत्व से जोड़ते हैं। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का विस्तार करते हुए वे काव्य को "संसार के प्रति कवि की भाव-प्रधान किन्तु क्षुद्र वैयक्तिक संबंधों से मुक्त, मानसिक प्रतिक्रियाओं की कल्पना के साँचे में ढली हुई श्रेय की प्रेय-रूपा प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति मानते हैं। इस परिभाषा का मूल आधार रस-सिद्धान्त ही है। इसमें अनुभूति, कल्पना, बुद्धि और शैली या काव्य तत्वों का प्रसंगतः निर्देश हो गया है। श्रेय और प्रेय के एकीकरण द्वारा यहाँ उपयोग और आनंद अथवा शिव और सुंदर विषयक काव्य-मूल्यों को भी समन्वित कर लिया गया है। अभिव्यक्ति को प्रभावोत्पादक बनाकर रीति, वक्रोक्ति, गुण, अलंकार, शब्द-शक्ति आदि शैली के प्रसाधनों की यहाँ आवश्यकता स्पष्ट की गई है। 'भाव प्रधान' पद काव्य की रसवत्ता को ज्ञापित करता है तथा संसार के प्रति उत्पन्न होने-वाली 'मानसिक प्रतिक्रियाओं' के अंतर्गत जीवन के सत्य से प्रभावित हमारी बौद्धिक सजगता या सक्रियता भी सम्मिलित हो जाती है। अस्तु, यह परिभाषा समन्वयशील संतुलित चिन्तन का श्रेष्ठ उदाहरण है। इसमें काव्य के तत्वों का आकलन ही नहीं हुआ, बल्कि सत्यं, शिवं और सुन्दरं का एकीकरण और नाना काव्यमतों का समन्वय भी कर लिया गया। निश्चय ही यहाँ रसमत को सर्वातिशयी सिद्धान्त सिद्ध किया गया है। इस परिभाषा में चिन्तन की स्थूल रेखाएँ पूर्णतः स्पष्ट हैं। कहीं भी विषय, मत या विचार विशेष के सूक्ष्म किंवा तलस्पर्शी विवेचन या वैचारिक ऊहापोह में लेखक नहीं पड़ा। उसने कोई नई दृष्टि भी नहीं देनी चाही। वह सम्यक् दृष्टि पर ही बल दे पाया। यहाँ यदि कोई विनम्र आग्रह है तो वह भारतीय चिन्तन सरणी-विषयक है, जिसका संबंध भी रस-सिद्धान्त से है, किसी विरोधी मतवाद से नहीं। गुलाबरायजी की रस-सिद्धान्त में आस्था इसलिए है कि वही एक ऐसा सिद्धान्त है, जिसके भीतर सभी मतों, वादों या सिद्धान्तों को यथावश्यक महत्व दिया जा सकता है। रस-सिद्धान्त की व्याप्ति ही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। वह उनके आत्मवादी दर्शन की तर्कसिद्ध परिणति भी है। इसीलिए वह गुलाबरायजी के समन्वयशील चिन्तन का मूलाधार है।

उन्होंने साहित्य का विभाजन ज्ञान-प्रधान और भाव-प्रधान वर्गों में किया है। ज्ञान-प्रधान साहित्य शास्त्र या विज्ञान है। रस-प्रधान साहित्य ही काव्य है। वही संकुचित अर्थ में साहित्य है। इस प्रकार रस ही काव्य या साहित्य का मूलतत्व निश्चित होता है। कदा-चित् इसी कारण काव्य-रूपों का निरूपण करते हुए गुलाबरायजी ने गद्य की विधाओं के अंतर्गत भाव या रस की स्थिति का भी प्रासंगिक निर्देश कर दिया है।

साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए वे 'सहितस्य भावं साहित्यम्' का उल्लेख करते हैं। उनके निकट 'साहित्य' का आशय शब्द और अर्थ की पारस्परिक अनुकूलता तो है ही, वह 'हितेन

सह सहितम्' भी है। साहित्य न केवल अनुभूति और अभिव्यक्ति का सामंजस्य है, वरन् वह मानव हित का संपादन भी है। हित वह है, जिससे कोई लाभ हो। गुलाबरायजी ने आनंद और उपयोग की अथवा साहित्य के सौष्ठव और उसके प्रभाव से निष्पन्न लोक-मंगल की उभय दृष्टियों को यहाँ समन्वित कर लिया है। अतएव उन्होंने साहित्य की परिभाषा इस प्रकार भी की है कि वह 'संसार के प्रति हमारी मानसिक प्रतिक्रिया अर्थात् विचारों, भावों और संकल्पों की शाब्दिक अभिव्यक्ति है और वह हमारे किसी न किसी प्रकार के हित का साधन करने के कारण संरक्षणीय हो जाती है।' पूर्वोक्त परिभाषा में "श्रेय की प्रेयरूपा अभिव्यक्ति" कहकर यही प्रयोजन सिद्ध किया गया है। 'सत्यं शिवं सुंदरम्' को साहित्य का मानदंड समझने की प्रवृत्ति हमारे यहाँ सक्रिय हुई थी। गुलाबरायजी ने उसे अपने दृष्टिकोण से स्वीकार किया है। इस दूसरी परिभाषा के विचार, भाव और संकल्प का संबंध क्रमशः सत्य, सुन्दर और शिव के साथ सुस्थिर है ही।' 'मानसिक प्रतिक्रिया' कहकर रचना-कार्य की मनोवैज्ञानिक स्थिति का निर्देश किया गया है। यहाँ काव्य का मूल तत्व रस है, अर्थात् उसका लक्ष्य आनंद है। गुलाबरायजी ने इसी आनंद को लोक-मंगल की धारणा के साथ संयुक्त कर लिया है। यद्यपि ये दो विरोधी विचारधाराएँ हैं और साहित्य की चरितार्थता मात्र श्रेयत्व नहीं है, इसी कारण नीतिविद् या लोकद्रष्टा इस श्रेयस् को प्रेयत्व या आनंद में अध्यव्यसित कर प्रायः अपना काव्यादर्श उपस्थित करते आए हैं। गुलाबरायजी ने यही दृष्टिकोण अपनाया है। यह उनकी समन्वय-शील प्रवृत्ति से मेल भी खाता है।

मुझे लोकहित का संपादन प्रासंगिक कवि-कर्म ज्ञात होता है। मैं उसे साहित्य का अतिरिक्त और तत्कालीन मूल्य समझता हूँ। आनंद जैसे चिन्मय तत्व की उपलब्धि के पश्चात् लोकहित जैसे स्थूल तत्व की स्थिति ही विनष्ट हो जाती है। वह तो आनंद के भीतर अपने आप ही मौजूद है। वह अतीन्द्रिय वस्तु है, अतः सत् और असत् या उपयोगी और अनुपयोगी सरणियों में विभक्त ही नहीं हो सकता। यह तो रस-चेतना की विषेयतर सत्ता को निम्न स्तर पर ले आकर लोक-हित को विषय-निष्ठता के साथ संग्रथित कर देना होगा। यह अनमेल विवाह जान पड़ेगा। साधारणीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप लोक-हित तो अपने आप संरक्षित है, जिसे तात्विक दृष्टि से इसके साथ पृथक् रूप में अंगाँगी भाव से संबंधित रखना व्यर्थ होगा। लोक-हित को कविता का विषय चाहे बनाइये, पर ऊपर से उसे लाद देने की आवश्यकता ही क्या है? इस संयोजना से यह सूत्र भी प्रकट होगा कि रस-निष्पत्ति के लिए लोक-मंगल संबंधी विषय या विचार अनिवार्य तथा अपरिहार्य नहीं हैं। संभवतः किसी भी लोकहितवादी या मानवतावादी विचारक की यह स्थापना नहीं है, पर उनके अंतर्मन में इस खतरे का सम्यक् बोध अवश्य है। रस को आस्वाद्य बनाने का कार्य साहित्य करता है, पर प्रत्येक रचना में सबकी भलाई का भाव भरने का कार्य उसका प्रकृत क्षेत्र नहीं है। वह नीति का विषय है और रस का वह अनिवार्य या नित्य लक्षण नहीं है। यहाँ गुलाबरायजी ने इन दोनों को परस्पर पूरक बनाकर, बिना किसी व्यतिरेक के, समन्वित कर लिया है।

उन्होंने कला को काव्य के साथ अनन्य रूप में संबंधित माना है। हमारे यहाँ कला का

व्यावहारिक विवेचन अधिक हुआ और पाश्चात्य देशों में उसका सैद्धान्तिक विवेचन अधिक किया गया। हमारे यहाँ काव्य का विवेचन मुख्यतः रस और भाव की दृष्टि से किया गया, अतएव कला की वस्तुसत्ता को अपेक्षाकृत गौण महत्व प्राप्त हुआ। पाश्चात्य देशों में काव्य को भी कलाओं की अनुकृति-प्रधान दृष्टि से देखा गया। इसी से वहाँ काव्य को ललित कला का भेद माना गया। काव्य 'अनन्य परतंत्र' अथवा भावाश्रित रचना कार्य है। वह मूर्त आधार से स्वतंत्र भी है, इसीलिए हीगेल ने उसे सर्वोत्कृष्ट कला माना है। आशय यह है कि काव्य और कला को दृष्टिभेद के कारण पृथक्-पृथक् समझा गया है। गुलाबरायजी ने प्रकृति और मानव के पारस्परिक सामंजस्य की आवश्यकता अनुभव की है, क्योंकि कला जीवन या प्रकृति के संपर्क की मानसिक प्रतिक्रिया का परिणाम होती है। साहित्य की भाँति कला के संबंध में भी सौंदर्य और हित अथवा प्रेय और श्रेय के समन्वय की धारणा प्रतिपादित की गई है। इस संदर्भ में गुलाबरायजी की कला की परिभाषा द्रष्टव्य है, यथा—"कला कलाकार के आनंद की श्रेय और प्रेय तथा आदर्श और यथार्थ को समन्वित करनेवाली प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है।"

गुलाबरायजी ने यहाँ अपनी साहित्य-विषयक परिभाषा को ही आवश्यक हेर-फेर के साथ दोहरा दिया है। आदर्श और यथार्थ को भी इसमें समन्वित कर लिया गया है। ये दोनों दर्शन प्रकार जीवन को समझने और उसके सत्य को ग्रहण करने के दृष्टिकोण हैं। कहीं जीवन के वस्तु-सत्य को ही पूर्ण सत्य मान लिया जाता है और कहीं उसके संभाव्य रूप की धारणा भी बनाई जाती है। दोनों को समन्वित कर लेने पर हम आदर्शवादी ही हो पाएँगे, समन्वयवादी नहीं। यथार्थवादी तो पदार्थ जगत् की वास्तविकता, उसकी गति या क्रिया आदि को महत्व-पूर्ण समझता है। तात्विक भूमिका पर ये दोनों दृष्टियाँ क्रमशः आत्मवादी और वस्तुवादी जीवन-दर्शन की परिणतियाँ ही हैं, अतएव इनका विरोध आत्यंतिक है, सापेक्षिक नहीं। जो हो, व्यावहारिक भूमिका पर प्रत्यक्ष वस्तु-व्यापारों को ग्रहण करते हुये जीवन के आदर्श पक्ष या श्रेयरूप की नियोजना करना उपादेय नहीं है, रस सृष्टि में सहायक भी है। ऐसे चित्रणों के अंतर्गत कल्पना और वास्तविकता का विभेद अप्रत्यक्ष हो जाता है और काव्य-रचना या कला-सृष्टि संवेद्य बन जाती है। काव्य और कला एक ही प्रकार का रचना-व्यापार है, पर भिन्न संस्कृतियों ने उसे पृथक्-पृथक् दृष्टिकोणों से देखकर अलग-अलग परिणाम निकाले हैं। गुलाबरायजी ने यह अनुभव किया है कि विषय-प्रधान दृष्टि की अपेक्षा भाव-प्रधान दृष्टि अधिक उपादेय है। विषय-प्रधान दृष्टि कला के सौंदर्य का विवेचन करती है और भाव-प्रधान दृष्टि काव्य के रस का निरूपण। इस प्रकार वे भारतीय धारणा का ही समर्थन करते जान पड़ते हैं, पर पाश्चात्य विचारणा के सारतत्व को उन्होंने स्वीकार भी किया है।

गुलाबरायजी ने साहित्य की मूल प्रेरणाओं का विवेचन करते हुए भारतीय तथा पाश्चात्य मतों की एक लंबी उद्धरणी उपस्थित की है। उन्होंने अपना जो निष्कर्ष निकाला है, वह उनकी आदर्शवादी नैतिक चेतना के अनुरूप है। वे समझते हैं कि काव्य मुख्यतः आत्मार्थ ही रचा जाता है, अतएव वही उसका मूल प्रयोजन है। उसे वे लोक-हित का आधार भी मानते हैं। यश, अर्थ, यौन-संबंध, या काम-प्रवृत्ति आदि प्रयोजन आत्मार्थ के ही नीचे या ऊँचे स्तर हैं। रस या

आनंद लेखक और पाठक दोनों का प्रेरक तत्व है, पर आत्मा की व्यापक से व्यापक और अधिक से अधिक संपन्न अनुभूति में सहायक होनेवाला प्रयोजन ही उन्हें सर्वोत्कृष्ट ज्ञात हुआ है। उन्होंने प्रायः सभी प्रसिद्ध या निर्दिष्ट प्रयोजनों का उल्लेख करते हुए अविरोधी भाव से उनको काव्य-रचना का प्रेरक तत्व स्वीकार कर लिया है, पर काम्य वस्तु उसी को माना है जो एक के परितोष को लोक का हित बना दे अथवा व्यष्टि भाव को समष्टि चेतना से संपन्न कर दे।

काव्य हेतुओं की चर्चा के अंतर्गत भी गुलाबरायजी भारतीय तथा पाश्चात्य विचारकों के मतों को उद्धृत करते गए हैं। प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास के अतिरिक्त उन्होंने मौलिकता के प्रश्न की भी छानबीन की है। वे नवीनता को ही काम्य समझते हैं, क्योंकि मौलिकता तो प्रायः पकड़ में न आ पाने वाली वस्तु होती है। भावयित्री और कारयित्री प्रतिभा का अन्तर करते हुए उन्होंने रुचि और प्रतिभा का भेद स्पष्ट किया है। रुचि ही भावयित्री प्रतिभा है और यदि वह लोकरुचि से अभिन्न हो जाय तो वही प्रायः शास्त्रीय रुचि भी बन जाती है। कार-यित्री प्रतिभा ही कवि-प्रतिभा होती है। वही काव्य-रचना में प्रवृत्त होती है। इस प्रसंग में किया गया नवीनता और मौलिकता का पार्थक्य तथा रुचि और प्रतिभा का अन्तर गुलाबरायजी की गहरी सूझबूझ का परिचायक है। इसी प्रकार मनोविज्ञान और पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के आधार पर उन्होंने स्वप्न और कल्पना का सुविस्तृत प्रामाणिक विवरण उपस्थित किया है। साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में उन्होंने नए विचारों और विविध विषयों को ही स्वीकार नहीं किया, बल्कि उनका साधिकार विश्लेषण किया और यथास्थान अपने निष्कर्ष भी प्रस्तुत किए, जैसे स्वप्न और प्रतिभा के अंतर का निरूपण अथवा स्वप्न के स्वरूप और कवि की कल्पना का विवेचन।

गुलाबरायजी साहित्य और समाज को अन्योन्याश्रित मानते हैं। दोनों ही एक-दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। इसी कारण उन्होंने यथार्थ की आदर्श-रहित स्थिति स्वीकार ही नहीं की। उनके निकट आदर्श और यथार्थ का विभेद कदाचित् महत्वशून्य हो जाता है। उन्होंने आदर्शवाद और यथार्थवाद का पृथक् रूप से कहीं विवेचन नहीं किया। उनका यह कथन द्रष्टव्य है––"कवि अपनी कल्पना से वास्तविकता का आधार नहीं छोड़ता, किन्तु वह उसका आश्रय लेकर ही भावी उन्नत समाज के स्वप्न देखता है, इसी प्रकार वह समाज का नियामक बन जाता है।" वे काव्य को आत्मा की अकुंठित गति का परिणाम समझते हैं। अतः काव्य आत्मा का उल्लास या आध्यात्मिक स्वतंत्रता है। स्पष्टतः यह आत्मवादी दर्शन की उपपत्ति है। इसी कारण गुलाबरायजी आदर्श-वादी साहित्य चिन्तक हैं। यथार्थवादी साहित्य की पृथक् कोटि उन्हें मान्य ही नहीं हुई। उन्होंने विज्ञान से साहित्य का पार्थक्य निरूपित करते हुए काव्य के आत्मभाव को ही भेदक लक्षण माना। वे समझते हैं कि साहित्य का संबंध मानव हृदय से है, आत्म-चेतना से है, किन्तु विज्ञान का विषय वह भौतिक प्रकृति है, जो इस आत्म-चेतना से नितान्त शून्य है। साहित्य का लक्ष्य आनंद है, किन्तु विज्ञान की उस दिशा में कहीं कोई गति नहीं। वे इसी कारण न वैज्ञानिक प्रेरणा को ही ग्रहण कर पाते हैं, न वस्तु सत्य की विशेषता को ही। अतः उनके आत्मवादी चिन्तन कक्ष में यथार्थवाद की साहित्यिक धारणा

प्रविष्ट ही नहीं हो पाई। उन्होंने उसका पृथक् निरूपण भी नहीं किया। आत्मवादी दर्शन के आधार पर वे साहित्य की रस-विषयक मान्यता को ही ग्रहण कर पाए। साधारणीकृत होकर काव्य का आनंद समष्टि का आनंद हो जाता है, इसी आधार पर व्यावहारिक नैतिकता और सामाजिक आदर्श की निष्ठा को वे रस मत की सैद्धान्तिक भूमिका पर स्वीकार कर लेते हैं। लोक का हित और साहित्य का आनंद उनके लिए आत्मवाद की दार्शनिक व्याप्ति और रचना-कार्य में उसकी आदर्शवादी परिणति के आधार पर समरस हो जाता है। उनके साहित्य-चिन्तन का यही प्रकृत स्वरूप है।

गुलाबरायजी की 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' विषयक मान्यता वस्तुतः उनके साहित्य-दर्शन की मुख्य उपलब्धि है। उन्होंने सत्यं शिवं सुंदरम् की धारणा का विवेचन पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की पृष्ठभूमि पर नहीं किया। भगवद्गीता के 'सत्यं प्रिय हितं' वचन में वे इस विचार का दार्शनिक स्रोत खोज लेते हैं। भारतीय जीवन के ज्ञान मार्ग, भक्तिमार्ग और कर्ममार्ग का संबंध उन्होंने क्रमशः मनोविज्ञान द्वारा निर्दिष्ट ज्ञान (Knowing), भावना (Feeling) और संकल्प या इच्छा (Willing) वृत्तियों से जोड़ा है और उन्हें पुनः क्रमशः सत्यं, शिवं और सुन्दर से संवद्ध कर इस साहित्यिक धारणा को प्रामाणिक सिद्ध किया है। उनका मत है कि सत्य का संबंध विज्ञान से है, शिव का धर्म से और सुन्दर का काव्य से। वे उन्हें पृथकत्व-विधायिनी एकान्तिक दृष्टि से परीक्षित नहीं करते, वरं जीवन की व्यापक सत्ता से संबद्ध करके देखते हैं। इन्हीं का समन्वय गुलबरायजी का साहित्यादर्श हो जाता है। उनका कथन है कि "सत्य कर्तव्य पथ में आकर शिव बन जाता है और भावना से समन्वित होकर सुन्दर के रूप में दर्शन देता है।" तथा "साहित्यिक दृष्टि में 'सत्यं शिवं सुंदरं' में एक-एक भाव को यथाक्रम महत्ता मिलती है।" पंतजी की 'परिवर्तन' रचना के इस अवतरण को उन्होंने इसी संदर्भ में उद्धृत किया है, यथा—

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार
लोचनों में लावण्य अनूप
लोक-सेवा में शिव अविकार।

साहित्यिक सत्य वैज्ञानिक या वास्तविक सत्य से किंचित् भिन्न होता है। वह सत्य का साहित्यिक संस्करण अथवा उसका परिमार्जित और ग्राह्य रूप होता है। आशय यह है कि वह यथार्थवादी या प्रकृतवादी सत्य ही नहीं है। सत्य और सौंदर्य को समन्वित करते हुए उन्होंने साहित्य के अंतर्गत सत्य के प्रातिभासिक या प्रतीति-युक्त रम्य रूप को ही ग्रहण किया है।

साहित्य के शिवत्व के संबंध में उनकी यह स्पष्ट धारणा है कि वह संकुचित उपयोगितावाद नहीं है। शिव वह है जो 'व्यक्तियों की भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों में सामंजस्य स्थापित कर उनको सुसंगठित और सुसम्पन्न एकता की ओर जलोय।. . . भेद में

अभेद की एकता की संपन्न एकता है। विकास का भी यही आदर्श है।" साहित्य जिस आदर्श की ओर हमें अग्रसर करता है, अर्थात् जीवनोत्कर्ष की प्रवृत्ति जगानेवाला जो प्रभाव डालता है, वही शिव तत्व है। यही हित का विधान करनेवाला आदर्श है और इसी में साहित्य के सौंदर्य की संस्थिति है। यहाँ स्पष्टतः शिवत्व को स्थूल उपयोगितावाद से पृथक कर लिया गया है। गुलाबरायजी अतिवादी प्रवृत्तियों से बचते हुए शील और संयम का मध्यम मार्ग अपनाते हैं। उनके चिन्तन का शिव तत्व नैतिक मर्यादा की भावात्मक चेतना है। संक्षेप में, वह अखंड मानवतावाद है।

सुंदर क्या है? गुलाबरायजी के विचार में "जो वस्तु अपने लक्ष्य या कार्य के अनुकूल हो, वही सुंदर है।" यहाँ भी उपयोगिता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया गया। उनका मत है कि, "सौंदर्य ही स्वयं उसकी उपयोगिता है।" अतः सौंदर्य का मानदंड सौंदर्य ही है, उपयोगिता नहीं। जहाँ तक सौंदर्य के विषयगत या वस्तुरूप का प्रश्न है, वे क्रोचे के इस विचार से सहमत जान पड़ते हैं कि अभिव्यक्ति ही कला या सौंदर्य है। पर वे अनुभूति और अभिव्यक्ति को अभिन्न नहीं मानते। वे सौंदर्य के विषयी पक्ष का महत्व भी स्पष्ट करते हैं। विषयी पर सौंदर्य का प्रभाव पड़ता है, इस कारण उन्हें सौंदर्य की ग्राहकता का प्रश्न भी मूल्यवान ज्ञात होता है। "सौंदर्य का आंतरिक पक्ष ही शिव है"—कहकर वे शिवं और सुन्दरं का सामंजस्य स्थापित कर लेते हैं।

साहित्य के सत्य, शिव और सुन्दर विषयक समन्वित मूल्य का निर्देश इस प्रकार किया गया है—"सत्य ज्ञान की अनेकता में एकता है। शिव कर्मक्षेत्र की अनेकता में एकता का रूप है। सौंदर्य भाव क्षेत्र का सामंजस्य है। सौंदर्य को हम वस्तुगत गुणों व रूपों का ऐसा सामंजस्य कह सकते हैं, जो हमारे भावों में साम्य उत्पन्न कर हमको प्रसन्नता प्रदान करे तथा हमको तन्मय कर ले। सौंदर्य रस का वस्तुगत पक्ष है। रसानुभूति के लिए जिस सतोगुण की अपेक्षा रहती है, वह सामंजस्य का ही आंतरिक रूप है।....कलाकार इस सौंदर्य पर अपनी प्रतिभा का आलोक डालकर जनता के लिए उसे सुलभ और ग्राह्य बना देता है।" गुलाबरायजी के विचार से सौंदर्य का आशय है आंतरिक संगठन का सामंजस्य। अंततः वह अनिर्वचनीय वस्तु है। आशय यह है कि सौंदर्य को वस्तु रूप और प्रभाव रूप में विभाजित करके उन्होंने कला-सिद्धान्त और रस-सिद्धान्त की न केवल मर्यादायें स्पष्ट की हैं, बल्कि उन्हें स्वीकृत भी किया है। रस आंतरिक वृत्तियों का सामंजस्य है। वह शुद्ध सत्व रूप है। वह सत्, रज और तम गुणो के अभेदीकरण का परिणाम है इच्छा, क्रिया और बुद्धि, भक्ति, कर्म और ज्ञान, रज, तम और सत अथवा आनंद, चित् और सत् वस्तुतः सुन्दर, शिव और सत्य के रूपान्तर या विधायक हैं। जीवन की संपूर्णता इन्हीं के सामंजस्य में है। इन्हें ही ब्रह्म-योनि का त्रिकोण या कामायनी के तीन गोलक कहा जा सकता है। जीवन का अंतः संगठन इनके एकीकरण पर निर्भर करता है, विषयीकरण पर नहीं।

इन तीनों का विषय क्षेत्र अथवा वस्तु रूप भिन्न है। सत्य का संबंध दर्शन और विज्ञान से है, पर वह ज्ञान का मार्ग है। शिव का संबंध धर्म, नीति और समाज से है, पर वह कर्म का मार्ग

है। सुन्दर का संबंध साहित्य और इतर कलाओं से है, पर वह अनुभूति का मार्ग है। चरम सीमा पर इन तीनों की उपलब्धि एक ही है, उनका अभेद है, अर्थात् वह आनंद है। पर इस आनंद के उपेय हैं सत्य के आधार पर समुपलब्ध शान्ति, शिव के आधार पर संस्थित मंगल और सौंदर्य के आधार पर संप्राप्त रस। जीवन के व्यवहारिक धरातल पर ही इनका सामंजस्य काम्य हो सकता है। इनकी आध्यात्मिक एकता आत्यंतिक और निरपेक्ष वस्तु है। सैद्धान्तिक आधार पर तो इनके पृथक्-पृथक् लक्षण होते हैं और अपने-अपने उद्देश्य। मैं समझता हूँ कि सौंदर्य मार्ग या कला-मार्ग में सत्य और शिव का महत्व तात्विक होने पर भी औपचारिक है, आवश्यक होने पर भी आनुषंगिक है। सत्य के ज्ञान की अथवा लोक के मंगल की प्रतिज्ञाएँ सौंदर्य को आस्वादनीय बनाने में बहुत दूर तक साथ नहीं दे पातीं। विषय और विषयी या अनुभूति और अभिव्यक्ति का विभाजन शब्द और अर्थ की भाँति ही एक दूसरे पर आश्रित है। ये तत्वतः अविभाज्य हैं। सत्य और शिव कलावस्तु के सीमित उपादान मात्र हैं। वे अनुभूति के सहकर्मी हैं, मूल वस्तु नहीं। गुलाबरायजी ने सत्य और शिव को क्रमशः विश्वसनीय वास्तविकता और मानव मात्र की एकता के समकक्ष रखकर उनकी यथातथ्यवादी और उपयोगितावादी सीमाओं को मिटा दिया है। इसी कारण वे सामंजस्य का आदर्श उपस्थित कर सके हैं। साहित्य के अन्तर्गत जीवन का सत्य निरूपित होता है और कर्म-प्रवृत्ति का विधान किया जाता है, पर ये साहित्य के उपादान मात्र हैं। प्रभाव की दृष्टि से भी इन्हीं के सामंजस्य पर बल देने से यह ज्ञात होता है कि रस के मूल कारणों में ये भी हैं, पर मूल कारण सौंदर्य है, सत्य, शिव और सुन्दर का सामंजस्य नहीं। आनंद का विषय है काव्य का सौंदर्य या रस। सत्य और शिव तो अनुभूति के सेवक या सहायक होकर ही कृतकार्य होते हैं। अतएव साहित्य के अंतर्गत सामंजस्य की स्थिति आरंभिक और व्यवहारिक है, मौलिक और सैद्धान्तिक नहीं। गुलाबरायजी की मानवतावादी नैतिक चेतना के कारण इस सामंजस्य की धारणा का संगठन हो पाया है। पर इसके माध्यम से सिद्ध यही होता है कि वे रसवादी समीक्षक हैं और इसी सीमा के भीतर सामंजस्य की यह विचारणा उपस्थित की गई है।

गुलाबरायजी तत्वदर्शी साहित्य चिन्तक हैं। वे मूलतः दार्शनिक अंतर्वृत्ति के समीक्षक हैं, पर उन्होंने खंडन-मंडन की प्रवृति न अपनाकर समाहार-संबंधी रचनात्मक कार्य किया है। वे विविध मतवादों का सार ग्रहण करते गए हैं। उन्होंने महत्वदर्शिनी मेधा का उपयोग किया है और अपने रस-मत के माध्यम से समन्वित साहित्य-दर्शन की अवतारणा की है। वे पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों और नवीन मनोविज्ञान की स्थापनाओं का अपने विवेचन कार्य में सदुपयोग करते गए हैं। उन्होंने भारतीय समीक्षा सिद्धान्तों को नवीन संदर्भ में परीक्षित भी किया है। व्यवहारिक दृष्टिकोण को अपनाने के कारण वे साहित्य चिन्तन को एक नया संतुलन प्रदान कर सके हैं। यही दृष्टिकोण वस्तुतः उनकी समन्वयशील मनोवृत्ति का परिचायक है। उन्होंने साहित्य शास्त्र विषयक उपलब्ध ज्ञान को संगति और व्यवस्था दी है। इसी कारण वे अध्यापक-समीक्षक या समन्वयवादी चिन्तक कहे गए हैं। उनका विवेचन स्वच्छ और प्रामाणिक है। इसी कारण वे साधारण योग्यता के अध्येताओं में विशेष रूप से लोकप्रिय हैं। उनका

विशिष्ट प्रदेय है सत्य, शिव और सुन्दर का सामंजस्य। पर वह रसमत का ही विस्तार है। उनका कला और रस का, वस्तु या भाव रूप में अथवा विषय और विषयी रूप में पृथक्करण महत्व की वस्तु है। काव्य के वर्ण्य विषयों के निरूपण में उनकी यही रस-दृष्टि प्रधान रही है।

गुलाबरायजी ने रस-सिद्धान्त को आधुनिक चिन्तन के परिपार्श्व में उपस्थित कर दिया है और शुक्लजी के कार्य को व्याख्यात्मक संदर्भों में विकसित किया है। शुक्लजी जैसी प्रखर प्रतिभा उनमें नहीं है, पर अतिशय उदार मनोदृष्टि अवश्य है। वे रस सिद्धान्त को मनोविज्ञान के अधिक समीप ले आए हैं। आदर्शवादी नैतिक चेतना को उनके साहित्य चिन्तन की प्रेरक शक्ति समझना चाहिए। उनकी उदारता का रहस्य है मताग्रह का अभाव और संभवतः इसी कारण वे विविध युगों के साहित्य को समान कोटि की अपनी सहानुभूति दे सके हैं, तथा नाना मतवादों को एक संगति भरा अर्थ दे पाए हैं। उन्होंने कलावाद और आदर्शवाद को समन्वित अवश्य किया है, पर यथार्थवाद को वे ग्रहण ही नहीं कर पाए, उसे वे व्यर्थ समझते रहे। उसके अस्तित्व तक का निर्देश नहीं किया गया।

निश्चय ही गुलाबरायजी का महत्व उनके विचारों के धरातल की व्यापकता में दिखाई पड़ेगा। वे संतुलित समन्वय के द्रष्टा समीक्षक और हिन्दी के रसवादी आचार्य हैं। सैद्धान्तिक नवोन्मेष को नहीं, चिन्तन की व्यवहारिक उदारता को उनकी शक्ति समझना चाहिए। उनका किसी मतवाद से कोई विरोध नहीं, यही उनकी उपलब्धि है, सीमा भी। कोई आचार्य नया रास्ता तैयार करता है या नया प्रकाश दिखाता है, कोई कठोर नियंत्रण रखता है या आदर्श-निर्देश देता है तथा कोई भ्रान्तियाँ फैलाता है या गुमराह करता है, पर गुलाबरायजी सर्वत्र सहृदय साथी ही बने रहे और साहित्य के पथ की विशेषताओं का सरल, स्पष्ट और आकर्षक विवेचन करते गए। अतएव उन्हें साहित्य के राजपथ का निरापद निर्देशक समझना चाहिए।

डा० रामदरश मिश्र
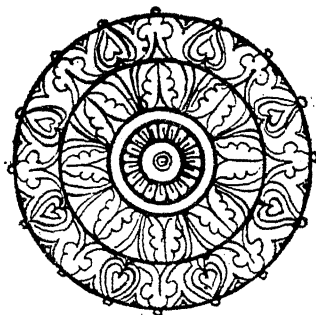
बाबू जी की आलोचना संबंधी मान्यताएँ

बाबू गुलाबराय आचार्य शुक्ल की परंपरा के एक सशक्त आलोचक स्वीकारे गये हैं। अतः यह स्पष्ट है कि शुक्लजी की समीक्षाओं में साहित्य-मान्यताओं के जो स्वर उभरे हैं वे बाबूजी द्वारा भी अपनाये गये हैं। लेकिन दोनों में एक स्पष्ट अन्तर भी है—शुक्ल जी मौलिक विचारक हैं अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ता से खड़े रह कर अन्यों के सिद्धान्तों को स्वीकारने या अस्वीकारने वाले। बाबू साहब उदार विचारक हैं अर्थात् उनमें शुक्ल जी के समान गहन चिंतन और नवीन विचारोद्भावना तो नहीं लक्षित होती किन्तु वे अपने विस्तृत अध्ययन के परिणामस्वरूप उपलब्ध साहित्य-चिंतन के अनेक स्वरों को परस्पर अनुस्यूत कर एक समन्वयवादी मान्यता स्थापित करने की चेष्टा में सतत संलग्न रहे हैं। यह नहीं कि बाबू साहब की साहित्य-सम्वन्धी कोई निजी मान्यता नहीं, बल्कि यह कि वे अपनी मान्यताओं के आग्रह में अन्यों की मान्यताओं के भीतर निहित सत्यों को अस्वीकारते नहीं, उन्हें अपनी मान्यताओं के साथ बुनने का प्रयत्न करते हैं। शुक्लजी जिस वात को मानते हैं बुद्धि और हृदय दोनों से उसका समर्थन करते हैं, औरों के लिए जगह नहीं छोड़ते। समझौते की कोई गुंजाइश नहीं रहती, आपको मानना हो तो मानिये, न मानना हो न मानिये। किंतु बाबू गुलाबराय पुराने-नये, पूर्वी-पश्चिमी आचार्यों के मतों का उद्धरण देकर उनमें एक समन्वय रूप खोजने के इच्छुक हैं। सबकी अच्छी चीजों को बटोर लेने की प्रवृत्ति उनमें दृष्टिगत होती है। मौलिक विचारक होने के कारण जहाँ शुक्लजी में दृढ़ता है, विश्वास है, अपने प्रति, कलावादियों पर तीखे व्यंग्य बरसाने की प्रवृत्ति है, मंजा हुआ विनोद है, वहाँ बाबू साहब में फैलाव है, समन्वय है और विनय है। जैसे, यदि

कविता पर निबंध लिखना होगा तो शुक्ल जी कविता का स्वतः विचार करेंगे और आवश्यकता पड़ने पर नये पुराने, पूर्वी पश्चिमी मतों के पक्ष-विपक्ष का उद्धरण देकर उन पर गंभीर चिंतन प्रस्तुत करेंगे---सर्वत्र उनका व्यक्तित्व अखंड भाव से व्याप्त रहेगा किन्तु बाबू गुलाबराय पूर्वी पश्चिमी आचार्यों के ढेर से मतों का हवाला देकर (और उन पर संक्षिप्त रूप से अपने विचार व्यक्त कर) सबके सत्यों को लेकर एक नयी समन्वयात्मक परिभाषा देने का प्रयत्न करेंगे। इस प्रकार बाबूजी की आलोचना संबंधी मान्यताओं में मौलिकता के कम समन्वयवादिता के दर्शन अधिक होते हैं।

फिर भी साहित्यालोचन सम्वन्धी उनकी धारणाओं और मान्यताओं का अपना एक स्वरूप तो है ही---वह इस रूप में नहीं कि उन्होंने नयी मान्यताएँ स्थापित की हैं वरन् इस रूप में कि प्रचलित मान्यताओं में से किसी के प्रति विशेष अनुराग किसी के प्रति कम अनुराग व्यक्त किया है किसी को कवि कर्म का प्रधान आधार माना है किसी को सहायक।

बाबूजी मूलतः रसवादी हैं। शुक्लजी रस को काव्य-का प्राण मानते हैं। बाबूजी भी इस धारणा के पोषक हैं। रस भारतीय साहित्य मनीषा का बहुचर्चित और अति सम्मानित विषय रहा है। अनेक भाववादी आचार्यो ने इसकी व्याख्या में योग देकर इसकी महत्ता को स्वीकार किया है। रसेतर अलंकारवादियों ने भी परोक्ष रूप से इसके महत्त्व को माना है भले ही तुलना में कम माना हो। आधुनिक काल में भी आचार्य शुक्ल ने रस को नयी व्याख्याओं से परिपुष्ट कर साहित्य-परीक्षा का इसे मूल आधार बनाया। बाबू श्यामसुन्दरदास, केशव प्रसाद मिश्र और डा. नगेन्द्र आदि ने रस और उसकी प्रक्रिया साधारणीकरण को अपने अपने ढंग से समझने का प्रयत्न किया। बाबू गुलाबराय भी मूलतः रसवादी हैं। रस का मूल आधार भाव है यानी भाव ही उद्‌बुद्ध होकर रस बनता है। अतः कविता में भाव की महत्ता होती है रूप की नहीं। रूपवादी भाव की अपेक्षा रूप को महत्व देते हैं यानी उनकी दृष्टि में रूप सौष्ठव ही काव्य-सौष्ठव है। रसवादी रूप सौष्ठव अर्थात् बाह्य चमत्कार को भी स्वीकार करते हैं, किन्तु उसे भाव सौन्दर्य का सहायक मानते हैं। वास्तव में भाव और रूप विषय और शैली की पृथकता साहित्य में असंभव है। दोनों को दो मानकर देखने की प्रणाली मूल में ही गलत है। रूप को भाव से अलग किया ही नहीं जा सकता। वह कोई पृथक् वस्तु नहीं है यानी वह बाहरी वस्तु होकर ऊपर से कपड़े की तरह पहना नहीं गया है। लोगों ने सुविधा के लिए रूप और भाव, विषय और शैली जैसे भेद बना लिए किन्तु इससे अनेक भ्रांतियाँ फैली। कोई रूप को महत्व देता हुआ उसके अन्तर्गत आने वाले उपकरणों की वकालत करने लगा, कोई भाव पक्ष को महत्व देता हुआ रूप को ऊपर से जोड़ी हुई वस्तु मानने लगा। आज का कवि इस भेद-बुद्धि से साहित्य पर विचार नहीं करता। शब्द केवल माध्यम नहीं है वह अपने भीतर एक बिम्ब , एक जीवन, एक विशिष्ट अर्थ-छवि समोये हुए है, अतः शब्द अपने आप में भाव भी है और रूप भी। बाबू गुलाबराय ने भाव पक्ष को प्रधानता देते हुए भी आधुनिक साहित्य मनीषा के इस सत्य को समझा है। भावपक्ष का सम्बन्ध काव्य की वस्तु से है और कला का सम्बन्ध आकार से है। वस्तु और आकार एक-दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते। कोई वस्तु आकार-हीन नहीं हो सकती और

न आकार वस्तु से अलग किया जा सकता है। वैसे तो व्यापक दृष्टि से भाव-पक्ष और कला पक्ष दोनों ही रस से सम्बन्धित हैं क्योंकि कला पक्ष के अन्तर्गत जो अलंकार, लक्षण, व्यंजना और रीतियाँ हैं वे सभी रस की पोषक हैं तथापि भावपक्ष का रस से सीधा संबंध है। वह उसका प्रधान अंग है, कला पक्ष के विषय उसके सहायक और पोषक हैं।[1] शब्द और अर्थ, अभिव्यक्ति और कथ्य दोनों में अपरिहार्य सम्बन्ध है किन्तु लोग अनावश्यक रूप से इन दोनों पक्षों को अलग अलग कर इनका आत्यंतिक महत्व आँकने लगे। अतः दो दल बन गये—विषयवादी, अभिव्यक्तिवादी। इस अलगाव को सर्जन के स्तर पर स्वीकार करना असंभव है किन्तु यदि यह अलगाव एक क्षण के लिए व्यावहारिक स्तर पर मान लिया जाय तो भाव को, विषय को, कथ्य को (जो भी कहिए) ही प्रधान मानना होगा क्योंकि उसी की अभिव्यक्ति साध्य होती है, अभिव्यक्ति अभिव्यक्ति के लिए नहीं हो सकती।

बाबू गुलाबराय सिद्धान्त रूप से दोनों को एक में अपरिहार्य भाव से अनुस्यूत मानने के बावजूद भाव पक्ष को विशेष महत्ता देते हैं—उसी की अभिव्यक्ति इष्ट है। वे रसवादी हैं। रस में उद्‌बुद्ध भाव का उपयोग ही अभिप्रेत होता है किन्तु रस की निष्पत्ति में अलंकार, लक्षणा व्यंजना और रीतियाँ सहायक होती हैं। रस कहा नहीं जाता, व्यंजित होता है। उसे व्यंजित होने के लिए अभिव्यक्ति की प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता है। अतः बाबूजी ने रस में योग देने वाले, सहायक होने वाले सभी उपकरणों की उदारतापूर्वक व्याख्या की है। रस भारतीय साहित्य-शास्त्र का बहुचर्चित और विवाद-ग्रस्त विषय रहा है। इसके संयोग और निष्पत्ति शब्द को लेकर लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक और अभिनव गुप्त जैसे आचार्यों ने बड़ी चिन्तनपूर्ण व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। बाबूजी ने इन सभी मतों को उद्धृत करते हुए उन पर कभी अपने कभी दूसरों से लिए हुए आलोचनात्मक विचार प्रस्तुत किये हैं। इतना ही नहीं आपने अपनी समन्वयवादी प्रवृत्ति के कारण सभी मतों के सार लेकर उनकी तुलना करते हुए उनकी देन को स्पष्ट किया है :—'यह लोल्लट और श्री शंकुक दोनों ही अनुकार्यों को महत्व देते हैं। ये लोग रस की लौकिक विषयगत स्थिति को प्रकाश में लाते हैं और साधारणीकरण के लिए जो लौकिक आधार चाहिए उसकी ओर संकेत करते हैं (रस की लौकिक स्थिति मानने में कठिनाइयां अवश्य रहती हैं) काव्य प्रकाश में जो यह लोल्लट का मत दिया है उससे प्रतीत होता है कि यह लोल्लट नट में रस का आरोप तो करते हैं किन्तु ये सामाजिक को चमत्कृत करने की बात को स्पष्ट न कर अनुभेद रखते हैं।...श्री शंकुक के मत में (वह भी काव्य प्रकाश में वर्णित) सामाजिक स्पष्ट रूप से आ जाता है और कुछ अध-खुली सी जबान से उसकी वासना का भी (जो पीछे से अभिनव गुप्त के मत की आधार शिला बनती है) उल्लेख हो जाता है। भट्ट लोल्लट के मत के अनुसार नट में दुष्यंतादि की रति का आरोप किया जाता है और श्री शंकुक के मत के अनुसार उसमें अनुमान किया जाता है। आरोप निराधार भी हो सकता है किन्तु अनुमान में किंचित आधार रहता है। इन दोनों की देन इतनी ही है कि ये लोग कल्पना को नितान्त निराधार

१. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० ८६

होने से बचाये रखते हैं। वे आजकल के उपन्यासों के कल्पित पात्रों की व्याख्या कुछ कठिनाई से ही कर सकते हैं। कल्पना का जो वास्तविक आधार होता है उसकी ओर ये संकेत अवश्य कर देते हैं।

यद्यपि साधारणीकरण को मूल भावना की क्षीण झलक नट के अनुकरण में (नट दुष्यंत का साधारण राजा रूप से ही अनुकरण करता है, दुष्यंत को तो वह जानता ही नहीं) रहती है तथापि इस सिद्धान्त को पूर्ण विकास देने का श्रेय भट्ट नायक को ही है। योजकत्व में सामाजिक कर्तव्य की ओर संकेत रहता है और उसके रस के मूल अर्थ आस्वादकत्व की भी सार्थकता हो जाती है, किन्तु उन्होंने सामाजिक में ऐसे किसी गुण का संकेत नहीं किया जिसके कारण सामाजिक में योजकत्व की संभावना रहती है। इस कमी को अभिनव गुप्त ने पूरा किया है। उसने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि सामाजिक अपनी रति का आस्वाद लेता है, विभावादि का वर्णन उसे जाग्रत करता है। रस में व्यंजना-व्यापार की प्रधानता बता कर अभिनव ने कृति और पाठक दोनों को महत्व दिया है। व्यंग्यार्थ उसके बोधक की अपेक्षा रखता है।'[1]

इस प्रकार बाबूजी ने रस सिद्धान्त के विभिन्न मतों के भीतर प्रतिबिंबित सत्यों, उनके क्रमिक विकास तथा पूर्णता की विवेचना की अपनी सत्यान्वेषी दृष्टि का परिचय दिया है। इन्होंने अनेक विचारों को अलग अलग खंडित सत्यों के रूप में नहीं देखा है। उनकी अतिवादी धारणाओं की सीमाओं के भीतर से उनकी संभावनाओं और शक्तियों को पाने की चेष्टा की है।

रस से जुड़ा हुआ प्रश्न साधारणीकरण का है। साधारणीकरण रस निष्पत्ति की प्रक्रिया है यानी साधारणीकरण होने से ही रस की निष्पत्ति होती है। किन्तु साधारणीकरण का प्रश्न भी विवाद का विषय बना रहा है। 'कोई तो विभावों' का साधारणीकरण और आश्रय से तादात्म्य मानते हैं, तो कोई सम्बन्धों से स्वतंत्रता को महत्व देते हैं। कोई कोई विद्वान पाठक के हृदय में ही रस रहस्य निहित मानते हैं। साधारणीकरण का अर्थ है विशिष्ट से सामान्य की ओर जाना अर्थात् ममत्व परत्व की भावना से परे होकर साधारणीकरण हो जाना। परन्तु साधारणीकरण किससे और किसका? भट्टनायक विभावों के पूर्ण साधारणीकरण के साथ स्थायी भावों के विशिष्ट सम्बन्धों से मुक्त होने को साधारणीकरण मानते हैं। अभिनव-गुप्त के मत से ममत्व परत्व की भावना से स्वतंत्र होना साधारणीकरण है। विभावादि साधारणीकृत हो जाने पर ममत्व परत्व की भावना से परे हो जाते हैं। इन साधारणीकृत विभावों के द्वारा सामाजिकों के वासनागत स्थायी भाव जाग्रत हो उठते हैं। वे स्थायी भाव व्यक्ति के होते हुए भी व्यक्ति के नहीं होते और अपना निजत्व भी नहीं खोते। ये स्थायी भाव समान भाव से भी सहृदयों के लिए अनुभव के विषय होते हैं। वे स्थायी भाव ही अर्थभावक होकर रस रूप हो जाते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने विभावों के साधारणीकरण के साथ उसके फलस्वरूप पाठक या दर्शक का आश्रय के साथ तादात्म्य माना है। आचार्य शुक्ल के मत से साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है वह

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ. १६५

जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलंबन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलंबन हो जाती है।' किन्तु शुक्ल जी साधारणीकरण के लिए आलंबन में आलंबनत्व कार्य की स्थापना जरूरी मानते हैं। डा. नगेन्द्र आलंबनत्व कार्य की स्थापना से असहमत होते हुए कवि की अनुभूति का साधारणीकरण मानते हैं। जिसे हम आलंबन कहते हैं वह डा. नगेन्द्र की दृष्टि में कवि की अपनी अनुभूति का संवेद्य रूप है। बाबू गुलाबराय ने पुराने और आधुनिक आचार्यों और विद्वानों के मतों का उल्लेख और मार्मिक विवेचन प्रस्तुत करते हुए अपना समन्वयवादी मत प्रस्तुत किया है। इनके अनुसार 'साधारणीकरण व्यक्ति का नहीं वरन् उसके सम्बन्धों का होता है। जल, वायु, नीलाकाश की भाँति उस पर किसी का विशेषाधिकार नहीं रहता। उसमें न ममत्वजन्य दुःख और न परत्वजन्य ईर्ष्यादि भावों की गुंजाइश रहती है। कवि भी अपने निजी व्यक्तित्व से ऊँचा उठ कर साधारणीकृत हो जाता है। वह लोक का प्रतिनिधि होकर भावाभिव्यक्ति करता है। पाठक का साधारणीकरण इस अर्थ में होता है कि वह अपने व्यक्तित्व के क्षुद्र बन्धनों को तोड़ कर लोक सामान्य की भाव-भूमि में आ जाता है, उसका हृदय कवि और लोक हृदय के साथ प्रतिस्पंदित होने लगता है।'

'भावों का साधारणीकरण इस अर्थ में होता है कि उनसे भी 'अयं निजः परो वा' की भावना जाती रहती है और इस कारण उनमें लौकिक अनुभव की स्थूलता, कटुता, तीक्ष्णता और रुक्षता नहीं रहती है।.....' अतः बाबूजी की दृष्टि में आश्रय या कवि, भाव और पाठक सभी का साधारणीकरण हो जाता है।

साधारणीकरण की मीमांसा करते समय बाबूजी ने पश्चिमी विचारकों के इस संदर्भ में व्यक्त विचारों को भी परखा है। पाश्चात्य विचारकों ने साधारणीकरण के प्रश्न को शायद उतनी गहराई से नहीं लिया जितनी गहराई से भारतीय आचार्यों ने। किन्तु यह प्रश्न साहित्य का मूल प्रश्न है। साहित्य को यदि प्रेषणीय होना है तो यह प्रश्न किसी न किसी प्रकार साहित्य के साथ लगा ही रहेगा। किन्तु भारतीय आचार्यों ने रस, आनंद को साहित्य का लक्ष्य मानकर साधारणीकरण के प्रश्न को उसके साथ अपरिहार्य भाव से संपृक्त किया। पश्चिम में व्यक्ति वैचित्र्य की सत्ता स्वीकार ली जाने के कारण साधारणीकरण का वैसा रूप नहीं उभरा जैसा कि भारत में। पश्चिम में भाव तादात्म्य (Empathy) की महत्ता स्वीकृत की गयी है। बाबूजी ने पश्चिमी विचारकों की तत्सम्बन्धी धारणाओं की व्याख्या करते हुए पूर्वी और पश्चिमी विचारकों के मतों को एक क्रम में समझने और उन्हें निकट लाने की चेष्टा की है। बाबूजी ने इस संदर्भ में मनोवैज्ञानिक ए. ई. मैन्डर, आई. ए. रिचार्ड्स और क्रोचे इन तीन विद्वानों के मतों को विशेष रूप से प्रस्तुत कर पश्चिमी दृष्टि को समझाने का प्रयत्न किया है। मैन्डर के अनुसार भाव-तादात्म्य से प्रसन्नता (आनंद नहीं) इसलिए होती है कि इसके द्वारा दर्शक की कोई प्रारंभिक आवश्यकता जिसकी पूर्ति उसके वास्तविक जीवन में नहीं होती, पूर्ण हो जाती है। क्रोध, शोक और भय का अनुभव भी (यदि उसके साथ वैयक्तिक क्षति न हो) हमारी आवश्यकताओं में से है। आई. ए. रिचार्ड्स मानते हैं कि मनुष्य की प्रवृत्तियाँ प्रायः एक सी होती हैं। इसी

कारण कवि समान भावों की जाग्रति करने में समर्थ होता है। जहाँ पर कवि का अनुभव पाठक के अनुभव के साथ ऐक्य नहीं रखता वहाँ पर उसको सफलता न मिलेगी।' क्रोचे ने 'कवि के दो व्यक्तित्व माने हैं—एक लौकिक और दूसरा आदर्शमूलक। लौकिक व्यक्तित्व में कवि और पाठक का भिन्न व्यक्तित्व रहता है और कलाकार के आदर्श मूलक व्यक्तित्व में कवि और पाठक का तादात्म्य हो जाता है।' यानी क्रोचे भी कवि और पाठक के तादात्म्य की समस्या उठाता है। इस प्रकार बाबूजी ने, साधारणीकरण की समस्या को एक व्यापक धरातल पर देखते हुए उसे काव्य का अनिवार्य तत्व स्वीकार किया है।

रस का प्रसंग समाप्त करने के पहले एक तथ्य की ओर संकेत करना आवश्यक है। आज मनोविज्ञान ने अनेकानेक प्रयोगों द्वारा अनेक सत्य उद्घाटित किये हैं और उनसे साहित्य को दूर तक प्रभावित किया है। रस का सम्बन्ध स्थायी भावों से है और मनोविज्ञान का सम्बन्ध मनःसत्यों से है। इस प्रकार भाव भी मनोविज्ञान की ही सीमा में आते हैं। अतः आज यह देखना भी जरूरी हो जाता है कि रस और मनोविज्ञान के क्या सम्बन्ध हैं? आज मनोवैज्ञानिक सत्यों से विच्छिन्न होने पर कोई भी कृति उच्चकोटि की नहीं मानी जा सकती। बाबूजी ने रस और मनोविज्ञान के सम्बन्धों की सम्यक् परीक्षा की है। "हमारे जीवन में भावों और मनोवेगों (Feelings and Emotions) का विशेष स्थान है। सुख और दुख को हम भाव कहते हैं। रति, उत्साह, भय, क्रोध, घृणा, विस्मय आदि मनोवेग हैं। मनोवेग सुखात्मक भी होते हैं और दुःखात्मक भी। ..... हमारे मनोवेग चरित्र के विधायक और परिचायक होते हैं। वे हमारी क्रियाओं के प्रेरक चाहे न हों किन्तु उनको शक्ति और गति अवश्य देते हैं। इनमें हमारे व्यक्तित्व की छाप दिखाई पड़ती है।" वास्तव में भाव और मनोवेग मनोविज्ञान की ही सीमा में आते हैं किन्तु वे साहित्य में प्रयुक्त होते हैं तो उनका रूप कुछ और हो जाता है। वे विज्ञान के नग्न सत्य के रूप में विवेचित और परीक्षित नहीं होते वरन् जीवन के मूल्यों और क्रियाओं के साथ जुड़ कर कुछ और हो जाते हैं। इसीलिए साहित्य में कृतिकार का व्यक्तित्व होता है। मनोविज्ञान मन का विज्ञान है किन्तु साहित्य विज्ञान का जीवनीकरण है। बाबूजी के शब्दों में 'साहित्य के भाव मनोविज्ञान के भावों से भिन्न होते हैं। ये भाव मन के उस विकार को कहते हैं जिसमें सुख-दुःखात्मक अनुभव के साथ कुछ क्रियात्मक प्रवृत्ति भी रहती है। यह मनोवेगों का एक व्यापक रूप होता है जिसमें हलके और गहरे मन्द और तीव्र सभी प्रकार के भाव शामिल रहते हैं। इसकी व्यापकता में भाव का क्रियात्मक पक्ष भी वर्तमान रहता है। अनुभव भी तो भाव ही कहलाते हैं।'[१]

भावों और मनोवेगों का अध्ययन मनोविज्ञान का विषय है किन्तु रस मनोवेग नहीं मनोवेगों का आस्वादन है। अतः रस और मनोविज्ञान दोनों एक ही मूलाधार पर ठहरे हुए भी परिणतियों में भिन्न हैं। आज मनोविज्ञान का विकास बहुत हुआ है, उसने भावों मनोवेगों तथा अन्य मनःतत्वों का बहुत सूक्ष्म विश्लेषण किया है अतः यह आवश्यक है

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ. १३८

कि आजकल रस की परीक्षा करते समय भावों मनोवेगों आदि की वैज्ञानिकता, भेदों और स्वरूप पर आधुनिक मनोविज्ञान की उपलब्धियों के प्रकाश में विचार किया जाय। बाबूजी ने आज के अनेक मनोवैज्ञानिकों के मतों का हवाला देते हुए रसों के नौ या दस मनोवेगों की मनोवैज्ञानिकता की परीक्षा की है और यह सिद्ध किया है कि रस के भाव, संचारी भाव, अनुभाव सभी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से खरे उतरते हैं फिर भी 'पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुकूल रस-सिद्धान्त की पूरी पूरी व्याख्या नहीं हो सकती है। रस-सिद्धान्त हमारे देश की उपज है और वह हमारे यहाँ के दार्शनिक विचारों से प्रभावित है। रस उस आत्मतत्व पर अवलंबित है जिसका सहज गुण आनंद है। यह चिन्मय, अखंड, प्रकाशमय और वेद्यान्तर शून्य है अर्थात् उस समय दूसरी वस्तु का ज्ञान नहीं रहता है। यह अवस्था केवल मन को मानने वालों की कल्पना में नहीं आ सकती। आजकल का मनोविज्ञान (Psychology) अर्थात् साइक (Psyche) यानी आत्मा का विज्ञान कहलाता है किन्तु उसमें आत्मा के उसी प्रकार दर्शन नहीं होते जिस प्रकार कि दुकान के मालिक की मृत्यु के पश्चात् उसके नाम की चलती हुई और विज्ञापित दूकान में उसका पता नहीं चलता।'[1]

साहित्य के क्षेत्र में जो एक अन्य प्रश्न विवाद का विषय बना रहा है वह है साहित्य का उद्देश्य। इसे साहित्य की प्रेरणा या प्रयोजन भी कह सकते हैं। भिन्न भिन्न विचारकों ने इस प्रश्न पर भिन्न भिन्न ढंग से सोचा है। किन्तु यदि उन विचारों को हम समेटें तो मुख्यतः दो ही विचार-परंपराएँ सामने आती हैं। एक परंपरा मानती है कि कला कला के लिए है दूसरी मानती है कि कला जीवन के लिए है। कला कला के लिए स्वीकार करने वाले कला का सम्बन्ध किसी भी बाह्य सत्ता-उपयोगिता, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक नैतिक मान-से नहीं जोड़ते। कला स्वयं अपने में प्रयोजन है। कला से परे और किसी बाह्य सत्ता को उसका प्रयोजन-रूप से नियामक मानना उसके स्वायत्त शासन में अविश्वास है और उसकी स्वाधीनता को स्वर्ग से घसीट कर अन्धकारमय गर्त में ढकेलना है। 'कला जीवन के लिए है' मत के समर्थक यह कहना चाहते हैं कि कला का मूल स्रोत जीवन है और कला जीवन की व्याख्या ही नहीं है उसे दिशा देने वाली पथ-निर्देशिका भी है। कला स्वयं में प्रयोजन नहीं है वह साधन है, जीवन साध्य है। जीवन को सुन्दर बनाना ही कला का लक्ष्य है। अतः समस्त मान (जो जीवन को प्रभावित करते हैं तथा उदात्त बनाते हैं) कला के विषय बन जाते हैं। वास्तव में इन्हीं दो मतों के अन्तर्गत अन्य मत अन्तर्भुक्त हो जाते हैं।

आचार्य शुक्ल पश्चिम के कलावादियों के कितने विरुद्ध थे यह हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी जानते हैं। बाबूजी में शुक्लजी की सी कट्टरता नहीं है किन्तु वे भी 'कला जीवन के अर्थ' के ही पोषक हैं। आपने अन्य मतों को बड़ी सहिष्णुता से समझा परखा है और जहाँ तक हो सका है उनके पक्षों की विशेषताओं को ईमानदारी से सामने रखने का प्रयत्न किया है किन्तु वे स्वयं (अन्य मतों की विशेषताओं को समेटते हुए भी) कला को जीवन के विराट परिप्रेक्ष्य में देखने

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ. १५३

के पक्षपाती रहे हैं। बाबूजी सृजन की प्रेरणाओं के कई स्वरूपों को अलग अलग दृष्टान्तों से समर्थित करते हुए मानों कहना चाहते हैं कि सभी ठीक हैं अपनी अपनी जगह पर। यानी सबके प्रमाण मिल जाते हैं किन्तु श्रेष्ठ है जीवन वाला पक्ष ही। भारतीय रसवाद में मानो इन सारे ऊहापोहों का उत्तर मिल जाता है। वास्तव में आज इस तरह अनेक खानों में इस प्रश्न को बाँट कर नहीं देखा जा सकता। प्रश्न यह है कि क्या सचमुच सच्चा कवि कर्म इतने प्रकार की प्रेरणाओं से प्रेरित होता है ? सच्ची कविता जहाँ कहीं होगी वह अन्तर्प्रेरणा से ही प्रेरित होगी। अभिव्यक्ति की अदम्य आवश्यकता ही कला-सृजन की जननी है। कलाकार के व्यक्तित्व का अंग बन कर आत्मभूत या सर्वभूत फूट चलना चाहता है उसे अभिव्यक्ति देने के लिए कलाकार बेचैन रहता है। अभिव्यक्ति कर लेने पर वह अपने कर्म से मुक्त हो जाता है। उसकी कृति में जीवन की उष्मा नहीं है या जीवन की अनेक बातें भरी हुई हैं यह प्रश्न उठने के पहले यह प्रश्न उठना चाहिए कि उसने जो कुछ अभिव्यक्त किया है वह कितनी ईमानदारी से व्यक्त हुआ है और वह कथ्य कलाकार द्वारा कितना निजी होकर फूटा है यही निजता 'कला को कला के लिए' की सार्थकता सिद्ध करेगी और संसार और जीवन के अनेक मूल्यों और सत्यों को लेकर भी कला को कला के बाहर नहीं जाने देगी। कला सूने में नहीं फूटती, जीवन और जगत उसका उत्स होता है उसका उपादान होता है और उसके सौन्दर्य को गढ़ना उसका उद्देश्य होता है लेकिन वह किसी भी चीज़ को कच्चे माल के रूप में प्रस्तुत नहीं करती। जिसे वह अभिव्यक्त करती है उसके साथ रागात्मक सम्बन्ध जोड़ कर निजी बना लेती है और तब उस निजी को व्यक्त करने की आकुलता उसे मथने लगती है। अतः इस अर्थ में यह सत्य है कि कला मूलतः बाहर से प्रेरणा ग्रहण नहीं करती। किन्तु कलाकार की निजता जीवन जगत विच्छिन्न कोई अलौकिक वस्तु नहीं है वह तो इसी यथार्थ जगत और जीवन के तत्वों से बनती और विकसित होती है। बाबूजी ने कला के सृजन के वास्तविक रहस्य को समझा है यद्यपि वह अनेक प्रकार के मतों को एक साथ प्रस्तुत करने के कारण स्पष्ट नहीं हो सका है। फिर भी 'सृजन की अदम्य आवश्यकता के अर्थ' शीर्षक के अन्तर्गत व्यक्त उनकी व्याख्याओं से इसका अन्दाज लगाया जा सकता है। 'काव्य की मूल प्रेरणाएँ आन्तरिक ही हैं। कवि में हृदय का ओज या उत्साह ही जो रस का ही रूप है उसको सृजन-कार्य में प्रवृत्त करता है। इसके बिना आत्माभिव्यक्ति की इच्छा जो बड़ी प्रबल होती है, व्यर्थ हो जाती है। सच्चा साहित्य तभी रचा जाता है जब भाव हृदय की संकुचित सीमाओं में सीमित न रह कर बाहर आने को छटपटा उठते हैं।' बाबू गुलाबराय आत्माभिव्यक्ति की सार्थकता स्वीकारते हुए उसे लोक मंगल के साथ जोड़ते हैं। भारतीय रसवाद आत्माभिव्यक्ति और लोकहित, कवि की निजता और सामाजिकता का संगम है। यानी ये दोनों प्रश्न इसमें कला के धरातल पर ही हल होते हुए दीखते हैं। 'भारतीय दृष्टि में आत्मा का अर्थ संकुचित व्यक्तित्व नहीं है। विस्तार में ही आत्मा की पूर्णता है। लोकहित भी एकात्मवाद की दृढ़ आधारशिला पर खड़ा हो सकता है।.... रस लेखक और पाठक दोनों का प्रेरक

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ. ५६

है, सभी उद्देश्य इससे अनुप्राणित होते हैं। यह सबका जीवन-रस है।. . . . इन सब प्रयोजनों में वही उत्तम है जो आत्मा की व्यापक से व्यापक और अधिक से अधिक सम्पन्न अनुभूति में सहायक हो। इसी से लोक-हित का मान है।'[1]

ऊपर की चर्चा में मैंने कविता के स्थान पर प्रायः कला का प्रयोग किया है। क्योंकि आज कविता और अन्य कलाओं में सृजन के स्तर पर भेद नहीं माना जाता है। हमारे यहाँ अभी कल तक कला और कविता के भेदों पर चर्चा होती रही है। कला का प्रयोग 'फार्म' या सस्ता मनोरंजन करने वाली कृतियों––जैसे नाच गान, चित्र, प्रसाधन आदि––के अर्थ में होता रहा है। यानी कला ऊपरी चीज है जिसका हृदय के भावों से उतना सम्बन्ध नहीं है जितना कि चमत्कार और मनोविनोद से। किन्तु आज यह काव्य और अन्य कलाओं के बीच की कृत्रिम दीवार टूट चुकी है और कला का प्रयोग सभी प्रकार की ललित सृष्टियों के लिए होता है और सबके मूल में सृजन की समान प्रेरणा काम करती है। अन्तर होता है उनके साधनों में, अभिव्यक्ति के माध्यमों में। बाबूजी ने पूरब के, पश्चिम के विचारकों के तत्सम्बन्धी मतों का हवाला देते हुए काव्य और कला में मौलिक एकता का दर्शन किया है। काव्य की भाँति कला के विचार में निम्नलिखित बातों का योग रहता है :––

(१) कलाकार का आत्मभाव (Personality) कला विज्ञान की भाँति कलाकार से निरपेक्ष नहीं है। इस आत्मभाव से कलाकार के आनंद का भी संबंध है।

(२) प्रकृति के सम्पर्क में आये हुए कलाकार के भाव और विचार जिनमें सौन्दर्य और हित, प्रेय और श्रेय का समन्वय रहता है।

(३) उन विचारों या भावों की अभिव्यक्ति और उसका माध्यम (पत्थर, स्याही, कागज आदि)।

(४) कला के द्रष्टा या श्रोता।

'संक्षेप में कह सकते हैं कि कला कलाकार के आनंद की श्रेय और प्रेय तथा आदर्श और यथार्थ को समन्वित करने वाली प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है।'

इस प्रकार बाबूजी शुक्ल जी की परंपरा के होकर भी अपने विचारों में उनसे उदार हैं और कहीं कहीं (जैसे कला के प्रसंग में) उनकी मान्यताओं के विरुद्ध भी जाते हैं।

साहित्य-समीक्षा के मानदंडों, स्वरूपों और उद्देश्य के विषय में भी काफी ऊहापोह रहा है। किसी कृति की समीक्षा का मानदंड क्या हो? यह प्रश्न विभिन्न प्रकार के विचार-सम्प्रदायों को जन्म देता है। वास्तव में इन अनेक विचार-सम्प्रदायों को दो कोटियों में समेट सकते हैं––शास्त्रीय और व्याख्या-मूलक। शास्त्रीय या निर्णयात्मक आलोचना साहित्य-सृजन के कुछ रूढ़ तत्वों को आधार बनाकर किसी भी युग की कृति की परीक्षा करना चाहती है। उसकी मान्यता यह है कि साहित्य के कुछ चिरंतन तत्व और मूल्य होते हैं उन्हीं तत्वों और मूल्यों की परीक्षा कर यह आलोचना कृति की महत्ता और लघुता का निर्णय करती है। व्याख्या मूलक आलोचना मूलतः वैज्ञानिक आलोचना है वह कृति को समग्र भाव से समझने का प्रयत्न

करती है। व्याख्यात्मक आलोचना वैज्ञानिक की भाँति वर्गभेद तो करती है किन्तु निर्णयात्मक आलोचना की तरह ऊँच-नीच का भेद नहीं बताती। व्याख्यात्मक आलोचना निर्णयात्मक आलोचना के समान प्राप्त रूढ़ नियमों को नहीं स्वीकार करती, उन पर कृति को नहीं परखती, वह कृति विशेष को परख कर उसी में से उसकी परीक्षा का मानदंड प्राप्त करती है। यानी यह युग, समाज, कृतिकार के व्यक्तित्व आदि तत्वों से निर्मित कृति विशेष के विशिष्ट व्यक्तित्व को स्वीकार करती है। इसलिए यह साहित्य-समीक्षा के नियमों को गतिशील मानती है। जाहिर है कि व्याख्यामूलक आलोचना साहित्य के सम्यक् विश्लेषण और विकास में अधिक सहायक होती है। अतः आज इसका विशेष मान है। बाबूजी भी व्याख्यात्मक समीक्षा को ही श्रेयस्कर मानते हैं किन्तु सत्य बात तो यह है कि उनकी समन्वयवादी प्रवृत्ति इन दोनों प्रकार की आलोचनाओं को दो अलग अलग छोरों पर न देख कर उन्हें एक दूसरे के पूरक मानती है। यह बात सत्य है कि साहित्य में व्याख्या के साथ साथ मूल्यांकन भी आवश्यक होता है लेकिन मूल्यांकन रूढ़ नियमों और फतवों पर आधारित हो तो सारा श्रम व्यर्थ ही समझिए। 'वास्तव में निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक आलोचना बहुत अंश में एक दूसरे पर निर्भर रहती है। बिना व्याख्या के निर्णय में यथार्थता नहीं आती है। व्याख्या में भी थोड़ा बहुत शास्त्रीय नियमों का सहारा लेना पड़ता है और किसी अंश में श्रेणी विभाजन भी हो जाता है। शुद्ध वैज्ञानिक भी जहाँ चने, गेहूँ, टमाटर या पालक में जाति-विभाग करता है वहाँ यह भी बतला देता है कि किसमें जीवन के पोषक तत्व अधिक हैं। यही मूल्य सम्बन्धी आलोचना है जो बहुत अंश में हमको निर्णयात्मक आलोचना के निकट ले जाती है। इसमें श्रेणी विभाजन आ जाता है किन्तु परीक्षक के से नंबर देना आलोचक का ध्येय न होना चाहिए। इसी के साथ नियमों को लचीला होना चाहिए। .... मनुष्य के लिए नियम हैं न कि मनुष्य नियमों के लिए। मनुष्य की सुविधा के आदर्श परिस्थितियों के साथ बदलते रहते हैं उनके अनुकूल नियमों में परिवर्तन लाने की आवश्यकता होती है।'[1]

आलोचना के दूसरे दो मुख्य प्रकार हैं, प्रभाववादी और व्याख्यात्मक या निर्णयात्मक। व्याख्यात्मक और निर्णयात्मक समीक्षाएँ अपने अपने ढंग से विश्लेषण को आधार बना कर चलती हैं किन्तु प्रभाववादी या आत्मप्रधान समीक्षा किसी कृति के समीक्षक के ऊपर पड़े हुए प्रभावों की अभिव्यक्ति को ही लक्ष्य मान कर चलती है। आलोचक का साहित्योद्यान में भ्रमण कर अपने प्रभाव को अंकित कर देना यही आलोचना का मुख्य ध्येय है इस प्रकार की समीक्षा की दृष्टि में। प्रभावात्मक आलोचना रचनात्मक होती है व्याख्यात्मक नहीं अर्थात् समालोचक कृतिकार के भावों के समानान्तर अपने पर पड़े प्रभावों की काव्यात्मक ढंग से अभिव्यक्ति करता है और यह स्वयं में एक रचना बन जाती है। ऐसी आलोचना को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बे-ठीक ठिकाने की आलोचना कही है। भाव और विचार दोनों क्षेत्रों में इसका कोई महत्व नहीं। किन्तु पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी और बाबू गुलाबराय जैसे कुछ आलोचकों ने प्रभाववादी, आलो-

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ. २६७

चना को इतनी निकम्मी चीज नहीं माना है। वास्तव में रचना सौन्दर्य-मूलक होती है और सौन्दर्य को केवल व्याख्या से, बुद्धि से नहीं समझा जा सकता। उसे अनुभव करना और कराना भी आलोचना का कार्य होता है। प्रभाववादी आलोचना इस सौन्दर्य का अनुभव कराने का ही कार्य करती है। इसीलिए बाबू गुलाबराय इसे शुक्लजी की तरह अनुपयोगी न मानकर व्याख्यात्मक और निर्णयात्मक आलोचना का पूरक मानते हैं। पूरक इसलिए कि प्रभाववादी अपने स्वच्छन्द अनियंत्रित रूप में हास्यास्पद हो जाती है। सस्ती भावुकता और भड़कीली उक्तियों का शिकार बन जाती है। वह निर्णयात्मक समीक्षा के मूल्यांकन और व्याख्यात्मक समीक्षा के विश्लेषण के साथ मिल कर उनमें सौन्दर्य की नयी दीप्ति भरती है और स्वयं भी दीप्तिमान होती है। इसके अतिरिक्त आलोचना के अन्य कई प्रकार होते हैं जिन्हें प्रकार भेद ही समझिए और उनके बारे में बहुत विवाद की गुंजाइश नहीं है। बाबूजी ने उनकी सुव्यवस्थित व्याख्याएँ की हैं।

वैसे तो बाबूजी ने साहित्यालोचन के क्षेत्र में प्रचलित सभी सिद्धान्तों और प्रश्नों को उठाया है लेकिन अधिकाँश अध्ययन होकर रह गया है अर्थात् बाबूजी ने अनेक विचारकों के विचारों को कुशल अध्यापक के समान अपने भाष्य और दृष्टान्त के साथ सुलभ बनाकर पाठकों के सामने पेश किया है। चितन का मौलिक उन्मेष इनमें लक्षित नहीं होता। साहित्यालोचन सम्बन्धी जो प्रश्न विवाद के विषय रहे हैं (जिन्हें हम साहित्य के मूल प्रश्न भी कह सकते हैं) उनकी चर्चा ऊपर की गयी है और बाबूजी के इनके बारे में क्या विचार हैं, स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु मैं यहाँ फिर एक बार दुहरा देना चाहता हूँ कि बाबूजी के चिंतन की यदि कोई सबसे बड़ी विशेषता है तो वह है उनकी समन्वयकारिणी प्रवृत्ति। विरोधी सी दीखने वाली प्रवृत्तियों, विचारधाराओं, सिद्धान्तों के तत्वों को निचोड़ कर एक नयी सम्पूर्ण मूर्ति गढ़ने की चेष्टा बाबूजी करते हैं। इस वजह से आचार्य शुक्ल की सी तेजी, उन्मेष इनमें नहीं उभर पाता। किन्तु दूसरों को ईमानदारी से समझने में सहायता मिलती है और बहुत से बिखरे बिन्दु मिलकर एक रेखा में परिणत हो जाते हैं। इसी वजह से बहुत से पश्चिमी मत भारतीय मतों के समकक्ष दीखते हैं। क्रोचे जैसे अभिव्यक्तिवादी चमत्कारवादी होने के दोष से बच जाते हैं, कलाएँ और कविताएँ एक ही प्रेरणा से प्रेरित होती दीखती हैं। व्याख्यात्मक, निर्णयात्मक और प्रभाववादी समीक्षाएँ एक दूसरे की पूरक बन जाती हैं, भाव और अभिव्यक्ति पक्ष अपना पारस्परिक झगड़ा छोड़ कर एक दूसरे की इयत्ता में लीन हो जाते हैं।

डा० नित्यानन्द शर्मा

बाबूजी की काव्यशास्त्रीय दृष्टि

साहित्य-शास्त्र के पौर्वात्य और पाश्चात्य मानदण्डों का एकत्र किन्तु सुबोध-व्याख्यान प्रस्तुत करने वाले विचारकों में बाबू गुलाबराय का महत्वपूर्ण स्थान है। आचार्य शुक्ल की भाववादी एवं वस्तुवादी तर्क-शैली तथा श्यामसुन्दरदास की पाश्चात्य सिद्धांत ग्राहिणी-दृष्टि का विनियोग सन्तुलित रूप में उनकी आलोचनात्मक उपस्थापनाओं में मिलता है। उनकी आलोचना सम्बन्धी मान्यताएँ उनके अन्तरंग का प्रक्षेप कही जा सकती हैं। कवि की भावात्मक और विचारात्मक प्रतिक्रियाओं को वैयक्तिक रुचि के परिपार्श्व की अपेक्षा वह वस्तुवादी शास्त्रीय आधार पर प्रस्तुत करने के पक्षपाती हैं। इसीलिए 'काव्य के रूप' (द्वि० सं० पृष्ठ २६२) नामक ग्रंथ में वह आलोचक को ग्रंथकर्त्ता और पाठक के बीच मध्यस्थ अथवा द्विभाषिये की संज्ञा प्रदान करते हैं"— इसका तात्पर्य यह है कि आलोचक यदि पाठक की स्थिति में काव्य की परख करे तो उसे स्वपर के विक्षेप से रहित विमल प्रतिभावान् सहृदय होना चाहिए और यदि ग्रंथकर्त्ता की दृष्टि से वह अपने दायित्व को स्थिर करने का प्रयत्न करे तो उसमें अपने निर्णयों को परसंवेद्य बनाने की क्षमता होनी चाहिए। इस प्रकार बाबूजी आलोचक का दुहरा कर्त्तव्य मानते हैं। सामाजिक परिवेश में उसे सत्साहित्य की परीक्षा करनी चाहिए। मूल्य निर्धारण की उपादेय कसौटी भारतीय साहित्यशास्त्र में "औचित्य" के नाम से अभिहित होती रही है। साहित्य का सौन्दर्यबोध समाज की विषमताओं में समता स्थापित करने की भावात्मक चेष्टा का पर्याय है। आलोचना की मूल्य सम्बन्धी स्थापनाओं पर इसीलिए बाबूजी "साहित्य और समाज" के युगपत् प्रभाव को अक्षुण्ण रूप में स्वीकार

करने के पक्षपाती हैं। बाबूजी की आलोचना सम्बंधी मान्यताएँ व्यावहारिक रूप में भी उनके स्वस्थ वैचारिक दृष्टिकोण का ही प्रतिफलन कही जायेगी।

सैद्धान्तिक दृष्टि से 'नवरस', 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' उनकी प्रमुख कृतियां हैं। नवरस में परम्परागत रसों का शास्त्रीय विवेचन नवीन उदाहरणों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। सर्वांग निरूपण की दृष्टि से 'सिद्धान्त और अध्ययन' में काव्यात्मा, साहित्य की मूल प्रेरणाएँ, काव्यहेतु, काव्यप्रयोजन, काव्य के वर्ण्य, रस और मनोविज्ञान, रस निष्पत्ति और साधारणीकरण, समालोचना के मान तथा कवि और पाठक के द्वयात्मक व्यक्तित्व जैसे महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया गया है। संस्कृत साहित्यशास्त्र के साथ हिंदी साहित्यशास्त्र के उद्भव और विकास की नव बोधक दिशा का संकेत बाबूजी ने 'प्रस्तावना' भाग में किया है। सैद्धान्तिक भूमिका भारतीय आचार्य परम्परा से ग्रहण की गई है और वाद-विभाजन की दृष्टि पाश्चात्य चिन्तन से। आशय यह कि आत्मा का सन्धान नहीं आख्यान हुआ है और काव्य रूपों का आख्यान नहीं आगत प्रभाव का हिन्दी के अनुकूल सन्धान हुआ है। साहित्य के रूपात्मक प्रयोगों में प्रबन्धादि के साथ आत्मकथा, पत्र साहित्य जैसी नव विधाओं का प्रामाणिक विवेचन उनकी सारग्राहिणी प्रवृत्ति का परिचायक कहा जा सकता है। उनकी नवीन किन्तु निष्पक्ष दृष्टि का परिचय 'काव्य रूप' की भूमिका में कथित इन पंक्तियों से हो जाता है -- "अब तो काव्य की प्राचीन परिभाषाओं में भी हेर फेर करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। नाटकों को नई रूप-रेखा मिली है। आजकल के महाकाव्यों में घटनाओं के वर्णन की अपेक्षा विचारों और भावों का अधिक विस्तार रहता है। प्रबंध काव्यों में भी गीत लहरी प्रवाहित होती दिखाई देती है। काव्यशास्त्र को भी साहित्य की गति के साथ आगे बढ़ाना होगा।"

काव्य-शास्त्र और साहित्यिक रूपों की प्रयोग-विधि तथा चलन के समानान्तर-अध्ययन के लिए उक्त उत्तेजक विचारों को स्वतन्त्र चिन्तन की दिशा समझना चाहिए। प्राचीन की चौखट में नव्य की कतर व्यौंत उतनी ही हो कि उसका मूल रूप सुरक्षित रह सके। बाबूजी की विचारणा यही थी। हिन्दी का स्वतन्त्र साहित्यशास्त्र आज लक्ष्य के अनुरूप फिर लिखा जाना चाहिए। दिशा बोध की प्रेरणा आचार्य ने दे दी, अब विचारकों का दायित्व शेष है।

भारतीय साहित्यशास्त्र में सम्प्रेषणीयता तथा वस्तु की प्रभावान्विति के प्रामुख्य के कारण रस को मूर्धाभिषिक्त किया गया है। रस को काव्यात्मा स्वीकार करने में काव्य के आस्वाद पक्ष की प्रधानता सिद्ध होती है। प्रश्न यह होता है कि काव्यार्थ अथवा भाव तथा काव्यबोधजन्य प्रभाव में सहृदय की दृष्टि से आस्वादनता कहाँ होती है? इस सम्बन्ध में मनोविज्ञानवादियों ने रस और मनोवेगों को पर्याय स्वीकार कर रस को वस्तुनिष्ठ माना है, इसके विपरीत भाववादी विचारक मनोभाव या अनुभूतिपक्ष को ही आस्वाद्य मानकर चले हैं। बाबूजी ने इस द्विधा से बचने के लिए अभिनव, मम्मट आदि की परम्परा का आश्रय ग्रहण कर अपनी भारतीय विचारणा की रक्षा की है। वह भावों को आस्वाद वस्तु और रस को भावास्वादजन्य आनन्द मानते हैं। उन्होंने मनोवेगों को रसस्वरूप से सर्वथा भिन्न मानते हुए

भावास्वाद की अपेक्षा भावास्वादजन्य रस की आनंदवादिता को मान्यता दी है—वे कहते हैं—'रस मनोवेग नहीं वरन् वह मनोवेगों का आस्वादन है। जिस प्रकार आस्वादनकर्त्ता को आस्वाद्य वस्तु के सम्बन्ध में कुछ जानकारी भी प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार रस के विवेचन में (विचारणा की दृष्टि से) मनोवेगों का विश्लेषण भी मिलता है—(सिद्धान्त और अध्ययन–पृष्ठ १७६–७७)

सहज प्रवृत्तियों और स्थायीभावों के परस्पर अन्तर्भाव की चर्चा भी बाबूजी ने की है। किन्तु इस वर्गीकरण के प्रयत्न में भी सहज प्रवृत्तियों एवं तत्सम्बद्ध संवेगों से भारतीय स्थायी भावों के साम्य निरूपण की वृत्ति ही कार्य कर रही थी। स्थायी भावों की परिगणना में वात्सल्य को समाहित कर तथा शान्त का निष्कासन कर उन्होंने निश्चित स्थायी-भावों की वैज्ञानिकता का प्रतिपादन किया। डा० गुलाबराय की शान्त रस के सम्बन्ध में यह मान्यता है कि 'शान्त कोई प्रवृत्ति नहीं होती, यदि हो सकती है तो अधीनता स्वीकृति (सबमिशन) की प्रवृत्ति। शायद इसीलिए शान्त को नाट्य रसों में नहीं माना है और वात्सल्य को स्वतंत्र रस माना है।' (सि० अ० पृ० १८६) गुलाबरायजी का यह विवेचन उनकी मौलिकता का परिचायक तो है ही साथ ही मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में वर्ण्य के रूप में ग्रहीत वात्सल्य का शास्त्रानुमोदन भी करता है। प्रसंग सापेक्ष्यता में साहित्य के स्वभाव को ध्यान में रखकर निर्णय देने की प्रवृत्ति उनके दायित्वपूर्ण दातृत्व का बोध कराती है। समसामयिक प्रचलन को ध्यान में रखकर तथा साहित्य को युग मूल्यों का मानक मानकर ही उन्होंने 'देश भक्ति' रस का समर्थन किया। वे कहते हैं—"आजकल स्वदेश–भक्ति का साहित्य इतना बढ़ रहा है कि यदि उसे स्वतन्त्र रस मान लिया जाय तो अनुचित न होगा—" (नवरस द्वि० सं० पृष्ठ ५६२) इस स्थापना में युगसाहित्य की ऐतिहासिक प्रक्रिया को सामने रखकर ही विचार किया गया है। साहित्य के मानदण्डों में सामाजिक निरपेक्षता को वह एक व्याघात समझते हैं। इसीलिए वात्सल्य, भक्ति को कोमलता और तन्मयता के आधार पर "काव्य की पर संवेद्य" कसौटी पर परीक्षित कर वह स्वतन्त्र रस कोटि में परिगणित कर लेते हैं। मानस शास्त्र की सूक्ष्म प्रविधियों के परीक्षण के आधार पर यह तथ्य और भी पुष्ट हो जाता है।

काव्य की सम्प्रेषणीयता और समग्र प्रभावान्विति को काव्यालोचन का मुख्य आधार मानकर ही उन्होंने कवि कल्पित व्यापार आदि के सामान्यीकरण पर विचार किया है। बाबूजी के अनुसार कवि के त्रयात्मक व्यक्तित्व के समान सहृदय का भी त्रिधारात्मक व्यक्तित्व होता है। प्रथम व्यक्तित्व कवि के सदृश सम्पन्न होता है—जिसमें लौकिक सुख दुख का संस्कार रूप अनुभव संचित होता रहता है। दूसरे में सहृदय संस्कारों की प्रबुद्धता से आश्रय के अनुरूप अश्रु रोमाचांदि के अनुभाव प्रकट करता है तथा तृतीय में बोध की समग्रता के कारण भावानुरूप कार्य प्रवृत्ति से रसानुभूति होती है, जिसमें साधारणीकृत व्यक्तित्व की ही सत्ता रह जाती है। (सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० २२२)

इस विवेचन में बाबूजी सहृदय के साधारणीकरण की चर्चा कर रहे हैं किन्तु आचार्य शुक्ल आदि की परम्परा में आलम्बन का विषयगत अस्तित्व भी मान कर चले हैं। फलतः

सम्पूर्ण काव्य प्रसंग को कवि की अनुभूति मात्र का प्रतीक वे नहीं मानते। इसका अर्थ भी यह हो सकता है कि ऐतिहासिक अनुकार्यादि के सम्बन्ध में लोक संस्कारों से निर्मित मन का ही विम्व व्यक्त समझना चाहिए, कवि कर्म में इतनी स्वतन्त्रता नहीं कि रस सिद्ध वस्तु व्यापार में वह मनमाना परिवर्त्तन कर उसमें रस व्याघात उत्पन्न करे। साधारण संस्कार और काव्यगत संस्कार में समानुपातिक परिवर्त्तन हो सकता है और यह स्वीकार कर लेने पर रस की वस्तु-स्थिति तथा भावात्मक स्थिति में भी अन्तरविरोध नहीं हो सकता। बाबूजी की यह स्थापना हिन्दी की समृद्ध भक्ति रचनाओं मानस आदि लक्ष्य ग्रंथों को ध्यान में रखकर ही सामने आई। इस सन्दर्भ में परीक्षित होने पर डा० नगेन्द्र की सर्वसम्मत स्थापना से भी इस मान्यता में मूलतः कोई विरोध नहीं रह जाता।

इस प्रधान समस्या के अतिरिक्त संचारियों की वास्तविक स्थिति का निर्देश भी उन्होंने मनस् शास्त्र के आधार पर किया है। श्रम, स्वप्न, निद्रा, विवोध, अपस्मार, उन्माद तथा व्याधि को वे शारीरिक-मानसिक व्यापार मानते हैं तथा इन्हें भावों में परिगणित करने के पक्ष का समर्थन करते हैं और इसकी कसौटी वे भावों का ज्ञानाश्रित होना मानते हैं। परम्परा प्राप्त तथ्यों का आधुनिक दृष्टि से समर्थन कर उन्होंने आचार्य चेतना की पुष्टता का परिचय दिया है। किन्तु "करुण रसानुभूति के स्वरूप" जैसी महत्वपूर्ण समस्याओं से उनके परांगमुख होने पर कहीं-कहीं शैथिल्य अवश्य दिखाई देने लगता है।

रसास्वाद के अतिरिक्त अलंकार, रीति, ध्वनि तथा गुण दोषादि का विवेचन भी उन्होंने आधुनिक दृष्टि से किया है। अलंकार को वे अलं अर्थात् शोभा की पूर्णता के साधन मानते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वे 'अलंक्रियते इति' और 'अलंक्रियते अनेन इति', दोनों ही मान्यताओं का समन्वय करते हैं। काव्य की शोभापूर्त्ति तथा शोभापूर्त्तिगत उपकरण दोनों का समुच्चय ही उनकी दृष्टि से अलंकार के पेटे में आ सकता है। दो विरोधी मान्यताओं का सामंजस्य प्रस्तुत करना ही उन्हें इष्ट प्रतीत होता है। उन्होंने कहा भी है—जब तक अलंकार भीतरी उत्साह के द्योतक होते हैं तब तक वे शोभा बढ़ाने वाले कहे जा सकते हैं, रुढ़ि मात्र होने पर उन्हें परम्परा मात्र के कारण भार कहा जा सकता है। अलंकार और अलंकार्य के अभेद बताने के लिए ही इस प्रसंग में उन्होंने क्रोचे की उक्ति का प्रत्याख्यान किया है। अलंकारों का काव्य में स्थान और उपयोगिता पर उनके विचार संतुलित हैं तथा डा० नगेन्द्र और श्री केलकर उनका समर्थन करते हैं।

रीति विवेचन में उन्होंने डा० श्यामसुन्दरदास के समान शैलीतत्व का विवेचन पाश्चात्य शास्त्रीय आधार पर किया हैं। एक ओर वे रीति और शैली को अभिन्न मानते हैं तो दूसरी ओर रीतियों के मूल में सन्निहित गुणों को रसोपकारक मानकर रस के साधन रूप में उनका व्याख्यान करते हैं। गुणों के आधार पर पाश्चात्य शैली तत्व की विस्तृत मीमांसा का उन्होंने भारतीयकरण का महत्वपूर्ण प्रयोग किया है। गुण और दोषों का विवेचन, भाषा और अर्थ से सम्बद्ध होने के कारण ही, उन्होंने शली-विवेचन के प्रसंग में किया है और उसे अछिद्र तथा महनीय बनाने के लिए ही दोषों से बचने की प्रेरणा दी गई है। तुलनात्मक

दृष्टि से भी उन्होंने भारतीय रीति और पाश्चात्य स्टाइल के साम्य-वैषम्य को प्रदर्शित किया है। उन्होंने भारतीय रीति के समग्र रूप की स्थापना के लिए दण्डी के 'अस्त्यनेको गिरांमार्गः' की नूतन व्याख्या की तथा भारतीय आचार्यों की वैयक्तिक शैली का प्रतिपादन सामान्य अथवा टाइप विवेचन के आक्षेप से उसे मुक्त किया। "कविस्वभावभेद निबन्धनत्वेन काव्य प्रस्थान भेदः समंजतांगहते।' कारिका के आधार पर उन्होंने "स्टाइल इज द मैन" की धारणा को पुष्ट किया और बताया कि भारतीय रीति पाश्चात्य स्टाइल के भावों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है तथा हमारे यहाँ के आचार्यों ने इस व्यक्तित्व तत्व को योरप की अपेक्षा कुछ अधिक महत्व दिया है—(सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ २३४,२३५)।

इसके अतिरिक्त ध्वनि-सिद्धान्त का विवेचन करते हुए अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्यवृत्ति का विश्लेषण उन्होंने सोदाहरण किया है। शुक्ल जी के अभिधावादी दृष्टिकोण की परीक्षा कर उन्होंने वस्तु-व्यंजना और रस व्यंजना में कल्पना की मात्रा का भेद स्वीकार किया है। रस व्यंजना में वे संस्कारों की प्रधानता स्वीकार करते हैं तथा वस्तु व्यंजना में परिस्थिति और कल्पना की अनिवार्यता मानते हैं। तात्पर्य यह कि व्यंजना प्रसंग में पाश्चात्य कल्पनातत्व को समाहित कर उन्होंने ध्वनि को आधुनिक दृष्टि से प्रत्यय-बोध का परिपुष्ट सिद्धान्त घोषित किया। इसके साथ ही लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ में रमणीयता स्वीकार कर उन्होंने आचार्य शुक्ल से अपना मतभेद व्यक्त किया। सिद्धान्त और अध्ययन में पृष्ठ २५२ पर उन्होंने सोदाहरण इस तथ्य की पुष्टि की। अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद की एकात्मता का विरोधकर उन्होंने शुक्लजी की उस मान्यता का भी विरोध किया जिसमें क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को वक्रोक्तिवाद का समानार्थी कहा गया है। इस प्रकार उन्होंने सभी काव्यांगों का तटस्थ और वैज्ञानिक निरूपण किया तथा पूर्ववर्ती आचार्यों की स्थापनाओं को आप्तता की प्रामाणिकता की अपेक्षा स्वतन्त्र दर्शन तथा परीक्षण के आधार पर स्वीकार किया।

अन्त में, संक्षेपतः कहा जा सकता है कि बाबू गुलाबराय ने तुलनात्मक, व्याख्यात्मक और सैद्धान्तिक आलोचना के मूल्यों का समन्वयात्मक दृष्टि से विवेचन किया। भारतीय और पाश्चात्य साहित्य शास्त्रीय तत्वों की परख की तथा मधुव्रती भ्रमर के समान सार-संचयन कर सम्मिलित साहित्य मानकों का एकत्र उपस्थापन किया। हिन्दी साहित्य शास्त्र की स्वतन्त्र दिशा का बोध कराया और आलोचना के लिए सामाजिक औचित्य को मूलाधार घोषित कर रस के सामाजिक पक्ष का समर्थन किया।

श्री विन्ध्येश्वरीप्रसाद भार्गव

बाबूजी की विचारधारा

बाबू गुलाबराय का दार्शनिक एवं विचारक होना उनके द्वारा रचित ग्रंथों, निबन्धों तथा साहित्यिक गोष्ठियों में प्रस्तुत किए गए विचारों से सिद्ध हो जाता है। आपके अनुसार दर्शन का क्षेत्र बहुत व्यापक है। वे कहते हैं 'संसार का कोई ऐसा विषय नहीं जो दर्शनशास्त्र से उपकृत न हुआ हो। सभी विज्ञानों के अंतिम तथ्य दर्शनशास्त्र के विवेच्य विषय होते हैं .... जहाँ-जहाँ विवेचना और ज्ञान के क्षेत्र हैं वहाँ-वहाँ दर्शन का अधिकार है 'जहाँ-जहाँ पातशाही तहाँ दावा शिवराज को' की भाँति।' इस प्रकार के दर्शन को एकमात्र आधार मानकर आलोचक प्रवर बाबू गुलाबराय हिन्दी साहित्य में पैठे और एक उच्चकोटि के निबन्धकार के रूप में उन्होंने हिन्दी भाषाभाषी जनता को चिंतन की यथेष्ठ सामग्री दी। दर्शन ने उन्हें हर क्षेत्र में साधिकार कहने, लिखने तथा परखने की शक्ति दी। यही कारण है कि बाबू गुलाबराय ने हिन्दी जगत को जो कुछ भी दिया वह स्थायित्व (Permanancy) लिए हुए है और उसमें भविष्य के कई वर्षों तक दिशा-निर्देशन करने की सामर्थ्य है।

साहित्य में बाबू गुलाबरायजी के तीन रूप हैं—

(१) दार्शनिक (२) आलोचक (३) निबन्धकार

ये विभिन्न रूप एक दूसरे से पृथक् (Compartmentalized) नहीं हैं वरन् हम समग्र रूपों में एक ही साहित्यकार की प्रतिभा के दर्शन कर पाते हैं। विचारशील मनुष्य की शक्ति, 'परीक्षण बुद्धि' से जीवन-पर्यन्त दर्शन शास्त्र के प्रकांड पंडितों के श्री चरणों में बैठ कर उन्होंने जो पाश्चात्य एवं भारतीय दर्शन शास्त्र का ज्ञान अर्जित किया था वही ज्ञान निबन्ध-बद्ध हो साहित्य-

सरिता में प्रवाहित हुआ है। जहाँ पर यह ज्ञान निबन्धकार के व्यक्तिगत अनुभवों की छाप लिए हुए है वहाँ पर वह उनके शुद्ध दर्शन के रूप में प्रकट हुआ है। इस शुद्ध दर्शन का साक्षात्कार करने के लिए चाहिए जिज्ञासु जैसी पैनी परीक्षण-बुद्धि, न्याय-परायणता और संतुलित मन।

मानवतावाद

यदि उपरोक्त महत्वपूर्ण आवश्यक बातों को ध्यान में रखकर बाबू गुलाबराय जी की रचनाओं से उनके द्वारा प्रतिपादित दर्शन का अध्ययन किया जाय तो सर्व-प्रथम हमें उनके दर्शन पर मानवतावाद की अमिट छाप मिलेगी। आपकी समस्त रचनाएँ लोक मंगलकारी और जन-कल्याण की भावना से ओतप्रोत हैं। वे "आत्मौपम्य" दृष्टि से दूसरे लोगों को देखते हैं। वे कहते हैं "दर्शन हमको आत्मौपम्य दृष्टि देता है जिसके कारण हम दूसरे के सुख-दुःख और सुभीते-गैर-सुभीतों को उसकी स्थिति में अपने को रखकर अपने सुख दुःख के रूप में देखते हैं। इस आत्मौपम्य दृष्टि के अभाव के कारण ही दुनिया में इतना संघर्ष कलह-कलुष और मारकाट है।" आपने "आत्मवत् सर्वभूतेषु" का सिद्धान्त व्यवहारिक जीवन में लाने की बात हमेशा कही है क्योंकि इसी सिद्धान्त के अनुसरण मात्र से ही संसार के स्वर्ग बनने में देर न लगेगी। आपके द्वारा प्रतिपादित मानवतावाद को लोक-कल्याणकारी सिद्धान्तों से बल मिलता है। ये लोक-मंगलकारी भावना के सिद्धान्त सबका बराबर का अधिकार (साम्य) स्वीकार करते हैं। "कोई किसी का शत्रु नहीं है और न किसी को कोई अपना शत्रु बनाना चाहता है। रक्षा में सब साथी हैं और संहार में सबसे अलग।"

बाबू गुलाबराय ने आज भी शक्ति के ज्वर से पीड़ित मानवता को 'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया' का संदेश दिया है। साथ ही वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं "हमको अपनी विनाशनी शक्ति पर गर्व नहीं करना चाहिए वरन् अपनी विधायिनी शक्ति से सुख और शान्ति का साम्राज्य स्थापित करना है।" विश्व में अनेक राष्ट्रों की शक्ति की घुड़दौड़ को देख कर वे भी 'कामायनी' की इड़ा के शब्दों में युद्धकामी देशों से कहते हैं :

"क्यों इतना आतंक ? ठहर जाओ गर्वीले।
जीने दे सबको, फिर तू भी सुख से जी ले।"

इस प्रकार उन्होंने "जिओ और जीने दो" (Live and let live) के सिद्धान्त के सहारे मनुष्य में छिपे हुए ईश्वरत्व के सामने लाकर, आन्तरिक वैभव प्रस्तुत करने की बात कही है। यही है बाबू गुलाबराय जी का मानवतावाद जिसमें शक्ति का प्रयोग 'परेषांपरिपीड़नाय' न होकर 'परेषांरक्षणाय' होने का विधान है।

समन्वयाद

बाबू गुलाबराय मूलतः समन्वयवादी रहे हैं। आपने यूनानी दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित व्यावहारिक जीवन-दर्शन का वैज्ञानिकों जैसी 'परीक्षण बुद्धि' से अध्ययन किया है। सुक़रात (Socrates), अफलातून (Plato), अरस्तू (Aristotle) आदि अनेक गुरू रहे हैं। इनके अतिरिक्त पाश्चात्य दर्शन (मुख्यतः देकार्त (Descartes), बर्कले (Berkeley)

ह्यूम, (Hume), कान्ट (Kant), विलियम जेम्स (William James) के ज्ञान सिद्धान्तों का (Epistemology), सृष्टि की उत्पत्ति (Cosmology) तथा ईश्वर के अस्तित्व (Ontology) के सिद्धान्तों का। साथ ही और अधिक मनोयोग से भारतीय दर्शन की समस्याओं का अध्ययन किया है। इसी गहन अध्ययन को पृष्ठभूमि में रखकर हम यह बात निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि नीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र, तत्वज्ञान, काव्यशास्त्र आदि के सिद्धान्त निर्णायक एवं नियामक होने की प्रेरणा मूलतः अरस्तू ही से मिली। अरस्तू ने जिन जिन मूल्यों (Values), गुणों (Virtues) तथा अवगुणों (Vices) का निर्धारण व्यक्ति अथवा समाज के लिये किया है उन्हीं नियमों को डाक्टर गुलाबराय ने भी व्यक्ति तथा समाज के लिए आवश्यक माना है। इस संदर्भ में यह कह देना असंगत नहीं होगा कि उन्होंने भी अरस्तू की भाँति गुणों तथा अवगुणों का किसी व्यक्ति में होने के लिए भी एक सीमा का निर्धारण रखा है। किसी भी व्यक्ति में किसी गुण या किसी अवगुण का किस सीमा तक होना उसके लिए श्रेयस्कर है इसका निर्णय आपने अफ्लातून (Plato) की पुस्तक Republic तथा अरस्तू की Ethica नामक पुस्तक के आधार पर किया है। यह नियम है 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' (Excess of everything is bad) और 'Rule of the golden mean' का जो समन्वयवाद के ही रूप है।

भारतीय दर्शन के अनुसार चार पुरुषार्थ प्रमुख माने जाते हैं। वे हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। मोक्ष, धर्म और काम के साम्य से उत्पन्न मुक्तावस्था का दूसरा नाम है। अतः व्यक्ति के लिए प्रधान पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, और काम हैं। यही पुरुषार्थ जब सामहिक रूप से समाज के लिए भी परम वाँछनीय होते हैं तभी आवश्यकता होती है समन्वय की। उदाहरण के लिए, अर्थ से धर्म में व्यवधान अथवा धर्म से अर्थ में किसी प्रकार का व्यवधान तो नहीं पड़ता। प्रीति और लोभ तथा काम से धर्म और अर्थ में बाधा तो नहीं पड़ती। आपने धर्म के साधारण रूप को ही प्रमुखता दी जिसके दस लक्षण हैं :

"धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विधा सत्यमक्रोधो दशकम धर्म लक्षणम्॥"

यही धर्म मनुष्यमात्र के लिए एक है।

आपने आध्यात्मिक साम्यवाद का प्रतिपादन भी किया और कहते हैं "सारा संसार ईश्वर से व्याप्त है। इसलिए त्याग के साथ भोग करो। दूसरों के माल पर कुदृष्टि मत रखो। दूसरों के भाग को छोड़ कर हमको भोग करना चाहिए। यही नीति अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में भी बरती जानी चाहिए।" आपने पूर्ण साम्यवाद असंभव बताया है। वे कहते हैं "यद्यपि सभी कार्य राष्ट्रीय महत्व रखते हैं फिर भी सब 'धान बाईस पसेरी' नहीं बेचे जा सकते। कार्यों की महत्ता में अन्तर करना होगा और उसी मात्रा में उनके करने वालों की सुख-सुविधा में अन्तर देना होगा। किन्तु इसकी भी एक सीमा है। इस सीमा को स्वीकार करना सच्चा अपरिग्रह है। यह सीमा स्वेच्छापूर्ण त्याग से आ सकती है और स्वेच्छापूर्ण त्याग संघर्ष और कटुता को कम कर सकता है।" इसी समन्वय के आधार पर आपने मनुष्य को भगवान के दैवी गुणों-शील, शक्ति और

सौंदर्य को भी अपनाने की बात कही है। आप कहते हैं "शील के बिना शक्ति राक्षसी बन जाती है। शक्ति के बिना सौंदर्य की रक्षा नहीं हो पाती और सौंदर्य के बिना शील की रमणीयता नहीं रहती।"' इसी प्रकार आपने भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद के समन्वय के लिए जोर दिया है और कहा है कि इनके उचित समन्वय से संसार की अनेक समस्याओं का निराकरण हो सकता है। वे कामना भी करते हैं कि

"पश्चिम का जीवन सौष्ठव हो विकसित
विश्वतंत्र में वितरित
प्राची के नव आत्मोदय से
स्वर्ण-द्रवित, भू-तमस तिरोहित"

आपने समन्वयवाद को मानवतावाद का ही रूपान्तर माना है क्योंकि "समन्वयवाद मनुष्य को एकांगिता से बचाता है और दूसरे पक्ष में भी सत्य के अंश को खोजने के लिए उसे उद्यत करता है। पर यह तभी संभव हो सकता है जब कि समन्वय सत्य की खोज पर ही आश्रित हो। अन्धसमन्वय बेमेलपन उत्पन्न कर देगी। यही समन्वय और समझौते की भावना भारतीय संस्कृति की देन है।"

आपने प्राचीन और नवीन के भी उचित समन्वय की बात कही है। भारतवर्ष एक प्राचीन गौरव वाला देश है। यहाँ की प्राचीन संस्कृति एवं उपलब्धियाँ संसार में अग्रणी थीं। वे हमारे लिए प्रेरणा के स्रोत हैं और हमें आगे बढ़ने का संदेश देती हैं। साथ ही हमें मिलता है पश्चिम के संपर्क से नवीनता का संदेश। किसे हम अपनी प्रगति का आधार मानें यह एक विवादास्पद बात हमारे सामने होती है। वे कहते हैं "प्राचीनता के पोषक देश की सारी आपत्तियों का उत्तरदायित्व नवीनों पर रखते हैं और नवीन लोग प्राचीनों पर। कभी कभी इस संघर्ष में कटुता आ जाती है और एक दूसरे को संकीर्ण विचारों वाला एवं कट्टर पंथी कह देते हैं। वैमनस्य बढ़ता है और सद्भावनाएँ लुप्त हो जाती हैं। वास्तव में देखा जाय तो प्राचीन तथा नवीन समय सापेक्ष है। परिवर्तन और गतिशीलता संसार का नियम है।" आपने इसके लिए यही ठीक समझा कि प्राचीन को नितान्त हेय और त्याज्य न समझें। नई परिस्थितियों के आलोक में उसके पुनः मूल्यांकन की आवश्यकता है। नवीन एवं प्राचीन के संबंध में उदार दृष्टि रखने की आवश्यकता है। अन्धानुकरण से दूर रहने की बात कही है। "आँखें मूँदकर खाई में कूदना शूरता न होगी वरन् मूर्खता होगी। नवीन के लिए मन मंदिर के द्वार सदा खुले रहें। इस मामले में पूर्वग्राहों (Prejudices) से काम न लिया जाय। नवीन का परीक्षण किया जाना चाहिए न कि उसे भूत की भाँति भय का कारण माना जाए।"

राष्ट्रीयता

आपके राष्ट्रीय विचार गाँधीवादी रहे हैं। भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात् आपके विचार में हमें अभीष्ट सफलता नहीं मिल सकी है। आपके शब्दों में हमारा लक्ष्य है कि 'देश में पूर्ण आर्थिक और साँस्कृतिक सम्पन्नता के साथ पूर्ण आंतरिक शान्ति हो और बाहर

भी सद्भावनाएँ फलवती होकर शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो। देश में 'स्टीमरोलर' का साम्य नहीं चाहिए वरन् सर्वोदयमय संगीत का सा साम्य अभीष्ट है जिसमें विभिन्न जातियाँ अपनी संस्कृति की रक्षा करती हुई देश में धर्म, अर्थ और काम की अन्विति के साथ साथ भौतिक और आध्यात्मिक समृद्धि का अनुभव कर सकें।" उनकी इच्छा अथवा लक्ष्य 'साकेत संत' के कवि के अनुसार ही है :

"सभी निज संस्कृति के अनुकूल
एक हो रचें राष्ट्र उत्थान।
इसलिए नहीं कि करें सशक्त
निर्बलों को अपने में लीन—
इसलिए कि हो विश्व हित हेतु
समुन्नति पथ पर सब स्वाधीन।"

अभीष्ट सफलता के न मिलने के कारण बताते हुए आपने संकीर्णता, दलबन्दी, पार्टीबाज़ी व सांप्रदायिकता पर करारी चोट की। आप कहते हैं "दलबन्दी, पार्टीबाजी से देश में समझौते की भावना का अभाव है। इसका मूल कारण हम लोगों में नैतिकता का अभाव है। हमारी यह नैतिक दुर्बलता केवल महात्मा गाँधी द्वारा प्रतिपादित सरल जीवन और उच्च विचार (Simple living and high thinking) के आदर्श का क्रियात्मक ढंग से अनुसरण करने मात्र से ही दूर हो सकती है। विलासमय जीवन हमें बेईमानी का सहारा लेने को बाध्य करता है। इसके अतिरिक्त हमें देश के प्रति गौरव-भावना जागृत करने की आवश्यकता है क्योंकि हम स्वतंत्र देश के नागरिक हैं। अतः हमें चाहिए कि हम कोई ऐसा काम न करें जिनसे देश को को हानि पहुँचे या उसका गौरव घटे।" कितनी समसामयिक चेतावनी है जो उनकी राज-नैतिक एवं नेतृत्व की सूझबूझ की परिचायक है।

कर्मवाद

आपने लक्ष्य की और इंगित करने के साथ साथ उसे प्राप्त करने की चेष्टा के बारे में भी कहा है। वे कहते हैं "स्वराज्य से हमारी आर्थिक समस्याओं का चाहे हल न हुआ हो (कल्पवृक्ष इस संसार में नहीं है) फिर भी हम उनके हल की ओर अग्रसर हो चले हैं। जो चल पड़ा है वह दुःख नहीं पाता। पड़ा रहना कलियुग है और चलते रहना ही सतयुग है।

"कलि शयानो भवति संजिह्यनस्तुद्वापरः।
उत्तिष्ठस्येता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्॥"

अर्थात् सोने वाला कलियुगी होता है, अंगड़ाई लेने वाला द्वापर का, जो उठ खड़ा होता है वह त्रेता का होता है और सतयुग का लक्षण चलना है। बाबू गुलाबराय की आशावादिता का दर्शन निम्न से प्रकट होता है। "हम लोग अंगड़ाई से त्रेता के उत्थान-युग में पहुँच चुके हैं और सतयुग में चलना सीख रहे हैं। "चरैवेति" का मूलमंत्र सीख लिया है। हम चल पड़े हैं। हमारे पैर कभी कभी लड़खड़ाते भी हैं और हम गिर भी पड़ते हैं परन्तु पड़े नहीं रहेंगे हमारी यही आशा है।"

दर्शन के क्षेत्र में मनोविज्ञान के बढ़ते हुए चरण देख कर आपने मनोविज्ञान संबंधी कुछ रचनाएँ की हैं। संख्या की दृष्टि से ये कृतियाँ इतनी अधिक तो नहीं हैं जितनी अन्य क्षेत्र की रचनायें। मनोविज्ञान के व्यवहारिक क्षेत्र पर आपने लिखा जो कि हिन्दी भाषा में नहीं के बराबर और अंग्रेजी भाषा में भी कोई विशेष नहीं है। इन कृतियों में मुख्यतः 'मन की बातें' नामक अपने ढंग की अनूठी पुस्तक है और 'फैशन का मनोविज्ञान', 'प्रोपेगैण्डा' 'पूर्वाग्रह' आदि निबन्ध हैं।

शैलीगत विशेषता तथा पाठ्य-विषय के आधार पर ये बाबू गुलाबराय का नवीन दिशा में मुड़ना कहा जा सकता है और आशा यह थी कि यदि ईश्वर की कृपा से यदि इनका जीवन कुछ वर्ष और रहता तो वे मानव व्यवहार के बारे में अवश्य ही अनेक पहलुओं पर प्रकाश डालते।

इस प्रकार बाबू गुलाबराय ने काव्यशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र व दर्शन के सिद्धान्त संबंधी कृतियों के अतिरिक्त अपने सुसंबद्ध, निबन्धों के माध्यम से स्वतंत्र भारत के नागरिकों को मानवतावाद व समन्वयवाद का संदेश दिया है। साथ ही राष्ट्रीयता को सुरक्षित रखने के लिए क्रियाशील रह कर नैतिक शक्ति अर्जित करने की चेतावनी दी है। इस चेतावनी का कितना अधिक महत्व है इसका अनुभव किया जा सकता है।

डा. कैलाशचन्द्र भाटिया
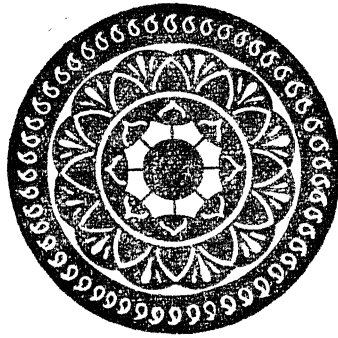
भाषा समस्या पर बाबूजी के विचार

हिन्दी के मूर्द्धन्य समालोचक एवं निबन्धकार बाबू गुलाबराय जी का नाम आधुनिक हिन्दी-गद्य के निर्माताओं में ससम्मान सुरक्षित है। बाबूजी की लेखनी शास्त्रीय एवं गम्भीर विषयों से इतर समसामयिक युगीन समस्याओं पर भी उठती रहती थी। बाबूजी जहाँ शास्त्रीय विषयों के प्रतिपादन में गम्भीर तथा आत्मकथात्मक वैयक्तिक निबन्धों में सरस रूप में रहते हैं वहाँ समस्यामूलक निबन्धों में उनका विचारक का व्यक्तित्व प्रधान हो उठता है। प्रायः दार्शनिक व्यक्ति सामयिक महत्त्व के छोटे-छोटे विषयों के प्रति उदासीन रहते हैं पर बाबूजी की वृत्ति छोटे-छोटे विषयों में भी उतनी ही रमती थी जितनी किसी भी गम्भीरतम दार्शनिक या शास्त्रीय विषय में। यही कारण है कि आप बड़े सहज रूप में 'ग्राहक पटाने की कला' जैसे विषयों पर भी बड़ी सरस एवं रोचक शैली में निबन्ध लिख देते हैं।

बाबूजी के समक्ष सामयिक समस्याओं में से 'भाषा समस्या' प्रधान रही है। इससे संबंधित अनेक विषयों पर बाबूजी ने अपने विचार प्रकट किये हैं। कुछ निबन्ध तो आपने अपने प्रारम्भिक काल में लिखे हैं जो उनके 'प्रबन्ध-प्रभाकर' शीर्षक निबन्ध संग्रह में संकलित हैं। कुछ उल्लेखनीय निबन्ध इस प्रकार हैं :—

१. **ब्रजभाषा और खड़ीबोली** : इस निबन्ध में संक्षेप में दोनों भाषा-रूपों के ऐतिहासिक विकास के साथ व्याकरणिक रूपों की भिन्नता पर भी प्रकाश डाला गया है। खड़ीबोली के उर्दू के संबंध पर आपने स्पष्ट घोषणा की है,

"खड़ीबोली उर्दू से भी नहीं निकली क्योंकि इसमें उर्दू के पूर्व कविता होना आरंभ हो

गया था। यह बात अवश्य है कि भारत की राजधानी देहली के निकट की भाषा होने के कारण मुसलमानों ने इसको अपनाया और वे लोग इसको सारे भारतवर्ष में फैलाने में सहायक हुए। उन्होंने अपने सुभीते के लिए इसमें फारसी और अरवी के शब्दों का समावेश कर इसको उर्दू का रूप दिया। **उर्दू की जमीन खड़ीबोली की रही और बेल-बूटे फारसी और अरबी के निकाल दिये गये।**"

दोनों भाषा-रूपों के सापेक्षिक महत्त्व पर भी प्रकाश डाला गया है:—

"शृंगार और वात्सल्य के लिए माधुर्य से भरपूर विनय और दीनता के लिए उपयुक्त व्रजभाषा है।''''खड़ीबोली वास्तव में खड़ी है, उसमें एक प्रकार की उद्दण्डता, दृढ़ता, व्यापकता और कठोरता के व्यावहारिक गुण हैं, इसलिए उसका व्यवहार की भाषा होना निर्विवाद है।"

२. **मातृभाषा का महत्त्व** : "भारतवर्ष में जो मौलिकता का अभाव है उसका बहुत कुछ कारण भी यही है कि हमारी शिक्षा का माध्यम हमारी मातृभाषा नहीं है। हम विचार और किसी भाषा में करते हैं और शिक्षा दूसरी भाषा में। इसीलिए हमारी शिक्षा हमारे मानसिक संस्थान का अंग नहीं बनने पाती।" कितने स्पष्ट शब्दों में बाबूजी ने नीति संबंधी आधारभूत बात कह दी है। आपकी दृष्टि में 'मातृभाषा माता के दूध के समान पवित्र और स्वास्थ्यवर्धक है, माता के समान ही हमारी गुरु है और उसी के समान स्नेहमयी है।'

३. **राष्ट्रभाषा का स्वरूप** : बाबूजी की दृष्टि में संविधान में उल्लिखित हिंदी का राज-भाषा का रूप १५ वर्ष पश्चात् तिथि वाला चेक मात्र था। आपके विचार से राष्ट्रभाषा वही हो सकती है, जो

अ. उस भाषा को देश के अधिकाँश निवासी बोलते हों। यदि बोलते न भी हों तो उस भाषा का देश की अन्य भाषाओं से घनिष्ठ पारिवारिक संबंध हो। उसमें भविष्य के लिए अधिक व्यापक होने की सम्भावना हो।

आ. वह सरल हो।

इ. उस भाषा में राजनतिक, शिक्षा संबंधी, धार्मिक और सामाजिक व्यवहार के संचालन की क्षमता हो।

ई. वह देश की संस्कृति और सभ्यता की परिचायक हो।

बाबूजी की दृष्टि में राष्ट्रभाषा के स्पष्ट दो रूप थे—

जन-साधारण के व्यवहार की भाषा —सरल से सरल

राजकाज और शिक्षा की भाषा —अपेक्षाकृत कठिन

इस संबंध में पारिभाषिक शब्दावली के प्रमाणीकरण की आवश्यकता पर आपने बल दिया और स्पष्टतः कहा कि हमको मजदूरों की भाषा को भी मान देना आवश्यक होगा क्योंकि विज्ञान को व्यावहारिक बनाने के लिए सिद्धान्त और व्यवहार के बीच की खाई को कम करना पड़ेगा। साथ ही 'राजकीय और शिक्षा-संबंधी कार्यों के लिए उसे संस्कृत के तत्सम शब्दों का अधिक सहारा लेना पड़ेगा। फिर भी उसे दुरूहता से बचाना हमारा कर्त्तव्य होगा। राष्ट्रभाषा का क्षेत्र जितना व्यापक होगा उतना ही उसे दूसरी भाषाओं के साथ समझौता करना पड़ेगा।'

४. देवनागरी लिपि की श्रेष्ठता और उसकी कुछ न्यूनताएँ : इस लेख में जहाँ नागरी के गुणों का विवेचन किया गया वहाँ उसकी न्यूनताएँ भी दिखायी गयी हैं। निष्कर्ष रूप में बाबूजी ने लिखा है, "नागरी लिपि पहले से पूर्ण और वैज्ञानिक है। थोड़े से परिवर्तनों से उसकी कमियों को दूर करके वह सारे भारतवर्ष की राष्ट्रलिपि बनाई जा सकती है। इतना ही नहीं, उस में विश्वलिपि होने की क्षमता है। इस पूर्णतया वैज्ञानिक लिपि को छोड़कर रोमन लिपि को अपनाना मूर्खता होगी।''''भारत में तो रोमक लिपि को स्वीकार करना कंचन के स्थान पर काँच और हाटक के स्थान में फाटक (फटकन) लेना कहा जायगा।'

इन निबन्धों के अतिरिक्त इस दृष्टि से 'क्या हिन्दी राष्ट्रभाषा हो सकती है,' 'हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी 'हिन्दी भाषा और साहित्य पर विदेशी प्रभाव' तथा 'हिन्दी और पंजाब' भी उल्लेखनीय हैं।

यद्यपि उपर्युक्त सभी निबन्ध बाबूजी ने विद्यार्थियों के उपयोग के लिए ही विशेष रूप से लिखे थे फिर भी स्थान-स्थान पर उनकी मौलिक सूझ-बूझ तथा प्रतिभा परिलक्षित होती है। स्पष्टवादिता उनकी शैली का विशिष्ट गुण है, अध्ययन एवं चिन्तन का प्रभाव तो अनायास ही उनके निबंधों पर दृष्टिगत होता है।

यहाँ हमारा प्रतिपाद्य विषय वह सामयिक ज्वलन्त समस्या है जिस पर बाबूजी ने अपनी अन्तिम अवस्था में प्रौढ़ लेखनी उठायी थी। उनकी मृत्यु के उपरान्त वह समस्या आज फिर मुँह फाड़कर राष्ट्र को निगलने के लिए खड़ी हुई है। ऐसी स्थिति में बाबूजी के विचार हमारे लिए मार्गदर्शक हो सकते हैं। इस समस्या पर उनके निम्नलिखित दो निबन्ध विशेष उल्लेखनीय हैं :

१. हिन्दी-विषयक कतिपय भ्रान्त धारणाओं का निराकरण

२. हिन्दी का विरोध और उसका निवारण

पहले निबंध में बाबूजी ने हिन्दी-विषयक निम्नलिखित भ्रान्तियों को लिया है और उनका निराकरण करने की चेष्टा की है। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि बाबूजी ने आज से दस वर्ष पूर्व लगभग उन सभी आरोपों का सम्यक् उत्तर दिया था एवं भ्रान्तियों का निराकरण किया था जिनकी भलभुलैयाँ में आज देश के कर्मठ नेता फँसे हुए हैं।

उनकी दृष्टि में 'हिन्दी और अन्य प्रान्तीय भाषाएँ चाहे वे उत्तर की हों चाहे दक्षिण की, एक भारतीय संस्कृति का आधार लेकर पनपी हैं। उनको एक ही धर्म का पोषण मिला है। राम-कृष्ण की पावन गाथाओं ने सबको समान रूप से आप्लावित किया है। सप्तपुरियों में जहाँ मथुरा, माया, काशी को स्थान है वहाँ काँची को भी है। मदुरा मथुरा का ही रूपान्तर है। ंगा-जमुना के साथ गोदावरी और कावेरी का नाम स्नान के समय लिया जाता है। गंगोत्री का जल रामेश्वरम् पर चढ़ाया जाता है। दक्षिण के शंकर, रामानुज और वल्लभ की विचार-धारा से सारा भारतीय साहित्य प्रभावित है। हिन्दी ने उसी भारतीय संस्कृति से पोषण ग्रहण किया है। सूर और तुलसी, वल्लभ, रामानुज और रामानन्द से ही अनुप्राणित है।" बाबूजी ने कितने सहज से उत्तर और दक्षिण की समस्या को इसमें सुलझा दिया है।

हिन्दी के अद्वेष भाव की ओर निर्देश करते हुए आपने लिखा था, "उन्नत साहित्य रखते हुए भी वह अपने ऊपर गर्व नहीं करती और न दूसरी भाषाओं को तिरस्कार की दृष्टि से देखती है। उसकी विनम्रता और कुछ-कुछ अनावश्यक हीनता ही उसकी उदारता का कारण बनी है।" हिन्दी पर किये जाने वाले आक्रमण और थोपे हुए आरोपों का आपने बड़ी संयत भाषा में निराकरण किया है,

१. हिन्दी पर साम्राज्यवाद का आरोप

आज भी यह आरोप हिन्दी पर सर्वत्र लगाया जा रहा है। इस आरोप का बाबूजी ने बड़ा करारा उत्तर दिया था, "हिन्दी के साम्राज्यवाद की कल्पना उन लोगों के मस्तिष्क की उपज है जिनके हृदय में अँग्रेजी के प्रति ललक है और जो अपने मानसिक आलस्य को किसी-न-किसी बहाने छिपाना चाहते हैं। उनकी यह विभीषिका इसलिए और भी प्रबल हो गई है कि उन्होंने अँग्रजी के सार्वभौमत्व में अपनी भाषाओं और अपनी संस्कृति का ह्रास देखा था। हिन्दी के प्रयोग के लिए उन्हें कुछ प्रयास करना पड़ेगा। बूढ़े तोतों में पढ़ने की योग्यता है, किन्तु वे पढ़ना नहीं चाहते–किसी को नीचा दिखाने के लिए उसको अत्याचारी और अपने को अत्याचार पीड़ित कहने लग जाओ तो सहज में लोग बिना सोचे-समझे उसके विरुद्ध हो जाते हैं। यह दूषित आरोप लगाने से पूर्व ठंडे दिल से बिचार कर लेना आवश्यक होगा। राष्ट्रहित के लिए एक केन्द्रीय भाषा आवश्यक है, वह कोई विदेशी भाषा नहीं हो सकती। हिन्दी अपनी व्यापकता, सम्पन्नता और ग्रहणशीलता के कारण इस पद के लिए सर्वथा उपयुक्त है। वह अपना प्रसार शक्ति के बल पर नहीं, प्रेम, भ्रातृभाव और राष्ट्रीयता के बल पर चाहती है।"

२. हिन्दीवाले जल्दबाज हैं

हिन्दी पर यह दूसरा आरोप है जिससे प्रभावित होकर राष्ट्र-नीति के संचालक कामराज, शास्त्रीजी आदि नेता भी 'धीरे चलो' नीति के समर्थक हो गये हैं। 'हिन्दी वाले जल्दबाज हैं' और इस जल्दबाजी के कारण देश का अहित कर रहे हैं।' यह आरोप इतने जोरशोर से लगाया गया है कि राष्ट्रीय विचारधारा के व्यक्ति भी इसमें बह गये। बाबूजी ने बहुत पहले ही इस नारे के दुष्परिणाम को समझ लिया था। इस आरोप का उत्तर उन्होंने इस प्रकार दिया "यह भी एक भ्रान्त धारणा है। हिन्दीवाले अंग्रेजी को एकदम विदा नहीं करना चाहते। किन्तु उनको दुःख इस बात का है कि अँग्रेजी को उचित महत्त्व देते हुए भी उनको इस बात का उपदेश दिया जाता है कि अभी हिन्दी के श्रीगणेश तक का भी समय नहीं आया है। अधिकारी लोग जब सावधानी का उपदेश देते हुए ऐसी मुद्रा धारण कर लेते हैं कि हिन्दी की उन्नति के लिए हम प्रयत्नशील हैं, आपको चिन्ता किस बात की है, तभी हमको कहना पड़ता है कि आपने कार्य की गुरुता को नहीं समझा है। हाथ-पर-हाथ रखे रहने से पन्द्रह क्या बीस वर्ष में भी वह वह अपना उचित स्थान नहीं ले सकेगी। हिन्दी को सर्व-सम्पन्न बनाने के लिए जितना प्रयत्न चाहिए उसका जब दशाँश भी नहीं होते दिखाई देता, तब हिन्दीवालों को शीघ्रता करने की माँग करनी पड़ती है। ढील सरकार की रहती है, पर जल्दबाजी का आरोप हिन्दीवालों पर किया जाता है चोर कोतवाल को डाँटता है।"

३. हिन्दी में पारिभाषिक शब्दावली की कमी है

यह तीसरा आरोप है। कुछ वर्ष पूर्व तक यह आरोप वस्तुतः सच्चा भी था पर अब तो पर्याप्त शब्दावली बनायी जा चुकी है किन्तु जितने शब्द बन गये हैं उनका भी पूरा-पूरा उपयोग नहीं किया जा रहा है। बाबूजी ने सुझाव दिया था 'असली शब्दावली पुस्तकों से बनती है, किन्तु पहले माँग होनी चाहिए तब पुस्तकें अस्तित्व में आएँगी। यह एक दूषित चक्र है कि पुस्तकें नहीं हैं इसलिए हिन्दी उच्च शिक्षा का माध्यम नहीं बनाई जा सकती और पुस्तकें तभी बनेंगी जब हिन्दी उच्च शिक्षा का माध्यम हो। बिना पानी में पैर दिये तैरना नहीं आता है। इस चक्रव्यूह को तोड़ने के लिए साहस चाहिए। प्रोफ़ेसर लोग प्रारम्भ में चाहे अँग्रेजी की शब्दावली का प्रयोग करें किन्तु हिन्दी में पढ़ाना प्रारम्भ कर दें। गाड़ी का पहिया आगे लुढ़कना चाहिए, फिर तो वह गति प्राप्त कर ही लेगा।'

'शब्दावली की प्रमाणीकरण' की समस्या पर विचार करते हुए बाबूजी ने यह स्वीकार किया है कि सब लेखकों ने अपनी 'डेढ़ चावल की खिचड़ी' पकायी है पहले तो यह प्रयोग-काल है। शब्द ढलते-ढलते ही टकमाली बनेंगे। प्रमाणीकरण या तो सरकार का काम है या विश्व-विद्यालयों के किसी संघ का। यदि विश्वविद्यालय अपने पाठ्यक्रम के पाठ्य-विषयों की सूची हिन्दी में दे तो लेखकगण भी उस शब्दावली का प्रयोग करेंगे। शब्दावली थोड़ी-बहुत अनुप-युक्त भी हो किन्तु उस पर प्रामाणिकता की मुहर-छाप लग जाने से वह चल पड़ती है। मुहर-छाप लग जाने से निकिल भी चाँदी का काम देता है। अँग्रेजी की अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली में उड़द के लिए मूँग शब्द चल पड़ा है, वही चल रहा है। मूँग के लिए दूसरा शब्द बनाया गया।"

४. हिन्दी को दुरूह बनाया जा रहा है

हिन्दी पर यह चौथा आरोप है। कुछ लोगों की शिकायत है कि जो हिन्दी आजकल लिखी जाती है, 'आम फहम नहीं है।' इस समस्या पर बाबूजी ने कहा, "वे भूल जाते हैं कि बहुत से शब्द जिनको वे आम फहम कहते हैं, हिन्दी वालों के लिए दुरूह हैं। स्वयं 'आम फहम' शब्द भी सबकी समझ में नहीं आता। यह भी कहा जाता है कि हिन्दी में संस्कृत का अधिक पुट दिया जाता है। भाषा के गौरव, उसकी एकरूपता और उसके स्थायित्व के लिए संस्कृत-तत्सम शब्दों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। तत्सम एक ही प्रामाणिक रूप रहता है, तद्भव के कई रूप हो जाते हैं।

"अंग्रेजी शब्द भी उतने सुलभ नहीं है जितने समझे जाते हैं। कोई उच्च विचार-प्रधान पुस्तक लीजिए जिसमें प्राणिशास्त्र अथवा स्वास्थ्य-संबंधी अथवा अर्थशास्त्र या राजनीति-संबंधी विषयों की चर्चा हो, वह मैट्रिक क्या बी. ए. तक के विद्यार्थियों के लिए दुरूह होती है। ....हिन्दी को संस्कृतमय बनाने का लोग विरोध करते हैं, किन्तु यह नहीं जानते कि उनकी सुपरि-चित अंग्रेजी में लेटिन का कितना पुट है।....सैकड़ों नहीं सहस्रों शब्द लेटिन से उद्भूत हैं। फिर संस्कृत बेचारी ने क्या बिगाड़ा है? जिस प्रकार ये शब्द व्यवहार से सुलभ हो गये हैं, वैसे ही हिन्दी में संस्कृत के तत्सम शब्द भी सुलभ हो जाएँगे, समय और धैर्य अपेक्षित है।" विरोधियों द्वारा मन से गढ़े हुए शब्दों की चर्चा करते हुए आपने चेतावनी दी, "हिन्दी को बदनाम करनेवाले

चाहे जिन शब्दों का आविष्कार कर लें। साथ ही, हिन्दीवाले इस पक्ष में नहीं है कि धड़ाधड़ अँग्रेजी और फारसी के शब्दों का थोक माल का-सा आयात किया जाए। कुछ विदेशी शब्द चाहे व्यवहार में आ जाएँ किन्तु उनसे क्रियाएँ और विशेषण बनाना कठिन हो जाता है।"

हिन्दी के विरोध में कुछ और कारण दिये जा रहे हैं।

५. वह एक प्रान्तविशेष की भाषा है और सारे भारत पर जबरदस्ती थोपी जाती है

इसका उत्तर देते हुए बाबूजी ने स्वीकार किया है, "हिन्दी एक प्रान्त की भाषा (प्रान्त से तात्पर्य यहाँ हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश से है जिसके अन्तगत कई राज्य आ जाते हैं) अवश्य है किन्तु उसकी अन्य प्रान्तीय भाषाओं से इतनी समानताएँ हैं कि वह प्रायः उत्तर भारत के सभी प्रान्तों में और दक्षिण में भी थोड़ी बहुत मात्रा में समझी जाती है। कोई अकेली भाषा इतने जनसमुदाय द्वारा नहीं समझी जाती है। इसीलिए इसका राष्ट्रीय और धार्मिक आंदोलनों में बहुत हाथ रहा है। यह भाषा दूसरी भाषाओं पर लादी नहीं जाती, वरन् वह एकता का सूत्र लेकर अपनी बहनों के पास विनम्र भाव से जाती है। हिन्दी को सरकार का इतना बल नहीं मिला जितना जनता का।" यहाँ मैं यह भी सूचित करना चाहता हूँ कि हाल में ही मलयालम के प्राध्यापक वेल्लायणि अर्जुनन ने हिन्दी तथा मलयालम की समान शब्दावली की खोजबीन कर यह निष्कर्ष निकाला कि लगभग ग्यारह सहस्र शब्दावली दोनों भाषाओं में समान है (ध्वन्यात्मक तथा रूपात्मक साथ ही अर्थ परिवर्तन के साथ)।

६. हिन्दी का प्रचार प्रांतीय भाषाओं के लिए अहितकर होगा

यह प्रचार भी झूँठ से भरा हुआ है। बाबूजी ने साफ कहा था, "हिन्दी अन्य प्रान्तीय भाषाओं का शोषण नहीं चाहती। अन्य प्रान्तीय भाषाओं की उन्नति पर हिन्दी को गर्व होगा और उनकी उन्नति में वह अधिक लाभ उठा सकेगी, क्योंकि उनकी भी शब्दावली अधिकाँश में संस्कृत पर आधारित होगी। हिन्दी अपनी बहनों से उधार लेने में संकोच नहीं करती। जितना हिन्दी ने और भाषाओं को अपनाया है उतना और किसी भाषा ने नहीं। **हिन्दी प्रान्तीय भाषाओं का स्थान नहीं लेना चाहती। हिन्दी तो अँग्रेजी के स्थान पर अर्न्तप्रान्तीय व्यवहार की भाषा बनकर अँग्रेजी का स्थान लेना चाहती है। अँग्रेजी ही अन्य प्रान्तीय भाषाओं की शोषक रही है, हिन्दी नहीं।**

७. वह उन्नत नहीं है, उसमें उच्च शिक्षा का माध्यम होने की क्षमता नहीं है

बाबूजी ने यह स्वीकार किया है कि "हिन्दी में उपयोगी साहित्य की कमी अवश्य है किन्तु सरस साहित्य में भी वह अन्य प्रान्तीय भाषाओं से कदम मिलाये चल रही है। यदि हिन्दी में पारिभाषिक शब्दावली की कमी है तो वह भारतीय भाषाओं का एक व्यापक अभाव है।''''हिन्दी में उच्चस्तरीय वैज्ञानिक साहित्य नहीं है तो यह दोष अँग्रेजी सरकार का कि उसने अँग्रेजी के मुकाबिले हिन्दी को प्रोत्साहन नहीं दिया। अँग्रेजी भाषा ने जो दो सौ वर्षों में वैज्ञानिक उन्नति की है उसकी हिन्दी से २० वर्ष में आशा करना अन्याय है। जब तक हिन्दी को उच्च शिक्षा का माध्यम न बनाया जायगा तब तक उसमें उच्च स्तर के ग्रन्थ कठिनाई से ही लिखे जा सकते हैं। माँग से ही उत्पादन बढ़ता है। जब तक हिन्दी में ग्रन्थ न हों तब तक उसे उच्च शिक्षा का माध्यम

नवनाया जाय, यह एक दूषित चक्र की बात हो जायगी। यह चक्र साहस करके तोड़ना होगा।"

८. उसको सीखने में दक्षिण के लोगों को कठिनाई होगी और वे उच्च स्तर की नौकरियाँ पाने में कठिनाई का अनुभव करेंगे

यह आरोप, जो पिछले कुछ माह से बड़े जोर-शोर से सुनाई दिया, आरोपों को पीछे छोड़ गया है। केन्द्रीय सरकार को अपने सारे आदेश वापिस लेने पड़े। इसका उत्तर बाबूजी ने बड़ी नम्रता से दिया है, दक्षिण के लोग जब अँग्रेजी जैसी कठिन और दूरस्थ भाषा को सुगमता से सीख लेते हैं तब हिन्दी के ही सीखने में क्या कठिनाई हो सकती है ? अँग्रेजी कोई उनकी मातृ-भाषा तो है नहीं, केवल उसका प्रचार ही अधिक है। प्रचार थोड़े प्रयत्न और समय की अपेक्षा रखता है। प्रयत्न के लिए सद्भावना और उदारता चाहिए। हमको प्रान्तीय स्तर से उठकर राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देखना होगा। दक्षिणी लोगों ने हिन्दी सीखकर जो उसमें निपुणता प्राप्त की है उसको देखकर हिन्दी कठिन नहीं कही जा सकती। यहाँ सूचनार्थ निवेदन है कि गतवर्ष अलीगढ़ मु. विश्वविद्यालय में एक मलयाली विद्यार्थी ने हिन्दी में एम. ए. की परीक्षा सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर उत्तीर्ण की।

इस संबंध में बाबूजी का एक सुझाव भी आज की परिस्थिति में विचारणीय है, "कठिनाई का पलड़ा बराबर करने के लिए उच्च सेवा संबंधी परीक्षाओं में कोई अन्य दक्षिणी भाषा अनिवार्य की जा सकती है, किन्तु उसके ज्ञान का मानदंड साधारण रखना होगा।"

९. भारत में अँग्रेजी की स्थिति

सबसे अन्तिम समस्या है भारत में अँग्रेजी की स्थिति। अँग्रेजी भारत में अँग्रेजों के साथ-साथ आयी और धीरे-धीरे उसने भारतीय भाषाओं को उसी प्रकार प्रभावित किया जिस प्रकार अँग्रेजी वेशभूषा, रहन-सहन एवं अँग्रेजी-व्यवस्था ने भारतीय समाज को। इस प्रकार एक-दो प्रतिशत जनता पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति में ही डूब गई। इनके सोचने-विचारने की भाषा अँग्रेजी ही है और सौभाग्य से या दुर्भाग्य से आज शासन की बागडोर भी इसी वर्ग के हाथ में है जिसके फलस्वरूप भारतीय संविधान की अष्टम सूची में स्वीकृत भारतीय भाषाओं में अँग्रेजी का कोई स्थान न होते हुए भी भारतीय प्रशासन की एक मात्र भाषा के रूप में अँग्रेजी आरूढ़ है। १५ वर्ष के लिए सन् १९६५ तक तो संविधान में ही अँग्रेजी का प्रयोग मान्य था, फिर संसद द्वारा पारित अधिनियम से इसके प्रयोग का काल और बढ़ा दिया गया और इधर दक्षिण के हिंसक दंगों के फलस्वरूप पुनः एक संशोधन तैयार किया गया है। अँग्रेजी देश में व्याप्त कुचक्रियों द्वारा थोपी जा रही है और आरोप लगाया जा रहा है कि हिन्दी लादी जा रही है। इस संबंध में भी बाबूजी के विचार द्रष्टव्य हैं, "हम न अँग्रेजी के अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व को अस्वीकार करते हैं और न हम संस्कृत की गौरव गरिमा को कम करना चाहते हैं। अँग्रेजी का अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व अवश्य है, किन्तु भारत अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को अच्छा रखने के साथ अपना अन्तरप्रान्तीय भीतरी संगठन भी चाहता है। इसके लिए हिन्दी की उन्नति आवश्यक है। भारत नित्य के व्यवहार के लिए अपने पैरों पर खड़ा होना चाहता है। वह कबीर के शब्दों में 'जूठी पत्तल चाटकर' नहीं जीना चाहता है। प्रान्तीय सहकारिता द्वारा वह एक राष्ट्रीय

विचारधारा का निर्माण करना चाहता है।"

अन्त में बाबूजी के शब्दों में हम हिन्दीवालों को आह्वान करना चाहते हैं, "हमको अपनी सीमाओं को भूल न जाना चाहिए। ज्ञान का सागर अपार है। इसके संतरण के लिए हम बाँस और घड़ों की घन्नई भी तैयार नहीं कर पाये हैं। इसी से हम सरकार की प्रगति से असन्तुष्ट हैं। इन टिटहरी-प्रयत्नों से काम न चलेगा। ज्ञान का सेतु बाँधने के लिए राम की सेना का सा विशाल प्रयत्न अपेक्षित है।"
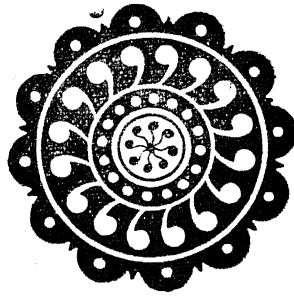
डा. भगवतस्वरूप मिश्र

हिन्दी आलोचना के विकास में बाबूजी का योगदान

बाबू गुलाबरायजी का सृजन काल पर्याप्त विस्तृत है। हिन्दी साहित्य के काल विभाजन की दृष्टि से विचार करें, तो उन्होंने द्विवेदी युग से लिखना प्रारम्भ किया था और अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक, जो नई समीक्षा के सूत्रपात के युग को स्पर्श कर लेता है, बाबूजी हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि में लगे रहे। इधर शारीरिक अस्वस्थता के कारण वे स्वयं नहीं लिख पाते थे; तब भी लिखवाते रहते थे। इस प्रकार बाबूजी का योगदान द्विवेदी युग से लेकर नए साहित्यिक युग के सूत्रपात तक के सम्पूर्ण काल में व्याप्त है। लिखना प्रारम्भ करने के बाद बाबूजी की लेखनी ने गणना योग्य कोई लम्बा विश्राम नहीं लिया था। केवल काल के विस्तार की दृष्टि से ही बाबूजी के योगदान का महत्व नहीं है, हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्तिगत विकासशीलता में भी बाबूजी का अपना एक महत्वपूर्ण योग है। इस निबन्ध का प्रतिपाद्य इसी योगदान का परिचय एवं मूल्यांकन है।

बाबूजी का सर्जन यद्यपि बहुमुखी रहा है, उन्होंने दर्शनशास्त्र, नीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र, आदि पर भी महत्वपूर्ण ग्रन्थ हिन्दी को दिये पर मेरी समझ में उनका सबसे महत्वपूर्ण व्यक्तित्व है आलोचक का जो सम्पूर्ण साहित्य में अभिव्यक्त हुआ है। उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा के बहुत ही सुन्दर, प्रौढ़, एवं मौलिक रूप के दर्शन उनके निबन्ध साहित्य में ही होते हैं। साहित्य-समीक्षा की अपेक्षा उनके निबन्धों को अगर हिन्दी साहित्य की अधिक स्थायी संपत्ति मानें तो अनुचित नहीं है। परन्तु निबन्धों में भी उनका आलोचक रूप ही झाँक रहा है। मेरी समझ में उनके निबन्ध-साहित्य के महत्व का भी एक प्रबल आधार

उनका आलोचक रूप ही है। निबन्धों में साहित्य, समाज, राजनीति आदि जीवन के विभिन्न अंगों का आलोचक का रूप अभिव्यक्त हुआ है। साहित्य का आलोचक रूप यहाँ पर भी सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इस प्रकार कुल मिलाकर बाबूजी के साहित्यालोचक व्यक्तित्व का हिन्दी-साहित्य के लिये पर्याप्त महत्व है, निबन्धकार आदि अन्य सबों से कम नहीं है।

बाबूजी का जागरूक एवं पूर्वाग्रहों से मुक्त व्यक्तित्व था। इस प्रकार अपने जीवन काल की सभी साहित्यिक मान्यताओं, समीक्षा सम्प्रदाओं और शैलियों से बाबूजी प्रभावित हुए। उनके सारग्राही व्यक्तित्व ने उन सभी से अपनी सामर्थ्य एवं अभिरुचि के अनुरूप ग्रहण किया और उन तत्वों को अपनी आलोचना के माध्यम से हिन्दी जगत् को दिया। उन तत्वों में सिद्धान्त की दृष्टि से अपना कुछ मौलिक न होते हुए भी ग्रहण संरक्षण तथा हिन्दी जगत् को देने की शैली पर तो बाबूजी की एक अमिट छाप है ही। इतने लम्बे काल के सब स्रोतों से ग्रहण करने वाले बाबूजी को हम समन्वयवादी व्याख्याता अथवा अध्यापक समीक्षक के अतिरिक्त शायद अन्य किसी भी शब्द या शब्द-समुदाय से ठीक-ठीक परिचय नहीं दे पाते हैं। पर फिर भी शास्त्रीय प्रतिपादन की व्यवस्था की दृष्टि से बाबूजी को हिन्दी-समीक्षा के विकास में शुक्लोत्तर काल के प्रधानतः शुक्ल-सम्प्रदाय के ही उन समीक्षकों में मान सकते हैं जो शुक्लोत्तर सम्प्रदायों से उदारतापूर्वक ग्रहण करने में न हिचकने के कारण उस सम्प्रदाय की समीक्षा के क्षेत्र विस्तार करने में बहुत सहायक हुए हैं। बाबूजी के मूल्यांकन योग्य आलोचक रूप का विकास वास्तव में शुक्लोत्तर ही है।

बाबूजी ने जब हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में वस्तुतः प्रवेश किया था उस समय तक शुक्ल–समीक्षा–पद्धति का स्वरूप संघटन हो चुका था। शुक्लजी ने नीतिमूलक रसवादी, काव्य सिद्धान्त की आधार-भूमि पर समीक्षा का तात्विक विवेचन एवं रसग्राहिता के लिये सक्षम एक वैज्ञानिक तथा मौलिक पद्धति का निर्माण कर दिया था। शुक्लजी का रसवादी दृष्टिकोण भी लोक मंगलमय की भावना पर अधिष्ठित है, वे लोक मंगल एवं रस में अभेद मानकर ही चलते हैं। उनकी दृष्टि में लोकमंगल की प्रत्यक्ष, स्मृति, कल्पना एवं काव्य जगत की प्रत्येक अनुभूति रसमय होती है। वे रसानुभूति को अनिवार्य रूप से मंगलमय मानते हैं। रस की आनन्दात्मकता को तो सिद्धान्ततः अस्वीकृत नहीं किया जा सकता है। पर शुक्लजी ने रस के आनन्दानुभूति के तत्व की अपेक्षा उसके वैयक्तिक रागद्वेष से निर्मुक्त करने की क्षमता पर अधिक जोर दिया है। इस प्रकार शुक्लजी ने व्यक्ति के रागात्मक-प्रसार तथा तद्जनित शील-निर्माण को काव्य का प्रमुख प्रयोजन माना है। व्यक्ति और समाज की कल्याण कामना वाले काव्य के उपयोगितावादी तथा उपयोगिता एवं नैतिकता से निरपेक्ष आनन्दानु-भूति को ही काव्य का सर्वस्व मानने वाले कलावादी इन दोनों दृष्टिकोणों के समन्वय की एक भारतीय आधार भूमि शुक्लजी ने प्रस्तुत कर दी थी। शुक्लजी ने एक तरफ हिन्दी-समीक्षा को वह कसौटी प्रदान की जिस पर कसकर भारतीय काव्यसिद्धान्तों का आधुनिक परि-स्थितियों के अनुरूप ग्रहण अथवा आधुनिक साहित्य के स्वरूप एवं अंकन में समर्थ उसके उदार स्वरूप का उद्घाटन संभव हो सका। दूसरी तरफ उन्होंने उस रासायनिक पद्धति का भी

निर्देश कर पाये हैं जिसके द्वारा हम पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों को अपनी संस्कृति के अनु-रूप परिवर्तित करके ग्रहण कर सके हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य के मूल्यांकन के लिये पाश्चात्य एवं भारतीय समीक्षाशास्त्र के सिद्धान्तों के समन्वय से निर्मित एक नवीन समीक्षा-सिद्धान्त एवं पद्धति की अपेक्षा है। शुक्लजी ने इसी की आधार भूमि प्रस्तुत की है। शुक्लोत्तर समीक्षकों को यह चिन्तन, समीक्षा पद्धति एवं समन्वय की आकांक्षा विरासत के रूप में प्राप्त हुए। उन्होंने इस निधि को लेकर आगे विकास किया। बाबूजी भी इस विरासत को प्राप्त करने वाले व्यक्तियों में से हैं। उन्होंने इसका उपयोग भी समीचीन रूप में ही किया।

शुक्लोत्तर समीक्षा के प्रयासों का समन्वयात्मक समीक्षा-पद्धति एवं शास्त्र के निर्माण में कितना महत्वपूर्ण योगदान है, इसके द्वारा वे समीक्षा के सार्वभौम मानदण्ड को कितना स्वरूप संघटन कर पाये हैं, इसको मैं सम्पूर्ण समीक्षा के विकास, उसके विभिन्न प्रयासों तथा समीक्षकों के महत्व के मूल्यांकन का एक मानदण्ड स्वीकार करने का प्रस्ताव करता हूँ। आज विश्व राष्ट्रीयता से अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर बढ़ता जा रहा है। एक देश की संस्कृति के स्थान पर सार्वभौम संस्कृति की भावना दृढ़तर होती जा रही है। इसलिये किसी भी देश की संस्कृति का मूल्य विश्व संस्कृति के निर्माण एवं विकास में योगदान के महत्व में ही है। इसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व साहित्य के एक सार्वभौम समन्वयात्मक समीक्षा-शास्त्र की आव-श्यकता है। इसके लिए भारतीय योगदान में हिन्दी समीक्षा के समन्वयवादी दृष्टिकोण के महत्व का अंकन भी आज की समीक्षा का एक प्रश्न है। इस दृष्टि से शुक्लजी की उपल-ब्धियाँ तथा शुक्लोत्तर प्रयास नितान्त उपेक्षा की वस्तु नहीं है। शुक्लजी अपनी परवर्ती हिन्दी समीक्षा एवं समीक्षकों के लिए प्रेरणा का अजस्र स्रोत है। विभिन्न समालोचकों ने शुक्लजी से विभिन्न तत्वों की प्रेरणा ग्रहण की है तथा इस समन्वयवादी दृष्टिकोण की स्थापना में सभी ने योगदान किया है। प्रायः सभी बड़े समीक्षक एक सार्वभौम मानदन्ड एवं शैली के निर्माण की आवश्यकता का अनुभव करते हैं तथा उनमें समन्वयवादी दृष्टिकोण विकसित करने की आकांक्षा भी स्पष्ट है। अपने युग में समन्वय की ओर बाबूजी का ध्यान सबसे अधिक आकृष्ट हुआ है। वे समीक्षा को सार्वभौम आधार पटल देने के इच्छुक रहे हैं और इस अभिलाषा की पूर्ति भी समन्वय द्वारा ही संभव मानते हैं। ऊपर हमने शुक्ल जी तथा हिन्दी समीक्षा की समन्वयवादी दृष्टि का जो इतना विस्तृत विवेचन किया है उसका मुख्य कारण भी यही है। हमें बाबूजी की समीक्षा का मूल्याँकन इसी समन्वयवादी दृष्टिकोण के आलोक में करना है। बाबूजी ने हिन्दी समीक्षा में शुक्ल जी की तथा शुक्लो-त्तर समीक्षा की समन्वयवादी दृष्टि को कितनी प्रगति अथवा नवीन चेतना प्रदान की है, इसी को बाबूजी की समीक्षा के महत्व को आँकने के लिए मानदण्ड के रूप में ग्रहण करने का मेरा प्रस्ताव है।

ऊपर हमने शुक्ल-समीक्षा की उपलब्धियों पर विचार किया है पर इस समीक्षा के अभाव एवं मर्यादायें भी हैं। शुक्लजी में समीक्षक के लिए अपेक्षित रसग्राहिता तलस्पर्शिता

एवं व्याख्या की सूक्ष्म क्षमता तो थी, पर इसके साथ ही उनमें प्रखर वैयक्तिक रुचि तथा पूर्वाग्रहों का अभाव भी नहीं था। यही कारण है कि उनकी समीक्षा-पद्धति में युग सापेक्ष परिवर्तनशीलता नहीं आ पाई। इस अभाव की पूर्ति के लिए शुक्लोत्तर काल के विभिन्न समीक्षकों ने अपने अपने ढंग से प्रयास किये और फलस्वरूप हिन्दी-समीक्षा की धारा कई सम्प्रदायों की सरिणी में प्रवाहित होने लगी, तथा पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों और समीक्षा पद्धतियों को अधिक स्वच्छन्द ग्रहण एवं प्रयोग भी प्रारम्भ हुआ। शुक्ल समीक्षा की इन सीमाओं से बाबू गुलाबरायजी भी पूर्णतया परिचित हैं। वे शुक्लजी के दृष्टिकोण को पूरा अस्वीकृत तो नहीं करना चाहते हैं, उसी को अपनी समीक्षा का मूल आधार पटल बनाते हैं। पर उसमें विस्तार के आकांक्षी एवं पूर्वाग्राहिता के अभाव के समर्थक हैं। इसके लिए उन्होंने विभिन्न मतवादों के समन्वय को ही ठीक समझा है। शुक्लजी के परवर्ती काल की समीक्षा में कुछ अतिवादी दृष्टियों का भी विकास हुआ। समीक्षकों का एक समूह अत्यन्त आत्मपरक तथा प्रभाववादी पद्धति को अपना कर चला। दूसरों में साहित्य का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव प्राप्त करके एक स्वतन्त्र समीक्षा-सम्प्रदाय बन गया। साहित्य को व्यक्तिवादी भावना फ्रायड आदि के सिद्धान्तों का आधार लेकर मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा पद्धति का रूप धारण कर गई। ये तीनों ही पद्धतियां बाबूजी के साहित्य के अतिवादी दृष्टिकोणों पर अधिष्ठित लगती हैं। उन्हें साम्प्रदायिक मतवादों में भी काव्य-संबंधी आंशिक सत्य के ही दर्शन होते हैं। उनके समक्ष शुक्ल समीक्षा के अतिरिक्त हिन्दी की ये सब तथा अन्य भी कतिपय इनसे अधिक प्रौढ़ एवं व्यापक (जैसे सौष्ठववादी ऐतिहासिक, मानवतावादी, समाजशास्त्रीय आदि) समीक्षा–पद्धतियाँ थीं। बाबूजी इनमें से किसी के साथ पूर्वग्रह पूर्ण अनुचित गठबन्धन अथवा किसी की अनावश्यक उपेक्षा या घृणा से पूर्णतया बचे रहे हैं। यह उनकी तत्वाभिनिवेश की क्षमता तथा समन्वयवादी भावना का ही परिणाम है। बाबूजी ने इन सभी पद्धतियों से तत्त्व ग्रहण करके इनकी साहित्य-समीक्षा के लिये आंशिक उपयोगिता एवं प्रामाणिकता को स्वीकार किया है तथा इसके साथ ही अपनी सारग्राहिणी बुद्धि और सहृदयता का भी परिचय दिया है। बाबूजी ने विभिन्न समीक्षा पद्धतियों से रस ग्रहण किया है। मधुकर बनकर नहीं मधमक्खी बनकर। बाबूजी का प्रयास इन सब तत्वों को मिलाकर मधु में परिणित करने का है। कुछ अंशों में वे इस कार्य में सफल भी हुए हैं। पर बाबूजी की अपनी सीमायें हैं। उनके पास शुक्लजी की तरह अपना कोई उपज्ञ सिद्धान्त तो है नहीं, इसके साथ ही वे शुक्लजी की तरह काव्य-सिद्धान्तों का अन्तःसाक्षात्कार कर भी नहीं पाये हैं। शुक्ल जी की तरह बाबूजी में किसी सिद्धान्त की स्वानुभूति से जन्य गहरी निष्ठा भी नहीं है। काव्य सिद्धान्तों के विभिन्न तत्वों को मिलाकर उन्हें पूर्णतया मधुरूप में परिणत करने के लिए शुक्लजी के से व्यक्तित्व की आवश्यकता है। बाबूजी का समीक्षक व्यक्तित्व पूर्णतः उस कोटि तक नहीं पहुँचा है। यही कारण है कि उनकी तत्वाभिनिवेशी दृष्टि भी उन सम्प्रदायों एवं सिद्धान्तों के उपयोगी तत्वों को स्थूल रूप से ही ग्रहण कर पाई है। उनका प्रतिपादन या खण्डन भी शुक्लजी की तरह तलस्पर्शी नहीं अपितु

प्राय: सतही रहा है । इस प्रकार बाबूजी की सारग्राहिणी बुद्धि विभिन्न मतवादों से समन्वय के सूत्र ही निकाल पाई है; उसको कोई मौलिक नवीन एवं स्पष्ट स्वरूप नहीं दे पाई ।

शुक्लोत्तर समीक्षा में कतिपय ऐसे समीक्षक भी इस क्षेत्र में आये जिन्होंने शुक्ल जी की प्रयोगात्मक समीक्षा का अनुसरण करके कतिपय मध्यकालीन तथा इतिवृत्तात्मक प्रवृत्ति के आधुनिक कवियों के अध्ययन प्रस्तुत किये । ये समीक्षक शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित समीक्षा-पद्धति के विकास की स्थिति का संरक्षण ही कर पाये । उसे नवीन आदर्शों की ओर उन्मुख करके युग को नवीन प्रगति नहीं दे सके । साहित्य की प्रगति के इतिहास में उस अवस्था और काल का भी अपना एक महत्व है जो अपनी पूर्व अर्जित सम्पत्ति के आकलन एवं संरक्षण द्वारा भावी विकास के लिए एक सशक्त भूमि तैयार करते हैं । हिन्दी के शुक्ल सम्प्रदाय में दीक्षित अध्यापक या स्नातक आलोचकों का यही महत्व है । पं० विश्वनाथ प्रसाद, डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, पं० कृष्णशंकर शुक्ल, गिरिजादत्त, रामनरेश त्रिपाठी आदि इसी कोटि के समीक्षक हैं । इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालयों के विभिन्न स्नातकों द्वारा प्रस्तुत समीक्षायें तथा शोधकृतियाँ इसी संरक्षण पद्धति की कोटि में आती हैं । बाबूजी की प्रयोगात्मक समीक्षाओं की यह एक प्रमुख विशेषता है । संरक्षण की दृष्टि से उनका महत्व किसी से कम नहीं है ।

हिन्दी में छायावाद के जन्मदाता कवियों तथा उसके प्रति सहानुभूति रखने वाले आलोचकों द्वारा एक ऐसी प्राणवान समीक्षा-पद्धति की भी उद्‌भावना हुई जिसके द्वारा हिन्दी समीक्षा की वास्तविक प्रगति संभव हो सकी । भारतीय रस सिद्धान्त के सामन्जस्यवादी दृष्टिकोण को अपनाने के कारण इस समीक्षा पद्धति में अधिक व्यापकता एवं समीचीनता थी । काव्य का मंगल से विच्छेद न करते हुए भी उसके रूढ़ नैतिकता से मुक्त स्वरूप को पहचानने का प्रयत्न इन समीक्षकों ने किया है । इस पद्धति में कवि की प्रकृति एवं युग के प्रभाव तथा उसकी मन:स्थिति के मनोवैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक समीक्षा शैलियों से सम्यक विश्लेषण की भी प्रवृत्ति है । परम्परागत शास्त्र के जटिल बन्धनों तथा वैयक्तिक एवं वस्तु-परक समीक्षा पद्धति की ओर सौष्ठववादी समीक्षक झुका है । इसी समीक्षा ने सही अर्थों में हिन्दी समीक्षा को शुक्लजी की उपलब्धियों का आकलन करते हुए आगे बढ़ाया है । इसके प्रमुख समालोचक श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, सुधांशुजी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० नगेन्द्र आदि हैं । बाबू गुलाबराय ने इस पद्धति और दृष्टिकोण से भी बहुत कुछ ग्रहण किया है । उनकी समीक्षा में शुक्ल-सम्प्रदाय और सौष्ठववादी समीक्षा पद्धति के तत्वों का मिलन हो गया है । शुक्ल सम्प्रदाय में पूर्णतया दीक्षित न होते हुए भी बाबूजी में उसके शास्त्रीय पक्ष का निर्वाह है । आलोचक वस्तु के सौष्ठव की अनुभूतिमयी व्याख्या में स्वच्छंदतावादी, मनोवैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक समीक्षा पद्धतियों से भी कतिपय उपयोगी तत्वों का अपनी समीक्षा में समावेश करने से बाबूजी हिचके नहीं हैं । इस प्रकार इनकी शैली वर्तमान हिन्दी समीक्षा की विभिन्न पद्धतियों के उपयोगी तत्वों के मिश्रण से निर्मित शैली कही जा सकती है । यह प्रधानतः शुक्ल समीक्षा का ही विकसित रूप है । यह भी आज की हिन्दी समीक्षा

की एक विशिष्ट शैली है जिसका प्रमुख प्रतिनिधित्व बाबूजी करते हैं। हिन्दी समीक्षा द्वारा अर्जित उपयोगी तत्व अपनी साम्प्रदायिक कटुता एवं अन्तर्विरोधों से मुक्त होकर बाबूजी आलोचना में संकलित हो गये हैं। इस प्रकार इन्होंने समीक्षा के अधुनातन विकास से प्राप्त प्रायः अधिक निर्विवाद एवं अधिक उपयोगी तत्वों के संरक्षण द्वारा एक ठोस भूमि तैयार करने का प्रयास किया है। बाबूजी का महत्व संरक्षण द्वारा युग को गतिशील बनाये रखने में है, नवीन चेतना प्रदान करने में नहीं।

समन्वय भारतीय संस्कृति समाज और धर्म की आधारभूमि है। यह देश प्रारंभ से ही विभिन्न संस्कृतियों, विचारधाराओं और जातियों के मिलन एवं संघर्ष की भूमि रहा है। विचार स्वातंत्र्य एवं तर्क के महत्व को स्वीकार करने के कारण इस देश के बुद्धि जगत में विभिन्न विचार धाराओं में बहुत प्राचीन काल से ही सामन्जस्य स्थापित होता आया है। भारत की सभी महान् क्रांतियों का आधार समन्वय और सामन्जस्य ही रहा है। भारत का आधुनिक काल भी विभिन्न विचार-धाराओं के घोर संघर्ष का युग है। इसलिए इसमें भी समन्वय एवं सामन्जस्य की आकांक्षा प्रारंभ से ही अन्तस्तल में विराजमान एक प्रबल शक्ति है। आधुनिक काल का सर्जन और भावन इसी स्रोत में आगे बढ़ रहा है। इसीलिए विभिन्न धारायें कभी एक दूसरे से मिलकर अमोघशक्ति आकलित करती हुई तथा कभी एक दूसरे से फटकर क्षीण होती हुई प्रतीत होती हैं। समन्वय की आकांक्षा धारा की दोनों क्रियाओं में है। सर्जन और भावन की ये धारायें विरोधों के परिहार तथा समन्वय के लिए-किसी अधिक ठोस भूमि को ढूंढ़ने के लिए ही तो फटती हैं, इसलिए विरुद्ध दिशाओं को प्रगति करती हुई प्रतीत होती हैं। पर उनमें भी समन्वय की—मिलकर एकाकार हो जाने की आकांक्षा है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। मिलन में वेगवान तथा उर्जस्वित होने के कारण समन्वय की धारा स्पष्ट दिखाई पड़ती है। आज हिन्दी समीक्षा की विरोधी धारायें भी समन्वय की भूमिका ही तैयार कर रही हैं। पर बाबूजी की समीक्षा में तो इन विभिन्न धाराओं के मिलन के ही दर्शन होते हैं; अन्तर्विरोध का आभास नहीं मिलता है। इसलिए उनका तो परिचय समन्वय शब्द से ही ठीक-ठीक दिया जा सकता है। बाबूजी में जो अनेक धाराओं का मिलन है उसका महत्व मिलन की आधारभूमि के प्रस्तुत करने तथा धाराओं के पारस्परिक विरोधों के परिहार में है।

हिन्दी में अभी बहुत से शब्द अपने शास्त्रीय अर्थों में पूर्णतया प्रतिष्ठित नहीं हो पाए हैं। इसलिए उनका बहुत बार शिथिल प्रयोग हो जाता है। किसी भी भाषा के व्यवस्थित चिन्तन के विकास में ये शिथिल प्रयोग बाधक हैं। हिन्दी में कभी-कभी समन्वय, सामंजस्य, सम्मिश्रण आदि शब्दों का प्रायः पर्यायवाची मानकर एक ही अर्थ में प्रयोग होता है। परस्पर में आपाततः विरुद्ध प्रतीत होने वाली वस्तुओं के प्रतीयमान विरोध का निषेध करके उनके मूल में विराजमान अभेद सत्ता तथा उनके तत्वों के अविरोधी स्वरूप का साक्षात्कार ही वास्तविक समन्वय है। इसमें किसी एक आधार भूमि को स्वीकार करके चलना पड़ता है और उसी के अनुकूल-उसी कसौटी पर कस कर-सिद्धान्तों का ग्रहण एवं त्याग भी बिना किसी कसौटी के

एक का त्याग तथा दूसरे का ग्रहण समन्वय नहीं है। इसलिए समन्वय में मूलभूतक सिद्धान्त के आधार पर परिष्कार की प्रक्रिया ही सबसे महत्वपूर्ण है। दो विरोधों में कुछ समता के दर्शन मात्र कराना समन्वय नहीं है। कबीर का मार्ग समन्वय का मार्ग था। क्योंकि उसमें ग्रहण, त्याग, एवं परिष्कार तीनों किसी मूलभूत सिद्धान्त के आधार पर किए हैं। शुक्लजी ने भारतीय समीक्षा-दृष्टि को आधार मानकर पश्चिमी मतवादों का उसके साथ समन्वय किया है। यही कारण है कि उनको खण्डन मण्डन का मार्ग भी पर्याप्त रूप में अपनाना पड़ा है। किसी भी दृष्टि से अथवा तर्क की प्रबलता से ही दो विरोधी मतवादों में समानता और एकत्व की स्थापना समीकरण है, समन्वय नहीं। समन्वय के अतिरिक्त अन्य सभी दृष्टिकोणों में नीर क्षीर विवेक की अपेक्षा समझौते का अधिक महत्व हो जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि बाबूजी के स्वभाव में विग्रह और खण्डन की अपेक्षा समझौता अधिक है। वे कांग्रेस के द्वारा उद्भवित राजनीतिक एंव साम्प्रदायिक समझौते के वातावरण में पले हैं तथा इस दृष्टि को आत्मसात् भी कर पाये हैं। पर इसके साथ ही दर्शन, मनोविज्ञान और हिन्दू संस्कृति के गम्भीर अध्ययन से प्राप्त बुद्धि और निर्मल हृदय के कारण वे अनृत के साथ समझौता नहीं कर पाये हैं। दूध में मिले हुए पानी को वे दूध नहीं समझ बैठे हैं। हां, मानव की कमजोरी और सीमाओं का ध्यान रखते हुए पानी मिलाने वाले के प्रति वे क्षमाशील अवश्य रहे हैं। बाबूजी का "रामाय स्वस्ति रावणाय स्वस्ति" का मार्ग नहीं है। पर उन्होंने इस सत्य को स्वीकार किया है कि प्रत्येक काव्य सिद्धान्त में आंशिक सत्य अवश्य होता है। यही कारण है कि बाबूजी की काव्य संबंधी मान्यतायें व्यापक उदार एवं विशद हैं। शुक्लजी की तरह वे पूर्णतया स्वानुभूत तो नहीं, पर सुचिन्तित अवश्य हैं। इसलिए बाबूजी समन्वय के लिए अपेक्षित किसी स्वानुभूत एवं निष्ठा के रूप में परिणत काव्य-दृष्टि को आधार मानकर विरोधी मतवादों के विरोधों का खण्डन, मण्डन एवं निषेध के द्वारा सर्वत्र अभेद की भूमि तो नहीं तैयार कर पाये, पर तर्क की प्रखरता, चिन्तन की सूक्ष्मता एवं विशदता तथा नीर क्षीर की तत्वाभिनिवेशी प्रवृत्ति से विभिन्न मतवादों से अन्तस्तल में विराजमान समता और एकता की झांकी देकर उनमें कुछ तत्वों की दृष्टि से समीकरण और उच्च कोटि सामन्जस्य तो सर्वत्र ही स्थापित कर पाये हैं। अध्यापक-समीक्षक के लिए ऐसी सामन्जस्य भावना अत्यधिक उपादेय और आवश्यक है। बाबूजी को अध्यापक समीक्षक कहना बहुत कुछ समीचीन है। कहीं-कहीं बाबूजी की समीक्षा सम्मिश्रण एवं यत्किंचित् समझौते के स्तर पर भी उतर आती है। अध्यापक तथा सम्पादक के नाते बाबूजी समीक्षा क्षेत्र के दो विरोधों में (व्यक्तियों और मतवादों-दोनों ही क्षेत्रों के) समझौते का मध्यम मार्ग भी अपनाना पड़ा है। समीक्षा की प्रगति के लिए बाबूजी ने कभी-कभी झगड़ों को समाप्त करना आवश्यक एवं अपरिहार्य समझा है। इसके लिए समझौते के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं था। तत्कालीन राजनीति और गांधीवाद के प्रभाव के फलस्वरूप बाबूजी की समीक्षायें भी इस समझौते के मार्ग की ओर ही अधिक झुकीं। ऐसे स्थलों में बाबूजी अप्रिय एवं कटु सत्य से तो बचे हैं पर साथ ही में उन्होंने कभी अनृत से समझौता भी नहीं किया है। ऐसे स्थलों पर भी उनकी

अनुभवतीक्ष्य दृष्टि मध्यम मार्ग खोज ही लेती है। यह 'क्षुरस्य धारा' वाला दुर्गम पथ है। पर बाबूजी इस पर भी चल लेते हैं। इस प्रकार बाबूजी की समीक्षा दृष्टि प्राय: सामन्जस्य और समीकरण के स्तर पर रहती हुई कभी समन्वय की उच्च भूमि को स्पर्श करती है तथा कभी समझौते के स्तर पर नीचे उतर आती है। पर लम्बी एवं सजग साहित्य-साधना से प्राप्त नीर क्षीर विवेक में समर्थ बुद्धि अनृत का समर्थन कभी नहीं करती।

'नवरस', 'हिन्दी नाट्य विमर्श', 'सिद्धान्त और अध्ययन' और 'काव्य के रूप' बाबूजी की सैद्धान्तिक आलोचना ग्रन्थ हैं तथा 'प्रसादजी की कला', 'हिन्दी काव्य विमर्श' 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' आदि रचनायें उनकी प्रयोगात्मक समीक्षा के अन्तर्गत आती हैं। इन दोनों ही में बाबूजी की शैली सामन्जस्यवादी है पर सैद्धान्तिक समीक्षा में इस सामन्जस्यवादी दृष्टिकोण का अधिक महत्व है। प्रयोगात्मक समीक्षा सिद्धान्तों की अनुवर्तिका है तथा उन्हीं की पुष्टि और निर्वाह का एक साधन भी है। बाबूजी की हिन्दी साहित्य की देन भी सिद्धान्त-चिन्तन के क्षेत्र में ही अधिक है। बाबूजी प्राचीन शास्त्रीय रूढ़ अर्थ में नहीं अपितु आधुनिक स्वच्छन्द एवं उदार अर्थ में रसवादी कहे जा सकते हैं। इस रसवाद का पश्चिम की संवेदनीयता, कलावाद और नीतिवाद से कोई विरोध नहीं है। रस को मनोवैज्ञानिक धरातल पर लाकर समझने के प्रयास करने वाले हिन्दी समर्थकों में बाबूजी का स्थान मार्ग निर्देशकों में भी माना जा सकता है। पर इस नई दिशा में वे कुछ संकेत ही अपने 'नवरस' में कर पाये हैं। काव्यानुभूति की मनोवैज्ञानिक व्याख्या का कोई ऐसा ठोस आधार नहीं दे पाये जिस पर आगे सुदृढ़ भवन तैयार किया जा सकता। प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य रस, भाव आदि तत्वों की काव्यानुभूति के विभिन्न स्तरों के रूप में मनोवैज्ञानिक व्याख्या सम्भव है पर इस दृष्टि से इसका विशद विवेचन अभी हिन्दी जगत में होना है। रूढ़ियों का सम्मान करते हुए भी स्वच्छन्द चिन्तन का स्वागत करने की बाबूजी की उदार दृष्टि का पता कुछ नई दृष्टियों के संकेत से चलता है। इस उदार दृष्टि का आज की समीक्षा में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। बाबूजी काव्य के आस्वाद पक्ष के साथ ही उसके प्रभाव पक्ष पर भी विचार करते हैं, इसलिए उनके दृष्टिकोण में आनन्द और उपयोगिता दोनों का सुन्दर मिश्रण हो गया है। उनकी इस दृष्टि में भी अध्यापक का सामन्जस्य है पर आचार्य का समन्वय नहीं। बाबूजी ने 'काव्य की आत्मा' नामक निबन्ध में रस की दृष्टि से काव्य के सम्पूर्ण तत्वों में समन्वय स्थापित करते हुए प्राचीन आचार्यों के दृष्टिकोण का समर्थन ही किया है। भारतीय काव्य तत्वों के पारस्परिक समन्वय का परिचय देने में तो बाबूजी पूर्ण सफल हुए हैं। पर भारतीय एवं पाश्चात्य तत्वों का पारस्परिक समन्वय न इस निबन्ध में हो सका है, न अन्यत्र ही। वे इस ओर उन्मुख अवश्य प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि क्रोचे के अलंकार सम्बन्धी दृष्टिकोण का संकेत भर किया गया है। अन्यत्र भी समन्वय की कोई स्पष्ट भूमि नहीं दिखाई पड़ रही है। बाबूजी के विवेचन में भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य तत्वों के तर्क द्वारा पुष्ट तथा उसी के द्वारा उद्भावित सर्वमान्य रूप का सामन्जस्यपूर्ण आकलन अवश्य श्लाघ्य है।

साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद में समन्वय का कुछ प्रयास बाबूजी ने किया है। इस प्रसंग में उन्होंने शुक्लजी के मत का इस सिद्धान्त के आधार पर कुछ परिष्कार भी किया है। इसके लिए उन्हें शुक्लजी का मृदुल शब्दों में खण्डन भी करना पड़ा है, "इस सम्बन्ध में मेरा इतना ही निवेदन है कि व्यक्ति कुछ समान धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण नहीं वरन् अपने पूर्ण व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा में सहृदयों का आलम्बन बनता है........। अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ वे हमारी रसानुभूति का विषय बनती हैं। हमारी समस्या इस बात की है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व बनाये रखते हुए हम उसे किस प्रकार सहानुभति का विषय बना सकते हैं।"[1] यहाँ पर बाबूजी ने साधारणीकरण से सम्बन्ध रखने वाली काव्य-शास्त्र की एक मूलभूत समस्या की ओर संकेत किया है जो शुक्लजी के परवर्ती काल के चिन्तन का एक महत्वपूर्ण सूत्र है। इन पंक्तियों में बाबूजी शुक्लजी के मत की सीमाओं तथा काव्यशास्त्र के अधिक विशद मत का हृदय से साक्षात्कार सा करते प्रतीत होते हैं। यहाँ पर बाबूजी की काव्य में व्यक्ति और सामान्य तथा साधारणीकरण एवं व्यक्ति-वैचित्र्य में समन्वय स्थापित कर सकने वाले सिद्धान्त की आवश्यकता और संभावना की आकांक्षा का स्पष्ट आभास मिल रहा है। पर उस सिद्धान्त के स्वरूप की रेखायें सुस्पष्ट नहीं हो पाई हैं। ऐसे स्थल चिन्तन की प्रगति दे सकने में समर्थ बाबूजी की समन्वय की क्षमता में विश्वास अवश्य पैदा कर देते हैं। अगर बाबूजी के पास शुक्लजी की तरह कोई स्वानुभूत, प्रौढ़ एवं व्यापक काव्य-सिद्धान्त होता तो वे हिन्दी समीक्षा को समन्वय के मार्ग पर और अधिक अग्रसर कर पाते। 'काव्य और कला' नामक निबन्ध में सामन्जस्य की प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट एवं तर्कपुष्ट है। इसमें बाबूजी ने निर्भीकतापूर्वक सत्य पक्ष का समर्थन करते हुए सामन्जस्य स्थापित किया है—"पाश्चात्य देशों में काव्य का सम्पूर्ण पक्ष कला के अन्तर्गत है। भारतीय परम्परा में उसका व्यावहारिक अर्थात् शिल्प सम्बन्धी पक्ष।"........ ....काव्य की नीची श्रेणियाँ कला में अवश्य आ जाती हैं। किन्तु ऊँची-नीची श्रेणियों का नितान्त पार्थक्य नहीं हो सकता।"

बाबूजी की प्रयोगात्मक समीक्षा को हिन्दी के आलोचकों ने समन्वयात्मक व्याख्यात्मक, अध्ययनमूलक समन्वयात्मक व्याख्या शैली आदि विभिन्न नाम दिये हैं। इन सभी के द्वारा बाबूजी की समीक्षा पद्धति के किसी न किसी स्वरूप का उद्‌घाटन तो होता ही है, अतः इस दृष्टि से ये सभी ग्राह्य हैं। बाबूजी की शैली में व्याख्या एवं निर्णय का सामन्जस्यता तो सर्वत्र है पर इतने से ही उनकी समीक्षा का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। शास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक एवं चरित्रमूलक समीक्षा पद्धतियों के तत्वों का सम्मिश्रण भी उनकी शैली की एक प्रधान विशेषता है। अध्यापक को विद्यार्थी को ध्यान में रखकर प्रतिपाद्य विषय के सभी पक्षों का तटस्थ उद्‌घाटन करना आवश्यक होता है और इस प्रकार उसे समीक्षा की अनेक शैलियों का उपयोग करना पड़ता है। यह निर्विवाद है कि बाबूजी हिन्दी के प्रौढ़

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ ४३

अध्यापक समीक्षक है। विद्वानों के गम्भीर एवं गूढ़ विवेचन के लिए अपेक्षित उच्चस्तर से विद्यार्थियों के उपयुक्त सरलता तथा सुबोधता के स्तर पर उतर आने की बाबूजी में अद्भुत क्षमता है। इस तथ्य को बाबूजी स्वयं भी स्वीकार करते थे। बाबूजी की इस सुबोध शैली की एक यह भी विशेषता है कि विचारों की शास्त्रीयता और प्रौढ़ता अक्षुण्ण बनी रहती है। चिन्तन का सतही रूप होने पर भी विचारों में हल्कापन नहीं आया है। बाबूजी की समीक्षा में पूर्वाग्रहों एवं रागद्वेष जनित वैर विरोध से मुक्त, सत्य-प्रियता, सरलता एवं सादगी है। इनकी समीक्षा का मानदण्ड एवं शैली विभिन्न सम्प्रदायों के तत्वों का मिश्रित रूप है। इसमें विभिन्न मान्यताओं का भी मिश्रण हो गया है। कबीर में कवि रूप का प्राधान्य है अथवा सुधारक रूप का, रासो की प्रामाणिता, केशव की हृदयहीनता, विद्यापति भक्त अथवा शृंगारी आदि हिन्दी समीक्षा के अनेक विवादग्रस्त प्रश्नों पर बाबूजी ने विभिन्न दृष्टिकोणों में मध्यममार्ग को अपनाया है। विभिन्न मतों का सम्यक परिचय देने में सूक्ष्म होते हुए भी कहीं कहीं पर बाबूजी का सामन्जस्यवादी मध्यम मार्ग पाठक को किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा पाता है। विरोधी दृष्टिकोणों में अन्तर्निहित सत्यांश का साक्षात्कार तो पाठक कर पाता है, पर उन विरोधों से उत्पन्न संशय का निराकरण नहीं होपाता।

इसके अतिरिक्त बाबूजी की समीक्षा-पद्धति की दो और प्रधान विशेषतायें हैं, कृति का शास्त्रीय विवेचन तथा नैतिक मूल्यांकन। वे अपनी मान्यताओं और निर्णयों की पुष्टि में भारत और यूरोप के काव्य-शास्त्रों के मत बराबर उद्धृत करते चलते हैं। इससे उनकी समीक्षा अपुष्ट वैयक्तिक प्रभावों (अभिरुचियों और निर्णयों) का संग्रह मात्र कभी नहीं बनती। बाबूजी काव्य के नैतिक प्रभाव का स्पष्टीकरण एवं मूल्यांकन तो अवश्य करते चलते हैं, पर उन्हें नैतिकता के लिए काव्यानंद का बलिदान अमान्य है। उनकी लोकमंगल एवं काव्यानन्द संबंधी धारणाओं पर शुक्लोत्तर काल की विकसित तथा स्वच्छन्दता की ओर उन्मुख धारणाओं का गहरा प्रभाव है। यहाँ पर भी बाबूजी ने समझौते और सामन्जस्य का ही मार्ग अपनाया है।

बाबूजी ने ऋत् एवं अनृत का निर्णय करने में सक्षम तत्वाभिनिवेशी बुद्धि तथा कवि की अनुभूति एवं काव्य के वर्ण्य विषय में लीन होने की सहृदयता की प्रचुरता है। वे कवि की मनःस्थिति के विश्लेषण तथा उसके देश काल के आकलन में कहीं-कहीं शुक्लजी से आगे बढ़े हुए भी प्रतीत होते हैं तथा अपनी सादगी और सरलता से पाठकों को मुग्ध भी कर लेते हैं। पर चिन्तन की गूढ़ता एवं उपज्ञता तथा विचार प्रस्तुत करने की प्रौढ़ एवं गरिमामयी शैली से शुक्ल जी की तरह पाठक को अभिभूत नहीं कर पाते। बाबूजी ने समीक्षा सिद्धान्तों का तर्क एवं बुद्धि के द्वारा साक्षात्कार किया है, पर शुक्लजी को अपने सिद्धान्तों का केवल बौद्धिक प्रत्यक्ष ही नहीं है अपितु वे सिद्धान्त उनके स्वानुभूत हैं। यही कारण है कि उनके प्रतिपादन एवं उपयोग में जितनी निष्ठा एवं विश्वास शुक्ल जी को है उतनी निष्ठा और आत्मविश्वास के साथ हिन्दी के अन्य आलोचक प्रायः अपनी बात नहीं कह पाते हैं। बाबूजी में शुक्लजी के समान समीक्षक की तल-स्पर्शिता, सूक्ष्मता एवं

प्रखरता के दर्शन नहीं होते। वे छायावादी आलोचकों की तरह न गूढ़ रहस्यों एवं अति-क्रान्त भाव-माधुर्य के उद्घाटन का दम भरते हैं और न समाजवादी एवं मानवतावादी समीक्षकों की तरह से बहुत ऊँचाई का स्पर्श करने की स्पृहा ही रखते हैं। सादगी, सरलता, स्पष्टता एवं संबद्धता ही उनके समीक्षक रूप की प्रधान विशेषतायें हैं। बाबूजी गम्भीर एवं जटिल विषयों के विवेचन में भी सरल एवं प्रसाद गुण सम्पन्न शैली अपनाने में पूर्णतया सफल हुए हैं। उनमें वचन-वक्रता का सहज एवं स्वाभाविक रूप ही मिलता है। उनके व्यंग्यों में दर्शन की तीक्ष्णता नहीं है अपितु हास्यविनोद की सरसता है। उनके व्यंग्य बाबूजी के स्वभाव का सफल प्रतिबिम्ब भी हैं। उनके निबन्धों में तो ये व्यंग्य विषय और शैली दोनों ही दृष्टियों से बहुत महत्वपूर्ण हैं, पर उनकी समीक्षाओं में भी इनका योगदान विषय को स्पष्ट करने तथा वातावरण को सरस एवं सद्भावना पूर्ण बनाए रखने की दृष्टि से अनुपेक्षणीय है। संक्षेप में बाबूजी आचार्य समीक्षक नहीं अपितु अध्यापक, निबन्धकार, आलोचक एवं सम्पादक के समन्वित रूप थे।
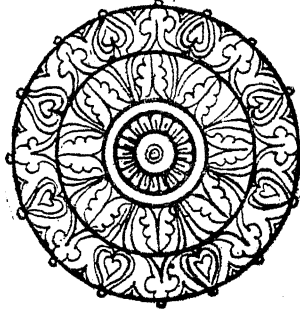
डा. बलवन्त लक्षमण कोतमिरे

बाबूजी की लोकप्रियता

हिन्दी साहित्य की प्रगति में बाबू गुलाबराय जी की रचनाएँ अपना विशेष स्थान रखती हैं। हिन्दी की गति को अपनी तपस्या के द्वारा आगे बढ़ाने का कार्य करने वाले पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा बाबू श्यामसुन्दर दास के समान बाबू गुलाबराय जी का साहित्यिक कार्य भी हिन्दी साहित्य की प्रगति की दृष्टि से विशेष महत्व रखता है। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में बाबूजी का प्रवेश एक अचानक घटना हुई और हिन्दी के विकास में उनका योग महत्वपूर्ण बना। बाबूजी दर्शनशास्त्र तथा कानून के विद्यार्थी होने पर भी हिन्दी के लिए उन्होंने जो किया है वह हिन्दी साहित्य के इतिहास में अंकित रहेगा।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में बाबूजी का स्थान निश्चित करते समय "उड़ गये फुलवा रह गई बास' की सत्यता का निरूपण मिल सकता है। बाबूजी ने जो भी कार्य हिन्दी को आगे बढ़ाने के लिए किया है उसकी सुगंध तो आज विद्यार्थियों को प्रेरणा दे रही है। हो सकता है कि भविष्य में उनकी साहित्यिक कृतियों को पाठ्य-क्रम में इतना स्थान नहीं मिले परन्तु हिन्दी की प्रारंभिक तथा प्रयोगात्मक दशा में बाबूजी ने अपने व्यक्तिगत विचारों के आधार पर जो भी कार्य किया है वह सदा अभिनंदनीय तथा पूजनीय रहेगा।

पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका के साहित्यिक रूप को लेकर हिन्दी के विविध साहित्य-रूपों की प्रगति में हाथ बँटाया और अनेक लेखकों और कवियों को हिन्दी की सेवा करने की प्रेरणा दी। उसी प्रकार बाबू श्यामसुन्दर दास जी ने अपने 'साहित्यालोचन' के द्वारा हिन्दी के विद्यार्थियों में समीक्षात्मक प्रवृत्तियों के मार्ग-प्रदर्शन का साहित्यिक कार्य

किया। इन दो कलाकारों की हिन्दी-सेवा का मूल्यांकन तत्कालीन परिस्थितियों के आधार पर किया जा सका। उनके द्वारा तो हिन्दी का झंडा आगे बढ़ाया गया। कुछ उस प्रकार की प्रारंभिक परिस्थितियों में बाबूजी को अपना साहित्यिक कार्य करना पड़ा। द्विवेदी युग तथा आधुनिक युग का सुन्दर समन्वय उनकी कृतियों में मिलता है। हिन्दी साहित्य के उस काल-विभाग में हिन्दी का प्रसार तथा विस्तार जैसे जैसे अधिक प्रमाण में होने लगा वैसे वैसे हिन्दी में सरल तथा उपयोगी साहित्यिक ग्रंथों की मांग होने लगी। अहिन्दी प्रान्तों के विद्यार्थियों में इस प्रकार के ग्रंथों की अधिक आवश्यकता मालूम पड़ने लगी। इस मांग की साभार पूर्ति करने का साहित्यिक कार्य बाबूजी के ग्रंथों ने किया। साधारण बुद्धि के परिश्रमी विद्यार्थियों के लिए ये ग्रंथ बहुत ही उपयोगी होने लगे। इसी प्रकार हिन्दी के विद्यार्थियों में हिन्दी के प्रति प्रेम तथा विश्वास की भावना निर्माण करने में बाबूजी का बड़ा हिस्सा रहा है।

बाबूजी के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', 'हिन्दी काव्य विमर्श', 'हिन्दी नाट्य विमर्श', 'सिद्धान्त और अध्ययन', 'काव्य के रूप' आदि ग्रंथों ने हिन्दी की पढ़ाई में अधिक सहायता प्रदान की है। उसी प्रकार 'प्रबंध प्रभाकर', 'अध्ययन और आस्वाद', 'निबंध रत्नाकर', 'मेरे निबंध' आदि निबंध संग्रहों के द्वारा उनका विचार-पक्ष भी हिन्दी प्रेमियों के सामने आया। निबंधों के प्रति उनका यह प्रेम उनकी आलोचनात्मक रचनाओं में झाँकता हुआ दिखाई देता है। 'सिद्धान्त तथा अध्ययन' शीर्षक पुस्तक की 'अपना दृष्टिकोण' नामक भूमिका में यह बात बाबूजी ने बहुत ही स्पष्टता से लिखी है। उनकी निबंध की शैली का सुन्दर परिपाक 'फिर निराशा क्यों', 'मेरी असफलताएँ' आदि निबंध-ग्रंथों में मिलता है। उनके द्वारा संपादित ग्रंथों में 'प्रसादजी की कला' एवं 'आलोचक रामचंद्र शुक्ल' विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी ग्रंथ हैं। इसी प्रकार बाबूजी के साहित्य-भंडार का बड़ा रसमय चित्र खड़ा किया जा सकता है।

उनकी साहित्यिक कृतियों को परखने के बाद बाबूजी का संपूर्ण व्यक्तित्व हिन्दी के एक सहज, सरस तथा मार्मिक समीक्षक के रूप में दिखाई पड़ता है। उनकी कृतियों में कहीं भी अहं का भाव नहीं दिखाई पड़ता। सर्वत्र लोक-कल्याण की भावना का प्रादुर्भाव मिलता है। द्विवेदी युग की नैतिक तथा साँस्कृतिक परंपरा का उदार एवं संयत समन्वय मिलता है। वास्तव में अपनी शक्ति के अनुसार हिन्दी के विद्यार्थियों को पाठ्य-पुस्तकों के रूप में साहित्यिक रचनाओं को देने का उनका यह दुस्साहस हिन्दी के लिए वरदान बना। इस प्रकार की पूर्णता कम आलोचकों में मिलती है। प्रकृति से दार्शनिक होने पर भी अपने निबंधों और साहित्यिक रचनाओं के द्वारा द्विवेदी युग तथा और आधुनिक युग का सुगम तथा सार्थक समझौता अपने पाठकों के सामने रखने का प्रयत्न उनके द्वारा हुआ है। बाबू श्यामसुन्दरदास तथा आचार्य रामचंद्र शुक्ल की समीक्षात्मक परंपरा का सुबोध तथा सरल रूप उनकी कृतियों में मिलता है। आगरा से प्रकाशित 'साहित्य संदेश' पत्रिका द्वारा उनकी साहित्यिक अभिरुचि का संदेश भारत के सभी पाठकों को मिला है।

अहिन्दी भाषा-क्षेत्रों में बाबूजी का कार्य अत्यंत सराहनीय है। उन्होंने अपनी साहित्यिक कृतियों का निर्माण विद्यार्थियों के लिए ही किया है। उनके द्वारा संपादित 'साहित्य-संदेश

पत्रिका के लेखों ने भारत के सुदूर प्रान्तों में हिन्दी का अध्ययन करने वाले परीक्षार्थियों को हिन्दी के विकास का आलोक दिखाया। ऐसे बहुत ही कम विद्यार्थी मिलेंगे जिन्होंने बाबूजी की साहित्यिक कृतियों की सहायता न लेकर हिन्दी का अध्ययन किया हो। उनका 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' इस दृष्टि से महत्वपूर्ण कृति है। बाबूजी की साहित्यिक कृतियों का अध्ययन करने के बाद यह पता लगता है कि उन्होंने अपनी आलोचनात्मक रचनाओं का निर्माण उत्साही तथा साधारण विद्यार्थियों के कल्याणार्थ किया है। उन्होंने कभी भी अपनी कृतियों की मौलिकता का दावा नहीं किया। उन्होंने 'सिद्धान्त और अध्ययन' पुस्तक की भूमिका के रूप में लिखे गये 'अपना दृष्टिकोण' में इस संबंध में इस प्रकार स्पष्ट लिखा है—"पाश्चात्य सिद्धान्तों से जो आलोक मिला है, उसको मैंने बिना संकोच के अपनाया है। किन्तु जहाँ पाश्चात्य सिद्धान्तों में मौलिक भेद है, जैसे काव्यानंद के आध्यात्मिक पक्ष में, उसकी उपेक्षा नहीं की गई है।" इससे स्पष्ट लगता है कि बाबूजी ने समालोचना की भारतीय परंपरा को शक्तिशाली बनाने का एकमात्र प्रयास किया है, भले ही उनके इस प्रयास में आलोचना का गाँभीर्य तथा गहराई का ऊँचा रूप नहीं मिलता।

बाबूजी ने अपने साहित्य-चिन्तन में कभी भी गहरे पानी में बैठकर अपने पाठकों के कोमल भावों को डुबा देने की प्रक्रिया नहीं की। उन्होंने खुद किनारे बैठकर अपने पाठकों के द्वारा साहित्य के सागर का मंथन कराने की प्रणाली का निर्माण किया है। हाँ, यदि बाबूजी प्रारंभ से ही हिन्दी के विद्यार्थी होते तो हिन्दी साहित्य की गहराई को नापने का कार्य अत्यंत कौशल से कर सकते। परन्तु अध्ययन तथा चिन्तन करने के बाद जो विचार उनके मन में निर्माण होते थे उन्हें अपने शब्दों में व्यक्त करने का कार्य केवल दूसरों के लाभार्थ ही किया है। इस प्रकार के निर्माण में उनके अहं का रूप कहीं भी नहीं मिलता। उनके व्यक्तित्व की सादगी तथा हृदय की सहृदयता की प्रतिच्छाया इन साहित्यिक रचनाओं में मिलती है। उन्होंने अपनी दार्शनिकता को साहित्यिक क्षेत्र में प्रगट करने समय अपने मन की सरलता एवं शालीनता का परिचय दिया है। इसीलिए उनकी कृतियों में साहित्य का केवल गाँभीर्य देखना या ढूँढ़ना उनके प्रति अन्याय होगा। बाबूजी ने जो भी कार्य किया है वह अपनी शक्ति तथा रुचि के अनुसार किया है और यह साहित्यिक कार्य-भविष्य के साहित्य-मनीषियों के मार्ग-प्रदर्शन कराने में सहायक होगा यही मेरा दृढ़ विश्वास है।

परिशिष्ट

*

बाबू गुलाबराय जी का वंश-वृक्ष
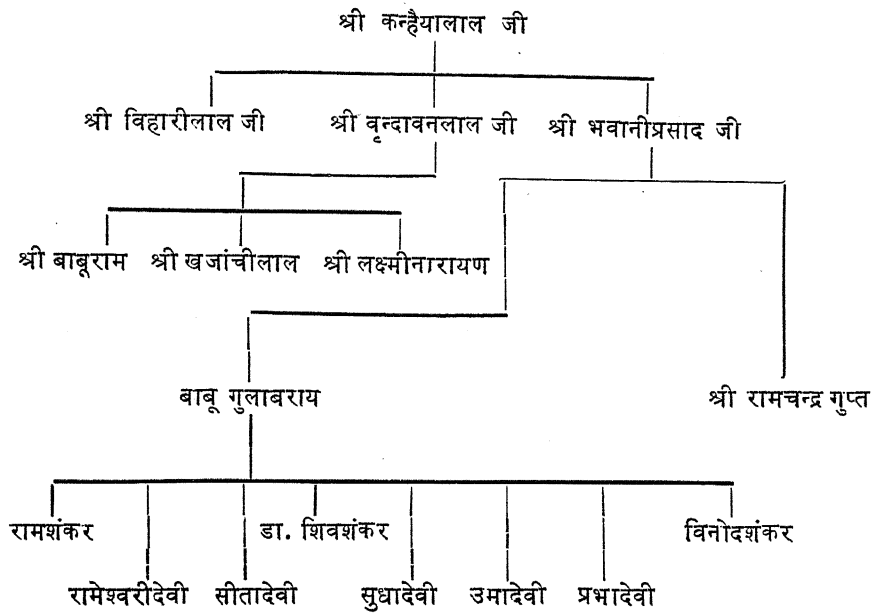
बाबूजी के पत्र

[हम बाबू गुलाबराय के लिखे हुए पत्रों में से पाँच ऐसे पत्र यहाँ दे रहे हैं जिनमें बाबूजी के जीवन और उनकी साहित्य साधना के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण तथ्य उपलब्ध होते हैं। इनमें प्रारम्भ के तीन पत्र डा० विजयेन्द्र स्नातक को तथा शेष दो पत्र डा० गंगाप्रसाद गुप्त 'बरसैंया' को लिखे गये थे।]

*

गोमती-निवास
दिल्ली-दरवाजा
आगरा
९–७–५३

प्रिय स्नातक जी,

आपका कृपापत्र मिला। स्मरण करने के लिए धन्यवाद। शीघ्र उत्तर न दे सका इसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ। मेरा जीवन वृत्त संक्षेप में इस प्रकार है :—

जन्म माघ शुक्ला ४ संवत्त १९४४

मेरे पूज्य पिताजी सरकारी नौकरी के कारण इटावा रहते थे। वहीं मेरा जन्म हुआ। बाल्यकालीन वातावरण धार्मिक रहा। मेरी माताजी को सूर और कबीर के पदों से बड़ा प्रेम था। पिताजी रामायण, गीता आदि का पाठ बड़ी भक्ति के साथ किया करते थे। मेरे पिताजी के मैनपुरी चले जाने पर मेरा प्रारम्भिक जीवन मैनपुरी में बीता। वहाँ के हाईस्कूल से मैंने एन्ट्रेन्स परीक्षा पास की। फिर आगरा कालेज से सन् १९११ में मैंने बी० ए० पास किया और सन् १९१३ में दर्शनशास्त्र में सेन्टजान्स कालेज आगरा से एम० ए०। एम० ए० करते ही हिज हाइनेस महाराजा छतरपुर का पहले तो 'दार्शनिक दरबारी' के रूप में और पीछे से प्रायः चार वर्ष बाद प्राइवेट सेक्रेटरी नियुक्त हो गया। कुछ दिन अस्थायी रूप से दीवान भी, (दीवान जी नहीं रहा)। सत्रह वर्ष वहां नौकरी करने के पश्चात् (श्री महाराजा साहब का देहावसान हो जाने के पश्चात्) यहाँ चला आया। यद्यपि हिन्दी लिखने-पढ़ने का व्यसन सन् १९१३ में लग गया था किन्तु यहाँ लौटने पर मेरा व्यसन ही मेरी आजीविका का साधन बन गया (वैसे छतरपुर से भी पेन्शन मिलती है किन्तु जीवन-निर्वाह के लिए और भी प्रयत्न करना पड़ता है।) पहले सेन्टजान्स कालेज में आंशिक समय काम करने वाला प्राध्यापक हो गया और 'साहित्य-सन्देश' का भी सम्पादक हो गया।

सस्नेह—
आपका,

(गुलाबराय)

गोमती-निवास
दिल्ली-दरवाजा
आगरा
२७-८-५३

प्रिय स्नातक जी,

आपका कृपापत्र मिला। मैं अपना जीवन वृत्त तो आपको भेज ही चुका हूँ। सबसे पहला मेरा आलोचना सम्बन्धी लेख सन् १९१६ के करीब इलाहाबाद के 'विद्यार्थी' में 'काव्य का कलाओं में स्थान' शीर्षक से निकला था। उसमें दार्शनिक हैगिल के आधार पर कलाओं का विवेचन किया गया था। उस समय तक डाक्टर श्यामसुन्दरदास का साहित्यालोचन नहीं निकला था। रहा आलोचना के सम्बन्ध में। मैं आलोचना-क्षेत्र में १९३२ के लगभग आया यानी जबकि मेरे 'नवरस' का वर्तमान संस्करण निकला। १९२७ या २८ में 'नवरस' का छोटा संस्करण निकला था। ३२ के बाद आलोचना क्षेत्र में आया। शायद ३५ या ३६ में साहित्य-सन्देश का सम्पादन भार लिया। तभी से आलोचना क्षेत्र में विशेष प्रगति हुई। आलोचना सम्बन्धी कुछ लेख 'प्रबन्ध प्रभाकर' में भी निकले थे। उनमें 'काव्य का कलाओं में स्थान' शीर्षक लेख के साथ कई और लेख थे जैसे 'काव्य-कला और चित्रकला' 'समाज पर साहित्य का प्रभाव', 'काव्य का लक्षण और उसका मानव जीवन से सम्बन्ध' और कुछ व्यावहारिक आलोचनाएँ भी, जैसे बिहारी, भूषण आदि की।

मेरी आलोचना सम्बन्धी पुस्तकों के नाम इस प्रकार हैं :—

१—हिन्दी नाट्य विमर्श—लगभग सन् ४२

२—सिद्धान्त और अध्ययन)
) सैद्धान्तिक आलोचना
३—काव्य के रूप)

४—हिन्दी काव्य विमर्श

५—हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास

साहित्य सन्देश के स्फुट लेख, जो अभी पुस्तक रूप में प्रकाशित नहीं हुए हैं।

मैं सबसे अधिक महत्व 'सिद्धान्त और अध्ययन' को देता हूँ।

मेरा आलोचना का दृष्टिकोण समन्वयात्मक है। उसमें रसानुभूति के अतिरिक्त नैतिक मूल्यों का भी समावेश रहता है क्योंकि मैं काव्य में सौन्दर्य बोध पर बल देता हुआ भी काव्य को लोकहिताय ही मानता हूँ। लोक-हित में समाज की वह व्यवस्था लेता हूँ जिसमें विशिष्ट विभाजन के साथ विशिष्ट अंगों का पारस्परिक सामन्जस्य और सहयोग होगा। मैं शून्य की

एकता नहीं चाहता, विशेषताओं से सम्पन्न समन्वयात्मक एकता चाहता हूँ जो साहित्य इस ओर ले जाय उसीको मैं सत्साहित्य मानता हूँ। और आप कमलेश जी को दी हुई Interview पढ़ लें।

मेरे ऊपर विदेशी आलोचकों का बहुत कम प्रभाव पड़ा है। शुक्लजी का ऋण अवश्य स्वीकार करता हूँ। मेरे दर्शन के अध्ययन ने आलोचना को भी सहायता दी है। दर्शन से जो जीवन में सन्तुलन आया है वही आलोचना में। व्यावहारिक आलोचना में से ही आलोचना इतनी गुण-दोष दर्शन की कम रही है। दोष मेरी दृष्टि में कम आते हैं जो आते हैं उन पर कभी-कभी व्यंग्य भी कर देता हूँ। उसका मुझे गर्व नहीं है। गर्व मुझे यदि है तो इस बात का कि मैं पुस्तक की असली देन को खोजना चाहता हूँ। पुस्तक का सार बहुत अच्छी तरह निकाल सकता हूँ और उसको पाठकों के सामने अच्छे से अच्छे शब्दों में रख देता हूँ। आलोचना को में शुष्क बनाना नहीं चाहता हूँ। अपने निबन्धों की शैली का समावेश आलोचना में भी करता हूँ उसको भी में कलाकृति मानता हूँ।

'सिद्धान्त और अध्ययन' के अन्तिम पृष्ठ पढ़ लीजिए उनसे मेरे आदर्शों का कुछ आभास मिल जाएगा।

आशा है आप प्रसन्न होंगे।

सस्नेह,

(गुलाबराय)

गोमती निवास,
आगरा, दिनांक : १–६–५३

प्रिय स्नातक जी,

आपका कृपा पत्र मिला। आपने जो पूछा है कि मेरे वृत्त में आने वाले कौन-कौन से लेखक हैं और जो तीन नाम नगेन्द्र जी, सत्येन्द्र जी और सहल जी के सुझाये हैं उसमें प्रायः दो आने भर ही सत्य है। यह लोग जो मेरा प्रभाव स्वीकार करते है वह उनकी उदारता है। वास्तविक बात यह है कि इन तीनों महाशयों को साहित्य सन्देश से प्रारम्भिक प्रोत्साहन मिला और साहित्य सन्देश के लेखकों में इन लोगों को थोड़ी प्राथमिकता देने का श्रेय मुझे दिया जा सकता है। इन लोगों की शक्ति और अपनी-अपनी शैलियां हैं और स्वतन्त्र अपने पैरों खड़े हैं। मुझे डा० श्यामसुन्दरदास जी का सा सौभाग्य नहीं है जिनकी प्रभाव की परिधि बहुत विस्तृत हो। मेरा प्रभाव अगर पड़ा है तो कुछ ऐसे लोगों पर अवश्य पड़ा जो विशेष प्रकाश में नहीं आये हैं। साल में दो एक चिट्ठियाँ ऐसे लोगों से साधुवाद की मुझे मिल जाती हैं।

क्षमा कीजिए मैं अस्वस्थ था इसलिये ता० १ को दिल्ली न आ सका, इसीलिए मैं स्वयं नहीं लिख रहा हूँ, लिखा रहा हूँ। सस्नेह—

भवदीय,

(गुलाबराय)

गुलाबराय
एम. ए., डी० लिट्. (सम्मानार्थ)

गोमती निवास
दिल्ली दरवाजा, आगरा,
३०-११-५९

प्रिय गुप्त जी

आपका कृपापत्र मिला । स्मरण करने के लिए धन्यवाद ! हिन्दी में व्यक्तिवादी निबन्ध लिखने वाले अधिक नहीं हैं; अधिक भी हों तो मुझे मालूम नहीं । मैं जिनसे प्रभावित हुआ हूँ, वे हैं––

१–सियारामशरण गुप्त २–श्रीमती महादेवी वर्मा

दूसरा प्रश्न अनुसंधान का विषय है। मेरे व्यक्तिवादी निबन्ध १९३२ के बाद प्रकाशित हुए । 'ठलुआ क्लब' में प्रकाशित मधुमेही लेखक की आत्मकथा इसी प्रकार का निबन्ध है जो १९२० के लगभग प्रकाशित हुआ था । इस प्रकार की विधा का विषय व्यक्ति ही होता है । ये निबन्ध प्रायः भावात्मक होते हैं क्योंकि संस्मरणों के सहारे कुछ भावधारा भी जुड़ी रहती है । ये आत्मकथात्मक होते हैं । किन्तु आत्मकथा नहीं होते इनमें निबन्धों का सा निजीपन और उनकी सी स्वच्छन्दता रहती है । वैसे सभी निबन्धों में वैयक्तिकता की छाप रहती है किन्तु इनमें यह छाप गहरी होती है। ये वैयक्तिक सुख-दुख, कठिनाइयों सफलता-असफलताओं की भावभूमि को स्पर्श करते चलते हैं।

ये निबन्ध हिन्दी ही की देन तो नहीं हैं । अंग्रेजी में भी व्यक्तिवादी निबन्ध हैं। Charles Lamb ने ऐसे कुछ निबन्ध लिखे हैं। मेरा ज्ञान इस विषय में सीमित है । लेकिन मेरा विश्वास है कि अंग्रेजी में भी जरूर लिखे गए हैं । यह मैं नहीं कह सकता कि कहाँ तक उन्होंने हिन्दी के निबन्धों को प्रभावित किया ।

मैंने व्यक्तिवादी निबन्ध १९३२ के बाद लिखना शुरू किया था । मेरा पहला निबंध 'मकान की तलाश' के सम्बन्ध में था । इस सिलसिले में और भी निबन्ध बढ़ते गए । मैंने इस सम्बन्ध में कहीं बाहर से प्रेरणा ग्रहण नहीं की । मकान की तलाश में जो वास्तविक कठिनाइयां थीं, उनका भावुकतापूर्ण वर्णन किया था । फिर और भी निबन्ध जुड़ गए। मेरे वैयक्तिक निबन्ध अधिकांश में 'मेरी असफलताएँ' शीर्षक में संग्रहीत हैं । कुछ निबन्ध जैसे 'मेरे नापिताचार्य' 'मेरे निबन्ध' शीर्षक पुस्तक में आ गए हैं ।

पाँचवें प्रश्न के लिए आप मेरी पुस्तक 'काव्य के रूप' को देख सकते हैं । व्यापक रूप में यह सब निबन्ध की ही शाखायें हैं क्योंकि इनमें भावुकता निजीपन और स्वच्छन्दता जो निबन्ध के आवश्यक उपकरण हैं, मौजूद रहते हैं ।

––गुलाबराय

गुलाबराय
एम. ए., डी. लिट्. (सम्मानार्थ)

गोमती निवास
दिल्ली दरवाजा, आगरा
६-१-६०

प्रिय गुप्त जी,

आपका कृपापत्र मिला। तदर्थ धन्यवाद। आप मेरे पत्र को अपने शोध-प्रबन्ध के परिशिष्ट में सहर्ष छाप सकते हैं। उसमें अनुमति की कौन सी बात है। 'मेरी असफलताएं' शीर्षक पुस्तक में संग्रहीत निबन्धों के पहले कुछ वैयक्तिक निबन्ध और भी लिखे थे। वे 'ठलुआ क्लब' में संग्रहीत हैं किन्तु वे दूसरी प्रकार के हैं। उनमें आपबीती कम है। 'मधुमेही लेखक की आत्मकथा' में कुछ आत्मकथात्मक है और अधिकांश में स्वर्गीय शुकदेवबिहारी मिश्र का चित्रण है। उन निबन्धों में थोड़ा कल्पना का भी पुट है। 'आफत का मारा दार्शनिक' में एक अंग्रेजी कहानी की छाया है। उस संग्रह का यही ऐसा निबन्ध है जिसमें अंग्रेजी की छाया है। 'बेकार वकील' में मेरा स्वयं का चित्रण नहीं है, क्योंकि उन दिनों मैं वकालत की तैयारी में था (वकील न था) लेकिन बेकार वकील ऐसे अवश्य देखे थे। उनके चातुर्य से मैं प्रभावित अवश्य हुआ था। मैं कह नहीं सकता ये निबन्ध कहाँ तक वैयक्तिक निबन्धों की परिभाषा में आयेंगे किन्तु यह कथात्मक वैयक्तिक अवश्य हैं। पुस्तक रूप में थीसिस छप जाने पर उसकी एक प्रति मेरे पास अवश्य भेजिए। आपबीती लिखने में ज्यादा रस आता था। करुणा में भी हास्य की सृष्टि हो जाती थी किन्तु होती थी प्रायः घटना के बाद। कुछ सरस चिन्तन भी पुट मिलने पर, और कुछ चिन्तन घटना के समय भी हो जाता था।

—गुलाबराय

*

आभार

[बाबूजी ने अपने ७६ वें जन्म-दिवस के अवसर पर जो अन्तिम संदेश अपने शुभचिंतकों को दिया था, उसको उपयोगी मानकर हम अविकल रूप से यहां दे रहे हैं।]

ईश्वर कृपा से मैंने अपने धूप-छाँहमय जीवन के ७५ वर्ष १५ का पहाड़ा पंजा तक पढ़ लिया। आगे ईश्वर दिखावे तो उसकी कृपा है। अधिकांश में जीवन का उज्ज्वल पक्ष ही देखने को मिला। मेरा जीवन-सुख और शान्ति से बीत रहा है। जो कुछ जीवन में दुःख और अशान्ति मिली वह मेरे ही दोषों के कारण। जीवन में कभी-कभी धोखा भी खाना पड़ा है, किन्तु कम, वह भी अपनी ही भूल से।

दुनिया अपने ही चित्त की प्रवृत्तियों का प्रतिरूप है।

मैंने यथासम्भव सन्तुलित जीवन व्यतीत करना चाहा है। किन्तु मानवी दुर्बलताओं के कारण जो स्वास्थ्य की अवहेलना हुई, उन्हीं का दुःख भोगना पड़ता है। मैंने जीवन में जहाँ तक हुआ मुक्ताहार विहार मय जीवन व्यतीत किया है। उसका जो अतिक्रमण हुआ वह मानवी कमजोरियों के कारण। उनमें भी मुझे कुछ लाभ मिला। उन्होंने मुझे दूसरों की भी कम-जोरियों के प्रति सहिष्णु बनाया। ईश्वर आप लोगों को मानवी कमजोरियों से बचने का बल दें। आप में सच्चरित्रता आवे, किन्तु उनका मद न होने पाये। सच्चरित्रता का मद दुश्चरित्रता से भी बुरा है। वह पापी जो अपनी कमजोरियों को मानता है, पुनीत होता है। उसमें सुधार की आशा रहती है।

ईश्वर दुनिया में सुख शान्ति दे। भौतिक जीवन में बाह्य सन्तुलन तो आवश्यक है ही। आन्तरिक सन्तुलन और भी अधिक आवश्यक है। आन्तरिक सन्तुलन के बिना सुख और शान्ति नहीं मिलती। अपना स्वार्थ साधन बुरा नहीं किन्तु दूसरों के हित और स्वार्थ को उतना ही अधिक महत्व देना चाहिए जितना कि अपने को। दुनिया में संघर्ष तो चलता ही रहता है, उसको कम करना मानव धर्म है। संघर्ष पाशविक प्रवृत्ति का लक्षण है उसका दुश्मन मानवीय है और दैवी प्रवृत्ति का।

संघर्ष की कमी का विचार समझौते और सद्भावना से किया जाय। सद्भावनाएँ कभी-कभी तो विफल हो जाती हैं, किन्तु अन्त में फलीभूत होती हैं। वैयक्तिक जीवन में, मैंने मुक्ताहार विहार का उपदेश यथासम्भव माना है। इसने मुझे बड़ा लाभ दिया है। सुखी परि-वार के लिए लक्षण जो महात्मा भर्तृहरि ने बतलाये हैं, ईश्वर की दया से मुझे सब उपलब्ध हैं। अब तो दैवी चमत्कार से मधुमेह भी जाता रहा। इससे 'मिष्ठानं पान्नग्रहे' की साधना भी हो जाती है। किन्तु उसके स्थान में लवण का विन्यास करना पड़ा है। उसका भी परिणाम मिल गया है, ऐसा लवण जो नुकसान न करे।

आजकल 'आशा परायण सेवका:' तो नहीं, एक बाबूराम नाम का सहायक भी मिल गया है जो आत्मीयता के साथ मेरी सेवा सुश्रुषा में लगा रहता है मैं उसका अस्तित्व शिव भगवान की कृपा ही मानता है। महाकवि विद्यापति के यहाँ तो शिवजी ने स्वयं ही नौकरी की थी मैंने भक्त रूप में शंकरजी की उतनी उपासना तो नहीं की, उनकी कृपा का इतना पात्र बनूँ, किन्तु मेरे पुत्र और पौत्रों के नाम में शंकर जुड़ा हुआ है उनको ही पुकारने में औघड़दानी प्रसन्न रहेंगे, मेरी ऐसी भावना है।

सुखी परिवार के जो साधन चाहिए वह ईश्वर की कृपा से मुझे प्राप्त हैं। पुत्र-पौत्रों, बन्धु-बान्धवों तथा निकट सम्बन्धियों को धन्यवाद देना तो ठीक नहीं किन्तु सन्तोष प्रकट करना तो मेरा धर्म है। कमी है तो केवल दो चीजों की–धन की नहीं (प्रकाशकों की कृपा से चिरा-युगों प्रकाशक:) वरन् सज्जनों के सत्संगों की, उसकी कमी को पूरा करने का अवसर वर्ष में एक ही बार मिलता है। उस लाभ से मैं अपने को धन्य समझता हूँ। अब मैं किसी की कुछ सहायता तो नहीं कर सकता 'अत्र रहीम वे नाहिं' किन्तु मिलने से हार्दिक प्रसन्नता होती है दूसरी कमी स्वास्थ्य की है। उसको पूरा करने के लिए डाक्टरों की कृपा तथा औषधि उप-चार से जो कुछ हो सकता है हो रहा है। अलग-अलग डाक्टरों के लिए कृतज्ञता प्रकट करने में कोई त्रुटि न रह जाये इसलिए मैं उनको सामूहिक रूप से धन्यवाद देता हूँ। उनकी कृपा ऐसी ही बनी रहे। सभी मेरे लिए धन्वन्तरि तथा अश्वनिकुमार सिद्ध हुए हैं।

आप सब सज्जनों की सद्भावनायें ही मेरे जीवन का सम्बल हैं। मैं सबके प्रति पूर्ण संतोष और अपनी शुभकामनायें प्रकट करता हुआ आसन ग्रहण करता हूँ। **सर्वे भवन्तु सुखिनाः सर्वे सन्तु अनामया सर्वे भद्राणि पश्चन्तु मा कश्चिद् दुख भाग भवेत।**

––गुलाबराय

*

आलोचना सम्बन्धी मेरी मान्यताएँ

*

स्व. बाबू गुलाबराय डी. लिट्

आलोचना के विभिन्न रूप और आदर्श होते हैं। समीक्षा पुस्तकों में उनके कुछ मोट-मोटे प्रकार बतलाये जाते हैं, लेकिन वे प्रकार कबूतरखाने की भाँति नितान्त एक-दूसरे से अलग नहीं होते। प्रत्येक आलोचक अपनी रुचि के अनुकूल उनके विभिन्न योगों में सम्मिश्रण से और कुछ अपनी सूझ--बूझ से भी एक नया रूप कर लेता है। आलोचना के आदर्शों के निर्माण में व्यक्ति की शिक्षा-दीक्षा, जातीय और पारिवारिक संस्कार, विभिन्न साहित्यों और समीक्षाशास्त्रों का अध्ययन तथा जीवन-सम्बन्धी सिद्धान्त उपकरण रूप से काम करते हैं।

रुचि-भेद

मेरी आलोचना सम्बन्धी मान्यताओं के निर्माण में भी मेरे संस्कार, मेरी शिक्षा-दीक्षा और अध्ययन तथा जीवन-दर्शन का प्रभाव है। मेरा जन्म एक धार्मिक परिवार में हुआ था। मेरे धार्मिक संस्कार घिसते-घिसते केवल इतने ही रह गये हैं कि मेरा सर्वात्मवाद की ओर झुकाव बन गया है और उसी के साथ एक अहिंसात्मक कोमलता आ गई है। मुझमें शिक्षक वृत्ति अवश्य है किन्तु शिष्य-वृत्ति कुछ अधिक मात्रा में है। मैं अपने शिक्षितों के पास सहपाठी रूप में कुछ-कुछ सेवा-भाव से जाता हूँ। गोस्वामी तुलसीदास जी के मर्यादावाद से प्रभावित अवश्य हूँ किन्तु मैं यह भी मानता हूँ कि मनुष्य को नियमों के अक्षरशः पालन करने की आवश्यकता नहीं, नियमों के हार्द की रक्षा होनी चाहिए। नियम मनुष्य के लिए हैं न कि मनुष्य नियमों के लिए। मेरे जीवन में मशीन की-सी कोई बात नहीं है। सत्य को मैं बहुपक्षी मानता हूं। कोई वाद जो अस्तित्व में आता है किसी न किसी मानव आवश्यकता का द्योतक होता और उसके सत्य का आधार रहता है। बहुत से मनुष्य नवीनता के उत्साह में प्रायः सत्य का अतिक्रमण कर एकांगी बन जाते हैं। भारतीय समन्वयवाद का भी मुझ पर प्रभाव है, किन्तु अतिशयताप्रधान अंशों का नहीं वरन् सारभूत सत्यांशों का। लोग मुझसे कभी-कभी पूछने लगते हैं कि क्या राम और रावण का भी समन्वय हो सकता है। मेरा उत्तर है कि रावण का हठवाद अपने अतिक्रमित रूप में दृढ़ता का ही रूप था। उसके गुण मर्यादा की सीमा पार कर दोष बन गये थे। मैं संसार को गुण-दोषमय मानता हूँ, इसलिए दूषित कृतियों में भी मुझे कुछ सार मिल जाता है। राजनीति में मैं गांधीवादी अधिक हूँ।

मेरे संस्कार

मेरा यह जीवन-दर्शन मेरी आलोचना सम्बंधी मान्यताओं को रूप देने में सहायक हुआ है। मैं निर्णयात्मक आलोचना की अपेक्षा व्याख्यात्मक आलोचना को अधिक महत्व देता हूं। शास्त्र के बतलाये हुए सिद्धान्तों को इसलिए महत्त्व देता हूं कि प्राचीन साहित्य से संग्रहीत जो सिद्धान्त और आदर्श हैं वे प्राचीन कलाकारों के अनुभव, गहरी पैंठ और अन्तर्दृष्टि के परिचायक हैं किन्तु वे वेद-वाक्य नहीं हैं। उनमें हम लाभ अवश्य उठा सकते हैं। शास्त्रीय और चोटी के कलाकारों के परिनिष्ठित ग्रन्थों का अध्ययन मनुष्य की रुचि-निर्माण में सहायक होता है। सुसंस्कृत रुचि से की हुई प्रभाववादी आलोचना शास्त्रीय आलोचना के निकट आ जाती है। इसके अतिरिक्त प्रभाववादी आलोचना भी कुछ विशेष महत्त्व रखती है, वह यह कि किसी ग्रन्थ का मूल्य बँधे-बँधाये सुनिश्चित मानों से नहीं आँका जा सकता है। ग्रन्थ में बहुत सी ऐसी बातें होती हैं जो नियमों के बन्धन से परे होती हैं। **'वह चितवन और कछू जिहि बस होत सुजान'** ऐसे ही ग्रन्थ और शैली का एक विशेष व्यक्तित्व होता है जिसका मूल्यांकन एक प्रकार की साहित्यिक अन्तरात्मा से किया जाता है।

शास्त्रीय और व्याख्यात्मक आलोचना

मैं इस साहित्यिक अन्तरात्मा में विश्वास करता हूँ और उसको परिष्कृत और परिमार्जित रखने का प्रयत्न करता हूँ। मैं शास्त्रीय नियमों के ज्ञान और इस अन्तरात्मा की गवाही को निर्णय देने के लिए नहीं वरन् कवि को समझाने के लिए, उसकी आत्मा से परिचित होने के लिए काम में लेता हूँ। बहुत से कवि और लेखक ज्ञात और अज्ञात रूप से शास्त्रीय नियमों से प्रभावित होते हैं और कुछ अपने व्यक्तित्व की भी देन होती हैं। शास्त्रीय प्रभावों को समझाने के लिए शास्त्रीय ज्ञान आवश्यक होता है, गूँगे की सैन गूँगा ही जानता है। शास्त्रीय नियम भी तो कलाकारों की प्रतिभा प्रसूत विशेषताओं के सामान्यीकरण होते हैं। कोई कवि चाहे जान-बूझकर शास्त्रीय नियमों से न प्रभावित हो, किन्तु उसमें भी वैसी ही प्रतिभा की तरंगें उठ सकती हैं जैसी प्राचीनों में उठी थीं। शास्त्रीय ज्ञान उसके पहचानने में सहायक होता है। प्रत्यभिज्ञान जिसको अंग्रेजी भाषा में (Recognition) कहते हैं, पूर्व ज्ञान की अपेक्षा रखता है। वह पूर्व ज्ञान हमको शास्त्रीय ज्ञान से मिलता है। शास्त्रीय नियमों के पालन का मुझको विशेष मोह नहीं है, नायिका-भेद के आचार्यों की भाँति सभी नियमों के पालन के लिए प्रयत्नशील होना मैं काव्य के रस के लिए घातक भी समझता हूँ किन्तु जहाँ किसी शास्त्रीय नियम का प्रयोग स्वाभाविक और मौलिक ढंग से होता है वहाँ मैं उसका आदर करता हूँ। मैं इतना तो सर्वात्मवादी और समन्वयवादी नहीं कि सब धान बाईस पसेरी बेचूँ तथापि मैं यह अवश्य मानता हूँ कि गाजर या बथुआ के शाक में भी अपनी विशेषता है जो आलू या परवल में है और उनके लिए जो कुकरमुत्ता खाते हैं उस विशेष प्रकार के कुकरमुत्ता में भी उतना ही स्वाद और स्वास्थ्यप्रदता है जितनी गोभी में। किन्तु मैं निराला जी की भाँति उसके द्वारा

अन्तरात्मा में प्रवेश

गुलाब या कलम का तिरस्कार न कराऊँगा, क्योंकि मैं उनका भी सौन्दर्य और सौरभगत मूल्य मानता हूँ। साथ ही गुलाब और कमल से भी यह न चाहूँगा कि वे कुकरमुत्ता का तिरस्कार करें।

शास्त्रीय ज्ञान और रुचि परिमार्जन के लिए ही मैंने सैद्धान्तिक आलोचना के ग्रन्थ लिखे। उनमें दो मुख्य हैं 'नवरस' तथा 'सिद्धान्त और अध्ययन'। 'नवरस' में मैंने शास्त्र को मनोवैज्ञानिक आधार देने का प्रयत्न किया है। मैं तो अलंकारों का भी मनोवैज्ञानिक आधार मानता हूँ (साहित्य और समीक्षा में अलंकारों का अध्याय देखिये)

दो प्रमुख ग्रन्थ

वे कवि के हृदय के ओज और उत्साह के परिचायक होते हैं। 'सिद्धान्त और अध्ययन' में सिद्धान्तों का इसी दृष्टि से निरूपण किया है कि वे अध्ययन में सहायक हों। मैंने अपने आलोचनात्मक निबन्धों का नाम भी 'अध्ययन और आस्वाद' रखा है।

जैसा मैं आपसे निवेदन कर चुका हूँ कि कवि के अध्ययन और रसास्वादन के लिए काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों और नियमों के अध्ययन के साथ कवि के व्यक्तित्व, उसकी रचनागत विशेषताओं का अध्ययन जो बहुत-कुछ गाजर, मूली, टमाटर या कुकरमुत्ता के खाद्यतत्वों के वैज्ञानिक अध्ययन की भाँति है, और स्वाद के आनन्द के लिए सुरुचि के परिमार्जन की आवश्यकता है। मैं इन विशेषताओं और कवि की निजी देन के समझने के लिए व्याख्यात्मक आलोचना के क्षेत्र में प्रवेश करता हूँ। इसके बहुत से अंग हैं। कवि की बाह्य परिस्थितियों का अध्ययन जो ऐतिहासिक आलोचना के अन्तर्गत माना जाता है और आन्तरिक परिस्थितियों का विवेचन जो मनोवैज्ञानिक आलोचना का रूप धारण कर लेता है, इनके अतिरिक्त उनका तुलनात्मक अध्ययन भी किसी अंश में आवश्यक होता है। ऐतिहासिक आलोचना को महत्त्व मैं अवश्य देता हूँ, किन्तु मैं यह नहीं मानता कि कवि या लेखक परिस्थितियों का पुतला होता है। कवि अपनी निजी सूझ-बूझ लेकर आता है; उसकी विशेष प्रतिभा होती है, जो किसी अंश में घर की परिस्थितियों, वंश परम्पराओं और निजी अध्ययन तथा उनकी सुरुचि मे प्रभावित होती है।

कवि के व्यक्तित्व का अध्ययन

इन परिस्थितियों का अध्ययन मैं आवश्यक समझता हूँ, किन्तु इन सब के अध्ययन के लिए दुर्भाग्यवश पर्याप्त सामग्री नहीं मिलती है। इन बाह्य और आन्तरिक परिस्थितियों का का अध्ययन मैं अपने सीमित ज्ञान के अनुकूल ही कर सका हूँ। मनोवैज्ञानिक आलोचना को मैं मनोविश्लेषणशास्त्र में सीमित नहीं रखना चाहता हूँ, वरन् साधारण मनोविज्ञान का भी सहारा लेता हूँ। मनोविश्लेषण में फ्रायड की भाँति सब समस्यायों का हल यौन-वासना में नहीं मानता। लोक-एषणा और वित्त-एषणा को भी मैं महत्त्व देता हूँ। मनुष्य का अहं कभी-कभी सैक्स से भी प्रबल होता है। प्रत्येक व्यक्ति में कुछ जातीय संस्कार होते हैं, कुछ माता-पिता के और कुछ वातावरण के। इन सब का अध्ययन मैं आवश्यक समझता हूँ, यदि न कर पाऊँ तो दूसरी बात है।

मनोविश्लेषण की सीमाएँ

इसका अध्ययन करके मैं यह देखना चाहता हूँ कि कवि कहाँ तक शास्त्र और परम्परा से प्रभावित है और कहाँ तक वह अपनी निजी देन दे रहा है। कवि के निजी दान को मैं विशेष महत्त्व देता हूँ। इसलिए कवि को शास्त्र के कटहरे में बन्द करके यह भी देखने की कोशिश करता हूँ कि आधुनिक प्रवृत्तियों के आलोक में शास्त्र में कहाँ तक परिवर्तन लाने की आवश्यकता है। सूर-तुलसी जैसे महाकवियों से शास्त्र भी बहुत कुछ सीख सकता है। आजकल के कवियों की भी अपनी-अपनी देन है। मैं अपने पूर्वग्राहों से जहाँ तक हो कम काम लेता हूँ। पहले तो मेरी बहुत उल्लेखनीय देन नहीं जिसके प्रति मुझे मोह हो और यदि हो भी तो मैं उसे अन्तिम मानने का दुस्साहस नहीं करता। अपनी विशेष सूझ-बूझ के प्रतिपादन का उत्साह और आग्रह जो मेरी दुर्बलता है उसे ही मैं अपना बल समझता हूँ। अलग-अलग विशेषताओं का महत्त्व स्वीकार करने के कारण आचार्य शुक्ल जी की भाँति मुझे प्रबन्ध काव्य के प्रति विशेष मोह या आग्रह नहीं है। मैं मुक्तक को भी उतना ही महत्त्व देता हूँ, विशेषकर सूर जैसे रससिद्ध कवि के मुक्तकों को, जितना कि प्रबन्ध काव्य को। हमारे प्राचीन आलोचकों ने भी 'अमरुक-शतक' के एक-एक श्लोक को सौ-सौ प्रबन्धों के बराबर कहा है। प्रबन्ध काव्य में जहाँ सुनार की सौ चोट से रस परिपाक होता है वहाँ कभी-कभी एक चोट से ही रस परिपाक हो जाता है और आकार की लघुता के कारण व्यंजना की भी अच्छी छटा आ जाती है। रस, ध्वनि, रीति, अलंकार, औचित्य और छन्दों में सबको यथोचित स्थान देते हुए भी मैंने रस को ही आत्मा का शीर्ष स्थान दिया है।

शास्त्र और परम्परा का प्रभाव

मैंने कला पक्ष की अवहेलना न करते हुए भी भाव पक्ष को अधिक मुख्यता दी है। भाव पक्ष की अमर्यादित स्वतन्त्रता में मैं विश्वास नहीं करता। उसको एक ओर बुद्धितत्त्व से और दूसरी ओर नैतिक तत्त्व के कूलों में बँधा हुआ देखना चाहता हूँ। इन दोनों कूलों में बँध कर ही भाव सरिता द्रुत गति के साथ प्रवहमान हो सकती है।

कला-पक्ष

मेरा सौन्दर्य-बोध बड़ा व्यापक है। भाव-सौन्दर्य, वस्तु-सौन्दर्य, जो मानव और प्रकृति दोनों को ही घेर लेता है, और कर्म-सौन्दर्य तीनों ही उसके व्यापक क्षेत्र में आते हैं। सौन्दर्य में विषयगतता को प्रधानता देता हुआ भी व्यक्ति की रुचि की देन को भी महत्ता देता हूँ। आचार्य शुक्ल जी ने सौन्दर्य-बोध में विषय के साथ मन की तदाकार परिस्थिति को अधिक महत्ता दी है किन्तु मन में भी ग्राहकता, तदाकार में ढलने की क्षमता होना आवश्यक है। अभिनवगुप्त ने जो रस की निष्पत्ति सहृदय में माना है, उसका यहीं अभिप्राय है। **'अरसिकेषु कवित्त निवेदनं सिरसि मा लिख मा लिख'** की बात को **न** भूलना चाहिए।

सौन्दर्य-बोध

कर्मगत सौन्दर्य के साथ नैतिक और अन्य मूल्यों की बात आती है। **'कीरति भनित भूतिभल सोई' जो 'सुरसरि सम सब कहँ हित होई'** हित वह है जो व्यक्ति और समाज दोनों को बनावे। सामाजिक व्यवस्था वही सर्वश्रेष्ठ है जिसमें विकासवाद का यह सिद्धान्त कि अधिक से अधिक विभाजन विशेषीकरण के साथ अधिक से अधिक साथ संगठन हो। यह श्री भद्भगवद्गीता के **'अविभक्तं विभक्तेषु'** वाले सात्विक ज्ञान के आदर्श के अनुकुल भी पड़ता है। रामराज्य में भी अधिक से अधिक भौतिक सम्पन्नता के साथ मानसिक साम्य था। **'बैरु न कर काहु सन कोई, राम प्रताप विषमता खोई'** जो काव्य समाज की ऐसी सम्पन्न मयी स्थिति को लाने में सहायक होता है वही मेरी समझ में सत्काव्य है। इस प्रकार मेरी आलोचना पर गांधीवाद का भी प्रभाव है।

नैतिक मूल्य

मैं साहित्य में किसी प्रकार की वीभत्सता वा कटुता को पसन्द नहीं करता हूँ। मैं चाहता हूँ कि साहित्य अपने गौरव के अनुकूल शालीनता बनाये रखे। कटु सत्य छिपाये न जायँ किन्तु उनका उद्घारन छुद्रता या वैयक्तिक कटुता के साथ न किया जाय। **'सत्यं ब्रूयात्'** के साथ **'प्रियं ब्रूयात्'** की बात न भूलनी चाहिए। इसलिए मैं आलोचना में वस्तु की गरिमा के साथ कथन की शालीनता पर भी ध्यान रखता हूँ। इस बात में मेरा प्रगतिवादी आलोचकों से मतभेद है। वे शालीनता की इतनी परवाह नहीं करते जितनी तथ्य कथन की। वे संघर्ष का भी पोषण करते हैं।

*

*

भारतीय आलोचना
(द्वितीय खण्ड)

डा० नगेन्द्र
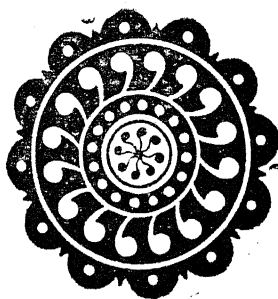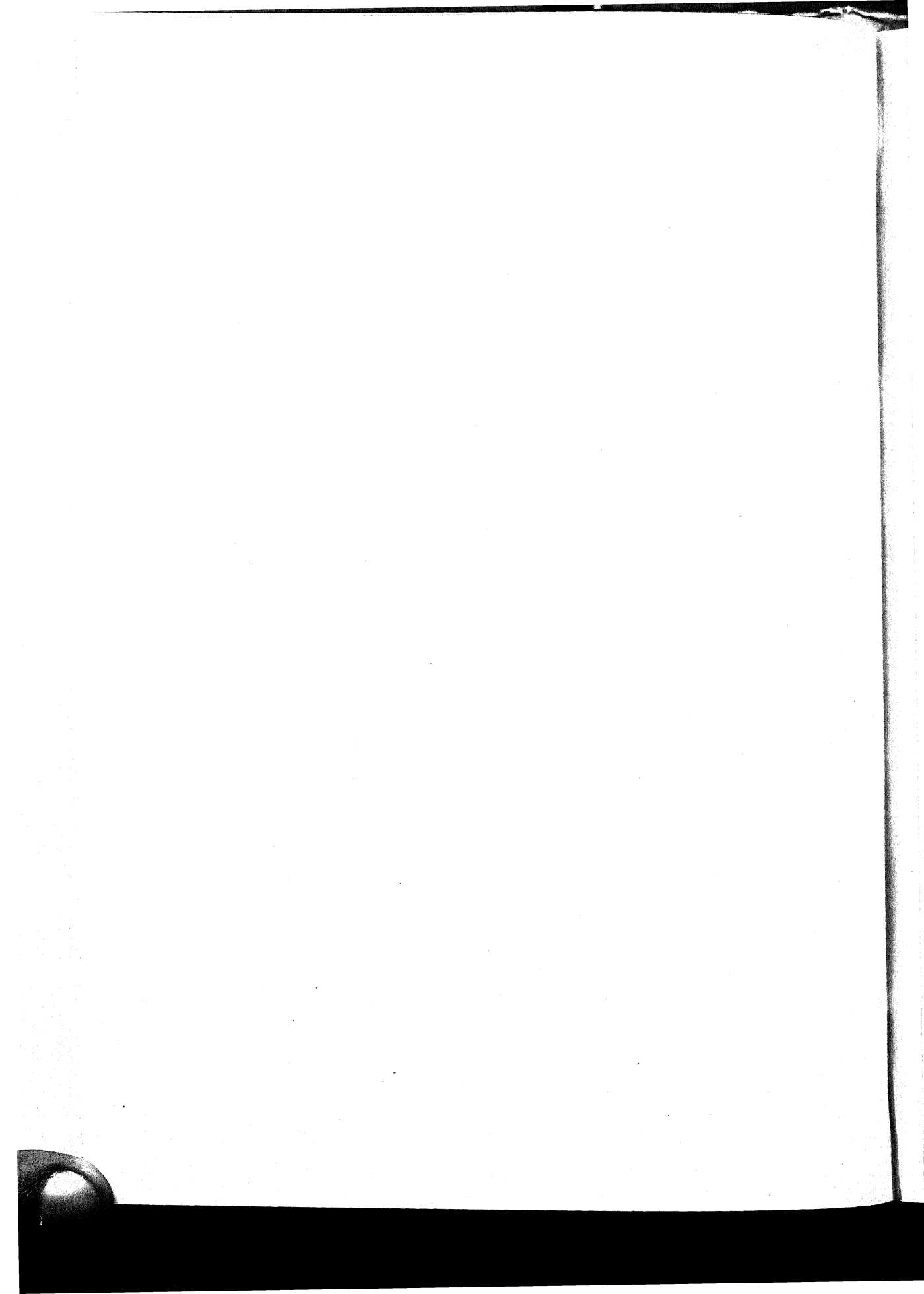
आलोचना का अन्तःस्वरूप

मैं व्यवसाय से आलोचक हूँ अतः आपके मन में यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि आलोचना के विषय में मेरी मान्यताएँ क्या हैं ? किन्तु वास्तविकता यह है कि आलोचना के विषय में मैंने सबसे कम सोचा है। यह बात विचित्र लग सकती है; किन्तु है नहीं क्योंकि आलोचना मेरे व्यवहार का विषय है, विचार का नहीं। जिस प्रकार कवि असल मानी में कविता की रचना से ही सरोकार रखता है, उसके तत्व-चिन्तन से नहीं, उसी प्रकार आलोचक भी मूलतः काव्य का ही विचार करता है, आलोचना का नहीं। लेकिन जिस तरह कवि-कर्म के प्रति प्रबुद्ध कवि काव्य का तत्व-चिन्तन भी कर सकता है और प्रायः करता भी है इसी तरह आलोचक के लिए भी अपने कर्म की व्याख्या अर्थात् उसके आदर्श तथा व्यवहार की व्याख्या प्रस्तुत करना कठिन नहीं है। और, जो हाजिर है उसमें हुज्जत क्या ?

आलोचना को मैं निश्चय ही ललित साहित्य का अंग मानता हूँ। आलोचना कला है या विज्ञान ? यह प्रश्न नया नहीं है ?—लेकिन आलोचना के स्वरूप निर्धारण में इसकी सार्थकता आज भी असंदिग्ध है। आलोचना की आत्मा कलामय है किन्तु इसकी शरीर-रचना वैज्ञानिक है। आत्मा के कलामय होने का अर्थ यह है कि आलोचना भी मूलतः आत्माभिव्यक्ति ही है—यहाँ भी आलोचक कला-कृति के विवेचन-विश्लेषण के माध्यम से आत्मलाभ करता है। आलोचना का विषय रसात्मक होता है और आलोचना की परिणति भी आत्मसिद्धि में ही होती है। अतः रस का अभिषेक आलोचना में भी रहता है। शरीर-रचना के वैज्ञानिक

होने का आशय यह है कि आलोचना की पद्धति में विज्ञान के रीति-नियमों का पालन करना आवश्यक तथा उपादेय होता है। यही वह गुण है जो आलोचक को सामान्य सहृदय से वैशिष्ट्य प्रदान करता है। मैंने आज से लगभग पच्चीस वर्ष पूर्व आत्म-निरीक्षण के आधार पर अपने एक लेख में यह स्थापना की थी कि आलोचक एक विशिष्ट रसग्राही पाठक ही होता है। उस समय मेरा शास्त्र से घनिष्ठ परिचय नहीं था, इसलिए शास्त्र के परिचित पारिभाषिक शब्द 'सहृदय' के स्थान पर मुझे 'रसग्राही पाठक' शब्दावली का प्रयोग करना पड़ा था। मेरी मान्यता अब भी वही है, शास्त्र ने उसे और पुष्ट कर दिया है। कृति के रस-ग्रहण के संदर्भ में आलोचक सहृदय से अभिन्न है, किन्तु इस रस-तत्व के विवेचन में वह पाठक से विशिष्ट है। दोनों के भेद की बात बहुत कुछ वैसी ही है जैसी कि क्रोचे ने साधारण कलाकार और विशेष व्यवसायी कलाकार के भेद के विषय में कही है। क्रोचे के मत से प्रत्येक व्यक्ति कलाकार होता है—उसमें और व्यावसायिक कलाकार में भेद प्रकृति का नहीं होता; गुण और मात्रा का होता है अर्थात् व्यावसायिक कवि के पास सामान्य व्यक्ति-कवि की अपेक्षा अपनी सहजानुभूति को मूर्त्त रूप प्रदान करने के साधन एवं उपकरण अधिक होते हैं। यही भेद सामान्य सहृदय और विशेष सहृदय अर्थात् आलोचक में होता है। साहित्य का आस्वादन दोनों ही करते हैं किन्तु उस आस्वादन का विश्लेषण आलोचक ही कर सकता है। कुछ विदग्धों के मन में यह शंका उठती है कि इस विवेचन-विश्लेषण से क्या लाभ? अर्थात् भोक्ता और कर्त्ता के बीच में इस मध्यस्थ अभिकर्ता की क्या आवश्यकता? आलोचक के प्रति उनका दृष्टिकोण प्रायः वैसा ही होता है जैसा कि जीवन-व्यवहार में सामान्य उपभोक्ता का अधिकर्ता या एजेन्ट के प्रति होता है। किन्तु यह सहज स्थिति नहीं है। वैसे तो अर्थविधान के अन्तर्गत अभिकर्ता का महत्व भी कम नहीं है—वह निर्माता के समकक्ष नहीं है, यह ठीक है; परन्तु निर्माता उस पर काफी हद तक निर्भर करता है, यह भी उतना ही सत्य है। फिर भी आलोचक अभिकर्ता नहीं है। उसकी भूमिका कहीं अधिक सर्जनात्मक है। वह कवि या कथाकार की कोटि का सर्जक नहीं है, किन्तु उसका कर्म भी अपने ढंग से सर्जनात्मक है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। काव्य का विषय जीवन है—कवि अपने विषय का सृजन नहीं करता, पुनः सृजन ही करता है। इसी तरह आलोचना का विषय काव्य है और आलोचक भी एक प्रकार से अपने आलोच्य विषय का पुनः सृजन करता है। सृजन के ही अर्थ में आलोचना शास्त्र के अन्तर्गत एक और सरल शब्द का प्रयोग होता है और वह है आख्यान। काव्य की एक अत्यन्त परिचित परिभाषा है—काव्य जीवन का आख्यान है। इसी शब्द का प्रयोग करते हुए सीधे तौर पर कहा जा सकता है कि आलोचना काव्य का आख्यान है। यहाँ भी, स्पष्ट है कि आख्यान विवेचन मात्र का वाचक न होकर पुनः सृजन का ही वाचक है, अन्यथा 'काव्य जीवन का आख्यान है'—यह वाक्य अपना सही अर्थ खो बैठता है। आलोचना के सन्दर्भ में भी आख्यान वस्तु-विश्लेषण मात्र नहीं है, यहाँ भी पुनः सृजन की प्रक्रिया चलती है। भेद केवल दो हैं। पहला भेद कारण या साधन का है—अर्थात् कवि के साधनों में भावना और कल्पना प्रधान है बुद्धि प्रायः संश्लेषण में ही सहायक

होती है, जबकि आलोचक के कर्म में मूलतः भावना और कल्पना का सम्यक् उपयोग रहते हुए भी बुद्धि अधिक सक्रिय रहती है। दूसरा भेद सर्जना-शक्ति के बलाबल का है। कवि जीवन का पुनः सृजन करता है और आलोचक काव्य का—अर्थात् जीवन के पुनः सृजन का पुनः सृजन करता है। सृजन का परिणाम है पदार्थ और पुनः सृजन का परिणाम है बिम्ब। अतएव कवि-व्यापार में बिम्ब-रचना का ही प्राधान्य रहता है। इस पद्धति से पुनः सृजन के पुनःसृजन का अर्थ होता है बिम्ब के भी बिम्ब—प्रतिबिम्ब का निर्माण अर्थात् ऐसे बिम्ब का निर्माण जो रचना-प्रक्रिया में बिम्ब की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और धूमिल हो जाता है। इस प्रकार, आलोचक का कर्म कवि-कर्म की अपेक्षा कम सर्जनात्मक रह जाता है, यह सच है। कवि-कर्म में जहाँ बिम्बों के प्रयोग की प्रचुरता रहती है वहां आलोचना में इन बिम्बों की धारणा या प्रत्यय अधिक उपयोग में आते हैं—और सही शब्दों में काव्य में ऐन्द्रिय-मानसिक बिम्ब प्रमुख रहते हैं जबकि आलोचना में मानसिक-परात्मक बिम्बों का आधिक्य रहता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि कवि-कथाकार और आलोचक की सर्जन-क्षमता में मात्रा और साधन-उपकरण का ही भेद अधिक है, प्रकृति का भेद इतना नहीं है। जिस प्रकार काव्य भाव का उफान या कल्पना की क्रीड़ा नहीं है इसी प्रकार आलोचना भी बुद्धि का विलास नहीं है। कविता उपन्यास या नाटक की भाँति आलोचना भी सर्जनात्मक संदर्शन (क्रिएटिव विजन) से अनुबिद्ध एवं परिव्याप्त रहती है। कवि यदि रमणीय (राग-कल्पनात्मक) अनुभूतियों के माध्यम से आत्माभिव्यक्ति करता है तो आलोचक कवि की इस आत्माभिव्यक्ति के आख्यान के माध्यम से। इसी अर्थ में और इसी कारण से आलोचना को मैं ललित साहित्य का अंग मानता हूँ।

आलोचना का यही तात्त्विक (या सात्त्विक) स्वरूप है। इसके आगे आलोचना और आलोचक के कुछ अन्य कर्तव्य-कर्मों की भी चर्चा की जाती है—जैसे साहित्य का मूल्यांकन, उसकी गतिविधि का नियमन आदि। मेरी दृष्टि में यह सब आरोपित दायित्व है, और काफी हद तक व्यावसायिक कर्म है। मूल्यांकन की उपेक्षा मैं नहीं करता—वह भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अनायास ही हो जाता है। कृति के आस्वाद का विश्लेषण करते हुए आपसे आप दोनों प्रकार के तत्व उभर कर सामने आ जाते हैं; ऐसे तत्व जो उसके आस्वाद्यत्व के साधक हैं और वे तत्व भी जो उसमें बाधक हैं। आस्वाद के विश्लेषण में उसके उन स्थायी और अस्थायी तत्वों की परीक्षा भी निहित रहती है जो अन्ततः भौतिक और मानवीय मूल्यों से सम्बद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार मूल्यांकन कोई स्वतंत्र प्रक्रिया न होकर आख्यान की प्रक्रिया का ही अंग—सही शब्दों में—परिणामी अंग है, और, इस रूप में वह काम्य भी है, कम से कम उपादेय तो है ही। किन्तु, स्वतंत्र कर्म के रूप में वह व्यवसाय बन जाता है और व्यवसाय तथा धर्म में जितना अन्तर है, उतना ही अन्तर मूल्यांकन और आलोचना के सहज रूप में भी पड़ जाता है; स्वतंत्र रूप में मूल्यांकन, वास्तव में, सर्जनात्मक नहीं रह जाता।

साहित्य की गतिविधि के नियमन का दायित्व और भी अधिक व्यावसायिक है; उसमें

रस के स्थान पर शक्ति की स्पृहा ही प्रमुख हो जाती है। वहाँ सर्जना का तो प्रश्न ही नहीं उठता, निर्माण या रचना का कार्य भी पीछे पड़ जाता है और राजनीति अर्थात् बलाबल की नाप-तौल ही सामने रहती है। मैं समझता हूँ कि यहाँ साहित्यकार स्वधर्म से च्युत हो जाता है। निश्छल आत्माभिव्यक्ति के स्थान पर मताग्रह का बोलबाला हो जाता है और रागद्वेष के विगलन के स्थान पर अहंकार का संवर्धन ही मुख्य हो जाता है। स्पष्ट है कि रस के साहित्य के अन्तर्गत यह सब नहीं आ सकता। इस प्रकार का दम्भ लेकर जो आलोचक चलता है, वह समर्थ प्रचारक तो बन सकता है, मर्मवेत्ता साहित्यकार नहीं। आप शायद साहित्य के इतिहास से कुछ प्रमाण देकर मेरी स्थापना का खण्डन करना चाहें। मल्लिनाथ की यह गर्वोक्ति संस्कृत-साहित्य के इतिहास में प्रसिद्ध है :—

भारती कालिदासस्य दुर्व्याख्याविष मूर्च्छिता।
एषा संजीविनी व्याख्या तामद्योज्जीवयिष्यति ॥

—मल्लिनाथ, सं० टी० कुमारसंभव १/१

—कालिदास की भारती दुर्व्याख्या के विष से मूर्च्छित पड़ी थी, मेरी यह संजीविनी टीका आज उसे जीवनदान करेगी।

आचार्य शुक्ल ने भी क्या जायसी का उद्धार नहीं किया? मैं समझता हूँ कि यह दृष्टि-भ्रम है। मल्लिनाथ और आचार्य शुक्ल को निमित्त होने का श्रेय अवश्य दिया जा सकता है—किन्तु कालिदास या जायसी के निर्माता ये कैसे माने जा सकते हैं? कालिदास के संदर्भ में मल्लिनाथ की गर्वोक्ति का महत्त्व आलोचक के आत्म-तोष से अधिक मानना क्या किसी मर्मज्ञ के लिए सम्भव है? वास्तव में उसे अभिधार्थ में ग्रहण करने की मूर्खता कौन कर सकता है? इसमें संदेह नहीं कि जायसी को प्रकाश में लाने का श्रेय शुक्लजी को है किन्तु शुक्लजी को अधिक से अधिक अनुसन्धान का ही गौरव दिया जा सकता है। रत्न की खोज या परख करने वाला, रत्न की मूल्यवत्ता का कारण नहीं हो सकता। इसी अर्थ में, बड़े से बड़ा आलोचक भी कवि को बनाने या बिगाड़ने का गर्व नहीं कर सकता। महावीरप्रसाद द्विवेदी के विषय में मैथिलीशरण गुप्त के निर्माण का दावा करना उतना ही गलत है जितना 'विशाल भारत' के सम्पादक के लिए निराला को नष्ट कर देने का दम्भ करना। इसी प्रकार, साहित्य की गतिविधि के नियन्त्रण का दायित्व भी आलोचक के स्वधर्म से बाहर की बात है। साहित्य का विकास प्रज्ञा के आधार पर न होकर सर्जना के आधार पर ही होता है; और जैसा कि मैं अभी स्पष्ट कर चुका हूँ—समान स्तर पर तुलना करने पर—कलाकार की सर्जना-शक्ति आलोचक की सर्जना-शक्ति से अधिक प्रबल ठहरती ही है। जो साहित्य आलोचना की गर्मी से मुर्झा जाए या जिसके विकास के लिए आलोचना के सहारे की जरूरत पड़े उसमें प्राण-शक्ति कम ही माननी चाहिए। साहित्य को दिशा तो स्रष्टा कलाकार ही देता है। आलोचक संघात और प्रतिघात से उसकी प्रतिभा पर शाण रखने का कार्य करता है; उदाहरण के लिए शुक्लजी जैसे आलोचक की मेधा की चट्टान से टकराकर छायावादी कवियों

की प्राणधारा में और भी अधिक वेग आ गया था। अभी किसी लेखक ने नयी कविता की सफाई में लिखा था कि उसे वैसे समर्थ आलोचक नहीं मिले जैसे कि छायावाद को अनायास ही प्राप्त हो गए थे। मैं समझता हूँ कि यह उलटी दलील है। वास्तव में छायावाद की आलोचना इसलिए अधिक पुष्ट और प्रौढ़ है कि उसका आलोच्य विषय अपेक्षाकृत अधिक भव्य है, क्योंकि यह तो एक परीक्षित तथ्य है कि किसी युग की आलोचना का स्तर उसके साहित्य के स्तर को अबाध रूप से प्रतिबिम्बित करता है। अत: साहित्य की गतिविधि का नियन्त्रण करने की महत्वाकांक्षा आलोचक के लिए कल्याणकर नहीं हो सकती। मेरे मन में यह आकांक्षा कभी नहीं उत्पन्न हुई; आलोचना-कर्म के प्रति मेरे अपने दृष्टिकोण में इसके लिए कोई अवकाश ही नहीं रहा। इसीलिए प्राय: प्रतिष्ठित या ऐसा काव्य ही जिसमें स्थायी मूल्य स्पष्ट लक्षित हों, मेरी आलोचना का विषय रहा है—किसी कृति को या कृतिकार को स्थापित या विस्थापित करने की स्पृहा मेरे मन में नहीं आई। इसीलिए शायद मैं समसामयिक या नये लेखकों में कभी लोकप्रिय नहीं हो सका। पर मैं इसे अपना दुर्भाग्य नहीं मानता क्योंकि आलोच्य विषयों की गरिमा से जो कुछ मैंने पाया है वह इस लोकप्रियता से अधिक काम्य और स्थायी है।

●

डा० भगीरथ मिश्र
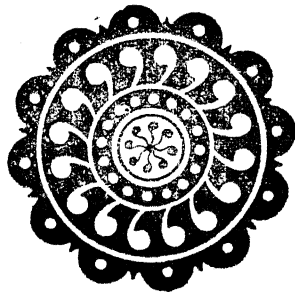
आलोचना का स्वरूप

वर्तमान युग में अनुसन्धान के बढ़ते हुए क्षेत्र के साथ आलोचना के स्वरूप और कार्य के सम्बन्ध में एक शंका का निर्माण हो रहा है। वह यह कि आलोचना का मूल तत्व क्या है और अनुसन्धान के अन्तर्गत उसका क्या स्थान है? आज जब अनुसन्धान के अन्तर्गत कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, निबन्ध सभी समाविष्ट हो रहे हैं, तो आलोचना का विशिष्ट कार्य पुस्तक-समीक्षा और कतिपय निबन्धों के रूप में ही देखा जाता है जो किसी कृति या प्रवृत्ति के गुण-दोषों का विवेचन करते हैं। परन्तु, वास्तविकता यह है कि अनेक अनुसन्धान-कार्यों में भी आलोचना का विशद योग रहता है। अनेक शोध-प्रबन्धों को जिन पर शोध-उपाधियाँ मिली हैं, हम अनुसन्धान-ग्रंथ कहते हैं; परन्तु उनके भीतर आलोचना का अंश कितना है, इसका विश्लेषण शायद हम नहीं करते। अनुसन्धान-कार्य में आलोचना के इस उदार-सहयोग के कारण ही अनेक शोध-प्रबन्ध अनावश्यक विस्तार को भी ग्रहण कर लेते हैं।

इसके साथ ही साथ अनुसन्धान और आलोचना के अपने विशिष्ट कार्य भिन्न-भिन्न होते हुए भी एक कार्य के लिए दूसरे का सहयोग आवश्यक है। यों अनुसन्धान नये तथ्यों और नये सिद्धान्तों की खोज करता है और आलोचना किसी कसौटी पर किसी साहित्यिक कृति या प्रवृत्ति का मूल्यांकन करती है; परन्तु इन दो वाक्यों में निर्देशित दोनों के कार्यक्षेत्र का इतना व्यापक विस्तार है कि दोनों को एक दूसरे की सहायता लेनी पड़ती है। परन्तु, इस क्षेत्र में हमारी शंका इसलिए बढ़ती जाती है, क्योंकि अनुसन्धान-कार्य में

आलोचना के कार्य को साधन-रूप प्रस्तुत करने की स्पष्टता का निर्देशन और संकेत उसमें नहीं रहता। मेरा अपना विचार है कि प्रत्येक शोध-प्रबन्ध में अनुसन्धान के निष्कर्ष तथा उनकी प्राप्ति में आये हुए या प्रयुक्त आलोचना की प्रक्रिया का स्पष्ट कथन होना चाहिए। ऐसा करके ही हम दोनों के प्रति अपनी सजगता और ईमानदारी प्रकट कर सकते हैं।

इस प्रकार आलोचना के सहकार्य को स्वीकार करते हुए भी हम यह मानते हैं कि उसका मूल कार्य किसी भी साहित्यिक कृति या प्रवृत्ति के गुण-दोषों का विवेचन और विश्लेषण है। इस मूल कार्य के अतिरिक्त उसके अन्य गौण या अनुवर्ती कार्य भी हैं जैसे— सौन्दर्य चेतना को जगाना, पाठक को ज्ञान-सम्पन्न करना, साहित्यिक अभिरुचि जाग्रत करना, सांस्कृतिक सुरुचि का विकास करना, साहित्य और कला को प्रोत्साहित करना, साहित्य-सृजन का मार्गदर्शन करना, कुत्सित साहित्य का विकास रोकना आदि-आदि। परन्तु, जब हम आलोचना के मूल कार्य को स्वीकार कर लेते हैं, तब हमें किसी भी कृति अथवा प्रवृत्ति के विवेचन और विश्लेषण के लिए कतिपय कसौटियों की आवश्यकता होती है। हमारा आलोचना-सम्बन्धी बहुत-सा कार्य चाहे कसौटियों की सजगता के साथ न भी हो, परन्तु उस कार्य में कोई न कोई कसौटी रहती अवश्य है। कभी-कभी एक निश्चित कसौटी रहती है और कभी-कभी अनेक कसौटियों का सम्मिलित एवं सम्मिश्रित उपयोग किया जाता है। अतः वहाँ पर हम स्पष्ट रूप से जान नहीं पाते कि किस विशिष्ट या किन-किन कसौटियों का व्यवहार आलोचना में किया गया है।

आलोचना के हेतु प्रयुक्त कसौटियाँ अनेक रूप में होती हैं, परन्तु मुख्यतः हम उनके तीन वर्ग देख सकते हैं जो हैं—सिद्धान्त, नियम और आदर्श। इन्हीं तीन में से किसी प्रकार की कसौटी या कसौटियों का उपयोग हम जाने-अनजाने आलोचना-कार्य के लिए करते हैं।

आलोचना की इन कसौटियों अथवा आलोचना के मानदण्डों के विकास का एक सुदीर्घ इतिहास है और उस इतिहास के अनुशीलन करने पर हमें पता चलता है कि इनमें परस्पर काफी संघर्ष हुआ है। एक का खण्डन कर दूसरे की स्थापना, और दूसरे का खण्डन कर प्रथम या फिर नये मानदण्ड की स्थापना का कार्य भारतीय तथा पाश्चात्य— दोनों ही समीक्षा-पद्धतियों के इतिहास में देखा जा सकता है। ये समीक्षा-पद्धतियाँ बहुविध हैं और उनकी नवीन विधियों का भी विकास होता जा रहा है। परन्तु, प्रायः किसी कृति के सर्वांग पर विचार किये बिना, जब हम इन समीक्षा की विधियों और मानदण्डों पर विचार करते हैं, तो हमारे मन में भ्रम और शंका का निर्माण होना स्वाभाविक है। भारतीय काव्यशास्त्र के अन्तर्गत रूपवादी या अभिव्यक्ति-सौष्ठव-सम्बन्धी मानदण्डों में काफी संघर्ष होता रहा और उनसे भाववादी मानदण्डों का भी पाला पड़ा। यूरोप में भी कलावादी और जीवनवादी या वस्तुवादी समीक्षा-धाराओं के संघर्ष का इतिहास काफी लम्बा है।

मैं समझता हूँ कि जिस किसी भी सिद्धान्त के पक्ष और विपक्ष में काफी दीर्घकाल तक विचार-विमर्श होता रहे और उसके पश्चात् भी उसकी मान्यता एकदम अस्वीकृत न की जा सकें, वह निश्चित रूप से तत्वयुक्त होता है। अतः उसे हमें सत्य या असत्य के रूप में न स्वीकार करके आंशिक सत्य के रूप में स्वीकार करना चाहिए और अन्यों को पूरक रूप में ग्रहण करना चाहिए। उल्लिखित दृष्टिकोण के आधार पर समीक्षा के समस्त मानदण्डों पर विचार करने के उपरान्त मैं समझता हूँ कि आलोचना के विभिन्न मानदण्डों को हम इन तीन वर्गों में रख सकते हैं: (क) रूपवादी या अभिव्यक्तिवादी मानदण्ड (ख) भाववादी मानदण्ड (ग) वस्तु या विचारवादी मानदण्ड। इनका विश्लेषण और विवेचन हम आगे क्रमशः कर रहे हैं।

(क) रूपवादी या अभिव्यक्तिवादी मानदण्ड

जब हम संस्कृत के भारतीय मानदंडों तथा बहुत से प्राचीन योरोपीय समीक्षा के सिद्धांतों पर विचार करते हैं तो हमें यह स्पष्ट दृष्टिगत होता है कि अधिकांश काव्य समीक्षा के मानदंडों के अन्तर्गत अभिव्यक्ति-सौष्ठव का विश्लेषण किया गया है। इन मानदंडों के अन्तर्गत आलंकारिता उक्ति-वैचित्य, वर्ण एवं शब्द-विन्यास, पद-रचना एवं सामासिकता, शैली और वक्रोक्ति-सम्बन्धी विशेषताओं पर विचार किया गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि काव्य-समीक्षा के इन सिद्धान्तों का एक निश्चित दृष्टिकोण है, इनके अन्तर्गत काव्य को केवल कला के रूप में देखा गया है। इस प्रकार के अनेक कथन मिलते हैं जिनमें कविता विशेषोक्ति या अभिव्यक्ति की कला है—इस प्रकार की भावनाओं को प्रकट किया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन सिद्धान्तों या काव्य-समीक्षा के मानदण्डों के अन्तर्गत काव्य के कलापक्ष की बारीकियों का सुन्दर विश्लेषण प्राप्त होता है। किसी वस्तु या भाव की अभिव्यक्ति के कितने रूप हो सकते हैं और अभिव्यवित-सौष्ठव की कितनी विविधता हो सकती है—यह बात हम इन सिद्धांतों के अध्ययन से भली भाँति ज्ञात कर सकते हैं। भारतीय काव्य-सिद्धांतों में अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि तथा पाश्चात्य सिद्धांतों और वादों में कलावाद, अभिव्यंजनावाद, बिम्बवाद, प्रतीकवाद आदि काव्य की कसौटियाँ इस बात को प्रमाणित करती हैं। मैं यहाँ यह नहीं कहना चाहता कि कसौटियाँ या काव्य-समीक्षा के ये मानदण्ड किसी प्रकार से हीन या कम महत्व के हैं।

वास्तव में इनका महत्व विशिष्ट और विभेदक है। इसको हम और स्पष्ट करें तो ये मानदण्ड काव्य की उस विशेषता को स्पष्ट करते हैं जो कि उसकी अपनी निजी है और जिसके कारण वह सामान्य साहित्य, वाङ्मय या ज्ञान की अन्य शाखाओं से भिन्न हैं; लेकिन इसके साथ ही साथ उसकी अन्य और विशेषतायें हैं जिसके बिना काव्य का यह वैशिष्ट्य निराधार हो जाता है। इसे स्पष्ट करने के लिए हम एक उदाहरण लेंगे। घोड़े और बैल में बहुत बड़ा अन्तर यह होता है कि बैल के सींग होते हैं परन्तु उसके सींग की विशिष्टता उसका समग्र रूप नहीं है। सींग उसका विशिष्ट विभेदक रूप है जिससे हम उसको समान-धर्मी

अन्य पशुओं से अलग कर सकते हैं। परन्तु अन्य पशुओं के समान उसके भी पैर, पेट, नाक, मुँह, पूँछ ओर कान भी होते हैं, इसका भी ध्यान रखना होता है। यदि हम बैल के स्वरूप को केवल उसके सींग के वर्णन के द्वारा स्पष्ट करना चाहें तो यह अधूरा प्रयास समझा जायेगा। इसी प्रकार काव्य के अभिव्यक्ति पक्ष या रूप (फॉर्म) को समझना चाहिए। काव्य में सौन्दर्य की प्रधानता होती है उसका प्रभाव उसके अभिव्यक्ति-सौष्ठव के कारण ही पड़ता है, अतः प्राचीन आचार्यों ने इस अभिव्यक्ति पक्ष का महत्वपूर्ण विश्लेषण करके काव्य के विशिष्ट और विभेदक स्वरूप को स्पष्ट किया है, परन्तु यह कार्य उसके सर्वांगीण निरूपण का कार्य नहीं है।

हम प्रायः कहते हैं कि काव्य की पंक्तियों के अन्तर्गत किसी भाव या विचार की अभिव्यक्ति हुई है या किसी वस्तु या चरित्र का सुन्दर चित्रण हुआ है। यहाँ भी अभिव्यक्ति और चित्रण का आधार भाव, विचार या वस्तु के निश्चित रूप से मानना होगा। अतएव काव्य की सर्वांगीण समीक्षा के लिए अभिव्यक्ति पक्ष के साथ-साथ उसके वस्तु और भाव पक्ष का भी विवेचन आवश्यक होता है। ऐसी दशा में यह समीचीन है कि इस प्रकार के विवेचनों को समीक्षा के भिन्न-भिन्न मानदण्डों के अन्तर्गत रक्खें। ये भाववादी और वस्तुवादी मानदण्ड कहे जा सकते हैं।

(ख) भाववादी मानदण्ड

काव्य के अन्तर्गत अभिव्यक्ति-सौष्ठव के समान ही महत्वपूर्ण बात उसके अन्तर्गत चित्रित भाव है। जब हम भाव की बात कहते हैं तो हमारे सामने वे व्यक्ति भी स्पष्ट होते हैं कि जिनके अन्तर्गत वे भाव प्रकट होते हैं। भाव का विश्लेषण करने में हम आलम्बन, उद्दीपन, संचारी भाव आदि का ध्यान रखते हैं और इनके चित्रण के द्वारा हम किसी भी व्यक्ति के अन्तर्जगत् का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस अन्तर्जगत् का स्वरूप सबसे अधिक काव्य में ही स्पष्ट होता है। वास्तव में यदि हम सूक्ष्मता से विचार करें तो आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार काव्य में अभिव्यक्ति-सौष्ठव की अपेक्षा यह अन्तर्जगत् का चित्रण ही अधिक महत्व का समझा जाता है। अभिव्यंजना-सौष्ठव, अलंकार आदि ये काव्य की प्राचीन काल में सम्पत्ति माने जाते थे। आज हम काव्य में जिस बात की अपेक्षा करते हैं वह यही मानव के अन्तर्जगत् का चित्रण है। इस अन्तर्जगत् का विश्लेषण हम अनेक प्रकार से करते हैं और यह हमें निश्चित रूप से स्वीकार करना होगा कि जब हम काव्य के अन्तर्गत अन्तर्जगत् को इतना महत्व देते हैं तो उसके विश्लेषण का प्रयत्न साहित्यालोचन के अन्तर्गत होना चाहिए। अतः ये भाववादी समीक्षा के मानदण्ड अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। अभी तक यद्यपि इस विशिष्ट दृष्टिकोण से इनका विकास और स्वरूप-गठन नहीं हुआ है फिर भी हम भारतीय काव्यशास्त्र के अन्तर्गत रस-सिद्धान्त में इसका एक सुन्दर रूप प्राप्त करते हैं। रस-सिद्धान्त में रस-निष्पत्ति विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से मानी गयी है अतएव रस की व्याख्या या निरूपण करने के लिए हम इनका विश्लेषण और विवेचन करते

हैं। इसके साथ ही साथ हम आन्तरिक मनोवृत्तियों और व्यवहारों के आधार से विभिन्न नायक नायिका-भेदों पर भी विचार करते हैं। और इस प्रकार किसी भी महत्वपूर्ण काव्यकृति का भाव की दृष्टि से विवेचन किया जा सकता है। काव्य के विवेचन का यह स्वरूप समीक्षा के भाववादी मानदण्ड के अन्तर्गत आता है।

इसके साथ ही साथ हम पाश्चात्य मनोशास्त्रियों के सिद्धान्तों पर भी विचार कर सकते हैं जिनके अन्तर्गत उन्होंने अन्तर्जगत् को कला का मुख्य आधार स्वीकार किया है। फ्रायड ने चेतन, अर्ध-चेतन और अवचेतन-मन के तीन स्तरों का विवेचन किया है और उनका विचार है कि अवचेतन मन में हमारी दमित कामनायें और आकांक्षायें पुंजीभूत रहती हैं। इन्हीं का एक उदात्त प्रकाशन कला और काव्य का रूप धारण करता है। अतः काव्य और कला के अन्तर्गत इन आन्तरिक भावनाओं और इच्छाओं का विश्लेषण करना भी भाववादी समीक्षा का एक रूप है। फ्रायड के समान ही एडलर ने भी काव्य और कला के अन्तर्गत दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति-प्रक्रिया को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उसके हिसाब से काव्य या कला के अन्तर्गत अभिव्यक्ति धारण करने वाली प्रेरणा काम की न होकर अधिकार-भावना की होती है। कलाकार के अन्तर्गत जो हीनता की ग्रंथि अन्तर्जगत् में व्याप्त होती है, कला या काव्य उसी का परिणाम है। इस प्रकार से दोनों ही मनोशास्त्री मनोजगत् को काव्य या कला का मूलाधार मानते हैं। वास्तव में तीसरे मनोशास्त्री युग ने केवल काम और केवल हीनता की भावना का महत्व न देकर दोनों का ही समन्वय किया है। इसी प्रकार काव्य या कला और मनःचेतन के सम्बन्धों में और भी महत्वपूर्ण सूत्र ढूंढे जा सकते हैं। ये सूत्र चाहे जो भी हों पर इसमें सन्देह नहीं कि काव्य के अन्तर्गत हमारी आन्तरिक भावनाओं और मनोवृत्तियों का महत्वपूर्ण चित्रण रहता है। वास्तव में काव्य, मन के स्पंदनों का चित्रण है। ऐसी दशा में काव्य की आलोचना के अन्तर्गत इन मनोवृत्तियों और भावों के विश्लेषण और विवेचन का महत्वपूर्ण स्थान होना चाहिए। भारतीय रस सिद्धान्त तथा पाश्चात्य मनो-विश्लेषण-सम्बन्धी शास्त्र इस समीक्षा के लिए मानदण्ड प्रस्तुत करते हैं और मेरा विश्वास है कि आगे और भी मानदण्ड हमारे सामने आयेंगे जिनका सम्बन्ध काव्य में चित्रित अन्त-र्जगत् के विवेचन से है। इन सिद्धान्तों को हम समीक्षा के भाववादी मानदण्ड कह सकते हैं।

(ग) वस्तुवादी मानदंड

काव्य को मूलतः अभिव्यक्ति-सौष्ठव के रूप में स्वीकार करने पर भी जो प्रश्न उठता है वह यह है कि वह अभिव्यक्ति किस बात की है, अर्थात् अभिव्यक्ति का मूलतत्व क्या है जिसको कि अभिव्यक्ति काव्य की कला के रूप में दिखलाई देती है। काव्य के प्रसंग में यह प्रश्न हमारे सामने आज ही नहीं उठा, वरन् प्राचीन काल से ही विचारणीय रहा है और प्रायः ऐसा देखा जाता है कि अभिव्यक्ति का सौष्ठव उसके अन्तर्गत एवं निहित वस्तु या तत्व की नवीनता या मार्मिकता के कारण है। अतएव अभिव्यक्ति-सौन्दर्य का मूल स्रोत

वहीं है। ऐसी दशा में जिसमें मूलतत्व निहित है उसकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है ? हिन्दी का सन्त-वाङ्मय, भक्ति काव्य, प्रगतिवादी और राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य अनेक प्रकार का साहित्य जिसके अन्तर्गत दर्शन, नीति, संस्कृति के तत्व समाविष्ट हैं, उसका महत्व तात्विक दृष्टि से है केवल अभिव्यंजना की ही दृष्टि से नहीं। अभिव्यंजना या चमत्कार मात्र से ही चिढ़ कर कबीर ने कहा था—"कवि कवीने कविता मूए"। अर्थात् जिनकी कविता में अन्तर्निहित जीवन का तत्व नहीं है वह काव्य अचिरस्थायी होता है। इस आन्तरिक तत्व का एक रूप भाव है और दूसरा रूप वस्तु और विचार है। इन दोनों के अन्तर्गत हम, किस बात की अभिव्यक्ति हुई है इस पर विचार करते हैं। तुलसीदास ने 'दोहावली' में लिखा है :—

हरिहर जस सुरनर गिरहुँ, बरनत सुकवि समाज।
हाँड़ी हाटक घटित चरु, राँधे स्वाद सुनाज॥

जिसका तात्पर्य यह है कि महत्वपूर्ण 'सुनाज' है उसका पात्र नहीं जिसमें वह रांधा जाता है। सन्त वाङ्मय में इसी वर्ण्य का महत्व है, वर्णन शैली का नहीं। फिर भी हम उसे उत्कृष्ट साहित्य के अन्तर्गत रखते हैं। अतएव हमें काव्य के वस्तुपक्ष की अवहेलना नहीं करनी चाहिए।

इसी दृष्टिकोण को अपनाकर जो समीक्षा-पद्धतियाँ विकसित हुई हैं, उन्हें हम वस्तुवादी मानदण्ड के रूप में देख सकते हैं। वस्तुवादी समीक्षा-पद्धतियों के अन्तर्गत मुख्यतः दो प्रकार की कसौटियाँ मिलती हैं। एक यह है जो वस्तु को आदर्श रूप में प्रस्तुत करती है और दूसरी वह है जो उसे यथार्थ रूप में। किसी वस्तु को देखने के यही रूप हो सकते हैं। आदर्शवादी दृष्टिकोण में एक पक्ष ऐसा है जो काव्य को जीवन की पुनःसृष्टि समझता है। इस दूसरे पक्ष के अनुसार कवि अपने अनुभव और कल्पना में आये जीवन का वर्णन विभिन्न छबियों और बिम्बों में प्रस्तुत करता है। हिन्दी साहित्य के भक्ति और सन्त काव्य में प्रायः आदर्शवादी दृष्टिकोण मिलता है जिसमें प्रचार का आग्रह विशेष है। इसी प्रकार पाश्चात्य साहित्य के अन्तर्गत भी आदर्शवादी दृष्टिकोण हमें नैतिकतावादी और साम्यवादी आलोचकों की रचनाओं में प्राप्त होता है। मैथ्यूआरनल्ड, जान रस्किन, लियो टालस्टाय नैतिकतावादी आदर्श के प्रचारक हैं और क्रिस्टोफर कॉडवेल, रैल्फ फाक्स आदि मार्क्सवादी आदर्शों को प्रस्तुत करने वाले हैं।

दूसरे प्रकार के आलोचक जो यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं उनमें प्रमुख रीति से बेलिन्स्की, चर्नीशेव्स्की, द्रोब्रोलिउबोव, जेम्स फेरल, स्टीफन स्पेन्डर आदि हैं। इन सभी का मुख्य प्रतिपाद्य कविता का अभिव्यक्ति पक्ष न होकर वस्तुपक्ष है जिसके अन्तर्गत विचार, व्यक्ति, चरित्र, वस्तु, नीति, सिद्धान्त आदि बातें आती हैं। इनके अन्तर्गत काव्य में तत्व और सामग्री क्या है, यही महत्व का है। यदि ये बातें अनुपस्थित हैं तो काव्य का महत्व नहीं। अतएव स्पष्ट है कि इन विचारकों के मत से काल्पनिकता की अपेक्षा वास्तविक जीवन का सम्पर्क, कला और काव्य के लिए अधिक महत्वपूर्ण है।

इस वस्तुवादी मानदण्ड के अन्तर्गत जो प्रथम प्रकार है—वह आदर्शवादी और प्रचारवादी दृष्टिकोण को विशेष लिए है और पाश्चात्य समीक्षा-क्षेत्रों में रस्किन और टालस्टाय, जहाँ जीवन के नैतिक और आध्यात्मिक पक्ष को लेकर चलने वाले हैं, वहाँ कॉडवेल भौतिक और आर्थिक पक्ष को। रस्किन की मान्यताओं से यह स्पष्ट होता है कि वे नैतिकता, उच्च चारित्र्य और लोक-मंगल—इसको उत्कृष्ट कला की कसौटी मानते हैं और कला और साहित्य का ध्येय समाज में इन्हीं वस्तुओं का प्रचार करना है। सौन्दर्य के प्रति गहरा अनुराग रखते हुए भी वे हमारे सामने एक उदार शिक्षक के रूप में आते हैं।

इसी परम्परा में लिओ टालस्टाय कुछ अधिक व्यावहारिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने वाले हैं। वे कला और काव्य में निहित संदेशों और विचारों द्वारा आदर्श जीवन का सन्देश देना चाहते हैं। इसीलिए उनका विचार है कि कलात्मक अभिव्यक्ति स्पष्ट और सर्व बोधगम्य होनी चाहिए। जो पूर्ण कलाकृति है वह सत्य, शिव और सुन्दर से युक्त होती है। उनका यह भी कथन है कि कलाकृति की विशेषता उसकी नवीनता में है और यह नवीनता मानवता के लिए महत्वपूर्ण विचारतत्व के रूप में देखी जा सकती है। जो कला केवल धनी वर्ग के मनोरंजन के लिए होती है वह एक प्रकार की वैश्यावृत्ति होती है। वास्तविक कलाकार वही है जिसके पास देने को कुछ सन्देश है।

उपर्युक्त दोनों नैतिकतावादी विचारकों की अपेक्षा भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करने वाले क्रिस्टोफर कॉडवेल हैं, उनके विचार से कविता को जातीय, राष्ट्रीय, सामान्य, विशिष्ट के रूप में मानना ठीक नहीं, वरन् वह काफी अंशों में जीवन के आर्थिक पक्षों से सम्बन्ध रखती है। कविता की उदात्त और मनोहारिणी भाषा समूहगत अभिव्यक्ति का सुन्दर माध्यम है। अतः काव्य का जन-जीवन से सीधा सम्बन्ध है। उनके विचार से काव्य का पहले उपयोग मानव की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता था। काव्यगत सत्य, स्वयं अपने आप में कोई पूर्ण वस्तु नहीं है। उसका महत्व समाज के लिए उपयोगी होने में है। कॉडवेल सामन्तवादी अथवा पूंजीवादी काव्य को असामाजिक मानते हैं उनकी दृष्टि से काव्य की केवल कलावादी प्रवृत्तियाँ जैसे—बिम्बवाद, आदर्शवाद, अतियथार्थवाद आदि अवास्तविकता पर आधारित होने के कारण पूंजीवादी संस्कृति के परिणाम हैं। उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि कॉडवेल के सिद्धान्त वस्तुवादी होते हुए भी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद या मार्क्सवाद पर आधारित हैं और वे आध्यात्मिकता और नैतिकतावादी सिद्धान्तों से भिन्न पड़ते हैं।

उल्लिखित सिद्धान्तों में प्रचार का आग्रह होने के कारण काव्य के सर्वांगीण सुन्दर विकास का अवसर कम रहता है अतः वस्तुवादी पक्ष के अन्तर्गत वास्तविकतावादी विचारकों के सिद्धान्त अधिक महत्वपूर्ण हैं जिनमें बेलिंस्की, चर्नीशेव्स्की और द्रोबोल्युबोव महत्वपूर्ण हैं।

बेलिंस्की के विचार से कविता वास्तविक और सत्य विचारों की कला है—कृत्रिम

संवेदनों की नहीं। कविता जीवन पहले है, और कला बाद में। उनके विचार से दार्शनिक और कवि दोनों का सन्देश एक ही है। अन्तर यह है कि दार्शनिक युक्तियों में बात करता है और कवि छवियों और बिम्बों में। कलाकार का चिरंतन "मॉडेल" है प्रकृति और प्रकृति में सबसे श्रेष्ठ और शुद्ध "मॉडल" है मानव का। प्रकृति के सार्वभौम जीवन को पुन: मूर्त्त बनाना कला का उद्देश्य है। कविता चित्रकला से बढ़कर है, उसकी सीमायें अन्य किसी भी कला से व्यापक हैं। बेलिंस्की के कविता-सम्बन्धी विचारों में तीन बातें मुख्य हैं—वास्तविकता का ग्रहण, प्रत्यक्षीकरण और मानवता का विकास। उनके अनुसार कला के भीतर जीवन का सत्य प्रतिबिंबित होना चाहिए। प्रत्येक काव्यकृति किसी प्रबल विचार का परिणाम होती है। कवि उस विचार को जीवन के दृश्यों के माध्यम से व्यक्त करता है इसलिए महान् कला या काव्य; जीवन, वस्तु, जगत और इतिहास की भाषा में बोलता है। बेलिंस्की के विचार से मानव न तो पशु है न देवता। वह मानव है, इसी को समझना जीवन की यथार्थता है।

बेलिंस्की के इन विचारों से यह स्पष्ट है कि वह काव्य में अभिव्यक्ति-कौशल नहीं, वरन् जीवन की वास्तविकता और विचारों को महत्व देता है। बेलिंस्की के विचारों का ही प्राय: विस्तार और व्याख्या हमें चर्नीशेव्स्की और दोब्रोल्युबोव के लेखों में मिलती है। चर्नीशेव्स्की के अनुसार वास्तविकता ही कल्पना को प्रेरित करती और शक्ति देती है, अत: मानव के लिए रोचक और प्रेरक प्रत्येक वस्तु को मूर्त्त करना कला का उद्देश्य है। जीवन ही सुन्दर है, इसी कारण वह वस्तु भी सुन्दर है, जिसमें हम जीवन को उस रूप में देखते हैं, जैसे उसे हमारे विचार से होना चाहिए। कला की कृतियाँ यथार्थ सौन्दर्य से ही युक्त होती हैं। इन विचारों से स्पष्ट होता है कि चर्नीशेव्स्की के अनुसार भी काव्य और कला का लक्ष्य सत्य और वास्तविकता है। वास्तविकता का सम्बन्ध विषयवस्तु से होता है, उसकी अभिव्यक्ति से नहीं। अभिव्यक्ति तो कवि की अपनी शैली है।

दोब्रोल्यूबोव की मान्यताओं में वास्तविकता के साथ-साथ उपयोगिता तथा प्रचार का अधिक आग्रह है। उनके विचार से कला का उद्देश्य जनता को शिक्षित करना है। कला और दर्शन की सार्थकता जनता की सोई हुई शक्ति को जगाने में है। कलाकार का लगाव सूक्ष्म विचारों और सिद्धान्तों से नहीं होता उसका लगाव उन जीवित छवियों और बिम्बों से होता है जिनमें विचार अपना रूप धारण करते हैं। इन सब बातों से स्पष्ट है कि इन विचारकों की दृष्टि में काव्य और कला की महत्ता उसमें अभिव्यक्त विषय-वस्तु पर निर्भर करती है, अभिव्यंजना कौशल पर नहीं। और इससे स्पष्ट होता है कि किसी भी महान् काव्य का मूल्यांकन उपर्युक्त विचारधारा के अनुसार किया जा सकता है।

इस वस्तुवादी आलोचना-पद्धति के अन्तर्गत म वास्तविक अथवा आदर्श जीवन का ऐसा चित्रण ले सकते हैं जो मानव को प्रभावित कर सके और प्रेरणा दे सके। इस चित्रण में ऐसे विचारों और भावों के जाग्रत करने की भी शक्ति होती है जो कि समाज को

क्रियाशील बना सकते हैं। यों तो वे विचार, दर्शन या शास्त्र के रूप में भी आकर हमें प्रेरणा देते हैं, पर जितना प्रभाव काव्य या कला के माध्यम से पड़ता है उतना अन्य रूपों से नहीं। अतः काव्य या कला का यह वस्तुवादी पक्ष भी महत्वपूर्ण है और हमें इस दृष्टि से भी काव्य और कला की समीक्षा करनी चाहिए।

उपर्युक्त विवेचना से यह बात भली प्रकार स्पष्ट हो जाती है कि किसी भी काव्य-कृति की परिपूर्ण आलोचना तभी हो सकती है जब हम उसके कलापक्ष, भावपक्ष और वस्तुपक्ष— सभी पक्षों को भली भाँति निरख-परख सकें और उनके अन्तर्गत निहित विशेषताओं का स्पष्टीकरण कर सकें। काव्य और कला का संवेदनशाली मानव पर जो प्रभाव पड़ता है वह इन तीनों पक्षों का समन्वित प्रभाव है। ऐसी दशा में हमें तीनों पक्षों को ही मान्यता देना समीचीन होगा, किसी एक पक्ष के आधार पर आलोचना करना नहीं।

●

डा० कमलारानी तिवारी
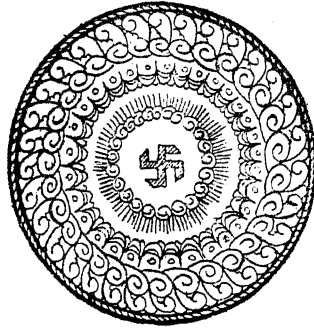
आलोचना का सामान्य परिचय

आलोचना विभिन्न रूपों की विश्लिष्ट व्याख्या कर उनके सत्य स्वरूप का उद्घाटन करती है। कला के सम्पर्क से उत्पन्न रसानुभूति की व्याख्या आलोचना कहलाती है। आलोचक विश्लेषण करता है, वह हमारे मस्तिष्क में उन तत्त्वों की विश्लिष्ट चेतना उत्पन्न करता है, जो किसी साहित्यिक कृति अथवा उसके किसी अंश को रसमय या नीरस बना देते हैं काव्य की विशेषताओं को सामान्य नाम देने का अर्थात् सामान्य रूप में प्रकट करने का नाम ही आलोचना है। इसकी सहायता से पाठक सत्-असत् साहित्य के विधायक तत्त्वों की सचेत अवगति प्राप्त करता है और इसके द्वारा साहित्य का रस-ग्रहण एक अन्य व्यापार न रहकर चेतना मूलक व्यापार बन जाता है। आलोचना शास्त्र की जानकारी रखने वाला पाठक अधिक सचेत भाव से साहित्य का रस लेता हे। इससे हमारी रस-संवेदना का शिक्षण और परिष्कार होता है। "साहित्य-क्षेत्र में ग्रन्थ को पढ़कर उसके गुणों और दोषों का विवेचन करना और उसके सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करना ही आलोचना कहलाता है।........यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या माने तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।[१] आलोचना के कार्य और प्रभाव को स्पष्ट करते हुए बाबू गुलाबराय जी ने कहा है—"आलोचना का मूल उद्देश्य कवि की कृति का सभी दृष्टिकोणों से आस्वाद कर पाठकों को उस प्रकार के आस्वाद में सहायता देना तथा उनकी रुचि को परिमार्जित करना एवं साहित्य की गति निर्धारित करने में योग देना है।"

---

१. डा० श्यामसुन्दर दास

सँस्कृत आचार्यों ने कवि की सृष्टि को 'नियति कृति नियम रहिताम्' मान कर भी उसे 'व्यवहार विद और 'कान्ता सम्मितयोपदेश युजे' भी माना है। इस कवि की सृष्टि के रहस्य से पाठक को परिचित कराना ही सच्चे आलोचक का कार्य और कर्त्तव्य है। यदि कोई मनीषी कलाकार जीवन की व्याख्या करता है। तो एक निष्पक्ष और विद्वान आलोचक हमें वह व्याख्या समझाने में सहायक होता है। इसलिये विद्वानों ने आलोचना के दो प्रमुख उद्देश्य निर्धारित किये हैं सत् साहित्य के निर्माण का प्रोत्साहन तथा असत् साहित्य का निराकरण।

साहित्य और आलोचना में अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। जहाँ साहित्य है वहाँ किसी न किसी रूप में आलोचना भी है। इसलिये भगवान बुद्ध के आदेशानुसार उसके प्रति उपेक्षा तो नहीं दिखायी जा सकती। आवश्यकता केवल इस बात की है कि आलोचक अपने विवेक को सदैव जागृत रखे। वह पाठक और लेखक के मध्यस्थ कार्य करता है। "उसका दोनों के प्रति उत्तरदायित्व है। एक ओर वह कवि की कृति का सहृदय व्याख्याता और निर्णायक होता है तो दूसरी ओर वह अपने पाठक का विश्वास-पात्र और प्रतिनिधि समझा जाता है। कवि की भाँति वह दृष्टा और सृजक दोनों ही होता है। लोक व्यवहार तथा शास्त्र का ज्ञान, प्रतिभा और अभ्यास आदि साधन जैसे कवि के लिये अपेक्षित हैं उसी प्रकार समालोचक के लिये भी।" इस प्रकार आलोचक का महत्त्व और कृति कवि या लेखक के महत्त्व और कृति से किसी भी दशा में न्यून नहीं होती। दोनों का उत्तरदायित्व समान है। इसी विशेषता को लक्ष कर आचार्य शुक्ल ने साहित्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए आलोचना को साहित्य का एक अंग माना है।

हिन्दी में 'आलोचना' शब्द आजकल साहित्यिक समालोचना के लिए प्रयुक्त होता है जो अंग्रेजी शब्द 'लिटरेरी क्रिटिसिज्म' का समानार्थक है। 'क्रिटिसिज्म' शब्द का मूल रूप ग्रीक शब्द 'क्रिटिकोस' के साथ सम्बद्ध है, जिसका अभिप्राय विवेचन करना या निर्णय देना है। साहित्यिक कृतियों की आलोचना कदाचित् उस प्राचीन काल में ही होने लगी थी जिस समय उनका प्रादुर्भाव सर्वप्रथम मौखिक रूप में हुआ था और जब उनके श्रोताओं ने उनसे प्रभावित होकर उन पर अपनी टीका-टिप्पणी आरम्भ की थी। किन्तु इसके अर्थ-विकास को प्रेरणा उस समय मिली जब इसका प्रयोग अभिनयों तथा व्याख्यानों के सम्बन्ध में भी होने लगा। फिर क्रमशः जब एक पृथक् काव्यशास्त्र का निर्माण हुआ तो उसके आधार पर विविध साहित्यिक कृतियों के परिचय, वर्गीकरण तथा गुण-दोष-विवेचन की एक सुव्यवस्थित परिपाटी चली, जिसके द्वारा इसे और भी प्रोत्साहन मिला और स्वयं इसके व्यापक सिद्धान्तों स्वतन्त्र विचार होने लगा। तब से आलोचना ने बहुत प्रगति की है और इसने न केवल किसी कृति विशेष का ही समुचित अध्ययन का प्रयत्न किया है अपितु उसके सृजन की प्रक्रिया, उसके सृष्टा के व्यक्तित्व तथा उसके युग एवं तत्कालीन प्रवृत्तियों के भी समझने की चेष्टा की है और इस प्रकार इसका क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है।

आलोचना का कार्य कवि और उसकी कृति का यथार्थ मूल्य प्रकट करना है। इसके लिये कृति में व्याप्त गुणों का उद्‌घाटन और दोषों का विवेचन तो उसका कार्य है ही, साथ

ही उसका समाज में और अन्य कला-कृतियों के बीच क्या स्थान और महत्व है, यह स्पष्ट करना भी आलोचना का ही कार्य है। कलात्मक उत्कृष्टता का पूर्ण प्रकाशन आलोचना का श्रेय कार्य है। इसके अतिरिक्त कवि प्रतिभा की विशेषताओं का पूर्ण उद्घाटन भी उसी का कार्य है। कलाकृति के द्वारा कवि की मन:स्थिति पर प्रकाश डालना और वैयक्तिक पारिवारिक, सामाजिक और युग की परिस्थितियों के प्रभाव को स्पष्ट करना भी आलोचना के क्षेत्र के भीतर ही समझा जाता है। अत: "आलोचना के कार्य के दो प्रधान पक्ष हैं–एक तो कवि या कलाकार की कृति की पूर्ण व्याख्या का और दूसरे उसके महत्व एवं मूल्य निरूपण का।"

यह कहना कि आलोचना के भीतर केवल तटस्थ रूप से व्याख्या होनी चाहिये और मूल्य अथवा महत्व का निरूपण, आलोचक के वैयक्तिक विचारों का प्रभाव पाठक पर डाल देता है, अत: वह इसके बाहर है, वास्तव में आलोचक और आलोचना के कार्य पर ही अविश्वास प्रकट करना है। यदि आलोचक अपने उत्तरदायित्व के प्रति जागरूक है, तो वह दोनों ही पक्षों के कार्यों का निर्वाह कर सकता है। आलोचना का क्षेत्र तो यहाँ तक व्यापक माना जाता है कि व्यक्तिगत प्रभावों से लेकर तटस्थ रूप से सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण भी इसी की सीमा में आ जाता है[1]

भारतीय आलोचना या समीक्षा, अत्यंत प्राचीन होते हुई भी, पश्चिमी आलोचना से भिन्न और विलक्षण है। संस्कृत के समीक्षा शब्द का अभिप्राय 'अन्तर्भाष्य' तथा 'अवान्तरार्थ विच्छेद' मात्र माना जाता रहा है। इसी कारण समीक्षकों का ध्यान प्रधानत: आलोच्य ग्रन्थों तक ही सीमित रहता आया है। संस्कृत साहित्य में आलोचना उस भाव या ज्ञान को कहते हैं जिसकी सहायता से आलोचित ग्रन्थ का उचित ज्ञान प्राप्त हो सके। इसमें काव्य तत्व के दार्शनिक अध्ययन एवं शास्त्रीय व्याख्यादि, अथवा अधिक से अधिक रचना शैलियों की परीक्षा पर ही विशेष ध्यान दिया गया है। परन्तु पाश्चात्य आलोचना में क्रमश: साहित्यिक कृतियों के व्यावहारिक पक्ष को भी पूरी महत्ता प्रदान की गई है। अतएव भारतीय समीक्षा का क्षेत्र जहाँ अधिकतर काव्य-शास्त्र तक ही सीमित रहा है वहाँ पश्चिमी आलोचना एवं उससे प्रभावित हिन्दी आलोचना का सम्पर्क आधुनिक मनोविज्ञान, समाज विज्ञान, अर्थ-विज्ञान, भाषा विज्ञान आदि के साथ भी स्थापित हो गया है जिससे उसने एक स्वतन्त्र रूप धारण कर लिया है।

संस्कृत साहित्य में आलोचना की छ: पद्धतियाँ प्रचलित थीं जिनका थोड़ा बहुत अनुकरण हिन्दी के वर्तमान साहित्यकारों ने भी किया है—ये छ: पद्धतियाँ निम्नलिखित हैं:—(१) आचार्य पद्धति (२) टीका पद्धति (३) शास्त्रार्थ पद्धति (४) सूक्ति पद्धति (५) खण्डन पद्धति और (६) लोचन पद्धति। इन पद्धतियों का दृष्टिकोण केवल

1. 'Literary criticism in the most elastic meaning of the term, is literature discussing itse'f. It extends from the formal treatise to the floating criticism of every day conversation on literary topics. —Moulton.

एक पुस्तक अथवा साहित्य के किसी एक विशेष गुण की आलोचना करना ही रहा है। ये विस्तृत अथवा सार्वदेशिक और सार्वकालीन साहित्य को अपना आधार बनाने में असफल रहीं हैं।

संस्कृत की उपर्युक्त विभिन्न समीक्षा पद्धतियों के सीमित और एकांगी दृष्टिकोण के कारण उसका उपयोग विस्तृत क्षेत्र में नहीं हो सका फिर भी तत्त्वों की दृष्टि से आधुनिक आलोचना पद्धति और प्राचीन संस्कृत समीक्षा पद्धति में विशेष अन्तर नहीं है। यूरोप में आलोचना के तीन तत्व माने गये हैं—वस्तु, रीति, और आदर्शीकरण। भारतीय आलोचना के भी तीन तत्त्व हैं—शब्द अर्थ और रस। तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं दिखलाई पड़ता है। आदर्शीकरण रस का एक अंग है। यूरोपीय कल्पना का स्थान हमारी प्रतिभा ले सकती है। वहाँ का "कला जीवन के लिये" वाला सिद्धान्त हमारी कला का प्राण है। भारतीय आलोचना ने रस, अलंकार, गुण, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि या चमत्कार को ही कवित्व माना और तदनुकूल काव्यों की उत्तमता और अनुत्तमता का विवेचन किया। यूरोपीय आलोचकों ने काव्यगत सुन्दरता या असुन्दरता की कारणभूत परिस्थितियों पर भी उदारता पूर्वक विचार किया। कलाकृतियों की समीक्षा करते समय वे रसादि तक ही नहीं रहे। उन्होंने यह भी विवेचन किया कि कलाकार ने अपनी कृति में मानव और प्रकृति के विविध रूपों की कितनी और कैसी व्याख्या की है, हृदय और मस्तिष्क की विविध प्रकृतियों का कितना सूक्ष्म और सुन्दर विश्लेषण किया है, जीवन और जगत को कितनी दृष्टियों से देखने का प्रयास किया है।

आज के हिन्दी आलोचकों का दृष्टिकोण साहित्य के विशिष्ट गुणों या अंगों की सीमित आलोचना से हटकर विश्व साहित्य को आधार मानकर आलोचना करने का बन चुका है। आज हिन्दी साहित्य में पश्चिम और पूर्व की दोनों विचार-धारायें आकर मिल गयी है। फलस्वरूप साहित्यिक आलोचना में कई नवीन दृष्टिकोणों का उदय हुआ है। इन सम्पूर्ण दृष्टिकोणों को हम चार मोटे भागों में विभाजित कर सकते हैं:—

(१) रस, ध्वनि, अलङ्कार आदि पुनरुत्थान करने वाली सैद्धान्तिक आलोचना, (२) आत्मप्रधान या प्रभाववादी आलोचना, (३) निर्णयात्मक आलोचना और (४) व्याख्यात्मक आलोचना।

(१) सैद्धान्तिक आलोचना

अंग्रेजी में यह स्पेकुलेटिव क्रिटिसिज्म (Speculative criticism) कहलाती है। इसके अन्तर्गत आलोचक व्यक्तिगत श्रेष्ठ कृतियों का अध्ययन करते हुए व्यापक सिद्धान्तों की खोज करता है।[1] अतः कृतियों के अध्ययन और व्याख्या द्वारा इस प्रकार के सिद्धान्तों को

---

1. Speculative criticism works towards a theory and philosophy of literature·········In speculative criticism, formal literary theory relaxes into tentative advance towards an undertime philosophy of literature.
—Moulton

खोजना या संकेत करना सैद्धान्तिक आलोचना है। इस आलोचना के अन्तर्गत सिद्धान्त और काव्यशास्त्र के ग्रन्थ रखे जाते हैं। इसका सम्बन्ध काव्यशास्त्र से है। मम्मट का 'काव्य प्रकाश' आनन्दवर्द्धन का 'ध्वन्यालोक', अरिस्टाटिल की 'पोइटिक्स' क्रोचे का 'ईस्थिटिक्स' आदि ग्रन्थ इसके भीतर रखे जा सकते हैं। परन्तु "यदि सिद्धान्त निरूपण ही किसी पुस्तक में हुआ है तो उसे काव्य सिद्धान्त या काव्यशास्त्र के भीतर स्थान मिलना चाहिये, आलोचना के भीतर नहीं।"[1] आलोचना के भीतर तो किसी कृति का अध्ययन करते समय सामान्य और व्यापक काव्य सिद्धान्त की नवीन खोज या पूर्ववर्ती सिद्धान्त का विवेचन या विकास हो सकता है पर पूरा काव्य सिद्धान्त निरूपण नहीं, जो विवेचना का आधार बनता है जिसका सम्बन्ध शास्त्र या दर्शन से अधिक है—आलोचना से नहीं। अत: दोनों में अन्तर है। इस आलोचना के द्वारा व्यापक सैद्धान्तिक विकास सम्भव होता है। हिन्दी में पण्डित रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना में हमें इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं; जैसे—"साधारणीकरण के प्रतिपादन में पुराने आचार्यों ने श्रोता, (या पाठक, और आश्रय के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया है पर रस की एक नीची अवस्था और है जिसका हमारे यहाँ साहित्य ग्रन्थों में विवेचन नहीं हुआ है। जैसे कोई क्रूर प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराध या दीन पर क्रोध की प्रबल व्यंजना कर रहा है, तो श्रोता या दर्शक के मन में क्रोध का रसात्मक संचार न होगा बल्कि क्रोध प्रदर्शित करने वाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा, घृणा आदि का भाव जागेगा। ऐसी दशा में आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शील-द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक होगा। पर इसकी रसात्मकता को हम मध्यम कोटि की ही मानेंगे।"

(२) आत्मप्रधान आलोचना

इसमें आलोचक आलोच्य विषय का विवेचन करते हुए उसमें इतना तल्लीन या उसके बिना इतना विमुख हो जाता है कि विवेचना को छोड़कर भाव लहरी में पहुँच जाता है। आलोच्य रचना का विषय उसके भावों का आलम्बन बन जाता है। इसमें आलोचक किसी विशिष्ट विवेचना पद्धति को न अपनाकर अपनी रुचि अथवा आदर्श के अनरूप ही आलोच्य ग्रन्थ की आलोचना कर अपना निर्णय देता है "यह आलोचना का बड़ा ही स्वच्छन्द रूप है। इसमें आलोचक किन्हीं भी नियमों या सिद्धान्तों में बँधकर चलना नहीं चाहता। वह कृति के अध्ययन के उपरान्त अपने ऊपर पड़े हुए प्रभाव का आनन्द विश्लेषण करता है। उसकी भावपूर्ण शैली होती है।" आलोचना का यह रूप वैयक्तिक होता है। अत: कृति के मूल्यनिर्धारण और पाठक के मार्ग निर्देशन एवं ज्ञानसंवर्धन में इसका अधिक योग नहीं रहता। इसमें आलोचना से अधिक रचनात्मक विशेषताएँ रहती हैं। इसमें कल्पना और भाव-तत्त्व प्रधानतया कार्य करता है, विचार तत्त्व कम। हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु और

---

१. डा० भगीरथ मिश्र

द्विवेदी युगों में इस शैली का विशेष अवलम्बन ग्रहण किया गया था। पद्मसिंह शर्मा की बिहारी की आलोचना इसी कोटि में आती है। यह आलोचना स्वच्छन्द होने से रुचिकर अधिक होती है। कभी-कभी इसमें वागाडम्बर भाव होता है। जिसका कि एक उदाहरण नीचे प्रस्तुत किया जाता है—"वाह रे अन्धे कवि सूरदास ? तुमने क्या कमाल किया है। तुमने वह रूप और भाव-सौन्दर्य अपनी बन्द आँखों से देख लिया जो लोग अपनी खुली आँखो से भी नहीं देख पाते। राधा और गोपियों का रंग विलास हृदय में एक गुदगुदी पैदा करता है और नटखटराज कृष्ण तुम धन्य हो। तुम्हारी लीला का पार कौन पा सकता है ? यह सब सूर का कमाल है। सूर के काव्य के आगे तो अमृत फीका लगता है।"

(३) शास्त्रीय या निर्णयात्मक आलोचना

इसमें सामान्य शास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर आलोच्य ग्रन्थों के गुण-दोषों का विवेचन कर साहित्यिक दृष्टि से उनका मूल्यांकन किया जाता है और उन्हीं के अनुकूल उन्हें श्रेणीबद्ध भी किया जाता है। इसमें समालोचक का रूप न्यायाधीश का रूप होता है। अंग्रेजी में इसे जूडीशल क्रिटिसिज्म (Judicial Citicism) कहा जाता है। इसके अन्तर्गत काव्य, कला अथवा शास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर किसी कृति अथवा रचना की आलोचना की जाती है। सिद्धान्तों की कसौटी पर कठोरता से रचना को कसना इसका उद्देश्य है। प्रचलित सिद्धान्तों–जैसे अलंकार, रस, रीति, ध्वनि, अभिव्यंजनावाद अथवा समाज-शास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर हमें इस प्रकार की आलोचना पूर्ववर्ती युग में बहुत मिलती है—
एक उदाहरण देखिये :—

"जानति सौति अनीति है, जानति सखी सुनीति।
गुरुजन जानत लाज है, प्रीतम जानत प्रीति॥"

यह वर्णन स्वकीया नायिका का है। नायक और नायिका के आलम्बन से इसमें शृंगार रस है। सखी की सुनीति से रस की उद्दीप्ति होती है। गुरुजन की लाज से लज्जा संचारी भाव है। प्रियतम की प्रीति से अनुभाव की ओर निर्देशन है। नायिका नागरि है यह बात स्पष्ट ही है। प्रसाद गुण, मधुरा वृत्ति एवं वैदर्भी रीति से दोहा विलसित होता है।

नायिका को सौति, सखी, गुरुजन, प्रियतम आदि अनेक जन अनेक प्रकार से जानते हैं—इस कारण यह उल्लेख अलंकार का प्रथम भेद हुआ।

सखी-सुनीति, प्रीतम-प्रीति में छेकानुप्रास हैं। नायिका को प्रियजन प्रेम भाव से और अप्रियजन अप्रिय भाव से देखते हैं अर्थात् वह अपने व्यवहार से अनेक लोगों को अनेक गुणों से प्रभावित करती है, वह नागर नायिका है—यह व्यंग्यार्थ हुआ। अत: व्यंजना शक्ति और यह अर्थ चमत्कार होने से ध्वनि (उत्तम) काव्य हुआ।

(४) व्याख्यात्मक आलोचना

यह इण्डक्टिव क्रिटिसिज्म (Inductive Criticism) है। इसमें न तो व्यापक सिद्धान्तों की कठोरता को स्वीकार किया जाता है और न किसी युग की चेतना को ही महत्त्व दिया जाता है। इसका प्रमुख ध्येय कृतियों की कवि के दृष्टिकोण से व्याख्या करना है इस

प्रकार की आलोचना में आलोचक सिद्धान्तों और आदर्शों की ओर अधिक ध्यान न देकर कवि की अन्तरात्मा में प्रवेश करके उसके आदर्श और दृष्टिकोण तथा प्रवृत्तियों को समझाता है कवि की प्रवृत्तियों का अध्ययन आधुनिक युग में अधिक महत्त्व का माना गया है। आचार्य शुक्ल की सूर, तुलसी तथा जायसी सम्बन्धी आलोचनाएँ अधिकांश इसी प्रकार की हैं।

व्याख्यात्मक आलोचना यह भी स्वीकार करती है कि सभी कवि या साहित्यकार एक श्रेणी या प्रकृति के नहीं होते। इसके अन्तर्गत आलोचक साहित्य को प्रकृति के अन्य पदार्थों की भाँति विकासशील मानकर नूतन विकास तथा उसके कारणों को खोजने का प्रयत्न करता है।

अतः व्याख्यात्मक आलोचना में साहित्यकार के साथ पूर्ण न्याय होने के साथ-साथ सजीवता और रोचकता भी बनी रहती है और नवीन नियमों एवं सिद्धान्तों को विकास प्रदान करने वाले तथ्यों की भी खोज होती है, इसलिये इस आलोचना पद्धति को अधिक महत्त्व दिया जाता है। देखिये–"जनक के परिताप, वचन पर उग्रता और परशुराम की बातों के उत्तर में जो चपलता हम देखते हैं, उसे हम बराबर अवसर-अवसर पर देखते चले जाते हैं। इसी प्रकार राम की जो धीरता और गम्भीरता हम परशुराम के साथ बातचीत करने में देखते हैं वह बराबर आने वाले प्रसंगों में हम देखते जाते हैं। इतना देखकर हम कहते हैं कि राम का स्वभाव धीर और गम्भीर था और लक्ष्मण का उग्र और चपल।

अतः इस संचार मात्र के लिये किसी मनोविकार की एक अवसर पर पूर्ण व्यंजना ही काफी है। पर किसी पात्र में उसे शील रूप में प्रतिष्ठित करने के लिये कई अवसरों पर उसकी काफी अभिव्यक्ति दिखलानी पड़ती है। रामचरितमानस के भीतर कई ऐसे पात्र हैं जिनके स्वभाव की विशेषता गोस्वामी जी ने कई अवसरों पर प्रदर्शित भावों और आचरणों की एक रूपता दिखाकर प्रत्यक्ष की है।"

तुलनात्मक आलोचना

इसके अन्तर्गत दो या अधिक विभिन्न कवियों की सामान्य विषय वाली रचनाओं की तुलना की जाती है। आलोचक अपने विषय के प्रतिपादनार्थ दोनों की रचनाओं का अध्ययन कर उनके विविध अंगों पर प्रकाश डालता है। इसके अन्तर्गत अपनी रुचि के अनुसार किसी कवि के प्रति अन्याय भी किया जा सकता है। हिन्दी में बिहारी और देव की आलोचना इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

मनोवैज्ञानिक आलोचना

इसके अन्तर्गत कवि और कलाकार के अन्तस् का अध्ययन किया जाता है और काव्य के मूल स्थित भावों और प्रेरणाओं का विश्लेषण इसका प्रमुख उद्देश्य है। कवि की रचनाओं को वैयक्तिक स्वभाव, उसकी आर्थिक, पारिवारिक, सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न उसकी प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप मनःस्थित आदि के प्रकाश में देखना और निष्कर्ष निकालना

भी इसी कोटि की आलोचना का उद्देश्य रहता है। आजकल हिन्दी में कुछ आलोचकों की आलोचनाओं में मनोवैज्ञानिक तथा मनोविश्लेषणात्मक (Psychoanalytical) पुट भी देखने में आने लगा है।

ऐतिहासिक आलोचना

इसमें कर्ता और कृति की सामयिक परिस्थितियों का अध्ययन और उनके सहारे रचना का मूल्यांकन किया जाता है तत्कालीन युग में सामाजिक स्थिति क्या थी, साहित्यिक विचारधारा किस ओर जा रही थी, सम्बन्धी साथ युग विशेष की राजनीति आदि बातों का विवेचन भी ऐतिहासिक आलोचना में रहता है।

ऐतिहासिक आलोचना का भी किसी भी कवि या कृति के मूल्यांकन में बहुत बड़ा महत्त्व रहता है।

अतः भारतीय आलोचना के उपर्युक्त संक्षिप्त स्वरूप से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आधुनिक आलोचना विधियों में से बहुतों का तो उसके भीतर बीजांकुर भी नहीं मिलता, कुछ के अंकुर आधुनिक युग के भीतर आकर पल्लवित हो रहे हैं। और कुछ के रूप अर्द्ध विकसित एवं कुछ अत्यन्त पूर्ण विकसित उत्कर्ष की सीमा पर पहुँची हुई हैं। परन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि भारतीय आलोचना पद्धति के भीतर सबसे अधिक सम्मान सैद्धान्तिक आलोचना को ही मिला है।

इस आलोचना पद्धति की हमारे आज के युग में बड़ी उपयोगिता है। आज हमारे सामने आलोचना के जो प्रमुख विकसित रूप हैं वे शास्त्रीय, ऐतिहासिक, तुलनात्मक, व्याख्यात्मक, भावात्मक, प्रभावात्मक, मनोवैज्ञानिक आदि हैं। शास्त्रीय आलोचना के भीतर केवल काव्यशास्त्र का ही आधार नहीं वरन् राजनीति और समाजशास्त्रों का भी आधार लिया जा रहा है और उसके आधार पर समाजशास्त्रीय आलोचना का भी रूप विकसित हो रहा है।

पं० परशुराम चतुर्वेदी
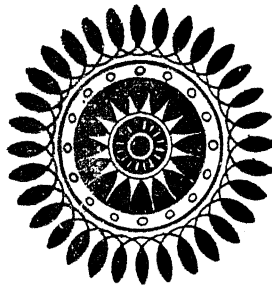
आलोचना और मनोविज्ञान

आलोचना का काम किसी साहित्यिक रचना की समीक्षा करना रहता है, जहाँ मनोविज्ञान का सम्बन्ध प्रमुखतः मानसिक व्यापारों के अन्वेषण से है। इस कारण एक को जहाँ हम कलात्मक मानते हैं, वहाँ दूसरे को किसी विज्ञान की ही संज्ञा देते हैं। मनोविज्ञान के द्वारा हमें अपने मानसिक व्यापारों की केवल प्रक्रिया मात्र का ही परिचय मिलता है, जहाँ आलोचना के क्षेत्र में हमें उनके परिणामों की परीक्षा करनी पड़ती है। इस कारण, हम यह भी कह सकते हैं कि प्रथम का काम जहां समाप्त हो जाता है, वहाँ से द्वितीय का आरम्भ हुआ करता है। इस प्रकार, ये दोनों सदा समानान्तर नहीं चला करते। परन्तु जब से मनोविज्ञान के अन्तर्गत "मनोविश्लेषण" सम्बन्धी नवीन अन्वेषण-पद्धति का आरम्भ हुआ है, ऐसी धारणा भी बनती जा रही है कि आलोचना-विषयक अनेक प्रश्नों का समाधान मनोविज्ञान के सहारे भली-भाँति किया जा सकता है। इसकी सहायता से मानव-मस्तिष्क की उन सारी प्रक्रियाओं पर भी प्रकाश डाला जा सकता है जो एक साहित्यिक के मानस-क्षेत्र में काम करती हैं और जिन पर विचार करने की समस्या किसी अन्य प्रकार से सुलझायी नहीं जा पाती। मनोवैज्ञानिक जुंग का कहना है—"मनोवैज्ञानिक अन्वेषण द्वारा जहाँ एक ओर हम किसी कलात्मक वस्तु के निर्माण की मूल प्रक्रिया के ऊपर प्रकाश पड़ने की आशा रखते हैं, वहाँ दूसरी ओर हमें यह बात भी स्पष्ट हो जाते देर नहीं लगती कि किन-किन कारणों से कोई व्यक्ति कभी किसी कलात्मक वृत्ति के निर्माण में समर्थ हो पाता है।"

आधुनिक मनोविश्लेषण के पुरस्कर्त्ता फ्रायड के अनुसार किसी कलाकार के लिये "स्नायविक" (Neurotic) बन जाना सरल है। उसे विभिन्न प्रकार के सम्मानों का अर्जन करना रहता है जिसके लिये प्रायः सभी साधन सुलभ नहीं हो पाते। इस कारण वह अपनी अतृप्त वासनाओं की पूर्ति के लिये वस्तुस्थिति से हटकर किसी मनोराज्य के निर्माण में प्रवृत्त हो जाया करता है। किसी विशिष्ट कौशल द्वारा वह अपने दिवास्वप्नों को साकारता प्रदान कर उन्हें दूसरों के लिये आकर्षक बना देना चाहता है। अपनी रहस्यमयी योग्यता के सहारे अपनी कलाकृति को आनन्दप्रद बना देने में सदा सफल भी हो जाया करता है। वह पूर्णतः "स्नायविक" नहीं हो पाता, क्योंकि उसमें आ गई उदात्तीकरण की प्रवृत्ति उसे वैसी स्थिति में आने से बचा लेती है। इसी प्रकार फ्रायड के एक सहयोगी ऐडलर का भी मत इससे मूलतः भिन्न नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इनके अनुसार भी किसी कलाकार का स्नायविक बन जाना कभी उतना कठिन नहीं रहा करता। इन दोनों के मतों में मुख्य भेद केवल इसी बात का पाया जाता है कि फ्रायड के अनुसार जहाँ किसी कलाकार का उद्देश्य केवल सम्मान व ऐश्वर्य अर्जित करना रहता है, वहाँ ऐडलर के अनुसार वह अपने "हीनत्व" की भावना से ऊपर उठकर वरिष्ठ बन जाने का प्रयास करता है। इस कारण प्रथम की दशा में जहाँ कला के सम्बन्ध में उदात्तीकरण से काम लिया जाता है, वहाँ द्वितीय के अनुसार उसमें किसी क्षति की पूर्तिकरण की प्रक्रिया काम करती है। यहाँ पर भी वह लगभग उसी प्रकार संभल जाया करता है।

हर्बर्ट रीड नामक एक अंग्रेज लेखक ने ऐसे मतों का स्पष्टीकरण करते हुए बतलाया है, "यहाँ पर मूल उल्लेखनीय बात यह है कि मनोविश्लेषण के अनुसार किसी कलाकार की प्रवृत्ति स्वभावतः स्नायविक बन जाने की ही रहा करती है, किन्तु वह चाहता है कि मैं इसके परिणामों से अपने को बचाकर वस्तुस्थिति की ओर पुनः लौट आऊँ। अतएव, मेरे विचार से यह विज्ञान किसी समीक्षक की सहायता इस प्रकार कर सकता है कि वह किसी ऐसी स्नायविक प्रवृत्ति के उदात्तीकरण की सम्यक् जांच-पड़ताल कर ले। मनोविश्लेषण द्वारा हमें यह पता चल सकता है कि अमुक कलात्मक अभिव्यक्ति कहां तक सफल व असफल कही जायगी। साहित्य के अन्तर्गत प्रायः बहुत-सी बातें इस प्रकार की पाई जाती हैं जो तथ्य की सीमा रेखा तक आ जाती हैं। ऐसे समीक्षक के लिए यह आवश्यक होगा कि वह उस सीमा रेखा के निश्चित रूप का परिचय प्राप्त कर ले। किन्तु, फिर भी मैं कहूँगा कि इस रेखा का निर्णय, एक समीक्षक सम्भवतः समीक्षा विषयक साधारण सिद्धान्तों के आधार पर भी कर ले सकता है। मनोविश्लेषण उसकी ऐसी परीक्षा का मार्ग प्रशस्त कर दिया करता है। जो कुछ भी हो, यह उसके लिए एक ऐसा सन्तोषजनक और समानान्तर प्रमाण तो प्रस्तुत कर देता ही है जिसका वह पूरा लाभ उठा सके।" निष्कर्ष यह है कि हर्बर्ट रीड भी ऐसे मत का ही समर्थन करते हैं। इनकी भी धारणा है कि कलाकार की प्रवृत्ति आप से आप स्वाभाविक हो जाने की रहा करती है, किन्तु वह केवल उदात्तीकरण के सहारे उससे अपने को बचा ले जाता है।

जुंग ने इस विषय पर विचार करते समय "कलाकार को एक व्यक्ति के रूप में" तथा "किसी व्यक्ति को एक कलाकार के रूप में" जैसी दो विभिन्न दृष्टियों से देखने की चेष्टा भी की है। इन्होंने कहा है "प्रत्येक रचनात्मक वस्तु प्रस्तुत करने वाले व्यक्ति के भीतर "परस्पर विरोधी वृत्तियों का कोई द्वैधभाव काम करता पाया जाता है। एक ओर जहाँ वह कोई व्यक्तिगत जीवन युक्त रहा करता है, वहाँ दूसरी ओर वह केवल कोई व्यक्तित्व रहित रचनात्मक प्रक्रिया मात्र भी कहला सकता है। इस कारण, एक मानव के रूप में जहाँ वह कभी स्वस्थ व अस्वस्थ चित्त वाला कहा जा सकता है, वहाँ दूसरी ओर हमें उसके व्यक्तित्व का निर्माण करने वाले कारणों को समझने के लिए उसके मूल चित्त के रूप-बनाव को भी परखना अत्यन्त आवश्यक हो जा सकता है। किन्तु उसकी रचना परक सफलता के ही आधार पर हम उसके कलाकार होने की योग्यता को भी समझ पाते हैं जो यहाँ पर उल्लेखनीय है।" इसी प्रकार 'किसी मानव के रूप में उसके विविध संवेग, संकल्प अथवा व्यक्तिगत उद्देश्य भी हो सकते हैं, किन्तु किसी कलाकार के रूप में वह अधिक व्यापक अर्थ में ही मानव कहला सकेगा। उस दशा में वह एक ऐसा समष्टिगत मानव कहा जायगा जो मानव मात्र के अवचेतन को आगे ले जाता अथवा उसे कोई अधिक विकसित रूप दिया करता है। ऐसा कठिन कार्य का करना उसके लिए कभी-कभी आवश्यक हो जाता है। इसके लिए उसे अपने सुख अथवा उन सारी बातों का त्याग करना पड़ता है जिनके आधार पर एक साधारण मनुष्य का जीवन उपयोगी बन जा सकता है।"

इस प्रकार हमें ऐसा लगता है कि जुंग के अनुसार किसी कलाकार का स्वभावतः स्नायविक होना अनिवार्य नहीं है। यह वैसी स्थिति में तभी आ सकता है जब उक्त "कठिन कार्य" में सफलता पाने के प्रयास में इसे अनेक सुख-सुविधाओं की तिलांजलि देनी पड़ जाती है अथवा अपने कठोर यत्नों के फलस्वरूप इसकी मानवीय शक्तियाँ कुंठित होने लगती हैं। अतएव, इसका कलाकार होना यहाँ पर किसी उदात्तीकरण व पूर्तिकरण की प्रतीक्षा नहीं करता, प्रत्युत इससे विपरीत इसका वैसा होना ही कभी-कभी इसकी किसी स्नायविक दशा में परिणमित हो जा सकता है। इसके सिवाय हमें यहाँ पर वैसे कलाकार की किसी "रहस्यमयी योग्यता" के विषय में भी कल्पना नहीं करनी पड़ती जिसकी ओर फ्रायड ने संकेत किया है, न उसके उन यत्नों को ही ध्यान में लाना पड़ सकता है जिनकी आवश्यकता उसे ऐडलर के मतानुसार क्षति के पूर्तिकरण के लिए पड़ सकती है। जुंग के इस मत की सबसे बड़ी एक विशेषता यह जान पड़ती है कि यहाँ पर हमें किसी कलाकार की स्नायविकता बहुत कुछ गौण-सी लगने लगती है जिसे फ्रायड तथा ऐडलर ने विशेष महत्त्व प्रदान किया है। इसके प्रति उनके आवश्यकता से अधिक आग्रह करने के ही कारण "मनोविश्लेषण का महत्त्व भी यहाँ बढ़ जाता है। जुंग की "समष्टिगत मानव" सम्बन्धी धारणा हमें अवश्य विचित्र लग सकती है, किन्तु यह कुछ अधिक तर्क-संगत कहला सकती है।

जुंग ने "समष्टिगत मानव" को "समष्टिगत अवचेतन" अथवा "वंशानुगत स्मृति"

जैसे शब्दों द्वारा भी अभिहित किया है। उनका कहना है, "यह एक ऐसा विचित्र 'कुछ' है जो हमारे मस्तिष्क व चेतन के पृष्ठभाग से उत्पन्न होता है और इसका मूल बीज उस काल तक का हो सकता है जब मानव अपने पूर्व मानवीय दशा में रहा होगा। यह एक ऐसी अद्यतन अनुभूति है जिसे संप्रति हमारी बुद्धि समझ नहीं पाती। इसे 'परायी', 'राक्षसीय' तथा 'भद्दी' तक ठहरा सकते हैं। हमारी अद्यतन अनुभूतियाँ उस पर्दे को नीचे से ऊपर तक चीर देती हैं जिस पर किसी सुव्यवस्थित विश्व का चित्र अंकित रहा करता है। इस प्रकार हमें उस अज्ञात वस्तु की एक झांकी मात्र ले लेने देती है जो अभी निर्मित होने को है। क्या यह किसी अन्य विश्वों का कोई धूमिल दृश्य है? क्या यह चेतन की निष्प्रभता है? क्या यह मानव युग के पूर्ववर्ती जगत का आरम्भ मात्र है? अथवा भविष्य की अनागत पीढ़ियों की प्रारम्भिक अवस्था है? हम नहीं कह सकते कि यदि यह इनमें से कोई है तो कौन है या इनमें से कोई भी नहीं है।" आदि। इस प्रकार उक्त अद्यतन अनुभूति ही कलाकार की रचनात्मिकता शक्ति का मूल उत्स है जिसे भली भाँति समझा नहीं जा सकता। इसी कारण, इसे साकारता प्रदान करने के लिए हमें विभिन्न पौराणिक बिम्बों का प्रयोग करना पड़ता है। इसे हम केवल कोई अगाध व गम्भीर "पूर्वज्ञान" मात्र कह सकते हैं जो अपनी अभिव्यक्ति के लिए सदा यत्नशील रहा करता है। जुंग के अनुसार "जब कभी मानव जीवन में रचनात्मिका शक्ति प्रधान हो उठती है उस पर सक्रिय संकल्प की जगह अवचेतन का अधिकार हो जाता है जिसके फलस्वरूप हमारा चेतन अहं अंत: प्रवाहित धाराओं में बह चलता है। उस दशा में इसकी स्थिति घटनाओं के किसी असहाय द्रष्टाभाव से भिन्न नहीं रहा करती। निर्मित की जाने वाली कृति अपने निर्माता कवि की नियति का रूप ग्रहण कर लेती है तथा उसका मानसिक संचालन करने लग जाती है। फलत: गेटे कवि अपनी रचना 'फाउस्ट' का रचयिता नहीं हुआ करता, प्रत्युत 'फाउस्ट' ही गेटे का निर्माणकर्त्ता बन जाती है।"

जुंग का अन्तिम निष्कर्ष यह जान पड़ता है "किसी कलात्मक रचना तथा कला के 'फलवत्' बन जाने का रहस्य इस बात में पाया जाता है कि इसके द्वारा हम अनुभूति के उस स्तर तक पहुँच जाते हैं, जहाँ पर 'जीता-जागता मानव' रहा करता है। जहाँ पर किसी वैसे "व्यक्ति" का पता नहीं चलता जिसके एकाकी जीवन के सुखदुखादि पर विचार किया जा सके। वहाँ पर केवल एकमात्र मानवीय अस्तित्व ही रहा करता है।" तदनुसार हम यह भी कह सकते हैं कि जुंग का उपर्युक्त 'समष्टिगत मानव' वस्तुत: एक ऐसा प्रधान केन्द्र है, जहाँ से कलाकार सदा अनुप्राणित होता रहता है अथवा जहाँ से प्रेरणा ग्रहण करके ही वह कभी अपने कार्य में प्रवृत्त हुआ करता है। उसमें अपने भीतर कोई ऐसी कारयित्री प्रतिभा नहीं जिसके बल पर वह कुछ हमें अपनी देन के रूप में दे सके। इसी कारण, जुंग ने महाकवि गेटे तक को उसकी प्रसिद्ध रचना 'फाउस्ट' का रचयिता न मानकर स्वयं उसे ही किसी आदर्श 'फाउस्ट' की कृति कह डाला है। इसके परिणाम-स्वरूप उसका महत्त्व किसी निरे माध्यम का साधन मात्र से अधिक नहीं रह जाता। इसके

सिवाय जिस अवचेतन के कारण फ्रायड तथा ऐडलर ने किसी कलाकार को स्नायविक व्यक्तियों की कोटि में रखकर उसे कम से कम अपने को संभालने के लिए उदात्तीकरण व क्षति के पूर्तिकरण की "रहस्यमयी योग्यता" प्रदान की है वहीं यहाँ पर जुंग के अनुसार इसे कोई अपूर्व दैवी स्फूर्ति प्रदान करता हुआ दीख पड़ता है जो इस सम्बन्ध में विशेषतः उल्लेखनीय है। जुंग इसे इसकी समझी जाने वाली किसी भी सुन्दर कृति के लिए कोई श्रेय देते नहीं जान पड़ते जिसका एक परिणाम यह भी हो सकता है कि इसके ऊपर किसी "कृतिकार" के रूप में विचार करने की कोई आवश्यकता ही न रह जाय।

जुंग किसी कलाकृति के विषय में इस प्रकार विवेचन करते समय साहित्य तथा कला इन दोनों में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कोई अन्तर समझते नहीं जान पड़ते। इस कारण ये दोनों शब्द उनके यहाँ एक दूसरे के पर्यायवत् भी मान लिये जा सकते हैं। इसके सिवाय उन्होंने अपने निबन्ध के अन्तर्गत ऐसी कृति के अतिरिक्त उसके कृतिकार के विषय में भी अपने ढंग से कुछ चर्चा की है, किन्तु इसके कारण भी उनके उपर्युक्त मत में किसी विशेष परिवर्तन के आने की गुंजाइश नहीं प्रतीत होती। एक समीक्षक के भी सामने सर्वप्रथम, कोई न कोई कृति-विशेष ही रहा करती है। यह उसी के आधार पर उसके सम्बन्ध में अथवा उसके रचयिता के विषय में भी अपना कोई मत प्रकट किया करता है। अतएव, यदि जुंग के मतानुसार उसकी अपेक्षा कृतिकार को गौण स्थान दिया जा सके वैसी दशा में अनेक ऐसे प्रश्न उठ सकते हैं जिनका पूरा-पूरा समाधान हो पाना कठिन है तथा बिना उन पर भली-भाँति विचार किये वस्तुस्थिति का पता भी नहीं चल सकता। जैसे, किसी कलाकार के समष्टिगत अवचेतन से प्रेरणा ग्रहण करते समय इसमें मानसिक प्रक्रियाएँ किस प्रकार काम करती हैं? ऐसे समय स्वयं उसकी ओर से अपनी चेष्टा कहाँ तक रहा करती है? क्या इस प्रकार का यत्न कभी उसकी किसी दक्षता-विशेष पर भी निर्भर रहता है? क्या वह ऐसे अवसरों पर अपनी ओर से किसी प्रकार का चुनाव भी कर पाता है? यदि, हाँ तो, इसमें उसके लिए कौन-सा आधार काम करता है? इस प्रकार के प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर देना तब तक सम्भव नहीं जान पड़ता, जब तक हम किसी कृतिकार को बहुत कुछ स्वतन्त्र मानकर, उस पर किसी प्रकार के दायित्व का भी आरोप न कर लें, प्रत्युत उसे कृति विशेष को अस्तित्व में लाने का केवल एक माध्यम मात्र स्वीकार करें।

किसी साहित्यिक रचना की आलोचना करते समय उस पर एक समीक्षक स्थूलतः दो दृष्टियों से विचार करता है जिनमें से एक का आधार उसका वर्ण्य विषय रहा करता है और दूसरी के लिए उसकी वर्णन-शैली काम किया करती है। वर्ण्य विषय का मूल रूप उसके काल्पनिक अंश, उसके विविध अंगों की पारस्परिक समन्विति, उसकी व्यापकता, उसका आदर्श, उसका औचित्य और उसका वैचित्र्य आदि कई बातें विषय की दृष्टि से ध्यान आकृष्ट करती हैं। परन्तु इसमें किये गए शब्द-चयन, वाक्यविन्यास, छन्दः प्रयोग, अलंकार विधान, रसनिष्पति, सौन्दर्य-बोध तथा भाषा की प्रेषणीयता विषयक प्रश्नों पर उसे रचना-शैली की

दृष्टि से विचार करना पड़ता है। इस प्रकार इनमें से द्वितीय वर्ग की बातें जहाँ किसी कृतिकार की ओर से किये गए यत्नों के प्रत्यक्ष परिणाम सूचित करती है, वहाँ प्रथम वर्ग की बातों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि यहाँ पर उसे अपनी ओर से उतना नहीं करना पड़ा होगा। इनमें से कुछ का उसने केवल चुनाव कर लिया होगा, कुछ पर विचार किया होगा तथा कुछ में उसने अपनी दृष्टि के अनुसार कुछ ऐसे हेरफेर भी कर दिये होंगे जिससे समुचित संगति बिठायी जा सके। यहाँ पर जहाँ तक उसने अपनी सूझ का प्रयोग किया होगा, वहाँ तक हम कह सकते हैं कि इसके पीछे कोई प्रेरणा भी काम करती होगी। इस सम्बन्ध में यहाँ तक भी कहा जा सकता है कि यह उसके पूर्व संस्कारों का परिणाम होगा। द्वितीय वर्ग की बातें अधिकतर माध्यम का काम करती हैं और उन्हें परम्परागत साधन मात्र भी ठहराया जा सकता है।

किसी आलोच्य रचना पर विचार करने के पहले एक समीक्षक प्रायः इन सारी बातों पर अपना ध्यान दे सकता है। सर्वप्रथम उसका कार्य किसी एक साधारण पाठक का सा रहा करता है जो केवल पढ़कर समझने का यत्न करता है। वह प्रत्येक बात को चाहे यह उसके मनोनुकूल पड़ती हो अथवा प्रतिकूल जाती हो, केवल जानना चाहता है। ऐसा करते समय, वह संभवतः उस रचना के अन्तर्गत किये गए कथन को ज्यों का त्यों समझ भी लिया करता है। परन्तु तथ्य यह है कि कोई भी पाठक किसी ग्रंथ को कभी केवल पढ़कर समझा ही नहीं करता, प्रत्युत वह इसके साथ ही अपने पठित विषय को न्यूनाधिक पसन्द या नापसन्द भी करता चलता है। वह इस पर जैसे एक बार फिर अपनी ओर से विचार करता है और तदनुसार इसे जब भी दृष्टि से सफल या असफल तक भी माना करता है। यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाय तो हम कह सकते हैं कि एक साहित्यकार और उसकी कृति के पाठक में साधारणतः केवल इतना ही अन्तर पाया जा सकता है कि एक की बातों को दूसरा न केवल जान लिया करता है, अपितु यह उस विषय में अपनी कोई धारणा भी बना लिया करता है। परन्तु एक समीक्षक ऐसे साधारण पाठक का जैसा ही कार्य करके चुप रह जाना नहीं चाहता। वह अपने आलोच्य ग्रंथ की बातों को फिर एक बार अपने ढंग से भी जानना चाहता है और वह इसके लिए प्रायः उनका पुनर्निर्माण तक कर डालता है। इस प्रकार किसी समीक्षक की ओर से किये गये भले-बुरे सम्बन्धी निर्णय के पीछे एक आधार भी काम करता रहता है जिसका निर्माण स्वयं उसके आदर्शानुसार किया गया रहता है और जो उसी के मानसिक व्यापारों का परिणाम होने के कारण, उसे अपने कार्य में विशेष बल तथा दृढ़ता भी प्रदान करता है।

इस "पुनर्निर्मित रचना" का स्वरूप वस्तुतः काल्पनिक तथा अप्रत्यक्ष हुआ करता है, किन्तु एक समीक्षक इसे स्वभावतः अधिक पूर्ण तथा विश्वसनीय मानकर अपना कार्य करता तथा उसमें उसका पथ-प्रदर्शन तक स्वीकार किया करता है। वह इसी के सहारे अपनी आलोच्य कृति की त्रुटियों का पता लगाता है, उनकी परीक्षा करता है तथा उसकी विशेषताओं के विषय में अपना कोई न कोई विचार भी प्रकट किया करता है। इस सम्बन्ध में वह

कभी-कभी यहाँ तक यत्न करता है कि हम ऐसी त्रुटियों और विशेषताओं के आ जाने के मूल भूत कारणों के विषय में भी अनुमान करें। ऐसा करते समय, उसके रचयिता की उस मनोवृत्ति तक का पता लगा ले जो उसकी रचना के समय काम करती रही होगी। तदनुसार वह इसके लिए कृतिकार के जीवन-वृत्त, उसके वातावरण और उन विशिष्ट परिस्थितियों तक पर एक दृष्टि डाल लेना चाहता है जिन्होंने इसे किसी प्रकार प्रभावित किया होगा। परन्तु ऐसी किसी भी दशा में वह अपने उपर्युक्त आदर्श को अपनी आँखों से ओझल होने देना पसन्द नहीं करता। इससे वह लगभग उसी प्रकार का काम लेना चाहता है जिस प्रकार जुंग के अनुसार कोई कृतिकार अपने भीतर वाले "समष्टिगत अवचेतन" से प्रेरणा ग्रहण किया करता है, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि यह मूलतः उसी के द्वारा निर्मित वस्तु कहला सकता है। इसी कारण वह इस पर कभी उस तरह आश्रित नहीं बन सकता। किसी कृतिकार के कार्य का सम्बन्ध जहाँ प्रत्यक्षतः उसके जीवन की विभिन्न अनुभूतियों के साथ रहा करता है, वहाँ किसी समीक्षक का कर्त्तव्य वैसी आलोच्य कृति तक ही सीमित समझा जाता है जिसमें उसने जिन्हें व्यक्त किया होगा। परन्तु, अपने उपर्युक्त आदर्श के आलोक में वह प्रायः इस प्रकार के विचार भी प्रकट कर देता है जिनके लिए वैसी सीमा की अपेक्षा अनिवार्य नहीं रहा करती।

ऐसे विचारों का सम्बन्ध उस किसी "मूल्य" से रहा करता है जिसे कोई समीक्षक आलोच्य कृति के लिये निर्धारित करना चाहता है और जिसको वह इसके समग्र प्रभाव के ऊपर एक बार दृष्टि डाल कर चुकने पर ही किसी प्रकार आंक पाता है। वह मूल्य किसी मानसिक व्यापार जैसा नहीं रहा करता जिसका पता मनोवैज्ञानिक नियमों के आधार पर लगाया जा सके। वह कोई ऐसी प्रक्रिया नहीं जिसके आपसे आप अस्तित्व में आने का निरी-क्षण मात्र कर लिया जाय। प्रक्रिया प्राकृतिक नियमों का पालन करती है। वह स्वभावतः वस्तुनिष्ठ हुआ करती है, जहां मूल्य के भी विषय मे ऐसा नहीं कह सकते। यह दूसरा अनिवार्यतः व्यक्तिनिष्ठ हुआ करता है तथा हम इसे मानवीय अथवा "मानव सृष्ट" तक ठहरा सकते हैं। इसका ठीक-ठीक अंकन तभी हो सकता है जब किसी कृति के रचयिता ने अपनी अनुभूतियों की कलात्मक अभिव्यक्ति में सफलता प्राप्त की हो। इस प्रकार जब वह उसे शाश्वत मानव के स्तर तक ला पाने में समर्थ हो सका हो। किसी मनोवैज्ञानिक अथवा विशेषकर मनोविश्लेषण में निपुण विज्ञान-वेत्ता के लिए इस प्रकार के मूल्य का उतना महत्व नहीं, क्योंकि उसका अपना कार्य किसी कलात्मक दृष्टि से असफल रचना में भी पूरा हो सकता है। परन्तु किसी समीक्षक का कर्त्तव्य तब तक पूरा होता नहीं जान पड़ता, जब तक वह अपनी आलोच्य कृति का वास्तविक मूल्य भी निर्धारित नहीं कर लेता अर्थात्, जब तक वह इस बात का भी पता नहीं लगा लेता कि मानवीय मूल्य की व्यापक दृष्टि के अनुसार इसकी देन क्या हो सकती है। यह एक ऐसी बात है जो कम से कम अभी तक आधुनिक 'मनोविज्ञान' के क्षेत्र से बाहर की जान पड़ती है।

●

डा० मो० दि० पराड़कर

अलंकारवादी आलोचना

भारतीय आलोचना का शुभारम्भ भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' से होता है। "अलंकार" शब्द भी काव्यशास्त्र में पहले पहल भरत मुनि द्वारा ही प्रयुक्त हुआ है। भरत ने "अलंकार" के साथ-साथ "भूषण" शब्द को भी प्रयुक्त किया है।[1] वास्तव में "भूषण" उनके मतानुसार व्यापक शब्द है; इसमें गुण एवं अलंकार दोनों का समावेश होता है। वस्तु की चारुता बढ़ानेवाले, उसके मूल सौन्दर्य में चार चांद लगाने वाले तत्व को ही भरत ने अलंकार की संज्ञा प्रदान की और "उपमा रूपक चैव यमकं दीपकं तथा" कहकर केवल चार अलंकारों का विवेचन किया। संस्कृत साहित्य में साधन के रूप में अलंकार शब्द को बहुत पहले से प्रयुक्त किया जा रहा था। "अलंकार: स्वर्गस्य" तथा "काममननुरूपमस्या: वपुणो वत्कलं न पुनरलंकाराश्रियं न पुष्यति" जैसे वाक्यों में कविकुल गुरु ने 'अलंकार' को इसी अर्थ में प्रयुक्त किया था।

इस प्रकार भरत ने अलंकारों का विवेचन अवश्य किया है; परन्तु उन्हें साहित्य में गरिमा प्रदान करने का कार्य पहले पहल भामह ने किया। परम्परा के अनुसार भामह को ही अलंकार-सम्प्रदाय का प्रथम प्रवर्तक माना जाता है। "न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्" आदि पंक्तियों को उद्धृत करके इसे सिद्ध करने का भी प्रयास किया जाता

---

१. अलंकारैर्गुणैश्चेव बहुभि: समलंकृतम्।
भूषणैरिव विन्यस्तैस्तद् भूषणमिति स्मृतम्। नाट्यशास्त्र–१६–६.

है। लेकिन संस्कृत साहित्यशास्त्र के इतिहास की दृष्टि से भामह को विशुद्ध अलंकारवादी आलोचक कहना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। भामह के समय साहित्यशास्त्र के चिन्तकों के संभवतः दो दल विद्यमान थे। एक "न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्" के अनुसार अलंकारों को प्रधानता देता था तो दूसरा रूपक आदि अलंकारों को। केवल बाहरी उपादान समझकर व्याकरण की शुद्धता को ही सर्वोपरि स्थान प्रदान करता था। "रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचसते परे" और "सुपां तिङ् च व्युत्पत्ति वाचां वांछन्त्यलंकृतिम्" में इसी मंत के प्रवर्तकों का उल्लेख करके आचार्य भामह ने "तदेतदाहुः सौशक्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी" कहकर उन्हें करारा जवाब दिया है। केवल शब्दव्युत्पत्ति के आधार पर काव्य की चर्चा करना अनुचित है; उसमें अर्थव्युत्पत्ति का भी विचार करना आवश्यक है यह बतलाकर भामह ने वैयाकरणों की प्रभुता को चुनौती दी है। वैयाकरण भले ही "पश्यति स्त्री" तथा "विलोकयति कान्ता" को एक ही स्तर पर रखें, काव्यशास्त्र की दृष्टि से पहले की तुलना में दूसरे काव्य को ही गौरव प्रदान करना होगा। व्याकरण की दृष्टि से "एतत् श्यामम्" को "एतच्छयामम्" लिखना भले ही उचित हो लेकिन इस तरह का सन्धि काव्य में श्रुतिकटुता के कारण विवासन का ही पात्र है इस सभाई की ओर ध्यान खींचने के लिए उन्होंने "न तवर्ग शकारेण क्वचित्संयोगिनं वदेत्" कहकर काव्यगत शब्दशुद्धता का नियम ही बना डाला। "काव्यलंकार" का छठवां परिच्छेद इसीलिए "काव्य शब्द शुद्धि" कहलाया।

भामह को वैयाकरणों की ही तरह तर्कपटुता का दावा करने वाले नैयायिकों के साथ भी संघर्ष करना पड़ा है। काव्यगत प्रत्यक्ष शास्त्रगत प्रत्यक्ष से मेल नहीं खाता, यह सही है लेकिन उसे इस वजह से "असत्य" कहना गलत है। शास्त्र की दृष्टि से आकाश रंगहीन एवं रूपहीन है अवश्य लेकिन काव्य का "असिसंकाशमाकाशम्" भी लोकानुभव की दृष्टि से सही है और काव्यगत प्रत्यक्ष है। मतलब, काव्य में प्रत्यक्ष लोकानुभव पर आधारित है; शास्त्रीय नियमों पर नहीं। "अनुमान" का भी यही हाल है। शकुन्तला के विरह से व्यथित दुष्यन्त ने उसकी अंगूठी से जो कहा—

तब सुचरितमदेगमुलीय नूनं प्रतनु ममेव विभाव्यते फलेन।
अरूणन खमनोहरासु तस्याः च्युतमसि लब्धपदं मदंगुलीषु॥

अब यह न्यायशास्त्र के अनुसार "सपक्षे सत्व" "विपक्षाद् व्यावृत्तिः की चहारदीवारी में भले ही न बैठे, काव्य में इसे लोकानुभव पर आधारित होने के कारण उपादेय ही माना जाएगा। भामह ने "काव्य न्याय निर्णय" नाम के परिच्छेद में इसी की चर्चा की है। मतलब, वैयाकरणों एवं नैयायिकों की तत्कालीन मान्यताओं का सख्त विरोध करके आचार्य भामह ने सत्काव्य की जबर्दस्त वकालत की है। इस सन्दर्भ में ही उनके—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविनाः कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥

इस कथन का अर्थ समझना समीचीन है। काव्य में "वक्रोक्ति" की जो महत्ता है उसकी ओर स्पष्ट संकेत करने वाले आचार्यों में भामह ही सर्वप्रथम माने जाएंगे। कवित्व को

तपस्या मानकर "कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः" कहने वाले भामह को सिर्फ अलंकारवादी आलोचक मानना उन पर अन्याय करना है।

सच कहना हो तो मम्मट के काल तक संस्कृत साहित्य-शास्त्र के किसी भी माने हुए समीक्षक पर किसी भी संप्रदाय की मुहर लगाना युक्तियुक्त नहीं है। अलंकारवादी माने जाने वाले भामह की बात तो ऊपर हो चुकी। अब "रीतिवाद" के प्रवर्तक वामन की ओर देखिए। "सौन्दर्यमलंकारः" मानकर संसार में पहली बार काव्य के सौन्दर्य-तत्व की ओर आकृष्ट करने का गौरव इस मनीषी को प्राप्त है। वामन ने यहाँ "अलंकार" को व्यापक रूप में प्रयुक्त किया है, जैसा कि "स दोषगुणालंकार हानोपधनाभ्याम्" से स्पष्ट है। भामह ने "वक्रोक्ति" की चर्चा करते हुए "वक्ताभिधेयशब्दोक्ति रिष्टां वाचामलंकृति" कहा था; 'ध्वन्यालोक' के रचयिता आनन्दवर्द्धन (इ० स० ८४० ते ८७०) ने इसी को अधिक स्पष्ट करते हुए "अलंकार्य" एवं "अलंकार" के वास्तविक ऐक्य की ओर संकेत किया है। काव्य में रस-निष्पत्ति के लिए वाच्यार्थ से काम नहीं होता; उसे वह रूप प्रदान करना पड़ता है जो वक्रता लिए हुए हो; लौकिक से परे हो। यह अलौकिक रूप और कुछ नहीं वाच्य का ही अलंकृत रूप है। भामह की "इष्टा वाचामलकंकृतिः" इसी की ओर संकेत करती है। इसके आवेग में प्रतिभावान् कवि जन शब्दों को युक्त करता है उन्हीं के कारण यह रूप आप ही आप प्रकट होता है आनन्दवर्द्धन का कथन है कि रससिक्त अवस्था में प्रतिभावान् कवि की सेवा में उपस्थित होने के लिए अलंकारों में होड़-सी लगती है; कवि को उनका अन्वेषण नहीं करना पड़ता। इस अवस्था में "अलंकार" बाहरी उपदान भला कैसे हो सकते हैं ? उन्हें काव्य के अन्तरंग से ही सम्बद्ध मानना पड़ेगा। "अलंकारान्तराणि हि निरूप्य दुर्घटान्यपि रससमाहित चेतसः प्रतिभानवतः कवेः अहं पूर्विकया परापतन्ति।....युक्तं चैतत्। रसाः वाच्यविशेषैरेवा क्षेप्तव्याः। तत्प्रतिपादकैश्च शब्दैः तत्प्रकाशिनो वाच्यविशेषाः एव रूपकादयोअलंकाराः। तस्मान्न तेषां बहिरंगत्वं रसाभिव्यक्तौ।" ये आनन्दवर्द्धन के शब्द इस सम्बन्ध में सन्देह के लिए अवकाश ही नहीं रखते। आगे चलकर इस महान् आलोचक ने यह साफ कहा है कि अलंकारों के उपयोग के लिए यदि कोई कवि अलग रूप से यत्नशील हो तो इसकी ओर दुर्लक्ष होता है और फलस्वरूप अलंकार या तो वधिक एवं बाह्य सिद्ध होता है या रस को गौण स्थान प्रदान करता है दोनों से कविता-कामिनी के सौन्दर्य में क्षति पैदा होती है। अतएव उनके मत में रससिद्ध कवियों की रचनाओं में अधिकतर अलंकारों के उचित सन्निवेश के ही दर्शन होते हैं। जिन स्थानों पर ऐसा नहीं होता वहाँ "असमीक्ष्यकारिता" का प्रवेश हुए बिना नहीं रहता।

'वक्तोक्ति जीवितं" के रचयिता राजानक कुंतल (कुन्तक) ने (सन् ९२५–१०२५) इसी उज्ज्वल परम्परा को कायम रखते हुए "अलंकार" तत्व के मर्म के अन्वेषण का सराहनीय प्रयत्न किया। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि कलात्मक एवं वैचित्यपूर्ण रचना ही वास्तव में अलंकार है; अन्य (याने बाहय) अलंकारों की कोई आवश्यकता नहीं है। विदग्ध रचना यही अगर सीमित अर्थ में अलंकार हो तो उन्होंने सीधे प्रश्न पूछा :—

शरीरं चेदलङ्कारः किमलंकुरुतेऽपरम्।
आत्मैव नात्मनः स्कंधं क्वचिदप्यधिरोहति।

वैचित्र्य तथा कवि की प्रतिभा दोनों के साहचर्य से अलंकारों का निर्माण होता है; वास्तव में कवि की प्रतिभा के स्पर्श से ही उसकी रचना 'अलंकार' के पद को पाती है इसे कहकर कुन्तल ने काव्यशास्त्र के एक अनमोल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। 'काव्य-प्रकाश' के रचयिता मम्मट (लगभग इ० स० ११००) तक यही परम्परा अक्षुण्ण रही; लेकिन खेद का विषय है कि संस्कृत के परवर्ती आचार्यों ने मम्मट के "हारादिवदालंकारा: तेअनुप्रासोपमादय:" का अन्धानुकरण करते हुए अलंकारों को साहित्य में बिल्कुल गौण स्थान प्रदान किया। क्या साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ, क्या 'रसगंगाधर' के रचयिता जगन्नाथ सभी आचार्यों ने न जाने क्यों "शब्दार्थयोरस्थिरा: धर्मा: शोभातिशायिन:" पर जोर देकर अलंकारों को बाह्य मानने की प्रथा का ही अनुसरण किया। 'चन्द्रालोक' के लेखक जयदेव ने सम्भवत: मम्मट के आलोचना के उद्देश्य से—

"अंगीकरोति या काव्यं शब्दार्थावनलंकृति ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ।।

यह भी कह डाला।

हिन्दी साहित्य के रीतिकालीन कवियों को विरासत में यही विचारधारा मिली जैसा कि आचार्य केशवदास की

"जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सुरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न विराजइ कविता बनिता मित्त ।।"

सुविदित पंक्तियों से स्पष्ट है 'चन्द्रालोक' का अनुकरण इसी की ओर संकेत करता है। मम्मट के समन्वयवादी दृष्टिकोण का अनुकरण करने वाले रीतिकालीन आचार्यों में दास, कुलपति' तथा श्रीपति का समावेश किया जा सकता है। प्रतापसाहि भी अपनी 'व्यंग्यार्थ कौमुदी में,

"व्यंग जीव कवित्त में शब्द, अर्थगति अंग ।
सोई उत्तम काव्य है बरनै व्यंग प्रसंग ।।"

यह कहते हुए पाये जाते हैं। लेकिन इस तत्व का निरूपण ये लोग भी गम्भीरता एवं स्पष्टता के साथ नहीं कर पाए। माना कि भिखारीदास ने 'काव्य निर्णय' में रसहीन अलंकार काव्य का उदाहरण दिया; लेकिन उन्हीं के सिद्धान्त-विवेचन में अलंकार का ही महत्व प्रतिष्ठित हुआ। कुल मिलाकर रीतिकालीन आलोचकों की रचनाओं का अध्ययन करने से डा० भगवत्स्वरूप मिश्र के कथन को ही अधिक पुष्टि मिलती है। उन्होंने लिखा था, "रीतिकाल के सभी आचार्यों ने विषय के सामान्य ज्ञान के लिए व्यवहारोपयोगी पुस्तकों का प्रणयन किया है, इसलिए उनको किसी भी सम्प्रदाय के विशुद्ध अनुयायी नहीं कह सकते हैं।" फिर भी रीतिकाल के अधिकांश आचार्यों का झुकाव अलंकारों को "बाह्य" या बाहरी उपादान मानने की ओर है इसमें सन्देह करने के लिए कोई कारण नहीं पाया जाता।

भारतेंदु युग से हिन्दी साहित्य में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। पश्चिमीय साहित्य से प्रेरणा प्राप्त करने का यही काल था। जीवन के दृष्टिकोण के साथ-साथ साहित्य की

धारणाओं में भी आमूल परिवर्तन होने लगा। रीतिकाल की तरह साहित्य का सृजन मनोविनोद की वस्तु नहीं रहा। सुरुचि, नैतिकता एवं बौद्धिकता के प्रति आग्रह यही भारतेन्दु कालीन आलोचना की वस्तु रही है। समसामयिक पुस्तकों की विस्तृत आलोचना होने लगी, जैसा कि "आनन्द-कादम्बिनी" की "संयोगिता-स्वयंवर" से स्पष्ट है। हाँ, यह बात सही है कि पूर्व के युग के सैद्धान्तिक निरूपण की धारा पूर्णतया कुण्ठित नहीं हो सकी। भारतेन्दु जी तथा पं० बालकृष्ण भट्ट अपनी पत्रिकाओं में नाटक, कविता आदि का सैद्धान्तिक निरूपण भी करते थे। प्राचीन अलंकार-शास्त्र के तत्वों की विश्लेषणात्मक चर्चा इस युग में आरम्भ हुई। "कवि-वचन-सुधा" में वीभत्स रस की जो विवेचना की गई है वह इसके प्रमाण में उपस्थित की जा सकती है। इस काल में आलोचना का परवर्ती प्रौढ़ रूप भले ही न मिले; भावी विकास के चिन्ह निश्चय ही दृष्टिगोचर होते हैं।

द्विवेदी-काल की आलोचनाओं में आचार्य द्विवेदी के प्रभाव के कारण सहृदयता पर ही जोर दिया गया। सरसता, औचित्य एवं सरलता ये तीन गुण ही द्विवेदीजी की आलोचना का आधार हैं। सैद्धान्तिक निरूपण की प्रणाली के साथ-साथ उसके आदर्शों में भी परिवर्तन हुआ। स्वयं द्विवेदीजी का सिद्धान्त-निरूपण तर्क की कसौटी पर शायद ही खरा उतरेगा। उनकी शैली वैयक्तिकता के अत्यधिक समर्थन करने की ओर झुकती है; जिसे काव्य के लिए उपादेय नहीं माना जा सकता। काव्य का सौन्दर्य तथा कवि के व्यक्तित्व का प्रौढ़ विश्लेषण करने की जो प्रवृत्ति आगे चलकर पं० रामचन्द्र शुक्ल में पूर्ण रूप से विकसित हुई—उसका बीज इसी काल में निहित है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना अपनी पूर्ववर्ती आलोचना का पूर्णत: विकसित रूप है। निर्णय की प्रवृत्ति उनकी आलोचना में कहीं भी स्पष्ट रूप नहीं धारण करती। उनकी आलोचना-पद्धति में ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक आदि कई समीक्षात्मक प्रकारों का समावेश है। कवि के व्यक्तित्व के साथ-साथ कला, साहित्य और जीवन के सिद्धान्तों का सूक्ष्म एवं तात्विक विश्लेषण करके शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य समीक्षा को अनमोल मार्ग-दर्शन किया, और उसे वैज्ञानिक एवं प्रौढ़ रूप प्रदान किया इसमें सन्देह नहीं, लेकिन नैतिकता के प्रति आग्रह रखने वाली पूर्वकालीन विचारधारा के प्रभाव से वे भी अपने को मुक्त न कर सके।

आलोचना की वर्तमान शैलियों में सौष्ठववादी अथवा स्वच्छंदतावादी प्रणाली वास्तव में प्राचीन संस्कृत साहित्य की अलंकारवादी आलोचना का ही पूर्ण विकसित एवं प्रौढ़ रूप है। यहां अलंकार के व्यापक अर्थ से मतलब है, उसके सीमित अर्थ से नहीं। शक्ति, निपुणता एवं अभ्यास में से केवल शक्ति या नैसर्गिकी प्रतिभा को ही मान्यता प्रदान करना इस समीक्षा की विशेषता है जिसे आनन्दवर्द्धन, मम्मट, आदि भी स्वीकृत कर चुके थे। रसात्मकता को काव्य की आत्मा मानकर अन्य साधनों को उसमें सहायक मानना भी इसी की ओर संकेत करता है। कवि की रचना का रसास्वाद करने वाला भावुक भी भावयित्री प्रतिभा से संयुक्त होता है और यही सच्चा समालोचक है इसे राजशेखर ने अपनी 'काव्य मीमांसा' में

पहले ही स्पष्ट किया था। सौष्ठववादी आलोचना के जन्मदाता प्रसादजी तथा इस आलोचना को अपनाने वालों के अध्वर्यु पं० नन्ददुलारे वाजपेयी दोनों भारतीय रस-सिद्धान्त की महिमा को सर आंखों पर करने वाले व्यक्ति हैं। सौन्दर्य तथा मंगल का, 'शिवम्' एवं 'सुन्दरम्' का सामंजस्य करने वाली प्राचीन भारतीय परम्परा के आधार पर ही सौष्ठववादी समालोचना की पद्धति विकासोन्मुख रही है। वर्तमान आलोचक 'सौष्ठव' शब्द में अनुभूति एवं अभिव्यक्ति का, काव्य के अभ्यन्तर एवं बाह्य का समन्वय करता है। 'ध्वन्यालोक' के रचयिता ने इसी बात को अपने समय में प्रचलित शब्दों के सहारे कहा था। हां, यह बात सही है कि वर्तमान आलोचना में कवि के व्यक्तित्व का अंश जिस मात्रा में अन्वित रहता है उस मात्रा में उसकी कल्पना संस्कृत के समालोचक नहीं कर पाए थे। उस अंश में वर्तमान सौष्ठववादी समालोचना प्राचीन समालोचना से आगे बढ़ी हुई है और यह समीचीन भी है। निरन्तर विकास की ओर उन्मुख रहना यही साहित्य के प्रवाह की शुद्धता का सबसे अच्छा प्रमाण है इसे अस्वीकार भला कौन कर सकता है ? इसी के बल पर काव्य के मर्मज्ञ "सूखी हुई डाल बसन वासन्ती लेगी" में सदा से विश्वास रखते आए हैं।

•

डा० सत्यदेव चौधरी
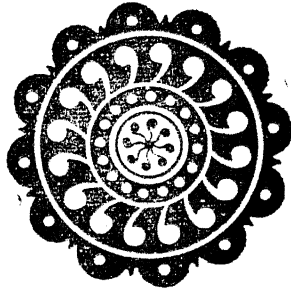
आनन्दवर्द्धन का ध्वनि-सिद्धान्त

आनन्दवर्द्धन काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के सभापण्डित थे। इनका जीवन-काल नवम् शती का मध्य भाग है। इनकी ख्याति 'ध्वन्यालोक' नामक अमर ग्रन्थ के कारण है। ग्रन्थ के दो प्रमुख भाग हैं—कारिका और वृत्ति। यद्यपि इस विषय में विद्वानों का मतभेद है कि इन दोनों भागों का कर्ता एक व्यक्ति है या दो हैं, पर अधिकतर विद्वान आनन्दवर्द्धन को ही दोनों भागों का कर्ता मानते हैं।

इस ग्रन्थ में चार उद्योत हैं और ११७ कारिकाएँ। प्रथम उद्योत में तीन प्रकार के ध्वनि विरोधियों—अभाववादी, भक्तिवादी और अलक्षणीयतावादी—का खण्डन किया गया है, तथा ध्वनि का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। द्वितीय और तृतीय उद्योत में ध्वनि-भेदों का विस्तत निरूपण है। प्रसंगवश गुण, अलंकार, संघटना और रस-विरोधी तत्वों (दोषों) का भी इसी उद्योत में यथेष्ट निरूपण है। अभिधा और लक्षणा के होते हुए भी ध्वनि की स्थिति क्यों आवश्यक है, इस विषय पर भी तृतीय उद्योत में प्रकाश डाला गया है, तथा गुणीभूतव्यंग्य-काव्य और चित्र-काव्य का स्वरूप भी निर्दिष्ट किया गया है। चतुर्थ उद्योत में ध्वनि से सम्बद्ध स्फुट प्रसंगों का पर्याप्त विवेचन है।

: १ :

ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आनन्दवर्द्धन से पूर्ववर्ती आचार्यों में केवल भरत रसवादी आचार्य माने जाते हैं। भामह, दण्डी, रुद्रट ने भी रस के प्रति आस्था दिखायी है। पूर्ववर्ती इन आचार्यों में से भामह, दण्डी और उद्भट अलंकारवादी थे तथा वामन रीतिवादी। इन

दोनों वादों का क्षेत्र काव्य के बाह्य रूप तक ही अधिकांशत: सीमित था। यदि रस, भाव आदि की चर्चा की गई तो वह भी इन्हें रसवद्, प्रेय: आदि अलंकार मात्र मान कर; और यदि अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना की ओर संकेत किया गया तो प्राय: अलंकारों को ही लक्ष्य में रखकर तथा अत्यन्त साधारण रूप में। उधर भरत का रसवाद भी विभावादि सामग्री से अनुप्राणित नाटक पर घटित होता था; प्रवन्धकाव्य पर भी घटित हो जाता था; पर विभावादि की परिपक्व सामग्री से शून्य होते हुए भी चमत्कारपूर्ण मुक्तक रचनाओं को रसवाद के आवेष्टन में लाना कठिन ही नहीं, असम्भव था। आनन्दवर्द्धन ने इस मर्म को समझा और समकालीन अथवा पूर्ववर्ती (अब अज्ञात) आचार्यों से प्रेरणा प्राप्त कर ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना की। (ध्व० १/१, ३/३४)

आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। उनका आख्यान इस प्रकार है -- जिस प्रकार किसी अँगना के सुन्दर अवयव और उनसे फूटता हुआ लावण्य एक पदार्थ नहीं है, और जिस प्रकार दीप और उनसे निस्सृत प्रकाश भी एक पदार्थ नहीं है, उसी प्रकार शब्द तथा अर्थ और उनसे अभिव्यक्त ध्वनि (व्यंग्यार्थ) भी एक पदार्थ नहीं है। शब्द तथा अर्थ काव्य के अलंकार मात्र हैं, पर ध्वनि कोई अन्य (अवर्णनीय) पदार्थ है। जिस प्रकार अवयव-समुदाय और लावण्य में; तथा दीप और प्रकाश में परस्पर साधन-साध्य भाव हैं; उसी प्रकार शब्दार्थ और ध्वनि में भी साधन-साध्य भाव है, और यही कारण है कि कवि को शब्दार्थ रूप साधन की सदा अपेक्षा रखनी पड़ती है। (ध्व. १/४,१/६) पर शब्दार्थ और ध्वनि का यह सम्बन्ध उक्त लौकिक उदाहरणों से किंचित् असदृश भी है। अवयवसमुदाय अथवा दीप को अपने-अपने साध्य की सिद्धि के लिए गौण अथवा हीन नहीं बनना पड़ता; पर ध्वनि की अभिव्यक्ति तभी सम्भव है, जब शब्द अपने अर्थ को तथा अर्थ अपने आप को गौण बना दे—

यत्रार्थ: शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यक्त: काव्यविशेष: स ध्वनिरिति सूरिभि: कथित:॥ (ध्वन्या० १/१३)

और इसी ध्वनि को आनन्दवर्द्धन ने 'काव्य की आत्मा' के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया।

: २ :

आनन्दवर्द्धन को ध्वनि (व्यंजनाशक्ति-जन्य व्यंग्यार्थ) नामक काव्य-तत्व के प्रवर्तक होने का श्रेय दिया जाता है। यद्यपि उन्होंने कई बार यह उल्लिखित किया है कि उनके समकालीन अथवा पूर्ववर्ती आचार्यों ने ध्वनि और उसके भेदों का निरूपण किया है, पर अन्य आचार्यों के ग्रन्थों की उपलब्धि-पर्यन्त आनन्दवर्द्धन को ही ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रवर्तन का श्रेय मिलता रहेगा। यह अनुमान कर लेना भी सहज-सम्भव है कि इन पूर्व आचार्यों के ध्वनिविषयक मौलिक सिद्धान्तों की केवल पण्डित-गोष्ठियों में चर्चा-मात्र रही होगी, और इन पर किसी प्रसिद्ध और स्वतन्त्र ग्रन्थ का निर्माण नहीं हुआ होगा। हाँ, इतना तो निश्चित है कि यह सिद्धान्त आनन्द-वर्द्धन के समय में इतना प्रचलित हो गया था कि इसके विरोधी भी उत्पन्न हो गये थे, जिन्हें करारा उत्तर देने के लिए आनन्दवर्द्धन को अपने ग्रन्थ में सर्वप्रथम लेखनी उठानी पड़ी थी। इन

विरोधियों में से तीन वर्ग प्रमुख थे—अभाववादी, भक्तिवादी और अलक्षणीयतावादी। प्रथम वर्ग को ध्वनि की सत्ता ही स्वीकृत नहीं हैं तथा तृतीय वर्ग इसकी सत्ता स्वीकार करता हुआ भी इसे अनिवर्चनीय कहता है, और द्वितीय वर्ग ध्वनि को भक्ति अर्थात् लक्षणागम्य अतएव गौण मानता है। सम्भव है इन सभी अथवा एक या दो वर्गों की कल्पना स्वयं आनन्दवर्द्धन ने कर ली हो; अथवा इस प्रसंग का दायित्व भी गोष्ठीगत मौखिक शास्त्रीय चर्चाओं पर ही हो। पर इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना नितान्त कठिन है, क्योंकि एक तो भरत अथवा भामह से लेकर आनन्दवर्द्धन के ही लगभग समकालीन रुद्रट तक उपलब्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में ध्वनि-विरोधियों की चर्चा तक नहीं की गयी, और दूसरे, इन विरोधी आचार्यों तथा उनके ग्रन्थों का नामोल्लेख स्वयं आनन्दवर्द्धन ने भी नहीं किया। अस्तु!

(क) अभाववादी—अभाववादी ध्वनि की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते। उनका प्रमुख तर्क यह है कि अलंकार, रीति, गुण आदि काव्यतत्वों की स्वीकृति में ध्वनि को मानना व्यर्थ है। उदाहरणार्थ, भामह आदि (अलंकारवाद के समर्थकों) की ओर से कहा जा सकता है कि 'अलंकार' नामक तत्व की स्वीकृति किये जाने पर ध्वनि नामक तत्व की आवश्यकता ही नहीं है—**तस्याऽभावं जगदुरपरे**। (ध्वन्या० १/१)। जैसे—

भामह ने प्रतिवस्तूपमा अलंकार के लक्षण में 'गुणसाम्य-प्रतीति' अर्थात् गम्यमान औपम्य की चर्चा की है; विशेषण-साम्य के बल पर अन्य अर्थ की 'गम्यता' को इन्होंने समासोक्ति कहा है, तथा अन्य प्रकार के अभिधान (कथनविशेष) को पर्यायोक्ति।

इसी प्रकार दण्डी-सम्मत व्यतिरेक अलंकार का एक रूप तो वह है, जिसमें उपमान-उपमेयगत सादृश्य शब्द द्वारा प्रकट किया जाता है; पर दूसरा वह जिसमें सादृश्य 'प्रतीयमान' होता है। भामह के समान दण्डी ने भी पर्यायोक्ति के स्वरूप को 'प्रकारान्तर कथन' पर आधृत माना है। इसी अलंकार का उद्भट-सम्मत निम्नोक्त लक्षण तो व्यंजना के स्वरूप का स्पष्ट निर्देशक है—

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनार्थावगमात्मना॥ (का० सा० सं० ५/६)

अर्थात् पर्यायोक्ति उसे कहते हैं जहां अभीष्ट विषय का अन्य प्रकार से कथन किया जाए, और वह अन्य प्रकार है—वाच्य-वाचक वृत्ति अर्थात् अभिधावृत्ति से शून्य अर्थ का अवगमन।

यह हुई अलंकारवादियों के ध्वनि-निर्देशक स्थलों की चर्चा। रुय्यक के कथनानुसार रूद्रट के भी रूपक, अपन्हुति, तुल्ययोगिता, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलकारों के लक्षणों में व्यंजना के बीज निहित हैं। रुय्यक और उनके टीकाकार जयरथ के अनुसार रुद्रट-सम्मत भाव अलंकार का एक प्रकार 'प्रधान व्यंग्य' है, और दूसरा प्रकार 'अप्रधान व्यंग्य'।

इस प्रकार आनन्दवर्द्धन से पूव 'ध्वनि' को अलंकारों में अन्तर्भूत करने का प्रयास किया गया। परन्तु आनन्दवर्द्धन ने इस मान्यता का विरोध किया। इस सम्बन्ध में उनकी

निम्नोक्त धारणाएं उल्लेखनीय हैं[1]—

(क) अलंकार और ध्वनि में महान् अन्तर है। अलंकार शब्दार्थ पर आश्रित है, पर ध्वनि व्यंग्य-व्यंजक भाव पर। शब्दार्थ के चारुत्वहेतुभूत अलंकार ध्वनि के अंगभूत हैं; और ध्वनि उनका अंगी है।

(ख) समासोक्ति, आक्षेप, दीपक, अपन्हुति, अनुक्तनिमित्तक विशेषोक्ति, पर्यायोक्ति और संकर अलंकार के उदाहरणों में व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य का प्राधान्य दिखाते हुए आनन्दवर्द्धन ने यह सिद्ध किया है कि (व्यंग्य-प्रधान) ध्वनि का (वाच्य-प्रधान) अलंकारों में अन्तर्भाव मानना युक्ति-संगत नहीं है।

(ग) इसी प्रसंग में उनका एक अन्य अकाट्य तर्क भी अपेक्षणीय है — जिस प्रकार दीपक, अपन्हुति आदि अलंकारों के उदाहरणों में उपमा अलंकार की व्यंग्य रूप से प्रतीति होने पर भी उसका प्राधान्य विवक्षित न होने के कारण वहाँ उपमा नाम से व्यवहार नहीं होता, इसी प्रकार समासोक्ति आक्षेप, पर्यायोक्ति आदि अलकारों में व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने पर भी उसका प्राधान्य विवक्षित न होने के कारण वहाँ ध्वनि नाम से व्यवहार नहीं होता; और यदि पर्यायोक्ति आदि अलंकारों के उदाहरणों में कहीं व्यंग्य की प्रधानता हो भी तो उस अलंकार का अन्तर्भाव महाविषयीभूत (अंगीभूत) ध्वनि में किया जाएगा, न कि ध्वनि का अन्तर्भाव अंगभूत अलंकार में। ध्वनि तो काव्य की आत्मा है; अलंकार्य है, अतः वह न तो अलंकार का स्वरूप धारण कर सकती है और न अलंकार में उसका अन्तर्भाव किया जा सकता है।[2]

निष्कर्ष यह कि आनन्दवर्द्धन के मतानुसार उक्त पर्यायोक्ति, प्रतिवस्तूपमा आदि अलंकारों में 'व्यंग्यार्थ' की प्रतीति होने पर भी उसका प्रधान रूप से कथन नहीं होता, उनमें

१—ध्वन्या. १/१३ वृत्तिभाग तथा २/२७

२—आनन्दवर्द्धन से परवर्ती प्रायः सभी ध्वनिवादी आचार्यों ने इनके साथ अपनी सहमति प्रकट की है। उदाहरणार्थ—

> शब्दार्थसौन्दर्यतनोः काव्यस्याऽऽत्मा ध्वनिर्मतः।
> तेनाऽलंकार्य एवायं नालंकारत्वमर्हति ॥ —अलं०महो० ३।६४

परन्तु आनन्दवर्द्धन के उपर्युक्त खण्डन करने पर भी प्रतिहारेन्दुराज ने उद्भट-प्रणीत 'काव्यालंकारसारसंग्रह' की स्वनिर्मित टीका में वस्तुगत, अलंकारगत तथा रसगत ध्वनि को विभिन्न अलंकारों में अन्तर्भूत किया है (का० सा० सं०, लघुवृत्ति टीका, पृ० ८५-८८), और विवक्षितवाच्यध्वनि के स्वसम्मत १६ भेदों का अन्तर्भाव पर्यायोक्ति अलंकार में करने का निर्देश किया है, तथा अविवक्षितवाच्य ध्वनि के ४ भेदों का अप्रस्तुतप्रशंसा में (का० सा० सं०, लघुवृत्ति, पृ० ८५ तथा ९१)। प्रतिहारेन्दुराज की इन धारणाओं का अधिक सम्भव कारण यह प्रतीत होता है कि वे मूल ग्रन्थ के कर्ता अलंकारवादी उद्भट का पुष्ट समर्थन करना चाहते होंगे।

प्रधान चमत्कार तो अलंकार-तत्व का ही रहता है । अतः इन्हें 'ध्वनि' न कह कर अलंकार कहना चाहिए। हाँ, व्यंग्यांश-समन्वित इन पर्यायोक्ति आदि अलंकारों का चमत्कार अन्य वाच्यालंकारों—उपमा, रूपक आदि की तुलना में कहीं अधिक बढ़ जाता है। और, यदि कहीं इन अलंकारों के उदाहरणों में व्यंग्यार्थ की प्रधानता हो भी तो उन्हें इन अलंकारों के स्थान पर 'ध्वनि' का ही उदाहरण माना जाएगा। वस्तुतः ध्वनि अंगी है और अलंकार, गुण और वृत्तियां उसके अंग हैं। संक्षेप में अलंकार के सम्बन्ध में आनन्दवर्द्धन का मन्तव्य है कि अलंकार उन्हें कहते हैं जो शब्द और अर्थ के आश्रित रह कर कटक, कुण्डल आदि के समान (शब्दार्थ रूप शरीर के शोभाजनक हैं, (ध्व० २/६) और इनकी यह स्थिति बाह्यपरक है। अतः इनके अन्तराल में 'ध्वनि' को--जो मूलतः एक आन्तरिक तत्व है—समाविष्ट नहीं माना जा सकता।

(ख) **लक्षणावादी**--लक्षणावादी ध्वनि को लक्षणागम्य अर्थात् भक्ति मानते हैं—भक्तिमाहुस्तमन्ये। (ध्वन्या० १/१) भक्ति कहते हैं लक्षणा को। किन्तु आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को लक्षणा-गम्य न मानते हुए इसे एक स्वतन्त्र तत्व रूप में प्रतिष्ठित किया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने जो तर्क प्रस्तुत किये हैं (देखिए ध्वन्यालोक १-१४-१८), उनका सार इस प्रकार है--

१–लक्षणा शक्ति तीन तथ्यों पर आधारित है--मुख्यार्थबाध; मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति; तथा रूढ़ि और प्रयोजन में से किसी एक हेतु की उपस्थिति। पर व्यंजना-जन्य अर्थ पर उपर्युक्त कोई भी तथ्य घटित नहीं होता। अभिधामूला ध्वनियों के उदाहरणों में मुख्यार्थबाध नहीं होता, व्यंग्यार्थ सदा मुख्यार्थ से भिन्न और असम्बद्ध रहता है, तथा रूढ़ि और प्रयोजन इन दोनों हेतुओं की इसे चिन्ता नहीं होती।

२–इसके अतिरिक्त स्वयं लक्षणा शक्ति को भी अपने प्रयोजनगत भेदों के लिए व्यञ्जना शक्ति का आश्रय लेना पड़ता है। उदाहरणार्थ—'गंगा पर मकान है' इस वाक्य में 'गंगा' शब्द का 'गंगा-तट' लक्ष्यार्थ रूप तभी सम्भव है, जब वक्ता को मकान का शीतलत्व और पावनत्व रूप प्रयोजन अभीष्ट हो, और यह प्रयोजन व्यञ्जना का ही विषय है। और यदि 'शीतल आदि' अर्थ को व्यंग्यार्थ न मान कर लक्ष्यार्थ माना जाए तो इस लक्ष्यार्थ के लिए किसी अन्य प्रयोजन की स्वीकृति करनी पड़ेगी, जिससे विषय अनवस्थित हो जाएगा।

३–लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ के साथ सदा नियत सम्बन्ध रहता है, पर व्यंग्यार्थ का उसके साथ कभी नियत सम्बन्ध रहता है, कभी अनियत सम्बन्ध और कभी सम्बद्ध सम्बन्ध।

४–लक्षणा शक्ति शब्द के अधीन है, पर व्यञ्जना शक्ति न केवल शब्द के, अपितु निरर्थक वर्णों तथा अक्षिनिकोचादि चेष्टाओं के भी अधीन रहती है।[1]

---

१ आनन्दवर्द्धन के उपरान्त भी ध्वनि को वक्रोक्ति, अभिधा, तात्पर्यवृत्ति, लक्षणा, अनुमान, आदि में अन्तर्भूत करने का प्रयास किया गया। जिसका खण्डन मम्मट ने प्रस्तुत कर ध्वनि की पुनःस्थापना की—यह विषय इस निबन्ध-सीमा से बाहर का है।

इस प्रकार आनन्दवर्द्धन का मन्तव्य है कि ध्वनि का चारुत्व किसी अन्य काव्यतत्व से प्रकाशित नहीं हो सकता—

उक्तयन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन् ।
शब्दो व्यञ्जकतां विभ्रद् ध्वन्युक्तेविषयी भवेत् ।। (ध्व० १/१५)

(ग) **अलक्षणीयतावादी**—ये आचार्य ध्वनि को अलक्षणीय अर्थात् अनिवर्चनीय मानते हैं—**केचिद् वाचां स्थितभविषये तत्वमूचुस्तदीयम्** (ध्वन्या० १/१) तात्पर्य यह है कि ध्वनि एक आन्तरिक तत्व है, अतः यह वर्णन का विषय नहीं बन सकता। इस प्रकार इन आचार्यों ने ध्वनि तत्वे को अस्वीकृत नहीं किया। वस्तुतः उनकी इस धारणा से ध्वनि की प्रतिष्ठा में वृद्धि ही हुई है। आनन्दवर्द्धन का इस सम्बन्ध में यह कहना है कि जव इस ग्रन्थ के पूर्वापर-प्रसंगों के आधार पर इस तत्व का विवेचन कर दिया गया है तो अब भी इसे अनाख्येय कहना युक्ति-संगत नहीं है। (देखिए ध्वन्या० प्रथम उद्योत अन्तिम से पूर्व अनुच्छेद।)

: ३ :

आनन्दवर्द्धन ने, जैसा कि ऊपर कह आये हैं, ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकृत किया। इनसे पूर्व भामह, दण्डी एवं उद्भट ने अलंकार को काव्य का सर्वस्व और वामन ने 'रीति' को काव्य की आत्मा के रूप में घोषित किया था। अपने मत की पुष्टि के लिए आनन्दवर्द्धन ने इन दोनों तत्वों का खण्डन किया। अलंकार से सम्बद्ध खण्डन अभाव-वादी आचार्यों के प्रसंग में ऊपर यथास्थान प्रस्तुत किया जा चुका है। रीति को इन्होंने 'संघटना' नाम देते हुए कहा कि वह गुणों पर आश्रित रह कर रसों की अभिव्यक्ति करती है—

गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा ।
रसान्..।। (ध्वन्या०,३/६)

इसका तात्पर्य यह कि आनन्दवर्द्धन की दृष्टि में रीति की सिद्धि इसी में है कि वह रस की अभिव्यक्ति में सहयोग दे और यह भी साक्षात् रूप से नहीं, एक पग और पीछे—गुणों के आश्रित रह कर, तथा यह भी उस 'रस' की अभिव्यक्ति में जो स्वयं ध्वनि पर आश्रित है, उसका एक प्रभेद-मात्र है। आनन्दवर्द्धन रीति को केवल घटना (रचना-प्रकार) मात्र मानते हैं। स्वयं वामन भी मूलतः इसे एक बाह्य तत्व स्वीकार करते हैं। क्योंकि आनन्दवर्द्धन ने यदि समास के सद्भाव और असद्भाव को रीति के स्वरूप-निर्देश में स्थान दिया तो यही दशा वामन ने भी अपनायी थी। स्पष्ट है कि समास-निर्देश बाह्य तत्व का ही सूचक है। आनन्दवर्द्धन के इसी दृष्टिकोण का परिपालन उनके अनुयायी आचार्यों द्वारा भी किया गया। परिणामतः, विश्वनाथ के शब्दों में रीति अपने 'आत्मपद' से च्युत होकर 'अंगसंस्थान' मात्र बन कर रह गयी। निष्कर्षतः, आनन्दवर्द्धन ने 'रीति' को केवल मात्र एक वाह्य तत्व स्वीकार करते हुए इसे 'आत्मा' मानने वाले वामन का खण्डन किया है, और उनके

सम्बन्ध में स्पष्टतः कहा है कि वह अस्फुट रूप से प्रतीत होने वाले अर्थात् ध्वनि जैसे आन्तरिक काव्य-तत्व की व्याख्या करने में नितान्त असमर्थ थे—

अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्वमेतद् यथोदितम् ।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः ।। (ध्वन्या० ३/५७)

इस प्रकार आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि-तत्व से पूर्ववर्ती उक्त दोनों तत्वों का खण्डन उनके प्रति अपनी मान्यताओं के आधार पर किया—'अलंकार' को आभूषण मात्र मानते हुए, तथा 'रीति' को एक संघटना (रचना-प्रकार) मात्र। किंतु इससे इनके प्रवर्त्तक आचार्यों के प्रति निस्सन्देह अन्याय ही हुआ है। वस्तुतः इनका खण्डन उन्हीं के समान इन दोनों तत्वों का व्यापक अर्थ लेकर ही करना चाहिए था, न कि केवल अपनी मान्यतानुसार उनका सीमित अर्थ लेकर। आनन्दवर्द्धन के इस शैथिल्य का, अथवा यों कहिए एक प्रकार की न्यूनता का, आनन्दवर्द्धन की ही ओर से उत्तर भी दिया जा सकता है कि यदि वे पूर्ववर्ती आचार्यों के अलंकार एवं रीति-विषयक व्यापक दृष्टिकोण को ही अपनाते, तो भी परिणाम वही निकलता कि ये दोनों तत्व मूलतः बाह्यपरक हैं, और इनके इसी बाह्य स्वरूप का ही इन्होंने अपनी मान्यताओं में स्पष्टतः उल्लेख किया है।[1] इधर इसके विपरीत ये स्वसम्मत 'ध्वनि' को नितांत आंतरिक काव्यतत्व स्वीकार करते हुए काव्य की आत्मा घोषित करते हैं, और वस्तुतः इसे महनीय पद पर आसीन करने के लिए केवल यही एक प्रबल तर्क पर्याप्त है। अनेक स्थलों पर इन्होंने इस तथ्य को उद्घोषित किया है—

(क) प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ।।
(ध्वन्या० १/४)

(ख) मुख्या महाकविगिरामलंकृतिभृतामपि ।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम् ।। (ध्वन्या० ३/२८)

निस्सन्देह यही प्रतीयमानार्थ (ध्वनि) ही अलंकार और रीति जैसे बाह्यपरक उपादानों की तुलना में 'आत्मा' जैसे आंतरिक तत्व से सम्मानित किये जाने का कहीं अधिक अधिकारी है। अस्तु।

ध्वनि को काव्य की आत्मा माने जाने का आनंदवर्द्धन-सम्मत एक तो उपर्युक्त कारण है कि ध्वनि एक आंतरिक तत्व है और दूसरा कारण यह है कि इसका फलक अति विशद एवं व्यापक है। काव्य के विविध चमत्कार को ध्वनि पर आधारित मानते हुए इन्होंने अपनी उक्त मान्यता की परिपुष्टि की है। ध्वनि के तारतम्य के अनुरूप इन्होंने काव्य के तीन रूप स्वीकृत किये हैं—ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य और चित्र। ध्वनि के प्रमुख भेद पाँच हैं—

---

[1] इसके अतिरिक्त वामन-सम्मत वैदर्भी-रीति, जिसे इन्होंने इस आधार पर सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया है कि वह 'समग्रगुणा' होती है, सम्भव ही नहीं है, क्योंकि कोई ऐसी काव्य-रचना जिसमें सभी गुणों (दस शब्दगुण, दस अर्थगुण) का सद्भाव हो, नितांत असम्भव परिकल्पना है।

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि, (२) अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्यध्वनि, (३) वस्तुध्वनि, (४) अलंकारध्वनि और (५) रसध्वनि। कई आचार्य इनमें से प्रथम दो को 'वस्तुध्वनि' में अन्तर्भूत करने के पक्ष में हैं। अतः उनके अनुसार ध्वनि के अन्तिम तीन भेद हैं। गुणीभूत व्यंग्य के आठ भेद हैं। फिर इनके अनेक उपभेद हैं, जो पदांश, पद, वाक्य से लेकर प्रबन्ध तक फैले हुए हैं। इस तरह इन दोनों काव्यतत्वों के भेदोपभेदों में प्रत्येक प्रकार का काव्य सौन्दर्य अन्तर्भूत किया जा सकता है। स्वयं आनन्दवर्द्धन के शब्दों में, इनके सम्पर्क से वाणी अभिनवता और समृद्धि को प्राप्त कर लेती है। (ध्वन्या० ४/६) ध्वनि का एक भेद 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' है जो रस, रसाभास, भावाभास आदि का पर्याय है। गुणीभूतव्यंग्य के एक भेद 'अपरस्यांग' से अभिप्राय है रसवद् आदि अलंकारों का चमत्कार। इधर 'चित्रकाव्य' के अन्तर्गत माधुर्य आदि गुणों और उससे सम्बद्ध रीतियों के अतिरिक्त सभी अलंकारों का चमत्कार सन्निहित है। इसका तात्पर्य यह कि गुण और अलंकार भी आनन्दवर्द्धन के अनुसार व्यंग्य-रहित नहीं होते, उनमें भी व्यंग्य की सत्ता रहती है, किन्तु अस्फुट रूप से। निष्कर्षतः, आनन्दवर्द्धन के अनुसार सभी प्रकार के काव्य-सौन्दर्य में ध्वनितत्व-प्रमुख, गौण अथवा अस्फुट रूपों में से—किसी न किसी रूप में, अनिवार्यतः विद्यमान रहता है। इसीलिए भी ध्वनि को 'काव्य की आत्मा' माना गया है।

इस सम्बन्ध में एक तीसरा कारण और भी उल्लेखनीय है। आनन्दवर्द्धन और उनके अनुकरण में मम्मट तथा विश्वनाथ ने अलंकार, गुण रीति और यहाँ तक कि दोष का भी स्वरूप ध्वनि के सर्वोत्कृष्ट भेद 'रस' पर निर्धारित किया है।

इस प्रकार इन उपर्युक्त तीनों कारणों के आधार पर आनन्दवर्द्धन ने 'ध्वनि काव्य की आत्मा है' यह घोषित करते हुए अन्य काव्यांगों की सत्ता स्वीकार की, तथा इन्हें ध्वनि से सम्बद्ध करते हुए इनकी वास्तविक स्थिति का स्पष्टीकरण किया।

: ४ :

काव्य की आत्मा के प्रसंग में अलंकार और रीति के अतिरिक्त वक्रोक्ति और रस नामक काव्यतत्त्व भी विचारणीय हैं। वक्रोक्ति को काव्य की जीवित (आत्मा) मानने का प्रमुख कारण यह है कि वक्रोक्ति अपने ६ प्रमुख भेदों (और उनके ३० उपभेदों) के अन्तर्गत अधिकतर काव्यांगों और काव्य-तत्वों को अपने विशाल अन्तराल में समाविष्ट किये है, और इसका आधार है उक्ति की वक्रता अर्थात् विच्छित्ति। किन्तु कुन्तक-सम्मत विवेचन से यह स्पष्ट नहीं होता कि वक्रोक्ति केवल बाह्य तत्व है अथवा केवल आन्तरिक तत्व। कहीं वे इसे वामन के समान बाह्य तत्व के रूप में स्वीकार करते प्रतीत होते हैं—न केवल स्थूल प्रसंगों में अपितु सूक्ष्म प्रसंगों में भी, और कहीं आनन्दवर्द्धन के समान आंतरिक रूप में—अन्तर केवल नाम का ही है—आनन्द जिसे 'ध्वनि' कहते हैं कुन्तक उसे 'वक्रोक्ति' कह देते हैं। इस प्रकार हमारे सम्मुख वक्रोक्ति के ये दोनों रूप उपस्थिति होते हैं—बाह्य और आन्तरिक। किन्तु फिर भी, कुल मिलाकर कुन्तक की वक्रोक्ति बाह्यरूपात्मक ही अधिक है।

अब रस-तत्व को लीजिए। काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में जितना समादर रस को मिला

उतना किसी अन्य तत्व-काव्य को नहीं। भरत को रस-तत्व का प्रवर्तक समझा जाता है। उन्होंने इसे नाटक के अनिवार्य धर्म के रूप में स्वीकार किया, तथा कतिपय काव्य-तत्वों—अलंकार, गुण, दोष—के रस-संश्रयत्व पर भी प्रकाश डाला। अलंकारवादी आचार्यों—भामह, दण्डी और उद्भट ने यद्यपि रस, भाव आदि को रसवद् आदि अलंकार नाम से अभिहित किया, तथापि उन्होंने अपने दृष्टिकोण से इसे समुचित समादर भी प्रदान किया। भामह और दण्डी ने इसे महाकाव्य के लिए 'एक आवश्यक तत्व' के रूप में स्वीकृत किया। भामह के अनुसार कटु औषधि के समान कोई शास्त्र-चर्चा भी रस के सयोग से मधुवत् बन जाती है। दण्डी का माधुर्य गुण 'रसवत्' ही है, तथा इसकी यह रसवत्ता मधुपों के समान सहृदयों को प्रमत्त बना देती है। दण्डी के 'माधुर्य' गुण का एक भेद वस्तुगत माधुर्य कहाता है, जिसका अपर नाम 'अग्राम्यता' है। दण्डी के शब्दों में यही अग्राम्यता काव्य में 'रससेचन' के लिए सर्वाधिक शक्तिशाली अलंकार है। इसके अतिरिक्त रुद्रट ने भी, जो एक ओर अलंकार-सिद्धान्त से और दूसरी ओर ध्वनि-सिद्धान्त से प्रभावित थे, रस को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया। भामह और दण्डी के समान इन्होंने भी रस को महाकाव्य के लिए आवश्यक तत्व माना। प्रथम बार इन्होंने ही वैदर्भी, पांचाली नामक रीतियों, और मधुरा, ललिता वृत्तियों के रसानुकूल प्रयोग का निर्देश किया, शृंगार रस का प्राधान्य स्वीकार किया, तथा कवि को रस के लिए प्रयत्नशील रहने का आदेश दिया।

अलंकारवादी आचार्यों के उपरान्त ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा तथा रस को ध्वनि का एक भेद—'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि' नाम से—स्वीकृत करते हुए भी रस को ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट रूप घोषित किया। कतिपय प्रमाण लीजिए :

—वाच्यार्थों की बहुविधि रचना रस के आश्रय से सुशोभित होती है। (४/८)

—यों तो व्यंग्यार्थ (ध्वनि) के कई भेद हैं, किन्तु रस, भाव आदि (नामक भेद) उनकी अपेक्षा कहीं (अधिक) प्रधान हैं। (१/५ वृत्ति)

—रस के सम्पर्क से प्रचलित अर्थ उस प्रकार नूतन रूप में आभासित होने लगते हैं जिस प्रकार वसन्त के सम्पर्क से द्रुम। (४/४)

—रस, भाव आदि के विषय से सम्बद्ध रहकर ही वाच्य और वाचक की औचित्यपूर्वक (योजना होती है, और ऐसी) योजना करना महाकवि का मुख्य कर्म है। (३/३२)

—इस व्यंग्य-व्यंजक भाव (अर्थात् ध्वनि-तत्व) के अनेक भेदों के होने पर भी कवि को केवल रसादिमय ध्वनि-काव्य में ही अवधानवान् रहना चाहिए। (४/५)

इसी प्रकार आनन्दवर्द्धन के प्रख्यात अनुकर्ता मम्मट ने भी रस को काव्य का सर्वोपरि प्रयोजन निर्दिष्ट किया।

आनन्दवर्द्धन के उपरान्त वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्ति जीवित' में वक्रोक्ति को काव्य का 'जीवित' स्वीकार करते हुए भी रस को काव्य का अमृत एवं अन्तश्चमत्कार का वितानक मानते हुए प्रकारान्तर से इसे सर्वप्रमुख काव्य प्रयोजन के रूप में घोषित किया। उन्होंने उपसर्गगत और निपातगत पदवक्रता के प्रसंग में रस की चर्चा की।

प्रकरण-वक्रता और प्रबन्ध-वक्रता के लिए रस की अनिवार्यता का अनेक रूपों में निर्देश किया, और रसवत् अलंकार को 'सब अलंकारों का जीवित' कहते हुए प्रकारान्तर से रस की उत्कृष्टता मुक्तकण्ठ से स्वीकृत की।

कुन्तक के उपरान्त इस दिशा में अग्निपुराणकार ने काव्य में रस की अनिवार्यता का संकेत करते हुए कहा कि जिस प्रकार लक्ष्मी त्याग (दान) के बिना शोभित नहीं होती उसी प्रकार वाणी भी रस के बिना शोभित नहीं होती।

रस के प्रति उक्त समादर-भाव अग्निपुराणकार के समय के आस-पास और अधिक उच्च रूप ग्रहण कर गया। अब रस को 'आत्मा' पद पर आसीन कर दिया गया-'वाग्वैदग्ध्य-प्रधानेऽपि रस एवाऽत्र जीवितम्।' अर्थात् काव्य में यद्यपि वाणी की विदिग्धता की प्रधानता (अनिवार्यता) रहती है, किन्तु उसका जीवित (आत्मा) तो रस ही है। इसी प्रकार महिमभट्ट ने भी रस को सर्वसम्मति से ही काव्य की आत्मा स्वीकृत करने का निर्देश किया—**काव्यस्यात्मनि संगिनि × × × रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः।**

इधर इसी बीच 'काव्यपुरुष-रूपक' भी पूर्णतः स्थिर हो चुका था—जिसके बीज दण्डी और वामन के समय से मिलना प्रारम्भ हो गये थे। राजशेखर और उनके उपरान्त विश्वनाथ ने इसी रूपक के अन्तर्गत काव्य को आत्मा रूप में घोषित किया, और विश्वनाथ ने तो सर्वप्रथम अपना काव्यलक्षण भी इसी मान्यता के आधार पर प्रस्तुत किया—**वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।**

किसी काव्य-तत्त्व को काव्य की आत्मा स्वीकृत करने के दो आधार हैं। पहला आधार है उसी काव्य-तत्व में काव्य के अन्य तत्त्वों का समावेश एवं अन्तर्भाव समझना, और दूसरा आधार है अन्य काव्यतत्वों द्वारा इसी तत्त्व की पुष्टि समझना। निस्सन्देह दूसरा आधार अधिक मान्य है, क्योंकि यह अपेक्षाकृत अधिक पुष्ट, स्वस्थ, आग्रह-रहित एवं तर्कपूर्ण है। रस को काव्य की आत्मा स्वीकृत करने का एक कारण यह भी है कि आनन्दवर्द्धन और उनके अनुकर्ताओं-मम्मट और विश्वनाथ ने, तथा इनके परवर्ती संग्रहकर्ता आचार्यों ने, अन्य काव्यतत्वों–अलंकार, गुण और रीति—को रस के साथ सम्बद्ध करते हुए इन्हें उसके पोषक रूप में प्रस्तुत किया। इन्होंने इन तीनों का लक्षण तो रस के आधार पर स्थिर किया ही, दोष का लक्षण भी 'रस' के अपकर्ष पर स्थिर किया—जहां दोष रस का अपकर्षक है वहीं वह दोष है अन्यथा नहीं है।

इस प्रकार हमने देखा कि (१) पहले रस के प्रति समादर-भाव प्रकट किया गया, (२) पुनः रस के साथ अन्य काव्यतत्वों का स्वरूप सम्बद्ध किया गया, और (३) अन्ततः उसे 'आत्मा' रूप में उद्घोषित कर दिया गया—और इस सबका एक मात्र कारण यह है कि रस अन्य काव्यतत्वों की अपेक्षा कहीं अधिक आन्तरिक तत्त्व है—यहां तक कि वह 'ध्वनि' के प्रमुख पांच भेदों में से शेष चार भेदों की अपेक्षा भी इस दृष्टि से उत्कृष्ट है।

: ५ :

आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया—उनके दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखकर ऊपर यथास्थान इस तथ्य के सम्बन्ध में तीन प्रमुख कारण प्रस्तुत कर

आये हैं। यहां यह उल्लेखनीय है कि काव्यशास्त्र के एतद्विषयक प्रसंगों में 'आत्मा' शब्द अभिप्रेत है काव्य का अनिवार्य तत्त्व, बाह्य न होकर आन्तरिक होना चाहिए। अलंकार, रीति और वक्रोक्ति तत्त्व तो अधिकांशतः बाह्य ही हैं। शेष रहे दो काव्यतत्व—ध्वनि और रस। ये दोनों तत्त्व आन्तरिक हैं और इन दोनों में से हमारे विचार में ध्वनि को काव्य की आत्मा मानना चाहिए। इस स्वीकृति के प्रमुख दो कारण हैं :

—प्रथम कारण यह है कि यह तत्व काव्य में अनिवार्यतः विद्यमान रहता है। यहां तक कि रस के उदाहरणों में भी इसी तत्व का अस्तित्व अनिवार्यतः अपेक्षित है। रस का चमत्कार व्यंग्यार्थ पर आधारित रहता है—रस वस्तुतः ध्वनि का ही एक भेद माना जाता है। ध्वनि तत्त्व के अभाव में किसी भी कथन को 'काव्य' नहीं कह सकते, वह या तो 'लोक-वार्ता' कहा जाएगा या 'शास्त्रचर्चा'।

—दूसरा कारण यह है कि ध्वनि-तत्व रस की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। ध्वनि-तत्व के तारतम्य के आधार पर काव्य को तीन कोटियाँ में विभक्त किया जाता है—ध्वनि-काव्य, गुणीभूतव्यंग्य-काव्य और चित्र-काव्य। इन तीनों कोटियों में ध्वनि-तत्व क्रमशः मुख्य-गौण और अस्फुट रूप में विद्यमान रहता है। ध्वनि-काव्य के प्रमुख पाँच भेदों में से असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि नामक ध्वनि-भेद का अपर नाम ही रसादि (अंगीभूत रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भाव-सन्धि, भावशबलता और भावशान्ति) है। इस प्रकार अंगीभूत रस आदि का अन्तर्भाव ध्वनि में हो जाता है। गुणीभूतव्यंग्यकाव्य के आठ भेदों में से 'अपरांग' नामक दूसरे भेद के अन्तर्गत रसवद्, प्रेयस्वत् आदि अलंकारों का अन्तर्भाव हो जाता है, जो वस्तुतः उस स्थिति में स्वीकृत किये जाते हैं जब रस, भाव आदि अंगभूत रूप में वर्णित हो। इस प्रकार रस चाहे अंगीभूत रूप में वर्णित हो अथवा अंगरूप में, काव्य-कोटि की दृष्टि से ध्वनि से ही सम्बन्धित है। शेष रहे ध्वनि के (रसेतर) शेष चार भेद और गुणीभूत व्यंग्य के शेष सात भेद—ये सभी तो ध्वनि से सम्बन्धित हैं ही। अब काव्य के तीसरे प्रमुख भेद चित्रकाव्य को लीजिए। चित्रकाव्य से तात्पर्य है—अलंकार-प्रयोग, किन्तु इसमें भी ध्वनि-तत्त्व की सत्ता, चाहे वह अस्फुट रूप से ही क्यों न हो, नितान्त अनिवार्य है और इसी चित्रकाव्य के अन्तर्गत सभी शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का काव्य-चमत्कार निहित हो जाता है। शेष रहे गुण और रीति नामक काव्य-तत्व, तो ये दोनों रस-ध्वनि से सम्बद्ध रहने के कारण ध्वनि से ही सम्बद्ध हैं। इनका चमत्कार वस्तुतः रस-ध्वनि का ही चमत्कार होता है। इस प्रकार ध्वनि-तत्व में सभी प्रकार का काव्य-चमत्कार अतर्भूत हो जाता है। अतः वह एक व्यापक काव्य-तत्व है।

इस प्रकार उक्त दोनों कारणों से ध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानना चाहिए।

किन्तु समस्या का अन्त यहीं नहीं हो जाता। रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करने वालों की ओर से यह कहा जा सकता है कि रस (रसादि) के उदाहरण (और 'अपर-स्यांग' नामक गुणीभूतव्यंग्य के उदाहरण भी) तो रस हैं ही, ध्वनि के शेष चार भेदों,

गुणीभूतव्यंग्य के शेष सात भेदों के उदाहरण भी वस्तुतः रस ही हैं, और यही स्थिति चित्र-काव्य की भी है। क्योंकि उनका चमत्कार किसी न किसी रूप में रस से सम्बद्ध रहता है। उदाहरणार्थ, वस्तु-ध्वनि का प्रसिद्ध उदाहरण 'गतोऽस्तमर्कः; (अर्थात् 'सूर्य डूब गया') तभी काव्य के अन्तर्गत माना जाएगा जब वक्ता का अभिप्राय केवल इतना मात्र न हो कि अब 'अनध्ययन का समय हो गया,' अथवा 'कार्य समाप्त करने का समय हो गया' आदि, अपितु उसकी आन्तरिक मनोभावनाओं का भी परिचायक हो। उदाहरणार्थ, 'कार्य समाप्त हो गया' इस व्यंग्यार्थ को तभी काव्य का विषय माना जाएगा जब वक्ता को अपने प्रियजनों से मिलने की उत्सुकता हो, अथवा उसकी किसी ऐसी अन्य मनोभावना एवं मनोलालसा का पता चले। इस प्रकार ऐसे उदाहरणों में भी वस्तुतः रस की ही सत्ता विद्यमान है। अतः रस को ही काव्य की आत्मा मानना चाहिए, ध्वनि को नहीं। निस्सन्देह काव्यत्व की स्वीकृति वहाँ होगी जहाँ किसी अनुभूति का द्योतन हो, किन्तु इसी आधार पर ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य अथवा चित्र-काव्य के सभी भेदों के उदाहरणों को रसादि (रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि आठों अथवा रसवद्, प्रेयस्वत् आदि सातों) के साथ सम्बद्ध नहीं करना चाहिए। इसके दो कारण हैं—

पहला यह कि ध्वनि जैसा आन्तरिक तत्व भी तो किसी अनुभूति एवं मनोवृत्ति का द्योतक है। इसे इस दृष्टि से सक्षम न मानकर केवल रस को, जोकि वस्तुतः ध्वनि का ही एक प्रभाग है, ऐसा मानना शास्त्रसंगत नहीं है।

दूसरा कारण यह कि शास्त्रीय दृष्टि से रस अपने पारिभाषिक अर्थ में सब प्रकार के काव्यतत्वों से प्राप्त 'काव्यचमत्कार' अथवा 'काव्यानन्द' का वाचक नहीं है, अपितु वह विशिष्ट प्रकार के आनन्द का, स्थायिभाव के साथ विभावादि के संयोग से जन्य आनन्द का, वाचक है। जिस काव्य में विभावादि तीनों परिपक्व रूप में वर्णित रहते हैं (अथवा विभावादि में से किसी एक अथवा दो के परिपक्व रूप में वर्णित रहने के कारण शेष दो अथवा एक के स्वतःगृहीत हो जाने पर तीनों परिपक्व रूप में वर्णित समझ लिये जाते हैं) वही रस अर्थात् असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य नामक ध्वनि की स्थिति समझी जाती है और रस नामक काव्यतत्व से उत्पन्न काव्यास्वाद भी इन्हीं स्थलों में स्वीकार किया जाता है। यों चाहें तो रस का व्यापक अर्थ—सब प्रकार का काव्यचमत्कार—स्पष्ट शब्दों में कहें तो सभी प्रकार के काव्यतत्वों से उत्पन्न काव्य-चमत्कार—भी ले सकते हैं, किन्तु यह उसका लक्ष्यार्थ ही है, वाच्यार्थ नहीं है, और शास्त्रीय चर्चाओं में वाच्यार्थ के ही बल पर सिद्धान्त प्रतिपादित किये जाने चाहिएं, लक्ष्यार्थ के बल पर नहीं। इस दृष्टि से रस अपनी सीमा में परिबद्ध है, वह काव्य का अनिवार्य तत्व नहीं है।

यहाँ यह शंका प्रस्तुत की जा सकती है कि ऐसा कौन सा स्थल है जो विभावादि से—विशेषतः आलम्बन विभाव से—शून्य हो, और न सही तो विषय एवं आश्रय का सद्भाव तो सर्वत्र अनिवार्यतः रहेगा ही। अतः रस का सद्भाव ही सर्वत्र मानना चाहिए। किन्तु रसयुक्त काव्य में शास्त्रीय दृष्टि से, जैसा कि अभी ऊपर कहा गया है, विभावादि की,

अथवा उनमें किसी एक अथवा दो की, स्थिति परिपक्व रूप में ही विद्यमान रहनी चाहिए। अपरिपक्व स्थिति में इस प्रकार के काव्यस्थल 'प्राधान्येन व्यपदेशा: भवन्ति' इस प्रसिद्ध सिद्धान्त के अनुसार रसादि (असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि) के उदाहरण न माने जाकर ध्वनि के उक्त शेष चार भेदों में से किसी न किसी के उदाहरण माने जाएंगे, न कि रसादि के। एक उदाहरण लीजिए :

एक तारा टूट कर क्या कह गया ?

इस कथन में व्यंग्यार्थ यह है कि कोटि-कोटि नक्षत्रों से भरे आकाश के समान कोटि-कोटि मानवों से भरे इस जगत् में टूटते हुए एक तारे के समान एक व्यक्ति की मृत्यु से क्षण भर का ही विषाद होता है, इससे अन्ततः कुछ अन्तर नहीं पड़ता—संसार तो चलता रहता है। इस काव्य में विभावादि में से केवल आलम्बन-विभाव (तारा और कवि) के विद्यमान होने पर भी शेष दो तत्वों की स्वतः प्रतीति नहीं होती, क्योंकि आलम्बनविभाव परिपक्व रूप में वर्णित नहीं हुआ। अतः इसे किसी रस का अथवा भावोदय का उदाहरण न मान कर वस्तुध्वनि का उदाहरण मानेंगे। क्योंकि शास्त्रीय दृष्टि से, रस (रसध्वनि) अपनी मर्यादा में परिबद्ध है, वह काव्य का अनिवार्य तत्व नहीं है—अनिवार्य तत्व ध्वनि है। क्योंकि रस के उदाहरणों में ध्वनि की सत्ता अनिवार्यतः स्वीकार्य होती है, किन्तु जहां ध्वनि होगी वहां रस (रसध्वनि) अनिवार्यतः स्वीकार्य हो यह सदा आवश्यक नहीं है। किसी काव्य में केवल किसी भाव के अपरिपक्व रूप में वर्णित होने पर उसे रस का उदाहरण स्वीकार करना शास्त्रीय नहीं है।

दो ताजे उदाहरण और लीजिए—

फुटपाथ पर खड़ा-खड़ा सुलगता रहता है
एक सिगरेट
धुंआ छोड़ता हुआ।

(रामदरश मिश्र)

कुण्ठा, तमन्नाओं को पूरा करने की अभिलाषा, घुटन और बेबसी को व्यञ्जित करती हैं ये पंक्तियाँ। यह अभिव्यक्ति शास्त्रीय शब्दावली में 'वस्तुध्वनि' है। इसी प्रकार—

एक अदृश्य टाइप-राइटर पर
साफ-सुथरे कागज सा चढ़ता हुआ दिन।

(श्रीकान्त वर्मा)

घटनाहीन दिन का आरम्भ हुआ, पर यह सारा दिन यों रीता थोड़े बीत जाएगा, कुछ तो घटनाएं घटेंगी ही—यह भी वस्तुध्वनि है। इसे उक्त शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार रस का उदाहरण नहीं मान सकते।

यह ठीक है कि रस (रसादि) अंगी और अंग रूप में वर्णित होने के कारण एक अति व्यापक काव्य-तत्व है, और इस दृष्टि से इसका भाव-फलक अति विशद है, और यही कारण है

कि अधिकांश काव्य इसी के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है,[1] पर स्पष्ट है कि इस दृष्टि से इसे काव्य का अनिवार्य तत्व (साधन) स्वीकार नहीं कर सकते। यह तत्व वही स्वीकार्य होगा जो सर्वत्र विद्यमान हो। आनन्दवर्द्धन रस की इस न्यूनता से परिचित थे और इसी कारण उन्होंने ध्वनि-तत्व की स्थापना की।

निष्कर्षतः काव्य के अनिवार्य, व्यापक एवं आन्तरिक तत्व ध्वनि को ही काव्य की आत्मा (साधन) स्वीकृत करना चाहिए, क्योंकि यही तत्व सब प्रकार के काव्यानन्द (साध्य अथवा सिद्धि) का साधन बनने की पूर्ण क्षमता रखता है।

: ६ :

आनन्दवर्द्धन के सम्बन्ध में समग्ररूप में कह सकते हैं कि काव्यशास्त्रीय आचार्यों में से वह एक युगान्तरकारी आचार्य हैं। इन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना। यद्यपि इन्होंने रस को ध्वनि का ही एक भेद माना है, पर रसध्वनि के प्रति अन्य ध्वनि-भेदों की अपेक्षा इन्होंने अधिक समादर प्रकट किया है। यही कारण है कि अब अलंकार बाह्य आभूषण के रूप में रस के उपकारक मात्र बन गये और वह भी अनिवार्य रूप से नहीं। गुण रीति के विशिष्ट धर्म न होकर रस के ही नित्य धर्म बन गये। रीति संघटना-मात्र तथा रसोपकर्त्री बन गयी। दोषों का अनौचित्य तथा उनकी नित्यानित्य-व्यवस्था रस पर ही आधृत हो गयी। निष्कर्ष यह कि इन्होंने काव्यशास्त्रीय विधान को नयी दिशा की ओर मोड़ दिया। अब भामह, दण्डी, उद्भट और वामन के सिद्धान्त इनके ध्वनि-सिद्धान्त के आगे न केवल बदल गये, अपितु मन्द पड़ गये। इनके प्रतिभाशाली व्यक्तित्व ने काव्यशास्त्रीय आचार्यों में विभाजन-रेखा खींचकर इन्हें दो भागों में विभक्त कर दिया—पूर्वध्वनिकालीन आचार्य और उत्तरध्वनिकालीन आचार्य। इनका प्रख्यात ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' काव्यशास्त्रीय जगत् को एक अमर देन है।

●

१. यहां यह संकेत कर देना अपेक्षित है कि रसध्वनि ध्वनि के अन्य भेदों की अपेक्षा उत्कृष्ट मानी जाती है, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि रस-ध्वनि के उदाहरण ध्वनि के शेष चार भेदों के उदाहरणों की तुलना में, अथवा गुणीभूत व्यंग्य काव्य और चित्र काव्य के भेदों-पभेदों के उदाहरणों की तुलना में काव्य-चमत्कार की दृष्टि से सदा उत्कृष्ट कोटि के ही हों—वे निम्न कोटि के भी हो सकते हैं। वस्तुतः यह सब शास्त्रीय मर्यादा (academic decorum) है, जिसके कारण कभी-कभी काव्य-चमत्कार की दृष्टि से हीन पद्य भी रस के उदाहरण मान लिये जाते हैं। अस्तु !

डा० शिवशंकर शर्मा

आचार्य विश्वनाथ के आलोचना-सिद्धान्त

आचार्य विश्वनाथ ने अनेक ग्रंथों की रचना की जिनमें 'साहित्यदर्पण' अधिक विश्रुत है। इसका निर्माण-काल १३०० से १३८४ ई० के मध्य में माना गया है। यों तो विश्वनाथ कविराज की प्रतिभा अपने में अद्भुत थी, परन्तु आनन्दवर्द्धन, मम्मट और जगन्नाथ की तुलना में उन्हें अधिक महत्व नहीं मिला। उनके 'दर्पण' में काव्य का सांगोपांग विशद रूप दिखलाई देता है। इस ग्रंथ की सी प्रसन्न और प्रवाहपूर्ण शैली साहित्य-शास्त्र के अनेक बहुचर्चित ग्रंथों में भी सुलभ नहीं है। शोध की दृष्टि से 'साहित्य दर्पण' एक सन्दर्भ ग्रंथ कहा जा सकता है इसके द्वारा सहज ही में संस्कृत-साहित्य की गरिमा का आभास मिल जाता है। नाट्य-शास्त्र और नाट्य-कला का 'साहित्य दर्पण' में विस्तरशः निदर्शन किया गया है। विश्वनाथ कविराज नाम से शैव, परन्तु आस्था से वैष्णव ब्राह्मण थे, जिनका परिवार अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य के लिए उत्कल प्रान्त में सुप्रतिष्ठित था।

इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय समीक्षा-पद्धति जितनी प्राचीन है उतनी ही विलक्षण भी है। यह पद्धति विशेष रूप से शास्त्रीय ही कही जाएगी। 'काव्यमीमांसा', 'काव्यप्रकाश', 'साहित्यदर्पण' आदि शुद्ध सैद्धान्तिक समालोचना के ग्रंथ हैं। भारतीय काव्य-शास्त्र बड़ा गंभीर और व्यापक है। इसका लक्ष्य काव्य की चारुता के बाह्यरूप का ही अनावरण करना नहीं, वरन् उसकी आत्मा की खोज करना रहा है। यहां यह संकेत करना उचित होगा कि काव्य शास्त्रीय विवेचन की परम्परा के आदि आचार्य भरत मुनि थे।

आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' के प्रारम्भ में यह घोषणा की है कि काव्य के

सम्यक् अध्ययन से 'चतुर्वर्ग' अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की उपलब्धि हो जाती है। इसके साथ ही उन्होंने काव्यग्रंथ के विवेचन के लिए 'अनुबंध चतुष्टय' अर्थात् अध्येता के अधिकारित्व, प्रधान विषय, प्रतिपाद्य एवं प्रतिपादक के महत्व का निर्देश किया है। यह कहना समीचीन होगा कि काव्य की सर्जना और अनुशीलन दोनों ही बातें धार्मिकता के परिवेश में आती हैं, और इनके द्वारा अर्जित धन से अभिलषित वस्तुएँ भी प्राप्त होती हैं। इस संदर्भ में विश्वनाथ ने हमारा ध्यान इस ओर भी आकृष्ट किया है कि रस की व्यंजना करने वाला प्रत्येक शब्द अपने सुचिन्तित एवं सुप्रयुक्त रूप में लोक-परलोक के मनोरथ को पूर्ण करता है।

साहित्य-दर्पणकार ने आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति नामक तत्वों से युक्त पदसमूह को वाक्य बतलाया है, और वाक्य तथा महावाक्य का परस्पर अंगागिभाव से सम्बन्ध निर्देश किया है। पद का लक्षण बतलाते हुए उन्होंने अर्थ के महत्व पर प्रकाश डाला है जो कि क्रमशः अभिधा, लक्षणा और व्यंजना नामक तीन शब्द-शक्तियों के द्वारा प्रकट होता है। अभिधा आद्या शब्द-शक्ति है। लक्षणा में प्रयोजन-ज्ञान की प्रमुखता होती है। लक्षणा अर्थनिष्ठ होती है, शब्द में तो केवल उसका आरोप किया जाता है। भेद-प्रभेदों की दृष्टि से लक्षणा अस्सी प्रकार की मानी गई है। व्यंजना शक्ति शब्द एवं अर्थादिक में विद्यमान रहती है। कविराज ने व्यंजना को शब्दनिष्ठ और अर्थनिष्ठ होने के अतिरिक्त प्रकृतिनिष्ठ, प्रत्ययनिष्ठ और उपसर्गादिनिष्ठ भी माना है।

विभिन्न आचार्यों ने काव्य के विभिन्न लक्षण प्रस्तुत किए हैं। मम्मट के अनुसार दोषरहित, गुणयुक्त और अलंकार (यदि कहीं न भी हों) से युक्त शब्द और अर्थ काव्य होता है। आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है। और उधर आचार्य वामन ने रीति को ही काव्यसर्वस्व बतलाया है। पंडितराज जगन्नाथ ने ध्वनि-सम्प्रदाय का समर्थन किया। वैसे आचार्य विश्वनाथ ने ध्वनि की अच्छी मीमांसा की है, परन्तु वे थे रसवादी ही। कुन्तक ने रस और ध्वनि को वक्रोक्ति की परिधि में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। इसीलिए विश्वनाथ कविराज ने उनका विरोध किया है। कुछ विद्वानों का विचार है कि मम्मट, विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ समन्वयवादी दृष्टिकोण लेकर चले, और इस प्रकार भारतीय आलोचना-क्षेत्र के अन्तर्गत उन्होंने रस को मान्यता देने का प्रयत्न किया। सभी साहित्याचार्यों के मत-मतान्तरों की सूक्ष्मता और लचीलेपन की परख करना एक विवाद में पड़ना होगा जिसे हम प्रसंग-संगत भी नहीं मानते। अतः आचार्य विश्वनाथ के 'वाक्य रसात्मकं काव्यम्' सिद्धान्त की सटीकता पर प्रकाश डालना ही उचित होगा। रसात्मकं वाक्यं का तात्पर्य उस वाक्य से है जिसका प्राणतत्व रस है और जिसका आस्वादन किया जाए वह रस कहलाता है। इसी से रसाभास, भाव और भावाभास इत्यादि पर विचार करने की प्रवृत्ति को जन्म मिला। उक्त आचार्य ने काव्य और नाट्य पर गंभीरता से विचार करते हुए उनमें रस की महिमा को अक्षुण्ण सिद्ध किया है, क्योंकि वे रस को काव्य की आत्मा मान कर चले। उनकी स्थापनाओं में दार्शनिक पैठ की अपेक्षा साहित्यिकता की विशेष झलक मिलती है।

विश्वनाथ कविराज ने इस बात पर बड़ा बल दिया है कि रसानुभूति करने वाला

व्यक्ति अनिवार्यतः सहृदय होना चाहिए। रसानुभूति के समय उसके अन्तःकरण में रजोगु और तमोगुण दब जाते हैं तथा सत्वगुण का उत्कर्ष होता है। उन्होंने रस को अखण्ड, अद्वितीय, स्वयं प्रकाशरूप, आनन्दमय और चमत्कारपूर्ण बतलाया है। रसास्वाद के समय आस्वादकर्ता को किसी दूसरे विषय का ज्ञान ही नहीं होता। यह ब्रह्मास्वाद की अवस्था कहलाती है जिसके द्वारा सवितर्क समाधि की स्थिति पर पहुँचा जा सकता है। इस स्थिति में आनंद, अस्मिता आदि आलम्बन हुआ करते हैं। रसास्वाद में विभाव आदि मौजूद रहते हैं। रस में चमत्कार अथवा विस्मय का बड़ा महत्व है। रस की अखण्डता प्रतिपादित करते हुए विश्वनाथ ने बतलाया है कि यह विभाव आदि, रति-प्रकाश, तथा सुख एवं चमत्कार से अभिन्न होता है। और रसास्वाद करने वाला सहृदय व्यक्ति निश्चिय रूप से वासनाख्य संस्कार से युक्त होता है। उक्त आचार्य ने बड़ी दृढ़ता से कहा है कि रस आस्वाद रूप ही है, आस्वाद नहीं और रस्यमानता उसका प्राणतत्व है। अतः ज्ञानरूप प्रकाश से यह अभिन्न है। रस व्यंजनारूप है व्यंजनाजन्य ज्ञान का विषय नहीं है। परन्तु अलंकार-शास्त्र यह नहीं मानता। उसके अनुसार व्यंग्य और व्यंजक भाव में अभिन्नता नहीं होनी चाहिए। किन्तु प्रदीपघट वाली युक्ति के द्वारा रस या आस्वाद को व्यंजना का स्वरूप विशेष अथवा उससे विलक्षण मानने में कोई आपत्ति नहीं।

यह एक शंका है कि यदि रस केवल आनन्दमय ही है तो करुण, वीभत्स आदि रसों की क्या स्थिति होगी ? इसके उत्तर में कविराज ने यह कहा है कि काव्य के अन्तर्गत लौकिक दुःख अथवा सुख के कारण भी सुख ही होते हैं। क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि केवल दुःख के कारण ही अश्रुपात होता है, वरन् आनन्द का अतिरेक भी अश्रुपात का कारण होता है। फिर दूसरा कारण वासना या संस्कार माना है जिसका सम्बन्ध वर्तमान और उससे पूर्व जन्म के साथ होता है।

साधारणीकरण का निर्देश करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने यह स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि काव्य-नाटक आदि में निबद्ध आलम्बन और उद्दीपन विभाव सामाजिकों के साथ सम्बद्ध रहकर ही प्रकट होते हैं। इस प्रकार नायक और श्रोता व द्रष्टा के विभावादि का निबंद्ध रहना शास्त्रीय दृष्टि से 'विभावन' व्यापार कहलाता है। यही कारण है कि समुद्र को लांघने वाले हनुमान के सदृश सामाजिकों को भी उत्साह होने लगता है। यह बात भी बड़े ठिकाने की कही है कि अलौकिक व्यापार करने के कारण विभावादि अलौकिक कहलाते हैं, और यह कि लौकिक विभावादिकों से अलौकिक रस की उत्पत्ति होती है। विश्वनाथ ने निष्पत्ति को 'परिणति' के अर्थ में ग्रहण किया है। (सा०द०३/१) इसका तात्पर्य है कि इत्यादि 'विभावन' के द्वारा रसोद्बोध के योग्य बनते हैं, 'अनुभावन' उन्हें रस-रूप में परिणत करता है, और उन रत्यादि को सुचारुरूप से संचारित करने वाला व्यापार 'संचारण' के द्वारा होता है। यह स्मरण, रखने की बात है कि रसोद्बोध के अन्तर्गत विभावादि कारण ही होते हैं, यद्यपि वे कार्य, कारण और संचारी रूप में विद्यमान रहते हैं। और जब अलग-अलग प्रतीत होते हैं तब विभावादि हेतु कहलाते हैं। परन्तु बाद में भावना एवं व्यंजना के

द्वारा सम्मिलित विभावादि की परिणति एक अखण्ड रस के रूप में हो जाती है और उससे एक विलक्षण आस्वाद उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त रस अपरिमित माना गया है। वह इसलिए कि यह अनेक सामाजिकों में एक साथ समान रूप से विद्यमान रहता है। यही कारण है कि 'साहित्य-दर्पण' में रस को अनुकरणीय (रामादि) निष्ठ नहीं बतलाया। यहाँ तक कि वह नट आदि में भी स्थित नहीं रहता, क्योंकि अभिनेता नट रस का आस्वादयिता नहीं हो सकता। वास्तव में केवल अभिनय-शिक्षा और उसका अभ्यास ही रसास्वाद के लिए अभीष्ट नहीं होता। हां, यदि नट काव्यार्थ की भावना के द्वारा रामादि के स्वरूप का प्रदर्शन करे तो रसास्वादक होने के कारण वह सभ्य भी माना जाता है। दर्पणकार ने रस की अलौकिकता और स्वप्रकाशता के कारण उसे ज्ञाप्य नहीं माना। और क्योंकि रस की सत्ता का और उसकी प्रतीति का संबन्ध अपरिच्छेद्य है, इसलिए उसके ज्ञाप्यत्व का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी प्रकार रस कार्य भी नहीं कहा जा सकता। रस की प्रतीति तो विभावादि के समूहालम्बनात्मक ज्ञान रूप से ही होती है। और जब रस ज्ञाप्य और कार्य नहीं है तो वह नित्य भी नहीं है। इसकी स्थिति ज्ञान-काल में ही होती है अन्य काल में नहीं। रस वर्तमान और भविष्यत् दोनों से परे है। यह ज्ञाप्य नहीं है इसलिए वर्तमान नहीं हैं; और आनन्दघन एवं प्रकाशरूप अनुभव का विषय होने के कारण भविष्यत् भी नहीं है। आचार्य विश्वनाथ ने रस को निर्विकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं माना, क्योंकि परमानन्दमय रस में जो आनन्दमयता है वह प्रकारता से ही प्रतिभासित होती है। इसके अतिरिक्त रस अनिर्वचनीय है, जिसका अनुभव चर्वणा के द्वारा केवल सहृदय व्यक्ति को ही होता है। दूसरे शब्दों में रस सविकल्पकज्ञान की सीमा के बाहर है। चर्वणा का अर्थ आस्वादानुभव है (स्वादः काव्यार्थत्यादि, ३/२६।) रत्यादि भाव चर्वणा से अभिन्न हैं और चर्वणा रस से अभिन्न है। दर्पणकार ने भरतमुनि के 'विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद्रस निष्पत्तिः' सिद्धान्त को लक्ष्य करके उत्पत्ति शब्द को गौण बतलाया है। उन्होंने यह स्पष्ट रूप से कहा है कि रस न तो अभिधा के द्वारा वाच्य है और न लक्षणा से लक्ष्य होता है, वह तो केवल व्यंजना शक्ति से ही व्यंग्य होता है। उन्होंने यह भी बतलाया है कि भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता ये सभी आस्वादित होने के कारण रस कहलाते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि यहां 'रस' पद का लक्षणा से प्रयोग हुआ है, क्योंकि भावादि में रसनधर्म का संबन्ध है जो मूलतः आस्वा-दन रूप ही है। डा० नगेन्द्र के शब्दों में रस की संख्या एक भी है और अनन्त भी (रस-सिद्धान्त, पृष्ठ २७३)। विश्वनाथ ने रसों के अन्तर्गत शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त का उल्लेख किया है। ये रस परस्पर विरोधी बतलाए गए हैं। शत्रु या विरोधी रसों का विवरण इस प्रकार है कि शृंगार का विरोध करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक रसों के साथ है, हास्य के विरोधी हैं भयानक और करुण; करुण का हास्य और शृंगार से विरोध है; रौद्र के शत्रु रस हैं हास्य, शृंगार और भयानक, वीर का विरोध भयानक और शान्त रसों के साथ है, भयानक रस के विरोधी

शृंगार, वीर, रौद्र, हास्य और शान्त रस हैं; वीभत्स और शृंगार परस्पर शत्रु रस हैं; और शान्त के साथ वीर, शृंगार, रौद्र, हास्य और भयानक रसों का विरोध बतलाया गया है। परन्तु अद्भुत रस के संबन्ध में विरोधी-रस-विचार एक अपवाद है। विश्वनाथ की उक्त धारणा निर्विवाद नहीं है।

विश्वनाथ के मतानुसार काव्य के दो प्रकार हैं—ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य। ध्वनि काव्य में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ का विशेष चमत्कार होता है। इसे उत्तम कोटि का काव्य माना गया है। ध्वनि पद अधिकरण, करण, भाव और कर्म की प्रधानता होने से अलग-अलग चमत्कारों की सृष्टि करता है। इस प्रकार ध्वनि के द्वारा रसादि की प्रतीति और रसादि व्यंग्य का बोध होता है। ध्वनि के दो भेद किए गए हैं—एक लक्षणामूलक और दूसरी अभिधामूलक। ये ही क्रमशः अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य कहलाती हैं। 'साहित्यदर्पण' में इनके अतिरिक्त शब्दशक्ति और अर्थशक्ति से उद्भूत व्यंग्य और कवि प्रौढ़ोक्ति के द्वारा उद्भूत व्यंग्य का भी निरूपण किया गया है। इस ग्रंथ में शब्दमूलक-ध्वनि के दो, अर्थमूलक के बारह और उभयमूलक ध्वनि (जो केवल वाक्य में होती है) का एक भेद बतलाया है। इनके अतिरिक्त पद और वाक्य दोनों को लक्ष्य करके १७-१७ भेदों का निर्देश किया गया है। ये ही नहीं, वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य के प्रकारान्तर से अर्थध्वनि १०८ भेदों में विभक्त है।

यह एक विलक्षण बात है कि 'काव्य व्यवहार' (उत्तम काव्यत्व) का आधार व्यंग्यार्थ होता है, फिर भी सभी आचार्यों ने व्यंजना शक्ति को एकमत से स्वीकार नहीं किया। विश्वनाथ की मान्यता है कि अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य नामक वृत्तियां जब अपना कार्य कर चुकती हैं, तब रसादि का बोध कराने के लिए व्यंजना की स्थिति माननी पड़ती है। परन्तु अन्य आचार्यों ने तात्पर्य वृत्ति में ही वाक्यार्थ और व्यंग्यार्थ का निर्वाह मान लिया है।

आचार्य विश्वनाथ ने ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य के अतिरिक्त काव्य के दृश्य और श्रव्य नामक भेद भी किए हैं। दृश्य काव्य को रूपक संज्ञा दी गई है, क्योंकि इसके द्वारा रूप का आरोपात्मक ज्ञान होता है। रूपकों की संख्या दस और उपरूपकों की अठारह है। रूपक हैं : नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंक, वीथी और प्रहसन। और उपरूपकों के नाम हैं : नाटिका त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेंखण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका हल्लीश और भाणिका। इस प्रकार अभिनय पर आधारित दृश्य काव्य के भेद किए गए हैं। और श्रवण के आधार पर रचित श्रव्य काव्य गद्य और पद्य दो प्रकार के माने गए हैं। पद्य काव्य का प्रमुख गुण छन्दोबद्धता है जिसकी विविधता के कारण विश्वनाथ ने श्रव्यकाव्य पद्य के मुक्तक, युग्मक, सन्दानितक (विशेषक), कलापक और कुलक नामक भेद प्रस्तुत किए हैं। फिर महाकाव्य और खण्डकाव्य की बात छेड़ते हुए उन्होंने बतलाया है कि महा-काव्य का प्रमुख लक्षण सर्गबद्धता है, शृंगार वीर और शान्त रसों में से कोई एक रस

उसमें अंगी होता है, और उसमें सभी नाटक–संधियों का निर्वाह होता है, इत्यादि। परन्तु खण्डकाव्य में वे सब सन्धियां नहीं होतीं और उसमें काव्य के एक अंश का ही अनुसरण किया जाता है। उक्त आचार्य ने गद्य के चार प्रकार बतलाए हैं—मुक्तक, वृत्तगंधि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक। इसके अन्य भेदों के अन्तर्गत आख्यायिका, आख्यान, चम्पू और विरुद्ध हैं।

काव्य-दोषों को रस का अपकर्षक प्रमाणित करते हुए विश्वनाथ को 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का निश्चित रूप से स्मरण रहा होगा। उन्होंने रस का अपकर्ष तीन कारणों से माना है। पहला कारण है रस–प्रतीति (रसास्वाद) का अवरोध, दूसरा रस की उत्कृष्टता में किसी वस्तु का बाधक होना, और तीसरा कारण है रसास्वाद में विलम्ब होना। पद, पदांश, वाक्य, अर्थ और रस सभी में दोष पाए जाते हैं। इसलिए इन सभी के दोषों की चर्चा की गई है। इनमें से प्रत्येक दोष की गणना और व्याख्या न करके उनका केवल संकेत कर देना ही यहां उचित प्रतीत होता है। पद के अधिकांशतः दूषित होने पर पद दोष; आधा या कम अंश दूषित होने पर पदांश दोष; और यदि कई पद दूषित हों तो वाक्य दोष माना जाता है। शृंगारादि कोमल रसों में दूषित शब्द विघातक होते हैं। परन्तु दुःश्रवत्व जैसा दोष वीर, रौद्र आदि उग्र रसों में दोष न होकर गुण बन जाता है। यही कारण है कि विश्वनाथ ने दोष को अनित्य माना है।

यह स्मरण रखने की बात है कि निरर्थकत्व, असमर्थत्व और च्युतसंस्कारत्व दोष केवल पदों में ही रहते हैं, पदांशों में ये नहीं होते। परन्तु श्रुतिकटुत्वादि दोष पदांशों में भी रहते हैं। वाक्य-दोषों में प्रतिकूलत्व, अधिकपदत्व, अक्रमत्व, भग्नप्रक्रमत्व, प्रसिद्धित्याग, गर्भितता आदि दोषों का उल्लेख मिलता है। अर्थदोषों में अपुष्टत्व, दुष्क्रमत्व, ग्राम्यत्व, साकांक्षता, सन्दिग्धता आदि की गणना की गई है। विश्वनाथ ने रस-दोषों की चर्चा करते हुए बतलाया है कि निम्नलिखित कारणों से रस-दोष उत्पन्न होते हैं: 'किसी रस का उसके वाचक पद से अर्थात् सामान्य वाचक 'रस' शब्द से या विशेषवाचक शृंगारादि शब्द से कथन करना एवं स्थायिभाव और संचारिभावों का उनके वाचक पदों से अभिधान करना, विरोधी रस के अंगभूत विभाव-अनुभावादिकों का वर्णन करना, विभाव और अनुभाव का कठिनता से आक्षेप हो सकना, रस का अस्थान (अनुचित स्थान) में विस्तार या विच्छेद करना, बार-बार उसे दीप्त करना, प्रधान को भुला देना, जो अंग नहीं है उसका वर्णन करना, अंगभूत रस को अतिविस्तृत करना, प्रकृतियों का विपर्यास करना, तथा अर्थ अथवा अन्य किसी के औचित्य को भंग करना।" (सा० द० ७/१२-१५) उक्त दोषों से पृथक अलंकार-दोष नहीं हो सकते, इनके अन्तर्गत ही होते हैं। साहित्यदर्पण में ऐसे उदाहरण भी उपलब्ध हैं जिनमें काव्य-दोष गुण प्रतीत होते हैं। यथा, यदि विरुद्ध रस के संचारी आदि भावों के कथन को प्रकृत रस के किसी भाव से दमित कर दिया जाए तो वह कथन दोष न होकर गुण ही माना जाएगा। इसके अतिरिक्त विश्वनाथ ने दो रसों का अंगांगिभाव भी अनुचित बतलाया है। उनका यह तर्क है कि दो पूर्ण रसों में

विश्रांति स्वतन्त्रतापूर्वक पृथक-पृथक ही होगी, न कि अंगांगिभाव से। इसके अतिरिक्त उनकी यह धारणा है कि मूल रस की स्थिति नायकादि में नहीं वरन् सामाजिकों में ही होती है। वह यह भी कहते हैं कि रस में किसी प्रकार के विरोध की संभावना ही नहीं, चाहे वह आलम्बन में विरोध हो, चाहे आश्रय में अथवा उचित व्यवधान के अभाव के कारण ही। वह इसलिए कि रस तो अपने में अखण्ड और चिदानंद स्वरूप होता है। विश्वनाथ ने अनुकरण को भी दोष का कारण नहीं माना। इसी प्रकार 'औचित्य' की दृष्टि से अन्य दोषों के अदोषत्व, गुणत्व और अदोषगुणत्व पर भी विचार किया जा सकता है।

विश्वनाथ कविराज ने काव्य में अंगीरस के धर्म अर्थात् माधुर्यादि गुणों का वही महत्व बतलाया है जो कि देहस्थ आत्मा के शौर्य आदि गुणों का है। उन्होंने गुण-व्यंजक पद-समुदाय को काव्य की कोटि में रखा है। वह इस कारण से कि गुण वस्तुतः रस के ही धर्म होते हैं। अतएव गुण और रस में अभेद है, और फिर अपने इस अमोघ सिद्धान्त की घोषणा वे पहले कर ही चुके हैं कि रसात्मक वाक्य ही काव्य होता है। इस प्रकार ओज आदि भी रस के ही गुण माने जाएंगे, न कि पदसमुदाय के। 'साहित्यदर्पण' में माधुर्य, ओज और प्रसाद तीन गुणों का उल्लेख है। माधुर्य वह आनंद विशेष अर्थात् द्रुतिस्वरूप आह्लाद है जो अन्तःकरण को द्रुत कर देता है। आस्वाद, आह्लाद और रस मूलतः समानार्थी हैं। और द्रुति को भी रस से अभिन्न माना है। दूसरे शब्दों में द्रुति या द्रवीभाव सहृदय व्यक्ति के चित्त की उस अवस्था का नाम है जिसके अन्तर्गत रति आदि के कारण आनन्द उत्पन्न हो जाता है। इसी को दर्पणकार ने आर्द्रप्रायत्व भी कहा है। 'माधुर्य गुण' की जिन रसों में क्रमशः उत्तरोत्तर वृद्धि होती है वे हैं सम्भोग शृंगार, करुण, विप्रलम्भ शृंगार और शांत। अतः शांत रस में माधुर्य गुण सबसे अधिक मात्रा में विद्यमान रहता है। 'ओज गुण' में दीप्तत्व अर्थात् चित्त का विस्तार होता है, तथा वीर, वीभत्स और रौद्र रसों में यह गुण क्रमशः बढ़ता जाता है। इसके अतिरिक्त 'प्रसाद गुण' की विशेषता यह बतलाई गई है कि यह सहृदय व्यक्ति के चित्त में तुरन्त व्याप्त हो जाता है। इसका निर्वाह सभी रसों और रचनाओं में हो सकता है। यह गुण जिस रचना में विद्यमान होता है वह इतनी सुगम और सुबोध होती है कि सुनते-सुनते ही उसके वास्तविक अर्थ की प्रतीत हो जाती है।

गुण-विवेचन के पश्चात् 'साहित्य दर्पण' में 'रीति' पर विचार किया गया है। इसमें रीति को पदों का संगठन बतलाया है। इसका तात्पर्य है काव्य के शब्दों और अर्थों का संगठन। यह संगठन ही तो रीति कहलाता है। रीति के द्वारा काव्यात्मा रस, भाव आदि का उपकार या उत्कर्ष होता है। रीति के चार भेद किए गए हैं यथा—वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली और लाटी। वैदर्भी रीति की एक विशेषता यह है कि इसमें केवल माधुर्य व्यंजक वर्णों का प्रयोग किया जाता है, और या तो इसमें समास होते ही नहीं और अगर होते भी हैं तो छोटे ही समास होते हैं। गौड़ी रीति का व्यवहार ओजगुण की व्यंजना के लिए होता है। इसमें वर्ण-काठिन्य और समास-बाहुल्य मिलता है। पांचाली रीति के अन्तर्गत जिन

वर्णों का प्रयोग किया जाता है वे न तो माधुर्य के व्यंजक होते हैं और न ओज के ही। इसके साथ-साथ इस रीति में पांच-छह पदों का समास भी होता है। लाटी रीति का विवेचन करते हुए विश्वनाथ ने इसे वैदर्भी और पांचाली की मध्यवर्तिनी बतलाया है। इसका अभिप्राय यह है कि लाटी रीति में वैदर्भी एवं पांचाली दोनों रीतियों के कुछ-कुछ लक्षण मिलते हैं।

अलंकारों को शोभा बढ़ाने वाला; रस, भाव आदि का उपकारक एवं शब्द और अर्थ का अस्थिर धर्म बतलाया है (सा० द० १०।१) इस प्रकार उपमा आदि अलंकार काव्य का अलंकरण ही करते हैं। ये नीरस वाक्य में निवास नहीं करते। इसका अर्थ यह हुआ कि अलंकार रसादिकों को भी शोभायमान किया करते हैं। अलंकार रसादि के अभाव में अलंकार न होकर केवल वैचित्र्य के साधन बन कर रह जाते हैं और गौण वृत्ति से विद्यमान रहते हैं। रीति एवं अलंकार की तुलना करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने उन्हें परस्पर भिन्न बतलाया है। वह इसलिए कि रीति केवल शोभा उत्पन्न करती है उसे बढ़ाने की क्षमता नहीं रखती। परन्तु इसके विपरीत अलंकार शोभा की वृद्धि किया करते हैं। और क्योंकि शब्द और अर्थ दोनों ही काव्य का गठन करते हैं, इसलिए शब्द और अर्थ के अलंकार भी अलग-अलग होते हैं। इसके अतिरिक्त गुण और अलंकार पर विचार करते हुए कविराज गुणों को भी रसादि का उपकारक और शोभावर्द्धक बतलाते हैं और यह कि स्वाश्रय-व्यंजकत्व के कारण वे शब्द व अर्थ में विद्यमान भी रहते हैं। उन्होंने गुणों को स्थिर और अलंकारों को अस्थिर प्रमाणित किया है। इस सम्बन्ध में उनका एक तर्क तो यह है कि अनुप्रास, उपमा इत्यादि अलंकार काव्य के कायारूप शब्द-अर्थ की शोभा को अतिशयित करते हैं और साथ ही काव्यात्मा रस का भी उपकार अथवा उत्कर्ष करते हैं। और वे दूसरा प्रमाण यह देते हैं कि गुणों के सदृश अलंकार काव्य के लिए अनिवार्य नहीं होते। अलंकार-चर्चा के अन्तर्गत विश्वनाथ ने यह भी निर्देश किया है कि रस, भाव, रसाभास और भावाभास तथा भाव का प्रशन क्रमशः रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वि और समाहित अलंकार होते हैं। परन्तु ऐसा तभी होता है जब कि रस और भाव आदि किसी के अंगी बन जाते हैं। (सा० द० १०/९६) इनके अतिरिक्त विश्वनाथ ने भावोदय, भावसन्धि और भावशवलता नामक अलंकारों का भी संकेत किया है। परन्तु उक्त अलंकार सर्वमान्य नहीं हैं।

इस प्रकार 'साहित्यदर्पण' में निर्दिष्ट सिद्धान्तों के अनुसार पूर्ण काव्यालोचन की एक परम्परा और पद्धति प्राप्त होती है। आचार्य विश्वनाथ का भले ही प्रत्येक सिद्धान्त अकाट्य न हो, फिर भी उनकी 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' प्रभृति मान्यताओं के लिए युग-युग के काव्य-मर्मज्ञों को उनका आभार स्वीकार करना पड़ेगा। यदि शास्त्रीय आलोचना के क्षेत्र में उन्हें समन्वयकारी भी मान लिया जाए तो भी उनका महत्व कम नहीं होता वरन् उनके एक उदारचेता साहित्यशास्त्री होने का प्रमाण मिलता है। हमारा अनुमान है कि विश्वनाथ की रसवादिता का मूल स्रोत उनकी सहज रसिकता आदि वैष्णव भावना में सन्निहित था।

●

डा० रामरतन भटनागर

रोमानी आलोचना

: १ :

'रोमानी' (रोमांटिक) और 'क्लासिकल' शब्द यूरोपीय साहित्य चिन्तन के शब्द हैं और परस्पर विरोधी कहे जा सकते हैं। वस्तुतः 'क्लासिकल' के विरोध में ही 'रोमांटिक' की कल्पना हुई है और साहित्य-समीक्षा के ये दो धरातल साहित्य के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण भी कहे जा सकते हैं। प्लेटो, अरिस्टाट्ल, होरेस और लानजाइनस का साहित्य-चिन्तन 'क्लासिकल' है और एडीसन, कॉलेरिज, गेटे और वर्ड्सवर्थ का 'रोमांटिक'। एक प्रकार से इन दोनों शब्दों में प्राचीन और नवीन साहित्य के अन्तर्विरोधों तथा उनकी स्वरूपगत एवं तात्विक विभिन्नताओं की स्पष्ट सूचना मिल जाती है। विरोध और विभिन्नता दो प्रकार के साहित्यों को लेकर है, परन्तु वह अंततः दो जीवन-दृष्टियों का भी परिणाम है। इस तत्व को समझे बिना हम 'रोमानी' साहित्य और समीक्षा की शक्ति और दुर्बलता से पूर्णतः परिचित नहीं हो सकते।

क्लासिकल समीक्षा ही क्यों, समीक्षा और साहित्य-चिन्तन का जन्म प्लेटो से ही होता है और अरिस्टाट्ल द्वारा उसको सुदृढ़ दार्शनिक और वैचारिक भूमिका प्राप्त होती है जो अनेक अंशों में पूरक है और कुछ अंशों में नितांततः नवीन। पश्चिम के इन दो मनीषियों को हम साहित्य-चिन्तन का जनक कह सकते हैं। हमारे यहाँ साहित्य-चिन्तन का व्यवस्थित स्वरूप भरत के नाट्य-शास्त्र में कई शताब्दियों के बाद मिलता है। दो-तीन शताब्दियों का कालान्तर तो निश्चित है ही। बाद में भारतीय साहित्यक जिज्ञासा ७ वीं शताब्दी से १५ वीं शताब्दी तक अनेक सम्प्रदायों की सृष्टि करती है। उसकी अभिव्यक्ति मूलतः दार्शनिक है परन्तु भाषा

तथा रंगमंच को लेकर उसने व्यावहारिक समाधानों के क्षेत्र में भी अपनी प्रतिभा का उपयोग किया है। यह दूसरी बात है कि उसके चिन्तन की दिशाएँ भिन्न हैं और उसने कुछ नए ही मूल्यों का आविष्कार किया है जो यूरोपीय साहित्य और समीक्षा के मूल्यों से भिन्न हैं।

प्लेटो ने नैतिकता, सत्य और बौद्धिकता को श्रेष्ठ साहित्यिक मूल्यों के रूप में स्थान दिया। अरिस्टाट्ल ने इन तीनों पर नए ढंग से विचार किया परन्तु अपनी ओर से रचना के सौष्ठव तथा स्वरूप के सम्बन्ध में नए निष्कर्ष जोड़े। साधारणतः क्लासिकल रचना से हमारा तात्पर्य ऐसी रचना से होता है जो प्राचीन नियमों का अनुसरण करती है और विषय-वस्तु तथा रूप के विषय में सन्तुलन, औचित्य तथा प्रौढ़ता के आदर्शों का निर्वाह करती है। परन्तु रचना के अन्तर्हेतुओं का भी उदात्त होना आवश्यक है और उसमें नैतिकता, वस्तुमत्ता तथा बौद्धिकता के श्रेष्ठतम आयाम अनिवार्य बताये गये हैं। इन अन्तर्हेतुओं के सम्बन्ध में प्लेटो और अरिस्टाट्ल में चाहे मतभेद हो, परन्तु वे उनकी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया और पाठक पर उनसे प्रभाव से ही सम्बन्धित हैं दोनों मनीषी यह मान कर चलते हैं कि कृति का उपयोग जीवनसम्मत है, वह स्वतंत्र और निरपेक्ष आनन्द की वस्तु नहीं है। कृति की जीवनसम्मतता का क्या अर्थ है (१) वह वस्तुमत्ता के अनुकरण से जीवनसम्मत बनती है या कवि, नाटककार अथवा कलाकार के भावजगत में प्रतिबिंबित उसके सूक्ष्म स्वरूप से (२) वह वस्तुजागतिक है या भावजागतिक (३) फिर यह भी प्रश्न हो सकता है कि कृति का आनन्द कहाँ है—जीवन की अनुरूपता में या उससे अधिक उदात्त सृष्टि में, या वस्तु में, या अभिव्यंजना तथा शिल्प की प्रौढ़ता में (४) स्वयं क्लासिकल दृष्टिकोण के भीतर ये ऊहापोह चलते हैं।

साहित्य के तीन गुणों विषयवस्तु, अभिव्यंजना और आनन्द (रस) में से प्लेटो का ध्यान पहले पर केन्द्रित हो गया और अरिस्टाट्ल का दूसरे पर। विषयवस्तु के सम्बन्ध में दो प्रश्न स्पष्ट रूप से उभरते थे—उसमें वस्तुमत्ता (सत्य) की क्या स्थिति है और वह जीवन के प्रति किस प्रकार संवेदित है या उसे किस रूप में प्रभावित करती है। यह दूसरा प्रश्न नैतिकता से सम्बन्धित है, अर्थात् रचना नीतिपरक है या अनीतिमूलक। दोनों ही स्थितियों में रचना की जवाबदेही जीवन के प्रति है, सत्यता में भी और नैतिकता में भी। प्लेटो दार्शनिक की भूमिका से साहित्य को देखता है और उसे सत्य तथा नैतिकता से प्रतिश्रुत करना चाहता है। उपलब्ध साहित्य में उसे जीवन और नैतिकता के सत्य की चरितार्थता नहीं मिलती। वह सत्य से त्रिधा दूर और नैतिकता से रहित होकर अबौद्धिक और भावुकताग्रस्त ही ठहरता है। फलतः वह अस्वाथ्यकर है। चारित्रिक सात्विकता, नीतिमत्ता तथा आत्मसंयम को रचनाकार का आवश्यक गुण बताकर रचना के रूप-सौष्ठव तथा वैचारिक प्रौढ़ता सम्बन्धी त्रुटियों को उसके चरित्र की दुर्बलता में प्रतिष्ठत कर दिया जाता है। यह नीतिवादी दार्शनिक और समीक्षक की दृष्टि है। इसे 'आदर्शवाद' भी कहा जा सकता है क्योंकि प्लेटो का मानदण्ड जीवन का वस्तुन्मुखी सत्य नहीं, सारभूत और सूक्ष्म सत्य है। सत्य और नीति को जीवननिरपेक्ष चिरंतन तत्व मान कर वह साहित्य को चिन्तन की गरिमा तो देता है परन्तु उसके प्राकृत रूप से दूर हट जाता है।

साहित्य और कला व्यक्तिगत और भावगत हैं। उनका सत्य मानवीय बन कर ही सार्थकता प्राप्त करता है और रसात्मक (आनन्दनीय) बनना ही उसकी उपयोगिता है। इसके अतिरिक्त जो कुछ वह दर्शन या विज्ञान है, सर्जनात्मक साहित्य और कला नहीं है। फलतः हम प्लेटो के पास प्रश्नों के लिए जाते हैं, उनके समाधान के लिए नहीं। साहित्य और कला की महान् कृतियों के निर्माण में जिन तत्वों का उपयोग होता है उनको अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से खोज निकाला है परन्तु अपनी बौद्धिकता को वह कला प्रेमी की सहृदयता नहीं दे सका। साहित्य और कला संवेदनाशील हों, नीतिपरायण तथा सत्योन्मुखी हों, यह निर्विवाद सत्य है, परन्तु व्यवहार में संवेदना, नीति और सत्य का निर्वाह किस प्रकार हो?

अरिस्टाट्ल के सामने प्लेटो के प्रश्न तो थे ही, उनके समाधान भी थे। उसने समाधानों से अपनी सहमति प्रगट की परन्तु प्रश्नों को आगे बढ़ाया। अरिस्टाट्ल व्यवहारवादी वैज्ञानिक थे, दार्शनिक नहीं थे। विश्लेषण उनका अस्त्र था। उन्होंने काव्य के मानदण्ड के रूप में त्रासकी का विश्लेषण कर उसके जिन अंगों का उद्घाटन किया वे अंग भी कथात्मक साहित्य पर लागू हैं—कथावस्तु (घटनासमुच्चय), पात्र (चरित्र), रीति (अभिव्यंजना), भावना (संवेदना)। संवेदना पात्रों के क्रियाकलाप का भावात्मक मूलाधार है और भाषा तथा शैली के कौशल द्वारा पात्रों के विचारों और मनःसन्दर्भों को वाणी मिलती है। क्लासिकल रचनाओं के विश्लेषण और मूल्यांकन में यह ढांचा अब भी काम करता है और क्लासिकल रचनाओं से बाहर भी उसका व्यापक रूप से उपयोग हो सकता है। परन्तु त्रासकी की अपनी सीमाएँ भी हैं—वह रंगमंच और संगीत-तत्व की अपेक्षा रखती है और इन्हें साथ लेकर चलने के कारण अरिस्टाट्ल की साहित्यिक संवेदना सीमित हो गई है। कृति के रूप सौष्ठव अथवा संरचना पर बल देकर तथा उसे श्रेष्ठता का मानदण्ड बना कर बहिरंगी समीक्षा को ही अधिक बल दे दिया गया है। त्रासकी, कामदी और महाकाव्य के रूप में तीन साहित्यिक प्रवृत्तियों की सीमा स्वीकार करने के कारण अरिस्टाट्ल की मान्यताएँ सार्वभौमिक नहीं हो सकी हैं। उन्होंने नए चिन्तन को प्रबुद्ध अवश्य किया है। अरिस्टाट्ल ने साहित्य और कला के सत्य को जीवन के सत्य से अलग कर प्लेटो की लांछनाओं का सम्यक् उत्तर दिया। असली चीज है एक-रंगता, परन्तु उसे वस्तुन्मुखी जीवन के सत्य में न खोज कर भाव-जगत में खोजना आवश्यक है। सत्यता या वस्तुमत्ता ऐतिहासिक कोटि की चीज नहीं है, सम्भावनाओं की चरितार्थता है। जीवन की अनेक सम्भावनाओं में से कलाकार और कवि किसी एक को ही अपना आधार बना सकता है परन्तु उस एक सम्भावना के प्रति उसे अन्त तक एकनिष्ठ रहना होगा। प्लेटो ने साहित्य और कला पर अबौद्धिकता और अतिभावुकता की लांछना लगाई थी जिससे समाज के चारित्रिक और नैतिक संगठन में बाधा पड़ सकती थी। परन्तु अरिस्टाट्ल ने 'कैथारसिस' के सिद्धान्त के द्वारा भय और करुणा की भावना से मुक्त नागरिक की कल्पना कर त्रासकी की प्रक्षालनशीलता की एक स्वस्थ प्रेरणा की ओर ध्यान आकर्षित किया। साहित्य और कला की उदात्तीकरण-क्षमता के सम्बन्ध में अरिस्टाट्ल की यह धारणा ही बाद में नए सन्दर्भ लेकर लानजाइनस के 'सबलाइम' (उदात्त) ग्रन्थ में नए क्लासिकल मूल्यों का निर्माण

करती है। बीच में अलेक्ज़ेन्ड्रिया के ग्रीक पण्डितों ने व्यावहारिक समीक्षा की नई पद्धतियों का भी आविष्कार किया और शब्द-शक्ति, अलंकार, भाषा तथा पाठ्य संशोधन सम्बन्धी नए शास्त्रों को जन्म दिया। रोम में सिसरो, क्विन्टीलियन और होरेस ने अरिस्टाट्ल की मान्यताओं के नए संस्करण प्रस्तुत किये। वस्तुतः प्राचीन समीक्षा शास्त्रीय, आदर्शवादी, सौष्ठववादी तथा नैतिक ही कही जा सकती है। उसमें काव्य और कला के एक निश्चित वर्ग की सिद्धि है।

: २ :

इस पृष्ठभूमि में 'रोमानी समीक्षा' एक नया मूलाधार लेकर सामने आती है जिसका सम्बन्ध न जीवन के सत्य से है, न नीति से, न बौद्धिकता से, न रूप-सौष्ठव से। वह एक मात्र आनन्द (सत्य) को उपजीव्य मानती है और रचना में उसी का प्रसार देखना चाहती है। उसने रचना के आनन्द-स्रोतों की व्याख्या करते हुए 'कल्पना' के रूप में नए तत्व का आविष्कार किया है। प्राचीन समीक्षा-दृष्टि संवेगों (अनुभूति-तत्व) पर रुक जाती है, परन्तु उनके मूल में कल्पना-सृष्टि का जो चमत्कार, वैभव तथा आनन्द है उसकी ओर उसका ध्यान नहीं गया है। उसने उसे अलंकरण मात्र मान लिया है। आलंकारिक रचना में अभिव्यंजना का विस्तार ही कल्पित किया गया है, कल्पना के द्वारा रचनाकार और सहृदय के मानस में जो सूक्ष्म तथा सरस आदान-प्रदान चलता है उसका कोई इंगित वहां नहीं है। रोमानी समीक्षा में कल्पना ही साहित्य और कला का सर्वव्यापी तत्व है और यह तत्व कलाकार तथा सहृदय को परस्पर तथा दोनों को जीवन से जोड़ता है। उसके मूल में 'स्मृति' का मनोवैज्ञानिक तत्व है जो आह्लादक बन कर कलाकार और सहृदय दोनों के लिए स्फूर्ति का केन्द्र बनता है।

सत्रहवीं और अट्ठारहवीं शताब्दियों में यूरोप में विपुल मात्रा में सर्जनात्मक साहित्य तैयार हुआ और इस सारी सामग्री को क्लासिकल साहित्य-समीक्षा के सिद्धान्तों पर मूल्यांकित करना असंभव बात थी। फलतः ऐसे नए तत्वों का उद्घाटन आवश्यक हो गया जो मूलभूत हों और साहित्य की सारी विधाओं पर लागू हो सकें। १७७२ ई० में एडिसन ने 'द प्लेअर्स आफ़ इमेजिनेशन' नाम का निबंध लिख कर 'कल्पना' के रूप में एक ऐसे ही व्यापक तत्व का आविष्कार किया। आधुनिक समीक्षा का जन्म इसी निबंध से होता है और रोमानी समीक्षा का मूलाधार भी यही निबंध है। कल्पना को सर्जनात्मक साहित्य का मानदण्ड बना कर श्रेष्ठ रचनाओं में तारतम्यता की स्थापना करने में यह नया तत्व अत्यन्त सार्थक सिद्ध हुआ। साहित्य और कला वस्तुन्मुखी सत्य को कहीं गंभीर और सूक्ष्म रूप में प्रस्तुत करते हैं, इस अनिवार्यता को मान लें तो हमें उस प्रक्रिया से परिचित होना होगा जिसके द्वारा ऐसा संभव होता है। युग के नये मनोवैज्ञानिक ज्ञान को, विशेषतः विचार-सिद्धांत को साहित्य और कला के क्षेत्र में लगा कर यह सिद्ध किया गया कि जीवन के सत्य की अपेक्षा कला का सत्य अधिक मार्मिक होता है और पाठक अथवा दर्शक के मान पर भिन्न प्रकार से प्रभाव डालता है। कलाकार की कल्पना से अभिभूत श्रोता अथवा द्रष्टा का मन अधिक तीखे बिंब एवं अधिक

गति से उभारता है। उसकी कल्पना को प्रदीप्त करने की क्षमता ही रचना की श्रेष्ठता का उपयुक्त प्रमाण है। जो रचना जितनी तीव्रता और प्रगाढ़ता से पाठक या श्रोता या द्रष्टा की कल्पना को जगा सके वह उतनी ही श्रेष्ठ है।

परन्तु प्रश्न यह है कि 'कल्पना' क्या है, उसका मानव-मन से क्या सम्बन्ध है और वह किस प्रक्रिया से उद्दीप्त होती है। एडीसन उसे आत्मा (या मन) की परिपूर्ण और अखण्डित चेतना का प्रसार मानता है। स्मृति, धारणा, संकल्प और कल्पना में से मन के लिये प्रत्येक में से एक का पूर्णतः और समग्रतः उपयोग होता है और ये सब अंततः अविभाजित मानस (या आत्मा) के अविच्छिन्न अंग हैं। कल्पना चाक्षुष स्मृति-चित्रों का सूक्ष्म मानस-बिंबों के रूप में उपयोग करती है और मानस-प्रक्रिया (विचार या चिन्तन) इन्हीं इन्द्रियात्मक संवेदनों के द्वारा मूर्त्त बनती है। एडीसन ने प्राथमिक और द्वितीय कल्पना के रूप में प्रत्यक्षानुभूतिजन्य और स्मृतिजन्य बिंबों की दो श्रेणियां स्थापित की हैं और उनके विचार में साहित्य और कला में द्वितीय श्रेणी की सामग्री का ही अधिक उपयोग होता है। चाक्षुष बिंबों को कलाकार या तो उनके मौलिक रूप में उपयोग में लाता है, उन्हें बदल कर जोड़-तोड़ के साथ अकल्पित रूप प्रदान करता है। इस भूमिका में वह स्रष्टा है और उसकी सौन्दर्य-सृष्टियां प्रकृति के सौन्दर्य तथा माधुर्य का भी अतिक्रमण कर जाती हैं। कला में उपयोग में आनेवाली द्वितीय श्रेणी की कल्पना को एडीसन चाक्षुष और श्रोतीय विभेदों में बाँट कर दृश्य और श्रव्य कलाओं को स्वतंत्र स्थितियां दे देता है। पहले में वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला है, दूसरे में संगति और साहित्य। साहित्य में अर्थपूर्ण नादों का उपयोग प्रतीकों के रूप में होता है और उसमें अन्य कलाओं की अपेक्षा कलाकार माध्यम से बहुत कुछ स्वतंत्र है। सच तो यह है कि साहित्य और कला में ही मनुष्य अपनी मौलिक स्वतन्त्रता और विधातृ प्रतिभा का उपयोग कर सकता है। कल्पना उसकी अन्तः मुक्ति का सर्वोपरि साधन है।

कलाकार का मानस वस्तुस्थिति के प्रति संवेदित होकर साम्य और वैपरीत्य के द्वारा सद्यःप्रसूत बिंबों और विचारों की तुलना, अनुभवकोश में सुरक्षित उन बिंबों और विचारों से करता है जो उसे कलाओं के अध्ययन और मनन से प्राप्त हुए हैं। वस्तुन्मुखी जीवन से असंतुष्ट होकर वह अभिनव स्वप्नों की सृष्टि करता है और कल्पना के मधु में अपने अनुभव की कटुता को डुबा कर एक अधिक पूर्ण जीवन जीता है। वह प्रकृति को अभावों से मुक्त कर उसे नन्दनकुसुमों की शोभा-माधुरी प्रदान करता है और अकल्पित तथा अप्रत्याशित को सम्भव बना कर रस के नए स्रोत उन्मुक्त करता है। उसकी निर्मातृ-प्रतिभा का यह रूप निश्चय ही आकर्षक है। परन्तु अपने शब्दों के द्वारा वह श्रोता या पाठक या द्रष्टा के मन में अपने कल्पना-लोक को वस्तु-जगत से भी अधिक सत्य और मार्मिक बनाकर प्रस्तुत करने में भी सफल होता है। भावुक के मानस में कल्पना के जीवन को जन्म देकर और उसे अधिक संश्लिष्ट विचारों तथा अधिक चमत्कारी रंगों से सम्पन्न कर वह अपने कलाकार नाम को सार्थकता देता है। हमारे विचारों और अनुभवों को कल्पना में रंग कर कवि की वाणी और चित्रकार की तूलिका जिस मायालोक का सजन करती है वह काव्य और कला का प्राण और सर्वोच्च

क्षमता का प्रमाण बन जाता है। कवि की कल्पना-प्रवणता उसकी अंतर्भूत स्वतंत्रता और अन्यतम परिपूर्णता का प्रमाण है। वस्तु और अभिव्यंजना दोनों ही कल्पना द्वारा नए आयाम ग्रहण करते हैं और रसानुभूति अंततः कल्पनात्मक आनन्द का रूप धारण कर लेती है।

सर्जनात्मक साहित्य हमारी कल्पना को किस प्रकार उद्दीप्त करता है, इस संबंध में जर्मनी के लेसिंग ('लेकून', १७६६) और फ्रांस में विक्टर कजिन के कार्य अत्यंत महत्वपूर्ण है और उसके द्वारा हमें विभिन्न माध्यमों की अभिव्यंजना संबंधी सीमाओं की मर्यादा का भी पता चल जाता है। चित्रकला को देश और काव्यकला को काल में केन्द्रित कर एक औपचारिक विभाजन भी प्रस्तुत किया गया है, परन्तु कला मूलतः मानसी होने के कारण उसमें देशकाल की कोई सीमाए नहीं हैं। इस प्रकार का विभाजन अभिव्यंजना की सीमा ही हो सकता है, अनुभूति का नहीं। वस्तुजगत में हमें जो आनन्द देता है वह सौन्दर्य से मण्डित होकर हमारी अंतश्चेतना का विषय बन जाता है। साहित्य और कला में हम उसे उसी रूप में नहीं, कल्पना से संवार-सजा कर प्रस्तुत करते हैं। यही कलाकृति की मौलिकता और मानवीयता है। कलाकार विधाता की तरह परिबद्ध और तटस्थ नहीं रह सकता। वह न स्रष्टा की भांति निर्माता है, न अनुकर्त्ता। वह विधाता की सृष्टि का आदर्शीकरण कर और इस प्रक्रिया में उसे बदल कर वस्तुसत्ता के एक नए स्वरूप का उद्‌घाटन करता है जो कहीं नहीं है परन्तु यथार्थ से कहीं अधिक आकर्षक, ठोस और मार्मिक है। जीवन और प्रकृति मानस द्वारा समीक्षित होकर जिस उदात्तीकृत तथा सौन्दर्य-गर्भित रूप में प्रस्तुत होते हैं वही कला है। कला का स्रोत वस्तुन्मुखी जगत नहीं, भाव-जगत है जो आदर्शचेतस् कल्पना की उपज है। साहित्य में भाषा कल्पना को मूर्त्त करती है और छंद-विधान, लय, बिंब आदि उपकरणों के द्वारा इन्द्रियात्मक जगत के संवेदनों को भावलोक में बदलती है। उसमें रूप-रंग ही नहीं, भाव और विचार भी रूपायित होते हैं।

एडीसन के बाद ड्राइडेन ने वक्रोक्ति (विट) की व्याख्या करते हुए कल्पना को मुख्य स्रोत के रूप में स्वीकार किया। यहां काव्य की भूमिका बौद्धिक या वैचारिक है और कल्पना अर्थात् 'इमेजिनेशन' को नया आयाम मिला है। यह स्पष्ट है कि ड्राइडेन का आदर्श स्वयं उनका काव्य था। परन्तु अधिक व्यापक रूप में हमें नए काव्यसिद्धांत की रूपरेखा कोलेरिज में मिलती है जिन्हें हम अंग्रेजी साहित्य का पहला दार्शनिक समीक्षक कह सकते हैं कोलेरिज ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'बायग्रेफिया लिटरेरिया' (Biographies Litteraia) के चौदहवें अध्याय में 'इमेजिनेशन' और 'फैन्सी' शब्दों की व्याख्या करते हुए दोनों के अन्तर को इस प्रकार स्पष्ट करना चाहा है :

"The first happiness of the Poet's imagination is properly invention, or the finding of the thought ; the second is fancy, or the variation, deriving, or moulding of that thought, as the judgment represents it proper to the subject; the third is elocution, or the art of clothing and adoring that thought, as found and veried, in apt, significant and sounding words; the quickness of imagination is seen in the invention, the fertility

in the fancy, and the accuracy in the expression........" (Quoted by T. S. Eliot: The use of Poetry and the use of Criticism, P. 55.)

"The imagination, then, I consider either as primary, or secondary. (The primary imagination I hold to be the tering power and prime agent of all human perception, and as a repetition in the finite mind of the eternal act of creation in the infinite I am.) The secondary imagination I consider as an echoe of the former, coexisting with the primary in the kind of its agency, and differing only in degree, and in the mode of its operation. It dissolves, diffuses, dissipiates, in order to recreate; or where this process is rendred impossible, yet still at all events it struggles to idealise and to unify. It is essentially vital, even as all objects (as objects) are essentially tied and dead.

"Fancy, on the other hand has no other countes to play with, but fixities and definites. The fancy is indeed no other than a mode of memory emancipated from the order of time and space; while it is blended with and modified by that empirical phenamenon of the will, which we express by the word Choice. But equally with the ordinary memory the fancy must receive all its materials ready made from the law of association." (Ibid, P 76-77)

कोलेरिज की यह व्याख्या पूरागूढ़ है क्योंकि "इमेजिनेशन" और "फेन्सी" में भेद करना कठिन है। स्मृति का तत्व दोनों में रहता है, फिर यह क्यों मान लिया जाये कि वह फेन्सी में ही मिलता है, इमेजिनेशन में नहीं। अनेक पूरवर्ती समीक्षक इस विभेद से सहमत नहीं हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि दोनों में कल्पना के उपयोग और उसकी माता में विभिन्नता है। वस्तुत: कल्पना को हमें व्यापक रूप में ग्रहण करना होगा और स्वयं कोलेरिज ने उसकी सिद्धियों पर कम प्रकाश नहीं डाला है। आइ० ए० रिचर्ड्स ने अपने ग्रंथ "प्रिंसिपल्स आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म" (पृ० १९१) में इन शब्दों में इस सम्बन्ध में विचार किया है :

'That synthetic and magical power, to which we have exclusively appropriated the name of imagination.........revers itself in the balance or reconciliation of opposites or discordant qualities......the sense of novelly and freshness, with old and familiar objects, a more than usual state of emotion, with more than usual order ; judgement ever awake and steady self-possession with enthusiasm and feeling profound or sentiments. The sense of musical delight.........with the power of reducing multitude into veriety of effect, and modifying a series of thoughts by some one prodominent thought or feeling (T. S. Eliot: Op Cit. p. 80)

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि साहित्य और कला की संपन्नता और गहनता के मूल में कल्पना का व्यापक प्रसार दिखलाई पड़ता है। उसमें जिस सूक्ष्म अंतदृष्टि का

समावेश है वह कोलेरिज की रचनाओं में व्यवहृत भी हुई है। उसमें कल्पना को जो क्षेत्र प्रदान हुआ है वह काव्योत्कृष्टता के अनेक पहलुओं को छूता है और उसमें केवल कवि और कलाकार के अपराजित मनःप्रसार तथा निर्बाध आत्मस्फूर्ति को ही प्रश्रय नहीं मिला है, रचना के रूपसौष्ठव और उसकी आंतरिक प्रौढ़ता के लिए भी कल्पना को ही उत्तरदायी ठहराया गया है। कोलेरिज के बाद लेम्ब, हेजलिट और डी-क्विन्सी ने काव्य और कला के महत्व पर नए परिपार्श्वों से प्रकाश डाला है। उन्नीसवीं शताब्दी के समीक्षकों में "कल्पना" का महत्व इतना बढ़ा कि आरनॉल्ड काव्य को जीवन-समीक्षा मान कर भी अन्त में कल्पना पर उतर आते हैं और "इमेजिन्ड रीजन" (कल्पनात्मक तर्क) की बात उठाते हैं। कल्पना जीवन की विविधता और अनेक रूपता को अन्तरंगी एक्य और मानसिक तथा आत्मिक सार्थकता प्रदान कर हमें जीवन की विशदता और सौन्दर्यप्रियता के प्रति उन्मुख करती है। उसे रचना के केन्द्र में प्रतिष्ठित कर रोमांटिक कवि और समीक्षक स्वयं अपने मानस के एक अत्यन्त सशक्त और सर्वग्राही तत्व के विषय में जागरूकता प्राप्त करता है। प्राचीन क्लासिकल कवि का लक्ष्य अनुभूति की गहनता और सार्वभौमिकता है जो "रस" शब्द में पुन्जीभूत है या जीवन की अनुरूपता, औचित्य तथा रूप-सौष्ठव पर बल देती है तो रोमानी कवि "कल्पना" में उसी कोटि की सर्वग्राही तथा सम्पन्न आदि शक्ति को मूर्त्त करता है। दोनों की मूल प्रकृति और रचनात्मक प्रक्रिया में महान अन्तर है। इस भूमिका पर हम "कल्पना" को कवि की सौन्दर्यचेतना का उपकरण मात्र नहीं मान सकते। वह अंशी है, अंश नहीं। यह स्पष्ट है कि उसमें हमारी अनुभूति का विषय बन कर काव्य और कला के अन्तर्हेतुओं और अभिव्यंजना-शैलियों के पुष्ट करने की भी क्षमता है। रोमानी काव्य की तरह रोमानी समीक्षा में भी उसे केन्द्रीय स्थान देना होगा।

: ३ :

अब, देखना होगा कि रोमानी समीक्षा की प्रवृत्तियां क्या हैं और उसकी उपलब्धियों को हम काव्यस्वरूप की स्थापना में कितना ग्रहण कर सकते हैं। संक्षेप में हम उसे इस प्रकार सूत्रबद्ध करेंगे :—

(१) साहित्य का कोई शास्त्र नहीं होता।
(२) कृति के मानदण्ड उसके भीतर ही हैं, बाहर नहीं।
(३) साहित्य में चेतना का सौन्दर्य जीवन के श्रेष्ठतम स्पन्दन का प्रतीक बन कर उभरता है और हमें अपनी सौन्दर्य-चेतना की धार को निरन्तर तीव्र रखना होता है।
(४) साहित्य अ-नैतिक है।
(५) वह भावोन्मुखी जीवन की रसात्मक (आनन्दात्मक) अभिव्यक्ति है।
(६) वह अनुकृति नहीं, नवसर्जन है।
(७) उसमें विशिष्ट तथा व्यक्तिगत को प्रधानता मिलती है, सामान्य (सार्वभौमिक) और अव्यक्तिगत (टाइप) को नहीं।

(८) उसका स्रोत, प्रमाण और प्रभाव कल्पना और उसकी अतिशयता है ।

(९) उत्कृष्ट सौन्दर्यबोध, गहन रसनिष्ठा और भाषा की प्रभावोत्पादकता रोमांटिक साहित्य के विशेष गुण हैं ।

(१०) उसका आनन्द रचना-सौष्ठव में नहीं, विषय तथा अभिव्यक्ति-सम्बन्धी स्फूर्त्ति तथा उन्मुक्ति में है ।

शास्त्र का अर्थ है परिबद्धता । रोमानी काव्य और कला में स्वच्छंदतावादी दृष्टिकोण अभिव्यंजना के व्यक्तिगत और आत्मस्फुरणशील उपयोग तथा अंतश्चेतना के निर्वाध प्रसार के कारण शास्त्र का बोध आवश्यक है । फलतः समीक्षक को प्रत्येक कृति को कवि की प्रतिभा और उसकी प्रतिभा का एक मात्र और अंतिम प्रमाण मान कर अपनी अंतर्यात्रा के लिए स्वतंत्र चिन्ह बनाने होते हैं । धर्म, अध्यात्म, नीति मानवीयता तथा राष्ट्रीयता काव्य के विषय हो सकते हैं, वे काव्य की अंतरात्मा नहीं बन सकते । रोमानी समीक्षा जीवन-चेतना के सूक्ष्म और सुन्दर रूपों की व्याख्या करती है । रोमांटिक समीक्षक को श्रेष्ठ रचनाओं के अध्ययन और मनन से अपनी सौन्दर्यदष्टि को निरतंर परिमार्जित रखना होता है । शास्त्रबद्ध न होकर वह आत्मबद्ध (आत्मिक) ही हो सकती है । उसमें नीति-अनीति का प्रश्न नहीं उठाया जाता क्योंकि ये सौन्दर्यबोध के विषय नहीं । वस्तुन्मुखी जीवन की अपेक्षा रोमानी समीक्षा भावोन्मुखी जीवन की ओर अधिक देखती है । इसीलिए वह अनुकृति नहीं, नवसर्जन है । बाहर को भीतर के साथ मिलाकर वह एक नितांत अभिनव सृष्टि को जन्म देती है ।

समीक्षा के इस रूप में हमें व्यक्तिगत और विशिष्ट बल देना होना होता है क्योंकि सार्वभौम जीवन-चेतना निरानन्द दर्शन और व्यावहारिक विज्ञान का ही विषय हो सकती है । कल्पना को काव्यप्रेरण, संप्रेषण तथा रसास्वादन का मुख्य तत्व मान कर रोमानी समीक्षक मूल्यांकन के नए मानदण्ड गढ़ता है और भाषा, छंद, मूर्त्तिमत्ता (बिंब) सब को नए सिक्कों में ढालता है । ये सिक्के क्लासिकल काव्य के सिक्कों से भिन्न होते हैं । उनकी चमक-दमक अनोखी होती है । उनमें भाव-सत्य तक पहुँचने की अद्‌भुत क्षमता होती है । रोमानी साहित्य और कला में जो समानान्तर जीवन कल्पना के मायालोक का भ्रम उत्पन करता है, कवि और कलाकार की अन्तःस्फूर्ति से मण्डित होकर लो हमें सृष्टि के प्रथम उन्मेष का आनन्द देता है वही समीक्षा के क्षेत्र में विवेचना, व्याख्या और अंतदृष्टि का विषय बनता है । इसके अंतरंग तक पहुँचने के लिए सूक्ष्म अंतर्प्रेरणा, अनामिल सौन्दर्यचेतना तथा अपराजित आस्था की आवश्यकता होती है क्योंकि उसकी परिबद्धता आत्मिक, एकांतिक तथा अनिर्दिष्ट होती हैं । संक्षेप में, रोमानी (स्वच्छंदतावादी) समीक्षा प्रजातंत्री व्यक्तिवादी जीवन से उत्पन्न नई सौन्दर्यचेतना का निकष है जो धूलि को चमका कर स्वर्णकिरण में बदल देता है ।

: ४ :

रोमानी समीक्षा वायवी सृष्टि नहीं । उसका मूलाधार रोमानी (रोमांटिक) साहित्य है अथवा कुछ आगे बढ़ कर रोमानी साहित्य और समीक्षा दोनों को एक व्यापक रोमानी

आन्दोलन की सृष्टि कहा जा सकता है जिसका मौलिक तत्व भावना (फीलिंग) और कल्पना (इमेजिनेशन) के क्षेत्र में व्यक्तिवाद का आग्रह है। इस आन्दोलन में जगत और जीवन व्यक्ति मानव के उपभोग की वस्तु समझे जाते हैं और प्रत्येक मनुष्य को अपने जगत का विधाता माना जाता है। यह आत्म स्वातंत्र्य रोमानी साहित्य, कला और समीक्षा का प्राण है। इनकी परिवद्धता "आत्म" के प्रति है। अस्वीकार और स्वीकार दोनों ने ही रोमांसवाद के व्यक्तित्व को गढ़ा है—बुद्धिवाद से उसका विरोध है और उसने हृदयवाद, आत्मिकता और आत्मिक जीवन को सर्वोपरि माना है। उसने अपने वातावरण से आशावादी और आत्मप्रसारक प्रेरणाएं प्राप्त की हैं। वह व्यक्तिगत है, सांप्रदायिक नहीं, फलस्वरूप उसे "वाद" औपचारिक रूप में ही कहा जा सकता है। उसको परिभाषाओं में बांधना कठिन रहा है क्योंकि व्यक्ति-कवि और कलाकार के अनुरूप उसका स्वरूप भी बदल जाता है। उसे अंततः एक संश्लिष्ट आन्दोलन, काव्यप्रक्रिया या प्रवृत्ति माना जा सकता है।

इस रोमांसवाद के तत्व क्या हैं?

१. व्यक्तिवाद, २. भावना (हृदयतत्व), ३. कल्पना, ४. अतीत-प्रेम, ५. प्रकृति, ६. मानव (सामान्य जन)।

उसकी अभिव्यक्ति में किन तत्वों की प्रधानता है?

१. आत्माभिव्यक्ति का आग्रह, २. जीवन्त रूप-विधान, ३. प्रतीकवाद (प्रतीकों का उपयोग), ४. विशिष्ट काव्यशैली।

भारतीय स्वच्छंदतावाद में अध्यात्मवाद, राष्ट्रीयता, मानव-मुक्ति और सर्वात्मवादी दृष्टिकोण का भी समावेश हो गया है और उसकी भावना की अभिव्यक्ति प्रेम और करुणा के क्षेत्रों में अधिक हुई है। वैष्णव भक्तिवाद, सूफियों और मर्मियों के "प्रेम" (इश्क) और बुद्ध की करुणा ने अद्वैतवादी एकात्मता को हार्दिक बना कर एक विराट् चेतना के रूप में प्रस्तुत किया है। यहां रहस्यवाद, राष्ट्रवाद और मानववाद स्वच्छंदतावाद के अंग बन कर आये हैं और सांस्कृतिक नवजागरण की चेतना भी उसमें अंतर्भुक्त हो गई है। फलतः यूरोपीय या अमरीकी स्वच्छंदतावाद से उसकी प्रकृति और अभिव्यक्ति भिन्न है। आध्यात्मिकता और कल्पना दोनों में एकात्मता की साधना ही पल्लवित होती है, इस सत्य को मान कर भारतीय स्वच्छंदतावादी परोक्ष और प्रत्यक्ष में सौन्दर्य, प्रेम और करूणा की जो ज्योति की गांठ लगा सके हैं वह अनुपम ही कही जा सकती है। भारतीय स्वच्छंदतावादी काव्य मनोविज्ञान पर ही नहीं ठहर जाता, वह अध्यात्म तक पहुँचता है और उसमें कल्पनाजन्य आनन्द तथा आध्यात्मिक (लोकोत्तर) आनन्द अथवा रसवाद का अपूर्व समाहार है। दोनों में ही मानव-मन की सर्वोन्मुक्ति है और एकात्मता के आधार पर मूलभूत एकता का प्रसार है। उसमें भूमा की साधना को ही नई भूमिका दी गई है। कल्पनावाद और रसवाद का विरोध व्यक्तिगत और अव्यक्तिगत, विशिष्ट और सार्वभौम तथा स्वतंत्र और परिबद्ध अथवा अंतःग्रथित और सामासिक

अभिव्यक्ति को लेकर है। भारतीय स्वच्छंदतावादी साहित्य और समीक्षा में इस विरोध का परिहार सौन्दर्य-दर्शन और साहित्यशास्त्र की नई संभावनाओं की सृष्टि करता है।

एक प्रकार का व्यक्तिवाद बुद्धिवाद के साथ भी लगा है परन्तु रोमांटिक जहां शास्त्र को नहीं मानते वहां तर्क और बुद्धि के विषय में भी समादरशील नहीं हैं। उन्होंने बुद्धि का स्थान प्रज्ञा को दे दिया है। है यह प्रज्ञा वह है जो तर्क और चिन्तन के बिना ज्ञान तक पहुँचती है और हृदय की प्रवृत्तियों को पूर्ण रूप से तोष देती है। इस व्यक्तिवाद में परिपूर्ण व्यक्तित्व का समाहार है और भावना तथा कल्पना को केन्द्रीय स्थान मिला है। अपनी अंतर्वृत्ति पर स्थिर होकर मनुष्य विराट् विश्व की परिक्रमा लगा लेता है; फलतः उसके लिए अपरिबद्ध होना अनिवार्य है। अपने प्रति आस्था आत्म-स्वातंत्र्य तथा प्रजातंत्र का बीज है। मनुष्य-मनुष्य के भेद और अभेद दोनों पर ही एकता की नींव रखी जा सकती है। रूसो में भेद पर बल है, वाल्टव्हिटमैन में अभेद पर। कल्पनावाद में व्यष्टि से समष्टि तक पहुँचा जाता है, रसवाद में समष्टि में व्यष्टि को आत्मसात किया जाता है। व्यक्ति-वैचित्र्य कल्पनाधर्मी है तो रसवाद समष्टिधर्मी। एक में मनुष्य मात्र की विशिष्टता पर बल है, दूसरी में एकता पर। सच तो यह है कि मानवता के दो रूप हैं। इन्हें एक ही सिक्के के दो पहलू भी माना जा सकता है। क्लासिकल कला-समीक्षा में समानता या सार्वभौमत्व को महत्व मिला है। इसके विपरीत रोमानी कला समीक्षा में असमानता या मौलिकता (नवीनता) को प्रश्रय प्राप्त है। रसवाद का दृष्टिकोण नियो-क्लासिक युग की समीक्षा दृष्टि के समकक्ष रखा जा सकता है जिसमें सब मनुष्य मूलतः एक ही हैं। उसमें मनुष्य की एकता को महत्व दिया जाता है, वैशिष्ट्य को नहीं; व्यक्ति-विशेष नहीं, सार्वभौम। रसवाद की दृष्टि निर्वैयक्तिक कही जा सकती है, कल्पनावाद की वैयक्तिक। एकता और विशिष्टता दोनों मनुष्य होने के नाते ही हैं, फलतः अस्मिता के दो विभिन्न छोरों पर हम उन्हें पाते हैं। जहां दार्शनिक दृष्टि से समष्टि मानस में समस्त व्यष्टि-मानस समीकृत हो जाते हैं वहां व्यक्ति अपने अहं को अखिल सृष्टि में फैला कर अपनी व्यक्तिमत्ता में सब कुछ समेट सकता है। मनुष्य के ब्रह्म (विराट्) और दैवीय रूप की कल्पना में उसके विराट् या ब्रह्म के प्रतीक होने की कल्पना भी समा जाती है। सर्वव्यापी ईश्वरत्व या सार्वभौम बौद्धिकता का स्थान यदि आध्यात्मिक व्यक्ति ले लेता है तो इसमें व्यक्तिवाद की पराजय कहाँ है? अधिकांश रोमांटिकों के लिए भावुक मनुष्य ही चेतना की इकाई है। उन्होने आत्मा के केन्द्रीय स्थान पर भावना और कल्पना को रख दिया है। उन्होंने सब प्रकार के अनुभवों और सब तरह की अनुभूतियों को अपनी काव्यप्रक्रिया में स्थान दिया है और ऐन्द्रिय हार्दिकता से उसे मार्मिक बनाया है।

अनुभूति भावना का विषय है और भावना हृदय से संबंधित है। उसकी अभिव्यक्ति रति भाव (प्रेम, शृंगार) में होती है। रोमांटिक चेतना में मानव की भावयित्री प्रतिभा का व्यापक रूप से उपयोग हुआ है। रेनेसां के साहित्य की संवेदनात्मक स्फूर्ति को रोमांटिक साहित्य में फिर एक बार जीवित किया गया, परन्तु इस बार उसमें नितांत अंतरंगी और व्यक्तिगत

रूप पर बल था। व्यक्तिगत सुख-दुःख, प्रेम-घृणा, हर्ष-विषाद, आशाकांक्षाएं और कुंठा-भय साहित्य और कला के विषय बने। अत्यन्त सूक्ष्मता और गहनता से हृदय की इन कोमल और सरस हलचलों को अनुभव और अभिव्यक्ति का विषय बनाया गया है। प्रेम, सौन्दर्य और असीम (सुदूर) के प्रति उत्कट लालसा रोमांटिक काव्य और कला का विषय बनी। क्लासिकल काव्य आनन्द (रसानुभूति) का काव्य है तो रोमांटिक काव्य तृष्णा का काव्य जिसमें असन्तोष अतृप्ति और अवसाद ही पल्ले पड़ते हैं। संवेदना (चेतना) के संस्कार और कल्पना की सत्यता को लक्ष्य बना कर रोमानी कलाकार भाव के महासमुद्र में डूब गया। उसके लिए विचार का जगत भी उतना आकर्षक नहीं था। परन्तु क्या वह अतिभावुक था? निश्चय ही वह बौद्धिक और कर्मशील मनुष्य से भिन्न था, परन्तु उसकी भावना सतही और दुर्बल न होकर गंभीर और दृढ़ थी और कल्पना के सहारे वह जीवन के अन्यतम सत्य तक पहुंचना चाहता था। अनुभूति उसके लिए स्वयं मूल्य से कम नहीं थी। कल्पना को अन्तर्ज्ञान या प्रज्ञा का साधन बना कर इन्द्रियातीत सत्य को उद्‌घटित करने का उपक्रम रोमानी साहित्य की विशेषता है। उसने मानवात्मा में नए आयाम जोड़े और मानव-जीवन को नए मूल्य दिये।

कल्पना ही रोमानी साहित्य और समीक्षा का बीजमंत्र है। प्रतिदिन के परिचित जगत, जीवन और प्रकृति को कल्पना से रंग कर अपरिचित, अप्रत्याशित और नित नूतन बना कर कलाकार उन्हें नया रहस्य, आनन्द तथा प्रकाश एवं गौरव प्रदान करता है। काव्य में कल्पना किस प्रकार रसबोध का साधन बनती है, इस विषय में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। सभी समीक्षक और विचारक इस विषय में एकमत नहीं हैं। रोमांटिक साहित्य में अवसाद क्यों है? क्या उसके मूल में ईसाई धर्म की मनुष्य की पापबद्धता या निःसंगता की कल्पना है, या अद्वैतवादी मान्यता के अनुसार जीवात्मा में ब्रह्मविच्छेद की भावना है? क्या उसमें मनुष्य की अपूर्णता की प्रतिध्वनि है या अनागत भविष्यत् के विषय में उसकी लालसा का प्रकाशन है? इसमें सन्देह नहीं कि रोमांटिकों के लिए मध्ययुग ही नहीं, सुदूर पूर्व के वैभव, धर्म और दर्शन का भी तीव्र आकर्षण था। उसका अतीत-प्रेम तो प्रसिद्ध ही है। अद्‌भुत, आदिम और प्रजातांत्रिक का आकर्षण भी कम नहीं हैं। जीवन के सत्य में अतीत और भविष्यत् के स्वप्न के धागे बुन कर उन्होंने साहित्य और कला में मनोरमता, अतीन्द्रियता तथा आनन्दमयता की सृष्टि की है। समीक्षक के लिए यह स्थिति अत्यन्त आशाजनक है।

रोमांटिक काव्य में प्रकृति और (सामान्य) जन को आलम्बन के रूप में स्वतंत्र मूल्य प्रदान किये गये हैं और समीक्षकों ने उनकी व्याख्या में अपनी सारी शक्ति लगा दी है। निस्सन्देह प्रकृति के प्रति रोमांटिकों का उत्कट प्रेम पश्चिमी सभ्यता को मोरीबंद स्थिति से बाहर निकाल कर अभिनव स्फूर्त्ति प्रदान करता है और धर्म के स्थान पर एक नया भाव केन्द्र देता है। हिन्दी के छायावादी काव्य में प्रकृति को आध्यात्मिक चेतना से प्रदीप्त माना गया है और सर्वात्मवादी दर्शन तथा प्रतीकवादी योजना ने उसे मध्य युग के आध्यात्मिक काव्य और कला के समकक्ष नई सवेदनशीलता और प्रगाढ़ता प्रदान की है। रोमांटिक काव्य में जन का प्रवेश वर्ड्स्वर्थ और वाल्ट व्हिटमेन के द्वारा हुआ और मार्क्सवादी काव्यदृष्टि ने उसे

प्रगतिवादी तत्वों से मण्डित किया। हिन्दी में निराला के काव्य में स्वच्छंदतावादी व्यक्तिवाद और मानववादी करुणावाद के दो सूत्र बराबर दौड़ते दिखलाई देते हैं जो आत्मदर्प और सार्वभौम सदाशयता का एक नया समीकरण तैयार करते हैं।

रोमांटिक काव्य की अभिव्यंजना में आत्माभिव्यक्ति का आग्रह विशेष रूप से है क्योंकि कवि अपनी व्यक्तिगत, निजी (प्राइवेट) और निगूढ़ बात कहता है। प्राचीन काव्य की "अनुकृति" का स्थान यहाँ "अभिव्यक्ति" ने ले लिया है। विषय चाहे समाज हो या राष्ट्र या प्रकृति, वह रोमांटिक कवि के काव्य में कवि की आत्मा का प्रकाशन बन जाता है। वह उसके व्यक्तित्व और अनुभवों से रंग लेकर उभरता है और पाठक (या श्रोता) की चेतना पर छा जाता है। फलतः रोमांटिक साहित्य व्यक्तिगत, आत्मकथात्मक और प्रतीकात्मक होता है। महाकवि रवीन्द्रनाथ ने प्रेयसी के नूपुर-शिंजन से टकरा कर अपने मानसी महाकाव्य के खण्डित होकर बिखर जाने की बात झूठ नहीं लिखी है, उसमें रोमांटिक कवि की सीमाएँ ही प्रकट हुई हैं। रोमानी चेतना ने प्रगीत और निबन्ध को विशिष्ट कलाकोटि बना दिया और उनमें तीव्रता, गहनता तथा तात्कालिकता का समावेश कर रेनेसांयुग की रचनाओं की सजीवता तथा उत्कृष्ट मूर्तिमत्ता की याद ताजी कर दी। कवि की विधातृ प्रतिभा ने रूप-सौष्ठव को तंत्रवाद से मुक्त कर उसे अंतःप्रेरणा तथा आत्मशोध का विषय बना दिया। एक प्रकार से वस्तु और रूप का विभेद ही समाप्त हो गया। बिंबों तथा प्रतीकों के नए, सूक्ष्म एवं हार्दिक उपयोग रोमानी साहित्य के नए आकर्षण बने। संक्षेप में, रोमानी साहित्य और कला ने आधुनिक मनुष्य को नए आयाम दिये और उसकी जीवन यात्रा में अंतर्जगत के स्वप्नों और भविष्य की आकांक्षाओं के नए अध्याय जोड़े। रोमानी समीक्षक को इस समस्त संसार को व्यवस्था देने का कार्य करना पड़ा।

विभिन्न देशों और विभिन्न साहित्यों में रोमानी साहित्य और समीक्षा के स्वतंत्र रूप विकसित हुए जिनमें अनेक समान और पूरक उपकरण मिलते हैं। प्रजातंत्री चेतना से उत्पन्न व्यक्तिवाद और मानववाद ने मानव-गौरव का जो नया चित्र मनुष्य के सामने प्रस्तुत किया वह आस्थाप्राण, सर्वस्वतंत्र, विद्रोही, संस्कारी, प्रकृतिप्रिय और आत्मस्थ मनुष्य का चित्र था। रोमांटिक काव्य और कला में इस चित्र को असंख्य नाम-रूप मिले हैं। निस्सन्देह रोमांटिक साहित्य और कला की उपलब्धि क्लासिकल साहित्य और कला की उपलब्धि से किसी भी प्रकार कम नहीं है और उसके समीक्षकों को यह श्रेय देना होगा कि उन्होंने सिद्धान्तवाद से मुक्त रह कर नई सौंदर्यदृष्टि के लिए हमें तैयार किया और रसात्मक बोध के नए रूपों के प्रति हमारी आस्वादन क्षमता को संवेदनशील बनाया।

●

श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

समाजशास्त्रीय आलोचना

साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में जिन आधुनिक आलोचना-पद्धतियों ने अधिक लोकप्रियता प्राप्त की है उनमें समाजशास्त्रीय आलोचना का विशिष्ट स्थान है। यह साहित्य की उत्पत्ति-सम्बन्धी कारणों की खोज करने और उसका बोध कराने की एक विशिष्ट पद्धति है जिसके अनुसार रचना-विशेष के अन्तर्भाव को ग्रहण करने के लिए मूल उत्स—सामाजिक परिपेक्ष्य, के सम्यक् विश्लेषण तथा मूल्यांकन द्वारा उस रचना के मर्म अथवा विशेषता का उद्‌घाटन किया जाता है। मनोवैज्ञानिक आलोचना की भांति इसमें भी किसी रचना के मूल उत्स की ओर जाकर उसे परखने अथवा समझने की प्रवृत्ति पायी जाती है। दोनों में मुख्य अन्तर केवल इतना है कि मनोवैज्ञानिक आलोचना में जहां रचयिता के आभ्यन्तरिक भावोद्रेक की स्थिति के उद्‌घाटन पर बल दिया जाता है, वहां समाजशास्त्रीय आलोचना में अधिकतर रचना-विशेष के बाह्य प्रेरक स्रोतों के विश्लेषण विवेचन पर ध्यान केन्द्रित रखा जाता है।

ऐसी दशा में यह पूछा जा सकता है कि जिस आधार पर मूल प्रेरणा-स्रोतों की व्याख्या प्रस्तुत की जाती है वह सैद्धान्तिक है अथवा विवरणात्मक? फिर, उस आधार पर हम केवल परिस्थिति का परिचय मात्र दे सकते हैं अथवा साथ ही साथ कोई ऐसा निर्णय भी दे सकते हैं जिसका कोई मूल्य और महत्व हो? एक अन्य प्रश्न यह भी उठाया जा सकता है कि यदि वह आधार सैद्धान्तिक है तो हमारे पास कोई ऐसी कसौटी अवश्य होनी चाहिए जिस पर उसे परख कर हम कोई ऐसा निर्णय दे सकें जिसके अनुसार रचयिता की जो

सामाजिक परिस्थिति उसकी रचना का प्रेरणा-स्रोत रही है वह स्वतः उस रचना में उतर आई है ? यदि वह सैद्धान्तिक नहीं है तो एक अन्य प्रकार का यह प्रश्न भी हो सकता है कि हम साहित्य के इतिहास-लेखक और समाजशास्त्रीय आलोचक के बीच किस आधार पर कोई विभाजक रेखा खींच सकते हैं ? अथवा, किस कोटि के तथ्यों के मूल्यों को हम रचना-विशेष का मूलाधार स्वीकार कर सकते हैं ?

समाजशास्त्रीय आलोचना समाजशास्त्रय की नींव पर खड़ी है। समाजशास्त्र द्वारा हमें मनुष्य की स्थिति, स्तर और आवश्यकता का पता चलता है। अपने आप में समाजशास्त्र का सैद्धान्तिक होना अथवा न होना विवादास्पद हो सकता है, किन्तु यह निर्विवाद है कि समाज-शास्त्र द्वारा जो ज्ञान हम अर्जित करते हैं उसके द्वारा हमें समाजशास्त्रेतर विषयों के सम्बन्ध में भी तथ्य प्राप्त होते हैं। सामाजिक तथ्यों के आधार पर ही हम नैतिक अथवा राजनीतिक जैसे निष्कर्षों पर पहुँच पाते हैं। समाज में ही हमें मनुष्य के बुरे-भले व्यवहारों की पहचान होती है। इस प्रकार समाजशास्त्र अपने आप में सैद्धान्तिक न होने पर भी सामाजिक आवश्यकता और उपयोगिता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है और हम सामाजिक ढांचे तथा उसकी मान्यताओं पर विचार करने को बाध्य होते हैं। साहित्य रचना के मूल में जहां आवश्यकता और उपयोगिता की प्रेरणा होती है, वहां एक उद्देश्य भी निहित रहता है जो समाज-सापेक्ष भी है। समाजशास्त्रीय आलोचना में इन सभी बातों का समावेश रहता है।

परन्तु कठिनाई यह है कि यदि हम किसी युग के सामाजिक मूल्य और महत्ता को जान भी लें तो उससे किसी रचना की आलोचना करने में हमें कितनी सहायता मिल सकेगी ? हम इतना तो कह सकेंगे कि किसी समाज के युग-विशेष में अमुक प्रकार का साहित्यसर्जन हुआ, हम युग-विशेष के प्रधान स्वर की चर्चा भी कर लेंगे, किन्तु क्रिया-विशेष को परम्परा-विशेष से जोड़ कर देख पाना सब समय सम्भव न होगा। क्योंकि क्रिया-विशेष किसी वर्ग विशेष की प्रधानता को ही सूचित कर सकेगी। इसका सम्बन्ध "क्या लिखने-पढ़ने" से लेकर "क्यों लिखने-पढ़ने" तक जुड़ा है। ये तथ्य साहित्य के इतिहास के काम आ सकते हैं' किन्तु इनका आलोचना में कितना उपयोग हो सकेगा ? यहाँ पर विषय-वस्तु के सम्बद्ध सामाजिक योग्यता का सिद्धान्त जितना फलप्रद हो सकेगा कदाचित् उतना सामाजिक उपयोगिता का नहीं।

समाज पर जब सुविधा-प्राप्त लोगों अथवा आभिजात्य वर्ग का आधिपत्य स्थापित रहता है तो कला-परिष्कार के नाम पर कलाबाजी का जोर बढ़ जाता है। "कला के लिए कला" का नारा इसी वर्ग की देन है, जहाँ विषय-वस्तु का स्थान गौण बन जाता है। साहित्य-रचना पर इसका प्रभाव पड़ता है अवश्य, किन्तु आलोचक के लिए यह कितना उपयोगी है ? कला को अनावश्यक रूप से अधिक महत्व देने का मतलब है कि हम उस समाज को हीन अथवा पिछड़ा हुआ समझें जिसमें आदर्श कलाकारों की संख्या स्वभावतः कम अथवा नगण्य है। ऐसी दशा में आलोचक की यह धारणा भी हो सकती है कि नये साहित्य-रूपों के

प्रवेश तभी संभव हुए जबकि पुराने साहित्य–रूप नये भावों को वहन करने में अशक्त हो चुके थे। इसलिए वह उसकी भर्त्सना तक कर सकता है जबकि सब समय यह सिद्धान्त समान रूप से लागू नहीं होता है। सामुदायिक विश्वास के भंग हो जाने पर निजी संसार का विकास होता है। इसके मूल में आर्थिक तथा सामाजिक प्रेरणाएं गति प्रदान करती हैं जिसका एक निश्चित प्रभाव साहित्यिक शिल्प-विधि के स्वरूप पर भी पड़ता है। ऐसी अवस्था में सामाजिक मूल्यों की चेतना से अधिक व्यक्ति-बोध की अर्न्तदृष्टि काम करती है जिसके फलस्वरूप साहित्य-रचना व्यापक रूप से प्रभावित होती है।

कभी-कभी इस प्रश्न को लेकर भी विवाद उठ खड़ा हो जाता है कि जो मूल्य कारण के लिए ठीक है उसे क्या कार्य के लिए भी उचित ठहराया जा सकता है ? इस प्रश्न का सीधा उत्तर देना सरल नहीं है। फिर भी इतना तो निश्चित है कि कारण रूप में सामाजिक मूल्य चाहे जो भी रहें कार्य रूप में उन्हें सब समय हम स्वीकार नहीं कर सकते। साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में तभी हमें स्वीकार्य हो सकते हैं जबकि उनके द्वारा हमें समाज-कल्याण होने का विश्वास हो जाय। समय-विशेष की परिस्थिति ऐसी भी हो सकती है जिसे हम अस्वीकार कर दें, किन्तु उस समय भी ऐसे साहित्यिक मूल्य निर्धारित हो सकते हैं जिन्हें स्वीकार किये बिना हम नहीं रह सकते। साहित्यिक मूल्यों का निर्धारण करते समय हम केवल समाज-विशेष का ही ध्यान नहीं रखते, अपितु पूरे मानव-समाज के परिपेक्ष्य में उसका हम मूल्य-निर्धारण करते हैं। इस प्रकार सामाजिक मूल्यों और साहित्यिक मूल्यों में कभी-कभी अन्तर का आ जाना संभव है।

मार्क्सवादी आलोचकों का यहां मतभेद हो सकता है, किन्तु साहित्य के क्षेत्र में किसी पूर्वाग्रह को आलोचना की कसौटी नही माना जा सकता। हमें पता है कि अवांछनीय स्थितियों में भी कल्याणकारी बातें सूझ जाया करती हैं और वांछनीय स्थितियों तक में अहितकर घटनाएँ घट जाया करती हैं। इस प्रकार अधोमुख समाज में भी उत्कृष्ट साहित्यिक कृतियों का सर्जन सम्भव है और समुन्नत समाज तक में निकृष्ट रचनाओं का निर्माण हो सकता है। ऐसा क्यों और कैसे सम्भव होता है, इसका उचित समाधान किसी पूर्वाग्रह द्वारा देना कदाचित् सन्तोषप्रद न हो। वास्तव में वस्तु-निर्माण की भाँति साहित्य-रचना यांत्रिकता की अपेक्षा नहीं रखती। निश्चय ही साहित्यिक कृति के मूल में भी सामाजिक प्रेरणा सहायक होती है, किन्तु वह किसी वस्तु की भांति केवल आवश्यकता की पूर्ति नहीं करती, अपितु सौन्दर्य मूलक दृष्टि का निखार तथा परिष्कार भी करती है।

कलात्मक वस्तु की परख और पहचान के लिए हमें इतिहास का आश्रय भी लेना पड़ता है और इस प्रकार आलोचना का सम्बन्ध इतिहास से भी जुड़ जाता है। यहाँ समाज और इतिहास अपने आप में आलोचना न होकर उसमें सहायक बन जाते हैं। कभी-कभी समाज का विवरणात्मक परिचय साहित्यिक रसास्वादन में सहायक बन जाता है।

परन्तु समाजशास्त्रीय आलोचना का क्षेत्र इससे कहीं अधिक विस्तृत और महत्वपूर्ण

है, इसके द्वारा पाठकों के ज्ञानवर्द्धन में भी वह सहायक बन सकता है। समाजशास्त्रीय आलोचक ऐसी सामाजिक त्रुटियों अथवा विशेषताओं की ओर भी संकेत कर सकता है जिस ओर सामान्य पाठक का ध्यान नहीं भी जा सकता था। वह सामाजिक कारणों के परिप्रेक्ष्य में विषय को अधिक बोधगम्य बना सकता है। एक ही घटना किस प्रकार विविध सामाजिक परिवेश की नाना प्रेरणाओं से विभिन्न रूपों में वर्णित की जा सकती है इसका निदर्शन सम्यक् रीति से कराना समाजशास्त्रीय आलोचक के लिए ही शक्य और सम्भव है।

किसी रचना की सामाजिक पृष्ठभूमि और उस रचना पर उस पृष्ठभूमि का प्रभाव जानने की आवश्यकता बहुत कुछ समाजशास्त्रीय आलोचक को रहा करती है। पहली स्थिति में उस पृष्ठभूमि के विवरण की आवश्यकता होती है जिसमें रचना सम्पन्न होती है और दूसरी दशा में रचना-विशेष पर उसके प्रभाव की जांच-परख की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु जो बात गद्य-साहित्य पर लागू होती है वह समान रूप से गीति-काव्य पर घटित नहीं होती। यही कारण है कि समाजशास्त्रीय आलोचना के लिए जितना सफल प्रयोग गद्य-साहित्य के लिए संभव है उतना गीति-काव्य के लिए नहीं, कारण, गद्य-साहित्य में मानव सुलभ आचार-विचार के फलीभूत होने का जितना अवकाश और अवसर रहता है उतना गीति-काव्य में नहीं ? गीति-काव्य में व्यक्तिगत सत्य का भावात्मक पक्ष ही मुखर रहता है। किसी रचना की उत्कृष्टता के लिए यह आवश्यक है कि उसमें अंकित मानव-सुलभ क्रियाओं और नैतिक मूल्यों की विशिष्टता पाठकों के लिए सहज ही बोधगम्य बन जाय। किसी समाज की आलोचना करना उतना कठिन नहीं है, जितना उसकी प्रचलित मान्यताओं की उपेक्षा कर जाना। इसलिए भावनाओं के तारतम्य और सामाजिक मान्यताओं के सम्बन्ध का पता लगाना अनिवार्य हो जाता है। क्योंकि एक ही प्रकार की भावना की अभिव्यक्ति विभिन्न सामाजिक मान्यताओं के परिवेश में परस्पर भिन्न रूप धारण करती दिखाई देती है। इस प्रकार समाजशास्त्रीय आलोचना किसी रचना के मूल उत्स का उद्घाटन करने के साथ ही साथ हमारे साहित्यिक बोध की सीमा और सामर्थ्य को भी बढ़ाती है।

डा० कन्हैयालाल सहल
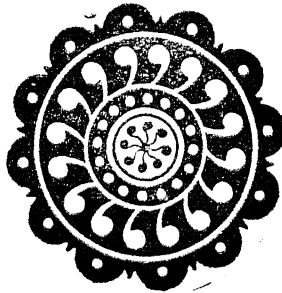
नई आलोचना

केवल प्रभाववादी आलोचना के आधार पर साहित्य का सम्यक् मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। इसलिए आइ० ए० रिचर्ड्स जैसे आलोचकों ने साहित्यालोचन की एक विशिष्ट पद्धति की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। रिचर्ड्स ने इस बात पर बल दिया कि काव्य एक व्यवस्थित प्रक्रिया है जहाँ अन्त: प्रेरणाओं का संकलन अथवा संगठन पाया जाता है और इसीलिए काव्य का भी व्यावहारिक विश्लेषण किया जाना चाहिए।

टी. एस. ईलियट ने भी सन् १९२३ में लिखा था कि समीक्षण का कार्य मूलत: व्यवस्था का कार्य भी है। भाषावैज्ञानिकों ने तो ध्वनिग्राम (Phoneme) और रूप-मात्र (morpheme) द्वारा भाषा का व्यावहारिक विश्लेषण किया है किन्तु प्रश्न यह है कि साहित्यालोचक भी क्या काव्य का उसी प्रकार का प्रायोगिक विश्लेषण कर सकते हैं? पाश्चात्यालोचन के इतिहास में दोनों महायुद्धों के मध्यवर्ती समीक्षकों को 'नव्य समीक्षक' के नाम से अभिहित किया जाता है। अमरीका के नव्य आलोचक इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि समीक्षण विज्ञान नहीं है और इसे विज्ञान का रूप देना क्रम को उलट देना होगा। नव्य समीक्षण के प्रमुख अमरीकी पृष्ठपोषक श्री जे. सी. रैनसम काव्य के मूल्य-निर्धारण के हेतु रिचर्ड्स द्वारा प्रयुक्त विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान के अत्यधिक प्रयोग को आशंका की दृष्टि से देखते हैं। वे भी इतना तो स्वीकार करते हैं कि समीक्षा का वैज्ञानिक और व्यवस्थित रूप धारण करना परमावश्यक है किन्तु उनके मतानुसार इस प्रकार की वैज्ञानिकता विद्वानों

के वस्तुगत सामूहिक प्रयत्नों द्वारा ही साध्य है ।

नव्य आलोचक यह नहीं चाहते कि एकान्त बुद्धि की सहायता से साहित्यिक कृतियों का वैज्ञानिक परीक्षण किया जाय । किन्तु वे यह वांछनीय समझते हैं कि शब्द-विन्यास, संमूर्तन काव्य-रूप के अध्ययन में भाषा-विज्ञान से कहाँ तक सहायता ली जा सकती है, यह भी विचारणीय है। जहाँ तक शब्दावलि का सम्बन्ध है, विज्ञान और काव्य में एक बड़ा अन्तर दृष्टिगोचर होता है । विज्ञान में इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि शब्दों को पूर्णतः निश्चित अर्थ दे दिया जाय जिससे उनका अर्थ न राई घटे, न तिल बढ़े किन्तु काव्य में अर्थ का इस प्रकार का स्थिरीकरण संभव नहीं । कविगण शब्दों में नया-नया अर्थ भरते रहते हैं, अनेक शब्द जब पुराने पड़ कर मृतवत् कोश में सोये रहते हैं, नूतन प्रयोगों द्वारा सर्जनशील कलाकार उनका कायाकल्प कर उनमें स्फूर्ति और ओज भर देते हैं जिसके कारण यह भास होने लगता है मानो शब्दों को पुनर्जीविन मिल गया है। लक्षणा और व्यंजना कवि की ऐसी दो आँखें हैं जिनके द्वारा वह शब्दों के अन्तस्तल में प्रविष्ट होकर नये-नये अर्थों की झाँकी संसार को दिखा जाता है । इससे स्पष्ट है कि काव्यालोचन में भी भाषा-विज्ञान की उस शाखा से, जिसे अर्थ-विज्ञान कहते हैं, सहायता ली जा सकती है । पाश्चत्य नव्य समीक्षक भी अपने समीक्षण-कार्य में इस प्रकार की सहायता को उपादेय मान कर चलते हैं ।

टी० एस० इलियट ने निर्वैयक्तिकता पर बहुत बल दिया है जिसका प्रभाव नई आलोचना पर भी स्पष्टतः परिलक्षित होता है । उन्हीं के शब्दों में "The progress of an artist is a continual self-sacrifice, a continual extinction of personality."[1] कवि माध्यम बनकर परम्परागत प्रभावों को कलात्मक रूप प्रदान करता है। रचना के समय उसका निजी व्यक्तित्व लुप्त हो जाता है ।[2] किन्तु कवि की निर्वैयक्तिकता का यह अर्थ नहीं है कि उसकी निजी मान्यताएँ नहीं होतीं अथवा यदि होती भी हैं तो वह अपनी कृतियों में उन्हें अभिव्यक्त नहीं करता । सच तो यह है कि तीव्र और व्यक्तिगत अनुभूति के द्वारा ही कवि एक सर्वसामान्य सत्य को वाणी देने में समर्थ होता है ।[3]

कवि अपनी संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के लिए वस्तुमूलक चिन्हों (Symbols) से काम लेता है जिससे अमूर्त भावनाएँ मूर्त रूप में प्रस्तुत की जाती हैं। इसी संदर्भ में इलियट ने वस्तुमूलक प्रतिरूपता (Objective co-relative) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। किसी भावना और प्रतिरूप वस्तु अथवा प्रतीक में सामंजस्य होने पर ही कवि को सफलता मिल सकती है, अन्यथा नहीं। शेक्सपियर के 'हैमलेट' पर अपने उक्त सिद्धान्त को प्रतिफलित करते हुए इलियट इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि हैमलेट को अपनी माता के प्रति घृणा है

---

[1] Selected Essays, p. 17.

[2] साहित्य-सिद्धान्त (डा० रामअवध द्विवेदी) पृ० १६६

[3] T. S. Eliot and the New critics (N. S. Subramanyam)

किन्तु वह अपनी माता के विरुद्ध सक्रिय कदम नहीं उठा पाता—इसका स्पष्ट कारण यह है कि उसकी माता उसकी घृणा के अनुरूप पात्र नहीं है। यहाँ पर 'कामायनी' से उदाहरण देना और भी उपयुक्त होगा। श्रद्धा-भाव की अभिव्यक्ति के लिए प्रसाद ने जो पात्र चुना है, वह वस्तुगत प्रतिरूपता (objective co-relative) का बहुत सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। 'कामायनी' की सफलता के अन्य अनेक कारणों में से यह भी एक मुख्य कारण है।

हिन्दी में नव्यालोचन का स्वरूप

नई कविता के साथ-साथ हिन्दी साहित्य में नव्यालोचन का भी एक विशिष्ट रूप हमारे सामने आया। नये कवियों ने स्वयं अपनी काव्य-सम्बन्धी प्रतिक्रियाओं को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जिससे कवि-समीक्षकों का एक विशेष वर्ग ही हमारे समक्ष आ गया।

नये कवि की मान्यता यह है कि समीक्षा के क्षेत्र में रस का सिद्धान्त पुराना पड़ गया है इसलिए बदलती हुई परिस्थितियों में काव्य-मूल्यांकन के मान भी बदलने होंगे। साधारणीकरण की अपेक्षा भी नया कवि और नया समीक्षक विशेषीकरण पर बल देने लगा है। अनेक नये कवि ऐसे हैं जो रस की अपेक्षा बिम्ब और प्रतीकों को विशेष महत्व देते हैं।

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में एक वर्ग ऐसा भी है जिसने रस-सिद्धान्त को सभी कसौटियों पर परख कर यह निष्कर्ष निकाला है कि रस-सिद्धान्त नव्य से नव्य समीक्षण की चुनौती को सफलतापूर्वक अंगीकार कर सकता है।

नया आलोचक आज नूतन भाव-बोध, नूतन सौंदर्य-बोध तथा अर्थ-लय आदि की चर्चा कर समीक्षण के नये मानदण्ड स्थिर करने में लगा है। आज नई कविता और नई कहानी की चर्चा विशेष रूप से सुनाई पड़ती है। मैं समझता हूँ, 'नई आलोचना' की चर्चा उससे भी अधिक आवश्यक है।

टी० एस० इलियट का अभी दो-तीन वर्ष पूर्व को देहान्त हुआ है। पाश्चात्य नव्यालोचन को प्रभावित करने में इलियट का बड़ा हाथ रहा है। इलियट की निम्नलिखित स्थापनाओं का पाश्चात्य नवीन समीक्षा पर अतिशय प्रभाव पड़ा है—

१. कला में निर्वैयक्तिकता का सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

२. संवदेना और वस्तुगत प्रतिरूपता में सामंजस्य होने पर ही काव्य सफल होता है, अन्यथा नहीं।

३. काव्य में व्यवस्था और संघटन अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

४. कवि यदि परम्परा को भुला कर केवल अपने व्यक्तिगत दुःख-दर्द की कथा कहने लगे तो उसका महत्व घट जाता है।

जहाँ तक मैं समझता हूँ, इलियट का कला-विषयक निर्वैयक्तिकता का सिद्धान्त भट्ट-नायक द्वारा प्रतिपादित 'साधारणीकरण' से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। हिन्दी साहित्य में नये कवि जिस प्रकार की काव्य-रचना आज कर रहे हैं, उसमें वैयक्तिक घुटन, कुढ़न, ईर्ष्या, व्यंग्य आदि का ही चित्रण उभर कर हमारे सामने आ रहा है। काव्य में जिस संघटन और व्यवस्था

की चर्चा ऊपर हुई है, उसका भी सर्वथा अभाव नई कविता में दिखलाई पड़ रहा है।

टी० एस० इलियट ने काव्य-मूल्यांकन के जो मान निर्धारित किये हैं, उनकी कसौटी पर कसे जाने पर नई कविता खरी नहीं उतरती।

कहा जाता है कि हमारे जीवन में जब आज व्यवस्था नहीं, तब काव्य में व्यवस्था की आशा करना व्यर्थ होगा। यह भी अनेक बार दोहराया गया है कि पुराने मानदण्डों से नई कविता का मूल्यांकन अवांछनीय है।

प्रश्न यह है कि 'नव्यालोचन' का कोई रूप क्या आज हमारे सामने है? यदि है तो क्या उसकी कोई विशिष्ट पद्धति (Methodology) है? साथ ही यह भी विचारणीय है कि पुरालोचन और नव्यालोचन की विभेदक रेखा कहाँ से प्रारम्भ होती है?

डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'
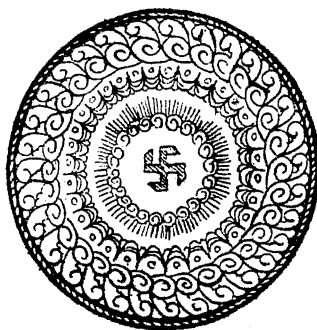
परिचयात्मक आलोचना

परिचयात्मक आलोचना आलोचना का वह प्रकार है जिसमें नवीन पुस्तकों की आलोचना पत्र-पत्रिकाओं में इस आशय से की जाती है कि पाठक यह समझ लें कि किस विषय की कौन-सी पुस्तक प्रकाशित हुई और वह हमारे लिए कहाँ तक उपयोगी अथवा अनुपयोगी है। अंग्रेजी में आलोचना के इस प्रकार को 'रिव्यू' कहा जाता है। वैब्स्टर द्वारा लिखित 'अमरीकी भाषा के नूतन विश्व कोश' के आधार पर 'रिव्यू' का अर्थ है—समाचार पत्र अथवा मासिक पत्रिका में प्रकाशित वह आलोचनात्मक विचार-विमर्श अथवा लेख, जिसमें विशेष रूप से किसी नवीन पुस्तक, नाटक अथवा संगीत समारोह की चर्चा की गई हो। व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'रिव्यू' के पुर्नानिरीक्षण, पुनरावलोकन, सिंहावलोकन, आदि अर्थ होते हैं। कारण, एक बार स्वयं किसी पुस्तक का प्रणेता अथवा किसी नाटक या संगीत समारोह का प्रस्तोता जिस सामग्री को हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है उसे अपनी दृष्टि से देख चुका होता है और सब प्रकार से आश्वस्त होकर ही उसे पाठक अथवा दर्शकों के समक्ष उपस्थित करता है। पत्र-पत्रिकाओं में उसकी चर्चा दूसरी बार होती है। उस चर्चा में चर्चा करने वाला व्यक्ति उस रचना विशेष पर समग्रतः विचार करके उसके निमित्त निर्धारित शास्त्रीय मानदण्डों के आधार पर उसका मूल्यांकन करता है। इस प्रकार वह उसकी उपयुक्तता-अनुपयुक्तता ही सिद्ध नहीं करता वरन् उसकी उपयोगिता-अनुपयोगिता का भी निर्णय करता है।

हिन्दी में नाटक-प्रदर्शन अथवा संगीत-समारोहों की समीक्षा का सूत्रपात अभी-अभी

हुआ है और वह शीघ्र व्यापक हो जायगा, ऐसी आशा है लेकिन परिचयात्मक आलोचना बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही होती चली आ रही है अतः उसका क्षेत्र 'रिव्यू' की भांति व्यापक नहीं है और वह केवल नवीन पुस्तकों की समीक्षा तक ही सीमित है।

अस्तु, परिचयात्मक आलोचना आलोचना के अन्य प्रकारों से नितान्त भिन्न होती है। आलोचना के साथ 'परिचयात्मक' विशेषण ही उस भिन्नता के रहस्य का उद्‌घाटन करने वाली कुँजी है। 'परिचय' में पूरी तरह जानने का भाव है। जब हम किसी एक व्यक्ति का किसी अन्य व्यक्ति से परिचय कराते हैं तो हम उसके निवास स्थान, योग्यता, कार्यक्षेत्र, चारित्रिक विशेषता आदि के विषय में चर्चा करते हैं। जब हम यह कहते हैं कि हमारा अमुक व्यक्ति से परिचय है तो हम यह सूचित करना चाहते हैं कि उस व्यक्ति की निकटता हमें प्राप्त है। अर्थात् वह हमारे विषय में जानता है और हम उसके विषय में जानते हैं। परिचय की कई कोटियाँ होती हैं। वह सामान्य जानकारी से लेकर किसी के अन्तर के निगूढ़ भेदों तक की जानकारी की सीमा तक हो सकता है। लेकिन परिचयात्मक आलोचना में परिचय की जो ध्वनि है वह सामान्य जानकारी से ही सम्बद्ध है। हाँ, उस सामान्य जानकारी में उस कृति की वह विशेषता अवश्य सम्मिलित है, जिसके कारण उसका महत्व घोषित होने की सम्भावना है। अभिप्राय यह है कि परिचयात्मक आलोचना द्वारा आलोच्य कृति का प्रतिपादित विषय उसकी विशेषता के साथ स्पष्ट हो जाना चाहिए। पाठक को यह पता चल जाना चाहिए कि उसमें है क्या? जब यह पता चल जायगा तब वह आलोचक द्वारा गृहीत आलोचना-प्रणाली के मार्ग पर उसके साथ सहज भाव से चलता हुआ उस कृति के गुण-दोषों के आकलन में रुचि लेकर उसकी उपयोगिता-अनुपयोगिता के निर्णय से सहमत या असहमत हो सकता है। यह कार्य असाधारण योग्यता और सूझ-बूझ की अपेक्षा रखता है। कारण, पत्र-पत्रिकाओं में इतना स्थान नहीं होता कि आप नवीन कृति का परिचय बहुत विस्तार से दे सकें। एक ही अंक में कई पुस्तकों का परिचय देना है और वह भी निर्धारित पृष्ठ संख्या में समाविष्ट हो जाना चाहिए। ऐसी दशा में यदि आलोचक सावधानी नहीं बरतता तो वह अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह ठीक से नहीं कर सकता।

जब हम परिचयात्मक आलोचना की सीमा रेखाओं से परिचित हो जाते हैं तो यह निश्चित करने में कठिनाई नहीं होती कि उसका लक्ष्य क्या है? इस दृष्टि से देखें तो पत्र-पत्रिकाओं का स्थान-सांकोच्य परिचयात्मक आलोचना के संक्षिप्त होने का निर्देश करता है। अतः संक्षिप्त होना उसका पहला लक्षण है। इसके लिए आलोचक को थोड़े में बहुत कहना होगा। यदि पुरानी उक्ति के माध्यम से अपनी बात कहें तो उसे गागर में सागर भरना होगा। यह कुशलता आलोचक में तभी आ सकती है जब वह उसके मर्म को—उसके केन्द्रीय सूत्र, को पकड़ने का प्रयत्न करे। यदि वह लम्बी-चौड़ी भूमिका बाँधेगा या आलोच्य कृति के विषय और शैली को दृष्टि में रखकर उसकी ऐतिहासिक परम्परा का दिग्दर्शन करायेगा तो वह लक्ष्यभ्रष्ट हो जायगा। उसे तो सीधे कृति के विषय का

उल्लेख करके आगे बढ़ना होगा और यदि किसी भूमिका अथवा ऐतिहासिक परम्परा का उल्लेख करना अनिवार्य भी होगा तो एक-दो वाक्यों अथवा एक अनुच्छेद में कर देना होगा। इसके साथ ही वह अपने दृष्टिकोण को उतनी प्रमुखता नहीं देगा, जितनी कि उसे लेखक के दृष्टिकोण को देना है। इसका कारण यह है कि उसे पुस्तक का परिचय कराना है। यदि वह अपने दृष्टिकोण को प्रमुखता दे देगा तो पाठक को पुस्तक में व्यक्त लेख के दृष्टिकोण का परिचय नहीं मिलेगा प्रत्युत् वह आलोचक के दृष्टिकोण से ही अवगत हो सकेगा। परिणामस्वरूप उसे पुस्तक में व्यक्त लेखक के विचारों और भावों को हृदयंगम करने में असुविधा होगी। एक प्रकार से वह यह निर्णय नहीं कर पायेगा कि पुस्तक पठनीय है या नहीं। फिर परिचयात्मक आलोचना मात्र बौद्धिक दृष्टि से उत्कर्ष प्राप्त पाठकों के विचार का ही विषय नहीं, उसे सामान्य बौद्धिक स्तर के पाठक के मस्तिष्क को भी विकसित करना है अतः उसकी शैली में मध्यम मार्ग का ग्रहण श्रेयस्कर होगा। यही नहीं प्रबुद्ध पाठक तो स्वतः भी पुस्तक की उपयोगिता-अनुपयोगिता का निर्णय कर सकता है जबकि सामान्य बौद्धिक स्तर का पाठक आलोचक पर ही विश्वास करके चलने के लिए विवश है। कहने का सारांश यह है कि परिचयात्मक आलोचना आकार में संक्षिप्त और आलोच्य कृति के विषय को सरल शैली में स्पष्ट करने वाली तथा मुख्यतः लेखक के दृष्टिकोण को प्रमुखता देने वाली होनी चाहिए। लेकिन इसका यह आशय कदापि नहीं है कि आलोचक उसकी उपयोगिता-अनुपयोगिता अथवा उसकी श्रेष्ठता-निकृष्टता की ओर संकेत न करे। नहीं, उसे अवश्य ही उस विषय की पुस्तकों में उसका स्थान निर्धारित करना होगा क्योंकि वैसा न करके वह अपने कर्तव्य का पालन न कर सकने का दोषी ठहराया जायगा। हाँ, उसे यह कार्य भी संकेत से और विश्वसनीय ढंग से करना चाहिए। ऐसा न होना चाहिए कि पाठक आलोचक की नीयत पर ही संदेह करने लगे।

इस प्रकार परिचयात्मक आलोचना का लक्ष्य महान है, लेकिन खेद का विषय है कि आज उसका स्वरूप विकृत हो गया है। यों कोई पत्र-पत्रिका ऐसी नहीं, जिसमें पुस्तक-समीक्षा का स्तम्भ न हो। यहां तक कि सभी दैनिक पत्रों के रविवासरीय संस्करणों में भी यह स्तम्भ अनिवार्यतः रखा जाता है। मासिक और त्रैमासिक पत्रों में तो दर्जनों पुस्तकों की आलोचना छपती है। कुछ प्रकाशकों के तो पत्र केवल इसी उद्देश्य से निकलते हैं कि उनकी अपनी प्रकाशित पुस्तकों की परिचयात्मक आलोचना उनमें छप सके और उनके पाठक उन्हें खरीद सकें। ये आलोचनाएं विज्ञापन की कोटि की होती हैं, जिनमें प्रशस्ति का स्वर ही प्रधान होता है। न केवल प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित पत्रों में वरन् अन्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित समीक्षाओं में भी अधिकांश ऐसी ही उथली होती है। वे बहुधा बिना पढ़े लिखी गई होती हैं और उनकी शब्दावली घिसी-पिटी रहती है। छपाई सफाई के बारे में एक-सी सम्मति, मूल्य की अधिकता की शिकायत, उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा अथवा घोर निन्दा—यही पद्धति अपनाई जाती है। इसका फल यह होता है कि बहुत कम पाठक इन आलोचनाओं पर विश्वास करते हैं।

सबसे बुरी बात है असन्तुलन की। आलोचक अपनी रुचि-अरुचि से परिचालित होने

के कारण या तो पुस्तक को उठाकर आकाश में रख देगा या उसे रसातल में पहुँचा देगा। वह पुस्तक के लेखक के दष्टिकोण को न समझकर अपने दृष्टिकोण को आरोपित कर देगा और लेखक के वर्षों के श्रम को नगण्य ठहरा देगा। होना यह चाहिए कि जब वह पुस्तकों की प्रशंसा करे तो कारण दे कि वह क्यों प्रशंसा कर रहा है और जब निन्दा करे तो उसका भी कारण बताये। साथ ही केवल पुस्तक की त्रुटियों की ओर निर्देश करना ही पर्याप्त नहीं है। उसे उन त्रुटियों के परिष्कार का भी उपाय बताना अपेक्षित है ताकि लेखक भविष्य में वैसी भूल न करे और पाठक भी वास्तविकता से परिचित हो जाय। आज की परिचयात्मक आलोचना में यह कमी है। वह पाठक का पथ प्रशस्त नहीं करती, उसे भटकाती है।

इधर साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति आलोचना—विशेष रूप से परिचयात्मक आलोचना भी अपनी प्रयोगात्मक भूमिका अदा करने लगी है पुस्तक की चर्चा कहानी के ढंग पर की जाती है, उसका शीर्षक भी वैसा ही रखा जाता है और शब्दावली का प्रयोग भी ऐसा होता है जो नवलेखन के नाम पर प्रयुक्त अस्पष्ट अभिव्यक्ति के निमित्त स्वीकृत हो गया है। अपनी साहित्यिक परम्परा से हटकर नया मार्ग बनाने का श्रेय लेने वाले वे पत्र, जो पूँजीवादी मनोवृति से उत्पन्न अस्थायी जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा पर बल देते हैं और शाश्वत जीवन दृष्टि को उपेक्षा या उपहास का लक्ष्य बनाते हैं, इस प्रकार की आलोचना शैली को बढ़ावा देने में जोरदार पहल कर रहे हैं। उनकी आलोचना को सामान्य बौद्धिक स्तर का पाठक नहीं समझ पाता। किसी युग में जैसे दरबारी कवि कुछ गिने-चुने अवकाश-प्राप्त लोगों के मनोरंजन के लिए जमीन-आसमान के कुलाबे मिलाकर काव्य के नाम पर चमत्कार-प्रदर्शन करते थे वैसे ही इस आलोचना-प्रणाली के ये समाज-विरोधी आलोचक केवल कुछ थोड़े से विदेशी-चिन्तन-पद्धति के अनुकूल जीने की कृत्रिम चेष्टा करने वाले वर्ग के मनोरंजन के लिए लिखते-पढ़ते हैं। यही कारण है कि प्रतिवर्ष अनेक पुस्तकें प्रकाशित होती हैं पर पाठक की रुचि को परिष्कृत करने अथवा उसे अपने सामाजिक दायित्वों के प्रति सजग होने की प्रेरणा देने का कार्य इनमें से कदाचित ही कोई पुस्तक कर पाती हो। आश्चर्य तो तब होता है जब नूतन जीवन-दृष्टि रखने का दावा करने वाले एक ही वर्ग के दो लेखक या पाठक अपने ही वर्ग के किसी लेखक की कृति पर परस्पर विरोधी सम्मति प्रकट करते हैं। एक ही पुस्तक पर किसी पत्रिका में दो या तीन आलोचनाएं पढ़कर इस प्रणाली की असलियत का पता लगाया जा सकता है। जब प्रबुद्ध लेखक और प्रबुद्ध पाठक ही किसी कृति के बारे में निश्चित अभिमत नहीं रखते तब सामान्य स्तर का पाठक उस चक्रव्यूह में फंस कर क्यों नहीं खो जायगा ? परिचयात्मक आलोचना प्रणाली की इस विकृतावस्था के कारण अच्छी रचनाओं का भी जनता तक पहुँचना कठिन हो जाता है। इससे बड़ा दुर्भाग्य स्वतंत्र देश के लेखकों या पाठकों का और कुछ नहीं हो सकता कि किसी साहित्यिक विधा के बौद्धिक कलाबाजों के हाथ पड़ जाने से उसके विकास का पथ ही अवरुद्ध हो जाय।

अब प्रश्न यह है कि परिचयात्मक आलोचना को इस विकृति से कैसे बचाया जाय ? इसका उत्तर सम्पादकों, लेखकों पाठकों तीनों की दृष्टि से दिया जा सकता है। यदि सम्पादकों,

की दृष्टि से इसका उत्तर दिया जाय तो हम कहेंगे कि उनका उत्तरदायित्व सबसे बड़ा है। सम्पादकों को चाहिए कि वे पाठकों की दृष्टि से अनुपयुक्त आलोचनाओं को न छापें। उनका यह भी कर्तव्य है कि जिस विषय की पुस्तक हो उसके विशेषज्ञ से ही उसकी परिचयात्मक आलोचना करावें। न केवल विषय वरन् अब तो साहित्यिक विधाओं के विशेषज्ञों को ही किसी विधा की पुस्तक की आलोचना लिखने का कार्य देना चाहिए। अच्छा तो यह हो कि सम्पादकों, लेखकों और पाठकों की गोष्ठियाँ परिचयात्मक आलोचना प्रणाली के वर्तमान विकृत रूप पर विचार करें। वे ऐसी आलोचनाओं की खुलकर निन्दा करें और उनकी सामाजिक उत्तरदायित्व हीनता को स्पष्ट रूप से सामने रखें। उसके साथ ही अच्छे सम्पादक ऐसी आलोचनाओं को प्रकाशित न करने का प्रण करें। जो सम्पादक ऐसा न करें उनकी भर्त्सना होनी चाहिए। यदि ऐसा होगा तो इस दिशा में कुछ सुधार होने की आशा की जा सकती है।

जो लेखक हैं, उन्हें चाहिए कि उथली, विकृत दृष्टियुक्त एवं अटपटी आलोचनाओं की अनुपयुक्ता बतावें। पुस्तक विशेष की आलोचना बिना पढ़े किये जाने से क्या हानि हुई या होने की संभावना है, आलोचक ने कैसे लेखक के दृष्टिकोण को प्रमुखता न देकर अपनी विचार-धारा का प्रक्षेपण कर दिया है, व्यापक दृष्टि के न होने से पुस्तक के साथ क्या अन्याय हुआ है, शैलीगत अस्पष्टता के कारण पुस्तक की विषय वस्तु को हृदयंगम करने में क्या कठिनाई हुई है—आदि बातों को तो लेखक ही बता सकते हैं। इस कार्य को एक लेखक करे या दो या उससे अधिक लेखक मिलकर करें परिचयात्मक आलोचना की महत्ता को अक्षुण्ण रखने के लिए यह कार्य होना अवश्य चाहिए।

अब रही पाठकों की बात। यदि सच पूछा जाय तो साहित्य के लक्ष्य पाठक हैं। वे ही उसकी श्रेष्ठता और निकृष्टता के भी निर्णायक हैं। यदि वे कटिबद्ध हो जायं तो किसी भी साहित्यिक विधा के विकृत होने का प्रश्न न उठे। इसलिए उनका भी यह कर्त्तव्य है कि यदि किसी पुस्तक का परिचय पढ़कर यदि वे उसे खरीदें और उसमें उनके द्वारा खरीदी गई पुस्तक में वे बातें न मिलें जिनका उल्लेख परिचयात्मक आलोचनाओं में आलोचक ने किया है तो उसे प्रकाश में लायें। यह कार्य या तो वे स्वयं करें या किसी कर्त्तव्य-परायण लेखक के द्वारा करायें। यदि कुछ पाठक मिलकर यह कार्य करें तो अत्युत्तम हो। आजकल पाठकों की सम्मति भी अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं में छपती है पर वह रचनाओं को लक्ष्य में रखकर ही भेजी जाती है. जिन पुस्तकों की आलोचना छपती है उनके विषय में भी संगठित रूप से निर्भीक-सम्मति-प्रदर्शन होना चाहिए। पाठकों की निर्भीक सम्मति से ही परिचयात्मक आलोचना विकृति से बचकर अपने लक्ष्य के अनुरूप उचित दिशा में प्रगति कर सकती है।

•

डा० रमाशंकर तिवारी

संस्कृत आलोचना के मूलभूत तत्व

संस्कृत साहित्य की सर्जना मूलतः आनन्द की उपलब्धि को लक्ष्य में रखकर की गई है। भारतीय तत्व-चिन्तना में, दृश्यमान वैविध्य के बावजूद, जीवन एवं जगत् के विषय में एक स्थिर एवं शान्त मनोधारा रही है जो चिरंतन प्रश्नों की उद्भावना तथा गवेषणा कर, उन्हें अनुद्विग्न भाव से स्वीकार किये चलती गई है। इसका एक महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में युग-जीवन का सचेष्ट चित्र उत्कीर्ण करने के प्रयास का अभाव रहा है। जीवन के सम्बन्ध में एक स्थिर, शाश्वतवादी मनोदृष्टि बन जाने के बाद, उसके युग-सापेक्ष स्वरूप एवं समस्याओं का कोई तात्विक आकर्षण संस्कृत साहित्यकारों के समीप नहीं रह गया था। जीवन-विषयक एक दार्शनिक चौखटा स्वीकार हो जाने पर, सारस्वतमार्ग के अनुयायियों का एक मात्र प्रयास बन गया, जीवन में आनन्द की खोज, उसका उद्घाटन तथा सम्प्रेषण। विस्तीर्ण मरुस्थल में जैसे यत्र-तत्र एवं यदा-कदा हरित शाद्वल दिखाई पड़ जाते हैं, वैसे ही समृद्धिशाली संस्कृत साहित्य में ऐसी रचनाएँ यदा-कदा मिल जाती हैं जिनमें जीवन के यथार्थ को चित्रित करने की सचेष्ट भाव से चेष्टा की गई है। तथापि, जीवन-विषयिणी स्थिर मनोदृष्टि को झकझोरने का उपक्रम वहाँ भी नहीं मिलेगा। शूद्रक के 'मृच्छकटिक' में ललित-ललाम पटलों की अपेक्षा समाज के श्यामल स्तरों को उद्घाटित करने का सजग प्रयास हुआ है जिसके लिए पाश्चात्य पंडितों ने उसको भूयसी प्रशंसा की है, किन्तु वहाँ भी "कूपयन्त्रघटिका" न्याय से कार्यशील

विधि-विधान को पूर्णतया स्वीकार कर लिया गया है।[1]

संस्कृत साहित्य शाश्वत का विलास है जो देश-काल के व्यवधानों का अतिक्रमण कर, मनुष्य को, कतिपय निश्चित भावात्मक आयामों में, पकड़ने एवं दुलराने का अभिराम प्रयास करता है। वहाँ मनुष्य के मनोमय जीवन को सुन्दर, आकर्षक रीति से नाप-तौल दिया गया है, उसका विश्वसनीय मानचित्र बना दिया गया है जिसके प्रश्रयण से सामान्य, परिनिष्ठित मनुष्यता को समझा जा सकता है। विचित्र तथा असाधारण के उद्‌घाटन की ओर भारतीय कवियों की दृष्टि नहीं गई क्योंकि वैसा करने से विश्व-गति में सन्निहित, 'ऋतु' का उपलालन नहीं हो पाता। संसार सामान्य भाव से चलता है, असामान्य के उद्‌भव से उसमें व्यतिक्रम उत्पन्न होता है, इस कारण संस्कृत साहित्य में व्यक्तिवाद अथवा वैचित्र्यवाद को प्रश्रय नहीं मिल सका। और इसी कारण, विचारों की व्याकुली, मनोदृष्टियों की गूँथमगूँथ जिससे हम आज नितान्त परिचित हो गये हैं, वहाँ उपलब्ध नहीं होती।

संस्कृत आलोचना संस्कृत साहित्य के इसी सनातन स्वरूप का प्रलम्बन अथवा प्रक्षेपण है।

इस प्रकार संस्कृत साहित्य की मनोभूमियाँ स्थिर थीं, अतः संस्कृत आलोचना जीवन-विषयक दृष्टियों के ऊहापोह अथवा विवेचन-विमर्शण की ओर प्रवृत्त नहीं हुई। "सत्य-मुख" को आच्छन्न करने वाले राग-विराग-मय "स्वर्ण-कलश" की[2] जो प्रतिष्ठा प्राक्तन साहित्य में हुई, उसी के सौष्ठव को समझने-समझाने के शास्त्रीय प्रयासों में संस्कृत आलोचना का स्वरूप विकसित हुआ है। यही कारण है कि वह आलोचना जीवन-मानों के विवेचन से पृथक् रही, काव्य में अवतीर्ण भावचित्रों के उद्‌घाटन एवं आस्वादन तथा संवेदन को ही अपना उपजीव्य बनाये रही। तर्क एवं विवेचन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अभ्यास के बावजूद, वह भाव तथा भावना के अंगूरी आसव की कनक-कटोरियों की ही सृष्टि करती रही—कभी रस के व्याज से, कभी अलंकार के व्याज से, कभी रीति-वक्रोक्ति के व्याज से और कभी ध्वनि के व्याज से। वस्तुतः संस्कृत समीक्षा सौष्ठववादी रही है, और उसका सबसे बड़ा संबल रहा है—उस सौष्ठव को वायवी शून्य से निकाल कर रस, रीति इत्यादि के माध्यम से रूपायित करना तथा संवेदनीय बनाना। पुरानी शैली के समीक्षक अथवा काव्यास्वादक के लिए काव्य कोई ऐसा वर्जित प्रदेश नहीं है जिसमें, थोड़े निपुण अभ्यास अथवा ट्रेनिंग के पश्चात्, वह उसके रम्य स्थलों में विहरण नहीं कर सके, उसकी रमणीयताओं को पकड़ कर, उनमें उछलते आसव का अस्वमन नहीं कर सके। अलंकार का सौन्दर्य, रीति-वक्रोक्ति का

---

१ "कांश्चित्तुच्छयति प्रपूरयति वा कांश्चिन्नयत्युन्नतिं
कांश्चित् पातविधौ करोति च पुनः कांश्चिन्नयत्याकुलाम्।
अन्योन्यप्रतिपक्षसंहतिमिमां लोकस्थितिं बोधयन्नेष
क्रीडति कूपयन्त्रघटिकान्यायप्रसक्तो विधिः॥" —मृच्छ०, १०/५९

२ "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।" (ईशावास्यो०)

सौन्दर्य, रस-ध्वनि का सौन्दर्य वह तुरंत ही काव्य-चित्रों की मटकी को अपनी प्रवीण प्रतिभा की मथानी से मथ कर बाहर निकाल देगा और स्वतः उसकी चर्वणा करते हुए, अन्य सहृदयों के लिए भी उसे चर्व्यमाण बना देगा। संस्कृत आलोचना, अपने उपजीव्य साहित्य के अनुरूप ही, अपनी समस्त सूक्ष्मता के बावजूद, रक्त-मज्जा से संघटित, भावोद्वेलनों की ऊष्मा से अनुप्राणित, एक विशिष्ट जाति का ललित साहित्य-रूप ही बन गई है। इसी तथ्य को समास-शैली में व्यक्त करते हुए, आलोचना को 'अलंकारशास्त्र' कहा गया है और आलोचक को 'भावक' अथवा 'विदग्ध' कहा गया है। संस्कृत समीक्षक की प्रतिभा 'भावयित्री' होती है जो कवि की 'कारयित्री' प्रतिभा को उसी प्रकार उद्भासित करती है जिस प्रकार बाल-रवि की विच्छुरित रश्मियों का सघन जाल सहस्रदल सरोज के पटलों का अनावरण तथा उसके सौरभ का विकीरण करता है। संस्कृत का कवि समीक्षक के इस महत्व का कायल होता था, और जब वह देखता था कि उसका अरसिक व्यक्तियों से पाला पड़ा है, तब उसके अन्तस् की वीणा कम्पित हो जाती थी और वह विधाता से कातर निवेदन करता था, "हे दैव ! अरसिकों के बीच काव्य-निवेदन की यन्त्रणा मेरे भाग्य में न लिख।"

तब, हमारा विवक्ष्यार्थ यह है कि हमारी पुरानी आलोचना 'सहृदय' विदग्धता की आधार-शिला पर टिकी हुई थी और, यह 'सहृदय' वैसा समर्थ अधिकारी व्यक्ति होता था जिसका मनोदर्पण काव्य के निरन्तर अनुशीलन से इस प्रकार स्वच्छ एवं विशद हो गया हो जिससे वह कवि तथा पाठक दोनों के हृदयों के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए, वर्णनीय विषय में तन्मय हो जाय—"येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशात् विशदीभूते मनो-मुकुरे वर्णनीय-तन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः।" (ध्वन्यालोक)

उपर्युक्त विवेचन से दो प्रमुख निष्कर्ष निकलते हैं जिन्हें संस्कृत आलोचना की केन्द्रीय शिला समझना चाहिए; प्रथम, जीवन-मानों की गवेषणा अथवा छानबीन को वह कोई महत्त्व नहीं प्रदान करती; द्वितीय, वह "हृदयसंवाद" के आधार पर सौन्दर्य का अन्वेषण तथा वितरण करती है।[१] एक उसकी दुर्बलता है तो दूसरा उसकी अनुपमेय शक्ति जो काव्य को समझने तथा आस्वादित करने के लिए कुछ निश्चित, 'कंक्रीट' निर्देशक संकेत प्रदान करती है। सुविज्ञ पंडितगण जानते हैं कि संसार की साहित्यालोचना की दुनियाँ में इतने निश्चित, सुपरिभाषित समीक्षा-मान अन्यत्र उपलब्ध नहीं हैं।

भारतीय आचार्यों-द्वारा प्रतिपादित आलोचना-रूपों का उल्लेख करने के पहले, काव्य-विषयक कतिपय मोटी मान्यताओं की ओर ध्यानाकर्षण करना उपयोगी सिद्ध होगा। काव्य का प्रयोजन, काव्य के हेतु और काव्य का लक्षण—ये तीन आवश्यक स्तम्भ हैं जिन पर हमारी

---

१ "योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः।" (नाट्यशास्त्र)
"संवादी ह्यन्यसादृश्यम्।" (ध्वन्यालोक)

शास्त्रीय समीक्षा का प्रासाद खड़ा हुआ है। प्रयोजन के निरूपण में न केवल मनोरंजन, अपितु धार्मिक, नैतिक तथा दार्शनिक ज्ञान की प्राप्ति और जिजीविषा को उद्दीपित रखने के लिए साहस, सान्त्वना एवं उत्साह का वितरण, संक्षेपतः, धर्म, अर्थ इत्यादि चारों पुरुषार्थों की सिद्धि को उसकी सीमा में सन्निविष्ट किया गया है।[१] मम्मट ने समस्त विचारों का नवीन ढंग से पर्याकलन करते हुए, काव्य को "यशसेऽर्थकृते, व्यवहारविदे, शिवेतरक्षतये, सद्यः परनिर्वृत्तये, कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे" की उपलब्धि के लिए उपसेवनीय बताया।[२] इस प्रयोजन-प्रणयन में मम्मट ने जो अलौकिक आनन्द की तात्कालिक सम्प्राप्ति ('सद्यः परनिर्वृत्तये') का उल्लेख किया, वह संस्कृत की परिनिष्ठित आलोचन-परम्परा में प्रायः सर्वात्मभाव से स्वीकार कर लिया गया। अभी हमने ऊपर 'हृदयसंवाद' के आधार पर सौन्दर्य के अन्वेषण तथा वितरण की जो बात कही है, वह काव्य के इस मौलिक प्रयोजन के मेल में बिलकुल बैठ जाती है। विवक्षा यह है कि काव्य के जो भी उपयोगितावादी प्रयोजन हो सकते हैं, उन सबके ऊपर, अन्तिम विश्लेषण में, आचार्य-परम्परा ने सौन्दर्यवादी प्रयोजन को वरीयता प्रदान की है।

काव्य-हेतुओं में अधिकांश आचार्यों ने 'शक्ति', 'निपुणता' तथा 'अभ्यास', इन तीन हेतुओं को महत्त्वशाली बताया है। जिस अध्यान्तरिक तत्व की सहायता से सुस्थिर चित्त में अनेक प्रकार के वाक्यार्थों का प्रस्फुरण तथा सरल बोधगम्य पदों का भान होता है और रचना-काल में अनेक शब्द तथा अर्थ हृदयस्थ हो जाते हैं, उसी को 'शक्ति' कहा गया है।[३] स्पष्ट ही, यह शक्ति 'प्रतिभा' का ही पर्याय है। 'निपुणता' से अभिप्राय है श्रुति, स्मृति, पुराण, छन्द, व्याकरण, रत्न-परीक्षा इत्यादि विद्याओं में और काव्य-विषयक ग्रंथों तथा लोक-व्यवहार की जानकारी में प्रवीणता प्राप्त करना। भामह ने कवि-ज्ञान के इसी विस्तीर्ण क्षेत्र को ध्यान में रखकर, कवि के दायित्व को गुरु-गम्भीर बताया है—"अहो! भारो महान् कवेः।"[४] निपुणता को ही 'व्युत्पत्ति' कहा गया है। 'अभ्यास' का भाव स्पष्ट है। अभ्यास द्वारा सुसंस्कृत प्रतिभा से ही काव्यामृत का प्रसव होता है क्योंकि "अभ्यासो हि कर्मसु कौशल-मावहति।"

इन काव्य-हेतुओं पर तनिक विचार करने से यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि पुराने आचार्यों ने काव्य में प्रयोजनीय सौन्दर्य की निष्पत्ति के लिए सहज-स्फूर्त प्रतिभा के साथ-साथ, कुशल एवं प्रशिक्षित परिश्रम को भी महत्त्व दिया है। जिस अलौकिक आनन्द की प्राप्ति के लिए काव्य का प्रणयन अभीष्ट है, वह साधारण शब्द-व्यायाम अथवा कोरे मनोरंजन की भावना से परिणमित नहीं हो सकता। इसी मान्यता के अनुरूप, हमारे आचार्यों ने विभिन्न सम्प्रदायों के निरूपण में पुष्कल सावधानी तथा श्रम-संवलित सूक्ष्म तर्क-परम्परा का पालन किया है।

---

१ दे० नाट्यशास्त्र, १/१०६-२४; काव्यालंकार, १/२.

२ काव्यप्रकाश, १/२.

३ रुद्रट : 'काव्यालंकार', १/१५.

४ 'काव्यालंकार', ५/४.

यही कारण है कि "कला-कला के लिए" तथा अन्यान्य आधुनिक वादों को यहाँ प्रश्रय नहीं मिल सका।

काव्य-लक्षण के निरूपण में हमारी मौलिक सौष्ठववादी मान्यता जैसे उत्कीर्ण होकर उभर आई है। भामह तथा दण्डी ने शब्द एवं अर्थ के युक्तियुक्त साहित्य को काव्य माना है।[1] काव्य के मुख्य धर्म 'सौन्दर्य' की अवतारण को दृष्टि में रख कर ही, शब्द एवं अर्थ के सुश्लिष्ट पाणिग्रहण को यहाँ बल दिया गया है। 'रीति' को काव्य की आत्मा मानने वाले वामन ने भी काव्य में सौन्दर्य की अवतारण को महत्त्व प्रदान किया है। यदि उसने अलंकार को सौन्दर्य बताया है, तो भी कोई क्षति नहीं क्योंकि सौन्दर्य के गोचरीकरण के लिए सबसे सहज साधन अलंकार ही हैं।[2] परवर्ती आचार्यों में विश्वनाथ तथा पंडितराज के काव्य-लक्षण अतिशय प्रसिद्धि पा चुके हैं। "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" (सा०द०) तथा "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" (र०गं०) में मूलतः कोई तात्त्विक अन्तर वर्तमान नहीं है। 'रस' तथा 'रमणीयता' परस्पर पर्याय हैं और दोनों संस्कृत आलोचना की इस केन्द्रगत मान्यता के उद्घाटक हैं कि काव्य का मौलिक तत्त्व वह भाव-पदार्थ है जो पकड़ में आ जाने पर सहृदय पाठक को चमत्कृत करता है; आत्म-विभोर बना देता है; सौन्दर्य का साक्षात्कार कराकर, उसे मानसी आनन्द-गंगा की सहज धारा में डूबने-उतराने के लिए छोड़ देता है। "अविचारितरमणीय" का गोत्रज बनाकर, आचार्यों ने काव्य के भाव-सौष्ठव को प्रधानता प्रदान की है। ऐसा समझना प्रमाद होगा कि 'अविचारित' से यहाँ उपर्युक्त काव्य-हेतुओं का प्रतिवाद किया गया है। सचाई यह है कि काव्य के प्राण 'रमणीयत्व' की अवतारणा समाधि एवं निपुण अभ्यास के अभाव में संभव नहीं होगी—ऐसा भारतीय आचार्यों का विश्वास है।

उपरि-विवेचित तथ्यों की पृष्ठभूमि में अब संस्कृत आलोचना के प्रमुख सम्प्रदायों पर उपयोगी विहंगावलोकन किया जा सकता है। रस-सम्प्रदाय के आद्याचार्य भरत-मुनि हैं। रस से विहीन किसी अर्थ का प्रवर्तन हो ही नहीं सकता—ऐसी उनकी मान्यता है।[3] अग्निपुराण में रस को ही काव्य का जीवित माना गया है।[4] दुःख तथा सुख दोनों प्रकार के भावों के परिप्लवन में रस की स्थिति स्वीकार की गई है क्योंकि आत्मा के ऊपर लिपटे लौकिक आवरण के भंग होने पर जो भाव-प्रवाह उठता है, उसकी प्रकृति आनन्द की ही होती है। यही आनन्द सौन्दर्य का स्वरूप है। इस सौन्दर्य के गोचरीकरण के लिए भरत ने निश्चित अवयवों का परिभाषण किया है। "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।" प्रमुख रूप से हृदय में वर्तमान रहने वाले स्थायी भाव जब विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के संयोग से इस

---

१ "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।" (काव्यालं०, १/१६)
"शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।" (काव्यादर्श, १/१०)

२ "काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्। सौन्दर्यमलङ्कारः।" १/१०, (काव्यालङ्कारसूत्र, १/१।१-२)

३ "न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।" (नाट्य० ६)

४ "वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।" (अग्निपुराण, ३७/३३)

प्रकार उद्रिक्त हो जाते हैं कि वहाँ सहृदय का मन 'विश्राम' पा लेता है, तब उस रसानन्द की चर्वणा होती है। इस प्रसिद्ध सूत्र के व्याख्याता आचार्यों ने जो विचार-मंथन किया, उससे दो महत्वमय सिद्धान्त निकले। पहला, 'साधरणीकरण' का जिसका श्रेय भट्टनायक को है तथा दूसरा. स्थायी भावों के मनुष्य चित्त में वासनात्मतया अवस्थित होने का जिसकी उद्भावना अभिनवगुप्त ने की। ये दोनों परस्पर मिलकर, रसवाद को पूर्ण मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान करने में सहायक सिद्ध हुए हैं। जिस भाव-सौन्दर्य का अन्वेषण कवि-मानस ने किया है, उसे कवि की निजी सम्पत्ति बन कर ही नहीं रह जाना चाहिए, अपितु सम्पूर्ण वैयक्तिक अनुषंगों का अतिक्रमण कर, उसे विश्व-मानस की वस्तु बन जाना चाहिए—'साधारणीकरण' का यही उद्देश्य है। भारतीय आचार्य साहित्व के सौन्दर्य को सार्वकालिक तथा सार्वलौकिक बनाना चाहते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि देश तथा काल के बन्धनों को कोई महत्व नहीं देती, क्योंकि उनके लिए देश-काल की समस्याओं का कोई तात्विक महत्व नहीं होता। मनुष्य मौलिक भावों के माध्यम से ही समझा जा सकता है, जीवन की व्याख्या इन्हीं व्यापक भावों की पीठिका में हो सकती है और सबसे बढ़कर, इन भावों की 'चर्वणा' ("चर्व्यमाणो रसः") ऐकान्तिक तथा निर्व्याज रूप से होवे—यही भारतीय आचार्यों का अभीष्ट रहा है। काव्य को "मानव-आत्मा का शिल्पी" (Architect of the human soul) बनाने का दम्भ संस्कृत आलोचना ने नहीं किया क्योंकि आत्मा 'सच्चिदानन्द' का ही स्वरूप है और अपेक्षा है, केवल उसके ऊपर जमी हुई स्वार्थ की पर्तों को अनावृत कर देने की जिसके बाद, मनुष्य स्वतः कर्त्तव्याकर्त्तव्य के बोध से अनुप्राणित हो जाता है। 'वेद्यान्तरसम्पर्कशून्यता' तथा 'ब्रह्मानन्दसहोदरत्व' को अर्थवाद के रूप में गृहीत करने के बाद भी, रसवाद में जो बच जाता है, वह साहित्य की भागीरथी को विशुद्ध मानवता की समतल भूमि में 'प्रवहणशील बनाने में' बहुमूल्य सहयोग देता है।

ध्वनि-सम्प्रदाय का प्रतिपादन एवं पल्लवन आनन्दवर्द्धन ने किया है। ये ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हैं। वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ को अतिक्रान्त कर, जहाँ किसी तीसरे व्यंग्यार्थ की निष्पत्ति होती है, वहाँ 'ध्वनि' का अवतरण माना गया है। लेकिन, व्यंग्यार्थ को वाच्यार्थ की तुलना में नितान्त विस्फुट एवं प्रधान होना चाहिए, तभी ध्वनि की प्रतिष्ठा होती समझी जाएगी—"मुख्यतया प्रकाशमानो व्यंग्योऽर्थो ध्वनेरात्मा।" (ध्वन्यालोक)। आनन्द-वर्द्धन इस प्रतीयमान अर्थ को काव्य में वही महत्व प्रदान करते हैं जो रमणियों की शरीर-लता में प्रतिच्छायित, भिन्न-भिन्न अवयवों से भिन्न, 'लावण्य' का होता है। रस-सिद्धान्त का निकट-तम प्रतिस्पर्धी यही ध्वनि-सिद्धान्त है। शब्द की पहली दो शक्तियों, अभिधा एवं लक्षणा, के आधार पर 'अभिधामूला' ध्वनि और 'लक्षणामूला' ध्वनि नाम से ध्वनि के दो भेद किये गये हैं। लक्षणामूला ध्वनि में लक्षणा में पाये जाने वाले प्रयोजन-रूप चमत्कार को ही व्यंग्यार्थ

---

१ "प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्॥
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥
(ध्वन्यालोक, १/४)

सिद्ध कर समाविष्ट किया गया है। अभिधामूला ध्वनि के दो वर्ग किये गये हैं, असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' ध्वनि और 'संलक्ष्यक्रमव्यंग्य' ध्वनि। पहली कोटि में ऐसी काव्य-रचना का ग्रहण है जिसमें वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ का पूर्वी पर क्रम ज्ञात न हो सके। इस ध्वनि के अन्तर्गत रस, भाव, भावाभास इत्यादि गृहीत हैं। अर्थात्, रसवाद का पूरा प्रसार असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि में समेट लिया गया है क्योंकि रस को वाच्य नहीं, व्यंग्य ही माना गया है,।[1] संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत 'अलंकार-ध्वनि' तथा 'वस्तु-ध्वनि' के दो भेद किये गये हैं वस्तुतः अलंकारों के ध्वनन तथा वस्तु के ध्वनन में वह चमत्कार नहीं होता जो सहृदयों को गहराई से आकर्षित कर सके। किन्तु, ध्वनि-सिद्धान्त की व्यापकता प्रदर्शित करने के लिए काव्यमात्र को इसकी परिधि में समेट लिया गया है। तथापि, किसी न किसी प्रकार के ध्वन्यार्थ को ध्वनिकाव्य मानना उचित नहीं होगा—"तेन सर्वत्रापि न ध्वननसद्भावेऽपि तथा व्यवहारः।" (अभिनवगुप्त)

अभिनवगुप्त की इस टिप्पणी से स्पष्ट है कि ध्वनि-सम्प्रदाय के भीतर भी रस का ही महत्व सर्वोपरि माना गया है। ध्वनिकारों ने "मा निपाद प्रतिष्ठां · · ·" वाले प्रसिद्ध श्लोक को उद्धृत कर, उसमें व्यंग्यरूप से वर्तमान करुणरस को ही काव्य का सर्वस्व स्वीकार किया है—

"काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।"

(ध्वन्या०, १/५)

अर्थात्, ध्वनि भी काव्य के अन्तर्निहित 'चारुत्व' अथवा सौन्दर्य के अन्वेषण तथा आस्वादन को समीक्षा का उपजीव्य बनाती है। ध्वनि के इक्कावन भेदों की अवतारणा कर, आचार्यों ने काव्य-सौन्दर्य के विविध रूपों तथा स्तरों को उद्घाटित करने का प्रयास किया है।

अलंकार-सम्प्रदाय ने काव्य में अलंकारों को ही प्रधानता दी है।[2] काव्य के सौन्दर्य-कारक धर्मों को अलंकार कहा गया है।[3] भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट इत्यादि आचार्यों ने अलंकार-सम्प्रदाय को गौरव से मंडित किया है। लेकिन, ये आचर्य भी काव्य में रस की स्थिति के कायल रहे हैं। भामह महाकाव्य में रस की वर्तमानता को महत्त्व देते हैं "युक्त लोकस्व-भावेन रसैश्च सकलैः पृथक्।" दण्डी ने रसयुक्त रचना को मधुर बता कर, अलंकार को रस का पोषक घोषित किया है। "कामं सर्वोऽप्यलङ्कारो रसमर्थे निषिञ्चति।" (काव्या, १।६२)।

---

१. "रसाभवतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः ।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेत भासमानो व्यवस्थितः॥"
(ध्वन्या०, २/३)

२. "अलङ्कारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतः।"
(अलङ्कारसर्वस्व)

३. "काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।" (अग्निपुराण)

यह दूसरी बात है कि इन अलंकारशास्त्रियों ने अपने सम्प्रदाय के महत्त्व-स्थापन के निमित्त रस तथा भाव को अलंकारों के अन्तर्गत समाहित किया है : 'रसवत्,' 'प्रेयस्' तथा 'ऊर्जस्वि' एवं 'समाहित' अलंकारों की सृष्टि इसी दृष्टि से हुई है ।[1] रुद्रट ने 'वास्तव,' 'औपम्य', 'अतिशय' तथा 'श्लेष' नाम से चार मूल अर्थालंकार निरूपित किये हैं तथा अन्यान्य अलंकारों को इन्हीं के भीतर समाविष्ट किया है ।[2]

इस संबंध में यह उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है कि अलंकारों का सम्पूर्ण समारोह अन्ततः अर्थ के चारुत्व अथवा भाव के लालित्य के निदर्शन-हेतु ही निरूपित हुआ है। काव्य का मुख्य तत्त्व इन आचार्यों के मतानुसार 'लालित्य' की ही अवतारणा है और यह लालित्य प्रतिभा के साथ-साथ, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास की भी उपज है। अलंकारों के अनायास आने की बात बहुधा निरर्थक है; यह भिन्न बात है कि सायास, अनाहूत ढंग से अलंकारों का संगुफन काव्य-परिवार में विशिष्ट महत्त्व नहीं पा सका। अतएव, रस यदि भाव-सौन्दर्य को प्रकाशित करता है, तो अलंकार अर्थसौष्ठव की उद्‌भावना करता हुआ, अन्ततः भाव-सौन्दर्य को ही उद्दीपित विस्फारित करता है।

रीति एवं वक्रोक्ति सम्प्रदाय भी अपने-अपने ढंग से काव्य में लालित्य की ही प्रतिष्ठा को महत्त्व प्रदान करते हैं। वामन ने माधुर्य आदि गुणों से संयुक्त विशिष्ट पद-रचना को 'रीति' बताया है। मम्मट के अनुसार, 'गुण' रस के धर्म हैं, रस के उत्कर्ष के हेतु हैं तथा रस में अविचलित भाव से रहने वाले हैं।[3] पद-रचना इन गुणों (माधुर्य-ओज-प्रसाद) से समन्वित होकर, अर्थ-लालित्य तथा भाव-सौन्दर्य की सृष्टि में सहायक होती है। वैदर्भी, गौड़ीय, पांचाली इत्यादि रीतियों का निरूपण विदर्भ इत्यादि प्रदेशों में कवियों द्वारा अपनाई गई रचना-शैली के आधार पर हुआ है। "रीतिरात्मा काव्यस्य" कह कर, वामन ने रचना-सौष्ठव को महत्त्व दिया है जो अन्ततः अर्थ-लालित्य की वृद्धि में सहयोग करता है।

वक्रोक्ति के निरूपण में कुन्तल ने "लोकोत्तर चमत्कारकारी वैचित्र्य" की सिद्धि के हेतु नियोजित "वैदग्ध्यभङ्गी भणिति" को काव्य का जीवित बताया है।[4] अन्य आचार्यों के समान, वक्रता के छः भेद निरूपित कर, कुंतल ने भी अपने सिद्धान्त को काव्य-मात्र का सहजीवी सिद्ध किया है।[5] लेकिन, 'लोकोत्तर चमत्कार' का कथन कर, वे भी भारतीय समीक्षा के मूल तत्त्व 'लालित्य' की ही अवतारणा तथा गवेषणा के समर्थक बन गये हैं। यह सही है कि पंच सम्प्रदायों में से रस तथा ध्वनि काव्य के अन्तस् की तथा शेष तीन उसके बहिरंग की समृद्धि-सजावट पर अपेक्षाकृत अधिक बल देते हैं। किन्तु, उनमें मौलिक साम्य तथा सहमति यह है कि काव्य में भाव-सौन्दर्य तथा अर्थ-सौन्दर्य की प्रतिष्ठा होनी चाहिए, और इस प्रकार,

---

१. दे० काव्यालंकार, २/२७५; काव्यालंकारसारसंग्रह, ४/२,५,७.

२. काव्यालङ्कार, ७/९-१०; ८/१–३; ९/१–२; १०/१–२.

३. काव्यप्रकाश, ८/६६.　　४ वक्रोक्तिजीवितम्, १/१०.

५. वही, १/१८.

वे सभी सम्प्रदाय अन्ततोगत्वा काव्य के अन्तस् की ही समृद्धि के हिमायती हैं तथा अपने-अपने सिद्धांतों को काव्य की 'आत्मा' अथवा 'जीवित' बताकर, उन्होंने अपने इसी मूल मन्तव्य की, प्रकारान्तर से, स्थापना की है।

उपयुक्त विवेचन से संस्कृत आलोचना के विषय में निम्न निष्कर्ष निकलते हैं :—

(क) सस्कृत आलोचना के मान शाश्वत ढंग से प्रतिपादित किये गये हैं।

साहित्य का प्राण-तत्त्व भाव-सौन्दर्य माना गया है और उसी को उभार में लाने तथा संवेदनीय बनाने के लिए रसादि सिद्धान्तों का प्रणयन हुआ है। अतएव, स्वभावतः इन सिद्धान्तों में सामयिकता नहीं, शाश्वतता का सौरभ ओतप्रोत है।

(ख) यह आलोचना सहृदय विदग्धों के निपुण मानस की प्रसूति है और ऐसे पाठकों के लिए लिखी गई है जो साहित्य का अध्ययन मानव-हृदय की सामान्य उद्वेगनाओं से सामरस्य स्थापित करने के लिए करते हैं।

(ग) संस्कृत के आचार्य साहित्य का मूल्यमापन विशुद्ध सौन्दर्यवादी धरातल पर करते हैं। सौन्दर्य से अतिरिक्त, लौकिक अथवा उपयोगितावादी कसौटी सर काव्य-सुवर्ण को कसने का प्रयास उन्होंने नहीं किया, यद्यपि एतद्विषयक स्फुट संकेत वा उल्लेख अवश्य उपलब्ध होते हैं।

(घ) इन आचार्यों के अनुसार, श्रेष्ठ काव्य दैवी प्रतिभा तथा व्यावहारिक निपुणता एवं अभ्यास के अभाव में संभव नहीं है। इसी कारण, साहित्य-रचना समाधि एवं सोद्देश्यता की उपज है, यद्यपि इस सोद्देश्यता में चित्त को विश्राम देने वाले 'लालित्य' की अवतारणा के अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन नहीं।

(ङ) संस्कृत आलोचना कवि द्वारा प्रणीत रचना में प्रतिबिम्बित जीवन-चित्र को प्रायः अविकल ढंग से स्वीकार करती है। कवि की जीवन-दृष्टि उचित अथवा अनुचित है, युग-धर्म के अनुरूप अथवा प्रतिकूल है, इसकी चिन्ता उसे नहीं सताती। जीवन के संबंध में दर्शन सोचता है, काव्य नहीं,[१] आलोचना तो और भी नहीं। सुतराम्, संस्कृत आलोचना शुद्ध साहित्यिक आलोचना है।

---

१ काव्य दर्शन का मुखरण कर सकता है, लेकिन जीवन का स्वतंत्र चिन्तन नहीं। (लेखक)

डा० पारसनाथ द्विवेदी

संस्कृत आलोचना का विकास

वेदों को अपौरुषेय एवं समस्त विद्याओं का स्रोत माना जाता है। आलोचना के बीज भी हम इन वेदों में खोज सकते हैं। कुप्पूस्वामी ने विश्व के आदि ग्रन्थ ऋग्वेद में आलोचना के स्वरूप का दर्शन किया है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में तो आलोचना करने वाले समालोचक की प्रशंसा की गई है।[1] इस प्रकार ऋग्वेद से ही आलोचना का प्रारम्भ मान सकते हैं। राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में आलोचनाशास्त्र के उद्भव का जो रोचक आख्यान कथित किया है उससे भी यही सिद्ध होता है कि आलोचना का इतिहास अतिचिरन्तन है।[2] यद्यपि कुछ विद्वानों ने राजशेखर की इस मान्यता को स्वीकार नहीं किया है, तथापि उनमें से अनेक विद्वान् आलोचना का सम्बन्ध भगवान् शंकर आदि से जोड़कर प्रकारान्तर से आलोचना को अत्यन्त प्राचीन मानते हैं। शारदातनय ने अपने ग्रन्थ 'भावप्रकाशन' में यह माना है कि भगवान् शंकर ने 'योगमाया' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया।

---

१. उतत्त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुतत्त्वः शृष्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासाः। (ऋग्वेद १०।७१।४)

२. "भगवान् श्रीकण्ठ शिव ने काव्यशास्त्र का प्रथम उपदेश ब्रह्मा आदि शिष्यों को दिया और ब्रह्मा ने अपने मानसपुत्रों को पढ़ाया। उनमें सरस्वती का पुत्र काव्यपुरुष भी एक था। इसी काव्य पुरुष ने तीनों लोक में काव्यशास्त्र का प्रसार किया।"
(काव्यमीमांसा प्र० अ०)

इसके अतिरिक्त शारदातनय ने अपने इसी ग्रन्थ में गौरी, वासुकि, नारद, आञ्जनेय आदि नामों का नाट्याचार्यों के रूप में उल्लेख किया है। सागरनन्दी ने अपने 'संगीत रत्नाकर' ग्रंथ में भी ब्रह्मा, नारद, आञ्जनेय आदि ऐसे आचार्यों का उल्लेख किया है जो मानवेतर हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संस्कृत में आलोचना को अनादि माना गया है और राजशेखर जैसे विद्वानों ने आलोचनाशास्त्र को सप्तम वेद के रूप में समादृत भी किया है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीनतम काल से ही आलोचक आलोचना के विभिन्न पहलुओं पर विचार करते आ रहे हैं। वैदिक काल से लेकर आज तक आलोचनाशास्त्र का उत्तरोत्तर विकास होता आ रहा है। रचना की दृष्टि से इस दीर्घकाल की सीमा को ५ भागों में विभाजित करना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है :--

१—प्रारम्भिक युग (प्रारम्भ से भामह के पूर्व तक),
२—अन्वेषण एवं रचना युग (भामह से आनन्द तक),
३—काव्यतत्त्वचिन्तन युग (आनन्द से मम्मट तक),
४—समन्वय युग या व्याख्या काल (मम्मट से जगन्नाथ तक) और
५—आधुनिक युग (जगन्नाथ के पश्चात्)।

१. प्रारम्भिक युग

जैसा हमने बताया कि ऐतिहासिक दृष्टि से 'आलोचना' का उद्गम स्थान ऋग्वेद माना जाता है। 'रस' शब्द का प्रथम दर्शन हमें 'ऋग्वेद' में होता है किन्तु वहाँ इस शब्द का प्रयोग शास्त्रीय अर्थ में नहीं हुआ है। इसके अतिरिक्त वेद की ऋचाओं में सुन्दर उक्तियों एवं अलंकारों का अधिक प्रयोग मिलता है। बेदों के स्तुति-गीतों में कहीं-कहीं ऐसे वचनों के दर्शन होते हैं जहाँ आलोचना की अस्पष्ट झलक दिखाई देती है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलङ्कारों, वीर, श्रृंगार, करुण आदि रसों एवं काव्यमय गीतों के दर्शन अनेक मन्त्रों में होते हैं। तैत्तरीयोपनिषद् के 'रसो वै सः' इस वाक्य में रस का स्रोत देखा जा सकता है। उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि वैदिक युग के ऋषियों में काव्य को परखने की क्षमता विद्यमान थी।

वैदिक भूमि के ग्रन्थ यास्क के निरुक्त में आलोचना का विषय कुछ अधिक विकसित रूप में देखने को मिलता है। यहाँ पर निरुक्तकार ने 'उपमालङ्कार' का शास्त्रीय विवेचन करने का प्रयास किया है। उन्होंने उपमालङ्कार का लक्षण पूर्ववर्त्ती आचार्य गार्ग्य के नाम से उद्धृत किया है।[2] इसके अतिरिक्त निरुक्तकार ने भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा, कर्मोपमा

---

१. उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तममङ्गमिति यायावरीयः

(काव्यमीमांसा)

२. उपमा-यत् अतत् यद् सदृशमिति गार्ग्यः (निरुक्त ३/१३)

और लुप्तोपमा आदि उपमा के पांच भेद भी किये हैं।[१] उन्होंने इव, आ, चित्, था, यथा,व आदि कुछ उपमावाचक शब्दों का भी निर्देश किया है। इससे ज्ञात होता है कि यास्क (७०० ई० पू०) के समय आलोचना-शास्त्र की मान्यताएँ स्थापित हो चुकी थी।

सोमेश्वर ने अपने 'साहित्य--कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ में 'भागुरि' का एक काव्यशास्त्र विषयक मत-उद्धृत किया है।[२] आचार्य अभिनवगुप्त ने भी 'ध्वन्यालोक-लोचन' में 'भागुरि' का एक रसविषयक मन्तव्य दिया है।[3] यह भागुरि वैयाकरण भागुरि ही था, जिसकी गणना वायु, भारद्वाज, चाणक्य आदि प्राचीन महर्षियों की कोटि में की गई है।[४] इससे ज्ञात होता है कि भागुरि ने काव्यशास्त्र पर कुछ विचार अवश्य किया है।

पाणिनि (५०० ई० पू०) की अष्टाध्यायी में उपमा अलंकार का निरूपण अधिक स्पष्ट है। उपमान, उपमित, सामान्य आदि उपमा के धर्मों का निर्देश 'अष्टाध्यायी' में पाया जाता है।[५] इतना ही नहीं, बल्कि उपमा के 'श्रौती' और 'आर्थी' भेदों का विस्तृत विवेचन भी व्याकरणशास्त्र में पाया जाता है।[६] पतञ्जलि ने उपमान शब्द की व्याख्या महाभाष्य में की है।[७] उनका 'गौरिव गवयः' यह उदाहरण ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्व रखता है।

पाणिनि ने पाराशर्य, शिलालि, कर्मन्द एवं कृशाश्वादि भिक्षुसूत्रों एवं नटसूत्रों का उल्लेख किया है।[८] संभवतः ये नटसूत्र नाट्यशास्त्र से सम्बन्धित रहे हों। आनन्दवर्द्धन ने व्याकरण को काव्यशास्त्र का उपजीव्य माना है।

"प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः। व्याकरणमूलत्वात्सर्वविद्यानाम्।"
(ध्वन्यालोक, उद्योत१)

---

१. निरुक्त (४।१३।१८)
२. सं. सा. इति. (गैरोला)—साहित्यकल्पद्रुम राजकीय पुस्तकालय मद्रास का हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची पत्र, भाग १, खण्ड १।
३. ध्वन्यालोक लोचन (तृतीय उद्योत)।
४. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास (पृ. ७०)
५. तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम् (पा. सू. २/३/७२)
उपमानानि सामान्यवचनैः (पा. सू. २/१/५५)
उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे (पा. सू. २/१/५६)
६. तत्र तस्येव (पा. सू. १/५/११६)
तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः (पा. सू. ५/१/११५)
७. महाभाष्य (पतञ्जलि)
८. पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः (पा. सू.)
कर्मन्दकृशाश्वादिनिः (पा. सू.)

आलोचना शास्त्र का ध्वनिसिद्धान्त व्याकरणशास्त्र के स्फोट सिद्धान्त से पर्याप्त प्रभावित है। मम्मट ने वैयाकरणों के स्फोट के अर्थ में प्रयुक्त ध्वनि शब्द को शब्द और अर्थ दोनों के लिए प्रयुक्त किया है—

'बुधैः वैयाकरणैः प्रधानभूतव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। तन्मतानुसारिभिः अन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यवाचकस्य शब्दार्थयुगलस्य।'

(काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास)

रामायण के रचयिता महर्षि वाल्मीकि संस्कृत साहित्य के प्रमुख आलोचक थे। उनमें कारयित्री और भावयित्री दोनों प्रकार की प्रतिभा विद्यमान थी। उन्होंने अपने श्लोक 'मा निषाद' की स्वयं आलोचना की है :—

समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा।
सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

(बालकाण्ड २।४०)

पादबद्ध अक्षरसमः तन्त्रीलयसमन्वितः।
शोकार्त्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा॥

उनकी इस 'शोक' और 'श्लोक' के समीकरण रूप आलोचना में काव्यशास्त्र का महान् सिद्धान्त निहित है। जो केवल पूर्वी ही नहीं, बल्कि पश्चिमी विद्वानों को भी मान्य हो गया है। निश्चय ही आदि कवि एक आलोचक थे। कालिदास तथा आनन्दवर्द्धन ने उन्हें कवि के अतिरिक्त आलोचक भी माना है। द्वितीय शतक के जूनागढ़ स्थित रुद्रदामन शिलालेख में काव्यभेद एवं काव्यगुणों का उल्लेख हैं।[१]

राजशेखर के मतानुसार शिव काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य हैं। शंकर के पश्चात् वे ब्रह्मा को काव्यशास्त्र के दूसरे आचार्य मानते हैं। ब्रह्मा ने भरत को नाट्यशास्त्र का उपदेश दिया। राजशेखर ने सुवर्णनाभ और कुचुमार का भी उल्लेख किया है।[२] जिसकी पुष्टि वात्स्यायन के 'कामसूत्र' से होती है। किंतु इनका काव्यशास्त्र विषयक कोई ग्रंथ नहीं मिलता।[3]

भरत मुनि कृत 'नाटयशास्त्र' में कोहल के साथ वात्स्य, शाण्डिल्य एवं धूर्तिल का नाम नाटयाचार्य के रूप में उल्लिखित है।[४] पर इनके भी कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं होते। 'नाट्यशास्त्र' के भरत पुत्रों की सूची में नखकुट्ट, अश्मकुट्ट, बादरायण के नाम आये हैं।

---

१. रुद्रदामन का गिरनार शिलालेख।
२. देखिये 'काव्यमीमांसा' का प्रथम अधिकरण।
३. कामसूत्र (वात्स्यायन)
४. कोहलादिभिरेवं वात्स्यशाण्डिल्यधूर्तिलैः (ना. शा. ३७/ २८)

विश्वनाथ ने भी नखकुट्ट[1] और सागरनन्दी ने अश्मकुट्ट[2] तथा बादरायण[3] के मत का उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि ये नाट्यशास्त्र के प्राचीन आलोचक थे।

शारदातनय ने 'भाव प्रकाशन' में अनेक नाट्याचार्यों जैसे—सदाशिव, गौरी, वासुकी नारद, अगस्त्य, व्यास, और आञ्जनेय का उल्लेख किया है।[4] 'संगीतरत्नाकर' में—सदाशिव, ब्रह्मा, भरत, कश्यप, मतंग, कोहल, नारद, तुम्बर, अञ्जनेय और नन्दिकेश्वर का उल्लेख है।[5] नान्यदेव ने भरतभाष्य में मतंग, विशाखिल, कश्यप, नन्दिन् तथा दन्तिल का निर्देश किया है। अभिनवगुप्त ने रागों पर कश्यप का मत उद्धृत किया है।[6] 'संगीतरत्नाकर' की टीका में कल्लिनाथ ने कश्यप के पद्य उद्धृत किये हैं। 'अग्निपुराण' में कश्यप का छंदकार के रूप में उल्लेख है। 'काव्यादर्श' की 'हृदयंगमा' टीका में कश्यप एवं वररुचि का उल्लेख है। कश्यप संगीत के भी आचार्य थे। इनके ग्रंथ का नाम 'काश्यपसंहिता' है। नारद की 'नारदसंगीत' नामक पुस्तक बड़ौदा से प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त नारदीय शिक्षा, पञ्चमसार संहिता नामक ग्रंथ भी नारद के नाम से मिलते हैं। आञ्जनेय आचार्य की 'आञ्जनेय संहिता' में संगीत विषय प्रतिपादित हैं। उपर्युक्त विवेचन से पता चलता है कि इन आचार्यों का आलोचना—शास्त्र के विकास में पूर्ण योगदान रहा है।

भरत के नाट्यशास्त्र में **'कोहल'** नामक आचार्य का उल्लेख मिलता है।[7] अभिनव-गुप्त ने भी कोहलाचार्य के मत का उल्लेख किया है।[8] दामोदर गुप्त ने कुट्टनीमत में भरत के साथ कोहल का आचार्य के रूप में उल्लेख किया है।[9] शार्ङ्गदेव कोहल को अपना उपजीव्य मानते हैं।[10] हेमचन्द्र ने कोहल को नाट्याचार्य के रूप में उल्लेख किया है।[11] कोहल के नाम से 'कोहलमतम्' नामक एक छोटी सी पुस्तक मिलती है। कोहलकृत 'ताल' नामक एक और ग्रन्थ का पता चलता है। इससे पता चलता है कि नाट्यशास्त्र के विस्तृतीकरण में कोहल का विशेष हाथ रहा है।

नाट्याचार्यों में कोहल के साथ **दत्तिल** का नाम भी मिलता है। प्रथम शताब्दी के

---

१. साहित्यदर्पण (पृ० २९४)
२. नाटक लक्षणरत्नकोष
३. वही
४. भाव प्रकाशन (पृ० २)
५. संगीत रत्नाकर (१/१५-१९)
६. अभिनवभारती
७. शेषः प्रस्तारतन्त्रेण कोहलः कथयिष्यति (ना. शा. ३७/१८)
८. अभिनवभारती
९. कोहलभरतोदितक्रियया (कुट्टनीमत, श्लोक ८१)
१०. संगीत रत्नाकर।
११. प्रपञ्चस्तु भरतकोहलादिशास्त्रेभ्योऽवगन्तव्यः (काव्यानुशासन, पृ० २२५)

एक शिलालेख में इनके नाम का निर्देश मिलता है।[१] संगीतरत्नाकर के व्याख्याकार सिंहभूपाल अनेक अवसरों पर इनके मत का उल्लेख किया है। इनका 'दत्तिलकोहलीयम्' नामक संगीतशास्त्र का एक ग्रन्थ प्राप्त हुआ है जिसमें कोहल और दत्तिल के संगीत विषयक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। कोहल के समान दत्तिल भी नाट्यशास्त्र के प्राचीन आचार्य हैं।

नन्दिकेश्वर का उल्लेख आचार्य राजशेखर ने अपने ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' में किया है। 'संगीतरत्नाकर' में नन्दिकेश्वर को संगीत का आचार्य बताया है। 'नाट्यशास्त्र' के काव्य-माला संस्करण में ग्रन्थ के अन्त में 'नन्दिभरतसंगीतपुस्तकम्' लिखा है। अभिनवगुप्त ने नन्दिकेश्वर के मत से रेचित नामक अगंहार का उल्लेख किया है। उन्होंने नन्दि को तण्डु का द्वितीय नाम बताया है।[२] नाट्यशास्त्र में लिखा है कि तण्डु ने अङ्गहारों, करणों एवं रेचकों का उपदेश भरत को दिया था। शारदातनय के मतानुसार नन्दिकेश्वर ने शिव की आज्ञा से नाट्यवेद की शिक्षा ब्रह्मा को दी और ब्रह्मा ने भरत तथा उनके पाँच शिष्यों को पढ़ाया।[3] रामकृष्ण कवि ने भी नन्दिकेश्वर और तण्डु को एक ही माना है। उनका कथन है कि नन्दिकेश्वर रचित 'नन्दिकेश्वर संहिता' का अवशिष्ट भाग ही 'अभिनय दर्पण' है। मद्रास में खोज के आधार पर नन्दिकेश्वर के नाम से 'ताल लक्षण' नामक ग्रंथ का पता चला है। नन्दिकेश्वर के नाम से 'अभिनय दर्पण' तथा 'भरतार्णव' नामक ग्रंथ मिलते हैं। कुछ विद्वान् 'भरतार्णव' को नन्दिकेश्वर की रचना न मानकर नन्दिकेश्वर मतानुयायी किसी अन्य व्यक्ति की रचना मानते हैं।

भरत मुनि का नाम प्रथम नाट्यशास्त्रकार के रूप में साहित्यशास्त्र में विशेष उल्ले-खनीय है। 'नाट्यशास्त्र' के रचयिता एवं काल के सम्बन्ध में विविध मत पाये जाते हैं। कुछ विद्वान् भरत को काल्पनिक व्यक्ति मानते हैं। उनके मत में जो नट का कार्य करते थे वे 'भरत' कहलाते थे। बाद में 'भरत' नामक आचार्य की कल्पना कर ली गई, किंतु भरतमुनि काल्पनिक व्यक्ति नहीं हैं, वे ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। मत्स्यपुराण में लिखा है कि, भरतमुनि ने देवलोक में 'लक्ष्मीस्वयंवर' का अभिनय कराया था।[४] कालिदास के 'विक्रमोवंशीय' नाटक में भरत का उल्लेख है। अश्वघोष के सारिपुत्रप्रकरण पर नाट्यशास्त्र का प्रभाव दिखाई देता है। भरतमुनि का समय २०० ई० पू० माना जाता है। मैकडानल, लेवी, हरप्रसाद शास्त्री, डा० दे और काणे महोदय ई० पू० प्रथम शताब्दी मानते हैं। शारदातनय के अनुसार नाट्यशास्त्र के दो रूप हैं। एक १२००० श्लोकों का नाट्यशास्त्र, जिसके रचयिता वृद्धभरत हैं। और दूसरा ६००० श्लोकों का नाट्यशास्त्र, जिसके रचयिता भरत हैं। नाट्यशास्त्र के तीन भाग

---

१. खं. १०० वर्षे एकस्मिन् शिलाशासनेऽस्य नाम दृश्यते। (रामकृष्णकवि)

२. तण्डुमुनिशब्दौ नन्दिभरतयोरपरनामनी (अभिनवभारती)

३. भावप्रकाशन।

४. मत्स्यपुराण २४/२७-३२

हैं। १– सूत्रभाष्य २– कारिका ३– अनुवंश्यश्लोक। नाट्यशास्त्र के कुल ३६ अध्याय हैं। इन अध्यायों में नाट्य की उत्पत्ति, अभिनय से सम्बद्ध विषय, रस तथा भाव, दस दोष, दस गुण एवं चार अलंकारों की मीमांसा की गई है।

नाट्यशास्त्र के बाद आलोचनाशास्त्र का विवेचन **'अग्निपुराण'** में मिलता है। 'अग्नि-पुराण' के ३३६-३४७ अध्यायों में काव्यशास्त्र के विषयों का वर्णन है। इनमें काव्य का स्वरूप, काव्य के भेद, नाट्यशास्त्र सम्बन्धी विषय, रस, भाव, नायक-नायिका भेद, रीति-वृत्ति, अभिनय, अलंकार, गुण एवं दोष आदि विविध विषय प्रतिपादित किए गये हैं। विकास-क्रम की दृष्टि से यह भरत के पश्चात् का माना जाता है रस के सम्बन्ध में अग्निपुराण की मौलिक मान्यताएँ भी हैं।

मेधावी काव्यशास्त्र के आचाय हैं। भामह ने मेधावी के सात दोषों को उद्धृत किया हैं।[1] राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में इनका उल्लेख किया है। नमिसाधु ने रुद्रट के काव्यलंकार की टीका में मेधावी का उल्लेख किया है। मेधावी और मेधविरुद्र दोनों एक ही व्यक्ति माने जाते हैं। मेधावी की कोई रचना अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है।

'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' के तृतीय खंड में अलंकार तथा नाट्यविषयक सामग्री विद्यमान है। इस पुराण में लगभग १००० श्लोकों में काव्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र सम्बन्धी विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इसके चार अध्यायों में गीत, आतोद्य, मुद्राहस्त तथा प्रत्यंग विभाग वर्णित हैं। चित्रकला, मूर्तिकला, नाट्यकला तथा काव्यशास्त्र विषयों को चित्रसूत्र नाम से प्रतिपादित किया गया है। रूपक तथा रस को छोड़कर शेष विषयों में यह नाट्यशास्त्र का अनुसरण करता है।

२. अन्वेषण एवं रचना युग

प्राय: पौराणिक काल तक नाटयशास्त्र तथा काव्यशास्त्र दोनों विषयों का साथ-साथ प्रतिपादन किया जाता रहा है, किन्तु इसके बाद ये दोनों अलग-अलग आलोचना के विषय बन गये। भामह ने काव्यशास्त्र को नाटयशास्त्र की परतन्त्रता से मुक्त कर एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में आलोचकों के समक्ष प्रस्तुत किया। भामह के पिता का नाम रक्रिलगोमी था। ये काश्मीर के रहने वाले थे। इनका समय ६०० ई० माना जाता है। भामह को कुछ लोग बौद्ध मानते हैं किन्तु इन्होंने बौद्धों के अपोहवाद का खण्डन किया है। अत: इन्हें बौद्ध नहीं कहा जा सकता। भामह के ग्रंथ का नाम 'काव्यालङ्कार' है। 'काव्यालङ्कार' के प्रथम परिच्छेद में काव्य-साधना, काव्य का लक्षण तथा भेदों का निरूपण है। द्वितीय, तृतीय में अलङ्कारों का, चतुर्थ में दस दोषों का, पञ्चम में न्यायविरोधी दोष और षष्ठ परिच्छेद में शब्द-शुद्धि का वर्णन है। 'काव्यालङ्कार' में कुल लगभग ४०० श्लोक हैं। भामह की प्रमुख विशेषताएँ हैं—शब्द और अर्थ के सहभाव को काव्य मानना, भरत

---

१. त एव उपमा सप्त दोषा: मेधाविनोक्ता: (काव्यालंकार २/ ४०)

के दस गुणों का गुणत्रय में अन्तर्भाव, वक्रोक्ति की व्यापकता, दसविध दोषों का सुन्दर विवेचन तथा रीति पर आग्रह न करके काव्यगुणों का महत्व बताना। भामह अलङ्कार सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य माने जाते हैं।

भट्टि—(पञ्चम शताब्दी) की रचना भट्टिकाव्य (रावणवध) के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें कुल २२ सर्ग हैं। तृतीय प्रसन्न काण्ड के १०-१३ चार सर्गों में काव्यशास्त्र सम्बन्धी विषयों का वर्णन है। १० वें सर्ग में ३८ अलंकारों के उदाहरण, ११ वें में माधुर्यगुण के उदाहरण, १२ वें में भाविक अलंकार के उदाहरण तथा १३ वें सर्ग में भाषासम के उदाहरण प्रस्तुत किये गये है। भट्टि ने अलंकारादि का कोई लक्षण नहीं दिया है। भामह ने जिस क्रम से लक्षण दिये हैं भट्टि ने उसी क्रम से उदाहरण दिये हैं। इन्हीं चार सर्गों के कारण इनका नाम काव्यशास्त्र के इतिहास में सम्मलित है।

दण्डी—(सप्तम शताब्दी) दक्षिण भारत के रहने वाले थे। इनका समय सप्तम शताब्दी माना जाता है। इनका लोकप्रिय ग्रन्थ 'काव्यादर्श' है जिसमें काव्यशास्त्र का वर्णन किया गया है। इनके काव्यादर्श का अनुवाद तिब्बती भाषा में हो चुका है। 'काव्यादर्श' में चार परिच्छेद हैं। प्रथम में काव्य का लक्षण—भेद, गुण तथा रीति, द्वितीय में अर्थालंकारों का, तृतीय में शब्दालंकारों का, चतुर्थ में दस प्रकार के दोषों का वर्णन है। दण्डी रीति सम्प्रदाय के मार्ग दर्शक आचार्य माने जाते हैं, और अंशतः अलंकार सम्प्रदाय के भी आचार्य हैं। इनके ग्रंथ में गुण एवं अलंकार दोनों का विस्तृत विवेचन है।

उद्भट—(अष्टम शताब्दी) काश्मीर निवासी जयापीड़ के सभापण्डित थे। उद्भट अलंकार सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्यों में माने जाते हैं। उद्भट के तीन ग्रंथ मिलते हैं—१—काव्यालंकारसारसंग्रह २—भामहविवरण (जो भामह के काव्यालंकार की टीका है) ३—कुमारसंभवकाव्य। इनका कुमारसंभव काव्य तो उपलब्ध नहीं है। इनके 'काव्यालंकारसारसंग्रह' पर प्रतिहारेन्दुराज तथा राजानक तिलक की टीकाएँ हैं।

'काव्यालंकारसारसंग्रह' में वैज्ञानिक एवं आलोचनात्मक ढ़ंग से अलंकारों का विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त उद्भट ने कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया है—१—अर्थभेद से शब्दभेद की कल्पना।[1] २—श्लेष के दो भेद—शब्दश्लेष और अर्थश्लेष (दोनों को अर्थालंकार) मानना।[2] ३—श्लेष की अन्य अलंकारों से प्रमुखता तथा अन्य अलंकारों की गौणता। ४—वाक्य का तीन प्रकार से अभिधाव्यापार।[3] ५—अर्थ की द्विविध कल्पना विचारितसुस्थ और अविचारितरमणीय।[4] ६—काव्य गुणों की

---

१. अर्थभेदेन तावच्छब्दा भिद्यन्ते इति महोद्भटस्य सिद्धान्तः (प्रतिहारेन्दु. प. ५५)

२. शब्दश्लेष इति चोच्यते, अर्थालंकारमध्ये च लक्ष्यते इति कोऽयं नयः,

(का० प्र० नवम उल्लास)

३. तस्य (वाक्यस्य) त्रिधाभिधाव्यापार इति औद्भटाः (काव्यमीमांसा)

४. काव्यमीमांसा।

संघटना का धर्म बताना।[1] ७—व्याकरण पर आधारित उपमा के उत्तरवर्ती भेदों का विस्तृत निरूपण ८—शृङ्गारादि रसों की अभिव्यक्ति तत्-तत् शब्दों द्वारा चार अन्य प्रकारों से मानना।

वामन (अष्टम शताब्दी) का नाम आलोचनाशास्त्र के इतिहास में विशेषत: उल्लेखनीय है। कल्हण ने वामन को काश्मीर नरेश जयापीड़ (७७९-८१३) का मंत्री बताया है। अत: इनका समय अष्टम शताब्दी माना जाता है। वामन के ग्रंथ का नाम 'काव्यालंकारसूत्र' है। इसमें काव्य की आलोचना सूत्रों में की गई है। यह पाँच परिच्छेदों में विभक्त है। इसमें कुल १३ अध्याय और ३१९ सूत्र हैं। प्रथम परिच्छेद में तीन अध्याय हैं। इनमें काव्य लक्षण, काव्य प्रयोजन, काव्य हेतु, अधिकारी, रीति और काव्य प्रकार का निरूपण है। द्वितीय दोषदर्शन नामक अधिकरण है। इसके दो अध्यायों में पद, वाक्य, और वाक्यार्थों के दोषों का निरूपण है। तृतीय गुणविवेचन नाम अधिकरण है। इसके दो अध्यायों में गुण और अलंकार का भेद तथा गुणों का विवेचन है। चतुर्थ आलंकारिक नामक अधिकरण है। इसके तीन अध्यायों में यमक, अनुप्रास, उपमा आदि अलंकारों तथा उपमा के दोषों का वर्णन है। पंचम प्रायोगिकाधिकरण है। इसके दो अध्यायों में शब्दशुद्धि का निरूपण है। 'काव्यालंकार सूत्र' में ३३ अलंकारों का निरूपण है। इसके कुल तीन भाग हैं—सूत्र, वृति और उदाहरण। इनमें सूत्र और वृति तो इनकी स्वयं की कृति है, किंतु अधिकांश उदाहरण दूसरों से लिए गये हैं।

वामन रीति सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य हैं। इन्होंने रीति को काव्य की आत्मा माना है।[2] वामन की कुछ और नवीन मान्यताएं भी हैं—१–गुण और अलंकारों में भेद स्थापित करना।[3] २–तीन रीतियों की स्वीकृति। ३–'वक्रोक्ति' की अर्थालंकारों में गणना और 'सादृश्याल्लक्षणा' यह लक्षण मानना। ४–विशेषोक्ति का विचित्रलक्षण।[4] ५– आक्षेप नामक अलंकार के दो अर्थ मानना। ६– समग्र अर्थालंकारों को उपमा मूलक मानना। ७– दस प्रकार के गुणों को शब्दगत एवं अर्थगत मानकर बीस गुणों की कल्पना।

रुद्रट (नवम शताब्दी) काव्यशास्त्र के एक प्रतिष्ठित आचार्य हैं। ये काश्मीर के निवासी थे। इनका एक मात्र ग्रंथ 'काव्यालंकार' है। इसमें १६ अध्याय और ७३४ श्लोक हैं। इनमें ११ अध्यायों में अलंकारों का वर्णन और अन्तिम चार अध्यायों में रस-मीमांसा है। रुद्रट ने अलंकारों का विभाजन वैज्ञानिक रीति से किया है। इन्होंने वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष को अलंकार का मूलतत्व माना है। इन्हीं के आधार

---

१. संघटनाया धर्मो गुणाः इति भट्टोद्भटादयः (ध्वन्यालोक लोचन)

२. रीतिरात्मा काव्यस्य (काव्यालंकारसूत्र)

३. काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः। (काव्यालंकारसूत्र ३/२/१-२)

४. एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदाढर्यं विशेषोक्तिः (का. अ. सू. ४/३/२३)

पर अलंकार को चार वर्गों में विभाजित किया गया है। वास्तव वर्ग में २३, औपम्य वर्ग में २१, अतिशय वर्ग में १३ और श्लेष में १ अलंकार है। संकर को मिलाकर कुल ५८ अलंकार हैं। रुद्रट अलंकार सम्प्रदाय के प्रतिनिधि आचार्य हैं। इनकी कुछ नवीन मान्यताएँ भी हैं— १–मत, साम्य, पिहित और भाव इन चार नवीन अलंकारों की कल्पना। २– नौ रसों के अतिरिक्त 'प्रेय' नामक नवीन रस की कल्पना। ३– नायक-नायिका भेद का विस्तार के साथ वर्णन। ४– रीति को विशेष महत्व न देना। ५– गुणों के विवेचन का अभाव। ६– रुद्रट और श्रृंङ्गारतिलक के रचयिता रुद्रभट्ट दोनों भिन्न-भिन्न हैं या अभिन्न ? इसमें मतभेद पाया जाता है।

३. काव्यतत्त्वचिन्तन युग

आलोचना—शास्त्र के इतिहास में मौलिक-कल्पना के लिए युगान्तर उत्पन्न कर देने वाले **आचार्य आनन्दवर्धन** का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वे ध्वनि सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं। काश्मीर निवासी राजानक आनन्दवर्धन अवन्तिवर्मा के सभा पण्डित थे। इनका समय नवम शताब्दी माना जाता है। 'ध्वन्यालोक' इनका सर्वमान्य ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं— १– कारिकाएँ। २– वृति। ३– उदाहरण। ध्वन्यालोक चार उद्योतों में विभाजित है। प्रथम उद्योत में ध्वनि के संबन्ध में प्राचीन आचार्यों के मत की समीक्षा है। द्वितीय तथा तृतीय में ध्वनि के भेद-उपभेद तथा उनकी स्थापना का विवरण है। चतुर्थ में ध्वनि की उपयोगिता बताई गई है। ध्वन्यालोक के कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण तीनों भागों के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं या भिन्न-भिन्न ? इस प्रश्न का समाधान दो प्रकार से किया जाता है। एक पक्ष के विद्वान् कारिकाकार और वृत्तिकार को भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हैं। दूसरे पक्ष के विद्वान् कारिकाकार और वृत्तिकार को एक ही व्यक्ति मानते हैं।

राजशेखर ने अपना परिचय स्वयं दिया है। राजशेखर 'यायावर' कुल में उत्पन्न अकालजलद के प्रपौत्र और दुर्दुक के पुत्र थे। इनकी माता का नाम शीलवती था। इनकी पत्नी चौहानवंशीय अवन्ति सुन्दरी क्षत्रिय विदुषी थी। इनका समय दशम शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। इन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की है–बालरामायण, बालभारत, विशाल-सिद्धभञ्जिका और कर्पूरमंजरी इनके मुख्य ग्रंथ हैं। काव्यमीमांसा इनका काव्यशास्त्र का एकमात्र ग्रंथ है। इसमें काव्य विषयों का आलोचनात्मक शैली में विवेचन है। इसमें कुल १८ अध्याय हैं। जिनमें अनेक उपादेय विषयों का निरूपण किया गया है। इसमें विविध विषयों का का भण्डार है।

मुकुलभट्ट की एकमात्र कृति 'अभिधावृत्तिमात्रिका' में केवल १५ कारिकाएँ हैं। उन पर मुकुलभट्ट ने स्वयं वृति लिखी है। इसमें शब्द के वाच्य और लक्ष्य दो प्रकार के अर्थों का निरूपण किया गया है। यह ग्रंथ छोटा होने पर भी महत्वपूर्ण है। मुकुल भट्ट के पिता भट्ट कल्लट काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के सभा पण्डित थे। इनका समय दशम शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।

भट्टतौत अभिनव गुप्त के गुरु थे। उन्होंने 'काव्यकौतुक' नामक ग्रंथ लिखा था। जिस पर अभिनवगुप्त ने 'विवरण' नामक टीका लिखी है। यह ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं है किंतु अभिनव गुप्त ने अभिनव भारती में अनेक स्थलों पर उनके मत का उल्लेख किया है।

अभिनवगुप्त की प्रतिष्ठा टीकाकार के रूप में अधिक है। इन्होंने नाट्यशास्त्र पर 'अभिनव भारती' और ध्वन्यालोक पर 'लोचन' नामक टीका लिखी है। इनकी टीकाएँ एक मौलिक महाग्रंथ के रूप में मान्य हैं। इनकी अभिनवभारती काव्यशास्त्र का महामान्य ग्रंथ है। उनका काव्यशास्त्र के अतिरिक्त दर्शनशास्त्र का ज्ञान भी असाधारण था। इन्होंने 'तंत्रालोक' नामक तंत्रशास्त्र का ग्रन्थ भी लिखा है। ये काश्मीर के निवासी थे और इनका समय दशम शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है।

धनञ्जय विष्णु के पुत्र तथा धनिक के भाई थे। ये दोनों भाई धारानरेश मुञ्जराज के सभा पण्डित थे। इनका समय दशम शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। इनका ग्रन्थ दशरूपक है जिसमें नाटयशास्त्र के विषयों का सुन्दर शैली में प्रतिपादन किया गया है। इस पर धनिक ने 'अवलोक' नामक टीका लिखी है। दसरूपक में चार प्रकाश हैं। जिसमें वस्तु, नेता, रूपक के भेद तथा रस का विशिष्ट वर्णन किया गया है। ये रस के सम्बन्ध में भावकवादी हैं और व्यञ्जनावाद के विरोधी हैं। नाटयशास्त्र का यह अत्यन्त उपादेय एवं लोकप्रिय ग्रंथ है।

कुन्तक काश्मीर के निवासी थे। इन्हें 'राजानक' की उपाधि मिली थी। इनका समय दशम शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। इनके ग्रंथ का नाम 'वक्रोक्ति जीवित' हैं। इसमें चार उन्मेष हैं। इनमें वक्रोक्ति के स्वरूप तथा प्रकारों का वर्णन किया गया है। प्रथम दो उन्मेष तो पूर्ण हैं किन्तु अन्तिम दो उन्मेष अपूर्ण हैं। 'वक्रोक्ति जीवित' के तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। आचार्य कुन्तक 'वक्रोक्ति सिद्धान्त' के प्रतिपादक आचार्य हैं। इन्होंने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा के रूप में अभिषिक्त किया है।[1] इन्होंने ध्वनि को वक्रोक्ति के अन्तर्गत देखा है। 'वक्रोक्तिजीवित' एक अत्यन्त मूल्यवान् अनुपम कृति है। यह आलोचना—शास्त्र का प्रौढ़ एवं युगान्तरकारी ग्रंथ है। इन्होंने रस, ध्वनि एवं अलंकारों को वक्रोक्ति के अन्तर्गत ही बिठाने का प्रयास किया है। इनकी विवेचनाशक्ति मौलिक है।

राजानक महिमभट्ट काश्मीर के निवासी थे। इनका समय ११वीं शताब्दी के मध्य माना जाता है। इनका एक मात्र ग्रंथ 'व्यक्तिविवेक' है। इन्होंने ध्वनिसिद्धान्त को उखाड़ फेकने के लिए ही 'व्यक्ति विवेक' की रचना की है। 'व्यक्तिविवेक' में तीन विमर्श हैं। प्रथम विमर्श में ध्वनि का लक्षण तथा उसका अनुमान में अर्न्तभाव बड़ी प्रौढ़ता से किया गया है। दूसरे विमर्श में 'अनौचित्य' दोष के अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग प्रकारों पर विचार किया गया है। तृतीय विमर्श में ध्वन्यालोक के लगभग ४० श्लोकों को लेकर उन्हें अनुमान में अन्तर्भूत करने प्रयास किया गया है। महिमभट्ट ने ध्वन्यालोक के अभिधा,

---

१. वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्।

लक्षणा एवं व्यञ्जना शक्तियों में व्यञ्जना का खण्डन किया है। उनके मत में अभिधाशक्ति एकमात्र शक्ति है। रस के काव्यात्मा होने का विरोध न कर उनकी अनुभूति अनुमान के अन्तर्गत मानी है।

धारा नरेश भोजराज साहित्यशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थ। उन पर सरस्वती एवं लक्ष्मी दोनों की कृपा थी। वे स्वयं उदारचेता, विद्याप्रमी एवं विद्वानों के आश्रयदाता थे। इनका समय ११ वीं शताब्दी माना जाता है। भोज के काव्यशास्त्र सम्बन्धी दो ग्रंथ हैं— सरस्वतीकण्ठाभरण और शृङ्गारप्रकाश। ये दोनों ही विशाल काव्य ग्रंथ हैं। सरस्वती कष्ठाभरण में कुल पांच परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्य के २४ गुणों एवं १६ दोषों का निरूपण है। द्वितीय में २४ शब्दालंकारों, तृतीय में २४ अर्थालंकारों और चतुर्थ में २४ उभयालंकारों का वर्णन है। पञ्चम परिच्छेद में रस, भाव और नायक-नायिका भेद वर्णित हैं। शृगांरप्रकाश में रसों का विशेषकर शृगांर रस का विस्तृत विवेचन हैं। इसमें ३६ प्रकाश हैं। किन्तु अभी तक २२, २३, २४ संख्या के तीन प्रकाश प्रकाशित हैं। इन्होंने शृंगार को 'रसराज' कहा है। भोज का दृष्टिकोण समन्वयात्मक है।

क्षेमेन्द्र काश्मीर निवासी राजा अनन्तराज के सभा पण्डित थे। इनके पिता का नाम प्रकाशेन्द्र और पितामह का सिन्धु था। पहले इन्होंने शैवधर्म को स्वीकार किया था, किन्तु बाद में वैष्णव हो गये थे। इनका समय ११वीं शताब्दी माना जाता है। इन्होंने लगभग ४० ग्रन्थ लिखे हैं। साहित्य-शास्त्र विषयक इनके दो ग्रन्थ कविकष्ठाभरण और औचित्य-विचारचर्चा उपलब्ध हैं। इनका कविकण्ठाभरण काव्यशिक्षा विषयक ग्रन्थ है। इसमें ५ अध्याय और ५५ कारिकाएँ हैं। इनमें कवित्व प्राप्ति के उपाय, कवि के भेद, काव्य के गुण-भेद का निरूपण है। 'औचित्य विचारचर्चा' आलोचनात्मक ग्रन्थ है। इसमें औचित्य को काव्य का सर्वस्व माना गया है। 'सुवृत्ततिलक' इनका छन्द शास्त्र का ग्रन्थ है। क्षेमेन्द्र औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य हैं।

काव्यशास्त्र के इतिहास में **मम्मट** का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये काश्मीर निवासी जैयट के पुत्र थे। इनका समय ११वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। मम्मट को 'राजानक' की उपाधि प्राप्त थी। ये ध्वनिवाद के समर्थक आचार्य हैं। इनका प्रमुख ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' है। इसमें कुल १० उल्लास १४२ कारिकाएँ और ६०३ उदाहरण हैं। इसमें उन्होंने काव्य-शास्त्र के विविध विषयों का विवेचन किया है। 'काव्यप्रकाश' में कारिका, वृत्ति और उदाहरण तीन भाग हैं। इनमें कारिका और वृत्तिभाग के रचियता मम्मट हैं, किन्तु उदाहरण अन्य ग्रन्थों से उद्धृत किये गये हैं। 'काव्यप्रकाश' सूत्रशैली में लिखा गया अनुपम ग्रन्थ है। इस पर लगभग ७० टीकाएँ हैं। विषय विवेचन में मम्मट का समन्वयात्मक दृष्टिकोण रहा है। काव्य जगत् में सहस्राब्दियों से प्रचलित मत-मतान्तरों का सार संकलन कर 'काव्य प्रकाश' रूप नवनीत प्राप्त किया है भरत के रस सिद्धान्त तथा उस पर हुई समस्त व्याख्याओं का सार 'काव्य प्रकाश' में सुन्दर ढंग से हुआ है। मम्मट ने काव्यप्रकाश में पूर्ववर्ती आचार्यों की विचारधाराओं को उपस्थित किया है, किन्तु दासवत् अनुकरण नहीं। 'नीर-क्षीरविवेकन्याय' से जिसे

उचित समझा, उसे उचित स्थान दिया, जिसे प्रतिकूल समझा उनकी सम्यक् आलोचना भी की। काव्यप्रकाश की कतिपय नवीन उद्भावनाएँ भी हैं—१—ध्वनिमार्ग को सुप्रतिष्ठित करना। २—त्रिगुणवाद की स्थापना। ३—सूत्रात्मक शैली में विविध विषयों का समावेश। ४—रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध में मौलिक विचार। ५—अलङ्कारों में परस्पर भेद प्रदर्शन।

४. समन्वययुग या व्याख्याकाल

रुय्यक काश्मीर निवासी राजानक तिलक के पुत्र थे। इन्हें भी 'राजानक' की उपाधि मिली थी। इनका समय १२वीं शताब्दी का मध्य माना जाता है। इन्होंने उद्भट के ग्रन्थ पर 'उद्भट विवेक' या 'उद्भट विचार' नामक टीका लिखी है। रूय्यक ने 'काव्यप्रकाश' पर भी टीका लिखी है। इनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'अलङ्कार सर्वस्व' है जो इनकी मौलिक रचना है। इसमें कुल ८६ सूत्र हैं। जिसमें ६ शब्दालङ्कारों तथा ७५ अर्थलंकारों का निरूपण किया है। जिनमें परिणाम, उल्लेख, विचित्र और विकल्प जैसे नवीन अलंकारों की कल्पना मौलिक है। इस ग्रन्थ के दो भाग हैं सूत्र और वृत्ति। इनके ऊपर दो टीकाएँ हैं—जयरथकृत अलंकार-विमर्शिणी तथा समुद्रबन्ध की टीका। इसकी लोकप्रियता इससे सिद्ध है कि विश्वनाथ, अप्यय-दीक्षित, जगन्नाथ आदि आचार्यों ने इनके मत को उद्धृत किया है। अलंकार सर्वस्व के अति-रिक्त रुय्यक ने निम्नलिखित अन्य ग्रन्थ भी लिखे हैं—१—व्यक्तिविवेक विचार २—काव्य-प्रकाश संकेत ३—सहृदय लीला ४—अलंकार मंजरी ५—अलंकारानुसारिणी ६—साहित्य मीमांसा ७—नाटक मीमांसा ८—अलंकार वार्त्तिक।

वाग्भट्ट (प्रथम) जैन विद्वान् थे। इनका प्राकृत नाम 'बाहट' था। ये किसी राजा के मंत्री थे और इनके पिता का नाम सोम था। इनका समय १२वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। इनके ग्रन्थ का नाम 'वाग्भट्टालंकार' है। जिस पर आठ टीकाएं लिखी गई हैं। इसमें पांच परिच्छेद हैं, जिसमें २६० श्लोक हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्य लक्षण द्वितीय में काव्यभेद एवं दोष निरूपण, तृतीय में गुण विवेचन, चतुर्थ में अलंकार एवं रीति विवेचन पञ्चम में रस एवं नायक-नायिका भेद निरूपित हैं। वाग्भट्टालंकार के अतिरिक्त इनके नाम से कुछ और ग्रन्थ मिलते हैं—१—नेमिनिर्वाण काव्य, २—अष्टाङ्गहृदय ३—कवानुशासन ४—छन्दोऽनुशासन ५—ऋषभदेवचरित। ये सभी ग्रन्थ एक ही व्यक्ति द्वारा रचित हैं इस विषय पर विद्वानों का एक मत नहीं है।

जैनाचार्य **हेमचन्द्र** का नाम साहित्यशास्त्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ये गुजरात के राजा कुमारपाल के गुरु थे। इनका समय १२ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। इनके ग्रंथ का नाम काव्यानुशासन है। इस पर इन्होंने स्वयं 'विवेक' नामक वृत्ति लिखी है। काव्यानुशासन में ८ अध्याय हैं जिसमें काव्यलक्षण, शब्दार्थस्वरूप, रसदोष, गुणत्रय, ६ शब्दालंकार और २९ अर्थालंकार एवं नायक-नायिका के भेद निरूपित हैं। इन्होंने 'परावृत्ति' नामक नवीन अलंकार की कल्पना की है जिसके अन्तर्गत मम्मट के 'पर्याप्त' और

'परिवृत्ति' दोनों अलंकार आ जाते हैं। यह एक संग्रहात्मक ग्रंथ है। रस प्रकरण तो पूरा अभिनवभारती पर आधारित है।

हेमचन्द्र के दो शिष्य रामचन्द्र-गुणचन्द की सम्मिलित कृति 'नाट्य दर्पण' है जिसमें नाट्यशास्त्र विषयक चर्चाएँ हैं।

पीयूर्षवर्ष **जयदेव** राजा लक्ष्मण सेन के सभापण्डित थे। इनका समय १३ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। जयदेव रचित ग्रंथों में 'चन्द्रालोक', 'प्रसन्नराघव' और 'गीतगोविन्द' तीन ग्रंथ अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें 'गीतगोविन्द' को कुछ विद्वान् अन्य जयदेव द्वारा रचित मानते हैं। 'चन्द्रालोक' इनका काव्यशास्त्र का ग्रंथ है। यह ग्रंथ १० मयूखों में विभाजित है। जिसमें ३५० श्लोक हैं। इसमें काव्यशास्त्र के समस्त विषयों का निरूपण किया गया है। इनकी निरूपणशैली अनुपम है। अलंकारों के निरूपण में एक ही श्लोक के पूर्वार्द्ध में लक्षण और उत्तरार्द्ध में उदाहरण वर्णित हैं। इनके अलंकार प्रकरण को लेकर अप्पय दीक्षित ने 'कुबलयानन्द' नामक ग्रंथ लिखा है। इस पर लगभग ६ टीकाएँ लिखी गई हैं।

विद्याधर (१४ वीं शताब्दी) का एकमात्र ग्रन्थ 'एकावली' है। इसमें ८ उन्मेष हैं जिनमें काव्यस्वरूप, वृत्तिविचार, ध्वनिभेद, गुणीभूतव्यंग, गुण-रीति और अलंकारों का विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ प्रायः ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश और अलंकारसर्वस्व पर आश्रित है।

विद्यानाथ (१४ वीं शताब्दी) के ग्रंथ का नाम 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' है। ये दक्षिण-भारत के निवासी हैं। इसमें कारिका, वृत्ति और उदाहरण तीन भाग हैं। इसमें काव्य-शास्त्र तथा नाट्यशास्त्र दोनों से सम्बन्धित विषय प्रतिपादित हैं। इन्होंने मम्मट को अपना आदर्श माना है। इनकी टीका का नाम 'रत्नापण' है।

आलोचना शास्त्र के इतिहास में **विश्वनाथ** का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। ये उत्कल निवासी पं० चन्द्रशेखर के आत्मज थे। इनका समय १४ वीं शताब्दी माना है। विश्वनाथ का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'साहित्य दर्पण' है। इसके तीन भाग हैं,—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। इसमें कुल १० परिच्छेद हैं जिनमें काव्य के दृश्य एवं श्रव्य दोनों भेदों का विस्तृत निरूपण किया गया है। आलोचनाशास्त्र के जिज्ञासु पुरुषों के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है। इस ग्रन्थ की लेखन शैली सरल एवं सुबोध है। विश्वनाथ की कुछ विशेषताएँ भी हैं : १—प्रारम्भ में पूर्ववर्ती सभी काव्य लक्षणों का खण्डन कर 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की काव्यलक्षण के रूप में स्थापित करना। २—षष्ठ परिच्छेद में दृश्यकाव्य सम्बन्धी समस्त विषयों का समावेश। ३—नायक-नायिका का भेद निरूपण ४—इस निरूपण में मौलिक विचार। ५—विषयों का सरल, सुबोध एवं प्रमादमयी भाषा में विवेचन। साहित्यदर्पण काव्यशास्त्र का विश्व कोष कहा जाता है।

भानुदत्त (१४वीं शताब्दी) मिथिला निवासी गणेश्वर के पुत्र थे। काव्य शास्त्र पर इनके दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं—'रसमञ्जरी' और 'रसतरंगिणी'। इन दोनों में 'रसमञ्जरी' अधिक प्रसिद्ध

है। इस मञ्जरी के लगभग ⅔ भाग में नायिका–भेद का विस्तृत वर्णन किया गया है। शेष ⅓ भाग में नायक–भेद, सात्विक भाव एवं श्रृंगार रस के भेद वर्णित हैं। 'रसमञ्जरी' पर ११ टीकाएँ उपलब्ध हैं। भानुदत्त के द्वितीय ग्रन्थ 'रसतरंगणी' में आठ तरंग हैं जिनमें भाव, विभाव, अनुभाव व्यभिचारीभाव एवं रसों का विवेचन किया गया है। भानुदत्त ने अपने दोनो ग्रन्थों में 'रससिद्धान्त' का प्रतिपादन किया है।

रूपगोस्वामी (१५-१६वीं शताब्दी) चैतन्यमहाप्रभु के शिष्य थे। ये वृन्दावन की विभूति थे। काव्यशास्त्रविषयक इनके तीन ग्रन्थ हैं: १–भक्तिरसामृतसिन्धु, २–उज्ज्वलनीलमणि, ३–नाटकचन्द्रिका। इनमें 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में भक्तिरस को सर्वोत्तम रस सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। 'उज्वलनीलमणि' इसका पूरक ग्रन्थ है। इसमें मधुर श्रृंगार का विस्तृत विवेचन है। रूपगोस्वामी ने भक्ति की रसरूपता का प्रशस्त वर्णन किया है। इनका तीसरा ग्रन्थ 'नाटकचन्द्रिका' है जिसमें नाट्यशास्त्र से सम्बन्धित विषय विवेचित हैं।

केशवमिश्र (१६वीं शताब्दी) ने काव्य शास्त्र पर 'अलंकारशेखर' नामक ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ पर इन्होंने स्वयं वृत्ति भी लिखी है। यह ग्रन्थ ८ रत्नों और २२ मरीचियों में विभाजित है। इनमें काव्य की परिभाषा, रीति, शब्दशक्ति, दोष, गुण, अलंकार और रूपक आदि विषय वर्णित हैं। केशवमिश्र कारिकाएँ शौद्धोदनि द्वारा रचित मानते हैं।

अप्पयदीक्षित (१६ वीं शताब्दी) दक्षिण के रहने वाले शैवदर्शन के आचार्य थे। इनके आश्रयदाता का नाम 'वेंकटपति' था। काव्यशास्त्र पर इनके तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं: १—कुवलयानन्द, २–चित्रमीमांसा, ३—वृत्तवार्त्तिक। इनमें 'कुवलयानन्द' इनका सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। दीक्षित जी ने चन्द्रालोक से कारिकाएँ लेकर अलंकारों का निरूपण किया है। कारिकाएँ तो चन्द्रालोक से गृहीत हैं। गद्यांश इनकी स्वयं की कृति है। चन्द्रालोक में १०० अलंकार वर्णित हैं। इन्होंने १५ अलंकार और जोड़ दिये हैं और उनका लक्षण भी चन्द्रालोक के आधार पर कर दिया है। दीक्षितजी ने 'कुवलयानन्द' में अलंकारों का मार्मिक एवं विस्तृत वर्णन किया है। 'चित्रमीमांसा' इनका स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इसमें अलंकारों का अपूर्ण विवेचन है। इनके 'वृत्तवार्त्तिक' नामक ग्रन्थ में दो परिच्छेद हैं जिसमें अभिधा तथा लक्षणा का विवेचन किया गया है। दीक्षित जी दर्शनशास्त्र के उत्कृष्ट विद्वान् थे। काव्यशास्त्र के विकास में इनका पूर्ण योगदान रहा है। पण्डितराज जगन्नाथ ने इनकी प्रबल आलोचना की है।

आलोचनाशास्त्र के इतिहास में पण्डितराज जगन्नाथ (१७ वीं शताब्दी) का नाम बड़े गौरव के साथ लिया जाता है। ये दक्षिणात्य तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पेरुभट्ट और माता का नाम लक्ष्मी देवी था। इन्होंने अपनी यौवनावस्था दिल्ली में बिताई। काव्यशास्त्र का इनका प्रौढ एवं वैदुष्यपूर्ण ग्रन्थ 'रसगंगाधर' है। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में इस ग्रन्थ का अधिक सम्मान हैं। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता है कि इन्होंने स्वरचित उदाहरणों का प्रयोग किया है। 'रसगंगाधर' में दो आनन हैं। प्रथम आनन में इन्होंने पूर्ववर्त्ती आचार्यों के काव्यलक्षणों का खण्डन कर नवीन काव्यलक्षण स्थापित किया

है।[1] इसके अतिरिक्त काव्य के भेद, दस शब्दगुण, दस अर्थगुण, ध्वनिभेद और रस की विस्तृत व्याख्या भी इसी आनन में गई है। द्वितीय आनन में ध्वनि के भेदों को दिखाकर अभिधा और लक्षणा का विवेचन किया है। तदनन्तर ७० अलंकारों का विस्तृत वर्णन है। उत्तरालंकार विवेचन के पश्चात् यह ग्रन्थ समाप्त हो जाता है। रसगंगाधर में सभी विषयों के विवेचन के अवसर पर इन्होंने प्राचीन आचार्यों के मतों की पूर्ण समीक्षा की है। पण्डितराज में वैदुष्य एवं वैदग्ध्य का अपूर्ण मिश्रण है। अपूर्ण होने पर भी उनका रसगंगाधर विवेचना की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। नागेश भट्ट की 'गुरुमर्मप्रकाशिका' रसगंगाधर की सर्वोत्तम टीका है। दूसरी टीका का नाम 'विषयपदी' है। इसके अतिरिक्त पण्डितराज में अप्पय दीक्षित के 'चित्रमीमांसा' के खण्डन के लिए 'चित्रमीमांसाखण्डन' नामक ग्रन्थ लिखा है।

५. आधुनिक युग

पण्डितराज जगन्नाथ के पश्चात् यह युग प्रारम्भ होता है। इस युग के आचार्यों में **आशाधर भट्ट** (१८ वीं शताब्दी) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके पिता का नाम रामजी और गुरु का नाम धरणीधर था। काव्यशास्त्र विषयक इनकी तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं। १—कोविन्दनन्द, २—त्रिवेणिका, ३—अलंकार दीपिका। इनमें 'कोविन्दानन्द' और 'त्रिवेणिका' नामक ग्रन्थों में शब्दशक्तियों पर विचार किया गया है। 'अलंकारदीपिका' में १२५ अलंकारों का विस्तृत विवेचन है। 'चन्द्रालोक' के १००, 'कुवलयानन्द' के ११५ तथा 'अलंकारदीपिका' के १२५ अलंकारों का निरूपण अलंकार के विकास-क्रम को सूचित करता है।

आधुनिक युग के काव्यशास्त्र के इतिहास में **'विश्वेश्वर पण्डित'** का स्थान महत्त्व-पूर्ण है। ये अल्मोड़ा के अन्तर्गत 'पटिया' ग्राम-निवासी पाण्डेय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर था। इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'अलंकार कौस्तुभ' है। यह पण्डितराज की शैली में लिखा गया एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमें 'अप्पयदीक्षित' और 'पण्डितराज' के मतों का बड़ी प्रौढ़ता के साथ खण्डन किया गया है। सम्भवतः अलंकारों की बढ़ती हुई संख्या को रोकने के उद्देश्य से ही इन्होंने 'अलंकार कौस्तुभ' का निर्माण किया है।

विश्वेश्वर पण्डित के पश्चात् काव्यशास्त्र के आचार्यों में **'नरसिंह कवि'** (१८ वीं शताब्दी) जो अभिनव कालिदास के नाम से विभूषित हैं, का नाम आता है। नरसिंह कवि में 'नञ्जराजयशोभूषण' नामक अलंकार शास्त्र का ग्रन्थ लिखा है जिसके अन्तर्गत नायक, काव्य-ध्वनि, रस, दोष, नाटक और अलंकारों का निरूपण किया गया है।

काव्यशास्त्र के इतिहास में महावैयाकरण **'नागोजिभट्ट'** (१८वीं शताब्दी) का नाम बड़े सम्मान एवं गौरव के साथ लिया जाता है। ये महाराष्ट्र निवासी शिवभट्ट और सती के पुत्र थे। इनको 'नागेशभट्ट' भी कहते हैं। इन्होंने 'रसगंगाधर' पर 'गुरुमर्मप्रकाश' नामक

१—रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् (रसागंगाधर)

टीका लिखी है जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त काव्य प्रकाश, रसमञ्जरी और कुवलयानन्द पर भी टीकाएँ लिखी हैं। इन्होंने व्याकरणशास्त्र पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं।

इसके अतिरिक्त और भी बहुत से आचार्य हैं। जिन्होंने काव्यशास्त्र पर ग्रन्थ लिखे हैं। इन सभी आचार्यों का आलोचनाशास्त्र के विकास में पूर्ण योगदान रहा है। आलोचना शास्त्र के विकास के इन २००० वर्षों में अनेक वादों, विचारों एवं सम्प्रदायों का निर्माण व विकास हुआ है। जिससे संस्कृत आलोचना समृद्ध होती रही है इस समृद्ध संस्कृत आलोचना को हिन्दी ने भी अपनी आलोचना का आधार बनाया है।

जब से संस्कृत आलोचना हिन्दी में पर्यवसित और विकसित हो रही है, तब से संस्कृत में आलोचना ग्रन्थों के प्रणयन का अभाव सा हो गया है। इस समय संस्कृत आचार्यों की प्रवृत्ति संस्कृत ग्रन्थों की हिन्दी व्याख्या की ओर अधिक झुकी है। यद्यपि ये व्याख्याएँ हिन्दी में हैं, तथापि मूल ग्रन्थ संस्कृत के होने के कारण ही संस्कृत के ही आलोचना ग्रन्थ माने जाते हैं।

●
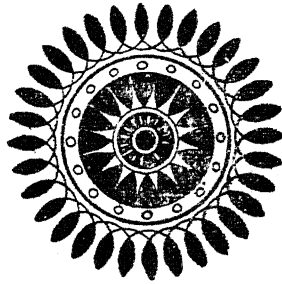
डा० हरवंशलाल शर्मा, डी० लिट्

हिन्दी आलोचना के मूलभूत तत्व

ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिक हिन्दी आलोचना का प्रारम्भ भारतेन्दु युग से माना जाता है परन्तु हिन्दी अलोचना के मूलभूत तत्वों का विकास वर्तमान युग में ही हुआ है। आज हिन्दी आलोचना का अपना विकसित रूप है जिसमें अनेक मौलिक तत्व हैं परन्तु भारतेन्दु युग से लेकर आज तक के हिन्दी आलोचना के विकास पर जब हम विचार करते हैं तो हमें उसमें तीन स्पष्ट धाराओं का स्वरूप मिलता है। उन धाराओं को हम हिन्दी आलोचना के प्रेरणा-स्रोत कह सकते हैं। वे तीन स्रोत हैं—: १—संस्कृत साहित्यशास्त्र, २—रीतिकालीन हिन्दी काव्यशास्त्र तथा ३– पाश्चात्य साहित्यालोचन। इन तीन प्रमुख स्रोतों के अतिरिक्त हिन्दी समालोचना के विकास में देश की अन्य सामाजिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक परम्पराओं का भी कम योगदान नहीं है। भारतवर्ष की हिन्दीतर भाषाओं के आलोचनादर्शों का भी हिन्दी आलोचना पर प्रभाव पड़ा है। हम यहां इन प्रेरणा-स्रोतों पर विचार कर हिन्दी आलोचना के मूलभूत तत्वों का विवेचन प्रस्तुत करना चाहते हैं।

हिन्दी भाषा का सीधा सम्बन्ध जितना प्राकृत और अपभ्रंश से है उतना संस्कृत से नहीं परन्तु आलोचना के क्षेत्र में उसका आदि स्रोत संस्कृत साहित्यशास्त्र ही रहा है। संस्कृत समीक्षा के छः मानदण्ड उसके विकास-क्रम में मिलते हैं। ये छः मानदण्ड हैं– अलंकार, रस, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य। संस्कृत काव्यशास्त्र में ये मानदण्ड सैद्धान्तिक प्रतिमानों के रूप में ही अधिक प्रतिपादित हुए है जिनमें खण्डन-मण्डन का ही वैशिष्ट्य रहा है– सिद्धान्तों का व्यवहारगत व्यौरा यथेष्ट मात्रा में नहीं मिलता। संस्कृत समीक्षा का सिद्धान्त

पक्ष बड़ा वैज्ञानिक तथा विश्व साहित्य में अद्वितीय है। सूत्र, व्याख्या तथा निर्णय इस समीक्षा-पद्धति के प्रमुख अंग हैं। पाश्चात्य समीक्षा पद्धति की वैयक्तिकना तथा व्यावहारिकता का इस पद्धति में अभाव है।

हिन्दी आलोचना के सैद्धान्तिक पक्ष पर संस्कृत समीक्षा का आज भी बड़ा प्रभाव है। संस्कृत समीक्षा का विकास भरत मुनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक होता रहा। पण्डितराज जगन्नाथ का समय ईसा की १७ वीं शताब्दी है, उसके पश्चात संस्कृत समीक्षा पद्धति का विकास अवरुद्ध सा हो गया। हिन्दी में उसके स्थान पर व्रजभाषा के माध्यम से हिन्दी काव्यशास्त्र का विकास प्रारम्भ हुआ। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने यह रीतिकाल सं० १७०० से सं० १६०० तक माना है। इन दो सौ वर्षों में हिन्दी काव्य शास्त्र के अनेक ग्रंथ लिखे गये। १७०० से पहले भी हिन्दी काव्यशास्त्र पर कुछ रचनाएँ हुई थीं जैसे कृपाराम की 'हिततरंगिणी' (१५६८), मोहनलाल मिश्र का 'श्रृंगार सागर' (१६१६) तथा करनेस बन्दीजन के 'कर्णाभरुण', 'श्रुति भूषण' और 'भूप भूषण।' रीति काव्यशास्त्र परम्परा का प्रवर्तन करने वाले आचार्य केशवदास जी थे जिन्होंने सं० १६५० के लगभग 'कविप्रिया' की रचना की थी। परन्तु ५० वर्ष तक यह काव्यशास्त्र की परम्परा नहीं चल सकी।

हिन्दी के रीतिकाव्य शास्त्र का मुख्य आधार संस्कृत का काव्यशास्त्र था, इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रीतिकालीन हिन्दी काव्य शास्त्र को संस्कृत साहित्यशास्त्र की उद्धरणी ही मानी है। वे लिखते हैं "हिन्दी में लक्षण ग्रंथों की परिपाटी पर रचना करने वाले जो सैकड़ों कवि हुए वे आचार्य कोटि में नहीं आ सकते। वे वास्तव में कवि ही थे उनमें आचार्यत्व के गुण नहीं थे। उनके अपर्याप्त लक्षण साहित्यशास्त्र का सम्यक् बोध कराने में असमर्थ हैं। वास्तव में रीतिकालीन परिस्थितियाँ ही इस प्रकार के साहित्य सर्जना का मूल कारण थीं। नायिका भेद तथा श्रृंगार रस-निरूपण की विशिष्ट पद्धति में इन आचार्यों का अवश्य कुछ योगदान कहा जा सकता है। इस निरूपण में नायक-नायिकाओं की मानसिक वृत्तियों का विश्लेषण, हाव-भाव चित्रण, नखशिख वर्णन, षट्ऋतु वर्णन आदि उल्लेखनीय हैं। परन्तु रीतिकालीन काव्यशास्त्रियों द्वारा समीक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष का गम्भीर विवेचन नहीं हो सका। किन्हीं नवीन मान्यताओं का प्रतिपादन उन्होंने नहीं किया। संस्कृत काव्यशास्त्र की व्यापकता पर भी उनका ध्यान नहीं गया। वे तो संस्कृत समीक्षा के किसी एक पक्ष को सर्वस्व मानकर चल पड़े हैं इसीलिए उनमें मौलिकता का अभाव है। संस्कृत समीक्षा के सभी सम्प्रदायों का थोड़ा बहुत स्वरूप हमें रीतिकाल में मिल जाता है। आधुनिक काल में भी यह परम्परा चलती रही है और आज भी हमें उन सम्प्रदायों के उत्तराधिकारी मिल जाते हैं।

हिन्दी आलोचना पर पाश्चात्य साहित्यालोचन का भी गहरा प्रभाव पड़ा। वास्तव में इस प्रभाव का प्रारम्भ तभी से हो जाता है जब से हमारे देश में पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली तथा आचार-विचारों ने प्रवेश किया। सामान्य रूप से यह प्रभाव १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दृष्टिगोचर हुआ। बात यह है कि आलोचना एक बौद्धिक प्रक्रिया होती है

तथा वह साहित्य चेष्टा की अनुगामिनी है। आधुनिक युग में पाश्चात्य प्रभाव से हमारे साहित्य की विधाओं का रूप बिल्कुल बदल गया, इसीलिए समालोचना के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्ष की विविध प्रवृत्तियों में परिवर्तन भी आवश्यक था। जैसाकि हमने पहले कहा संस्कृत समीक्षा पद्धति का व्यवहार पक्ष दुर्बल था तथा पाश्चात्य साहित्यालोचन में व्यवहार पक्ष की प्रबलता थी इसीलिए आधुनिक युग चेतना में पाश्चात्य साहित्यालोचन को शीघ्र ही ग्रहण कर लिया। विज्ञान की प्रगति तथा जीवन के संघर्ष ने साहित्य के स्थायी मूल्यों में आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया। आधुनिक सभ्यता आध्यात्मवादी न हो करके भौतिकवादी है, यही कारण है कि पाश्चात्य साहित्य की मान्यताओं से हम अधिक प्रभावित हुए। यह तो नहीं कहा जा सकता कि पश्चिमी साहित्यालोचन की मूल चेतना सर्वथा भौतिकवादी ही है। पाश्चात्य साहित्यालोचन के प्रवर्तक प्लेटो एवं अरस्तु आदि विचारकों ने साहित्य को इस दृश्यमान जगत की वस्तुओं और व्यापारों का अनुकरण मात्र बताया है तथा उसकी प्रक्रिया को बौद्धिकता की अपेक्षा भावात्मकता के अधिक निकट कहा है। साहित्य का उद्देश्य भी उन्होंने आनन्दोपलब्धि बताया, जिससे सहृदय समाज, प्रभावित और अनुप्राणित होता है। लोंजाइनस ने काव्य में उदात्त तत्व की योजना भी की है भारतीय काव्यशास्त्र के भाव पक्ष और विभाव पक्ष के समकक्ष कही जा सकती है। पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्तों में परिवर्तन पुनरुत्थानवादी लहर के प्रभाव से हुआ। वास्तव में हिन्दी आलोचना पर प्रभाव उन्हीं पाश्चात्य समीक्षकों का पड़ा है जो इस पुनरुत्थानवादी लहर की उपज में थे जैसे सर फिलिप, सिडनी, बेन जोन्सन, ड्राइडन, एडीसन आदि। ये विद्वान स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के अग्रदूत कहे जाते हैं। पाश्चात्य साहित्य में आज अनेक वाद चल रहे हैं—क्रोचे के अभिव्यंजनावाद से लेकर व्यक्तिवाद, अन्तश्चेतना-वाद, अतियथार्थवाद, अस्तित्ववाद तथा सामाजिक उपयोगितावाद आदि अनेक प्रवादों ने साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में जहाँ एक ओर व्यापक दृष्टि प्रदान की है वहाँ दूसरी ओर साहित्य को एकांगी भी बनाया है। कला के सम्बन्ध में भी प्लेटो, अरस्तु और लान्जाइनस से लेकर आज तक के आलोचकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत किए हैं।

आधुनिक हिन्दी समीक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष को क्रोचे के अभिव्यंजनावाद ने बड़ा प्रभावित किया परन्तु धीरे-धीरे उसका विरोध भी हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उसका सबसे पहले विरोध किया, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि अभिव्यंजनावाद के प्रभाव से हिन्दी साहित्य में प्रतीक योजना, अलंकार विधान, काव्य में मूर्तामूर्त विधान आदि प्रवृत्तियों का पर्याप्त संचार हुआ। पाश्चात्य साहित्य की यह स्वच्छन्दतावादी धारा १९ वीं शताब्दी की थी, जिसमें सौन्दर्यशास्त्र को विशेष महत्व मिला था तथा उसके विकास में जर्मन तथा फ्रांसीसी दार्शनिकों का विशेष हाथ था। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कार्लायल, आर्नल्ड, न्यूमैन तथा रस्किन आदि ने समीक्षा शास्त्र को फिर से सामाजिक तथा राजनीतिक स्तर पर लाने का प्रयास किया था। क्रोचे ने स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का ही समर्थन किया। इसलिए २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पाश्चात्य समीक्षा पद्धति की रेखाएँ कुछ

धूमिल सी रहीं। इस शताब्दी में समीक्षा को स्पष्ट दिशा देने वाले आइ० ए० रिचर्ड्‌स तथा टी० एस० ईलियट हैं। आई० ए० रिचर्ड्‌स ने सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तथा मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद के साहित्य का अभिन्न अंग बताया है। ईलियट ने अतीत और वर्तमान के समन्वय को आलोचना का आदर्श निश्चित किया तथा कलाकार के व्यक्तित्व को उसकी वृत्ति से निर्लिप्त बताया। उनकी दृष्टि में कला निर्वैयक्तिक होनी चाहिए। २०वीं शताब्दी में समीक्षाशास्त्र को सबसे अधिक प्रभावित करने वाले फ्रायड तथा मार्क्स हैं। फ्रायड का कहना है कि प्रत्येक कलाकार किसी हद तक स्नायु रोगी होता है तथा उसकी जो इच्छाएँ संसार में अतृप्त रहती हैं उनका शमन वह कला के माध्यम से करता है। इस प्रकार उन्होंने साहित्य का स्फुरण अवचेतन में माना है। आधुनिक समीक्षा में मनोविश्लेषण पद्धति के जन्मदाता फ्रायड ही हैं। युंग और एडलर ने भी इसी पद्धति को आगे बढ़ाया। हिन्दी के प्रगतिवादी समालोचक कुछ तो ईलियट से प्रभावित हुए क्योंकि ईलियट ने कवि के लिए केवल सौन्दर्यमय जगत् में ही भ्रमण करना पर्याप्त नहीं माना बल्कि उन्होंने सौन्दर्य के साथ असौन्दर्य तथा उल्लास के साथ विषाद का चित्रण भी कवि के लिए आवश्यक समझा। मार्क्सवादी समालोचना के अग्रदूत काडवेल हैं जो कला को समाज का ही एक अंग मानते हैं उनके अनुसार कला समीक्षा विशुद्ध मनोरंजन और रचना से भिन्न है। एक प्रकार से उनका समीक्षा सिद्धान्त मार्क्सवाद का साहित्यगत प्रयोग है।

पाश्चात्य समीक्षा की नवीनतम प्रवृत्ति का प्रभाव भी हिन्दी समीक्षा पर पड़ रहा है। इस पद्धति का विकास अमेरिका में हो रहा है। इस नवीन पद्धति के पोषक ब्रुक्स, राबर्ट केन्वारन, जार्ज क्राओ, रैन्सम, एलनटेट आदि का कहना है कि काव्य का मूल्यांकन सर्वथा निरपेक्ष और स्वतन्त्र होना चाहिए। उसमें समाजशास्त्र, नैतिकता आचार-विचार तथा ऐतिहासिक परम्पराओं को नहीं घसीटना चाहिए।

आज हिन्दी साहित्य में अनेक प्रकार की समालोचनाओं का प्रचलन है। सब प्रकारों में अनेक भारतीय और अभारतीय प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं। सामान्य रूप से हम समालोचना को केवल चार श्रेणियों में ही रख सकते हैं :-

१—शास्त्रीय समीक्षा (Academic or Legislative Criticism)

२—सैद्धान्तिक समीक्षा (Speculative or theoretical Criticism)

३—ऐतिहासिक समीक्षा (Historical Criticism)

४—व्यावहारिक, व्याख्यात्मक या प्रयोगात्मक समीक्षा (Discriptive or Inductive Criticism)

इन चार भेदों के अतिरिक्त और भी कई प्रकार हिन्दी-समीक्षा में प्रचलित हैं जैसे :—

१—आत्म प्रधान (Subjective)

२—निर्णयात्मक (Judicial)

३—तुलनात्मक (Comparative)

४—मनोवैज्ञानिक (Psychological)

सामान्य रूप से हिन्दी आलोचना का इतिहास चार भागों में बांटा जाता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के चार चरणों की भांति आलोचना के विकास के भी चार चरण माने गये हैं: १—भारतेन्दु युग १८७५ से १९०० ई०, २–द्विवेदी युग १९०० से १९२०, ३–शुक्ल युग १९२१ से १९४०, ४–वर्तमान युग १९४० से आज तक 'भारतेन्दु युग हिन्दी आलोचना का शैशव काल है जिसमें साहित्य के बदलते हुए रूप के साथ आलोचना के महत्व का अनुभव किया है। पोप के Essay on Criticism का अनुवाद पहली बार सन् १८९५ में नागरी प्रचारिणी सभा की पत्रिका में प्रकाशित हुआ। उससे पहले भारतेन्दु ने अपने नाटक में समीक्षा शास्त्र को नवीन रूप देने का प्रयास किया। अब तक केवल काव्य का गुण दोष प्रदर्शन, काव्य-स्वरूप-निर्धारण, अलंकार विधान, रस निरूपण इत्यादि को ही समीक्षा के अन्तर्गत लिया जाता था, परन्तु अब नये मानदण्डों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। इस युग में कोई निश्चित समीक्षा दृष्टि तो आलोचकों की नहीं बन सकी पर परिचयात्मक ढंग की कुछ रचनाएं अवश्य सामने आयीं, जैसे गंगाप्रसाद अग्निहोत्री की 'समालोचना' तथा अंबिकादत्त व्यास की 'गद्यकाव्य मीमांसा'। भारतेन्दु हरिचन्द्र के जीवन परिचयों में ऐतिहासिक समीक्षा प्रणाली के तत्व मिल जाते हैं इस काल के दूसरे आलोचक पं० बद्रीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन' थे। उन्होंने समालोचना के सिद्धान्त और व्यवहार पक्ष को लेकर कोई स्वतन्त्र ग्रंथ तो नहीं लिखा पर पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से उन्होंने हिन्दी समीक्षा का श्रीगणेश अवश्य किया। इस सम्बन्ध में 'आनन्दकादम्बिनी' पत्रिका की पुरानी फाइलें द्रष्टव्य हैं। इस युग के अन्य साहित्यकार पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० गंगा प्रसाद अग्निहोत्री, बाबू बालमुकुन्द गुप्त आदि का योगदान भी कम नहीं है। इस युग की समालोचना में प्राचीन काव्य शास्त्रीय रूप ही अधिक है। परन्तु पाश्चात्य व्यावहारिक समीक्षा पद्धति का प्रभाव भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। यह रूप पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकीय में तथा पुस्तकालोचन में मिलता है। सैद्धान्तिक और शास्त्रीय समीक्षा पद्धति से बाहर निकलने का यह पहला प्रयास था, थोड़ा-थोड़ा रूप हमें निर्णयात्मक आलोचना का भी मिल जाता है। यह युग १९ वीं शताब्दी के साथ ही समाप्त हो जाता है।

द्विवेदी युग १९०० से प्रारम्भ होता है। इस युग में समालोचना के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों का विकास हुआ। सैद्धान्तिक पक्ष का मूल आधार संस्कृत काव्यशास्त्र था तथा व्यावहारिक का पाश्चात्त्य समीक्षा शास्त्र। इस युग की सबसे बड़ी बात यह थी कि व्यावहारिक आलोचना में भी भारतीय दृष्टि की अपेक्षा नहीं की गयी, कारण स्पष्ट था समालोचकों की अन्तश्चेतना भारतीय संस्कारों और आदर्शों से समन्वित थी तथा उनकी विचारधारा नैतिकता तथा सुधारवाद से अनुप्राणित थी। साहित्य की भांति समीक्षा में भी उपयोगितावाद का बोलवाला था, शायद इसीलिए छायावादी कवियों के प्रति इस युग में न्याय नहीं हो सका। मुक्तक और गीतिकाव्य की अपेक्षा प्रबन्ध और महाकाव्य ही अधिक महत्वपूर्ण समझे गये। भाषा सुधार के नारे ने भी समालोचकों को कुछ कठोर बना दिया। एक बात और भी थी कि उस समय के आलोचक सम्पादक भी थे, इसलिए वाद-विवाद तथा आलोचना-प्रत्यालोचना का ही अधिक बोलबाला रहा, समीक्षा में गम्भीरता नहीं आ सकी।

तुलनात्मक प्रवृत्ति के कारण व्यक्तिगत रुचि को ही अधिक बढ़ावा मिला। साथ ही साथ समीक्षा के रूप में बहुत सी टीकाएं लिखी गयीं। उन टीकाओं में भी समीक्षकों का दृष्टिकोण वैयक्तिक ही अधिक रहा। बहुत से कवियों की कृतियों का विवेचन किया गया तथा उसमें विभिन्न प्रकार की समीक्षा पद्धतियों का प्रयोग किया गया। आलोचना के सैद्धान्तिक पक्ष का भी विकास हुआ। द्विवेदी जी का 'रसज्ञ-रंजन' मिश्र बन्धुओं का 'साहित्य पारिजात' लाला भगवानदीन, कन्हैयालाल पोद्दार, अर्जुनदास केडिया आदि के अलंकार ग्रंथ बाबू श्यामसुन्दर दास का 'साहित्यालोचन' बाबू गुलाबराय का 'नवरस' तथा शुक्ल जी की 'चिन्तामणि' आदि सैद्धान्तिक समालोचना के ग्रंथ हैं। इस युग का रचनात्मक साहित्य भी सुधार भावना से समन्वित आदर्शमूलक ही रहा। कुछ इतिहास ग्रंथ भी लिखे गये तथा शोध विषयक कार्य भी हुआ।

इस युग के सबसे समर्थ आलोचक महावीरप्रसाद द्विवेदी जी थे जिन्होंने लगभग बीस वर्षों तक, 'सरस्वती' पत्रिका का संपादन किया और उनके व्यक्तित्व के प्रभाव से अनेक साहित्य महारथियों को दिशा मिली। कुल मिलाकर इस काल की समीक्षा संस्कृत साहित्य के काव्य शास्त्रीय समीक्षा पद्धति के निकट है। इस काल की समीक्षा रीति-काल की रूढ़ियों से मुक्त रही, पर समालोचना में शैली कुछ व्यंग्यपूर्ण अवश्य रही। इस युग के प्रसिद्ध समालोचक हैं मिश्रबन्धु, डा० श्यामसुन्दरदास, पं० पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

हिन्दी समीक्षा का तीसरा युग शुक्ल युग के नाम से अभिहित किया गया है। सामान्य रूप से यह काल सन् १९२१ से सन् १९४० तक माना जाता है। इस युग की समालोचना में पाश्चात्य समीक्षा के तत्वों का कुछ अधिक समावेश हुआ इसके कई कारण हैं :—

१—पाश्चात्य प्रभावापन्न साहित्य की सर्जना।

२—विश्वविद्यालयों में हिन्दी साहित्य का पठन-पाठन तथा शोध कार्य।

३—पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र की प्रगतिशीलता।

इस युग में समीक्षा की व्याख्यात्मक तथा ऐतिहासिक प्रणालियों का विकास हुआ। मनोविश्लेषणवादी जीवन चरित्रमूलक अथवा समाजशास्त्रीय पद्धति के भी कुछ अंकुर उत्पन्न होने लगे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य सिद्धान्तों का व्यापक अध्ययन करके भारतीय प्रकृति के अनुकूल एक समन्वित समीक्षा पद्धति का बीजारोपण किया। उनके ग्रन्थों में आलोचना के प्रायः सभी रूप प्राप्त हो जाते हैं। शुक्लजी ने पहली बार हिन्दी समीक्षा के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की स्थापना की। काव्य का सम्बन्ध उन्होंने लोक मंगल साधनों से जोड़ा तथा कवि की रस साधना को उसी का एक अंग माना। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को भी उन्होंने कुन्तक के वक्रोक्तिवाद का रूपान्तरण कहा। स्वच्छन्दतावादियों के भावातिरेक और आधुनिकों की अतिबौद्धिकता के बीच उन्होंने एक स्वस्थ सौन्दर्यप्राण और रसनिष्ठ स्वतन्त्र चिन्तन की पद्धति स्थापित की। उनके समीक्षा के सिद्धान्त उनके ग्रंथों में मिल जाते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र के बाद जैसे अलंकारवाद, रसवाद, रीतिवाद,

ध्वनिवाद, वक्रोक्तिवाद तथा पश्चिम के वाद जैसे अभिव्यंजनावाद (Expressionism) सम्वेदनावाद (Impressionism) प्रतीकवाद (Symbolism) स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) आदि के बीच से शुक्लजी ने अपना रास्ता वनाया। संक्षेप में हम शुक्ल जी की समीक्षा के निम्नलिखित मूलभूत तत्व निर्धारित कर सकते हैं :—

१—काव्यों के वर्गीकरण के मानदण्ड :—

(अ) आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य।

(ब) आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य।

एक को उन्होंने Poetry of Power कहा है और दूसरे को Poetry of Art । इन दोनों प्रकार की विधाओं में कलावाद की अपेक्षा मंगल-विधान को ही वे अधिक महत्व देते हैं।

२—उनकी दृष्टि में प्रकृति-चित्रण को स्वतन्त्र और महत्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए।

३—वे व्यक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद के विरोधी हैं तथा काव्य में व्यक्तित्व और उसके भाषा शैली सम्बन्धी प्रयोगों को कोई महत्व नहीं देते।

४—रसवाद का एक नया मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ।

शुक्ल युग के प्रमुख समालोचक हैं बाबू गुलाबराय, रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख', पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी तथा डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल। इनके अतिरिक्त विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों में भी समालोचना का कार्य हुआ। शुक्लजी के समय में ही उनकी समालोचना पद्धति का विरोध होने लगा था तथा समालोचना के नये रूप विकसित होने लगे थे, विशेषकर छायावादी समालोचना उभर कर आने लगी थी। शुक्लजी के पश्चात् हिन्दी समालोचना बहुमुखी होकर विकसित होने लगी। सन् १९४० के पश्चात् हिन्दी में समालोचना के कई रूप विकसित हुए हैं। छायावादी समालोचना के अतिरिक्त निम्न प्रकार की आलोचनाएँ हिन्दी के क्षेत्र में दृष्टिगोचर होती हैं :

१—शास्त्रीय आलोचना

२—सौष्ठववादी आलोचना

३—मनोवैज्ञानिक आलोचना

४—समाजशास्त्रीय आलोचना

५—ऐतिहासिक आलोचना

६—सैद्धान्तिक आलोचना

७—शोधपरक आलोचना।

वास्तव में शुक्लजी के पश्चात् हिन्दी समीक्षा का सच्चा नेतृत्व करने वाला अभी कोई नहीं दीखता।

शुक्लोत्तर हिन्दी समीक्षा के रूप और मानदण्डों में परिवर्तन के कई कारण हुए :—

१—राजनीतिक वातावरण पर जिस प्रकार महात्मा गाँधी का प्रभाव पड़ा इसी प्रकार साहित्यकारों का जीवन-दर्शन भी उससे अछूता नहीं रहा।

२—अन्तर्राष्ट्रीय जीवन प्रतिमानों की प्रतिक्रिया साहित्य और समीक्षा के क्षेत्रों में हुई।

३—सामाजिक तथा आर्थिक कारणों से साहित्यकारों का जीवन दर्शन बदलता गया।

छायावाद युग की स्वच्छन्दतावादी साहित्य समीक्षा मुख्यतः काव्यालोचन के रूप में ही रही है जिसमें कल्पना, स्वच्छन्दता, भावुकता अभिनव जीवन-दर्शन और नूतन मूल्यांकन की प्रवृत्ति है। छायावादी कवियों ने स्वयं अपनी काव्य-कृतियों की भूमिकाओं में इस प्रकार की समालोचना का श्री गणेश किया है। प्रसाद, पन्त, महादेवी और निराला के अतिरिक्त श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, शान्तिप्रिय द्विवेदी, गंगाप्रसाद पाण्डेय आदि इस आलोचना पद्धति के समर्थक कहे जा सकते हैं। रचनात्मक साहित्य के बदलते हुए प्रतिमानों के साथ इन छायावादी आलोचकों के मानदण्ड भी बदलते गये। प्रसादजी ने तो यथार्थवाद के विषय में अधिक नहीं लिखा और न ही वे प्रगति को किसी वाद विशेष के कठघरे में वन्द करना चाहते थे, परन्तु पन्त जी ने छायावाद की भाँति प्रगतिवाद का भी स्वागत किया है—और उसे 'उपयोगितावाद' नाम दिया है। हाँ वर्ग युद्ध की भावनाओं से वे सहमत नहीं हैं। उन्होंने विश्व जीवन को एक सांस्कृतिक दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया है तथा वे युग-चेतना के प्रभाव को स्वीकार करते हैं। प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद को वे छायावाद की उप शाखाओं के ही रूप में मानते हैं। इस प्रकार उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी है। निरालाजी की प्रवृत्ति तुलनात्मक है तथा उन्होंने समीक्षा की व्याख्यात्मक प्रणाली को अधिक महत्व दिया है। उनकी समालोचनाओं का एक दार्शनिक पक्ष भी है। महादेवीजी का साहित्य प्रतिमान जीवन की चिरन्तन और सनातन भावनाओं के अधिक निकट है। वाजपेयीजी शुक्ल युग से ही समीक्षा का कार्य करते आये हैं उन्होंने साहित्य के विभिन्न वादों पर अपने विचार प्रकट किये हैं तथा किसी सीमित दृष्टिकोण से अपने को नहीं बाँधा है। वाजपेयीजी ने साहित्य का मूल प्रयोजन आत्मानुभूति माना है तथा साहित्य की सामाजिकता और प्रगतिशीलता को वे किसी रूढ़िवाद या दलगत विचारधारा में नहीं बाँधना चाहते। उनकी समालोचना में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों का मेल है। डा० नगेन्द्र आत्माभिव्यक्ति को काव्य का मूल कारण मानते हैं और इसीलिए वे साहित्य को वैयक्तिक चेतना कहते हैं। परन्तु साधारणीकरण को उन्होंने काव्य का अनिवार्य अंग माना है। रस के स्वरूप को भी उन्होंने आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से स्पष्ट करने का प्रयास किया है। टी० एस० ईलियट के अव्यक्तिवाद का भी उन्होंने खण्डन किया है। उनकी सैद्धान्तिक समीक्षा पर आधुनिक मनोविज्ञान का प्रभाव है। छायावाद की अन्तश्चेतना की भी उन्होंने सूक्ष्म विवेचना की है। प्रगतिवाद के अर्थ और सीमा को उन्होंने एकांगी और दोषपूर्ण बताया है। प्रयोगवाद को वे छायावाद की प्रतिक्रिया समझते हैं और उसकी तात्विक दृष्टि को भ्रान्तिपूर्ण कहते हैं। नगेन्द्रजी की समालोचनाओं में भारतीय तथा पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय हुआ है।

समीक्षा के मध्यम मार्ग को अपनाने वालों में डा० हजारीप्रसाद जी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनका दृष्टिकोण बड़ा उदार है। समीक्षा-क्षेत्र को उन्होंने मानववादी

दृष्टिकोण प्रदान किया है।

क्रोचे, रिचर्ड्स और ईलियट की भाँति हिन्दी समालोचना के विकास में फ्रायड, युंग और एडलर का भी बड़ा हाथ है। इनके प्रभाव से हिन्दी में मनोविश्लेषणवादी समीक्षा का प्रसार हुआ। इस समालोचना का एक पक्ष यथार्थवादी दृष्टिकोण भी है। हिन्दी में मनोविश्लेषणवाद की प्रवृत्ति को लेकर चलने वाले समालोचकों में इलाचन्द्र जोशी तथा अज्ञेय प्रधान हैं। इस समालोचना के प्रभाव से यह लाभ हुआ कि साहित्य सर्जना में मानवीय व्यक्तित्व और उसकी अन्तः प्रवृत्ति को विशेष महत्व दिया जाने लगा।

मनोविश्लेषणवादी आलोचना के साथ हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षा पर भी विचार कर लेना चाहिए। प्रगतिवाद छायावाद की प्रतिक्रिया है तथा उसका मूल है कार्ल मार्क्स की विचारधारा। प्रगतिवादी समालोचक का दृष्टिकोण एकांगी रहा है इसीलिए हिन्दी समालोचना साहित्य में इसका रूप प्रौढ़ नहीं बन सका। इस प्रकार की समीक्षा के प्रमुख आलोचक हैं डा० रामविलास शर्मा, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृतराय तथा शिवदानसिंह चौहान। आजकल हिन्दी काव्य क्षेत्र में प्रयोगवादी रचनाओं का ही बोलबाला है और वे हिन्दी जगत् की नवीनतम उपलब्धियाँ समझी जाती हैं। प्रयोगवादियों का कहना है कि छायावाद और प्रगतिवाद में जीवन की चेतना नहीं है। इन प्रयोगवादियों के नायक 'अज्ञेय' जी हैं। उनकी साहित्य समीक्षा भी प्रयोगवादी है। परन्तु प्रयोगवाद का अभी तक साहित्य अथवा समीक्षा के क्षेत्र में कोई स्पष्ट रूप नहीं हो सका है उनकी समीक्षा का कोई शास्त्रीय आधार भी नहीं है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आधुनिक समीक्षा के पीछे पाश्चात्य समीक्षा का बहुत बड़ा हाथ है, भारतीय मन पर पश्चिमी विचारधारा का बड़ा प्रभाव पड़ा है। भारतीय समीक्षा के अन्तिम स्तम्भ पंडितराज जगन्नाथ के पश्चात् कोई मौलिक ग्रंथ नहीं लिखा गया। योरोपीय प्रभाव ने हमारे साहित्य को सामाजिक जीवन-प्रक्रिया, इतिहास एवं राष्ट्रीय चेतना से सम्बद्ध कर दिया। हमारे साहित्य ने पश्चिम से साहित्य की नूतन विधाएं ग्रहण की जिनके लिए हमारे पास कोई मानदण्ड नहीं थे। हमें मानना पड़ेगा कि ऐतिहासिक, व्याख्यात्मक तुलनात्मक तथा मनोवैज्ञानिक समीक्षा पश्चिम की ही देन है। यह ठीक है कि भारतीय समीक्षा-शास्त्र के अन्तर्गत रस-दृष्टि के रूप में अनुभूति के मनोवैज्ञानिक स्वरूप का उद्घाटन बड़े विस्तार और सूक्ष्मता के साथ हुआ है, भरत और आनन्दवर्धन, अरस्तु और लान्जाइनस से कम नहीं है फिर भी जानसन, कालरिज, वर्डसवर्थ, कीट्स, आर्नल्ड आदि की आत्मानुभूतियां भी कम आकर्षक नहीं है। प्रारम्भ में तो इन्हीं पाश्चात्य समीक्षकों को सब कुछ मान लिया गया था परन्तु धीरे धीरे भारतीय विद्वान् अपनी परम्परा की ओर भी देखने लगे और भारतीय समीक्षा विधानों का रूप ही पाश्चात्य समीक्षा विधानों में देखने का प्रयास किया गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सबसे पहले हिन्दी समीक्षकों को यह दृष्टि दी परन्तु खेद है कि एक दो समीक्षकों को छोड़ कर अभी इस प्रवृत्ति का अधिक पल्लवन नहीं हो रहा है। आज विज्ञान हमें एक विश्व की ही कल्पना के लिए बाध्य कर रहा है परन्तु अधिकांश समा-

लोचकों में मौलिक चिन्तन और व्यापक दृष्टि का अभाव है। प्राचीनता और नवीनता का संघर्ष भी अभी जारी है जिससे समालोचकों में दल बन्दियां हो गयी हैं। साहित्य के यथार्थ को लेकर समालोचना के क्षेत्र में अनेक वाद चल पड़े हैं-आज हिन्दी समालोचना क्षेत्र में एक स्वतन्त्र मान-दण्ड की आवश्यकता है विभिन्न वर्ग के समालोचकों के भिन्न भिन्न आदर्श हैं यहां तक कि समीक्षा के पारिभाषिक शब्दों में भी वैभिन्य है फिर भी निराशा की बात नहीं है। भारतीय चिन्तन धारा शाश्वत तथा सार्वभौम है उसे केवल सामयिक चिन्ता धाराओं से जोड़ना है, हिन्दी का साहित्यशास्त्र, भारतीय साहित्यशास्त्र से भिन्न नहीं हो सकता, क्योंकि उसके मूल में भारतीय जीवन, दृष्टि और सौन्दर्य बोध है। जिस प्रकार साहित्य सार्वभौम है, उसी प्रकार समीक्षा शास्त्र भी सार्वभौम है, दोनों के मूल में मानवतावाद है।

●

डा० वेंकट शर्मा
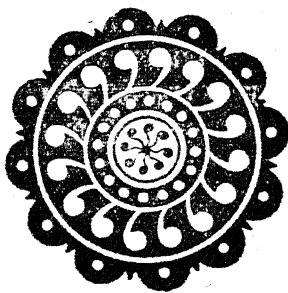
हिन्दी आलोचना का विकास

आलोचना साहित्य-परीक्षण की एक महत्वपूर्ण विधा है। उसके द्वारा साहित्य के सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्षों के विविध रहस्यों का उद्घाटन, विश्लेषण और मूल्यांकन होता है। विश्व के अन्यान्य साहित्यों की भांति भारतीय वाङ्मय के एक प्रमुख अंग हिन्दी-साहित्य के विकास-क्रम में भी उसका प्रशंसनीय योगदान रहा है। अपनी सहस्र-वर्षाधिक सुदीर्घ परम्परा में उसने भारतीय और पाश्चात्य विचार-सरणियों से विभिन्न तत्व ग्रहण कर जो कुछ भी गुण-गरिमा उपलब्ध की है, वह महिमा-मंडित है। यद्यपि हिन्दी के आलोचना-साहित्य का क्रम वद्ध विकास मुख्यतः आधुनिक काल से ही हुआ है तथापि उसके पूर्ववर्ती कालों में भी उसकी न्यूनाधिक सत्ता अवश्य विद्यमान थी। यह एक अत्यंत महत्वपूर्ण बात है कि संस्कृत वाङ्मय में भरतमुनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक काव्यशास्त्र की जो परम्परा विभिन्न काव्य-सिद्धांन्तों के विवेचन-पुरस्सर विकसित हुई; वह हिन्दी-साहित्य के रीतिकाल में आकर अवरुद्ध सी हो गई। तदुपरांत संस्कृत काव्यशास्त्र के आधार पर हिन्दी का रीतिकालीन काव्यशास्त्र विकसित हुआ जो हिन्दी-आलोचना के विकास-क्रम का प्रथम चरण है। आधुनिक युग के पूर्व प्रायः दो शती (१७००–१६००) पर्यन्त उसकी अजस्र धारा प्रवाहित हुई है जिसमें अलंकार-विवेचन, छन्द-निरूपण और नायिका-भेद आदि विभिन्न काव्यांगों का परम्पराभुक्त शैली में विश्लेषण हुआ है। साहित्य के इतिहास में यह काव्य लक्ष्य-लक्षण ग्रंथों की दृष्टि से भी उल्लेखनीय है। उसके प्रवर्त्तन का श्रेय चाहे आचार्य-कवि केशवदास को दिया जाय अथवा चिंतामणि त्रिपाठी को, किन्तु इतना तो निश्चित है कि केशव

के समय से उसने एक विकासमान गति अवश्य प्राप्त कर ली थी। यों तो 'शिवसिंह-सरोज' के अनुसार संवत् ७७० के आस-पास पुष्य अथवा पुण्ड नामक कवि ने हिन्दी-भाषा में संस्कृत के किसी अलंकार-ग्रंथ का अनुवाद कर काव्यशास्त्रीय लक्षण-ग्रंथ परम्परा का प्रवर्तन किया था किन्तु प्रामाणिक सामग्री के अभाव में यह विषय विवादग्रस्त है। केशव के पूर्व कृपाराम ने 'हिततरंगिणी' (संवत् १५९८), चरखारी के मोहनलाल मिश्र ने 'श्रृंगार सागर' (रचना काल वि० सं० १६१६), नरहरि कवि के मित्र करनेस बंदीजन ने 'करणाभरण', 'श्रुतिभरण', और 'भूपभूषण' आदि लक्षण-ग्रंथ लिखे थे किन्तु इन ग्रंथों के पश्चात् अनेक वर्षों तक इस विषय में साहित्य-सामग्री नहीं मिलती अतः आचार्य शुक्ल ने केशव की 'कविप्रिया' के प्रायः पचास वर्ष पश्चात् चिंतामणि त्रिपाठी रचित 'काव्य-विवेक', 'कविकुलकल्पतरु' तथा 'काव्य प्रकाश' आदि ग्रंथों से रीति-ग्रंथों की अखंड परम्परा स्वीकार की है। आधुनिक हिन्दी आलोचना के इतिहास में रीतिकालीन काव्यशास्त्र एक सुदृढ़ पूर्वपीठिका के रूप में प्रतिष्ठित है और उसकी उपेक्षा कर हिन्दी-आलोचना का इतिहास सम्यक् रूप से विवेचित किया ही नहीं जा सकता।

रीतिकाल में जिस काव्यशास्त्र का विकास हुआ, उसका मूलाधार संस्कृत का काव्य-शास्त्र है। संस्कृत में अलंकार, रस, वक्रोक्ति, रीति और ध्वनि आदि का विवेचन अत्यंत पाण्डित्यपूर्ण प्रणाली में किया गया था जिसका सुचारु निर्वाह रीतिकाल में नहीं हो सका। इस काल में जितना अधिक विवेचन अलंकार, रस, ध्वनि और नायिका-भेद का हुआ उतना, रीति तथा वक्रोक्ति सिद्धांतों का नहीं। रीतिकालीन आचार्य-कवियों ने काव्य-सिद्धांत के अंतर्गत समाविष्ट विषयों के लक्षण निरूपित कर स्वरचित छंदों द्वारा उनके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जिनमें शास्त्रीय पद्धति का व्याख्यात्मक विश्लेषण तो नहीं हुआ है किन्तु दृष्टांत रूप में ऐसे अनेक अलंकृत और सरस छंदों का सृजन हो सका है जिनकी भाव व्यंजना और वाग्विदग्धता अद्वितीय है। नायिका-भेद और श्रृंगार-रस से सम्बद्ध अंगोपांगों का विवेचन करने में रीति-कालीन आचार्य-कवि बहुत अधिक आगे बढ़ गये हैं भले ही उनका शास्त्रीय ज्ञान सीमित ही क्यों न रहा हो। अनेक स्थलों पर तो उनके छंद संस्कृत काव्यशास्त्र की उद्धरणी मात्र हैं। आचार्य शुक्ल ने उनके कार्यों का मूल्यांकन करते हुए लिखा है :—

"हिन्दी में लक्षण-ग्रंथों की परिपाटी पर रचना करने वाले जो सैकड़ों कवि हुए, वे आचार्य कोटि में नहीं आ सकते। उनमें आचार्यत्व के गुण नहीं थे। उनके अपर्याप्त लक्षण साहित्य-शास्त्र का सम्यक् बोध कराने में असमर्थ हैं।"

रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय आलोचना में एकांगी दृष्टि के साथ-साथ अनेक प्रकार की अपूर्णताएँ एवम् दोष-प्रवृत्तियाँ भी हैं। उनका प्रमुख कारण यह है कि इस काल के आचार्य कवि अपनी रचनाओं द्वारा आचार्य और कवि के दोहरे व्यक्तित्व का निर्वाह एक साथ करना चाहते थे जो किसी भी दृष्टि से सम्भव नहीं था। उनके काव्यांग-विषयक लक्षणों और उदाहरणों में अनेक प्रकार की विसंगतियाँ भी हैं जो या तो उनके सीमित ज्ञान की सूचक हैं या उस काल की मनोवृत्ति की परिचायक। बात यह है कि रीतिकाल के आचार्य कवियों को

जितना अधिक ध्यान अपने आश्रयदाताओं के मन: प्रसादन का था उतना शास्त्रीय विवेचना का नहीं। उनकी रचना-प्रक्रिया की मूल प्रेरणा मुख्यत: अपने आश्रयदाताओं की अभिरुचि थी जिसमें नायिका-भेद-चित्रण और विलास-सामग्री का प्राचुर्य था। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस काल में केशव, चिंतामणि, देव और भिखारीदास जैसे शास्त्र-निष्णात आचार्य भी हुए किन्तु संस्कृत साहित्यशास्त्र के व्यापक और गम्भीर ज्ञान कोष की समता में वे उल्लेखनीय मौलिकता की प्रतिष्ठा बहुत कम कर सके। प्राय: सभी आचार्यों की प्रवृत्ति किसी न किसी सम्प्रदाय-विशेष की ओर अधिक रही। वैसे तो भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' के अतिरिक्त भामह का 'काव्यालंकार,' दंडी का 'काव्यादर्श', विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण' और उद्भट का 'अलंकारसारसंग्रह' जैसे ग्रंथ भी उनके उपजीवी थे किंतु अलंकार-निरुपण में उन्होंने जयदेव के 'चन्द्रालोक', और अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानंद' के आदर्श को अधिकांशत: ग्रहण किया। ध्वनि-विवेचन के प्रसंग में मम्मट का 'काव्यप्रकाश' उनका आधार बना तो नायिका-भेद-निरूपण में भानुदत्त की 'रसमंजरी' 'रसतरंगिणी तथा विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण ।' दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण रीतिकालीन आचार्य संस्कृत की सूत्र, वृत्ति और भाष्य की परम्परा के अनुरूप ऐसी विद्वत्तापूर्ण विवेचना प्रस्तुत नहीं कर सके जो आलोचना की गति को परिपुष्ट एवम् संवर्धित करने वाली हो। हिन्दी में गद्य-प्रणाली के विकास का अभाव तथा परिपक्व विवेचन की क्षमता की कमी के कारण भी रीतिकालीन आलोचना अनेक दृष्टियों से एकांगी सी ही बनी रही।

रीतिकालीन आलोचना में जितना अधिक सैद्धांतिक विवेचन अलंकार-सम्प्रदाय का हुआ, उतना अन्य काव्य-सम्प्रदायों का नहीं। वैसे तो आचार्य कवि केशव को 'अलंकार को काव्य-सर्वस्व' मानने का श्रेय प्रदान किया जाता है किन्तु इस क्षेत्र में महाराज जसवन्तसिंह, आचार्य कवि मतिराम और भूषण तथा दूलह का भी कम महत्व नहीं है। शोध-कार्य द्वारा ऐसे सैकड़ों ग्रंथों का पता लग चुका है जिनमें अलंकारों का सोदाहरण विवेचन किया गया है। अलंकारों के भेदोपभेद-विभाजन और लक्षण-निर्धारण में रीतिकालीन आचार्यों ने अनेक स्थलों पर स्वतंत्र पथ का भी अनुगमन किया है जो सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जा सकता। अलंकार के अतिरिक्त रस और ध्वनि-सिद्धांतों का विवेचन भी आचार्यों ने किया है पर वह संस्कृत काव्यशास्त्र की समता में विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। रस-विवेचक ग्रंथों में केशव की 'रसिकप्रिया', चिंतामणि का 'कविकुलकल्पतरु', तोषनिधि कृत 'सुधानिधि', मतिराम का 'रस-राज' और कुलपति मिश्र का 'रस-रहस्य' विशेष महत्वपूर्ण है। केशव ने रस-प्रसंग के अंतर्गत कृष्ण और राधा के भावों का वर्णन करते हुए व्रजराजकृष्ण को 'नवरस-मय' माना है और इतर रसों का समाहार राधाकृष्ण के प्रसंग में वर्णित शृंगार रस में ही कर दिया है। देव के मतानुसार शृंगारादि नवरस लौकिक रस के अंतर्गत आते हैं तो स्वापनिक, मानोरथ और औपनायक नामक तीन रस अलौकिक रस की श्रेणी में समाहित हैं। जहाँ तक ध्वनि-सिद्धांत-विवेचन का क्षेत्र है आचार्य कुलपति मिश्र अग्रणी हैं जिन्होंने ध्वनि के आधार पर काव्य-पुरुष का विवेचन करते हुए व्यंग्यप्रधान काव्य की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। यह एक अत्यंत

उल्लेखनीय बात है कि रीति-सम्प्रदाय के प्रति रीतिकालीन आचार्यों की रुचि नहीं के बराबर रही और उन्होंने उसे अत्यंत गौण रीति से चलता कर दिया। इसका एक कारण यह भी है कि रीतिकालीन आचार्य मुख्यतः अलंकारवादी थे और उन्हें वामन का आदर्श सुग्राह्य प्रतीत नहीं होता था। 'रीति' की भांति वक्रोक्ति-सिद्धांत भी रीतिकालीन काव्यशास्त्र का प्रिय प्रतिपाद्य विषय नहीं है और वह प्रायः सभी आचार्यों द्वारा अलंकार-क्षेत्र में ही विवेचित किया गया है।

साधारणतया रीतिकाल का अवसान संवत् १९०० के आसपास माना जाता है। उसके समाप्ति-काल से देश के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन में नवीन चेतना का संचार होने लगा था जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव साहित्य की गतिविधियों पर भी पड़ा। ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखोपशाखाओं का प्रचार और प्रसार, यूरोपीय जातियों का प्रभुत्व और उनकी शिक्षा-संस्कृति का प्रभाव एवम् साहित्य के प्रति परिवर्तित दृष्टि-कोण की आस्था ने हिन्दी साहित्य को पद्य की संकीर्ण कारा से उन्मुक्त कर गद्य के विशाल प्रांगण में भी विचरण करने का अवसर दिया जिसमें न केवल अभिव्यंजना-शिल्प का ही वैविध्य था अपितु विषय-वस्तु का भी वैशद्य था। सन् १८५७ की क्रांति के पश्चात् तो देश के आंतरिक जीवन और बाह्य वातावरण में ऐसी अनेक उत्क्रांतियां हुईं जिन्होंने यहाँ के जन-जीवन को आंदोलित करते हुए उसे नवीन दृष्टि प्रदान की। यही समय हिन्दी-गगन में भारतेन्दुजी के उदय का था जिसकी आधार-भूमि यद्यपि उनसे कुछ वर्षों पूर्व ही प्रस्तुत कर दी गई थी किन्तु जिनकी रजत रश्मियों का प्रकाशन उस समय हुआ जब उन्होंने 'निज भाषा की उन्नति को सम्पूर्ण उन्नति का मूल' स्वीकृत कर आधुनिकता की सृष्टि की। कहने की आवश्यकता नहीं कि रचनात्मक साहित्य के परिप्रेक्ष्य में आलोचनात्मक साहित्य का उद्भव और विकास इसी काल से हुआ है जो अपने शताधिक वर्षों में विविध भूमिकाओं का संतरण कर आधुनिक हिन्दी साहित्य का कदाचित् सर्वाधिक समृद्ध अंग बन गया है।

भारतेंदु-काल आधुनिक हिन्दी-आलोचना का शैशव-काल है। साहित्य की अन्यान्य विधाओं की भाँति भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र भी आधुनिक आलोचना के जनक कहे जा सकते हैं यद्यपि उनकी रुझान उस ओर न थी और वे अपने अनन्य मित्र श्री प्रेमघनजी को ही उसका उपयुक्त अधिकारी समझते थे। वस्तुतः उनकी अभिरुचि रचनात्मक साहित्य-सृजन में विशेष थी और वे उसके विभिन्न अंगों की परिपूर्ति के प्रबल आकांक्षी थे। उनकी आलोचनात्मक प्रज्ञा का मुख्य निदर्शन उनका 'नाटक' शीर्षक निबंध है जिसमें उन्होंने भारतीय नाट्यशास्त्र के नियमों और उसकी प्रक्रियाओं का परिचय देते हुए नाट्यकला की सैद्धांतिक और शास्त्रीय विवेचना की है। अपने विवेचन में यथाप्रसंग उन्होंने पाश्चात्य नाट्य प्रणाली के रचना-सिद्धांतों का भी उल्लेख किया है। नाटक-विवेचना से सम्बद्ध रंगमंच और दृश्य-विधान, नाटक में सामाजिक तत्त्व और रस-संयोजन, हिन्दी-नाटक का स्वतंत्र अस्तित्व और उस पर बंगला, मराठी और अंग्रेजी नाटकों का प्रभाव, नाटक में लौकिक और अलौकिक घटनाओं के संयोजन का रूप और हिन्दी नाटक में समन्वयपूर्ण सामयिक दृष्टिकोण का

संचार आदि ऐसे अनेक विषय हैं जिनका उक्त निबंध में संक्षिप्त विश्लेषण हुआ है। हिन्दी आलोचना के आधुनिक प्रवर्त्तन-काल की सैद्धांतिक चर्चा में इस निबंध को कदापि विस्मृत नहीं किया जा सकता। इसे भारतेंदुजी की नाटक-विषयक धारणा का मूल सूत्र कहा जा सकता है।

भारतेंदुजी ने स्फुट रूप से विविध विषयों पर आलोचना लिखी है जिसका विकास क्रमशः उनके कार्यकाल से ही होने लगा था। उनके द्वारा लिखित 'कालिदास', 'जयदेव', 'सूरदास' और 'पुष्पदंताचार्य' की साहित्यिक जीवनियों में जीवनचरितमूलक आलोचना के अंकुर प्राप्त होते हैं तो उनके पुरातत्त्व से सम्बद्ध निबंधों में शोधपरक समीक्षा के बीज निहित हैं। शांडिल्य ऋषि के भक्ति-सूत्रों पर लिखा गया उनका 'भक्ति-सूत्र-वैजयन्ती' नामक भाषा-भाष्य विशुद्ध साहित्य-समालोचना न होने पर भी भक्ति-काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि के अध्ययन में पूर्व-पीठिका प्रस्तुत करने वाला है। 'वैष्णव सर्वस्व', 'श्री वल्लभीय सर्वस्व', 'श्री तदीय सर्वस्व' और 'श्री युगल सर्वस्व' जैसे दार्शनिक गवेषणात्मक निबंध भक्ति-साहित्य के अनुसंधित्सुओं के लिए परम उपयोगी हैं। 'कवि-वचनसुधा' और 'हरिश्चन्द्र-चंद्रिका' में वे समय-समय पर पुस्तकालोचन भी किया करते थे जिसे वर्तमान 'बुक रिव्यू' का प्रारम्भिक स्वरूप कहा जा सकता है। उसकी आलोचना का विषय समसामयिक लीवन भी था और वे अपने विरोधियों के प्रति अत्यंत उग्र भी हो जाते थे। यह एक स्मरण रखने योग्य वात है कि पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी के समय भाषा-विषयक नीति का जो आन्दोलन चला, उसका सूत्रपात भारतेंदुजी ने कर दिया था। उन्होंने भाषा के तीन रूप—घरेलू, कविता की भाषा और गद्य की भाषा—माने हैं और तीनों की शब्द शक्ति और भाव-व्यंजना की भी विवेचना की है। रस-विवेचन के अंतर्गत उन्होंने 'भक्ति' 'सख्य' 'वात्सल्य' और 'आनंद' नामक चार नवीन रसों की उद्‌भावना कर उनका महत्व स्पष्ट किया है जिसको लेकर उनके समय में ही अनेक प्रकार की आलोचना-प्रत्यालोचनाएँ हुईं जिनका प्रत्युत्तर उन्होंने अत्यंत निर्भीकता से दिया।

भारतेंदु-युग के प्रमुख आलोचकों में चौधरी पं० बदरीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन', पं० बालकृष्ण भट्ट और बाबू बालमुकुन्द गुप्त की गणना की जाती है। आचार्य शुक्ल के अनुसार "समालोचना का सूत्रपात हिन्दी में एक प्रकार से चौधरी साहब ने किया। समालोच्य पुस्तकों के विषयों का अच्छी तरह से विवेचन करके उसके गुण-दोष के विस्तृत निरूपण की चाल उन्होंने चलाई।" उनकी आलोचनाओं का सूत्रपात विक्रम संवत् १९३८ (सन् १८८१) से समझना चाहिए जबकि उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पत्रिका 'आनन्द कादम्बिनी' की संख्या ४ और ५ में 'दृश्यरूपक' या 'नाटक' शीर्षक सैद्धान्तिक लेख लिखा था। तब से वे अपनी पत्रिका में निरन्तरतया आलोचनाएँ प्रकाशित करते गये। 'बंग विजयता की आलोचना', नील देवी की आलोचना' और 'उर्दू बेगम की आलोचना', 'बुक-रिव्यू' या 'पुस्तक-परिचय' मात्र थीं जिनमें दिया गया लेखक और विषय का परिचय विज्ञापन-वृत्ति के अधिक निकट था। उनकी आलोचना का भव्य स्वरूप 'संयोगिता स्वयम्वर की आलोचना'

में मिलता है जिसे भारतेंदु-काल की आलोचना का आदर्श निकर्ष कहा जा सकता है। यद्यपि उसका प्रारम्भ पुस्तकालोचन-प्रणाली से ही हुआ है किन्तु प्रेमघनजी उसमें ऐतिहासिक, निर्णयात्मक और विश्लेषणात्मक प्रवृत्तियों का भी समावेश करते चले हैं। इस समालोचना का शास्त्रीय और सैद्धान्तिक आधार भी है और इसमें गुण-दोष-परीक्षण की प्रवृत्ति भी प्रचुर मात्रा में है। इन आलोचनाओं के अतिरिक्त उन्होंने 'नागरी भाषा', 'हमारे देश की भाषा और अक्षर', 'नागरी के पत्र और उनकी प्रणाली', 'पुरानी का तिरस्कार नई का सत्कार' आदि निबन्धों में समसामयिक और भाषा-विषयक विषयों पर विचार सामग्री दी है जिसके द्वारा तत्कालीन हिन्दी भाषा की स्थिति और समालोचना के स्तर का भी बोध हो जाता है।

भारतेंदु-मण्डल के द्वितीय प्रकाशमान आलोचक पं० बालकृष्ण भट्ट हैं जिन्होंने 'हिन्दी-प्रदीप' के माध्यम से अपनी समीक्षक-प्रतिभा प्रदर्शित की थी। उनकी आलोचना का एक महत्वपूर्ण अंश हिन्दी भाषा के विविध अंगों का निरूपण था जिसमें उन्होंने 'भाषाओं का परिवर्तन', 'ग्रामीण भाषा', 'भाषा कैसी होनी चाहिए', 'हिन्दी और नागरी', 'भारतवर्ष की जातीय भाषा', 'खड़ी और पड़ी बोली का विचार' और 'शब्द-परिचय' आदि विषयों का विवेचन किया था। जिस व्याकरण को भाषा का नेत्र कहा जाता है, उससे सम्बद्ध क्रिया, विशेषण, विशेष्य और समास आदि विषयों के साथ-साथ उन्होंने लोकोक्तियाँ, मुहावरे, सूक्तियाँ और भाषालंकार आदि विषयों की भी विवेचना की है। उनके भाषा-विषयक विचार अत्यन्त उदार हैं और वे काव्य भाषा के रूप में ब्रजभाषा के समर्थक हैं। उनके द्वारा लिखित पुस्तक-परिचय—समीक्षा का एक रूप, यदि साधारण श्रेणी का है तो दूसरा रूप यथेष्ट संयत और विचारपूर्ण भी है। प्रेमघनजी की भाँति उन्होंने भी 'नीलदेवी', 'परीक्षा गुरु' और 'संयोगिता-स्वयम्वर की सच्ची आलोचना' लिखी हैं जिनमें उक्त रचनाओं के गुण-दोषों का परीक्षण स्वतन्त्र विधि से किया गया है। काव्य, नाटक, निबन्ध, उपन्यास, कथा-साहित्य और समालोचना आदि सैद्धान्तिक विषयों का निरूपण करने के अतिरिक्त उन्होंने काव्य-भाषा, छन्द-योजना और अलंकार-विधान पर भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। 'हिन्दी-प्रदीप' की प्रतियों में उनका समालोचक-व्यक्तित्व स्वयमेव मुखर हो उठा है।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त का रचना-काल भारतेंदु-युग के अन्तिम चरण से प्रारम्भ होकर द्विवेदी-युग के प्रथम चरण तक व्याप्त है। यद्यपि उनका प्रमुख विषय साहित्यालोचन नहीं था तथापि 'भारतमित्र' के सम्पादक के रूप में उन्हें विविध विषयों पर सामयिक चर्चाएँ करनी पड़ती थीं जिनका एक अंग आलोचना-कार्य भी था। उन्होंने अपनी आलोचनाओं का एक विषय तत्कालीन साहित्य-चर्चाओं और उनकी अन्तर्भूत समस्याओं को भी बनाया था। उनके समय में देश के सम्मुख राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि की समस्या का एक ज्वलन्त प्रश्न उपस्थित था जिस पर उन्होंने ओजस्विता से विचार किया और हिन्दी भाषा और नागरी लिपि को उस समस्या के निराकरण का एकमात्र साधन बतलाया।

उन्होंने ऐतिहासिक परम्परा और भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से हिन्दी-भाषा का क्रमिक विकास निरूपित करते हुए इस तथ्य को भी प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की कि उसके विकास और उत्कर्ष के मार्ग में उर्दू-फारसी के अंध-समर्थकों द्वारा किस प्रकार व्यवधान उत्पन्न किया जाता है। 'ब्रजभाषा और उर्दू', 'हिन्दी में बिन्दी', 'देवनागरी अक्षर', 'एक लिपि की जरूरत' शीर्षक निबन्धों में उन्होंने अपने भाषा-शास्त्रीय और व्यावहारिक ज्ञान का परिचय दिया है तो 'भाषा की अनस्थिरता' पद को लेकर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की कटु आलोचना की है। 'अनस्थिरता' पद को लेकर गुप्तजी और द्विवेदी जी की लेख-मालाओं में जो कटुतापूर्ण साहित्यिक विवाद छिड़ा था, वह आज भी 'भारतमित्र' और 'सरस्वती' की फाइलों में अंकित है और हिन्दी-आलोचना के इतिहास में अपना अविस्मरणीय महत्व रखता है। इस विवाद में उस युग के प्रायः सभी लेखकों ने भाग लिया था और बड़ी कठिनाई से उसका अन्त हुआ था।

भारतेन्दु-युग का अवसान सन् १९०० के आस पास समझा जाता है। उसका कार्यकाल प्रायः पचीस वर्षों के अन्तर्गत समाविष्ट है। उसके पश्चात् द्विवेदी युग का प्रारम्भ होता है जिसकी काल रेखा सन् १९०१ ई० से लेकर १९३० ई० तक खींची जा सकती है। इस युग की आलोचना का समारम्भ 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन के कुछ वर्षों पूर्व ही हो गया था जो सन् १९०३ से १९२० ई० तक स्वयम् आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की सबल लेखनी द्वारा संचालित रहा और उनके अवकाश-ग्रहण करने के पश्चात् भी उसका प्रभाव प्रायः एक दशक तक बना रहा। इस युग में भारतेन्दु कालीन प्रवृत्तियों का संवर्धन और कुछ नवीन प्रवृत्तियों का प्रवर्तन हुआ था अतः इसे आधुनिक हिन्दी-आलोचना का संवर्धन-काल कहना ही हमें समीचीन प्रतीत होता है। इस युग के 'सम्पादक और समालोचक समालोच्य कृतियों के सम्बन्ध में केवल दस-पाँच पंक्तियों में परिचय के तौर पर यों ही कुछ लिख कर अपने कर्तव्य से छुट्टी नहीं पाने लगे, अपितु उनकी दृष्टि इस ओर भी जाने लगी कि यथासम्भव समालोचना के लिए प्राप्त रचनाओं का कुछ विशद विवेचना भी हो'। आचार्य द्विवेदी के अतिरिक्त सर्वश्री मिश्रबन्धु, श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल, पद्मसिंह शर्मा, कृष्णविहारी मिश्र और भगवानदीन इस काल के प्रमुख आलोचक हैं जिनकी कृतियों द्वारा आलोचना-साहित्य की श्रीवृद्धि हुई है।

द्विवेदी-युग की समालोचना में समीक्षा के दोनों पक्षों—सैद्धांतिक और व्यावहारिक, का सुन्दर समन्वय है। उसका सैद्धांतिक पक्ष एक ओर संस्कृत काव्यशास्त्र के रस, अलंकार, ध्वनि और वक्रोक्ति आदि सिद्धान्तों से अनुप्राणित है तो दूसरी ओर उसमें यथासम्भव पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों का भी सम्मिलन हुआ है। इस युग के प्रायः समस्त आलोचक मध्यम श्रेणी के व्यक्ति थे और उनके संस्कार भारतीय संस्कृति और आदर्शों के अधिक अनुकूल थे। यद्यपि युग-धर्म ने उनके मानस में सुधारवादी विचारधारा और नैतिकता की विकासोन्मुखी भावना का प्रस्फुरण भी किया था, किन्तु वे अतीत के प्रति बनी हुई अपनी आस्थाओं में इतने अधिक सुदृढ़ थे कि नवीनता का आलोक उन्हें बिना किसी सांस्कृतिक

आधार के मुग्ध और चमत्कृत नहीं कर सकता था। उन्होंने साहित्य को जीवन की संजीवनी शक्ति और मंगल विधायिनी प्रेरणा के रूप में देखा और उसकी महत्ता का निरूपण व्यक्ति परकता से न कर सामाजिक दृष्टि से किया। राम और कृष्ण इन साहित्य-विचारकों के आदर्श थे और उनके मानस में गीति काव्य की अपेक्षा प्रबन्ध-काव्य के प्रति विशेष अभिरुचि थी। नैतिकता, सुधारवादिता, राष्ट्रीयता और उपयोगितावादी दृष्टि से उन्होंने साहित्य का समीक्षण किया जिसकी कुछ निश्चित सीमाएँ होने के कारण साहित्य का विशुद्ध अनुभूत्यात्मक दृष्टिकोण से स्वतंत्र विवेचन नहीं हो सका। वस्तुत: द्विवेदी-युग मुख्यत: निर्माण का युग था अत: इस युग की आलोचनाओं में भी सृजन शील प्रेरणाओं के प्रभूत अंश विद्यमान हैं। गद्य और पद्य के लिए एक ही भाषा का प्रयोग, भाषा-शुद्धि का आन्दोलन, विभक्ति-प्रयोग-विचार, अतीत साहित्य का तथ्यमूलक और तत्त्वपरक मूल्यांकन आदि ऐसे अनेक विवाद-ग्रस्त विषय थे जिनका समाधान इस युग की समालोचना को करना पड़ा। इस युग की समालोचना में तुलनात्मक प्रवृत्ति भी मिलती है जो अनेक स्थलों पर पूर्वाग्रहदंशित भी है। इस काल में कवियों और उनकी कृतियों के व्यापक विश्लेषण की ओर भी आलोचकों की प्रवृत्ति रही और टीका-साहित्य का भी संवर्धन हुआ। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के शोध-कार्यों द्वारा भी आलोचना-साहित्य को प्रश्रय मिला और विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं में हिन्दी-साहित्य के पठन-पाठन की व्यवस्था होने के कारण अध्यापकीय शैली में भी आलोचना के विकास के अवसर उपस्थित हुए।

आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी इस युग की आलोचना के मूल प्रवर्त्तक और बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न आचार्य थे। 'सरस्वती' के सफल सम्पादक होने के साथ-साथ वे उच्चकोटि के भाषा-शिक्षक, निबन्धकार, समालोचक, हिन्दी-प्रचारक, गम्भीर विचारक और अद्वितीय साहित्य-प्रेरक भी थे। उनका युग इस दृष्टि से परम सौभाग्यशाली है कि वह सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचन्द, जयशंकर 'प्रसाद' और रामचन्द्र शुक्ल जैसे मेधावी कवि, कथाकार, नाटककार और आलोचक उत्पन्न कर सका। यह उन्हीं की साधना का सुफल था कि 'स्टुपिड' कही जाने वाली हिन्दी सभ्य नागरिकों की भाषा बन सकी और शनै:-शनै: उसने अपना महिमामण्डित स्थान प्राप्त कर लिया। अपनी सृजनशील प्रवृत्ति और कार्यव्यस्तता के कारण भारतेंदुजी चाहने पर भी भाषा-परिष्कार और उसके स्थिरीकरण की ओर ध्यान नहीं दे सके थे जिसकी परिपूर्ति द्विवेदी जी ने भाषा-शुद्धि-आंदोलन द्वारा की। गद्य और पद्य के लिए एक ही खड़ी बोली का समर्थन कर उन्होंने एक बड़ी समस्या का अन्त कर दिया और साहित्य-सृजन को विविध विषयों की व्यापकता प्रदान की। उनकी आलोचनाओं से उनके प्रगाढ़ पाण्डित्य और गुरुतर निर्माण-शक्ति का सहज ही पता चलता है।

द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' का सम्पादन करते समय सम्पादकीय टिप्पणियों, स्वतंत्र समालोचनात्मक निबंधों, साहित्यिक कवि-चर्चाओं, सैद्धांतिक निरूपणों और सामयिक विचारधाराओं को लेकर जिस आलोचना-साहित्य का निर्माण किया था, उसका स्थायी

महत्व है। तिथिक्रम के अनुसार उन्होंने सन् १८९९ में हिन्दी शिक्षावली, तृतीय भाग की समालोचना लिखी जिसने विद्वानों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित कर दिया। तदुपरांत उन्होंने 'नैषध चरित चर्चा' (सन् १९००)' 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' (सन्१९०१) 'नाट्यशास्त्र' के रूप में सैद्धांतिक आलोचना (सन् १९०३) तथा 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति' (सन् १९०७) में लिखी। सन् १९११ ई० में 'कालिदास की निरंकुशता' का पुस्तकाकार प्रकाशन हुआ। तत्पश्चात् उनकी आलोचनाओं के संग्रह क्रमशः 'रसज्ञ-रंजन' (सन्१९२०), 'कालिदास और उनकी कविता' (सन् १९२०), 'सुकवि संकीर्तन' (सन् १९२२), 'साहित्य-संदर्भ' (सन् १९२४), 'साहित्य-सीकर' (सन् १९२६), 'आलोचनांजलि' (सन् १९२८), 'समालोचना-समुच्चय' (सन् १९२८) और 'लेखांजलि' (सन् १९२८) आदि नामों से पुस्तकाकार प्रकाशित हुए जिनमें उनका समालोचक-व्यक्तित्व सम्यक् रूपेण प्रस्फुटित है। वे कोरे शास्त्रीय परम्परायुक्त प्रतिमानों को लेकर चलने वाले आलोचक ही नहीं थे अपितु अपनी विचारधारा में अत्यन्त उदार और भावुक भी थे। उनकी चर्चाओं द्वारा हिन्दी साहित्य को संस्कृत की अमर काव्यनिधि का परिचय मिला, काव्य-परीक्षा के आदर्श प्रतिमान प्राप्त हुए, युग-जीवन को नवीन दिशा की उपलब्धि हुई, रचनाकारों को नये-नये विषय सूझे और आलोचना की विविध पद्धतियों को बहुमुखी विकास मिला। 'रसज्ञ-रंजन' में संकलित आलोचनात्मक निबन्धों द्वारा उनका मानसिक प्रतिमान जाना जा सकता है और उससे यह भी प्रकट हो जाता है कि वे कविता, छन्द, काव्य भाषा, काव्य-विषय, काव्यार्थ-सौरस्य, काव्य-क्षेत्र और 'कवि बनने के सापेक्ष साधन' आदि विषयों पर कैसी धारणाएँ रखते थे। उन्होंने 'हिन्दी-नवरत्न' की जो विस्तृत आलोचना की है, वह उस युग के समीक्षा-स्तर को व्यक्त करने में यथेष्ट समर्थ है। हास्य, व्यंग्य, प्रासादिकता, निर्भीकता, स्पष्टता और सुदृढ़ता उनकी आलोचना की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

द्विवेदी-युग के द्वितीय समालोचक सर्वश्री मिश्रबन्धु हैं जिन्हें ऐतिहासिक पद्धति के प्रमुख आलोचक कहा जा सकता है। उनके समय में हिन्दी को राष्ट्रभाषा पद पर प्रतिष्ठित करने, विश्वविद्यालयों की उच्चतम परीक्षा में स्थान दिलाने और साहित्य के अतीत भण्डार को शोध निकालने के कार्यों का समारम्भ हो चुका था। उन्होंने शोधपरक दृष्टि से अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'मिश्रबन्धु-विनोद' की रचना की जिसे उन्होंने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' तथा 'कवि-कीर्तन' भी कहा है। उसके चार भागों में प्रायः पाँच हजार कवियों और साहित्यकारों का परिचय संकलित किया गया है जिसमें आलोचना की ऐतिहासिक पद्धति का संतुलित निर्वाह तो नहीं हो सका फिर भी वह साहित्य-प्रेमियों और अनुसन्धित्सुओं के लिए एक सन्दर्भ-ग्रंथ के रूप में सदैव सम्माननाई रहेगा। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन सन् १९१३ ई० में इण्डियन-प्रेस प्रयाग से हुआ था। इसकी भूमिका में मिश्र-बन्धुओं ने अपनी आलोचना के उद्देश्य और दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण कर दिया है और बतलाया है कि उनके ग्रंथ-निर्माण की प्रेरणा, विषय-निरूपण, लेखन-प्रणाली, कालक्रम, आधारभूत सामग्री, काल-विभाग तथा विविध समय और उनकी दशा किस प्रकार की है।

वस्तुत: यह ग्रंथ जितना 'विनोद' है उतना 'इतिहास' नहीं क्योंकि इसका काल-विभाजन और युग-निरूपण अनेक स्थलों पर अवैज्ञानिक, अस्पष्ट और चिन्त्य है। वस्तुतः इसमें संग्रह की प्रवृत्ति ही अधिक है और कवियों और काव्यधाराओं के मूल्यांकन एवं विश्लेषण में भी स्वैरवादिता से काम लिया गया है। हाँ, उनका 'हिन्दी नवरत्न' 'विनोद' की अपेक्षा समीक्षा-स्तर में कुछ आगे बढ़ा हुआ है यद्यपि उसमें उन्होंने कवियों का तुलनात्मक मूल्यांकन करते हुए जिस अंक-प्रणाली को ग्रहण किया है वह अनेक स्थलों पर हास्यास्पद भी बन गई है। उनकी आलोचना में शास्त्रीय परम्परा का परिपालन पर्याप्त मात्रा में हुआ है और वे जिस प्रकार की निर्णयात्मक प्रवृत्ति लेकर चले हैं वह सर्वमान्य आधारों से सम्पुष्ट नहीं है। वस्तुतः उनकी मूल दृष्टि शोधपरक थी और उन्होंने अपने 'विनोद' और 'नवरत्न' द्वारा एक महान् अभाव की पूर्ति की किंतु उससे साहित्यालोचन का भव्य आदर्श निरूपित नहीं हो सका।

बाबू श्यामसुन्दरदास को भी द्विवेदी युग की पार्श्वभूमि में रहते हुए अपना समीक्षा कार्य करने का गौरव प्राप्त है। सन् १९२१ में महामना पंडित मदनमोहन मालवीय द्वारा हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी में उनकी नियुक्ति हुई थी और उनका प्रमुख कार्य हिन्दी साहित्य के पठन-पाठन, उत्थान और विकास की व्यवस्था करना था। एम. ए. के पाठ्यक्रम में हिन्दी को स्थान मिलने पर उन पर इस बात का बहुत बड़ा दायित्व आ गया कि वे पाठ्यक्रम में स्वीकृत भारतवर्ष का भाषा-विज्ञान, हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास तथा साहित्यिक आलोचना के अभाव की पूर्ति करें। उन्होंने सर्वप्रथम साहित्यिक आलोचना का विषय चुना और अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'साहित्यालोचन' की रचना की। इस ग्रंथ के निर्माण में उन्होंने अनेकानेक भारतीय और पाश्चात्य ग्रंथ-रत्नों का आधार लिया हैं जिनकी सूची पुस्तक के अन्त में दी गई है। उन्होंने विषय-प्रतिपादन और अभिव्यन्जन की दृष्टि से अपने ग्रंथ की मौलिकता भी प्रतिपादित की है और उन आलोचकों को अत्यंत संयत विधि से उत्तर दिया है जो उसकी मौलिकता में सन्देह करते हैं। ग्रंथ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय सैद्धांतिक साहित्यालोचना है और उसके समालोच्य विषय 'कला', 'साहित्य', 'काव्य', 'रस', 'शैली' और 'साहित्य की आलोचना' आदि हैं। हिन्दी-आलोचना के इतिहास में इस ग्रंथ का ऐतिहासिक महत्व है और वह आज भी अत्यन्त समादरपूर्वक पाठ्य ग्रन्थ बना हुआ है। हिन्दी भाषा और साहित्य का विवेचन भी बाबूसाहब ने शास्त्रीय और ऐतिहासिक परम्परा से किया है और उसमें यथेष्ट मौलिकता है। युग-प्रवृत्तियों के आधार पर साहित्य के इतिहास के क्रमागत विकास को उन्होंने जिस प्रविधि से स्पष्ट किया है, वह कालांतर में सर्वस्वीकृत नहीं रहा फिर भी उस युग को देखते हुए उसका योगदान किस बात में कम है। उनके द्वारा सम्पादित 'भारतेंदु नाटकावली', 'कबीर ग्रंथावली', सतसई-सप्तक 'राधाकृष्ण ग्रंथावली' और 'संक्षिप्त पद्मावत' आदि ग्रँथों में भी उसका समालोचक स्वरूप व्यक्त हुआ है। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' को मुख्य साधन बनाकर उन्होंने प्राचीन हस्तलिखित ग्रथों की खोज तथा अनेक अज्ञात कवियों का परिचय जिस रूप में प्रस्तुत किया है वह न केवल

अपना युगगत महत्व ही रखता है अपितु उसमें भावी अनसन्धान-कार्य और आलोचना विकास के अनेकानेक तत्व सन्निहित हैं ।

इसी युग के आलोचकों में पं० पद्मसिंह शर्मा ने महाकवि बिहारी की सतसई को अपनी आलोचना का माध्यम बनाकर जिस तुलनात्मक समीक्षा-पद्धति का निदर्शन उपस्थित किया है, वह अभूतपूर्व है । उनकी समालोचना की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि बिहारी विश्व साहित्य के एक महान् कवि हैं और उनकी सतसई अपनी शृंगारिकता और कलात्मकता में संस्कृत, हिन्दी, प्राकृत, अपभ्रँश, उर्दू, फारसी आदि विभिन्न भाषाओं के चोटी के कवियों से टक्कर लेने वाली है । वस्तुतः जिस 'महफिली तर्ज' में उन्होंने बिहारी के काव्य का गुण-संस्तव किया है, वह हिन्दी आलोचना के इतिहास में एक अपूर्व घटना है । उनकी इस कृति पर उन्हें हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा बारह सौ रुपयों का मंगलाप्रसाद पारितोषिक सम्वत् १९७९-८० के कानपुर अधिवेशन में प्रदान किया गया था । सतसई की टीका और उसके भाष्य की भूमिका द्वारा शर्माजी के व्यापक अध्ययन और प्रखर पांडित्य का बोध सहज ही हो जाता है । उसकी विवेचना में उनकी वैयक्तिक अभिरुचि और प्रभावाभिव्यन्जन की मात्रा का भी पता चलता है । कई स्थलों पर तो वह आलोचना भावमयी काव्यधारा सी बन गई है जिसकी स्निग्धता और तुलना-पद्धति मनोमुग्धकारिणी है । इस आलोचना में वैज्ञानिक तारतम्य के साथ-साथ काव्य-सौष्ठव-विधान का जो स्वरूप विवेचित हुआ है वह प्रतिपक्षियों को भी एक बार अपने सम्मुख झुका देता है । आचार्य शुक्लजी ने शर्माजी की आलोचना की एक सीमा तक प्रशंसा करते हुऐ उसे रूढ़िगत ही माना है और उसमें 'बिना जरूरत के जगह-जगह चुहलबाजी और शाबासी की महफिली तर्ज, को 'एक खटकने वाली बात' कहा है, किन्तु इससे उसके उज्जवल पक्ष का खन्डन नहीं हो सकता । वस्तुतः 'बिहारी-सतसई' के काव्य-गुणों को प्रकट करने के लिये शर्माजी जैसे आलोचक की ही आवश्यकता थी और वे उसके अन्तस्तल में बड़ी कुशलता से प्रविष्ट हो सके हैं । उन्हें बिहारी का काव्य ऐसी 'खान्ड की रोटी' के समान लगा है 'जिसे जिधर से तोड़िये, उसका मीठापन कम न होगा ।' उन्होंने अपनी आलोचना में तुलनात्मक समीक्षा का पक्ष सर्मथित किया है और बिहारी को 'उपमेय' और संस्कृत कवियों को 'उपमान' कहकर बिहारी का काव्योत्कर्ष विवेचित किया है। बिहारी के अतिरिक्त उन्होंने साहित्य और समाज से सम्बन्धित विभिंन्न विषयों पर भी निवन्ध लिखे थे जिनका प्रकाशन 'पद्म-पराग' के नाम से हो चुका है । उन्होंने हिन्दुस्तानी एकेडमी के अनुरोध पर 'हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी' विषय पर जो भाषण दिया था, उसका भी आलोचनागत महत्व है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने उन्हें शृंगारिक परम्परा का आलोचक' माना है जो यथेष्ट रूप में उचित है ।

पं० कृष्णबिहारी मिश्र की आलोचना-क्षेत्र में ख्याति का कारण उनकी 'देव और बिहारी' नामक रचना है जिसमें उन्होंने तुलनात्मक पद्धति का आश्रय लेकर दोनों कवियों

के कृतित्व का समीक्षण प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपने ग्रंथ की भूमिका में इस बात का स्पष्ट संकेत किया है कि "न तो उनका बिहारी से विरोध है और न देव के प्रति पक्षपात; फिर भी दोनों कवियों की रचनाओं को देखते हुए देवजी बिहारीलाल जी की अपेक्षा अच्छे कवि हैं।" उनकी आलोचना द्वारा ब्रजभाषा की मधुरता और उसमें कालक्रमागत दुर्बोधता के कारणों का भी पता चलता है। बिहारी के काव्य-गुणों का विवेचन करने के पूर्व उन्होंने आलोचना का निकष निर्दिष्ट कर उन तर्कों का खंडन किया है जिनके आधार पर पं० पद्मसिंह शर्मा ने देव की समता में बिहारी की श्रेष्ठता प्रतिपादित की थी। उनकी तुलनात्मक पद्धति में व्याख्या और विवेचना के साथ-साथ निर्णयात्मक प्रवृत्ति का भी समावेश है जिससे उनका पांडित्य और काव्य-चयन-कौशल प्रकट होता है। वे देव और बिहारी के काव्य-गुणों का विवेचन शास्त्रीय प्रतिमान से भी करते चले हैं जिसमें रस-गुण, शब्द-शक्ति और अलंकारों का उद्घाटन भी होता चला है। वस्तुतः द्विवेदी-युग में 'देव और बिहारी' को प्रतिद्वन्द्वी के रूप में उपस्थित कर आलोचना के क्षेत्र में जो वाद-विवाद चला था, उसमें मिश्र जी की आलोचना महिमामय स्थान रखती है।

द्विवेदी काल के अन्य आलोचकों में लाला भगवानदीन भी एक हैं जिन्होंने यद्यपि कवियों, युग-प्रवृत्तियों और समीक्षा-सिद्धांतों को लेकर किसी स्वतंत्र ग्रंथ का निर्माण तो नहीं किया किन्तु सम्पादित ग्रंथों की भूमिकाओं में अपना आलोचक-व्यक्तित्व उपस्थित कर ही दिया। 'सूरपंचरत्न', केशव-पंचरत्न', 'तुलसी पंचरत्न,' 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम', 'ठाकुर-ठसक', 'स्नेह-सागर', 'राजविलास', 'विरह-विलास' और 'सूक्ति-सरोवर' आदि ऐसे अनेक ग्रंथ हैं जिनकी भूमिकाओं में उन्होंने समालोच्य कवियों के कृतित्व का विश्लेषण किया है। उनकी आलोचनाओं का एक अवांतर पक्ष टीका-साहित्य है जिसके द्वारा केशव, बिहारी और तुलसी के काव्य-ग्रन्थों का सटिप्पण अर्थ-बोध कराया गया है। उन्होंने 'लक्ष्मी' नामक पत्रिका में जो आलोचनात्मक निबन्ध लिखे थे उनसे पता चलता है कि वे प्राचीन तथा मध्यकालीन काव्य-कृतियों के समर्थक और नवीन काव्य के निंदक थे। उन्होंने छायावादी काव्य की तो कुत्सा की ही है किंतु उन्हें मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' तथा रामचरित उपाध्याय की 'रामचरित-चिंतामणि' में भी दोष ही दोष दृष्टिगोचर हुए हैं। वस्तुतः विवेचित समालोचक द्विवेदी-काल की आलोचनागत संवर्धना में विशेष सहयोग देने वाले रहे हैं अतः आलोचना के इतिहास में उन्हीं का उल्लेख करना हमने आवश्यक समझा है। हमने द्विवेदी-युग की भूमिका में इस युग के जाज्वल्यमान आलोचक पं० रामचन्द्र शुक्ल पर जानबूझ कर नहीं लिखा है क्योंकि वे द्विवेदी-युग की उपज होने पर भी अपने व्यक्तित्व और कृतित्व में इतने महान् हैं कि उनके द्वारा आलोचना में 'शुक्ल-युग' का प्रवर्त्तन किया गया है।

भारतेंदु-युग में जिस आलोचना-साहित्य का प्रवर्त्तन और द्विवेदीकाल में संवर्धन हुआ; वह शुक्ल-युग में आकर पूर्णतः विकसित हुआ अतः पं० रामचन्द्र शुक्ल के कार्यकाल को 'हिन्दी आलोचना का विकास-काल' कहा जा सकता है। इसकी पूर्ण प्रौढ़ि हमें संवत् १९८०

से लेकर संवत् २००० वि० पर्यन्त मिलती है। इन दो दशकों में शुक्लजी ने अपनी आसाधारण प्रज्ञा द्वारा आलोचना के सैद्धांतिक और व्यावहारिक क्षेत्रों में जो महान् सृजन किया था, वह आलोचना के इतिहास में किसी भी 'स्वर्णयुग' से कम नहीं है। उनके साहित्यिक कार्यों का प्रारम्भ एक प्रकार से काशी नागरी प्रचारिणी सभा की हिन्दी-कोष-योजना से हुआ था। वे सर्वप्रथम उक्त कोष के लिये शब्द-संग्रह करने के लिए नियुक्त किये गये और तदुपरांत नागरी प्रचारिणी पत्रिका के सहायक सम्पादक बने। कोष-कार्य की समाप्ति के पश्चात् उन्हें काशीस्थ हिन्दू विश्व-विद्यालय के हिन्दी-विभाग में निबन्ध-शिक्षक नियुक्त किया गया और जब वहाँ के उच्चतम पाठ्यक्रम में हिन्दी भाषा और साहित्य को स्वतंत्र विषय के रूप में स्थान मिला तो वे उक्त विषयों का अध्यापन करने लगे। डा० श्यामसुन्दरदास के अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् वे हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए और उस पद पर जीवन पर्यन्त अधिष्ठित रहे। इन वर्षों में उन्होंने 'नागरी प्रचारिणी-पत्रिका' का सम्पादन भी किया। उनका सर्वप्रथम 'साहित्य' शीर्षक निबन्ध 'सरस्वती-पत्रिका' भाग ५, संख्या ५, ६ मई, जून सन् १९०४ में प्रकाशित हुआ था और उसके पश्चात् वे अपने जीवन के अंतिम समय तक साहित्य-रचनाएँ करते रहे थे। उनकी कृतियों में 'गोस्वामी तुलसीदास' (सन् १९२३ ई०) 'जायसी ग्रंथावली' की भूमिका (सन् १९२४), 'भ्रमरगीतसार' की भूमिका (सन् १९२५), 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (सन् १९२९), 'काव्य में रहस्यवाद' (सन् १९२९) 'चिंतामणि' प्रथम भाग (प्रकाशन-काल सन् १९३९), 'सूरदास' (प्र० काल सन् १९४३), 'चिंतामणि' दूसरा भाग (प्रकाशनकाल सन १९४५) और 'रस-मीमांसा' (प्रकाशन काल १९४९ संपादक विश्वनाथप्रसाद मिश्र) मुख्य हैं जिनसे उनकी गम्भीर विवेचना का पता चलता है। अपनी इन कृतियों के अतिरिक्त उन्होंने 'अपनी भाषा पर विचार', 'उपन्यास' और 'भाषा की शक्ति' आदि विषयों पर भी समीक्षात्मक निबंध लिखे थे। समीक्षा के क्षेत्र में न केवल उनका व्यक्तित्व ही महान् था प्रत्युत उनका कृतित्व भी युग-संस्थापक था। उनकी मृत्यु के पश्चात् हिन्दी-आलोचना ने विविध दिशाओं में अपना अभ्युदय और प्रसार किया है किन्तु शुक्ल जी उसके शीर्ष स्थान पर उसी रूप में विराजमान हैं। अपने अध्ययन की व्यापकता और गम्भीरता, चिंतन की मौलिकता और सुदृढ़ता और भारतीय और पाश्चात्य सिद्धांन्तों की सामंजस्यपूर्ण स्थापनाओं के कारण वे वस्तुतः आचार्य-पद के अधिकारी थे। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "वे हिन्दी के गौरव थे। समीक्षा क्षेत्र में उनका प्रतिद्वन्द्वी न उनके जीवन-काल में था, न अब कोई उनके समकक्ष समालोचक है। 'आचार्य' शब्द ऐसे ही कर्त्ता साहित्यकारों के योग्य है। पं० रामचन्द्र शुक्ल सच्चे अर्थों में आचार्य थे।"

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का हिन्दी आलोचना-जगत् में वही स्थान है जो रामभक्ति-काव्य में भक्त-शिरोमणि तुलसीदास का। उन्होंने द्विवेदी-युग की आलोचना को विविध रूपों में विकसित किया था। उनके कार्य-काल में विश्वविद्यालयों में हिन्दी भाषा और साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की समुचित व्यवस्था हो चली थी और भाषा में भी प्रौढ़ता और प्रांजलता का समावेश हो गया था। एक सफल समालोचक के रूप में उन्होंने विभिन्न

युगों की प्रवृत्तियों की सम्यक् आलोचना की और उन्हें यह समझने में कोई कठिनाई नहीं हुई कि उनमें किन-किन अंशों तक संकीर्णता, दुराग्रह और पूर्वाग्रह के भाव सन्निहित हैं। युग-धर्म की आवश्यकता से परिचित होकर उन्होंने यह भी जान लिया कि साहित्य को किस दिशा की ओर उन्मुख करना समीचीन है। साहित्य-समालोचना के क्षेत्र में उस समय व्यर्थ का जो झाड़झंखाड़ उत्पन्न होकर वाद-प्रवादों के घटाटोप द्वारा साहित्य-पथ को धूमिल कर रहा था, उसे उन्मूलित करने का सतत प्रयास करते हुए वे साहित्य की प्रकृत भावभूमि के परिष्कार में लगे रहे और द्विवेदी-युग की मान्यताओं को बहुत आगे ले गये। उनकी मान्यताओं के पीछे ठोस शास्त्रीय आधार था और वे जीवन की अनुभूति की चर्वणा द्वारा साहित्य-विवेचना को स्वस्थ विधान प्रदान कर सके थे। उनकी विचारधारा पर गोस्वामी तुलसीदास द्वारा निरूपित लोकधर्म का प्रभाव था और वे अपनी आस्थाओं में सगुणवादी थे। वे जीवन और जगत् से परे किसी अलौकिक क्षेत्र में काव्य-साधना के लिए कोई गुँजाइश नहीं समझते थे। उनके अनुसार मुक्त हृदय की अवस्था में ही काव्य की अनुभूति होती है और "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा।" उनके मत से "कविता हृदय की मुक्ति की साधना के लिए किया गया मनुष्य की वाणी का शब्द-विधान-मात्र है और उसकी साधना ऐसे भाव-योग की साधना है जिसे कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष रखा जा सकता है।"

आचार्य शुक्ल अपने व्यक्तित्व में स्वयं एक युग थे। उन्होंने साहित्य की विभिन्न विधाओं का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन कर अपना काव्यादर्श निश्चित करने में ही साहित्य का सुकल्याण समझा था। उनमें लोकधर्म की आदर्शनिष्ठा कूट-कूट कर भरी हुई थी। वे काव्य की प्रतिष्ठा ऐसे उच्च और विशाल धरातल पर करना उचित समझते थे जहां मनुष्य का हृदय स्वार्थ-बन्धनों के संकुचित मण्डल से ऊँचा उठकर लोक सामान्य भावभूमि पर पहुँच जाता है। उन्होंने काव्य का 'सृष्टि-प्रसार के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध' स्वीकार कर उसकी सत्ता नरक्षेत्र तथा नरेतर समस्त चराचर जगत् पर्यन्त निर्णीत की है। वे काव्य के लिए रागात्मक सत्व आवश्यक बतलाकर उसे सुभाषित अथवा सूक्ति से बहुत ऊँचा स्थान देते हैं। उन्हें काव्य में कल्पना का प्रयोग वहीं तक स्वीकार्य है जहाँ तक वह भावों को मार्मिक और सजीव बनाकर उन्हें स्पष्ट मूर्त्ति-विधान की स्थिति पर्यन्त प्रतिष्ठित कर दे। उनके मतानुसार कवि में यदि 'विधायक कल्पना' अपेक्षित है तो श्रोता और पाठक में अधिकांशतः 'ग्राहक कल्पना'। वे काव्य में मनोरंजन का महत्व एक सीमा तक ही स्वीकार करते हैं। उनका सौन्दर्य-विषयक दृष्टिकोण भी अत्यन्त व्यापक है जिसके अन्तर्गत बाह्य और आभ्यंतर-जगत् के समस्त रूप-रंगों के साथ-साथ कर्म और भावना का सौन्दर्य भी अपनी दिव्य विभूति के साथ समाविष्ट रहता है। उन्होंने काव्य में ऐकांतिक चमत्कार का विरोध किया है और अलंकारों को भी काव्य के साधन अथवा भावोत्कर्ष

विधायक के रूप में ही मान्य ठहराया है। वे आनन्द की साधनावस्था और सिद्धावस्था के अनुसार काव्य की दो श्रेणियाँ निर्धारित कर प्रथम श्रेणी के काव्य को अधिक महत्व देते हैं जिसका परिणाम यह हुआ है कि गीतिकाव्य (मुक्तक काव्य) की अपेक्षा उन्हें प्रबन्ध-काव्य अधिक सुग्राह्य लगा है। उनकी सैद्धान्तिक समालोचना का सम्यक् ज्ञान 'रस-मीमांसा' तथा 'चिंतामणि' (दोनों भाग) के समीक्षात्मक निबन्धों से किया जा सकता है। व्यावहारिक समीक्षा का प्रसार उनकी सूर, तुलसी और जायसी विषयक आलोचनाओं में हुआ है। हिन्दी साहित्य का इतिहास उनकी ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धति का आदर्श निदर्शन है और आज भी वह अपने क्षेत्र में अत्यन्त प्रामाणिक और सम्मानित स्थान प्राप्त किये हुए हैं।

शुक्ल-युग का समीक्षात्मक प्रतिमान इस युग के अन्य आलोचकों पर भी संघटित होता है। इस युग के गण्यमान आलोचक बाबू गुलाबराय हैं जिन्होंने द्विवेदी-युग से लेकर अद्यावधि साहित्य-क्षेत्र में प्रवाहित समस्त भावधाराओं का विवेचन अत्यन्त शालीन दृष्टि से किया है। उनकी आलोचनाओं में अतीतकालीन साहित्य का संयत विमर्श तो हुआ ही है, साथ ही साथ आधुनिक युग का सांगोपांग विश्लेषण भी उन्होंने उदारतापूर्वक किया है। अपने गम्भीर अध्ययन और चिंतन के बल पर उन्होंने प्रत्येक विषय को अधिकाधिक स्पष्टता से समझने के पश्चात् ऐसे रूप में निरूपित किया है जिससे न तो पाठकों को ही किसी प्रकार की भ्रांति हो सकती है और न उनके मन में ही कोई कुण्ठा रह जाती है। अपने जीवन के विविध कार्य-क्षेत्रों की भाँति आलोचना में भी उनकी समन्वयवादी नीति रही है। यों तो वे शुक्ल-युग की उपज हैं, किन्तु उनकी सहानुभूति सब प्रकार की रचनाओं के प्रति यथेष्ट रूप में रही है। उनकी आलोचनाओं में कदाचित् ही ऐसा अवसर आया हो, जब उन्होंने तीव्र शब्दों में किसी साहित्यकार अथवा कृति का खुलकर विरोध किया हो। हिन्दी का भक्ति-काव्य उन्हें उतना ही प्रिय है जितना छायावादी युग। वे प्रगतिवाद के मर्यादित प्रशंसक रहे हैं और प्रयोगवाद से भी उन्हें उज्ज्वल उपलब्धि की आशा है। उनके हृदय में भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य साहित्यालोचन के उदात्त सिद्धान्तों के प्रति समान आदर है और वे ज्ञान की उपलब्धि सब प्रकार के स्रोतों से सुग्राह्य समझते हैं। एक कुशल अध्यापक की परिष्कृत शैली में उन्होंने समालोचना जैसे बौद्धिक और तत्व-निरूपक विषय को अत्यन्त सुबोध, सरस, भाव प्रवण और स्पष्ट शैली में व्यंजित कर अत्यन्त सुकर बना दिया है। उनमें न तो मिथ्याडम्बर की प्रवृत्ति है और न पांडित्य-प्रकाशन की। एक उदार और सुसंस्कृत आलोचक में जिस प्रकार की सहानुभूति, निष्पक्षता और निर्णय-शक्ति अपेक्षित होती है, वह बाबूजी में पर्याप्त मात्रा में है। 'काव्य के रूप', 'सिद्धान्त और अध्ययन' उनकी सैद्धान्तिक आलोचना के भव्य निदर्शन हैं तो 'प्रसाद की कला' और 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' उनकी व्यावहारिक और ऐतिहासिक पद्धति की आलोचना के मुखर प्रतिबिम्ब। 'साहित्य-संदेश' का सम्पादन करते

हुए उन्होंने यथेष्ट काल पर्यन्त वही कार्य किया जो किसी समय आचार्य द्विवेदी जी की 'सरस्वती' ने किया था। उनकी साहित्यिक महत्ता और विद्वज्जन सुलभ उदारता का आभास उनके निबन्ध और पुस्तकों से प्राप्त किया जा सकता है।

शुक्ल-युग की परम्परा में जिन अन्य आलोचकों की गणना की जाती है उनमें पं० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख', पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु, डा० केसरीनारायण शुक्ल, डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी आदि प्रमुख हैं। शिलीमुखजी का समालोचना-क्षेत्र में आगमन विश्वविद्यालयों की उच्चतम कक्षाओं में हिन्दी साहित्य के पठन-पाठन के समय से हुआ था। उस समय पत्र-पत्रिकाओं के कलेवर में उन्होंने जिस प्रकार के आलोचनात्मक निबन्ध लिखे, वे अपने युग की भावनाओं से अधिक प्रगतिशील और मौलिक थे। उनकी आलोचना में प्राचीन कवियों के साथ-साथ नवीन कवि भी व्याख्यात हुए हैं। प्रसाद के नाटकों और प्रेमचन्द के उपन्यासों पर विस्तृत समालोचना करने के अतिरिक्त उन्होंने जिन कवियों की सधी हुई समीक्षा की है, उसकी प्रशंसा पं० रामचंद्र शुक्ल ने भी की है। उनकी आलोचनाओं में सिद्धान्त-पक्ष और व्यवहार-पक्ष का सुन्दर समन्वय है। वे किसी भी आलोच्य कृति के गुण-दोषों का विवेचन करने के पूर्व उसके उपयुक्त एक प्रतिमान प्रस्तुत कर लेते थे जिसके आधार पर विवेचन कृति का परीक्षण सैद्धांतिक दृष्टि से किया जा सकता था। यह एक उल्लेखनीय विषय है कि उन्होंने अपने निबन्धों का एक महत्वपूर्ण अंश प्रेमचन्द-साहित्य को बनाया और उन्हें प्रचार-वादी साहित्य-सृष्टा से अधिक महत्व नहीं दिया। वस्तुतः प्रेमचन्द जी के प्रति उनका उदार दृष्टिकोण न था और वे उनमें किसी व्यापक मानव-समाज की स्पष्ट भावना नहीं पाते थे। उन्होंने 'प्रसाद की नाट्यकला' का सामान्य विवेचन नाटकीय तत्वों की दृष्टि से किया है और 'अजातशत्रु' की विशेष विधि से समीक्षा की है। उनकी स्फुट आलोचनाओं के संग्रह 'शिलीमुखी' 'निबन्ध-प्रबन्ध' और 'कला और सौन्दर्य' नामक पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं जिनसे उनके आलोचना-स्तर का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के व्यक्तित्व और कृतित्व का प्रारम्भिक निर्माण लाला भगवानदीन के मार्ग-निर्देशन में हुआ तो उत्तरवर्ती अंश का सृजन आचार्य शुक्ल की छाया में। उनकी आलोचनाओं का प्रमुख विषय मध्यकालीन हिंदी काव्य का मूल्यांकन है जिसमें भूषण, बिहारी, केशव, पद्माकर, भिखारीदास और घनानन्द आदि कवि मुख्यतः विवेचित हुए हैं। इन कवियों के काव्य में जिस प्रकार का रचना-कौशल और भाव-सौन्दर्य प्रतिष्ठित है उसी के अनुरूप मिश्रजी ने अपने समीक्षा-सिद्धान्तों का निर्माण किया है। किसी भी काव्य-कृति की सम्यक् आलोचना करने के लिए उन्होंने भारतीय मानदण्ड को अधिक उपयुक्त माना है और पाश्चात्य पद्धति के कला-विवेचन और सौन्दर्य-विधान को 'दूषित' बतलाया है। 'बिहारी की वाग्विभूति' यदि उनकी व्यावहारिक आलोचना का आदर्श उदाहरण है तो 'वाङमय-विमर्श' मुख्यतः काव्यशास्त्र, साहित्य का इतिहास, भाषा-

विज्ञान तथा नागरी लिपि का सारगर्भित विश्लेषण। रीतिकाल के विवेचन में उनकी अधिक अभिरुचि रही है और वे उसे सभी दृष्टियों से 'श्रृंगारकाल' कहना अधिक समीचीन समझते हैं। उन्होंने आधुनिक काल की विविध प्रवृत्तियों का अध्ययन कर उसे 'प्रेम-काल' की संज्ञा दी है जिसमें अतिव्याप्ति दोष है। छायावाद को केवल पद्य भाग तक सीमित कर वे इस तथ्य को विस्मृत कर देते हैं कि छायावाद अपने युग की एक ऐसी प्रवृत्ति है जिसका प्रभाव पद्य की भाँति गद्य की भी विविध विधाओं पर कम नहीं है। 'हिन्दी साहित्य का अतीत' तथा 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' उनकी दो नवीन आलोचना-कृतियाँ हैं जिनमें क्रमशः मध्यकाल और वर्तमान काल का विवेचन हुआ है। अपने गुरु लाला भगवानदीन की परम्परा का अनुगमन करते हुए उन्होंने 'गीतावली', 'कवितावली', 'सुदामा चरित' आदि काव्य-पुस्तकों की छात्रोपयोगी टीकाएँ भी लिखी हैं। वे अपनी मान्यताओं पर आज भी सुदृढ़ हैं और हिन्दी के नवीन साहित्य के प्रति उनके मन में विशेष आकर्षण नहीं है।

डा० सुधांशु हिन्दी-आलोचना के विकास काल के ऐसे सैद्धान्तिक समालोचक हैं जिनकी विचारधारा पर भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों का संतुलित प्रभाव पड़ा है। उनकी प्रतिष्ठा का प्रमुख कारण उनकी 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' शीर्षक रचना है जिसमें उन्होंने इटली के क्रोचे के सौन्दर्य सम्बन्धी सिद्धान्तों की विवेचना कर उनका भारतीय सिद्धान्तों के साथ विनियोग प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यद्यपि इस ग्रंथ में क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का सर्वांगीण विवेचन नहीं हो सका है फिर भी सहानुभूति और रसानुभूति के तत्व एवं अभिव्यंजना तथा कला-विषयक निरूपण में क्रोचे की प्रमुख मान्यताओं का उद्घाटन अवश्य हो गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि सुधांशु जी को क्रोचे के सौन्दर्यशास्त्र और अभिव्यंजनावाद में जहाँ भारतीय तत्वों का आधिक्य मिला, उन्हें उन्होंने विशद विवेचना प्रदान की और इतर प्रसंगों पर अधिक ध्यान नहीं दिया। "जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त" नामक दूसरे आलोचना ग्रंथ की रचना उन्होंने "हिन्दी में जीवन की प्रतिष्ठा पर काव्य के विश्लेषक समीक्षा-ग्रंथों का अपेक्षाकृत अभाव देखकर उसकी पूर्त्ति की भावना से की।" इस पुस्तक में उन्होंने काव्य या साहित्य के मूल सिद्धान्तों का विवेचन मानव-जीवन के शाश्वत तत्वों के साथ उनका सम्बन्ध जोड़ते हुए किया है। ऐसा करने में उन्हें साहित्य-शास्त्र, मनोविज्ञान, शरीर-विज्ञान तथा भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों से भी सहायता मिली है। सुधांशु जी की ये दोनों कृतियाँ इतनी अधिक महत्वपूर्ण हैं कि हिन्दी आलोचना के इतिहास में उनकी प्रतिष्ठा आज भी कम नहीं हुई है।

हिन्दी-आलोचना के इतिहास में शुक्ल-युग इतना अधिक व्यापक है कि यदि उसके आलोचकों की विविध प्रवृत्तियों और धारणाओं का समीक्षात्मक मूल्यांकन किया जाय तो वह स्वतन्त्र रीत्या एक विस्तृत निबन्ध का विषय बन सकता है। ऐसी परिस्थिति में हम

नाम गणन-प्रणाली में आस्था रखकर यहाँ इतना उल्लेख करना ही आवश्यक समझते हैं कि इस युग के अन्य आलोचक या तो आचार्य शुक्ल के वे शिष्य हैं जिन्होंने उनसे प्रत्यक्ष ज्ञानार्जन किया था या वे सुधीजन हैं जिन्होंने शुक्लजी से किसी न किसी रूप में विचार-सामग्री ग्रहण की थी। इस प्रसंग में हम पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' और डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का नामोल्लेख प्रथमतः करना आवश्यक समझते हैं जिन्होंने शुक्लजी के व्यक्तित्व से अधिक न लेकर स्वतन्त्र रूप से ही आलोचना-कार्य किया था। उनके निकट सम्पर्क में आकर रचना करने वाले आलोचकों में सर्वश्री कृष्णशंकर शुक्ल, केशरीनारायण शुक्ल, जगन्नाथप्रसाद शर्मा आदि प्रमुख हैं। इस समय तक हिन्दी में शोध-कार्य की भी यथेष्ट प्रतिष्ठा होने लगी थी और विभिन्न विश्वविद्यालयों में हिन्दी भाषा और साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की भी व्यवस्था हो चली थी अतः उसके अनुरूप पाठ्यक्रम प्रस्तुत करने का दायित्व विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों पर पड़ा और उन्होंने आलोचनात्मक दृष्टि से अपनी रचनाएँ कीं। डा० धीरेन्द्र वर्मा के मार्ग निर्देशन में प्रयाग विश्वविद्यालय से ऐसे अध्यापक-समालोचकों का दल तैयार हुआ जो लखनऊ में डा० दीनदयाल गुप्त द्वारा व्यापक बनाया गया तो बनारस में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उसे और अधिक प्रसारित किया। वस्तुतः शुक्ल-युग की उत्तरवर्ती परम्परा इन अध्यापक-समालोचकों की कृतियों से अलंकृत है जिसमें डा० कन्हैयालाल सहल, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, डा० श्रीकृष्णलाल, डा० भगीरथ मिश्र, डा० सत्येन्द्र, डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल', डा० रामकुमार वर्मा, डा० मुँशीराम शर्मा आदि परिगणित होते हैं। इस युग में पं० परशुराम चतुर्वेदी पं० शांतिप्रिय द्विवेदी और पं० चंद्रबली पांडे जैसे आलोचकों ने स्वतन्त्र रूप से भी समीक्षण-कार्य किया है।

शुक्ल-युग की समाप्ति के पश्चात् हिन्दी आलोचना का प्रसार जिस रूप में हुआ उसे 'शुक्लोतर युग' या 'प्रसार-काल' कहा जा सकता है। इसकी काल रेखा सन् १९४० के आस पास से लेकर अद्यावधि व्याप्त है। इसकी प्रवृत्तियों को मुख्यतः चार भागों में विभक्त किया जा सकता है :—१. स्वच्छन्दतावादी सौन्दर्यमूलक समीक्षा पद्धति, २. प्रगतिवादी समाज शास्त्रीय पद्धति, ३. अंतश्चेतना मूलक मनोविश्लेषणवादी पद्धति और ४. व्यष्टिपरक प्रयोगवादी पद्धति। इन चारों पद्धतियों के अतिरिक्त ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धति, शोधपरक अनुसंधान-पद्धति और प्रभाववादी स्वतंत्र पद्धति का प्रसार भी इस काल में देखा जाता है। इन समस्त पद्धतियों के मूल में किसी न किसी प्रकार का तात्विक अथवा हल्का-भारी आधार अवश्य है। इन पद्धतियों पर विकसित समालोचना का विस्तार इतना अधिक है कि उसकी समता में पूर्व-युगीन आलोचना अपने आकार-प्रकार में बहुत छोटी लगती है। वस्तुतः इस युग में कथा-साहित्य को छोड़कर आलोचना-साहित्य का जितना अधिक प्रसार हुआ है उतना अन्य किसी भी साहित्यांग का नहीं। इस युग के आलोचकों में शुक्ल जी के व्यक्तित्व के समान प्रौढ़ि भले ही न मिले, किंतु यह तो मानना ही पड़ेगा कि उनके द्वारा जीवन के विकासमान दृष्टिकोणों

को साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण करने की स्वतंत्र चेष्टाएँ की गई हैं। वर्तमान जीवन-दर्शन के अंतर्गत सौष्ठव-विधान-संयोजन तथा समाजशास्त्रीय और मनोविश्लेषणवादी व्यवस्थाओं का प्रस्फुरण जिस रूप में हुआ है, वह इस युग की समालोचना का मूलाधार है।

स्वच्छंदतावादी सौन्दर्यमूलक समीक्षा का जन्म एक प्रकार से द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता और वाह्य निष्ठा की प्रतिक्रिया में उत्पन्न छायावाद का पक्ष-समर्थन करने के प्रयोजन से हुआ था। इस प्रकार की आलोचना का प्रधान श्रेय छायावादी कवियों (प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी) को है जिनके काव्य की अभ्यर्थना पं० नंददुलारे वाजपेयी तथा पं० शांतिप्रिय द्विवेदी जैसे समर्थ समालोचकों ने भी की है। छायावादी काव्य की भांति सौन्दर्य मूलक स्वच्छंतावादी आलोचना भी रूढ़िग्रस्त शास्त्रीयता का निर्मोक छोड़ कर चली है जिसमें प्राचीन प्रणाली से काव्य-निकष प्रस्तुत न किया जाकर कल्पना-पक्ष, भाव-सौन्दर्य, कला-वैशिष्ट्य और सांस्कृतिक स्तर से उसका प्रतिमान निर्धारित किया गया है। उसका विकास स्वच्छंदतावादी काव्य-धारा के परिवेश में हुआ है जिसमें काव्य की वस्तुपरकता, कृत्रिम आलंकारिता और रूढिवादिता के स्थान पर विषयों की नवीनता, भावों की स्वच्छंदता, भाषा की लाक्षणिकता, कल्पना की प्रचुरता और अभिव्यंजन की विशिष्टता पर अधिक ध्यान दिया गया है। इस प्रवृति की आलोचना पर पाश्चात्य विचारधारा का भी पर्याप्त प्रभाव है और उसमें आत्माभिव्यंजन की प्रधानता के कारण प्रबन्ध के स्थान पर मुक्तक और गीति-परम्परा को अधिक महत्व दिया गया है। वस्तुतः छायावादी आलोचक परम्परागत साहित्य-प्रतिमानों को नवीन दीप्ति से आलोकित करते हुए प्राचीन कवियों का मूल्यांकन करने में भी भाव-प्रवण-सौष्ठव से अधिक सामग्री लेते चले हैं। उनकी आलोचना में भाव-विभोर करने वाली तन्मयता और अनुभूति-तत्व की प्रचुरता भी है। उसका मुख्य विषय काव्यालोचन है यद्यपि उसमें इतर साहित्यांगों की भी यथाप्रसंग चर्चा हुई है। उसकी शैली को अधिकांशतः रावीन्द्रिक शैली भी कहा जा सकता है। इस आलोचना में प्रगतिवादियों और मनोविश्लेषणशास्त्रियों के यथार्थ से विरोध है और पश्चिम की कलामीमांसा तथा अभिव्यंजनावाद से भी उसने बहुत कुछ लिया है। छायावादी आलोचक काव्य-सृजन की प्रेरणा को हृदय के नैसर्गिक मनोभावों की भाँति ग्रहण कर अंतर्जगत् और वाह्य-जगत् में साम्य एवम् तादात्म्य स्थापित करना काव्य की उच्चता का एक मुख्य उपादान समझते हैं और समालोचना के सैद्धांतिक पक्ष को जीवन-रस से आप्लावित कर उसे बौद्धिक स्वरूप देना युक्तिसंगत मानते हैं। उनकी समीक्षा का अधिकांश रूप उनकी काव्य-कृतियों की भूमिकाओं और स्वतंत्र निबंधों में व्यक्त हुआ है जिनके विवेच्य विषय मुख्यत; काव्य, कला, रहस्यवाद, छायावाद, यथार्थवाद और सामयिक साहित्य-समस्याएँ आदि हैं।

स्वर्गीय बाबू जयशंकर 'प्रसाद' को छायावादी आलोचना का आधार-स्तम्भ कहा जा सकता है। यद्यपि वे मूलतः कारयित्री प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार थे किंतु उन्होंने साहित्य-समीक्षा का भी कार्य मुख्यतः शोधपरक और विचार-प्रधान दृष्टि से किया था। काव्य और

नाटक उनके मूल प्रतिपाद्य विषय थे और वाद-समीक्षा तथा रस-निष्पत्ति पर भी उन्होंने तात्विक विमर्श उपस्थित किया था। 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' उनके आलोचनात्मक लेखों का संग्रह है जिसमें उन्होंने 'काव्य और कला', 'रहस्यवाद', 'रस', 'नाटकों में रस का प्रयोग', 'नाटकों का आरम्भ', 'रंगमंच', 'आरम्भिक पाठ्य काव्य' तथा 'यथार्थवाद और छायावाद' शीर्षक आठ विषयों पर अपनी मौलिक उद्भावनाएँ और उपपत्तियाँ निरूपित की हैं। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के शब्दों में "प्रसाद जी ने भारतीय दार्शनिक अनुक्रम का साहित्यिक अनुक्रम से युगपत सम्बन्ध तो स्थापित किया ही है, प्रसंगवश दर्शन और साहित्य की समानता भी मानवात्मा के सम्बन्ध से सिद्ध की है। मुख्य-मुख्य दार्शनिक धाराओं के साथ मुख्य-मुख्य काव्यधाराओं का समीक्षण करके इन दोनों का इतिहास भी प्रसाद जी ने प्रस्तुत पुस्तक में हमारे सामने रखा है।"

श्री सुमित्रानन्दन पन्त आधुनिक हिन्दी काव्य के सौन्दर्य प्रबुद्ध कलाकार होने के साथ-साथ सुलझी हुई दृष्टि वाले गम्भीर विचारक भी हैं। युग-जीवन और सांस्कृतिक जागरण का प्रभाव उनके मानस-पटल पर प्रारम्भ ही से रहा है जिससे प्रेरणा लेकर उन्होंने अपने काव्यों की भूमिकाओं, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखमालाओं, सांस्कृतिक और साहित्यिक आयोजनों पर प्रदत्त प्रवचनों और आकाशवाणी द्वारा प्रसारित वार्ताओं में सामान्य रूप से छायावाद के प्रवर्तन काल से लेकर अद्यावधि पर्यन्त संघटित परिवर्तनों और प्रक्रियाओं का विवेचन अत्यन्त भावपूर्ण और विचारपरक शैली में किया है। उनके आलोचनात्मक निबन्धों और वार्ताओं का संग्रह 'गद्य-पथ' नामक पुस्तक में हो चुका है जिसमें 'पल्लव' की 'भूमिका' 'आधुनिक कवि' का 'पर्यालोचन', 'युगवाणी' का 'दृष्टिपात' और 'उत्तरा' की 'प्रस्तावना' भी सम्मिलित है। इनमें पन्त जी ने क्रमशः 'काव्य का बहिरंग', 'अपने विकास की सीमाओं के भीतर से काव्य का अन्तरंग', 'युग-दर्शन के प्रमुख तत्त्वों पर प्रकाश' और 'कम से कम शब्दों में अपना दृष्टिकोण' व्यक्त किया है। अपने आकार-प्रकार में वृहत् न होने पर भी पंत जी की आलोचना का स्थायी महत्व है और उसके अध्ययन के बिना छायावादी आलोचना का बोध अपूर्ण ही समझा जायगा।

स्वर्गीय पं० निराला का समालोचक-व्यक्तित्व उनकी काव्य-कृतियों की भाँति निराला ही है। उनके प्रारम्भिक आलोचनात्मक निबन्ध 'मतवाला', 'समन्वय', 'सुधा', 'देशदूत', 'माधुरी', 'हंस', और 'सरस्वती' आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे जिनके संग्रह 'प्रबन्ध-प्रतिमा', 'प्रबन्ध-पद्म', 'चाबुक' तथा 'चयन' नामक पुस्तकों के रूप में छप चुके हैं। इन निबन्धों में पिछले प्रायः चालीस वर्षों की हिन्दी साहित्य की गतिविधि का सामान्य लेखा-जोखा प्रकीर्ण रूप में हुआ है। 'रवीन्द्र-कविता-कानन' उनकी स्वतंत्र पुस्तकाकार विशद आलोचना-पुस्तक है। इन आलोचनाओं से निराला जी की मान्यताओं का सम्यक् बोध किया जा सकता है। उनकी आलोचनाओं में तुलना, व्याख्या, आत्म-विश्लेषण, निजी काव्य-सौष्ठव, वाद-विवाद-प्रवृत्ति, कटु व्यंग्यात्मकता और पुस्तकालोचन-प्रवृत्ति का भी समावेश है।

पंतजी के 'पल्लव' की विशद विवेचना में उनका आक्रोश रुद्र रूप में व्यक्त हुआ है।

छायावाद की अनन्य आराधिका शुभश्री महादेवी वर्मा ने अपनी काव्य-भूमिकाओं द्वारा छायावाद का सबल समर्थन करते हुए काव्य को जीवन की विशाल भूमि पर समीक्षित करने की चेष्टा की है; उसमें भारतीय काव्यशास्त्र के चिरतन सिद्धांतों के साथ-साथ नवान काव्यालोक का भी अद्‌भुत सम्मिश्रण है। पं० गंगाप्रसाद पाण्डेय के शब्दों में 'उनकी आलोचना शास्त्रज्ञ आचार्य की कठोर बौद्धिक रेखाओं से घिरी न होकर जीवन को संसिक्त करने वाले भावना-प्रपात की तरह तरल-स्वच्छ और सतत प्रसरण शील है। उनकी समीक्षा की मुख्य कसौटी अनुभूति, विचार और कल्पना से समन्वित उनका जीवन-दर्शन है जो समीक्षा की प्रगति के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ है।' उनके विचारों का चयन 'साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध' नामक पुस्तक में किया गया है जिसमें क्रमशः 'साहित्यकार की आस्था', 'काव्य-कला', 'छायावाद', 'रहस्यवाद', 'गीति-काव्य', 'यथार्थ और आदर्श', 'सामयिक समस्या' और 'हमारे वैज्ञानिक युग की समस्या' का विवेचन हुआ है। डा० नगेन्द्र का यह कथन कि 'महादेवी के ये निबन्ध काव्य के शाश्वत सिद्धांतों के अमर व्याख्यान हैं'––पूर्ण सत्य है। वस्तुतः उनमें नये काव्यालोचन के अमर तत्व सन्निहित हैं जिनका महिमा-मय गौरव कोई नहीं छीन सकता। हिन्दी आलोचना के इतिहास में उनका महत्व अक्षुण्ण रहेगा।

सौन्दर्यमूलक स्वच्छन्दतावादी समालोचना के विकास में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की कृतियों का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सन् १९४२ ई० में उनके आलोचक प्रतिमान की निर्देशक-कृति 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' का प्रकाशन हुआ था जिसकी 'विज्ञप्ति' में उन्होंने अपने समीक्षा-विषयक दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करते हुए बीसवीं शताब्दी की प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया है। यों तो 'रत्नाकर' से लेकर 'अंचल' तक अनेक कवि इस ग्रंथ में व्याख्यात हुए हैं किन्तु छायावादी कवियों का काव्य ही उनके विवेचन का मूल केन्द्र प्रतीत होता है। इस पुस्तक से वाजपेयी जी का आलोचना-प्रतिमान ज्ञात हो जाता है। उन्होंने काव्य का महत्व काव्य ही के अन्तर्गत निर्धारित करते हुए जीवन की संवेदना को जिस रूप में ग्राह्य सिद्ध किया है, वह शुक्लोत्तर-युगीन समीक्षा का एक प्रख्यात उपकरण है। 'आधुनिक-साहित्य', 'नया साहित्य : नये प्रश्न' नामक दो अन्य आलोचना-ग्रंथों के अध्ययन से वाजपेयी जी का आलोचक-व्यक्तित्व पूर्णतया जाना सकता है। 'महाकवि सूरदास' 'जयशंकर 'प्रसाद' और प्रेमचन्द पर उन्होंने जो व्यावहारिक समीक्षाएँ लिखी हैं, उनका सैद्धांतिक पक्ष भी अत्यन्त पुष्ट है।

छायावादी पद्धति में प्रभाववादी और भावप्रवण दृष्टि से तन्मयतामूलक विवेचना करने वाले आलोचक श्री शांतिप्रिय द्विवेदी का कृतित्व आधुनिक हिन्दी साहित्य का सम्पूर्ण सिंहावलोकन करा देता है। उनका प्रिय विषय छायावाद की अभ्यर्थना और मुख्यतः पंतजी के काव्य का संस्तव है। उनकी आलोचना में गद्य-काव्य की सी छटा है। 'हिन्दी साहित्य के

निर्माता', 'युग और साहित्य', 'कवि और काव्य', 'मंचारिणी', 'सामयिकी' और 'ज्योति-विहग' नामक उनके प्रसिद्ध समालोचनात्मक ग्रंथ हैं।

प्रसारकालीन आलोचना की इसी प्रवृत्ति के प्रसंग में हम डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी और डा० नगेन्द्र का नामोल्लेख करना आवश्यक समझते हैं जिन्होंने क्रमशः मानवतावादी और रसवादी दृष्टि से साहित्य-समालोचना की है। वस्तुतः इन आलोचकों का व्यक्तित्व किसी विशिष्ट परिधि में ही सीमित नहीं रहा है अपितु वे अपने युग जीवन से यथा प्रसंग अनुकूल सामग्री ग्रहण करते हुए अपने ध्येय-पथ पर बढ़ते चले हैं। डा० द्विवेदी का व्यक्तित्व मुख्यतः शोधपरक ऐतिहासिक और शास्त्रीय समालोचक का है। उन्होंने 'हिन्दी साहित्य के आदिकाल' का विद्वत्तापूर्ण विवेचन करने के साथ-साथ 'नाथ-सम्प्रदाय' को भी नवीन दृष्टि से देखा है। उनका 'कबीर' नामक ग्रंथ हिन्दी आलोचना के इतिहास में एक महत्वपूर्ण कड़ी है। 'साहित्य का साथी', 'साहित्य का मर्म', 'हमारी साहित्यिक समस्याएँ' और 'विचार और वितर्क' नामक ग्रन्थ उनके आलोचनात्मक निबन्धों के संग्रह हैं जिनसे उनका समीक्षा-स्तर समझा जा सकता है। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के सम्पर्क में रहने के कारण उनमें जिस प्रकार की बौद्धिक और सांस्कृतिक चेतना का संचार हुआ था, वह उनके व्यक्तित्व पर आज भी अंकित है और वे साहित्य को मानववादी धरातल पर विवेचित करना सर्वतोभावेन समीचीन समझते हैं।

डा० नगेन्द्र शुक्लोत्तरयुगीन समीक्षकों में अत्यन्त मेधावी और सृजनशील समालोचक हैं। उन्हें 'आलोचना आज के हिन्दी साहित्य का सबसे समृद्ध अंग' ही नहीं लगता है अपितु उसे समृद्ध बनाने में वे सतत प्रयत्नशील भी रहते हैं। उनका समालोचना-क्षेत्र में प्रवेश 'साकेत: एक अध्ययन' और 'सुमित्रानन्दनपंत' नामक कृतियों के साथ हुआ था और तब से वे निरन्तर गति से समालोचना के अभावपूर्ण अंगों की पूर्त्ति में सन्नद्ध हैं। 'विचार और विवेचन', विचार और अनुभूति', विचार और विश्लेषण' उनके आलोचनात्मक निबन्धों के संग्रह हैं जिनमें उन्होंने अनेकानेक सैद्धान्तिक और साहित्यिक विषयों का विवेचन किया है। 'रीति-काव्य की भूमिका और महाकवि देव' डी० लिट्० की उपाधि के लिए स्वीकृत उनका शोध-प्रबन्ध है। उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य काव्य शास्त्र का नवीन आलोक में पुनराख्यान करने का भी सफल प्रयास किया है। 'साकेत एक अध्ययन', 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ' और 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ' उनकी प्रसिद्ध आलोचना-कृतियाँ हैं। 'रीतिकाव्य की भूमिका', 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका', 'भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा', 'भारतीय वाङमय', 'अरस्तू का काव्य शास्त्र', 'हिन्दी ध्वन्यालोक की भूमिका' नामक ग्रंथों से उनकी प्रखर प्रज्ञा और समालोचक-व्यक्तित्व का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

प्रसारकालीन (शुक्लोत्तर) आलोचना की मार्क्सवादी प्रवृत्ति को प्रगतिवादी समीक्षा भी कहा जा सकता है। उसकी विचारधारा मार्क्सवादी जीवन-दर्शन अथवा द्वन्द्वात्मक

भौतिकवाद पर आधारित है। इस मत के अनुसार जगत् की सत्ता केवल भौतिक तत्वों पर निर्भर है और मानव-चेतना का समस्त आधार हमारा भौतिक और सामाजिक जीवन है जिसका मेरुदण्ड आर्थिक ढाँचा है। इसकी मान्यता है कि जब तक वर्गहीन समाज की स्थापना नहीं हो जाती तब तक वर्ग संघर्ष अनिवार्य है और उसकी अभिव्यक्ति साहित्य में होकर ही रहती है। छायावादी समीक्षा के कला-प्रतिमानों और सौन्दर्य-मूल्यों से प्रगतिवादी समीक्षा का विरोध है और वह जीवन की अंतश्चेतना द्वारा साहित्य-सृजन के सिद्धान्त में कोई आस्था नहीं रखती। इस प्रकार की आलोचना ने प्राचीन साहित्य को रूढ़िग्रस्त और चेतनाहीन माना है और उसमें अभिजात वर्ग का प्रभाव देखकर उसकी कुत्सा की है। उसमें सामयिक आवश्यकता और युग-चेतना का जितना अधिक समर्थन है उतना अन्य किसी भी विचारधारा का नहीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि छायावादी काव्य के कल्पना-लोक की अतीन्द्रियता पर अंकुश लगाने का कार्य प्रगतिवादी काव्य ने किया तो मार्क्सवादी आलोचना ने साहित्य-समीक्षा का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण रखा। यदि यह आलोचना जीवन की शाश्वत संवेदनाओं की उपेक्षा न कर उसका सही मूल्यांकन करती हुई चलती तो उसके द्वारा साहित्य में सामाजिक तत्व का समीक्षण उदात्त स्वरूप में हो पाता पर उदीयमान आलोचकों ने इस तथ्य की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। उनके ज्ञान के दर्प ने उन्हें परस्पर विरोधी भी बना दिया जिसका आभास उनकी कृतियों के अध्ययन से मिल जाता है। सर्वश्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, डा० रामविलास शर्मा, डा० रांगेय राघव और शिवदानसिंह चौहान इस प्रकार की समालोचना के प्रमुख लेखक हैं जिनका आलोचना के विकास में सक्रिय सहयोग रहा है।

प्रसारकालीन आलोचना का एक अन्य अंग मनोविश्लेषणवादी समीक्षा है जिस पर पश्चिमी मनोविश्लेषक फ्रायड, एडलर और युंग का प्रचुर प्रभाव है। इस प्रकार की प्रवृत्ति के आलोचक काव्य को अंतर्मन की सृष्टि मानते हैं जिसमें काम-वासनाओं का महत्व सर्वोपरि है। फ्रायड के अनुयायी आलोचकों ने अनेक प्रमाण देकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि काव्य-सृष्टि के मूल में हमारी दमित वासनाएँ हैं जो अपने उदात्तीकृत रूप (Sublimited form) में काव्य का स्वरूप धारण करती है। इन आलोचकों ने सम्पूर्ण साहित्य का विवेचन इसी सीमित दृष्टि से किया है जो चिंत्य है। उनकी विचारधारा में संस्कृति, आदर्श और धर्म केवल ढकोसले हैं और मानव की समस्त क्रियाएँ काम-ग्रंथि को केन्द्र मानकर विकसित होती हैं। किसी समय हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में इस प्रवृत्ति का बड़ा जोर था किन्तु अब वह शनैः-शनैः क्षीण हो रही है।

मनोविश्लेषणवादी आलोचकों ने एडलर द्वारा निरूपित हीनता-ग्रंथि की महत्ता स्वीकार कर उसके आधार पर भी साहित्य-समीक्षण किया है। वे कवियों के मानसिक संस्थान का विवेचन करते हुए इस सिद्धान्त के समर्थन की चेष्टा करते हैं कि अन्य रूपों की तरह साहित्य भी हमारी क्षति-पूर्ति का साधन है। साहित्य में कल्पना का प्राचुर्य,

आदर्श का विधान और अहं का अभिव्यंजन वे इसी क्रिया के परिणाम मानते हैं। अपने कथन की पुष्टि करने के लिए उन्होंने भक्त-कवियों के अतिरिक्त छायावादी कवियों को भी अपना साधन बनाया है। इन आलोचकों को युग का जीवनेच्छा विषयक सिद्धांत भी मान्य है और उसकी पुष्टि वे साहित्य में आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा द्वारा करते हैं। इस प्रकार की मनोविश्लेषणवादी आलोचना के प्रमुख विवेचक सर्वश्री अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी आदि हैं। किसी समय डा० नगेन्द्र भी इसके समर्थक थे किन्तु अब उनका सम्पूर्ण झुकाव भारतीय रसवाद की ओर हो गया है।

संक्षेप में हिन्दी आलोचना के विकास की यही लघु कथा है। अब हम अनुसंधान द्वारा आलोचना-वृद्धि का सामान्य उल्लेख कर इस विवेचन को समाप्त करना चाहते हैं। इसके उल्लेख की स्वतन्त्र आवश्यकता हमें इसलिए प्रतीत हो रही है कि वर्तमान काल में आलोचना-क्षेत्र में जितना कार्य हो रहा है उसका अधिकांश रूप शोधपरक समीक्षा से सम्बद्ध है। यों तो कुछ विद्वानों के मत से अनुसंधान और आलोचना के क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं किन्तु मेरी समझ में यह मत अतिरेकतापूर्ण है। वस्तुतः आलोचना में भी अनुसंधान की प्रवृत्ति काम कर सकती है और अनुसन्धान में भी आलोचना का भाव निहित रहता है। वर्तमान समय में इसका मुख्य क्षेत्र विभिन्न विश्वविद्यालयों में किये जाने वाले शोध-कार्य से उपवृहित है। वैसे तो पाश्चात्य विद्वानों द्वारा हिन्दी भाषा और साहित्य से सम्बद्ध शोध-कार्य आज से प्रायः पचास वर्ष पूर्व ही प्रारम्भ कर दिया गया था किंतु विगत दो दशकों से वह अधिक विकासमान है। हिन्दी भाषा और साहित्य के विविध पक्षों पर अब तक प्रायः दो सहस्र शोध-विषय स्वीकृत हो चुके हैं और पाँच सौ से अधिक विषयों पर कार्य-सम्पन्न भी हो चुका है। अनुसंधान की यह प्रगति हमारे लिए यथेष्ट संतोष का विषय है। उसकी प्रगति का एक स्वतन्त्र इतिहास है और अब ऐसी आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है कि शोध-कार्य द्वारा संवर्धित आलोचना की भी आलोचना की जाय जिससे उसके मौलिक तत्त्वों और वस्तुपरक तथ्यों का मूल्यांकन हो सके। वस्तुतः यह अत्यन्त परिश्रमसाध्य कार्य है किंतु इसकी महत्ता में सन्देह नहीं किया जा सकता। विभिन्न विश्वविद्यालयों में इस समय जो अनुसंधान-कार्य हो रहा है उसके अन्तर्गत पाठालोचन, भाषा-सम्बन्धी अध्ययन, विशिष्ट साहित्यकारों के व्यक्तित्व और कृतित्व का विवेचन, काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का परीक्षण, साहित्य की विभिन्न विधाओं की सैद्धान्तिक विवेचना और उनके उद्‌भव तथा विकास का अनुशीलन, लोक-साहित्य और लोक-संस्कृति का अध्ययन, विभिन्न सम्प्रदायों और पंथों की विवेचना तथा साहित्य पर भारतीय तथा पाश्चात्य विचारों का प्रभाव आदि विभिन्न वर्ग सम्मिलित हैं।

हिन्दी आलोचना के प्रस्तुत इतिहास से स्पष्ट है कि उसका संगठन भारतीय काव्य-शास्त्र और पाश्चात्य साहित्यालोचन के सम्मिश्रित तन्तुओं से हुआ है। अपने प्रारम्भिक काल में उसका क्षेत्र केवल पुस्तक-परिचय तक ही सीमित था किन्तु वर्तमान स्थिति में उसने

पूर्णतया कायाकल्प कर लिया है। यदि हम रीतिकालीन आलोचना को उसकी पृष्ठभूमि में ही विवेचित करें तो उसका प्रवर्तन भारतेंदु-काल से माना जा सकता है। द्विवेदी-काल में उसका संवर्धन, शुक्ल-युग में उसका विकास एवं शुक्लोत्तर युग में उसका प्रसार माना जा सकता है—इसी आधार पर उसके चार चरण निर्धारित किये जा सकते हैं। आलोचना के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के अन्य अंगों ने भी आज ऐसा विकास प्राप्त कर लिया है जिसके कारण उसकी गणना विश्व के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यों में की जाने लगी है। देश की स्वतन्त्रता के पश्चात् तो उसकी ख्याति विश्वजनीन बन गई है। ऐसी परिस्थिति में साहित्य समालोचकों के कन्धों पर इस बात का महान् दायित्व आ गया है कि वे अपनी साधना का दिव्य हव्य साहित्य-निर्माण के महान् यज्ञ में अर्पित करें जिससे उसकी दिनोंदिन श्रीवृद्धि हो।

डा० सत्येन्द्र डी० लिट्
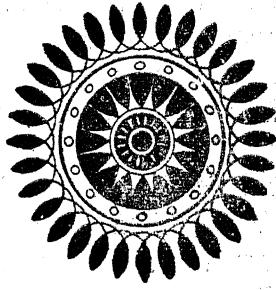
हिन्दी में आलोचना की शैलियाँ

जिस समय मनुष्य को विवेक दिया गया, उसी समय उसे समालोचक बना दिया गया और उसने तभी से समालोचना करना आरम्भ कर दिया। सीधे शब्दों में अब तक जितनी भी अभिव्यक्ति हुई वह सब समालोचना ही है। वह सब विवेक का ही परिणाम है। पहले उसने प्रकृति देखी, मनुष्यों को देखा—उनके हर्ष विस्मय सम्पन्न व्यापार देखे। उन व्यापारों से उसे विवेक हुआ। कुछ भले लगते हैं, कुछ बुरे। भले की वह प्रशंसा करने लगा, बुरे की निन्दा। यह भले-बुरे का विवेक था—उसकी प्रशंसा तथा अप्रशंसा, उसकी समालोचना। और जहाँ भी यह विवेक उपस्थित है—चाहे वह अविवेक ही क्यों न हो किन्तु यदि विवेक की भाँति आया है तो रूप कुछ भी हो काव्य, साहित्य, तर्क, नाटक, गद्य, चित्र, मूर्ति, स्थापत्य सब समालोचना है—केवल एक अपवाद है—वह यह कि इनमें सब कुछ नकल अथवा यथावत् जैसे का तैसा वर्णन मात्र न हो। यथावत् प्रतिकृति जिसमें केवल मेधा अथवा स्मृति संचयमात्र को शब्दों में रूपान्तरित कर दिया गया हो, बुद्धि की काट-छाँट से सर्वथा शून्य—यह एकदम असम्भव तो है क्योंकि उसमें कला नहीं आ सकती और कला के न आने से वह वस्तु टिक नहीं सकती और मरकर वह प्रतिकृति मात्र की अवांछनीयता भी सिद्ध कर जाती है, अन्यथा सारा का सारा साहित्य एक शब्द में एक विशद समालोचना है। मैथ्यू आरनल्ड ने तो यथार्थ ही काव्य को जीवन की समालोचना कह डाला और जब उसने यहाँ तक कह दिया कि एक दिन सारा दर्शन ही काव्य हो जायगा तो शेष रह जायगा क्या ? और कला क्या है ? वह भी कविता की भाँति ही है क्योंकि कला और काव्य मूलतः एक ही बात है। जो

काव्य में है वही कला के विभिन्न रूपों में आवरण अथवा आधार-भेद से भिन्न प्रकृति वाला सा लगता है। जो कला की कला की ही अभिव्यक्ति मानता है और उसे उसी के लिए समझता है वह जब औस्कर वाइल्ड की भाँति कलाकार के विषय में यह कहता है कि वह जीवन के तथ्यों को स्वीकार करते हुए भी उन्हें सौन्दर्य की आकृतियों में ढालता है। उन्हें करुणा अथवा विस्मय को वहन करने वाला बताता है, उनके रंजनानुस्पर्शों को प्रकट करता है और उनके रहस्य को भी, उनके सच्चे आचारार्थ को बतलाता है और उनमें इस वास्तविकता से, इस प्रकृत से भी कहीं अधिक प्रकृत जगत की सृष्टि करता है—इससे कहीं उच्चतर और शीलसम्पन्न, तो क्या वह कलाकार को समालोचक नहीं समझता। कला को उपयोगिता के दामन से बाँधने वाले भी जब यह कहते हैं कि उसमें ऐसा कुछ भी न हो जो अनुपयोगी हो, वे क्या कवि में अधिक से अधिक की विवेक की अपेक्षा नहीं समझते। तो समालोचना तो जन्म से मनुष्य के साथ है। जब तक वह मनुष्य है, बिना धारणाएँ बनाये रह नहीं सकता और धारणाएँ सदा विवेक अथवा विवेक जैसे ही अविवेक पर आश्रित हैं और वह समालोचना है। जब गिरिजाकुमार घोष ने द्वितीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की लेखमाला के 'समालोचना' शीर्षक लेख में यह लिखा था कि :—

"इस बात के लिए प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं कि समालोचना से प्रतिभा का विकास नहीं होता। प्राचीन समय में जो कवि हो गये हैं उन्हें समालोचकों की सम्मतियों को मानकर चलने की आवश्यकता नहीं थी—समालोचना से उन कवीश्वरों (वाल्मीकि, व्यास, बाणभट्ट, सूर, तुलसी जैसे कवियों से अभिप्राय है) की प्रतिभा उत्तेजित नहीं होती। प्रतिभा समालोचना से मार्जित भी नहीं होती न उससे सच्ची राह में लायी जाती है। जिस कल्पना से कवि स्वर्ग के ऊपर एक दूसरा स्वर्ग रचता है, समालोचक की सामान्य कल्पना उसका अनुभव नहीं कर सकती।............जो दृष्टि मनुष्य की साधारण दृष्टि से छिपे हुए जगमगाते तारागणों से गुँथे हुए आकाश मंडल में विचरा करती है, समालोचक उस दृष्टि को कहाँ, कैसे पा सकता है? ....कवि जिस चित्र को रच देता है, समालोचक दूसरे चित्रों से केवल उसकी तुलना भर कर सकता है। समालोचक वर्तमान को ही देखकर भविष्य का अनुभव करने लगता है। परन्तु प्रतिभा उसके अनुभव से बँधी रहना चाहती है। समालोचक अपने अनुभव से जिस भविष्य निर्माण करता है, प्रतिभा उस मार्ग से जाना भी नहीं चाहती।"
समालोचना की भर्त्सना करते हुए लेखक स्वतः ही समालोचना कर रहा था। और जिस समय ये पंक्तियाँ लिखी गईं थीं उस समय समालोचना का अर्थ ठीक नहीं समझा जाता था। इस प्रकार समालोचना विस्तृतार्थ में सभी को करनी पड़ती है—वह मानव जीवन में घुट्टी के साथ पिलायी गयी है। जिन महाकवियों और कलाकारों के नाम लेखक ने ऊपर गिनाये हैं और कहा है कि उन पर समालोचना का प्रभाव नहीं पड़ा, वह भी क्या ठीक है? वाल्मीकि जी जब एक शब्द लिख रहे थे तो विचार पूर्वक ही लिख रहे थे। मनुष्य क्या स्वतः समालोचक नहीं? उनकी रचना तत्कालीन क्षेत्र की विशद आलोचना है। क्या यह माना जा सकता है कि उन्होंने वह रचना यों ही बिना किसी प्रेरणा के कर डाली—और भी सीधे शब्दों में, जो

लोककाव्य का सबसे पहला वाल्मीकि रचित यह छन्द कहा जाता है ।—

मा निषाद ! प्रतिष्ठा त्वमगमः शाश्वती समा
यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधीः काममोहिताम्

क्या यह व्याध के कृत्य की आलोचना नहीं ? साहित्य की रचनाएँ अभाव की पूर्ति के लिए होती रही हैं । जब तक कवि की प्रखर प्रतिभा उस अभाव के रूप को ठीक-ठीक विचार नहीं लेती तब तक कोई रचना हो ही नहीं सकती । ऐसा नहीं कि यह भारतीय वाङ्मय के लिए ही सत्य हो—विश्व वाङ्मय में भी यही बात है और विकास का अर्थ ही यह है । पूर्व स्थिति की तीव्र आलोचना बिना उसके विकास के सूत्र शिथिल हो जाते हैं । जो कवि जितना ही सच्ची स्थिति को पहचान सकता है वह उतना ही ऊँचा कवि होगा । और सच्ची स्थिति वही है जो शाश्वत से सम्बन्ध रखे । जब उसका ठीक पर्यवेक्षण होगा तभी प्रतिभा को स्फूर्ति मिलेगी । क्या हम उसे भी प्रतिभा कह सकते हैं जो कही हुई और देखी हुई बात को ही दुहराती है । प्रतिभा तो एक नवीन सृष्टि ही करती है—और नवीन सृष्टि क्या नवीन सृष्टि कही जा सकती है यदि पुरानी सृष्टि को ठीक रूप में नहीं समझ सकी । पूर्व को समझ कर उसमें संशोधन करने के भाव से ही प्रतिभा को स्फूर्ति मिलती है । वैसे तो सारी रचना मिलकर भी एक विशद आलोचना होती है किन्तु जहाँ-तहाँ तो स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं । कवि की कोई भी कल्पना अद्भुत और महत् इसीलिए है कि उसके पीछे उसी की तीव्रतर आलोचना काम कर रही है और प्रतिभा यदि समालोचना से मार्जित न होती तो सभी कवियों की कृतियाँ एक ही कोटि की होती । शेक्सपीयर भी चौसर के युग में हुआ होता, तुलसीदास और सूर चन्दवरदायी के समय में होते और चन्दवरदायी रासो न लिखकर रामायण ही लिखता—वह रामायण भी तुलसी कृति क्यों होती बाल्मीकि कृत ही होती । किन्तु ऐसा होना सम्भव नहीं । प्रतिभा का परिमार्जन भिन्न अवस्था में रचनाओं की आवश्यकता सुझाता है । कवि उसी प्रेरणा से नयी रचना करने बैठता है किन्तु विवेक अथवा समालोचना का कार्य निर्णायक की भाँति है । वह प्रस्तुत वस्तु का विश्लेषण करता है उसके अन्तः रहस्य को देखता है और बतलाता है कि क्या-क्या है और कैसे है, कहाँ तक है और कितना है । वह प्रत्येक निर्मायक तन्तु से घनिष्ट परिचय प्राप्त करता है तभी वह अपना कार्य कर सकता है । विवेक निरपेक्ष नहीं । उसे अपना कार्य पूर्ण करने के लिए एक माप की आवश्यकता है । वह किसी वस्तु का विश्लेषण क्यों करता है ? माप को सामने प्रस्तुत कर उसे जानने के लिए—और यह माप बहुत ही महत्त्वपूर्ण वस्तु है । यह माप वह है जहाँ मनुष्य कलाकार हो जाता है । साहित्यिक शब्दों में चाहे तो हम इसे अनुभूति कह सकते हैं । यह अनुभूति हमारे आदर्श की भाँति है । वस्तुतः जो यह है वही हम हैं । हमारी अभिव्यक्तियों की प्रेरणा यहीं से होती है और अभिव्यक्ति होती भी है । इस अनुभूति का निर्माण प्रत्येक मनुष्य में होना स्वाभाविक है, गोचर जगत की इन्द्रियों द्वारा उपस्थित की गई सामग्री जब हमारे हृदय में पच जाती है, वहाँ एक रासायनिक परिवर्तन से एक नयी वस्तु बन जाती है । तभी वह अनुभूति हो पाती है । यह जिस प्रकार निर्मित होती है उसका हमें बोध नहीं होता । हमारी परिस्थि-

तियाँ और हमारा अनुभव और हमारा ज्ञान किस अन्तः प्रक्रिया से एक विशेष रूप धारण कर लेते हैं यह कहना कठिन है किन्तु यह निश्चित है कि उनका रूप एक नया रूप हो जाता है और उसे ही हम अपना कहते हैं। यह उतना विभिन्न है जितने व्यक्ति विभिन्न हैं। रुचि इससे बनती है। इसकी व्याख्या तो भी की गई है किन्तु एक व्याख्या आध्यात्मिक हो जाती है। संस्कारों का अनुक्रमण होना कहाँ तक सम्भव है और कैसे सम्भव है, इस समस्या का उत्तर आध्यात्मिक विश्वासों पर है और इसे कोई एकदम उतना वैज्ञानिक व्यक्ति स्वीकार करने में हिचकिचायेगा। दूसरी जहाँ वैज्ञानिक है वहां कुछ ऐसे अद्‌भुत निष्कर्षों पर आश्रित है कि विचित्र लगती है और उसे एकदम ठीक मान लेने को सभी तैयार होते नहीं प्रतीत होते। वस्तुतः उसमें कुछ व्याख्या करने के लिए अवकाश रह भी जाता है। मनुष्य में मनुष्य होने के नाते ही एक मूल प्रकृति है। यह सभी प्रेरणाओं के मूल में व्याप्त है। हमारे विचारक-विवेक भाव कल्पना सभी इसके द्वारा बनते और प्रेरित होते हैं—यही हमारे बाह्य जगत को अपने अनुकूल एक विशेष रूप में प्रेरित कर देती है। वह हमारी कला की माप बन जाती है। हमारी रुचियों की दिशा-निर्देशक बन जाती है। यही माप जिसकी जितनी उन्नत और स्वच्छ है उसका विवेक उतना ही मुक्त और प्रभावशाली है। इसका निर्माण भी विवेक के द्वारा होता है और यह विवेक की फिर माप भी बन जाती है। बहुधा कोमल संस्कारों में पले हुए व्यक्ति के पास यह प्रतिभा कोमल होती है और कठोर में पलने वाले की कठोर। इस वातावरण की छाप को सभी विचारकों ने अनुभव किया है। संस्कृत कवियों ने और आचार्यों ने तो कवि कर्म करने वाले के घर तक का विस्तृत उल्लेख किया है और बताया है कि वह कैसा होना चाहिए, वहाँ किस प्रकार की भाषा का प्रयोग होना चाहिए। वस्तुतः घर कवि के भावों का पलना होता है। वे जितने ही काव्यात्मक वातावरण में पलेंगे वे उतने ही अधिक काव्यमय होंगे। ये सब साधन उसी माप को उन्नत करने और स्वच्छ बनाने के लिए अभी-प्सित होते हैं। हम उसका नाम धृति रखेंगे। धृति जैसी है वैसी ही आलोचना और उसका आदर्श होगा।

इस धृति के कार्य में कई तत्व काम करते हैं—

१—**मनुष्य की मूल निधि** :—ये मूल निधि वे मूल प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं जो आदि काल से मनुष्य में उतरती चली आती हैं। संस्कार की भाँति, यही आत्मा का अपना प्रकाश हो सकती है। ऐसी कोई वस्तु होती अवश्य है जो एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से एक से भौगोलिक आवरण में भी भिन्न रुचि, भिन्न स्वभाव और भिन्न कर्म वाला बनाती है। कला-कारों में यह सबसे प्रधान होती है, समालोचक में रीढ़ की भाँति। यह मूल निधि कुछ-कुछ रागात्मक आवेगों के अनुरूप होती है। यही कलाकार अथवा विचारक का केन्द्र है धृति के परिधि में भी यह केन्द्र बिन्दु है। इसमें स्त्रीत्व अधिक है। वस्तुएँ आकर्षित होकर इसकी परिधि में आती हैं और अस्तित्व को खो बैठती हैं। इसके होने का कारण नहीं दिया जा सकता। बस, इतनी ही कहा जा सकता है कि यह है।

२—**इन्द्रिय व्यापार** :—इन्द्रियाँ अपने व्यापारों से जो गोचर जगत् से सम्पर्क और

सम्वन्ध उपस्थित करती है उनका सहज और अबोध संस्पर्शन मानस पर पड़ता है। उसका एक चित्र तो स्मृति में अंकित होता है—वह तो अलग रहा—एक सूक्ष्म अंश जिसमें व्यापार का आकार विलुप्त हो जाता है केवल एक उसमें व्याप्त रस मा मूलनिधि की ओर आकर्षित हो जाता है और धृति की परिधि में समा जाता है।

३—**विवेक** :—प्रत्येक नये इन्द्रिय व्यापारजन्य ज्ञान से स्मृति संचित ज्ञान की तुलना द्वारा मानस में एक संघर्ष खड़ा होता है। यह संघर्ष विवेक ही खड़ा करता है और उस ज्ञान की परीक्षा होती है, आलोचना होती है। उस संघर्ष का सूक्ष्म रस भी मूलनिधि की ओर आकर्षित होता है और धृति में परिणत हो जाता है।

४—**अनुभूति** :—उस विवेक संघर्ष से स्मृति-संचय अथवा ज्ञान राशि की परीक्षा होती है वहीं तुलना से यह भासित होता है कि उन उपलब्ध वस्तुओं में कुछ अभाव है और वहीं मूलनिधि और उसकी बनी धृति से एक परामर्श की भाँति नयी कल्पना का प्रकाश है। वह अनुभूति बनकर धृति में आकर्षित होकर मिल जाता है।

इन अन्तःतत्वों की सहायता के लिए निरीक्षण, अनुभव, परीक्षण, अध्ययन और शिक्षा तत्पर रहते हैं।

इन सबके साथ एक ओर तत्व है—उत्तराधिकरण। यह पूर्व धृतियों का परिणाम होता है। मनुष्य के पास इतना धैर्य नहीं होता कि वह प्रत्येक बात पर विचार करके और उन पर अपना मत निश्चित करे और सम्भवतः उसे ऐसा करने का अवकाश भी नहीं होता। अतः उसके बहुत से विश्वास, उसकी बहुत सी धारणाएँ परम्परागत होती हैं। वह उन्हें सहज ही स्वीकार कर लेता है। इसके साथ सबसे भीषण बात यह होती है कि ऐसी धारणाएँ धर्मानुप्राणित सी हो जाती हैं और उनके विरुद्ध कुछ भी कहना हमें असह्य हो उठता है और जब हम दूसरे के प्रति इस सम्बन्ध में असहिष्णु हो उठते हैं तो यह हो नहीं सकता कि हम सच-मुच स्वतः उनकी आलोचना करें उन्हें विवेक के हाथ सौंप दें कि वह उनका विश्लेषण कर दे। यह उत्तराधिकरण निश्चय हमारे मानसिक क्षितिज को संकुचित कर देता है और इसके कारण हम सत्य से दूर पड़ जाते हैं। यह हमारा पक्ष जानता है किन्तु यह हमारी धृति में घुस अवश्य जाता है। इस उत्तराधिकरण से धृति शुद्ध धृति नहीं रहती, विकृत हो जाती है। और इस अधिकरण के स्वभाव से ही यह दीख रहा है कि वह स्वतन्त्रता को अपहरण करने वाला है स्वतंत्र विवेक इससे कुण्ठित हो जाता है। जिसकी धृति में इस उत्तराधिकरण का जितना ही अधिक अंश होता है उतना ही वह मौलिकता शून्य होता चला जाता है जो थोड़ी बहुत मौलिकता रह जाती है वह शैली मात्र की होती है विषय सम्बन्धी नहीं।

धृति की इस विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि धृति बनती रहती है और बिगड़ती रहती है। बिगड़ने में सबसे अधिक हाथ उत्तराधिकरण का होता है यों तो मूलनिधि अन्ततः इन सबके लिए उत्तरदायी ठहराई जा सकती है। इस दृष्टि में धृति में विकास भी होता रहता है। आलोचना की इसी माप पर उसका ऊँचा और नीचा होना निर्भर करता है। ये बातें सभी आलोचनाओं से सम्बन्ध रखती हैं। किन्तु हमें हिन्दी साहित्य को ही देखना

है और जैसा पहले कहा जा चुका है यों तो काव्य, संगीत, मूर्ति और चित्र ये सभी कलाएँ आलोचनाएँ हैं, उनमें वही धृति प्रतिविम्बित होती है। समालोचनापरक शब्द से जो हमें रूढ़ ज्ञान प्राप्त होता है वह यह नहीं है। वह तो इस धृति के सहारे कलाकारों की धृतियों की व्याख्या है। काव्य जीवन की आलोचना इसी कारण है कि जीवन के सम्बन्ध में इसे धृति का जो विश्वमापक रूप प्रतिष्ठित होता है वह कहाँ तक और कहाँ अभिव्यक्त हुआ है ? और काव्य की समालोचना में जो धृति उपस्थित होती है वह उस काव्य की धृति की परख करती है और इस परख को ही समालोचना कहा जाता है।

हमें तो हिन्दी साहित्य में इसी समालोचना को देखना है—देखना क्या है ? समालोचनाएँ तो सभी समालोचनाएँ ही हैं, उनका क्या देखा जायगा ? वस्तुतः देखना यह है कि हमारे हिन्दी के समालोचकों की धृति कैसी रही है। धृति इस एक हजार वर्ष के जीवन में एक सी नहीं रही और वह रह नहीं सकती। यह असम्भव है। इस धृति में अनुभूति का जो परामर्श होता है वह आदर्श कहलाता है। जहाँ उत्तराधिकरण की मात्रा अधिक होती है वहाँ यह अनुभूति कम होती है और उत्तराधिकरण के अनकूल ही मनुष्य के विवेक की कसौटी आदर्श बन जाता है। इन आदर्शों को उत्तराधिकरण में प्रायः समान पाया जायगा किन्तु जहाँ धृति शुद्ध होने लगेगी वहाँ वे आदर्श भिन्न हो जायेंगे। हिन्दी साहित्य के विभिन्न युगों में आदर्श भी विभिन्न रहे हैं। इसके साथ ही इन आदर्शों को व्यक्त करने का साधन भी पृथक् वस्तु है। इस साधन का महत्त्व कम नहीं किया जा सकता——इसे हम शैली कहते हैं। यह उस धृति की ही अभिव्यक्ति का उपक्रम होता है—उसको प्रस्तुत करने वाला पात्र होता है। यह धृति और समय के अनुकूल परिवर्तित होता रहता है। किन्तु यहाँ विवेक के सम्बन्ध में कुछ और भी जान लेना चाहिए। वह समालोचना के लिए अत्यन्त आवश्यक है। विवेक का काम यह है कि वह दी हुई सामग्री की चीड़-फाड़ करता है, उसका विश्लेषण करता है, संश्लेषण भी करता है। धृति तो कसौटी का काम करती है, कसने वाला विवेक है। जितना भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदन करने की शक्ति विवेक में होगी उतनी गहरी और सत्य समालोचना हो सकेगी। विवेक जैसे-जैसे वस्तु के अन्तर में प्रवेश करेगा वैसे वैसे वह उस वस्तु के निर्मायक तत्वों का वस्तुतः पारस्परिक सम्बन्ध, उनका सामञ्जस्य और समन्वय उपस्थित करेगा। संक्षेप में वह वस्तु की व्याख्याकर्त्ता होगा। जैसे जैसे वह धृति में प्रवेश करेगा वह सत्य-शिव-सुन्दर को देखेगा और उस वस्तु में उसी के अनुकूल प्रशंसा अथवा अप्रशंसा के तत्व देखेगा। जब वह वस्तु का विश्लेषण करेगा और उसके प्रत्येक निर्मायक तन्तु को देखकर उसके वहाँ होने की समस्या पर विचार करेगा तो वह लेखक की धृति के रूप को परखेगा, उसे उसी धृति में लेखक की रचना के विभिन्न तन्तुओं की व्याख्या मिलेगी।

विवेक के उन व्यापारों को हम साधारण भाषा में १—विश्लेषण, २—आदर्शान्वेषण तथा ३—व्याख्या कहते हैं। जिस प्रकार सबकी धृति एक सी नहीं होती उसी प्रकार सबका विवेक भी एकसा नहीं होता। धृति और विवेक दोनों में ही कुछ-कुछ विकास मिलता है और गति तो सदा ही मिलती है।

धृति का पूर्व रूप यहाँ संस्कारों, इन्द्रिय व्यापारों और उत्तराधिकरणों से लदा होता है--वह केवल मति कहलाता है। मति का सीधा अर्थ वह धृति है जिसमें विवेक अन्तर में प्रवेश न कर सके, केवल उसका सम्मिलित प्रभाव उस विवेक पर पड़े। धृति में जब स्वयं कोई अन्तर चेतना या विवेक न हो कि वह अपने रूप और तन्तुओं को स्वयं भली प्रकार समझ सके तो इस अवस्था में विवेक भी कुण्ठित सा रहता है। धृति असंस्कृति कहलाती है और विवेक कुण्ठित। जब ये दोनों समालोचना करने बैठते हैं तो केवल इतना कहते हैं कि यह अच्छा है या बुरा ? क्यों अच्छा है और क्यों बुरा है इसका कोई कारण उपस्थित नहीं किया जाता और यदि कारण उपस्थित भी किया जाता है तो वह वस्तु का अन्तर-कारण नहीं देता, उसके बाह्य व्यापारों पर निर्भर करता है। किन्तु इससे भी पूर्व एक और अवस्था होती है और वह परिचय कहलाती है। परिचय की अवस्था में केवल विवेक को काम करना पड़ता है और वह विवेक कुण्ठित होता है। केवल मन में इंद्रिय व्यापार द्वारा पहुँचे रूप भर को आलस्य से उपस्थित कर देना भर विवेक का पूर्वावस्था में काम होता है।

हिन्दी में समालोचना का आरम्भ भी भारतेन्दुजी के समय से हुआ मिलता है। उस काल की समालोचना के कुछ उदाहरण देखने होंगे।

(१)
मधुमुकुल

श्री बाबू हरिशचन्द्र कृत होली के पदों का संग्रह। इसकी समालोचना और क्या लिखें। केवल इतना ही कहना बस है कि यह बाबू हरिशचन्द्रजी की कविता है। हमारे रसिक पाठक जन इतने से ही जान भी लेंगे कि यह छोटी सी पुस्तक कैसी रस की खान होगी।

पद बन्धोज्वलो ग्नी कृत वर्ण क्रमस्थितिः।
भट्टार हरिश्चन्द्रस्य पद्यबन्धो नृपायते ।।

—हिन्दी प्रदीप मार्च १८८१

(२)
रामलीला नाटक

पंडित दामोदर शास्त्री कृत। हमारे देश के निरक्षर धनी तथा इतर लोगों की समाज प्रतिवर्ष रामलीला में हजारों बिलटा देती है। पर सिवा बेहूदा हू-हा के कोई वास्तविक फायदा उससे कभी देखने में नहीं आया। शास्त्रीजी की यह पुस्तक रामलीला करने वालों के लिए बहुत ही उत्तम है। कैसा अच्छा सभ्य समाज का प्रमोद हो सकता है यदि हमारे अनपढ़ भाइयों की रुचि इस बेहूदा-हू-हा से बदलकर इसे नाटक के आकार में करने की हो जाती। सो काहे को कभी होना है, खैर तो भी यह पुस्तक पढ़ने में बहुत उत्तम और खड्गविलास प्रेस बांकीपुर में छपी है।

—हिन्दी प्रदीप अप्रैल १८८२

(३)

मुद्राराक्षस

विशाखदत्त के संस्कृत नाटक का अनुवाद, बाबू हरिशचन्द्र रचित, राजनीति की काट-छांट दिखलाने को यह नाटक एक ही है। हिन्दुस्तान के अद्वितीय चाणक्य की राजनीति कौशल का सब मर्म इस दृश्य काव्य के द्वारा सांगोपांग पूरी तरह पर प्रकट किया गया है। बाबू साहब ने बड़े परिश्रम से भाषा भी ऐसी उत्तम और संस्कृत से जिसका यह अनुवाद है इतनी मिलती हुई लिखी है कि कदाचित् दूसरे किसी से असम्भव था। इस नाटक का विषय इतना कठिन और उबियाऊ है कि किसी नौसिखिया कृत अनुवाद होता तो और भी साधारण पाठकों को अरोचक और नीरस जँचता सिवा अनुवादक के इसकी पूर्वपीठिका और टिप्पणी में ऐसी-ऐसी बातें लिख दी गयीं हैं जो पुरावृत्त जानने वालों की छान का निचोड़ है।

—हिन्दी प्रदीप अप्रैल १८८३

(४)

"तीन ऐतिहासिक रूप" सिन्धु देश की राजकुमारी गुन्नौर की रानी, लवजी का स्वप्न, सिरसा निवासी बाबू काशीनाथ कृत, कामातुर हो मनुष्य कैसा विवेक शून्य हो जाता है यह बात थोड़ी उमदी तरह पर पहले दो कथानक में प्रकट की गयी है और मुसलमान बादशाहों के अत्याचारों के मुकाबिले हमारे प्राचीन आर्य वंशी राजा कैसे धर्मिष्ठ और प्रजावत्सल थे यह लव के स्वप्न में अच्छी तरह पर दर्शाया गया है।"

—हिन्दी प्रदीप, मार्च १८८४

प्रथम उद्धरण में समालोचक ने रचना के विषय में कुछ भी नहीं कहा। कृतिकार का परिचय भी नहीं दिया गया। उस कृतिकार को सब जानते हैं। उनकी रचनाएँ सब को पसन्द हैं। अत: यह भी पसन्द आयेगी—इसी तर्क पर यह परिचय दिया गया है। दूसरे उद्धरण में भी ग्रन्थ के विषय में केवल इतना ही कहा गया है, "तो भी यह पुस्तक पढ़ने में उत्तम है।" इस पुस्तक की आलोचना को उन्होंने प्रचलित रामलीला प्रणाली की आलोचना का अवसर बना लिया। यह आलोचना कृति की नहीं कृति से सम्बन्ध न रखने वाली एक अन्य वस्तु की है। लेखक को अवसर मिल गया तो वह कृति को भूल बैठा और दूसरी बात पर लिखने लगा। यहाँ तक तो पुस्तकों का जो परिचय दिया गया है वह परिचय भी नहीं कहा जा सकता। लेखक अपने मनोभावों का शिकार है। उसके मस्तिष्क में कुछ बहुत ही प्रमुख विचार बने हुये हैं और वह कृति पर अपने विचार उपस्थित करने की अपेक्षा उन पर विचार करने का प्रलोभन संवरण नहीं कर सकता। संयम का अभाव है।

तीसरे उद्धरण में रचना का मूर्त्त अभिप्राय मात्र लिख दिया गया है। भाषा की प्रशंसा की गई है। निस्संदेह लेखक ने अपने को कृति तक ही रक्खा है। यही बात चौथे उद्धरण से भी प्रकट है। अन्तिम दो वर्षों में निश्चय ही पूर्व दो से उन्नति और संयम है और इन अन्तिम दो को हम "परिचय की झलक" समझ सकते हैं क्योंकि वस्तुतः पूर्ण परिचय यह भी नहीं है, अभिप्राय मात्र। सारे कथानक की संक्षिप्ति दो शब्दों में दी गई है। आज के परिचयों

से भी जब हम इन परिचयों की तुलना करते हैं तो यह विदित होता है कि मूल तत्व तो दोनों में एक ही हैं, एक में वह पूर्वावस्था में है दूसरे में विकसित।

जुलाई महीने के 'साहित्य सन्देश' (समालोचना का एक मासिक पत्र) में विहारी दर्शन का परिचय इस प्रकार है :—

"जिस प्रकार भक्तिकाव्य के सूर्य महात्मा तुलसीदास की रचनाओं का हिन्दी साहित्य में विशेष समादर है तथा उनके ग्रन्थों की आलोचना का बाहुल्य है, उसी प्रकार रीतिकाल के कुशल कलाकार और उद्‌भट निदर्शक महाकवि बिहारी का भी स्थान हिन्दी साहित्य में अमर है। एकमात्र बिहारी सतसई ही उनके सारे जीवन की साधना का फल है।

"बिहारी दर्शन, बिहारी सतसई की एक पुस्तकाकार आलोचना है। आरम्भ में लेखक का वक्तव्य है। लेखक की रीति काव्य सम्बन्धी नयी खोजों और प्रस्तुत पुस्तक के प्रणयन का इतिहास है। वक्तव्य के अतिरिक्त कवि परिचय, सतसई परिचय, भाषा विचार, कार्यकुशलता, प्रेम वर्णन, षटःऋतु वर्णन, बहुदर्शिता, उपसंहार और परिशिष्ट इन दस भागों में सम्पूर्ण पुस्तक विभक्त है। प्रत्येक अध्याय में खोजपूर्ण उदाहरणों की बहुलता है। साथ ही पूर्ववर्ती और परवर्ती कवियों के भाव साम्य पर विवेचना कर पुस्तक को उपादेय बनाने का स्तुत्य प्रयत्न किया गया है। छन्द, अलंकार, भाषा और भाव सभी के ऊपर लेखक ने अधिकार पूर्ण विश्लेषण किया है। लेखक ने बिहारी को अश्लीलता के आरोपित दोष से मुक्त करने का उद्योग किया है। लेखक ने देव और बिहारी सम्बन्धी वाद पर तथा स्वर्गीय पं. पद्‌मसिंह शर्माजी की तुलनात्मक आलोचनाओं पर भी प्रकाश डाला है। साहित्य प्रेमियों और विद्यार्थियों के लिये यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है।"

इस उद्धृत अंश में हमें सभी बात १८८३-८४ की परिचय पंक्तियों सी लगती हैं—केवल इतनी विशेषता प्रतीत होती है कि लेखक ने अधिक विस्तृत परिचय देने का यत्न किया है। वस्तुतः परिचय तो परिचय ही है। लेखक वस्तु का बिना ठीक विश्लेषण किये कुछ लिख देना भर प्रर्याप्त समझता है।

किन्तु अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के लेखकों की स्थिति का ठीक ज्ञान होना चाहिए। हिन्दी में जब तक आरम्भ काल से जो कुछ लिखा गया था वह भावाभिव्यक्ति थी और इसका अधिकांश पद्य में था। जिस प्रकार और बहुत सी बातें नवयुग की देन हैं, समालोचना तथा परिचय भी उसी प्रकार नयी वस्तु थी। हिन्दी के लेखक जब भी किसी नयी प्रथा को देखते तो उसे संस्कृत में ही टटोलते थे। इसी काल में स्वामी दयानन्द जी पैदा हुए और राष्ट्रीय भाव भी जागृत हो गये थे। इन सभी ने भारतीय लेखकों में अपनत्व को बनाने की चेष्टा भर दी थी। आलोचना को अपना बनाये रखने के लिए इन्हें संस्कृत की शरण लेनी पड़ी थी। संस्कृत के अन्तिम काल में समालोचना की शैली पाण्डित्यवादी हो गयी थी। पाण्डित्यवादी शैली में समालोचक शास्त्राचार्यों के निष्कर्षों को स्वीकार कर रचनाओं को उनसे ही परखता है, वह अपने आप को किसी स्वतन्त्र विचार के योग्य नहीं

समझता और स्वतन्त्र मनोषिता वह शास्त्राचार्यों के लिए छोड़ देता है। शास्त्राचार्यों में हम निश्चय ही स्वतन्त्र मनोस्विता पाते हैं। उन्होंने निश्चय ही तर्क और वर्ग से किसी उपपाद्य विषय की मीमाँसा की ओर अपना मत दिया। विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' से इन शास्त्राचार्यों का अभाव सा हो हीं गया। उस काल के समालोचकों में यही शैली मिलती है। नये युग की नयी धारणाओं को वे अभी ग्रहण नहीं कर रहे थे और जब वे प्राचीन पाण्डित्यवादी परिपाटी से देखते तो तत्कालीन हिन्दी के लेखकों में बड़ा अभाव मिलता। ऐसी अवस्था में उन्हें केवल अपनी मति के भरोसे रहना पड़ता। मति केवल दो काम कर सकती है प्रशंसा अथवा निन्दा और जब तक व्यक्ति चेतन मति नहीं हो जाता उसकी धृति का रूप उपस्थित नहीं होता। ऐसी अवस्था में प्रशंसा अथवा अप्रशंसा का साम्राज्य बहुत काल तक बना रहता है।

और लेखक को यह भय सदा रहता है कि प्रशंसा करने से वह सम्भवतः अपना सब कुछ खोये दे रहा है। प्रशंसा में समालोचक और कृतिकार एक हो जाते हैं। कृतिकार का मूल्य अधिक होता ही है। अतः समालोचक का मूल्य प्रशंसा करने में कृतिकार में विसर्जित हो जाता है। समालोचक प्रशंसा की अपेक्षा निन्दा को अधिक चाहता है। उसमें उसे यह सन्तोष रहता है कि वह अपनत्व की रक्षा कर सका है और लेखक अथवा कृतिकार से ऊँचा है—यह विचार उसके गर्व को भी सन्तुष्ट करता है। फिर समालोचनाएँ यदि कटु हो जायँ तो स्वाभाविक ही होगा। इस काल में यह प्रकृति विशेष परिलक्षित होती है।

सन् १६०६ सितम्बर के उसी 'हिन्दी प्रदीप' में हमें समालोचक का परिचय पं. लोचनप्रसाद द्वारा दिया जाता है—

"नहीं जानता मैं समालोचक हूँ—सब ग्रन्थकारों का बूढ़ा बाप दादे पहले दिल के बड़े तंग थे वह किसी की बढ़ती न देख सकते बड़े ही ईर्षी थे। पर साथ-साथ अपने मालिक और आश्रयदाता की प्रशंसा भी कभी-कभी खूब किया करते थे। जब प्रशंसा और ईर्ष्या से काम न निकल सका तो वे ठठोलबाज हो गये। जब कोई अच्छा कपड़ा लत्ता पहिनता, उत्तम कोई काम करता तो जीट उड़ाते हुए उसके काम में कुछ न कुछ कमी बताते और मसखरी के साथ कभी उसकी तारीफ भी कर देते हैं। इस प्रकार यह गुण परम्परा से हमारे कुल में है पर यह उनके इस हुनर की बाल्यावस्था थी।............और तब उस गुण की यौवनावस्था आ पहुँची। तब वे मसखरे के बदले समालोचक (अर्थात् सम तुल्य भाव से, आलोचक देखने वाला) कहलाने लगे। उत्तम से उत्तम लेखों में त्रुटि निकालते विशारद तथा बड़े गुणी हो हंस वृत्ति के अनुसार ग्रन्थकारों तथा मनुष्यों के गुण दोष (क्षीर-नीर) को अलग कर साहित्य की उन्नति करने लगे। पर साथ ही साथ हँसी और व्यंग्य भी उनके लेखों में देख पड़ते थे।"

किन्तु समय ने फिर पलटा खाया।..............हमने भी दुनियाँ के लोगों के ढंग पर बेवफ़ाई, बेहयाई, ढिठाई और बुराई के साँचे के ढले हुए पुतले बनकर अपने अंग-

अंग का रूप बदल, कुसँग रूपी भंग पान कर अपने दिल को ऐसा तंग कर लिया कि कहीं सहृदयता और महानुभावता का लेश भी शेष न रहा। बस अब हुए समालोचक (अर्थात् सम आ घुस-घुस के, लोचक देखने वाला) घुस-घुस के केवल दोषों को देखने वाला और उच्चासन में बैठ लगे पुकार-पुकार सभी को यह कहने कि हम बेस्ट समालोचक.........
हम लोग बड़े कठोर हृदय के होते हैं। क्रूरता हमारा एक प्रधान गुण है। मसखरापन तो हमारे नस-नस में कूट कर भरा हुआ है। ग्रन्थकारों को ऐसे व्यंग्य वचन वाण समान बींधते हैं कि पढ़ने वाले हमारी वाह-वाह करने लगते हैं हम भूँठों के बाप और ग्रन्थकारों के ताप हैं।"

एक दूसरे व्यक्ति अनन्तराम पाण्डे इसी सम्बन्ध में लिखते हैं :—"मतलब यह है कि जिन प्रशंसनीय गुणों से समालोचक को अलंकृत रहना चाहिए वैसा हम उन्हें नहीं पाते हैं। वरन् एक प्रकार के निन्दक के रूप में पाते हैं और इसी लेखक ने समालोचक के भव्य रूप को रखने की चेष्टा की। जो समालोचनाएँ उस काल में प्रकाशित हुईं उनकी प्रतिक्रिया इसी रूप में हुई। विचार करने वालों को वे भली न लगीं। उन्होंने सोचा यह तो ठीक नहीं। उन्होंने समालोचक के ऊपर विचार करना आरम्भ किया। समालोचक और निन्दक की तुलना इस प्रकार की गयी—

"समालोचक सब का हितैषी है, निन्दक द्रोही और विश्व विद्वेषी है। समालोचक प्रेम और दयाभरी चितवन से संसार को देखता है और निन्दक कुटिल दृष्टि से सूर्य की तरह।..................समालोचक गुण दोष दोनों को देखता है, निन्दक केवल दोष भाव। समालोचक गुण की प्रशंसा करता है, चिन्तन आह की दीर्घ श्वास छोड़ता है।.............
समालोचक का वचन सह्य और उत्साह का बढ़ाने वाला होता है और निन्दक का असह्य और उत्साह को हर लेता है। समालोचक का उद्देश्य सर्वतोभाव से श्रेष्ठ और निन्दक के घर में उद्देश्य का कोई रूप नहीं दिखाई देता।"

इस प्रकार के विचार संघर्षों से निश्चय ही समालोचकों की प्रवृत्ति में संशोधन हुआ होगा और ऐसा संशोधन एक पग ही बढ़ेगा। अब तक तो निज मतिमात्र को प्रकट कर दिया जाता था। वह केवल निन्दा भर सी हो जाती थी। यह देखकर कि ऐसा करने वाला हेय समझा जाता है, उन्होंने प्रशंसा करना भी आरम्भ किया, किन्तु वह प्रशंसा होती थी निन्दा करने के लिए। उन्होंने तुलना को अपनी कसौटी बनाया। जिस कवि अथवा लेखक की प्रशंसा करनी हुई उसको आकाश तक पहुँचा दिया और इसके लिए साधन समझा गया दूसरे कवियों को नीचा दिखाना। दूसरे कवियों को हेय सिद्ध करना वह भी सीधी तुलना द्वारा कुछ-कुछ इस प्रकार—

'स्वारथ सुकृत न श्रमु वृथा देखि विहंग बिचारि।
बाज पराये पानि परि तू पंछीनु न मारि॥

इस दोहे में—

आवासः परिहिंसा वैतसिक सारमेय तव सारः।
त्वामपसार्य विभाज्यः कुरंग एवौ धुनै वान्यैः॥

आर्या का भाव दिखाई दे रहा है। आर्या में चमत्कार है परन्तु सारमेय के स्थान पर बाज को रखकर बिहारी ने नीलम पर धूप बरसा दी है "यहाँ तक धृति मति बनी हुई है केवल मति में भावुकता का प्रवेश हमें दीखता है। एक कवि प्रिय लग गया सो लग गया। पहले वह कवि प्रिय लग गया, फिर यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि क्यों अच्छा लग गया? और इस पुष्टि के लिए एक तो उत्तराधिकरण सहायक होता था दूसरी भावुकता। अपनी मति की पुष्टि में कहा जाता था चन्द्रालोक साहित्य दर्पण में ऐसा विधान है। इसमें ऊँची कोटि के अलंकार आये हैं—और कैसा मार्मिक चमत्कार है, किन्तु इस सबका आधार तुलना थी। तुलना की जाती थी एक को ऊँचा सिद्ध करने के लिए और उसकी व्याख्या की जाती थी अपने अनुकूल उसमें शास्त्रीय पाण्डित्य ढूँढ़ कर और मार्मिक स्थलों को उत्तेजक शब्दों में उपस्थित करके। ये समालोचनाएँ प्राचीन कवियों पर विशेष होती थीं। जीवित ग्रन्थकारों पर कुछ लिखना सम्भव नहीं हो सकता था। यह बात पं० महावीरप्रसाद द्विवेदीजी के इन दो वाक्यों से पुष्ट होती है—

"सच तो यह है कि ग्रन्थकार की उसकी जीवितावस्था में उसके ग्रन्थों की यथार्थ समालोचना नहीं हो सकती अथवा यह कहना चाहिए कि होनी ही नहीं चाहिए।" किन्तु जहाँ ऐसा था वहाँ एक दूसरी बात भी थी, द्विवेदी आगे लिखते हैं—

"जो बात अन्य उन्नत भाषाओं के साहित्य सेवी भूषण समझते हैं वही यहाँ दूषण मानी जाती है। यदि किसी प्राचीन कबि या ग्रन्थकार के ग्रन्थ की आलोचना में कोई दोष दिखलाता है तो उसके लिए हिन्दी में यह कहा जाता है कि उसने ग्रन्थकर्त्ता को चचोर डाला, उस पर मुष्टिका प्रहार किया, उसका अञ्जर-पञ्जर ढीला कर दिया,……… बड़े-बड़े शास्त्रीय आचार्य, उपाध्याय और विशारद उसके पीछे पड़ जाते हैं और उस पर यस इलजाम लगाते हैं कि उसने पूजनीय प्राचीन ग्रन्थकारों की कीर्ति को कलंकित करने की चेष्टा की!!!"

निन्दात्मक शैली की प्रतिक्रिया उग्र हो रही थी। धर्मभावारूढ़ हिन्दी के विद्वान किसी के पूज्यरूप को जर्जरति होते नहीं देख सकते थे। ऐसी अवस्था में निन्दा को अंकुश लग गया। वह रूप बदलने लगी। किन्तु प्रशंसा जी खोल कर की जा सकती थी। पं० पद्मसिंह शर्मा ने जिस प्रेरणा से बिहारी सतसई की भूमिका लिखी वह वस्तुतः उनके "सतसई संहार" शीर्षक से स्पष्ट होता है। इस काल में कोई देव का पक्ष ग्रहण करने लगा, कोई बिहारी का। सब की कसौटी वही मति थी जिसने अपनी व्याख्या का आधार तुलना रखा था। इस तुलना को पुष्ट करने के लिए शास्त्र की दुहाई और भावुकता के पुट का आश्रय लिया गया और जैसा कहा जा चुका है एक की प्रशंसा, क्योंकि केवल मत्याश्रित थी। स्वभावतः ही दूसरे की निन्दा थी। ऐसी अवस्था में ही वितण्डावाद खड़े हुए। यही खंडन-मंडन का प्रादुर्भाव हिन्दी संसार के समालोचना-क्षेत्र में हुआ। खंडन-मंडन समालोचना-क्षेत्र के शब्द नहीं। वे न्यायधिकरण से लिए हुए हैं और आज भी जो समालोचक हिन्दी समालोचना-क्षेत्र में खंडन-मंडन का प्रतिपादन करते हैं वे वस्तुतः समालोचना के तत्व से बहुत दूर हैं। कवि की कृति का खंडन और

मंडन हो ही नहीं सकता। कवि ने जो प्रकट किया है वो शाश्वत है। उसका अर्थ कोई भाषा-कार अथवा व्याख्याकार क्या जान सकता है? वह व्याख्याकार जिस भाँति वस्तु को उपस्थित करता है वह कुछ सिद्ध करने के लिए हो सकता है तभी उसका खंडन दूसरा व्यक्ति कर सकता है। खंडन अथवा मंडन के लिए पूर्वपक्ष और उत्तर पक्ष की कल्पना आवश्यक है। कवि का निजी पक्ष नहीं होता। वह तर्क उपस्थित नहीं करता। उसका खंडन नहीं हो सकता। उसके सम्बन्ध में कोई दूसरा कुछ कहे और अन्य दूसरा उससे सहमत न हो तो दोनों पक्ष उपस्थित हो गये और तभी खंडन-मंडन हो सकता है। जब समालोचक अपने अन्दर भी इन दो विभागों में विभाजित हो जाता है तब भी उसे उत्तर पक्ष को अपना बनाना पड़ता है। ऐसी अवस्था में वह समालोचना नहीं रह जाती—वह खंडन-मंडन ही कहा जा सकता है। इस क्रिया में या तो लेखक की मति प्रधान होती है या उत्तराधिकरण। धृति का रूप धुँधला-धुँधला रहता है। इन समालोचकों को भी अधिक नहीं सहा जा सकता था। तभी इस प्रकार के विवाद में पड़ने की सहिष्णुता भी नहीं रख सकते। यही बात हिन्दी में हुई। अब तो हिन्दी का युग भी पलट चुका था। वह ऊँची कक्षाओं में विश्वविद्यालय में पाठ्य विषय बना दी गयी थी। तुलसी, सूर, बिहारी, भूषण जैसे कवि पाठ्य विषयों में सम्मिलित थे। विद्यार्थियों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह जानेंगे कि वह कवि क्या है? और कैसा है? यही अध्ययन था। प्रोफेसरों को और विद्यार्थियों को यह कठिनाई थी कि क्या पढ़ाया जाय और क्या न पढ़ाया जाय? पद्यों के अर्थ भर कर देना तो पर्याप्त न था। अब उन्हें उस वस्तु का विश्लेषण करना पड़ा। ये विद्यार्थी और प्रोफेसर अंग्रेजी पढ़े लिखे होते थे। उन्हें कोई बात केवल इसलिए ऊँची नहीं लग सकती थी कि वह 'साहित्य दर्पण' में दिये हुए नियमों के अनुकूल थी। वे सूत्रों से काम नहीं कर सकते थे प्रत्येक बात की युक्तिसंगत व्याख्या होनी चाहिए। अलङ्कार और रस भी नये ढंग से उपस्थित किये जाने चाहिए। नयी वैज्ञानिक प्रणाली का अनुसरण होना चाहिए। सब का रहस्य था अध्ययन। वह अध्ययन जो समा-लोचना की अपेक्षा परिचय भर ही था। इन अध्ययन कर्त्ताओं ने कसौटी को अभी हाथ नहीं लगाया। पहले वस्तु को ही समझा। मिश्रबन्धुओं ने जो कुछ भी कवियों पर लिखा है मिश्रबन्धु 'विनोद' में भी, 'नवरत्न' में भी, परिचय मात्र ही था। उन कवियों में यह है—बस उनका यही मूल मन्त्र रहा। मति अब भी थी, विवेक का हृदय भी कुछ हुआ, उत्तराधिकरण भी रहा तो पर शिथिल हो चला। अँग्रेजी शिक्षा ने उसका मूल्य बहुत कम कर दिया था। काशी के प्रोफेसरों को भी विद्यार्थियों को पढ़ाते-पढ़ाते अपनी सहायता और विद्यार्थियों के लाभार्थ कुछ लिखना पड़ा। इस स्कूल में मति का सर्वथा लोप हो गया। मति के लोप हो जाने से सब कुछ युक्तियों पर निर्भर करने लगा, किन्तु उत्तराधिकरण न छूटा। उस उत्तरा-धिकरण के लिए उक्तियाँ अवश्य उपस्थित की गयीं। वे उक्तियाँ क्षेत्र और परिस्थितियों के अध्ययन पर निर्भर करती थीं। साहित्य का इतिहास समालोचक का साक्षी बना। इसी उत्तराधिकरण के कारण इस कोटि की समालोचनाओं में भी अवाँछनीय बातें आ घुसीं। उन्होंने एक स्थिति को देखकर उसे अपने अनुकूल तर्कों से सहायक अथवा विरोध की भाँति

उपस्थित कर दिया । उदाहरण के लिए इस शाखा के ऐतिहासिक निष्कर्षों को लिया जा सकता है । भक्ति काव्य के प्रादुर्भाव के कारण के लिए उन्होंने जो इतिहास का निष्कर्ष उपस्थित किया है वह यही है कि जनता निराश हो गयी थी, मुस्लिम अत्याचरों से । किन्तु यह इतिहास को अपने अनुकूल करने का उद्योग है । उत्तरी भारत में सामूहिक मानसिक अवस्थिति को भ्रम से कुछ और समझ लिया गया है । भक्ति मार्ग का पुनरुत्थान सभी जानते हैं, दक्षिण में हुआ था—वहाँ जहाँ कि मुस्लिम संघर्ष का नाम भी न था । उसका हृदय हुआ था उस तत्कालीन धार्मिक अवसाद का प्रतिकार करने के लिए, जो समाज में ऐसा व्याप्त हो गया था कि कई वर्ग विशेषों को मोक्षाधिकार न मानता था । वह बाहरी धर्म और सभ्यता का परिणाम न था । वह तो भारत के अन्तर संघर्ष का ही परिणाम था । जनता मुस्लिम संघर्ष से हताश नहीं थी, वह स्वयं अपने से ही हताश थी । मुसलमानों के सम्पर्क ने तो बस एक तीव्रता मात्र प्रदान की ।

इस वर्ग के समालोचकों ने देखा, सूर के बाद आगे चलकर राधा और कृष्ण केवल नायक और नायिका मात्र रह गये । राधा कृष्ण के अनुयायी भक्तों ने राधा कृष्ण का वर्णन अत्यन्त ही राग रंजित किया था । उनकी काम क्रीड़ा मुक्त होकर भक्तिभाव से परिपूर्ण होकर दिखायी गयी थी । इस वर्ग के समालोचकों ने उत्तराधिकरण से प्रेरित हो त्वरा में कह दिया कि इन्हीं भक्त कवियों की रचनाओं का आगे चलकर ह्रास हुआ और राधा कृष्ण इन भक्तों के हाथ में जिस इष्ट स्थान पर आसीन थे उतर कर अनिष्ट क्षेत्र में चले गये किन्तु इतिहास का गम्भीर अध्ययन करने वाले जानते हैं कि आरम्भ से ही हिन्दी में राधा कृष्ण सम्बन्धी दो धाराएँ चलीं । जिस समय सूर तथा अन्य अष्टछाप कवियों ने राधाकृष्ण को इष्टदेव की भाँति भक्ति से अर्चित किया उसी समय केशवदास जी ने राजसी परिस्थितियों में रहकर 'रसिकप्रिया' में उन्हें नायक-नायिका की भाँति रक्खा । उत्तरकाल के वे सभी कवि जिन्होंने राधाकृष्ण को इस रूप में ग्रहण किया सभी केशव की शाखा के थे । सूर आदि भक्त कवियों की शाखा के नहीं थे । केशव की भाँति प्रायः वे सभी राज्याश्रय ताकने वाले थे । केशव की भाँति सभी कवित्त सवैयों की शैली वाले कवि थे—भक्तों की भाँति पद शैली वाले नहीं । केशव की भाँति सभी आचार्यत्व अथवा पाण्डित्य प्रदर्शन करने का चाव रखते थे । अलंकार शास्त्र और रस शास्त्र पर ऐसे सभी कवियों ने प्रायः लिखा । इन स्पष्ट प्रमाणों से यह कहा जा सकता है कि सूर आदि भक्त कवियों की रचनाओं का वह परिणाम कदापि न था जो समझ लिया गया । इसी प्रकार और भी उत्तराधिकरण का संकोच हमें इस वर्ग में दिखाई पड़ता है । इनको कुछ पक्षपात हो गया—यथा तुलसी को सर्वश्रेष्ठ समझना, रहस्यवाद को हेय समझना और वस्तुतः आगे चलकर इस वर्ग के समालोचकों में अनुदार मति भी आ गयी, उस अवस्था में इनकी धृति में जो चेतना जागृत हुई थी वह सब एक सीमा तक आकर रुक गयी । आक्षेप और व्यंग्य इनमें भी रहा किन्तु व्यष्टि के प्रति नहीं जैसा इनसे पूर्व था वरन् समष्टि के प्रति । व्यष्टि को व्यापक करके लिखा जाने लगा । लिखना है पन्त, निराला, आदि के विरुद्ध किन्तु इनके व्यक्ति को सामने न रखा गया । समूचे रहस्यवाद के विरुद्ध

लिखा गया और जहाँ भी अवसर मिला इन पर आक्रमण किये विना न चुके। शुक्लजी की तुलसीदास नाम की पुस्तक देखी जा सकती है। उसमें ऊपर जैसे ऐतिहासिक भ्रम भी मिलेंगे और रहस्यवाद, समाजवाद तथा सूर आदि पर अयाचित वक्तव्य दिये हुए मिलेंगे। यह मति का परिणाम नहीं, यह धारणा का फल है। लेखक अपने पक्ष को सकारण और सहेतुक रख सकता है, विचार के बाद ही उसने अपनी धारणा अपनायी है यद्यपि मूलनिधि और उत्तराधिकरण की प्रबलता के कारण उनकी धारणा ने अपने कारणों और हेतुओं के लिए अपने से ही तत्व स्वीकृत कर लिये हैं। निस्सन्देह इन समालोचनाओं में भी उन्नत मनीषिता नहीं। उदाहरण है किन्तु व्यवहार मात्र ही।

और सीधे शब्दों में यह समालोचना स्थूल वस्तु तक ही रह सकी। अपनी व्याख्या के शब्दों में धृति में मूलनिधि, इन्द्रिय व्यापार, विवेक और उत्तराधिकरण ही है। शरीर की चीड़-फाड़ करने वाले सर्जन की भाँति ही इन्होंने काव्य के कलेवर का अन्तः विश्लेषण और अन्तर्ज्ञान प्राप्त किया। उससे भी आगे जहाँ काव्य हैं, जिसको जानते ही उस काव्य कलेवर का सौन्दर्य ही दूसरा हो जाता है, वहाँ तक समालोचना अभी न जा सकी, उसका उत्तराधि-करण वाधक था। वह पर्दे की भाँति आत्म-दर्शन की बाधा सा बनकर खड़ा रहा। तुलसी ने शील शक्ति सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की, सूर ने कोमलता, सरसता उपस्थित की। इससे आगे भी उनका काव्य कुछ और है। वह समालोचक काव्य का आत्मदर्शन अथवा कुछ अपूर्ण शब्दों में कहें तो उसकी कला का संश्लिष्ट सौन्दर्य अभी नहीं समझ सका। अभी वह अपने आदर्श से नीचे है। प्रयास हो रहे हैं। कहीं-कहीं कुछ मिल जाता है किन्तु अभी तक समालोचनाकाश में सूर्य का प्रखर आभास नहीं मिलता दिखाई दे रहा है।

प्रो. प्रकाशचन्द्र गुप्त

हिन्दी आलोचना की वर्त्तमान प्रवृत्तियाँ

हिन्दी आलोचना का इतिहास बहुत समृद्ध रहा है। रीतिकालीन शास्त्रीय विवेचना के बाद भारतेन्दु युग में आधुनिक आलोचना का सूत्रपात हुआ। भारतेन्दु की "नाटक" नाम की पुस्तिका आधुनिक आलोचना की पहली अभिव्यक्ति है। यही दृष्टि भारतेन्दु की साहित्य-रचना में व्यक्त हुई है। आचार्य शुक्ल के आलोचना ग्रन्थ इस पद्धति के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। शुक्लजी भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य काव्यशास्त्र दोनों के पंडित थे, वे गम्भीर अध्येता और विवेचक थे। उनके विचारों और निष्कर्षों से मतभेद बहुत सम्भव है। किन्तु उनकी पैनी, सूक्ष्म दृष्टि और गहरे ज्ञान को अस्वीकार करना कठिन है। शुक्लजी के शास्त्रीय अस्त्रों की अपनी सीमाएँ थीं जिनके कारण वे प्राचीन साहित्य का जैसा संतोषप्रद मूल्यांकन कर सके, वैसा अपने समकालीन साहित्य का न कर सके।

शुक्लजी से अधिक आधुनिक दृष्टि उनके परवर्त्ती आलोचकों के पास है, किन्तु मूलतः शुक्लजी की परम्परा का ही विकास आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, डा० देवराज आदि ने किया। ये विद्वान् आलोचक भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य काव्यशास्त्र दोनों से सुपरिचित हैं, किन्तु आधुनिक साहित्य की व्याख्या अधिक सहानुभूति से कर सके हैं। इसी परम्परा के बड़े विद्वान् बाबू गुलाबराय थे। बाबू गुलाबराय की ग्रहण-शक्ति अनमोल थी। वे पुरानी पीढ़ी में पले थे; किन्तु नई पीढ़ी के साथ कदम बढ़ा कर चलने में समर्थ थे।

इस आलोचना शास्त्र के आधार पर आधुनिक हिन्दी आलोचना का भव्य प्रासाद

खड़ा हुआ। पूर्ववर्ती आलोचना मध्य-युगीन आलोचना थी, और रीति ग्रन्थों के निर्माण में उसे अभिव्यक्ति मिली। शुक्लोत्तर आलोचना-साहित्य का विकास अनेक नई दिशाओं में हुआ। सर्वश्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि ने इस परम्परा में अधिक मानवीय संवेदना और सामाजिक चेतना की अभिवृद्धि की प्रगतिवादी समीक्षकों ने मार्क्स के विचारों पर बल दिया। और सामाजिक तत्त्व के प्रति उत्कट आग्रह प्रकट किया। नगेन्द्रजी ने फ्रायड के सिद्धान्तों के प्रति आस्था दिखायी। किन्तु बाद में उन्होंने रस-सिद्धान्त की आधुनिक दृष्टि से व्याख्या की; 'अज्ञेय' जी ने टी० एस० ईलियट के सिद्धान्तों को ग्रहण किया और प्रयोगवाद की स्थापना की। इन्हीं लीकों पर मुख्यतः आज की हिन्दी आलोचना चल रही है।

प्रगतिवाद का अन्धड़ सन् १९३५ के आसपास उठा और आज भी इसका व्यापक प्रभाव हिन्दी साहित्य के आकाश में हम देखते हैं। एक दशक के बाद प्रयोगवाद का अभ्युदय हुआ और अनेक मार्क्सवादी लेखकों ने भी इस आन्दोलन को बल दिया। वे प्रयोगशील थे, किन्तु प्रयोग को मतवाद के रूप में उन्होंने नहीं अपनाया। इसके एक बड़े उदाहरण मुक्तिबोध हैं। 'अज्ञेय' इस साहित्यिक आन्दोलन को समाजवादी दिशा से अलग कर व्यक्तिवादी दिशा में ले जाना चाहते थे। अन्ततः 'नई कविता' ग्रुप के साथ मिलकर एक हद तक वे आत्म-लीन और आत्म-केन्द्रित प्रवृत्तियों की प्रतिष्ठा हिन्दी साहित्य में कर सके। उनका कथन है कि व्यक्तित्व की खोज हिन्दी साहित्य की मूल-साधना रही है और उसी में वे स्वयं भी डूबे हैं।

प्रगतिवादी आलोचना ने साहित्य के सामाजिक दायित्व पर बल दिया। साहित्य और समाज का अन्तरंग सम्बन्ध है; समाज साहित्य को प्रभावित करता है और साहित्य द्वारा प्रभावित होता है। समाज में अन्तर्द्वन्द्व चला करता है। कुछ शक्तियाँ समाज को आगे ले जाती हैं; कुछ उसे पीछे ठेलती हैं। इतिहास का आग्रह है कि अनुगामी शक्तियों का हम समर्थन करें। साहित्य और कला मनुष्य को अधिक परिष्कृत, संवेदनशील उन्नत बनाते हैं। वे उसकी सत्य, शिव और सुन्दर की भावनाओं को भी गहरा करते है। इस प्रकार की मान्यताओं की स्थापना प्रगतिवादी आलोचना ने की। प्रगतिवाद ने ऐसे साहित्य-निर्माण का आग्रह किया जो स्वतंत्रता की शक्तियों को बल दे। प्रगतिवाद की विशेष उपलब्धि साहित्य में सामाजिक न्याय की भावना की प्रतिष्ठा थी। प्रगतिवाद की प्रेरणा-शक्ति ने अनेक प्रथम कोटि की प्रतिभाओं को जन्म दिया और अनेक महान् लेखकों को नया बल दिया। इनकी संख्या बड़ी है। और यह नाम सुपरिचित है। इनमें प्रेमचन्द, पन्त, निराला और महादेवी वर्मा के समान पुराने लेखक थे और यशपाल, राहुल, रांगेय राघव, नागार्जुन, सुमन आदि के समान पूर्णतः प्रगतिवादी दर्शन से प्रभावित लेखक भी थे। मार्क्सवादी दर्शन से प्रेरित होकर अनेक आलोचकों ने भी हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाया।

प्रगतिवादी मान्यताओं का प्रभाव आज भी व्यापक है। सभी नये कहानीकार और अनेक नये कवि अपने सामाजिक दायित्व को स्वीकार करते हैं और अपने साहित्य में तीव्र सामाजिक चेतना व्यक्त करते हैं। इसके अनेक उदाहरण है, मार्कण्डेय, अमरकान्त, कमलेश्वर, मोहन

...केश और राजेन्द्र यादव की रचनाएँ कथा-साहित्य में और दुष्यन्त कुमार, अजित, ओंकार, श्रीकान्त वर्मा, नरेश मेहता आदि की रचनाएँ कविता के क्षेत्र में।

फिर भी आज हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में स्थिति बड़ी चिन्ताप्रद है। शुक्लजी के समान कोई केन्द्रीय व्यक्तित्व आज हिन्दी आलोचना में नहीं है, जिसके विचारों की छाप सर्व-व्यापी हो। न शायद यह वाँछनीय ही है। विचारों का मन्थन और आदान-प्रदान साहित्य के स्वस्थ विकास में सहायक होता है। साथ ही मूल्यों में बड़ी अराजकता और व्यक्तिगत स्वार्थों और विद्वेषों से परिचालित दलबंदी और गुटबन्दी हम देखते हैं। ये प्रवृत्तियाँ स्वस्थ आलोचना के विकास में बाधक हैं। मित्रों की प्रशंसा और विरोधियों की निराधार, सिद्धान्तहीन निन्दा जैसी चिन्तनीय प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हैं। जिसने एक कहानी लिखी वह महान् कहानीकार है, 'और यशपाल ने लिखा ही क्या है', इस प्रकार की आलोचना का प्रसार देखकर आश्चर्य होता है। हर नया लेखक नया आलोचक भी है। अपनी रचना के प्रति आत्मविश्वास तो स्वस्थ हो सकता है, किन्तु और सभी की रचनाओं के प्रति तिरस्कार और निन्दा का भाव शुभ नहीं कहा जा सकता।

हिन्दी आलोचना में आज भी अनेक सबल, स्वस्थ शक्तियां वर्तमान हैं, किन्तु मुखर नहीं हैं। इन्हें जीवित, समकालीन साहित्य के प्रति दायित्व निभाना चाहिए। हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में नई पीढ़ी के भी अनेक समर्थ लेखक हैं इन्हें सिद्धांत से कभी विमुख न होना चाहिए। प्रगतिशील आलोचना साहित्य के तत्त्व की परीक्षा करती है और उसके रूप की भी। वह असुन्दर को महत्त्व नहीं देगी, किन्तु न वह मात्र शैली को, अभिव्यक्ति के प्रकार को, साहित्य के मर्म से अधिक महत्व दे सकती है। नई आलोचना के मानदण्ड क्या हैं, इस संदर्भ में यह प्रश्न उठते हैं। तटस्थता को हम श्रेष्ठ साहित्य का मूल मन्त्र नहीं मान सकते। भावों के गहरे स्रोत से फूटकर श्रेष्ठ साहित्य जन्म लेता है। इन भावों का परिचालन जीवन-दर्शन करता है।

अनुभूति की सच्चाई की बात भी बहुत सुनी जाती है। लगता है जैसे आत्म-केन्द्रित अनुभूति ही सच्ची अनुभूति हो सकती है, तीव्र सामाजिक चेतना से अनुभूति नहीं। शेखर की अनुभूति में सच्चाई है, किन्तु 'परिणीता' अथवा 'अरक्षणीया' की अनुभूति में नहीं। कितनी विचित्र यह बात लगती है।

हम चाहते हैं कि साहित्य का रूप परिष्कृत हो। साहित्य मात्र प्रचार नहीं हो सकता। मूलतः वह श्रेष्ठ साहित्य होना चाहिए। किन्तु उन्नत भावनाएँ और विचार भी श्रेष्ठ साहित्य के अपरिहार्य गुण हैं। तुलसी की गहरी मानवीय संवेदना, कबीर की विद्रोही चेतना, सूर का वात्सल्य और लालित्य, भारतेन्दु का देशप्रेम, प्रेमचन्द की सामाजिक चेतना, ऐसे गुणों की प्राण-प्रतिष्ठा साहित्य में अपेक्षित है। मात्र नए का अन्धानुकरण अपेक्षित नहीं है। नए प्रयोगों और प्रभावों को आलोचनात्मक दृष्टि से ग्रहण करना चाहिए। न हम ऐसी कला का आदर कर सकते हैं, जिसमें प्राण नहीं, जो मात्र रूप है या कहें कि अरूप है।

आज हिन्दी में अनेक प्रतिष्ठित आलोचक मौनप्राय हैं। वे क्यों मौन हैं? यह कहना कठिन है। शायद तथाकथित आधुनिकता वे समझ नहीं पाते। उन्हें शास्त्रों की व्याख्या से

समय निकाल कर समकालीन साहित्य का सम्यक् अध्ययन करना चाहिए। अन्यथा अराजकता और गुटबन्दियाँ आलोचना का विकास रुद्ध कर देंगी। हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में अनेक तरुण प्रतिभाएँ जागरूक हैं। इन्हें निष्पक्ष, स्वस्थ, सैद्धान्तिक आलोचना के पथ पर दृढ़ रह कर चलना चाहिए। हिन्दी आलोचना राजमार्ग से भटक कर मानो मरूभूमि में अनेक लीक बनाकर चल रही है, इसे एक बार फिर प्रशस्त पथ पर लाना आवश्यक है।
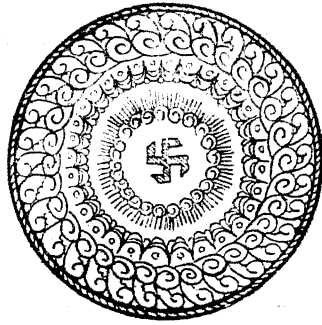
डा० त्रिलोचन पाण्डेय

आधुनिक काल में हिन्दी के लक्षणग्रन्थ

जीवनमूल्यों में लगातार परिवर्तन होने के कारण काव्यशास्त्रीय मानदण्डों का परिवर्धन तथा पुनराख्यान भी आवश्यक हो जाता है । आज की परिस्थिति में प्रत्येक आलोचक के सम्मुख दो मुख्य प्रश्न उपस्थित हो रहे हैं—(१) क्या आधुनिक साहित्य का मूल्यांकन काव्य के प्राचीन मानदण्डों के आधार पर संभव हो सकता है ? (२) यदि नहीं, तो साहित्य के मूल्यांकन की नयी कसौटी क्या हो सकती है ? हिन्दी-आलाचकों के सामने भी ये दोनों प्रश्न किसी न किसी रूप में उठे हैं और अपने विचारों का उन्होंने एकाधिक लक्षण ग्रंथों एवं विविध समीक्षाओं द्वारा प्रकाशन किया है । कुछ समीक्षकों ने तो काव्यशास्त्र की उपयोगिता के प्रति ही शंका प्रकट की है, फिर भी नए परिप्रेक्ष्य में यह मान्यता बनी हुई है कि प्रत्येक विकासमान साहित्य का एक अपना समीक्षाशास्त्र अवश्य होना चाहिए क्योंकि साहित्य व समाज में युगानुकूल परिवर्तन के साथ उत्पन्न होने वाली नवीन प्रवृत्तियों का विश्लेषण समीक्षा शास्त्र के द्वारा ही संभव है । इस शास्त्र की उपयोगिता इसलिए भी सिद्ध होती है कि इसके आधार पर साहित्य की नवीन संभावनाओं का संकेत किया जा सकता है :—

आधुनिक काल में प्राचीन भारतीय काव्य सिद्धान्तों की दृष्टि से साहित्य समीक्षा करते हुए कुछ ऐसा प्रतीत हुआ है कि इस प्रकार आलोच्य सामग्री का महत्त्व पूर्णरूप से उद्‌घाटित नहीं हो पाता । उन सिद्धान्तों की स्थापना के समय से लेकर आज की अनेक काव्यगत मान्यताएँ या तो बदल गई हैं या अपूर्ण सिद्ध हो रही हैं । अतः लक्षण ग्रन्थों का नूतन आधार खोजने की ओर अथवा प्राचीन लक्षणों का पुनराख्यान करने की ओर आधुनिक काल के

आरम्भ से ही हिन्दी-आलोचकों का ध्यान आकर्षित हुआ है। इस समय ऐसे समस्त लक्षण ग्रंथों अथवा विवेचनों की व्यापक रूप से दो कोटियाँ निर्धारित की जा सकती हैं।

१. संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा में रचे गये ग्रंथ, जहाँ प्राचीन मान्यताओं की ही नवीन उदाहरण देकर व्याख्या की गई है।

२. वे लक्षण ग्रन्थ, जो भारतीय तथा पाश्चात्य समीक्षाओं के मूल सिद्धान्तों को ध्यान में रख कर लिखे गए हैं।

पहली कोटि के ग्रन्थ कविराजा मुरारिदान, लाला भगवानदीन, कन्हैयालाल पोद्दार, रामदहिन मिश्र जैसे आचार्यों द्वारा निरूपित हैं तो दूसरी कोटि के ग्रंथ डा० श्यामसुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 'सुधांशु', बाबू गुलाबराय, डा० नगेन्द्र जैसे समीक्षकों द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं। काव्य के नए लक्षण-निर्धारण करने में दो अन्य दिशाओं में भी महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है :—

१. व्याख्यात्मक आलोचना करते समय, और

२. काव्य ग्रंथों की भूमिकाओं में अपना मंतव्य स्पष्ट करते समय।

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी जैसे समीक्षकों की तद्विषयक धारणाएँ यदि पहली श्रेणी के अन्तर्गत आयेंगी तो प्रसाद, पंत आदि कवियों द्वारा प्रस्तुत अपनी विवेचनाएं दूसरे वर्ग में समाविष्ट होंगी। इन दोनों प्रकार की विवेचनाओं में हिन्दी के आधुनिक लक्षण ग्रंथों के बीज छिपे हुए हैं इस कारण इन ग्रंथों का काव्यशास्त्रीय महत्त्व ऊपर उल्लिखित लक्षण ग्रंथों की अपेक्षा अधिक व्यापक प्रतीत होता है।

इस प्रकार आधुनिक काल में सामान्यतः काव्यगत लक्षण निर्धारित करने की चार प्रमुख दिशाएँ दृष्टिगोचर होती हैं जिनका संकेत ऊपर किया गया है। लक्षण-निर्धारण करने के लिए प्रथम दो कोटियों को यदि समीक्षा शास्त्रियों का प्रत्यक्ष प्रयत्न स्वीकार करें तो अन्य दो कोटियों को उनका परोक्ष प्रयत्न मान सकते हैं।

प्रथम वर्ग के सभी लक्षण ग्रंथों की प्रमुख विशेषता यह है कि ये काव्यशास्त्र की प्राचीन परम्पराओं का ही अनुगमन करते हैं। नवीन तथ्यों का समावेश करने की ओर उनकी प्रवृत्ति कम है। दूसरी विशेषता यह है कि अत्यंत उपयोगी काव्यलक्षणों का तो लक्षण-उदाहरण सहित विस्तृत विवेचन किया गया है किन्तु उनके भेदों-उपभेदों को स्पष्ट करने की ओर ध्यान नहीं दिया गया। तीसरी विशेषता है व्याख्या के लिए गद्य का प्रयोग तथा समकालीन कविता से उदाहरणों की व्याख्या। शास्त्रीय निरूपण में सरलता का ध्यान रखा गया है जिसे इनकी चौथी विशेषता मान सकते हैं।

इन विशेषताओं के सम्यक् विश्लेषण के लिए इस वर्ग के कुछ प्रमुख लक्षण ग्रंथों का परिचय पर्याप्त होगा। 'जसवन्त भूषण' में (मुरारिदान, सन् १८६३ ई०) संस्कृत के 'अग्नि पुराण', 'नाट्यशास्त्र', 'चन्द्रालोक' आदि ग्रंथों के आधार पर काव्य के स्वरूप, गुण, रीति, अलंकार आदि सभी काव्यांगों का विवेचन किया गया है। कुछ नए अलंकार निर्दिष्ट किए गए, जैसे—'अतुल्ययोगिता', 'अप्रत्यनीक', 'अभेद' आदि। किन्तु आलंकारिक दृष्टि से

इनमें कोई चमत्कार नहीं है। 'रस कुसुमाकर' (प्रतापनारायण सिंह, सन् १८६४ ई०) नामक रसविषयक ग्रन्थ के पन्द्रह परिच्छेदों ('कुसुम') में रस के अंग-प्रत्यंगों का सुन्दर विवेचन है। उदाहरण रीतिकालीन कवियों देव, पद्माकर, बेनी आदि से लिए गए हैं। 'काव्य प्रभाकर' (जगन्नाथप्रसाद भानु, सन् १६१०) के बारह मयूखों में साहित्यशास्त्र के सभी अंगों पर विवेचन मिलता है। लगभग ७८६ पृष्ठों में इतने विस्तार से काव्यांगों का विवेचन करने वाला यह हिन्दी का पहला लक्षण ग्रंथ है। 'अलंकार मंजूषा' (लाला भगवानदीन सन् १६१६) द्वारा शब्दालंकारों व अर्थालंकारों का विवेचन करते हुए जो फारसी अलंकारों का भी उल्लेख किया गया, वह लक्षण विवेचन में नवीनता का द्योतक है।

'काव्य कल्पद्रुम' (कन्हैयालाल पोद्दार, सन् १६२६ ई०) के प्रथम व द्वितीय भागों अर्थात् 'रसमंजरी', 'अलंकार मंजरी' द्वारा संस्कृत काव्यशास्त्र के दो मुख्य अंगों का विवेचन हुआ है। जैसा कि इनके शीर्षकों से ही प्रकट है। पहले ग्रंथ में काव्य के अंतर्गत ध्वनि पक्ष पर विशेष जोर दिया गया है। दूसरे ग्रंथ में एक तो व्याख्याएँ बड़ी स्पष्ट हैं, और दूसरे अलंकारशास्त्र का विकास दिखाते हुए ऐतिहासिक दृष्टि से अलंकारों की संख्या पर भी विचार हुआ है। इसलिए यह ग्रंथ महत्त्व रखता है। 'अलंकार पीयूष' (डा० रसाल) इस विषय पर हिन्दी का सर्वप्रथम शोध प्रबन्ध है जिनमें अलंकारों का तात्त्विक अध्ययन हुआ है। अलंकारों के मूल आधारों व कारणों की छानबीन की गई है और रस, ध्वनि के साथ उनका सम्बन्ध भी स्पष्ट किया गया है। 'भारती भूषण' (अर्जुनदास केडिया सन् १६३०) अलंकारों की परिभाषा व उदाहरणों की दृष्टि से उपयोगी है। सभी उदाहरण भाषा कवियों से लिए गए हैं। 'रसकलस' (हरिऔध, सन् १६३१ ई०) में परम्परागत रसों के अन्तर्गत वात्सल्य रस की भी गणना करते हुए उसकी पुष्टि करने के लिए अँग्रेजी कविता से उदाहरण देना इस ग्रन्थ की नवीनता कही जा सकती है। लक्षण हिन्दी गद्य में हैं तो उदाहरण स्वरचित व्रजभाषा में। इस ग्रन्थ के महत्त्वपूर्ण विषय हैं—शृंगार, नायिका भेद और वात्सल्य रस। शृंगार रस का विस्तृत विवेचन करने के पश्चात् उसे 'रसराज' घोषित किया गया है। और परिवार प्रेमिका, जाति प्रेमिका, देश प्रेमिका, लोक सेविका जैसी नवीन नायिकाओं के परिगणन का श्रेय इस युग में 'हरिऔध' जी को ही है।

इसी प्रकार 'साहित्य सागर' (बिहारीलाल भट्ट, सन् १६३७) नामक लक्षण ग्रंथ की पन्द्रह तरंगों में रस, अलंकार, रीति, गुण, छन्द आदि काव्यांगों का स्वरूपनिरूपण तथा वर्गीकरण हुआ है। 'साहित्य पारिजात' (मिश्रबन्धु, सन् १६४०) की विशेषता उदाहरण देने की दृष्टि से ही कही जा सकती है वैसे अलंकार-विवेचन में कोई नवीनता नहीं है। संस्कृत एवं हिन्दी के आचार्यों की मान्यताओं का यथास्थान उल्लेख लक्षणों के तुलनात्मक स्वरूप निर्धारण के लिए अवश्य उपयोगी है। इस परम्परा के अन्तिम उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं—'काव्यविमर्श', 'काव्यालोक', 'काव्य में अप्रस्तुत योजना' तथा 'काव्य दर्पण' (रामदहिन मिश्र, १६४७)। 'काव्य दर्पण' के बारह प्रकाशों में साहित्य व काव्य शब्दों की व्याख्या के साथ-साथ काव्य के लक्षण देकर शब्द शक्तियों का विस्तृत निरूपण किया गया है, रसों की सोदाहरण व्याख्या

प्रस्तुत की गई है और गुणों, रीतियों के अतिरिक्त अलंकारों के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला गया है। 'प्रश्न' नामक एक नवीन अलंकार की उद्‍भावना मिलती है। प्रस्तुत ग्रन्थ की एक अन्य विशेषता भी है कि इसमें पाश्चात्य काव्य सिद्धांतों का उल्लेख करने के साथ-साथ मराठी व बंगला के तत्सम्बन्धी विचारों का भी सदुपयोग विद्वान् लेखक ने किया है।

इस श्रेणी के लक्षण ग्रन्थों पर स्पष्ट ही रीतिकालीन आदर्शों की छाप लक्षित होती है और काव्यांगों की दृष्टि से इन्हें दो प्रकार का कहा जा सकता है। एक तो काव्यशास्त्र के सर्वांग निरूपक ग्रन्थ हैं और दूसरे काव्यशास्त्र के अंग-विशेष पर लिखित ग्रन्थ हैं। सर्वांग निरूपक ग्रंथों का प्रतिनिधित्व 'काव्य कल्पद्रुम' या 'काव्य दर्पण' ग्रंथ करते हैं और काव्यांग-विशेष की दृष्टि से 'अलंकार मंजूषा' या 'रस कलम' प्रतिनिधि रूप में लिए जा सकते हैं।

हिन्दी काव्यधारा पर जब पाश्चात्य प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ने लगा तो काव्यगत लक्षणों में भी पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों के समावेश की आवश्यकता समझी गई। इसके परिणाम स्वरूप लक्षण-निर्माण में नवीनता का सूत्रपात हुआ। ऐसे सभी लक्षण-ग्रंथों को प्रत्यक्ष प्रयत्न की कोटि में परिगणित दूसरे वर्ग के अन्तर्गत स्थान दिया जा सकता है। इस प्रकार के लक्षण सुधारवादी एवं सैद्धांतिक दोनों रूपों में प्रस्तुत किए गए। महावीरप्रसाद द्विवेदी के काव्यगत विचार सुधारवादी दृष्टिकोण के द्योतक हैं। उदाहरणार्थ उनके दिए गए ये दो लक्षण देखिए—

१. "कविता लिखने में व्याकरण के नियमों की अवहेलना न करनी चाहिए। शुद्ध भाषा का जितना मान होता है अशुद्ध का उतना नहीं।" ('रसज्ञ रंजन'-पृ० ४५)।

२. "नाना प्रकार के विकारों के योग से उत्पन्न हुए मनोभाव जब मन में नहीं समाते, तब वे आप ही आप मुख के मार्ग से बाहर निकलने लगते हैं। अर्थात् मनोभाव शब्दों का रूप धारण करते हैं। यही कविता है चाहे वह पद्यात्मक हो चाहे गद्यात्मक।"

('रसज्ञरंजन'-पृ० ३८)

सैद्धांतिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने वाले ग्रंथों में सर्वप्रथम 'साहित्यालोचन' और 'रूपक रहस्य' महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं जिनमें डा० श्यामसुन्दरदास ने पाश्चात्य काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन करने के उपरांत समीक्षा की नवीन कसौटियाँ निर्धारित की हैं। प्रथम ग्रंथ के छः अध्यायों में क्रमशः कला, साहित्य, काव्य, कविता, गद्य तथा रस व शैली का विवेचन है और दूसरे ग्रंथ के नौ अध्यायों में भारतीय नाट्यकला के साथ पाश्चात्य नाट्यकला का विकास दिखाने के पश्चात् भारतीय नाट्य-शास्त्र के आधार पर रूपक रचना, प्रेक्षागृह आदि का वर्णन हुआ है; इन दोनों ग्रंथों के अध्ययन से हिन्दी-समीक्षक को काव्यशास्त्रीय आकलन का एक सुनिश्चित आधार मिल जाता है।

तदुपरांत 'रस मीमांसा' (रामचन्द्र शुक्ल) का लक्षण ग्रंथों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि इसमें भाव, विभाव, शब्दशक्तियों पर किया गया विवेचन रसवादी कसौटी का उपस्थापक है। शुक्लजी ने रस दशा की दो कोटियाँ निर्धारित करते समय, अथवा

काव्यानन्द की साधनावस्था-सिद्धावस्था का विवेचन करते समय अथवा अन्यत्र अपनी समीक्षाओं में काव्य के स्वरूप, उद्देश्य, अलंकार आदि पर विचार करते समय सर्वत्र तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया है उनके लक्षण-विवेचन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि लक्षण ग्रंथों का नूतन आधार लेकर हिन्दी कृतियों के सहारे ही तत्संबंधी मानदण्ड निर्धारित किए गए हैं। इस प्रकार प्राचीन काव्यसिद्धांत भी नवीन चिंतन के समानांतर आ गए हैं। शुक्लजी ने भारतीय शब्द शक्ति तथा रस सिद्धांत के भीतर व्यापक काव्यशास्त्रीय अध्ययन की संभावना प्रकट की है। उनके लक्षणों की स्पष्टता इन उदाहरणों से ज्ञात हो जायगी—

१. "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।" ('चिंतामणि'-भाग १)।

२. "मैं अलंकार को केवल वर्णन प्रणाली मात्र मानता हूं जिसके अन्तर्गत करके चाहे किसी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है। वस्तु निर्देश अलंकार का काम नहीं।"

('काव्य में प्राकृतिक दृश्य')

३. "प्रस्तुत के मेल में जो अप्रस्तुत रखा जावे चाहे वह वस्तु, गुण या क्रिया हो अथवा व्यापार समष्टि-वह प्राकृतिक और चित्ताकर्षक हो तथा उसी प्रकार का भाव जगाने वाला हो जिस प्रकार का प्रस्तुत।" ('भ्रमरगीत सार' की भूमिका)।

'काव्य में अभिव्यंजनावाद' और 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत' ('सुधांशु') काव्यगत लक्षणों की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इनमें काव्य तथा मानवजीवन के पारस्परिक सम्बन्ध की भी तर्कपूर्ण विवेचना हुई है। इनके बताए गए काव्यलक्षण मूलतः काम भावना, आनन्द भावना से संबद्ध होने के कारण अधिक मनोवज्ञानिक हैं। 'नवरस' (गुलाबराय) मनोविश्लेषण पर आधारित होने के कारण ही आज भी काव्य शास्त्र के विद्यार्थी के लिए उपयोगी ग्रंथ है। इसी प्रकार गुलाबरायजी ने अपने अन्य ग्रंथों 'सिद्धांत और अध्ययन,' 'काव्य के रूप' में काव्यशास्त्र का पूरा सर्वेक्षण करते हुए पाठक की सत्ता को कविसत्ता के बराबर ही महत्त्व देना चाहा है जो कि वर्तमान परिस्थियों में समीचीन है। कहीं-कहीं उन्होंने शुक्लजी द्वारा निर्धारित लक्षणों की पुनः परीक्षा भी की है। इस प्रकार के अन्य ग्रंथों में 'समीक्षा शास्त्र' (सीताराम चतुर्वेदी), 'वाङ्मयविमर्श' (विश्वनाथप्रसाद मिश्र), 'साहित्य मीमांसा' (सूर्यकांत शास्त्री), 'भारतीय साहित्य शास्त्र' (बलदेव उपाध्याय) आदि भी द्रष्टव्य हैं।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र सम्बन्धी विशेष अध्ययन के आधार पर लिखे जाने वाले हिन्दी ग्रंथों में डा० नगेन्द्र के ग्रंथ एक बड़ी सीमा तक आधुनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। लक्षण विवेचन की दृष्टि से उनके उल्लेखनीय ग्रंथ हैं–'रीतिकाव्य की भूमिका,' 'विचार और विवेचन,' 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका,' 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' और इधर प्रकाशित नवीन ग्रंथ 'रस सिद्धांत' जिसमें उनकी समस्त शास्त्र साधना का निचोड़ है। इन ग्रंथों में यदि कहीं भारतीय काव्यशास्त्र के मूल सिद्धांतों का आधुनिक मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि में विश्लेषण तथा स्पष्टीकरण किया गया है तो कहीं भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यसिद्धांतों का

पुनराख्यान करते हुए उनके आधार पर अपने साहित्य की परम्परा के अनुकूल एक संश्लिष्ट आधुनिक काव्यशास्त्र बनाने की सम्भावना व्यक्त की है। उनके मतानुसार आज काव्य की परीक्षा करते समय आत्माभिव्यक्ति के सिद्धांत को प्रमुखता देनी चाहिए और साहित्य को मूलतः वैयक्तिक चेतना स्वीकार करना चाहिए। इन मान्यताओं का महत्त्व भी स्पष्ट ही है—काव्यशास्त्र की दिशा में समन्वय का एक मार्ग निर्धारित कर देना जो कि मनोविश्लेषण शास्त्र के अध्ययन के आधार पर निश्चित हुआ है। काव्यगत मूल्यांकन के लिए मनोविज्ञान को एक आवश्यक शास्त्र के रूप में स्वीकार करना आधुनिक समीक्षा की एक उपलब्धि है जिसकी स्थापना का श्रेय डा० नगेन्द्र को है।

हिन्दी के आधुनिक लक्षण ग्रंथों का तीसरा आधार वे काव्यशास्त्रीय विवेचन एवं विचार हैं जो समय-समय पर विभिन्न समीक्षकों द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा, देवराज आदि हिन्दी के प्रमुख शास्त्रीय समीक्षकों को क्रमशः स्वच्छंदतावादी, मानवतावादी, प्रगतिवादी और सांस्कृतिक समीक्षा सम्बन्धी मान्यताओं को स्थापित करने का गौरव दिया जाता है। वाजपेयीजी ने मुख्यतः छायावादी हिन्दी कविता को लक्ष्य बना कर अपने काव्य-सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया है। वे कवि की अंतःवृत्तियों का तथा उस पर यथासमय पड़ने वाले दार्शनिक-सांस्कृतिक प्रभावों का विशेष महत्त्व स्वीकार करते हैं इस प्रकार वे समाज की पृष्ठभूमि में साहित्य का परीक्षण करने के पक्ष में हैं। उनके कुछ लेख 'भारतीय साहित्यशास्त्र की रूपरेखा', 'रस निष्पत्ति : एक नई व्याख्या' आदि उल्लेखनीय हैं जिनमें काव्यशास्त्र के नए धरातलों का संकेत किया है।

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी वाजपेयीजी की भांति कोई स्वतंत्र लक्षण ग्रंथ नहीं लिखा किन्तु अपने विभिन्न निबंधों में तत्सम्बन्धी विवेचन अवश्य किया। उनके निबन्ध जैसे 'साहित्यकारों का दायित्व', 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है', ('अशोक के फूल'); 'साहित्य का प्रयोजन लोक कल्याण', 'साहित्य के नये मूल्य', 'लोक साहित्य का अध्ययन', ('विचार और वितर्क'); 'साहित्य का स्वरूप और उद्देश्य', ('साहित्य का साथी') आदि उन शास्त्रीय सिद्धांतों के प्रकाशक हैं जिनमें द्विवेदीजी का स्वतंत्र मनन-चिंतन स्थान-स्थान पर झलकता है। व्याख्यात्मक समीक्षा के बीच में ही वे कोई काव्यगत सिद्धांत की बात भी कह जाते हैं जो लक्षण निर्माण की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध होती है। उन्होंने हिन्दी साहित्य के आदिकाल में जो बौद्ध, जैन, सिद्ध, नाथ, तांत्रिक, शाक्त आदि सम्प्रदायों की ऐतिहासिक गवेषणा की है और उनके सिद्धांतों की काव्यगत परिणति का जो तात्त्विक विवेचन उपस्थित किया है वह बड़ा उपयोगी है। उसके सहारे ही और अध्ययन करते हुए तत्कालीन हिन्दी साहित्य के स्वतंत्र काव्यादर्श निश्चित किए जा सकते हैं।

आधुनिक समीक्षा में मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, प्रभाववाद आदि की दृष्टि से भी नवीन कसौटियाँ निर्धारित करने का प्रयत्न हुआ है, शांतिप्रिय द्विवेदी काव्य समीक्षा में प्रभाववादी मानदण्ड लेकर अग्रसर हुए हैं। इस पद्धति का प्रमुख लक्षण है—समीक्षक के

अपने व्यक्तित्व की प्रधानता। मनोविज्ञान को प्रधानता देने वाले समीक्षक फ़्रायड, जुँग आदि के सिद्धांतों को ध्यान में रख कर कवि व उसके कृतित्व की परीक्षा करना चाहते हैं। समाज-शास्त्री अथवा प्रगतिवादी समीक्षक मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को काव्य की एकमात्र कसौटी मानकर चलते हैं। जैसा कि डा० रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक ('प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ-पृ० १') में लिखा है कि कलाकार के अनुभव समाज निरपेक्ष नहीं होते। समाज में कुछ तत्त्व प्रगतिशील होते हैं तो कुछ प्रतिक्रियावादी। इन दोनों के विरोध से ही समाज को गति मिलती है। साहित्यकार समाज की इस विकास प्रक्रिया से तटस्थ नहीं रह सकता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अब शास्त्रीय समीक्षा के मानदण्डों को एक नया आधार देने की दिशा में समाजशास्त्र की उपयोगिता भी बढ़ती जा रही है।

इस प्रकार के लक्षण निर्धारण के सभी प्रयत्न चूंकि प्रत्यक्षरूप से नहीं किए गए, इसी कारण इन्हें समीक्षकों का परोक्ष प्रयत्न कहना अधिक समीचीन होगा। जहाँ तक पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र के सिद्धांतों को ध्यान में रख कर लिखे गए हिन्दी के लक्षण ग्रंथों का सम्बन्ध है उनकी तीन मुख्य प्रवृत्तियाँ यहाँ इंगित की जा सकती हैं:--पहली—भारतीय रस सिद्धांत की पुनः परीक्षा करना, दूसरी—पाश्चात्य लक्षणों का यथास्थान उल्लेख करना, जो आगे चल कर तुलनात्मक समीक्षाशास्त्र के विकास में सहायक होगी, तीसरी—लक्षणों की व्याख्या करते समय स्पष्टता का निरन्तर ध्यान रखना। इस प्रकार के ग्रन्थों से सैद्धांतिक समीक्षा की एक शैली-विशेष ही विकसित होने लगी है।

लक्षण-निर्धारण की दिशा में आधुनिक हिन्दी कवियों के उन विचारों की गणना भी होनी चाहिए जिन्हें हमने ऐसे प्रयत्नों की चौथी कोटि में रखा है। वस्तुतः आधुनिक कवियों के एतद् काव्य सिद्धांत ही भविष्य में मौलिक लक्षण ग्रंथों के आधार बनेंगे अतः स्वतन्त्र काव्य-शास्त्र के निर्माण की संभावनाएँ इन्हीं के अन्तर्गत विशेष रूप से निहित हैं। भारतेंदु से लेकर अज्ञेय तक जिन-जिन कविगणों ने अपने काव्य ग्रंथों की भूमिकाओं अथवा अन्यत्र प्रकाशित स्पष्टीकरणों के द्वारा जो अपनी काव्यगत मान्यताओं का विवेचन-विश्लेषण किया है वे सब इसी श्रेणी में समाविष्ट होंगे।

भारतेन्दु युग में 'प्रेमघन' और राधाकृष्ण दास ने काव्य को राष्ट्रीय विचारों से अनु-प्राणित माना और 'माधुर्य,' 'प्रमोद' जैसे नवीन रसों का इसी दृष्टि से व्याख्यान किया। द्विवेदी युग में आगे चलकर 'रत्नाकर' ने रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया तथा काव्य का प्रयोजन लोकहित व यशप्राप्ति को माना। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने काव्य का उद्देश्य सत्य, शिव और सुन्दर के समन्वय में स्थापित किया और औचित्य को रसात्मक काव्य का प्राण माना। ऐसे समस्त विचार व्यक्तिगत रूप से काव्यगत लक्षणों का स्वरूप निर्धारण करने में महत्त्वपूर्ण प्रयत्न ही कहे जायेंगे। छायावादी कवियों के विचार इस दृष्टि से अधिक उल्लेख-नीय हैं क्योंकि ये काव्य के आंतरिक स्वरूप से तो संबंध रखते ही हैं, उसके साथ-साथ काव्य के शिल्पविधान से भी सम्बन्धित हैं। प्रसाद की 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' शीर्षक पुस्तक, पन्त का 'गद्य पथ', निराला का 'प्रबन्ध-पद्म' आदि इस प्रकार की रचनाओं में द्रष्टव्य हैं। ये

कवि सामान्यतः काव्य के अन्तर्गत आत्माभिव्यक्ति को प्रधानता देते हैं और काव्य को उसका साधन मानते हैं। दूसरे शब्दों में यही इस कविता के लक्षण हैं। राष्ट्रीय विचारधारा से विशेष प्रभावित कवियों--माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, दिनकर आदि ने काव्य की आत्मा, प्रयोजन, शिल्पविधान जैसे शास्त्रीय पक्षों पर भी अपने विचार यत्र तत्र प्रकट किए हैं जो लक्षणों की दृष्टि से उपादेय हो सकते हैं। इस प्रकार का शास्त्रीय विवेचन दिनकर ने मुख्य रूप से किया है। अतः उनके 'चक्रवाल' (१९५६) जैसे काव्य संग्रहों की भूमिकाएँ काव्यगत मान्यताओं का अध्ययन करने के लिए पठनीय हैं।

शिवमंगलसिंह 'सुमन', नागार्जुन आदि प्रगतिवादी कवियों ने तो लक्षण-निरूपण की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया किन्तु प्रयोगवादी कविता के उन्नायक एवं समीक्षक अज्ञेय ने इस विषय पर क्रांतिकारी विचार प्रस्तुत किए हैं। 'त्रिशंकु' में वे कविता का एक सर्वथा नूतन लक्षण प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं--"कविता भाव का उन्मोचन नहीं है बल्कि भावों से मुक्ति है, वह व्यक्तित्व की अभिव्यंजना नहीं बल्कि व्यक्तित्व से मोक्ष है।" (पृ० ३६)। इसी तरह 'रूपाम्बरा' काव्य-संग्रह की भूमिका में वे व्यक्तिगत अनुभूति की तीव्रता, उसके मर्मस्पर्शी प्रभाव की चर्चा तो अवश्य करते हैं किन्तु इसके साथ ही काव्यगत अनुभूति को व्यक्तिगत अनुभूति से भिन्न मानते हैं। उनके अनुसार कविता वैयक्तिक अनुभूतियों का व्यक्तीकरण है। साधारणीकरण के प्रसिद्ध सिद्धान्त को तो उन्होंने आज के परिप्रेक्ष्य में अस्वीकार ही कर दिया है इसी प्रकार के विचार अन्य कवि भी प्रकट कर रहे हैं। यहाँ इनके औचित्य-अनौचित्य के प्रश्न पर विचार करना तो अप्रासंगिक होगा फिर भी नए काव्य-लक्षणों का निर्धारण करने के लिए ऐसी धारणाएँ मूल्यवान हैं। आधुनिक हिन्दी कवियों द्वारा प्रस्तुत विविध काव्य सिद्धान्तों के मूल्यांकन करने का भी इधर प्रयत्न किया गया है और आगे भी होना चाहिये।

काव्यगत प्रयोजन, उद्देश्य आदि की दृष्टि से कुछ कवियों के ये विचार उदाहरण स्वरूप लिए जा सकते हैं—

१. "मैं कल्पना के सत्य को सबसे बड़ा सत्य मानता हूँ और उसे ईश्वरीय प्रतिभा का अंश भी मानता हूँ·······अपने युग की परिस्थितियों से प्रभावित होकर मैं साहित्य में उपयोगितावाद ही को प्रमुख स्थान देता हूँ।"—(पंत, 'आधुनिक कवि'–भूमिका पृ० ३३-३४)।

२. "अब मैं अपने काव्य के वर्णाधार लिखता हूँ। मैं हिन्दी के जीवन के सम्बन्ध में वर्णों के भीतर से विचार कर चुका हूँ कि किन वर्णों का सामीप्य है। मुक्त छन्द की रचना में मैंने भाव के साथ रूप-सौंदर्य पर ध्यान रखा है। बल्कि कहना चाहिए, ऐसा स्वभावतः हुआ नहीं तो मुक्त छन्द न लिखा जा सकता। वहाँ कृत्रिमता नहीं चल सकती।"—(निराला, 'प्रबन्ध प्रतिमा'—पृ० २७५)।

३. "अलंकार केवल काव्य को अलंकृत करने का उपकरण ही नहीं है, वरन् वस्तु या पात्र में विहित मनोवैज्ञानिक सौंदर्य को स्पष्ट करने का साधन भी है।"—(रामकुमार वर्मा, 'साहित्यशास्त्र'—पृ० १२०)।

इस प्रसंग में उन शोध-प्रबन्धों का उल्लेख कर देना भी उचित होगा जो प्राचीन सिद्धान्तों का पुनर्मूल्यांकन करते हैं। क्योंकि काव्यलक्षणों का विश्लेषण-परीक्षण करने में इनकी उपयोगिता स्वतः सिद्ध है, भले ही ये नए लक्षण नहीं निर्धारित करते। इस अध्ययन एवं शास्त्रीय सैद्धांतिक विवेचन की ओर समुचित पथ प्रदर्शन तो ऐसे ग्रंथ ही करते हैं। ऊपर डा० रसाल तथा डा० नगेन्द्र के शोध-प्रबन्धों का उल्लेख किया जा चुका है। काव्यांग-विशेष का विशेष रूप से विवेचन करने वाले अन्य शोध ग्रंथ हैं—'हिन्दी अलंकार साहित्य' (डा० ओमप्रकाश), 'ध्वनि संप्रदाय और उसके सिद्धान्त' (डा० भोलाशंकर व्यास, सन्-१९५६), 'रस सिद्धांत : स्वरूप विश्लेषण' (डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित, सन् १९५८), 'आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना' (डा० पुत्तूलाल शुक्ल) आदि। इधर हिन्दी काव्य-शास्त्र के साथ अन्य प्रांतीय भाषाओं के काव्य सिद्धांतों की तुलना भी आरम्भ हो गई है और 'आधुनिक हिन्दी-मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन' (डा० मनोहर काले, १९६३) इस श्रेणी का स्तुत्य प्रयत्न है। शोध ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ अन्य उपयोगी पुस्तकें भी लिखी गई हैं, जैसे—'प्रगति और परम्परा' (रामविलास शर्मा), 'समीक्षा और आदर्श' (रांगेय राघव), 'नयी कविता के प्रतिमान' (लक्ष्मीकांत वर्मा) आदि।

उपर्युक्त विवेचन से इतना स्पष्ट है कि आज जीवन मूल्यों में परिवर्तन के साथ-साथ काव्यगत लक्षणों के संशोधन-परिवर्धन की आवश्यकता की गई है। प्राचीन मान्यताओं तथा बाह्य प्रभावों के समन्वित आधार को ग्रहण करके नवीन काव्यादर्शों का विकास किया जा रहा है जिनका स्वरूप अपनी परम्पराओं के मेल में है। काव्य की आत्मा, उसके स्वरूप व मूल प्रेरणाओं तथा उसके बाह्य उपकरणों—भाषा, छन्द आदि के क्षेत्र में विचार करते हुए नवीन उपलब्धियों का ध्यान रखा गया है। इसका मुख्य कारण आधुनिक काल के बौद्धिक जागरण, वैज्ञानिक विश्लेषण पद्धति और पाश्चात्य काव्यालोचन के अनुशीलन में ही माना जाएगा जिसने समीक्षकों अथवा कवियों की चिंतनधारा को ही नया रूप दे दिया है। अब नवीन काव्यादर्शों का निर्देश करते समय या प्राचीन लक्षणों का पुनराख्यान करते समय आधुनिक मनोविश्लेषण तथा समाजशास्त्रीय चिंतन की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यद्यपि अभी हिन्दी साहित्य की कुछ ऐसी महत्त्वपूर्ण किन्तु अछूती परम्पराएँ भी हैं जिनके लिए नए मानदण्ड निर्धारित करने की पर्याप्त आवश्यकता है, फिर भी अद्यतन उपलब्धि कम नहीं है। रससिद्धांत का आधुनिक साहित्यशास्त्र के मुख्य सिद्धान्त रूप में ग्रहण; सौष्ठववादी तथा मानवतावादी मानदण्डों का स्थिरीकरण; मनोवैज्ञानिक तथा समाज-शास्त्रीय आधारों पर नवीन लक्षणों के विकास की संभावनाएँ इन ग्रन्थों की कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जो आधुनिक हिन्दी आलोचनाशास्त्र के लिए महत्वपूर्ण योगदान के रूप में स्वीकार की जायेंगी।

●

डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल

हिन्दी-आलोचना की मूलभूत समस्याएँ

हिन्दी-आलोचना की सतत प्रवहमान धारा की गतिविधि पर दृष्टिपात करने पर निश्चित ही हमें हर्ष और गौरव का अनुभव करने का एक पर्याप्त सुदृढ़ मानसिक आधार प्राप्त होगा। किन्तु यदि हम साहित्य में आलोचना की चरम नियति को ध्यान में रख कर विचार करने लगें तो हम अनेक प्रश्नों से सहज ही घिर जायेंगे।

हिन्दी-आलोचना अपने विकास के जिस सोपान पर आज आ पहुँची है वहाँ नाना समस्याएँ प्रबुद्ध चिंतकों के लिए चुनौती बन कर खड़ी हैं। इन समस्याओं को हम दो बड़े वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) आलोचना की 'वस्तु' से सम्बन्धित समस्याएँ, और (२) आलोचना के रूप, शैली, स्थापत्य या शिल्प से सम्बन्धित समस्याएँ। प्रस्तुत लेख की अत्यन्त सीमित परिधि में हम प्रथम वर्ग की समस्याओं को आँखों के सामने लाने-भर का यत्किंचित् प्रयत्न करेंगे जिन पर हिन्दी आलोचना-जगत् में उत्तरोत्तर विचार-विमर्श होने पर हमारी आलोचना का अन्तर्बाह्य अधिक सुगुंफित प्रौढ़ व संतुलित हो सकता है।

साहित्य के प्रत्येक रूप या विधा की तरह आलोचना का भी अपना एक वस्तु-तत्त्व होता है। पर यह वस्तु-तत्त्व उक्त रूपों व विधाओं में व्यवहृत वस्तु-तत्त्व से कुछ भिन्न होता है ; जहाँ कला-रूपों का वस्तु-तत्त्व मुख्यतः भाव, विचार, कल्पना व मानव-चरित्र से ही निर्मित होता है वहाँ आलोचना का वस्तु-तत्व स्वयं माध्यम-रूप उक्त रूपों या विधाओं में से निष्पन्न सर्जना के समीक्षण-परीक्षण में नियोजित व अपनी प्रकृति से अनिवार्यतः बौद्धिक एक विधा-विशेष के तत्त्व, उपादान उपकरण जीवन-दृष्टि व प्रक्रिया-प्रविधि की समष्टि से

ही मुख्यतः निर्मित होता है। इस प्रकार कला और आलोचना का वस्तु-तत्त्व मूलतः व अन्ततः जीवन से ही सम्बन्धित होते हुए भी व्यवहार में, विचार की सुविधा की दृष्टि से, भिन्न ही ठहरता है।

हमारे आलोचना-क्षेत्र में अनेक महत्वपूर्ण बातों का विचार अभी अपनी आरंभिक अवस्था में है, अनेक बातें विचार-विमर्श या प्रयोग-परीक्षण की प्रक्रिया में हैं और अनेक बातें दीर्घ विचारणा की परिणति पर किनारे लग-गई-सी जान पड़ती भी पुनर्विचार का आह्वान करती दिखाई पड़ रही हैं। यह कहा जा सकता है कि ये सब बातें तो किसी भी विकासकामी जीवन्त-गतिशील सूक्ष्म या स्थूल सत्ता के अनिवार्य लक्षण हैं, अतः इन्हें 'समस्या' की संज्ञा से क्यों अभिहित किया जाय? इसका उत्तर केवल यही है कि नवीन मानव-ज्ञान के व्यापक विस्फोट, विरोधी या अतिवादी जीवन-दृष्टियों का दुर्लंध्य अन्तर, मूल्य-विषयक चिंतन का तुमुल संघर्ष व नवीन व प्राचीन की ध्रुवीय चिंतन-दूरियों के वातावरण में प्रत्येक प्रश्न आज समस्या के आयाम ग्रहण करता ही दिखाई दे रहा है। ऐसी स्थिति में यदि प्रत्येक प्रश्न को समस्या ही कहा जाय तो अनुचित न होगा। अस्तु!

आलोचना-क्षेत्र की ये समस्याएँ इतनी बहुविध, जटिल-संकुल व परस्पर-गुम्फित हैं कि उन्हें किसी विशेष तार्किक क्रम से प्रस्तुत करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है।

हिन्दी आलोचना-क्षेत्र की मूलभूत समस्या आलोचना की मूल प्रकृति के स्थिरीकरण व उसके क्षेत्र व परिधि के निर्धारण की है। प्रत्येक कला या साहित्य के रूप का, उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व के बोध व प्रतिष्ठा की दृष्टि से अपना एक विशिष्ट अनुशासन है। हमारा यह आशय कदापि नहीं कि आलोचना के जड़ नियम व फॉर्मूले तैयार किए जायँ, किन्तु साथ ही यह स्थिति भी वांछनीय नहीं कि अल्ल-जल्ल जो कुछ भी लेखनी से झर पड़े वह सब आलोचना कहलाए। आलोचक मूलतः एक मेधावी, सहृदय व सूक्ष्म प्रज्ञावान व्यक्ति है। जब तक हम आलोचक में उसके आधारभूत विशिष्ट गुणों की अनिवार्य उपस्थिति के प्रति आग्रही होने की उचित जलवायु के निर्माण कर अधिकाधिक सजग प्रयत्न नहीं करते तब तक आलोचना का सही स्वरूप खड़ा होने का सम्भार नहीं होगा। कला और साहित्य के अनुशीलन व परीक्षण-मूल्यांकन के उपयुक्त सही दृष्टि के निर्माता तत्वों को पहचानने की, उनकी विशद व्याख्या करने की और इस प्रकार आलोचना की स्वस्थ-संतुलित दृष्टि के आविर्भाव की आवश्यकता की पूर्ति से ही आलोचना की मूल प्रकृति का स्थिरीकरण व आलोचना के क्षेत्र व परिधि के निर्धारण का कार्य, जो आलोचना को एक स्वस्थ-विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करने के लिए आवश्यक है, सुकर होगा।

आलोचना कल्पनात्मक पुनर्निर्माण अथवा ऐसे पुनर्निर्माण का पुनर्निर्माण होकर कलात्मक सर्जन की कोटि की विधा है अथवा वह साहित्य क्षेत्र से सम्बद्ध होते हुए भी एक शुद्ध बौद्धिक विधा है जिसका भावना व कल्पना जैसे सर्जनात्मक तत्त्वों से कोई सम्बन्ध नहीं या नाम मात्र का ही सम्बन्ध है? —यह प्रश्न भी हमारे सामने है। यदि आलोचना एक सर्जनात्मक व्यापार है तो भावात्मक लेख अथवा प्रभावाभिव्यंजक आलोचना से उसकी दूरी

कितनी है, और अपनी मूल दृष्टि व प्रकृति से यदि वह एक शुद्ध बौद्धिक विधा है तो वह शोध या अनुसन्धान नामक नव विकासशील विधा से कितनी दूर है अथवा उससे किस रूप में साम्य-वैषम्य रखती है ? एक ओर भावात्मक लेख, प्रभाववादी आलोचना और दूसरी ओर शोध—इन दो छोरों के बीच आलोचना की प्रकृत भूमि कौन सी और कितनी है ? यह प्रश्न समस्या का रूप लेता हुआ दिखाई पड़ेगा, क्योंकि एक ओर तो आलोचना में वैयक्तिक दृष्टियाँ आज प्रबलता से सक्रिय हैं और दूसरी ओर शोध-क्षेत्र का बौद्धिक अनुशासन (जो अपने स्थान पर सर्वथा उचित है) उत्तरोत्तर वृद्धिशील है। इस समस्या के हल होने पर आलोचना की प्रकृति व उसकी क्षेत्र-परिधि का स्वरूप स्वतः उभर कर आयगा।

साहित्य की वस्तु व शैली के स्वरूप व पारस्परिक सम्बन्ध का प्रश्न बड़ा पुराना है और वस्तु व शैली के उच्चतर महत्व के पारस्परिक दावे दायर करने तक आबद्ध हो कर अभी भी खड़ा है। शैली के तत्त्वों-उपादानों का स्वतन्त्र व सामूहिक विश्लेषण-विवेचन, उन्हें नवीन महत्त्व प्रदान कराने वाली दार्शनिक जगत् की विचारणाओं के आलोक में करने की नितान्त आवश्यकता है। क्या 'वस्तु' का महत्त्व अनिवार्य रूप से सर्वोपरि है और शैली स्थूल आवरण मात्र है अथवा समस्त ज्ञान-क्षेत्र में साहित्य का भेदक लक्षण होने अथवा उसके वैशिष्ट्य का एक मात्र प्रतिष्ठापक होने से शैली ही साहित्य का सर्वोपरि तत्त्व है और वस्तु गौण या निमित्त मात्र—यह प्रश्न साहित्य-क्षेत्र का अभी भी एक ज्वलन्त प्रश्न है।

आलोचना जगत् की एक विशिष्ट समस्या आलोचना को मानव-संस्कृति के शक्तिशाली वाहक का रूप व महत्त्व प्रदान करने की है। आलोचना केवल विषय, भाव-विचार, कल्पना व शैली के अँगों-उपकरणों का एक निर्जीव-औपचारिक प्रयत्न मात्र ही नहीं है। वह अंततः नवीन कला-रुचियों के निर्माण के माध्यम से मानव-मूल्यों की पोषक होकर मानव-चेतना के परिष्कार व समृद्धि के लिए प्रतिश्रुत हुई सी मानव-संस्कृति के कोश को विकासमान व सम्पन्न करने वाली विविध विधाओं की तरह ही एक महत्त्वपूर्ण विधा है। आलोचना को इस रूप में ग्रहण किए बिना आलोचना का प्रकृत गौरव प्रतिष्ठित नहीं होता।

कृति, कृतिकार, साहित्यिक युग अथवा किसी कृतिकार के समग्र कृतित्व का मूल्यांकन आलोचना, कर्म की चरम परिणति होने के नाते, ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में इस शताब्दी में हुए सहसा परिस्फोट के परिणामस्वरूप उपलब्ध ज्ञान के सम्यक् व सार्थक उपयोग की समस्या, अन्य साहित्यों के आलोचना-क्षेत्र की ही तरह, हिन्दी-आलोचना क्षेत्र की भी एक अद्यतन व गम्भीर समस्या बन कर आज हमारे सामने उपस्थित हो गई है। आलोचना की परिधि आज केवल रस, ध्वनि, रीति-गुण, वक्रोक्ति-औचित्य, भाषा, छंद व अलंकार के विवेचन-विश्लेषण तथा मर्मोद्घाटन तक ही रह गई नहीं जान पड़ती; वह साहित्य-निर्माण की उन प्रेरक शक्तियों व दृष्टियों की सूक्ष्म व भेदक मीमांसा तक बढ़ती जान पड़ रही है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में स्रष्टा के सर्जन को स्थूल-सूक्ष्म रूप में अनुप्राणित कर रही हैं। आलोचना-परिधि के इस विस्तार में आज मानव-ज्ञान की विविध शाखाओं के स्वतन्त्र व समग्र बोध की गहरी अपेक्षा निहित हो उठी है। आज का आलोचक उस समस्त ज्ञान-चेतना के समावेश के

प्रति पाठक को जितना ही आश्वस्त करेगा उसकी आलोचना उतनी ही यथार्थ, सजीव, परिपूर्ण व प्रामाणिक होकर ग्राह्य हो उठेगी। हिन्दी का आलोचक उस ज्ञान का अपनी आलोचना में किस प्रकार विश्वसनीय व प्रभावशाली उपयोग करे, यह समस्या आलोचना को गम्भीर दायित्वपूर्ण वस्तु समझने वालों के लिए बड़े विचार की बात हो गई है। यह जो चारों ओर से इतना ज्ञान का (सूचनात्मक ज्ञान का ही सही) नद उमड़ उठा है वह व्यर्थ या निरर्थक नहीं है; वह विमंथित मानव-चेतना की नई से नई प्रसूति है जो जीवन व मानव के मर्म को समझने में सहायक होने के लिये मानो अपनी सेवा अर्पित करने को मानव की ओर उछली चली आ रही है। यह कोरा पुस्तकीय ज्ञान है अथवा प्रयोगशालाओं के स्थूल तथ्य हैं—ऐसा समझना घातक ही सिद्ध होगा।

अधिकांश नवीन आलोचना अपने स्तर की उच्चता व आशय की गूढ़ता का आश्वासन उत्पन्न करने के लिए प्रायः फ्रायड की स्थापनाओं को ही आश्रय बनाकर अपने अस्तित्व को सार्थक करने में लीन जान पड़ती है—स्वयं फ्रायड ने कला व साहित्य के संदर्भ में अपनी क्या सीमाएँ स्वीकार करली हैं अथवा उनका चिंतन आगे किन विशिष्ट मनोवैज्ञानिकों की (उदाहरणार्थ—ओटो रांक, सैंडर फेरेंजी, विल्हेल्म राइक, करेन हार्नी, एरिक फ्राम, हेरी स्टैक सलीवन आदि मनोविश्लेषणवेत्ताओं की) विचार-सरणियों से परीक्षित, खंडित-विघातित अथवा परिष्कृत--समृद्ध हुआ है, इसका विशेष बोध नहीं हो पा रहा है। एडलर और जुंग की तथा अस्तित्ववादी अनेक विचारकों की विचार-सरणियों की न्यूनाधिक परिचिति सीधे रूप में अथवा कृतियों में समाविष्ट रूप में प्राप्त हो रही है। भारतीय दार्शनिकों की चिंता-धारा को समझने व काव्य में उतारने का उत्साह कम ही दिखाई पड़ रहा है।

स्वयं आलोचना-क्षेत्र के लिए ही यह बात बड़े जोखिम की जान पड़ रही है कि आज नाना कारणों से सर्जन से अधिक महत्त्व समीक्षण का हुआ जा रहा है—यद्यपि बौद्धिक युग के लिए यह तथ्य अस्वाभाविक ही नहीं। संभवतः आज का समीक्षण सर्जन व उसके भावन से साँस से साँस मिलाकर जीता हुआ नहीं दिखाई पड़ रहा है। काव्यास्वाद के स्वस्थ रक्ताभिसरण से वंचित आलोचना के पहाड़ के पहाड़ खड़े हुए जा रहे हैं। हमारा आलोचना-गत विश्लेषण-विवेचन, महत्त्वपूर्ण अपवादों को छोड़कर, मशीनी या कामकाजी ढंग का हुआ जा रहा है और हमारा मूल्यांकन-कर्म (जो आलोचना-कर्म की चरम परिणति के महत्त्व से मंडित रहता है) प्रायः सतही, अनगढ़, अपरिपक्व व नितान्त वैयक्तिक रुचि-अरुचियों से अभिप्रेरित होकर अपने प्रकृत गांभीर्य को खोता दिखाई पड़ रहा है। समीक्षक मूल्यांकन करने के लिए और कलाकुमार तुरंत मूल्यांकित होने के लिए नितान्त अधीर हैं।

यथार्थवाद के आग्रह व भौतिक विज्ञान की बढ़ती गति से हम धूमिल, अस्पष्ट, अबूझ को आलोचना-सुलभ चिंतन-स्पष्टता व सुनिश्चितता देने की ओर अग्रसर हुए हैं और यह बात निश्चित ही सत्य-शोधन की प्रक्रिया व प्रविधि के सर्वथा अनुरूप है। किन्तु साथ ही यह भी भुला दिया जा रहा है कि कला व काव्य की अपनी मूल प्रकृति संश्लेषात्मक है विश्लेषात्मक नहीं। गणितीय स्पष्टता व पृथक्करणप्रियता के अनुरोध से प्रायः हम अपनी

आलोचना में जब उस सर्जनगत प्राणभूत तत्त्व को खोकर विश्लेषण-विवेचन में प्रवृत्त होते हैं और रचना के सूक्ष्मतम व मनोग्राह्य-मात्र तत्त्वों की तलस्पर्शी व्याख्या को सम्पन्न हुआ जानकर पूर्ण सन्तोष कर लेते हैं, तब हम कला और साहित्य की मूल आत्मा के प्रति कितना अपराध करते हैं, इसके प्रति भी हमें सजग रहना है। निश्चय ही हमारी बोध-शक्ति की रेखा के परे बहुत से दुर्व्याख्येय अथवा व्याख्यातीत तत्त्व हैं जिन्हें बौद्धिक धरातल पर अधिकाधिक समझने व स्पष्ट करने का और उक्त कार्य की संतोषजनक प्रणालिका के आविर्भाव का महत्त्वपूर्ण कार्य अभी शेष है। गीतिकाव्य अथवा रहस्यवादी काव्य की मार्मिकता का उद्घाटन अभी बहुत कुछ व्यक्तिगत उच्छ्वासमयी व्याख्याओं तक ही सीमित है। उधर गणित व मनोविज्ञान की विवरणिकाओं के सहारे काव्यगत भावसघन अथवा कल्पनासूक्ष्म स्थलों की व्याख्या के प्रयास आलोचना-जगत् में चल रहे हैं जो श्लाघ्य हैं। साहित्य की उत्कृष्टतम व मार्मिक रचनाओं अथवा स्थलों के सौन्दर्य व मार्मिकता का व्याख्यान आलोचना की एक महत्त्वपूर्ण समस्या कही जा सकती है। उच्छ्वासपरक व्याख्या व कलासाहित्येतर ज्ञानक्षेत्रों में व्यवहृत जीवन-दृष्टियों व कार्यपद्धतियों के ही सहारे कला के मर्म का उद्घाटन---दोनों ही हमारे अभीष्ट से कुछ दूर ही हैं।

कृति अथवा कृतित्व का सम्यक् समीक्षण तभी सम्भव है जबकि सर्जक, कृति, भोक्ता व समीक्षक—आलोचना के इन चारों आयामों को समग्र रूप में ध्यान में रखकर विचार किया जाय। हमारी परंपरागत आलोचना में कृति, भोक्ता व समीक्षक पर तो प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में पर्याप्त या विशद विचार किया गया है, किन्तु सर्जक के मन, उसकी चेतना और रचना-प्रक्रिया का सीधा विचार प्रायः नहीं मिलता। कवि या स्रष्टा के अन्तः व्यक्तित्व का सूक्ष्मतम विचार आज के आलोचना-क्षेत्र की एक बड़ी समस्या है क्योंकि समस्त सर्जन के विश्लेषण व मूल्यांकन का अन्तिम व विश्वसनीय आधार आज स्वयं स्रष्टा का मन ही रह गया है।

एक समस्या और दिखाई पड़ रही है। कला या साहित्य के क्षेत्र को आज कलासाहित्य बाह्य विधाओं या अनुशासनों ने आच्छादित सा करना आरम्भ कर दिया है। हम समाज-शास्त्रीय, मानसशास्त्रीय, ऐतिहासिक दृष्टियों का साहित्यालोचन में इतना आग्रह रखने लग गये हैं कि स्वयं साहित्य या काव्य, जो आलोच्य विषय ही है, और जिसकी मूल प्रकृति को ध्यान में रख कर ही आलोचना कर्म में प्रवृत्ति, हमारी प्रथम औचित्यपूर्ण व न्याय्य अपेक्षा है, पृष्ठभूमि में चला गया है अथवा उपेक्षित होता चल रहा है। यह स्थिति साहित्य के प्रति समीक्षक की आधारभूत निष्ठा की स्थिति, रक्षा व निर्वाह की दृष्टि से सर्वथा चिंत्य है। इस ओर से उदासीनता बढ़ने पर शनैः शनैः साहित्य का अपना निजी महत्व व व्यक्तित्व, विशेषतः अर्थशास्त्र व विज्ञान के युग में, क्षीण होकर विलुप्त भी हो सकता है। यों भी साहित्य व काव्य को कड़ी आँधियों के बीच पाँव जमाकर खड़े रहने में बड़ी मसक्कत पड़ रही है।

ऊपर हमने आलोचना की 'वस्तु' से सम्बन्धित कुछ अति महत्त्वपूर्ण समस्याओं को प्रस्तुत मात्र करने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार आलोचना के स्थापत्य व शिल्प विषयक भी अनेक समस्याएँ हैं जिन पर स्वतन्त्र व विस्तृत विचार कहीं अन्यत्र ही किया जा सकता है।

●

प्रो० आले अहमद सुरूर

उर्दू आलोचना के मूलभूत सिद्धान्त

उर्दू साहित्य में आलोचना पश्चिम की देन है। आलोचनात्मक ज्ञान पहले भी था। यह ज्ञान एक ओर कलाकारों के संकेतों और गूढ़ बातों में प्रदर्शित होता था और दूसरी ओर विवेचन की प्रशंसा अथवा निन्दा में। इसकी आवश्यकता उसी समय प्रतीत हुई जब १८५७ ई. के बाद जीवन की माँगों ने साहित्य की धारा को मोड़ा और साहित्य के अध्ययन के लिए एक नई दृष्टि की आवश्यकता पड़ी। विवेचनों में कला का विचार भद्र लोगों की कला का है। इनमें जो विचार झलकते हैं उन पर आदर्शवाद की छाप है। इसमें मानव-मैत्री, साधारण भावनाओं और अवस्थाओं का चित्रण और एक सांस्कृतिक रंग आरम्भ से ही था। वेदान्त ने इसे एक दर्शन दिया और एक शिष्ट व्यवस्था दी पर दरबार ने इसे सौन्दर्यचेतना प्रदान की। इस सौन्दर्य का क्षेत्र संकुचित होते हुए भी अपने स्थान पर प्रशंसनीय था। इसमें शब्दों की पच्चीकारी, मुहावरों की चुस्ती, आलंकारिकता और वर्णन की सरलता पर बहुत ध्यान दिया जाता था। सामूहिक रूप मे १८५७ ई. से पूर्व साहित्य का अपना कोई महत्त्व न था। यह कहानियों और जादूगरी के काम में आता था। इसमें आनन्द की प्रमुखता थी। परिज्ञान की परवाह नहीं की जाती थी। इस युग में विषय से अधिक विधा का महत्त्व था। गज़ल के फॉर्म का स्वरूप दूसरी विधाओं को भी प्रभावित करता था। मुशायरों की लोकप्रियता ने छिछली और सामने की बात का अधिक आदी बना दिया था। उसमें बनावटीपन और पैंतरेबाजी का महत्त्व था। कवि जमीन को आसमान बनाने पर गर्व करते थे। एक फूल के मजमून को सौ रंग से बांधते थे। अर्थात् विषयों की विविधता का प्रश्न

ही नहीं था। कविता अलंकारमयी थी। तज़्करों में कवियों पर विचार-चिन्तन इसी दृष्टि-कोण का परिणाम है। गुरु और शिष्य की परम्परा ने संगठित भाषा की परम्परा को बड़ा महत्त्व दिया था। भाषा के इस रख-रखाव में नवीनता और विचार की ताजगी की ओर कम ही ध्यान जाता है। संस्कृत का अल्पज्ञान और अन्य देशी भाषाओं से कम संबंध होने के कारण ईरानी लय लोकप्रिय थी और आलोचनात्मक विचार अधिकतर शायरी तक ही सीमित थे। गद्य की ओर आकर्षित होने का कोई प्रश्न ही नहीं था, रचनात्मक योग्यता, प्राकृतिक शैली, चलन से संबंध और श्रृंखलाबद्ध वर्णन पर बहुत कम ध्यान दिया जाता था।

सन् १८५७ के पश्चात् नयी समस्याएं जो उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही दिमागों में खटक रही थीं, कवियों और लेखकों की रचनाओं में आने लगीं। ऐतिहासिक दृष्टि से आजाद ने सर्वप्रथम नज़्म और छंदोबद्धकाव्य पर अपने विचार प्रकट किये। उन्होंने एक ओर कल्पना की उड़ान के स्थान पर वास्तविकता पर ध्यान दिया और दूसरी ओर फारसी की भाषा-शैली के स्थान पर हिन्दी भाषा की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। तीसरी ओर अंग्रेजी साहित्य से विभिन्न विषयों को सीखने पर बल दिया आजाद और हाली पर कर्नल हालराइडं और मेजर फ़ुलर का गहरा प्रभाव पड़ा है। 'अंजुमन पंजाब' के कवियों ने पश्चिम के प्रभाव से नज़्म के फ़ार्म की ओर ध्यान दिया। हाली और आजाद के वास्तविक वर्णन के प्रयत्न सर सय्यद के कथनानुसार ने चुरल शायरी के बाह्य पक्ष तक ही सीमित हैं। इसमें वह आन्तरिक पक्ष नहीं है जो प्रकृति की काल्पनिक व्याख्या से आता है, जिसके लिए शेक्सपीयर और मिल्टन विख्यात हैं। आजाद की हैसियत नवीन आलोचना में एक चोबदार की सी है जो होशियार और खबरदार के नारे लगाया करता है। सर सय्यद के पास जीवन के स्पष्ट विचार हैं जिनमें एक भावुक बौद्धिकता पश्चिम के व वैज्ञानिक नियमों विचारों और सांस्कृतिक कारनामों को ग्रहण करने में लीन हैं और एक मानसिक क्रान्ति के लिए नये साहित्यिक दृष्टिकोण और एक व्यावहारिक शैली पर बल देता है, पर साहित्य उनके मानसिक स्तर का एक अंग है, सम्पूर्ण नहीं। हमारे प्रथम महान् आलोचक हाली हैं जिनका न केवल ऐतिहासिक महत्व है वरन् साहित्यिक महत्त्व है। हाली ने शायरी और समाज के सीधे संबंध पर बल देकर साहित्य को एक सामाजिक उपकरण कहा है। उन्होंने शेर को बुद्धिमत्ता के समानान्तर ठहराकर उसे वास्तविकता का दूसरा रूप बताया है। आगे चलकर रिचर्ड्स ने विज्ञान और शायरी में इसी पक्ष पर बल दिया है। उन्होंने न केवल क़ाफ़िया और रदीफ़ के बन्धनों की कठोरता की बुराई की वरन् वज़न को भी अनावश्यक माना है। वह विचार कल्पना, ब्रह्माण्ड के अध्ययन और शब्दों की खोज की महत्ता को साबित करके शायरी में स्वतन्त्र कल्पना शक्ति पर पाबन्दी लगाते हैं। इसे विवेचन शक्ति के वश में रखना चाहते हैं। उनकी सरलता, वास्तविकता और उत्साह की कसौटियां जो मिल्टन के कथन की छिछली और अधूरी व्याख्या है हमारे लिए ज्यादा लाभदायक नहीं है। पर वास्तविकता के निरूपण में रिफ़ान्ड सेन्सबिलिटी (refined sensibility) की पुष्टि अवश्य करते हैं। हाली अपने दौर के सुधारवादी और नैतिकतावादी धाराओं से इतने प्रभावित थे कि शेर को

नैतिकता का प्रतिनिधि और सहायक मानने को भी तैयार थे । उन्हें शायरी के सौन्दर्य संबंधी अर्थ की गहराई का अनुभव न था। उनके सामने अंग्रेजी के दूसरे दरजे के आलोचक थे मगर सरलता पर बल देकर उन्होंने वर्ड्सवर्थ के काव्य के दृष्टिकोण की याद दिलाई और वास्तविकता के महत्त्व को स्पष्ट करके अपने आसपास की वास्तविकता का एहसास दिलाया। उन्होंने प्रकृति और मनुष्य के स्वभाव की समस्त संभावनाओं से काम लेने की ओर ध्यान दिलाया । यदि हाली पर आक्षेप करना हो तो हम कह सकते हैं कि उन्होंने शायरी में उद्देश्यपूर्णता और प्रचार के पहलू पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया और गजल के सुधार के लिए ऐसे सुझावों को दिया जो आज बड़ी हद तक मानने के लायक नहीं हैं। वह लखनऊ स्कूल की कला और विचार के साथ भी न्याय नहीं कर सके पर उन्होंने शायरी को बड़ी गंभीरता प्रदान की। उसे बीमार व्यक्तिवाद के दायरे से निकालकर स्वस्थ सामाजिक आन्दोलनों से परिचित कराया। कला के संबंध में उनके विचार की गहराई एक विस्तृत जीवन-दर्शन प्रस्तुत करती है। उनका ग़ज़ल के लिए यह कहना कि 'या तो इमारत में सुधार होगा या इमारत न होगी' उनकी परिपक्वता का प्रमाण है।

जो आलोचक सर सैयद की तहरीक से उभरे उनमें शिबली प्रमुख थे। वे ललित कलाओं का अच्छा ज्ञान रखते थे इसी कारण वह शायरी में प्रवाह से अधिक मधुरता को और सादगी के सामने 'अदा' पर ज्यादा जोर देते थे। एक आलोचक के कथनानुसार हाली के यहां शुष्क उपदेशों के लिये स्थान है पर शायराना झूठ के लिये नहीं। शिबली इस शायराना झूठ की मोहकता से परिचित है। सामाजिक और नैतिक विषयों पर हाली और शिबली दोनों ने जोर दिया है पर सौंदर्य पक्ष पर शिबली की दृष्टि अधिक है। हाली उन समस्त लोगों के निर्देशक बने जो शायरी के सामाजिक महत्व को मानते हैं और शिबली ने उन लोगों को सहारा दिया जो बीसवीं शताब्दी में प्रभाववादी माने जाते हैं। 'मेंहदी अफ़ादी' और सज्जाद अन्सारी शिबली को यों ही नही मानते।

उर्दू साहित्य में सर सैयद की तहरीक भारतीय नवजीवन की पैदावार है। यह नवजीवन सर्वप्रथम बंगाल में प्रकट हुआ । इस आन्दोलन को हर स्थान पर कुछ ऐसे महान् व्यक्ति मिले जो पश्चिमी विचारों के प्रभाव से हिन्दुस्तान में क्रान्ति करना चाहते थे। संस्कारों वश उनका ध्यान धर्म और रहन-सहन के सुधारों पर ही रहा और बाद में राजनैतिक प्रयत्नों पर गया। पर उन्हें अपने विचारों का प्रचार करने के लिये साहित्य के परम्परावादी विचारों की संकीर्णता और संकुचित दृष्टि को भी स्पष्ट करना पड़ा। इस तरह उन्होंने एक नए साहित्य की नींव डाली। हर रचना की परख के लिये एक आलोचना की आवश्यकता होती है। जिसमें आगे बढ़ने के लिये अतीत पर आलोचनात्मक दृष्टि डाली जाती है। निकट अतीत को छोड़कर दूर अतीत को और कुछ भूली-बिसरी परम्पराओं को ताजा किया जाता है और पुराने विचारों की काटछांट का कार्य आरम्भ किया जाता है। इस कार्य का प्रभाव भाषा पर भी पड़ता है। सर सैयद तहरीक ने न केवल बौद्धिकता, यथार्थप्रियता, उपयोगिता और सामाजिक आवश्यकताओं के महत्त्व को स्वीकार कराया वरन् उसने एक वैज्ञानिक भाषा बनाई और गद्य की एक महत्त्वपूर्ण पूँजी प्रदान की।

सर सैयद आन्दोलन के प्रभाव से एक नवीन पौर्वात्य चेतना उभरी। यह पौर्वात्य की भावना बड़ी भावुकतापूर्ण है पर यह पौर्वात्य भावना पश्चिम की आभारी है। इमदाद इमाम असर, 'चकबस्त' और मेंहदी अफ़ादी को अपनी साहित्यिक पूंजी से प्यार है। उनके यहाँ नैतिक और सुधारवादी मान्यताओं की पाबन्दी कम है। इमदाद इमाम असर संस्कृत काव्य की श्रेष्ठता को मानते हैं। ग़ज़ल को सुधारने के सम्बन्ध में उनके विचार हाली से भिन्न हैं। वह सुधारकों से प्रार्थना करते हैं कि वह अनुचित हस्तक्षेप न करें। चकबस्त और दाग़ की शायरी को वह विलासिता की शायरी कहने के बाद भी उसके गुणों को मानते हैं। वह लखनऊ स्कूल की कला और विचार की विशेषताओं को भी उभारते हैं। नये साहित्य से उनका प्रेम महत्वपूर्ण है। वहीदुद्दीन की पौर्वात्य भावना केवल अपनी पुरानी साहित्यिक पूंजी के दोषों को ही नहीं देखती वरन् मसनवी और रुबाई में निश्चित वज़न की पाबन्दी को दूर करने का प्रयत्न भी करती है। अब्दुल हक़ शोधकार्य से सहायता लेकर आलोचना की नींव रखते हैं। वह मीर के ग़म में विश्वव्यापी दुःखों की परछाइयाँ दिखाकर इस दुख को महत्ता प्रदान करते हैं। वह हाली की मान्यताओं को और अधिक गम्भीरता और महानता प्रदान करते हैं, वह पश्चिमी साहित्य की सहायता से समीक्षकों तथा समीक्षा को ऊंचा उठाते हैं। उन्होंने मुहम्मद कुली कुतुब, वली, मीर अम्मन, इन्शा की महत्वपूर्ण विशेषताओं को अपने युग के लिए बड़ी खूबी से समेट लिया है। पर वह आलोचक से ज्यादा स्कॉलर हैं और आलोचना में हाली के प्रभावों को भी बनाये रखते हैं। हसरत की नयी पौर्वात्य भावना पुरानी शायरी के अंधेरे भागों को प्रकाश देती है। मुसहफ़ी और क़ायम को उनका अधिकार दिलाती है और चुने हुए कलाम के माध्यम से रुचि को महान बनाती है, पर क्लासीकल आनबान को सर्वमान्य बनाकर संतुष्ट है।

नयी पौर्वात्य भावना 'मख़ज़न' के प्रभाव से कुछ और आज़ाद, रूमानी और नये बुतखानों की पुजारी बनती है। यह कलाकारों को खासी स्वतन्त्रता देती है और ललित कलाओं मे इश्क़ रखती हुई एक नवीन रूप में उभरती है। बिजनौरी के यहां इसने प्रशंसा में एक रचनात्मक श्रेष्ठता दिखाई है। 'महासने कलामे ग़ालिब' आलोचना नहीं पर पश्चिमी मान्यताओं के द्वारा अपने एक उच्चकोटि के शायर की विचारधारा को समझने का एक महत्वपूर्ण प्रयत्न है। बिजनौरी ने टैगौर की गीताजंलि और कलामे ग़ालिब दोनों के सम्बन्ध में शायर को पुनः प्राप्त करने की कोशिश की है। पवित्र आतिशखानों की आँच को पाठकों तक पहुँचाने के यह प्रयत्न विवेकयुक्त और शुष्क वैचारिकता के बहुत से प्रचारों से अच्छा है। ग़ालिब के काव्य में वैज्ञानिक चेतना की ओर संकेत उनके पारखी दृष्टिकोण को और भी महत्वपूर्ण बना देता है। अज़मतुल्ला के यहां उनके दौर के बिखरे हुए जलवे एक स्पष्ट दृष्टिकोण का रूप धारण कर लेते हैं। वह ब्रेडले की इस परिभाषा को मानते हैं कि काल्पनिक आकृतियों को जन्म देना शायरी है, उन्होंने उपमा को कविता की आत्मा स्वीकार कर लिया है। उनका विचार है कि शायर के पास वह जादू की छड़ी है जिसके उठते ही 'कुछ नहीं' से तस्वीरों का एलबम निकल आता है—उपमा है। वह कल्पना की अतिशयता के बुनियादी महत्व

की अनुभूति और अतीत की काव्य पूंजी, ख़ासतौर पर ग़ज़ल से अलगावों उनकी रूमानियत का परिणाम है क्योंकि यह बहरहाल कल्पना की पूजा का दूसरा नाम है। सौन्दर्यशास्त्र के अध्य-यन से उन्हें यह बात विदित हो गई थी कि सुन्दरता अनुरूपता और सुगठन का नाम है जिसमें समस्त पदार्थ मिलकर एकता प्रदान करते हैं। यह एकता फ़ार्म की है जो ग़ज़ल में नापैद है। इसी कारण वह 'हाली' और 'सलीम' की तरह ग़ज़ल में सुधार काफी नहीं समझते और साफ़ कहते हैं कि ग़ज़ल की गर्दन बेतकल्लुफ़ मार देनी चाहिए वह हमारी ऊरुज (छन्द सम्बन्धी) पाबन्दियों से परेशान हैं और पिंगल के अनुसार न केवल स्वयं नज़्में लिखते हैं वरन् उर्दू साहित्य में उसका प्रचार करना चाहते हैं। अज़मत इस प्रकार कविता के विषय और भाषा पर छाये हुए ईरानी प्रभाव को कम करके हिन्दुस्तानी विषयों और हिन्दी के शब्दों की लय बढ़ाना चाहते हैं और सॉनेट के दिलचस्प तजुर्बे भी करते हैं।

हमारे यहां रूमानी तहरीक नहीं वरन् रूमानी लहरें हैं जो आलोचना में प्रभाववादी रंग दिखाती हैं। न्याज, अबुल कलाम की तरह धार्मिक और साहित्यिक समस्याओं को सुलझाने में विवेक का सहारा लेते हैं और अदबे लतीफ़ ने उन्हें अपनी ओर खींचा और फिर वह साहित्य को ही पूजा समझते हैं। दिलचस्प बात यह है कि वह साहित्य में जाने-पहचाने सौन्दर्य के पुजारी हैं। शायद इस कारण कि वह अरबी और फ़ारसी साहित्य पर गहरी दृष्टि रखते हैं और इस दृष्टि ने उन्हें भाषा के सम्बन्ध में खासा कट्टर बना दिया है। वह विषय की ओर ध्यान नहीं देते वह केवल यह देखते हैं कि कवि जो लिखना चाहता है वह वास्तव में शब्दों द्वारा व्यक्त होता है या नहीं। मोमिन उन्हें इसलिए पसन्द है कि वह तगज़्ज़ुल के नियमों पर चलते हैं। नज़ीर के यहाँ उन्हें केवल चुटकलेबाजी दिखाई देती है। इसलिए यहाँ न्याज़ के असर से प्रभाववादी आलोचना का चलन बढ़ा पर बदलती हुआ सामाजिक चेतना ने इसका प्रभाव दृढ़ नहीं होने दिया। प्रभाववादी आलोचना में सामूहिक रूप से गर्मी तो है पर रोशनी कम है।

साहित्य के जैसे-जैसे नैतिक बन्धनों से स्वतन्त्रता मिलती जाती है, साहित्यिक आलोचना की उन्नति होती जाती है। पर प्रथम महायुद्ध के पश्चात् भारत के स्वतन्त्रता संग्राम ने जब जनतान्त्रिक रूप धारण किया और राष्ट्रीयता जागृत हुई तो राजनैतिक संघर्ष ने साहित्य पर भी प्रभाव डाला। आर्थिक सत्यों ने अपनी ओर आकर्षित किया। सस्ती भावुकता, बीमार रूमानियत और ह्रासोन्मुखी व्यक्तिवाद के खतरों का एहसास हुआ। राष्ट्रीयता की भावना ने अन्तर्राष्ट्रीय मान्यताओं की ओर ध्यान आकर्षित किया। जीवन की बढ़ती हुई पेचीदगी ने जीवन और साहित्य से सम्बन्धित नये प्रश्नों के उत्तर की आवश्यकता को अनुभव किया। इक़बाल ने अपनी भूमिकाओं में कला को बौद्धिक विचार का फ़ॉर्म ठहराया और विचार में गति, शक्ति और स्वाभिमान का झंडा उठाया पर प्रगतिशील आन्दोलन ने जो सर सैयद आन्दोलन के पश्चात् उर्दू साहित्य का दूसरा बड़ा आन्दोलन है उसने आलोचना को रचना के आश्रय से मुक्त करके साहित्य की निर्देशिका होने का दावेदार ठहराया। प्राचीन समीक्षा केवल कला की व्याख्या पर बल देती थी। रूमानी और भावात्मक

लहर ने कलाकार को भी महत्व दिया पर तरक्की पसन्दों ने पाठक की महत्ता को भी माना है। आलोचक को एक वैज्ञानिक कार्यक्रम प्रदान करने का प्रयत्न किया और आधुनिक ज्ञान की सहायता से साहित्य के अध्ययन में गहराई और नवीनता पैदा की।

तरक्कीपसन्द तनक़ीद की नींव प्रेमचन्द के अध्यक्षीय भाषण ने डाली। इससे पूर्व के लेख अधिकतर प्रचार सम्बन्धी हैं। प्रेमचन्द ने कहा कि साहित्यकार का उद्देश्य केवल आनन्द, मनोरंजन और सभाएँ सजाना नहीं है, वह राजनीति और देश प्रेम के पीछे चलने वाला सत्य नहीं वरन् उनके आगे रोशनी दिखाती हुई चलने वाली वास्तविकता है। इस प्रकार उन्होंने राजनीति और साहित्य के सम्बन्धों को ध्यान में रखकर और साहित्य के महत्वपूर्ण कार्यों को मानते हुए उसे एक 'शमां' बताया है जो जिन्दगी की राहों को रोशन करती है। उन्होंने यह भी कहा कि हमें सुन्दरता का स्तर बदलना होगा और इससे उनका आशय यह था कि सापेक्षता, अनुपात और आवाजों की एकता केवल जाने-पहचाने साँचों में नहीं वरन् जीवन में अनगिनत दृश्यों और व्यक्ति के कार्य-कलापों में भी झलकती है और हमारा कर्त्तव्य है कि हम आज के जीवन में सौन्दर्य के हर रंग को देखें और दिखाएं। प्रगतिशील आलोचना मार्क्सवादी नहीं है पर इस पर मार्क्सवाद का प्रभाव सबसे गहरा है। जब तक इसने प्राचीन साहित्य पर ध्यान नहीं दिया, सौन्दर्य नियमों को नहीं बरता, कला के दाव-पेंच को बुर्ज़ुआ जादूगरी कहकर याद किया, नये अनुभवों के शौक में संकेत पूजा को हाव देती रही और यथार्थवाद के नाम पर सैक्स की कीचड़ उछालती रही और बीमारियों की व्याख्या करती रही उस समय तक वह छिछली रही पर जब उसने प्राचीन साहित्य के महत्वपूर्ण अंगों से सम्बन्ध स्थापित किया, प्रेषण की समस्या पर ध्यान दिया, बीमार व्यक्तिवाद पर समाज की आवश्यकताओं की सीमा बनाई, अस्थायी घटनाओं के स्थान पर समसामयिक अभिरुचियों को समोने लगी, ग़ज़ल की अधिनायकता के खिलाफ़ आवाज़ उठाने लगी, कविता की रचनात्मक संभावनाओं और गद्य की व्यापक चेतना की ओर संकेत करने लगी तो इसने एक लाभदायक और महत्वपूर्ण कार्य किया। जिन्होंने तरक्कीपसन्द तहरीक को बढ़ावा दिया था उन लोगों में मजनूं, फ़िराक गोरखपुरी, एहतिशाम हुसैन, अब्दुल अलीम और मुमताज़ हुसैन के नाम उल्लेखनीय हैं। तरक्कीपसन्द तहरीक यदि क्षणिक राजनीति का इतना शिकार न होती, क्लासिक्स को वह मान्यता देती जो कि मार्क्स ने सिखाई थी, सौन्दर्य को वो उसी प्रकार अपनाती जिस प्रकार ल्युकास ने पश्चिमी यथार्थवाद के अध्ययन में अपनाया था; साहित्य से वैचारिक चेतना का काम लेती और उसे राजनैतिक प्रोपेगंडा के लिए प्रयोग न करती तो रूस में आधुनिक उर्दू साहित्य का इतना एकपक्षी तसव्वर न होता और हिन्दुस्तान में उसकी सेवा का बेहतर एहसास होता। फैज और फ़िराक पर सरदार जाफ़री के एतराज़ इसी छिछलेपन को व्यक्त करते है।

उर्दू में साहित्य और विज्ञान को निकट लाने में तरक्कीपसन्द तहरीक का बड़ा हाथ है। विज्ञान ने दैविक कल्पनाओं को गलत ठहराया है पर इसमें जो ऐतिहासिक सत्य है साहित्य उनके रहस्यात्मक संकेतों से बराबर काम चला सकता है। समाजशास्त्रीय ज्ञान को

उपदेशात्मक रूप में या ज्यों का त्यों प्रस्तुत करके साहित्य साहित्य नहीं रहता । इस ज्ञान को सौन्दर्य बोध और गहराई की आवश्यकता है। यह सौन्दर्यबोध और गहराई की आवश्यकता है। यह सौन्दर्य अर्थ या सौन्दर्यवादी मानवतावादी गहराई अभी आम नहीं, हां इसका एहसास कुछ लोगों के यहां अवश्य मिलता है।

सस्ते राजनैतिक स्पष्टीकरण और छिछले ज्ञान के दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया हमें पश्चिम के एक अनुयायी 'कलीमुद्दीन अहमद' के यहां मिलती है, जो रिचर्ड्स से प्रभावित हैं और लैविस के शिष्य हैं। रिचर्ड्स वैज्ञानिक आलोचना का ध्वज-वाहक और एक विश्वव्यापी प्रतिष्ठा के कारण उर्दू आलोचना को भी प्रभावित करने में सफल हुआ है। कविता के अनुभवों के लिए उसने मान्यता का जो मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, वह खासा अस्पष्ट है। पर अनुभव, अनुभवों की पहचान, मान्यताओं की खोज, व्यावहारिक आलोचना में मूल पर ध्यान का प्रभाव कलीमुद्दीन के अतिरिक्त इस युग के दूसरों आलोचकों पर भी पड़े हैं। पर कलीमुद्दीन के यहां रिचर्ड्स की वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक लीवस बुतशिकनी है। कलीमुद्दीन के यहां विश्वव्यापी मान्यताओं पर बल ठीक है, फ़ार्म का एहसास भी ठीक है पर भारतीय साहित्यों का गहरा अध्ययन और भारतीय संस्कृति का ज्ञान नहीं है। वह इस सम्पूर्णता का शिकार है जिसके खतरे की ओर ब्लेक ने संकेत किया था। एक कट्टर आदर्शवादी होने के नाते वह जीवन के दूसरे दृष्टिकोणों का निष्पक्ष और तटस्थ अध्ययन नहीं कर पाते हैं। इनके यहां सांस्कृतिक रुचि की शुद्धता के स्थान पर एक नीरस ज्ञान है जो मदरसे और धार्मिक शिक्षा स्थानों में चढ़ता है और जीवन को हिमालय की चोटी से देखने का आदी है फिर भी मैं उनकी मग़रिबियत को भावुक मशरीक़ियत से अच्छा समझता हूँ।

फ्राइड, एडलर और युंग के प्रभाव भी उर्दू आलोचना पर पड़े हैं। मीराजी और उनके साथियों ने फ्राइड के विचारों का सस्ता स्पष्टीकरण करके साहित्य आलोचना को केस हिस्ट्री बना दिया था। फ्राइड को भी आधुनिक मनोविज्ञान ने पीछे छोड़ दिया है पर हमारे यहां मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के द्वारा कलाकार के व्यक्तित्व की जटिलताओं को निश्चित करने का प्रयत्न अभी चल रहा है। वर्तमान युग में यह एहसास भी होने लगा है कि युग के विचार और माउडबाडकन के दृष्टिकोण पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है पर आधुनिक मनोविज्ञान ने जिस प्रकार कला के विश्लेषण पर ध्यान देना आरम्भ किया है और शब्द-अर्थ के रहस्यों की गिरह खोली है, मैं उसे अधिक महत्व देता हूँ।

आजादी के पश्चात् भारत और पाकिस्तान के उर्दू साहित्य में एक बुनियादी फ़र्क हुआ है। असकरी के एक हद तक रुग्ण व्यक्तिवाद ने साहित्य के लिए इन्सान के स्थान पर आदमी की पूजा आरम्भ करदी। यह आदमी फ्रान्सीसी प्रतीकवादियों से बहुत मिलता जुलता है। साहित्य में किसी दुमछल्ले को नहीं मानता। अचेतन और प्राकृतिक मांगों को मानव सभ्यता की उच्च मान्यताओं के मुकाबिले में अधिक प्रिय रखता है। पाकिस्तान में क्योंकि स्वस्थ चेतना के बिना खुले इज़हार पर पाबन्दियां हैं इसीलिए साहित्य की उन्नति के

नाम पर एक मरीज व्यक्तिवाद पर परवान चढ़ रहा है। जो साहित्य के कारनामों को फिक्रों और चुटकलों में ढरखा देता है। भारत में इसके विपरीत व्यक्तिपूजा का चलन बढ़ रहा है जिसने भारतीय साहित्य की बढ़ती हुई लोकप्रियता से ग़लत फ़ायदा उठाया है पर सामूहिक रूप से भारत में उर्दू आलोचना अब भी ख़ासी अव्यक्तिगत गम्भीर और उच्च विचारों और मान्यताओं का सहारा लेकर चलती है। तज़करों के कलात्मक स्तर के स्थान पर सर सैयद आन्दोलन ने एक उद्देश्ययुक्त, लाभदायक, नैतिक और सुधारवादी दृष्टिकोण पर ध्यान दिया। यह सब पश्चिम के प्रभाव का परिणाम है। इसी पश्चिम के प्रभाव ने फिर एक नयी मशरिक़ियत को हवा दी जो एक ओर अपनी साहित्यिक पूंजी को खंगालती रही और उसे ज्यादा महान् सिद्ध करती रही और दूसरी ओर रूमानियत की तरंग में यह कभी प्रभाववादी हुई और कभी अनुभववादी। फिर स्वतन्त्रता संग्राम और राजनैतिक दशाओं ने तरक्क़ीपसन्द तहरीक को जन्म दिया जिसका उद्देश्य स्पष्ट था पर जो सफल क्रियात्मक न होने पर भी अपने दायरे में ख़ासी आधुनिक और व्यापक चेतना रखती थी। इसकी प्रतिक्रिया के रूप में एक सस्ता मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आरम्भ हुआ जिसे शीघ्र ही गंभीर वास्तविक चेतना ने रोक दिया और दूसरी ओर विश्वव्यापी पैमानों का कट्टरता से अनुकरण किया गया। अब यह अनुभव होने लगा है कि साहित्य के प्रमुख दायरे और इसके बुनियादी तकाज़ों को मानते हुए हमें एक ऐसे नवीन सौन्दर्यशास्त्र की आवश्यकता है जिसमें समाजी और नैतिक मान्यताओं का एहसास हो और जो कला की बारीकियों और नज़ाकतों पर नज़र रखे पर उनमें बंध कर न रह जाय और जो अपनी धरती और अपने वातावरण में सम्बन्ध रखती हो। भाषा-विज्ञान की बढ़ती लोकप्रियता ने चलन और बोलचाल की भाषा को मान्यता दी है। रिसर्च ने साहित्यिक इतिहास को स्वस्थ बनाया है और भारत के संपूर्ण इतिहास पर तवज्जों ने अपनी सांस्कृतिक सामर्थ्य की अनुभूति के साथ भारतीय भाषाओं के एक दूसरे पर प्रभाव और अंग्रेजी के इन सब पर प्रभाव की महत्ता प्रदर्शित कर दी है।

आज आलोचना का कार्य रचनाओं को और चेतनशील और प्रशंसा को और अधिक रसात्मक बनाना है। आलोचना सांस्कृतिक इतिहास का एक अंश है। इसमें भारतीय संस्कृति की आत्मा का पूर्ण प्रदर्शन आवश्यक है। उर्दू इस दृष्टि से दूसरी भारतीय भाषाओं से अधिक भाग्यशाली है कि इसकी एशियाई तत्वों तक पहुंच और अन्तर्राष्ट्रीय विचारों का ज्ञान भी किसी से कम नहीं है। इस कारण मानसिक स्वस्थता का मानदंड बनाने के लिए इसे ऐतिहासिकता या सम्पूर्णता के स्थान पर पर्सप्रे के सहारे चलाना है और साहित्य की विधाओं के द्वारा सभ्य और प्रतिभा सम्पन्न मस्तिष्क की जलवागरी और मान्यताओं की जो व्यवस्था है और सौन्दर्य के जिस एहसास में वह झलकती है उसे आम करने के लिए सांस्कृतिक रुचि का प्रचार करना और जीवन की बसीरत को बढ़ाना है।

—कु. कैसर जहाँ द्वारा अनूदित

●

श्री शैलेश ज़ैदी

उर्दू आलोचना का विकास

उर्दू साहित्यालोचन के सम्पूर्ण इतिहास को सुविधा की दृष्टि से चार प्रमुख वर्गों में रखा जा सकता है। एक रुढ़िगत, दूसरा नवजागरणकालीन, तीसरा प्रगतिवादी और चौथा विविध। यहां पर इन्हीं चार वर्गों के प्रकाश में उर्दू आलोचना का एक समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना अभीष्ट है।

रूढ़िगत आलोचना

रूढ़िगत आलोचना से लेखक का अभिप्राय उस आलोचना से है जो गंभीर तत्वचिंतन से हीन फ़ारसी साहित्य की रूढ़िवादी परम्परा पर आधृत थी। यूं तो स्वयं उर्दू भाषा का इतिहास छै सात सौ वर्षों से कम प्राचीन नहीं है किन्तु उसका स्वस्थ साहित्यिक जीवन सत्रहवीं शताब्दी ई. से प्रारम्भ होता है। कला और चिन्तन की स्वस्थ और साहित्यिक परम्परा अरबी और फ़ारसी भाषाओं में बहुत पुरानी थी। किन्तु उर्दू ने अपने आविर्भावकाल में अरबी साहित्य से विशेष लाभ नहीं उठाया। संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं की ओर भी उसकी दृष्टि अधिक नहीं जा सकी। उर्दू को इन भाषाओं के काव्यशास्त्र का केवल उतना ही ज्ञान था जो फ़ारसी के माध्यम से उस तक पहुँचा। आदिलशाह कृत नीरस और इसी प्रकार की दो एक और काव्य कृतियां अपवाद स्वरूप हैं।

अरबों के पास आलोचनाशास्त्र सम्बन्धी एक प्राचीन परम्परा थी। किन्तु फ़ारसी साहित्य अपने अनेक सैद्धांतिक विरोधों के कारण उससे लाभान्वित न हो सका। उर्दू साहित्य ने फ़ारसी की शरण ली, उसकी परम्पराओं का अनुकरण किया और फ़ारसी के माध्यम से

प्राप्त आलोचना के मापदण्डों के प्रकाश में उर्दू काव्य को परखने और देखने का प्रयास किया। फलस्वरूप उर्दू आलोचना अपने आविर्भावकाल में फ़ारसी के ही समान एक विशिष्ट समाज की पैदावार होने के कारण सीमित तथा संकीर्ण सी दृष्टिगत होती है।

उर्दू आलोचना ने मुशायरों के प्रांगण में आँखे खोलीं। उसकी कई कड़ियाँ उन प्रशंसात्मक शब्दों से जाकर मिलती हैं जो एक कवि दूसरे कवि का शेर सुनकर 'वाह-वाह' के रूप में प्रस्तुत करता था। आगे चलकर इसी परम्परा ने फ़ारसी के अनुकरण पर तज़किरों का रूप धारण कर लिया। मुशायरों में कवियों की केवल प्रशंसा ही नहीं होती थी अपितु काव्यगत दोषों को लेकर आक्षेप भी होते थे। इससे इतना सहज ही ध्वनित होता है कि मुशायरों में सम्मिलित कवियों तथा श्रोताओं में आलोचनात्मक चेतना आंशिक रूप में अवश्य विद्यमान थी। यह और बात है कि इस समय तक आलोचक की दृष्टि काव्य के कलापक्ष तक ही सीमित थी। भाषा और शैली पर जिस कवि का जितना ही अधिकार होता था उसके श्रेष्ठ होने का पैमाना भी उसी अनुपात से घटता और बढ़ता था। यद्यपि किसी भी रचना के सौंदर्य के लिये भाषा तथा शैली का सशक्त होना आवश्यक है किन्तु केवल ये ही वे तत्व नहीं हैं जो काव्य-सौंदर्य का बोध करा सकें।

उर्दू के कुछ एक कवियों ने सुन्दर तथा श्रेष्ठ काव्यकृति की विशेषताओं का संक्षिप्त विवेचन करके सौंदर्य-बोध कराने का प्रयास अवश्य किया है। विशेष रूप से दक्खिनी कवि मुल्ला वजही ने अपनी मसनवी "कुतुबे मुश्तरी" में अच्छे और बुरे शेर की परख के विषय में बड़े ही संतुलित विचार व्यक्त किये हैं।[1] उनकी दृष्टि में किसी भी रचना का सौंदर्य उसके विस्तार अथवा फैलाव में नहीं है। कम से कम शब्दों में अच्छे से अच्छे भाव व्यक्त कर देना ही वे श्रेष्ठ कवि की कला मानते हैं। शब्द और अर्थ का पारस्परिक सम्बन्ध तथा शब्दों में अर्थध्वनन की क्षमता भी वजही के निकट अच्छे शेर के लिये आवश्यक है। शेर में सरलता तथा प्रवाह का होना भी वह अपेक्षित समझते हैं।

वजही के अतिरिक्त और भी अनेक कवियों ने काव्यांगों का विवेचन अपनी कविता में किया है। वली के निकट उर्दू कविता का स्तर फ़ारसी के आचार्य कवियों जैसा होना चाहिये था। वे शेर में चमत्कारिकता के साथ ही साथ प्रभावोत्पादकता को भी आवश्यक समझते हैं और उच्च भावों तथा विचारों के साथ शैली के माधुर्य के भी क़ायल हैं। मीर ने भी आगे चलकर इसी से मिलते-जुलते विचार व्यक्त किये हैं। किन्तु व्रजभाषा के कवियों के समान उर्दू के किसी भी कवि ने सम्भवत: काव्यांग-विवेचन को अपना वर्ण्य विषय नहीं बनाया। फलस्वरूप काव्यविषयक उर्दू कवियों के विचार बहुत स्पष्ट तथा सूक्ष्म रूप से प्रकट न हो सके।

उर्दू आलोचना की उक्त परम्परा ने शीघ्र ही कविता के माध्यम से निकलकर गद्य का आश्रय लिया। इस प्रकार उर्दू शायरी से सम्बन्धित फ़ारसी और उर्दू भाषाओं में तज़किरों की एक परम्परा सी चल निकली। इन तज़किरों की एक बहुत बड़ी संख्या है। उल्लेखनीय

१—डा. अबुल्लेस सिद्दीक़ी, उर्दू ग़ज़ल, निगार ख़ास नम्बर १९४४ ई.

तज़किरों में—मीर तकी मीर कृत "नुकातुश्शुअरा", मीर हसन कृत "तज़किरा शुअराए उर्दू" मुसहफ़ी कृत "तजकिरए हिन्दी", और 'रियाजुलफ़ुसहा", कायम कृत "मख़ज़ने नकात", मीरज़ा लुत्फ़ अली कृत "गुलशने हिन्द", गरद्रेजी कृत "तज़किरएरेख्ता-गोयां", कुद्रतुल्लाहखां कृत "मजमूअए नग्ज़", शफ़ीक़ कृत "चमनिस्ताने शुअरा" तमन्ना औरंगाबादी कृत "गुले-अजाइब", शेफ़ता कृत "गुलशने बेख़ार", करीमुद्दीन कृत "तबक़ातुश्शुअरा", साबिर कृत "गुलिस्तानेसुख़न" तथा लाला श्रीराम कृत "खुमखानए-जावेद" के नाम लिये जा सकते हैं।

सामान्यत: इन तज़किरों में तीन बातें पायी जाती हैं—एक तो कवि का संक्षिप्त जीवन दूसरे उसकी रचनाओं का संक्षिप्त समीक्षात्मक परिचय और तीसरे उसकी रचनाओं के उद्धरण। तज़किरा लिखने वालों ने तज़किरों की संक्षिप्त प्रतिपादन शैली के कारण आलोच्य कवि तथा उसकी रचनाओं का सविस्तार अध्ययन नहीं किया है किन्तु संक्षेपीकरण की इस प्रवृत्ति के प्रकाश में प्रोफेसर कलीमुद्दीन अहमद की तरह यह राय कायम कर लेना उचित नहीं प्रतीत होता कि उर्दू तज़किरों में आलोचना का सर्वथा अभाव है। जो लोग उर्दू साहित्या-लोचन को उसकी बाल्यावस्था में ही प्रौढ़ देखना चाहेंगे उन्हें निश्चय ही निराशा होगी। किन्तु एक संतुलित दृष्टि के साथ यदि उर्दू तज़किरों में समालोचनात्मक तत्व तलाश किये जायेंगे तो कुछ संतोष अवश्य होगा।

तज़किरों के झुरमुट में छिपी हुई उर्दू आलोचना ग़दर के पश्चात् एक खुले हुए वातावरण में आयी। यहां आकर उसका रूप अपेक्षाकृत निखरा और अब वह दूर से तो नहीं किन्तु थोड़ा भी निकट आने पर आसानी से पहचानी जा सकती थी। सामाजिक जीवन में जो परिवर्तन हुए उनसे अप्रत्यक्ष रूप में ये भी प्रभावित हुई। आलोचकों की दृष्टि अब साहित्य के बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा आन्तरिक सौन्दर्य पर पड़ने लगी। काव्य को देव वाणी समझने के स्थान पर सामाजिक जीवन की उपज समझा गया, और समाज सुधार को उसका अन्यतम उद्देश्य माना गया। सर सैयद अहमदखां ने "तहज़ीबुल इखलाक़" उर्दू मासिक के माध्यम से सर्वप्रथम इस प्रकार के विचारों का प्रकाशन किया और स्वयं भी इस दिशा में प्रवृत्त हुए। किन्तु आज़ाद, हाली और शिबली ने इस क्षेत्र में विशेष रुचि ली।

नवजागरणकालीन आलोचना

१९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक जीवन में जो परिवर्तन हुए उन पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। राजा राम मोहन राय, केशवचन्द्र सेन, सर सैयद, चिराग़ अली आदि बुद्धिजीवियों के प्रयास से संपूर्ण भारतीय समाज में एक नवजागरण की लहर सी दौड़ गयी थी। विचार और चिंतन के नये द्वार मानसिक स्तर पर जनसामान्य को एक काल्पनिक क्रान्ति की ओर अग्रसर कर रहे थे। समाज में व्याप्त समस्याओं के अनुरूप साहित्य का करवट लेना स्वाभाविक था। साहित्य पर चिंतन और कल्पना का जादू बड़े ही अनोखे रूप में चलता है। फलस्वरूप उर्दू साहित्यालोचन ने भी सामाजिक पेचीदगियों के अनुरूप नवीन मूल्यों को स्वीकार किया। मुहम्मद हुसैन आज़ाद के वक्तव्य "नैरंगे ख़याल" की भूमिका तथा 'आबे-हयात' ऐसी ही साहित्यिक

कृतियां हैं जिनमें आलोचना का एक नवीन स्वरूप स्पष्ट परिलक्षित होता है। इसको वैयक्तिक रुचि का द्योतक नहीं कहा जा सकता, इसमें ऐतिहासिक तथा सामाजिक अनुभूतियों की धड़कनें सुनायी पड़ती हैं। यही कारण है कि आबे-हयात उर्दू कवियों का तज़किरा होते हुए भी तज़किरों की प्राचीन परम्परा से सर्वथा भिन्न है। इसमें आज़ाद ने कविता को कवि के विवेक के साथ एकस्वर करने का प्रयास किया है और उर्दू आलोचना को एक नये वातावरण में विचरण करने का मौन निमंत्रण दिया है। आज़ाद कविता का जीवन के भौतिक परिवर्तनों से संबद्ध समझते हैं किन्तु उनका स्वर कुछ दबा-दबा सा है। हाली के यहां यही स्वर तीव्र हो जाता है।

हाली उर्दू के प्रथम समालोचक हैं जिन्होंने आलोचना विषयक मुक़द्दिमए-शेरो-शायरी" नामक एक स्वतंत्र पुस्तक लिखी। उनकी अन्य पुस्तकों में भी उनकी आलोचनात्मक दृष्टि यत्र-तत्र प्रतिबिंबित हुई है। "यादगारे ग़ालिब", "हयाते-जावेद" और "हयाते सादी" आदि पुस्तकें यद्यपि जीवनचरितात्मक पद्धति पर लिखी गयी हैं किन्तु आलोचना पक्ष इनमें भी सबल होकर उजागर हुआ है। 'मक़ालाते हाली' के नाम से हाली के निबंधों का संग्रह भी अंजुमन तरक्क़ीए उर्दू की ओर से दो खण्डों में प्रकाशित हुआ है। ये निबंध हाली की संतुलित आलोचना दृष्टि और चिंतन के परिचायक कहे जा सकते हैं।

हाली के आलोचनात्मक विवेक को परिपक्व एवं सशक्त बनाने में सर सैयद, ग़ालिब और शेफ़ता का भी विशेष हाथ है। सर सैयद के प्रभाव को हाली ने बड़ी गहराई के साथ ग्रहण किया। उनके अन्दर जीवन और साहित्य के मन्थन का वह विवेक सिमट कर आगया था जिसे स्वयं सर सैयद भी व्यावहारिक रूप देने में असमर्थ थे। ग़ालिब हाली के काव्य-गुरू थे। ग़ालिब के सम्पर्क में आने से उन्हें काव्य के मर्म को समझने में और उस पर विचार करने में सुविधा हुई। शेफ़ता ने हाली को और भी प्रभावित किया। शेफ़ता के संपर्क ने न केवल हाली के आलोचनात्मक विवेक को स्वस्थ बनाया अपितु उनके कतिपय आलोचना सिद्धान्त भी शेफ़ता के प्रभाव का परिणाम हैं।

हाली की दृष्टि में अन्य ललित कलाओं की भांति काव्य का भी अपना एक प्रयोजन है। अपने इस मत में वे प्लेटो से विशेष प्रभावित हैं। किन्तु वे काव्य को जन सामान्य से अलग करके देखने के पक्ष में नहीं हैं। वे श्रेष्ठ कवि में तीन बातों का होना अपेक्षित समझते हैं—एक कल्पना शक्ति, दूसरे सृष्टि का अध्ययन और तीसरे उपयुक्त शब्दों के प्रयोग की क्षमता। सृष्टि के अध्ययन से हाली का अभिप्राय प्राकृतिक दृश्यों का अध्ययन ही नहीं अपितु मानव प्रकृति की सूक्ष्म अनुभूति भी है। इसके अभाव में कल्पना शक्ति का प्रयोजन उनके निकट शून्य हो जाता है। हाली शेर में सरलता, यथार्थता और प्रभावोत्पादकता के भी कायल हैं। उन्होंने पश्चिमोत्तर आलोचना सिद्धान्तों का भी गंभीर अध्ययन किया है। वे अरबी समालोचकों में—अस्मयी, इब्ने रशीक़ और जुबेर इब्ने सलमा आदि के प्रभाव से नहीं बच सके हैं। किन्तु पाश्चात्य समालोचना को उन्होंने अधिक पूर्ण तथा वैज्ञानिक समझते हुए प्राथमिकता दी है।

आज़ाद और हाली के बाद नवजागरणकालीन उर्दू आलोचकों में तीसरा प्रमुख नाम शिवली का आता है। वे भी अपने समय की सामाजिक परिस्थितियों से विशेष प्रभावित थे और उन पर भी हाली ही के समान सर सैयद के व्यक्तित्व की गहरी छाप थी। उनकी कृतियों में शेरुल्अजम, मवाज़ना अनीस-ो-दबीर और 'सवानेह मौलना रूम' उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त इनके निबन्धों और पुस्तक समीक्षाओं का भी एक विशेष महत्व है।

शिबली के आलोचना-सिद्धान्तों का समुचित परिचय 'शेरुलअजम' के चतुर्थ भाग से मिलता है। इस पुस्तक के अन्तर्गत शिबली ने फ़ारसी काव्य के क्रमिक विकास का अध्ययन किया है। व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक आलोचना की दृष्टि से इसका एक विशेष महत्व है। इसमें शिबली ने कहीं पर व्याख्यात्मक तथा ऐतिहासिक पद्धति का आश्रय लिया है तो कहीं पर जीवन चरितात्मक पद्धति का। 'मवाज़ना अनीस-ो-दबीर' उर्दू के दो श्रेष्ठ मरसियागो कवियों—मीर अनीस और मिरज़ा दबीर—का तुलनात्मक अध्ययन है। इसके अन्तर्गत शिबली ने अपने आलोचना सिद्धान्त के प्रकाश में उक्त कवियों के काव्य-सौष्ठव का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। शिबली ने इस कृति के द्वारा हाली की व्यावहारिक आलोचना पद्धति को काफी आगे बढ़ाया है। उनकी व्यावहारिक आलोचना हाली से कहीं अधिक उत्कृष्ट और महत्वपूर्ण मानी जाती है। वे पश्चिमोत्तर आलोचना पद्धति की त्रुटियों और दुर्बलताओं का पूरा ज्ञान रखते हैं। पाश्चात्य आलोचना पद्धतियों का भी शिबली को हाली की तुलना में अधिक ज्ञान है। शिबली की संयमित प्रकृति उनकी समालोचना में भी झलकती है। उनमें एक गंभीर ऐतिहासिक और सामाजिक चेतना है। वे जीवन के सौन्दर्य-मूलक तत्वों के प्रति गहरी आस्था रखते हैं। उन्होंने जीवन को बहुत निकट से देखा है। यही कारण है कि उन्होंने जीवन के उतार–चढ़ाव और उसके रहस्यों को जानने और समझने में विशेष रुचि ली है। उन्होंने काव्यांगों का विवेचन भी किया है और कवियों पर आलोचनाएं भी लिखी हैं। काव्य रचना का स्रोत उनकी दृष्टि में बौद्धिकता नहीं अनुभूति है। अनुभूति अथवा एहसास से शिबली का अभिप्राय मनोभाव अथवा मनोविकार है। वे इस बात को स्पष्ट करने के लिए लिखते हैं—जब उसे–मनुष्य को कोई मोवस्सिर वाक़ेआ (प्रभावपूर्ण घटना) पेश आता है तो वह—मनुष्य—मुतास्सिर हो जाता है। ग़म की हालत में सदमा होता है, खुशी में सुरूर होता है, हैरत अंगेज़ बात पर तअज्जुब होता है—यही कूवत जिसको इहसास, इनफेआल या फीलिंग से ताबीर कर सकते हैं, शायरी का दूसरा नाम है। यानी यही इहसास जब अलफ़ाज़ का जामा पहन लेता है तो शेर बन जाता है।"[१] शिबली की यह धारणा भारतीय रस सिद्धान्त के बहुत निकट है। इहसास को अलफ़ाज़ का जामा पहनाने में एक पूरा वृत्तिचक्र छुपा हुआ है जिसके अन्तर्गत आचार्य शुक्ल के शब्दों में प्रत्यय (Cognition)–अनुभूति (Feeling)–इच्छा–(Conation)–गति या वृत्ति–(Tendency) और शरीर धर्म –(Symptoms)—सबका योग रहता है। इसी संदर्भ में शिबली ने तख़ईल अथवा कल्पना

१ : शिबली, शेरुल अजम, जिल्द ४, पृ. २

शक्ति का भी सूक्ष्म विवेचन किया है। उनकी दृष्टि में दर्शन और काव्य दोनों में ही कल्पना शक्ति समान रूप से अपेक्षित है। यही कल्पना शक्ति जो एक ओर दर्शन में समस्याओं की गवेषणा और अनुसंधान का काम करती है दूसरी ओर कविता के सृजन में काव्यात्मक भावों को जन्म देती है। कल्पना शक्ति शिवली के निकट कविता में प्रभाव का जादू भर देती है। किन्तु वे कल्पना का जीवन के तथ्यों अथवा यथार्थ जीवन के साथ कहाँ तक सामंजस्य है इस पर भी विशेष ध्यान रखते हैं।

सारांश यह है कि उर्दू आलोचना के क्रमिक विकास में आज़ाद और हाली की ही भांति शिवली का भी महत्वपूर्ण योगदान है। शिवली का महत्व हाली से किसी प्रकार भी कम नहीं है। उन्होंने उर्दू आलोचना को एक जीवन दिया है, एक दृष्टि दी है और पहली बार सैद्धान्तिक आलोचना से परिचित कराया है।

आज़ाद, हाली और शिवली ने उर्दू साहित्यालोचन का एक ऐसा वातावरण उत्पन्न कर दिया कि इस दिशा में साहित्यकारों की रुचि दिन प्रति दिन बढ़ती ही गयी। उर्दू की पत्रिकाओं में समालोचनात्मक निबन्धों का अपूर्व स्वागत हुआ और प्रकाशकों ने इस प्रकार के निबन्धों के अनेक संकलन प्रकाशित किये जिससे उर्दू समालोचकों का पर्याप्त उत्साह-वर्द्धन हुआ। बीसवीं शताब्दी ईस्वी के प्रारंभिक तीन दर्शकों में आज़ाद हाली और शिवली के प्रभाव से वहीदुद्दीन सलीम, इमदाद इमाम असर और मिहदी इफ़ादी जैसे चिंतनशील समालोचक प्रकाश में आये। इसी समय डा० अब्दुलहक़, प० कैफी, सैयद सुलेमान नदवी और मौलाना अब्दुलमाजिद दरियावादी आदि ने भी समालोचना के क्षेत्र में पदार्पण किया। उक्त समालोचकों ने पुस्तक समीक्षा, गवेषणा तथा विशुद्ध आलोचना की दिशा में यथेष्ट कार्य किया।

वहीदुद्दीन सलीम हाली से बहुत अधिक प्रभावित थे। इनके आलोचनात्मक निबन्धों का संग्रह 'इफ़ादाते सलीम' के नाम से प्रकाशित हुआ। इनकी दृष्टि में साहित्य में सत्यता और यथार्थता के साथ ही साथ मौलिकता का भी योग होना चाहिए। कविता में भाव-सौन्दर्य पर अधिक बल देते हुए ये उसमें कवि के जीवन की छाया भी देखना चाहते थे। काव्य में कल्पना को भी इन्होंने महत्व दिया है किन्तु इनकी दृष्टि में कवि की कल्पना राष्ट्रीय वातावरण के अनुकूल होनी चाहिए।

इम्दाद इमाम असर ने उर्दू साहित्यालोचन पर 'काशिफ़ुल हक़ायक़' नामक एक पुस्तक लिखी है। यह पुस्तक व्यावहारिक आलोचना की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। उर्दू शायरी को फ़ारसी का अनुकरण करते हुए देखकर उन्हें दुःख हुआ है। उनकी दृष्टि में उर्दू को संस्कृति के सुमधुर काव्य से लाभान्वित होना चाहिए था। कविता में सरलता, बोध-गम्यता तथा प्रवाह को देखकर वे मुग्ध होते हैं किन्तु ऊहा तथा अतिशयोक्ति से उन्हें गंभीर चिढ़ है। उनके निकट उनकी समालोचना वैयक्तिक है। उन्होंने शिवली के समान तुलनात्मक समालोचना में भी गंभीर रुचि ली है। अनेक स्थलों पर उनकी आलोचना आत्मगत प्रतीत होती है।

मिहदी इफ़ादी के आलोचनात्मक निबन्धों का संग्रह 'इफ़ादाते मिहदी' के नाम से प्रकाशित हुआ है। हाली के समान ये भी एक प्रगतिशील समालोचक थे और पाश्चात्य

आलोचना से हाली की अपेक्षा अधिक प्रभावित थे। उनकी दृष्टि में समालोचक की चित्त-वृत्ति यदि उपयुक्त हो तो आलोचना का कार्य पाश्चात्य समालोचकों का आश्रय लेकर करने का है। वे साहित्य में विचारों की मौलिकता, सशक्त अभिव्यक्ति और ललित शैली को विशेष महत्व देते हैं। कविता के विषय में उनका दृष्टिकोण शिबली से भिन्न नहीं है। वे साहित्य को गतिशील समझते हैं। परिस्थितियों के परिवर्तन के अनरूप चितवृत्तियों में परिवर्तन का होना वे सहज और स्वाभाविक समझते हैं। किन्तु उनमें एक बड़ा दोष यह है कि वे कहीं कहीं इतना विषयान्तर में चले जाते हैं कि उनकी आलोचना का आलोच्य-विषय से कोई संबंध नहीं रह जाता।

डा. अब्दुलहक़ मूलतः अनुसंधाता थे किन्तु साहित्यालोचन में भी उनकी पर्याप्त रुचि थी। उनके व्यक्तित्व पर हाली की गहरी छाप थी। साहित्यालोचन के क्षेत्र में भी उनका आधार हाली ही थे। आलोचना संबंधी उनकी कोई स्वतंत्र पुस्तक नहीं है। केवल कुछ निबंध, पुस्तक समीक्षाएं और पुस्तकों पर मुक़द्दिमा के रूप में लिखी गयी कुछ भूमिकाएं हैं जो उनकी वैज्ञानिक आलोचना दृष्टि की परिचायक हैं। उनकी भाषा विषयक रुचि कहीं-कहीं पर उनके आलोचनात्मक निबंधों में बहुत गहरी होगयी है। उनकी आलोचना का एक वृहत् भाग भाषा सुधार के लिए था। प्रोफ़ेसर शीरानी की 'पंजाब में उर्दू' नामक पुस्तक पर उनकी समीक्षा इस दृष्टि से विशेष महत्व रखती है। उनके हाथ में पुस्तक समीक्षा छिछली प्रशंसा से उठकर निष्पक्ष मूल्यांकन की स्थिति तक पहुंच गयी। वैसे भी उनकी समालोचना खरी और पैनी है। उनके यहाँ साहित्य की सूक्ष्म दृष्टि का अभाव खटक सकता है किन्तु उनके सात्विक आचार की शुद्ध प्रेरणा इस अभाव की पूर्ति सी कर देती है। उनकी आलोचना के मानदण्ड प्राचीन ही हैं किन्तु उनका परिधान कुछ वैज्ञानिक ढंग का प्रतीत होता है।

पं. कैफ़ी भी उर्दू के एक श्रेष्ठ आलोचक हुए हैं। उनकी दो पुस्तकें 'मनशूरात' और 'कैफ़ियः' तथा कुछ अन्य स्फुट निबंध उनकी आलोचनात्मक प्रतिभा का सम्यक् परिचय देने के लिए पर्याप्त हैं। वे रिचर्ड्स, लेविस और ईलियट आदि पाश्चात्य समालोचकों से प्रभावित हुए हैं किन्तु उनके सिद्धान्तों को पूर्णतः शुद्ध नहीं समझते। वे पाश्चात्य प्रभाव के विरोधी नहीं किन्तु अन्धानुकरण के विरोधी हैं। उनकी आलोचना पाश्चात्य तथा परम्परागत उर्दू आलोचना का संगम सा प्रतीत होती है। और इस दृष्टि से उनका एक विशेष महत्व है।

महमूद शेरवानी तथा हबीबुर्रहमान शेरवानी की आलोचना कृतियां भी महत्वपूर्ण है। वस्तुतः ये दोनों ही विद्वान अनुसंधाता थे और हाली तथा शिबली का प्रभाव इन पर भी बहुत गहरा था। महमूद शीरानी ने व्यावहारिक आलोचना में विशेष योग नहीं दिया है। किन्तु हबीबुर्रहमान ने इसे प्रगति मार्ग पर अग्रसर करने का भरसक प्रयत्न किया है।

प्रोफ़ेसर मसअद हुसैन रिजवी अदीब की ख्याति उर्दू में अनुसंधाता तथा आलोचक दोनों ही रूपों में है। आलोचना सिद्धान्त पर उनकी एक पुस्तक हमारी शायरी के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अन्तर्गत उन्होंने उर्दू कविता को लेकर किये जाने वाले आक्षेपों का

तर्कयुक्त उत्तर दिया है। वे कविता को केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं समझते उनकी व्यावहारिक आलोचना पर पश्चिमोतर आलोचना का रंग गहरा है किन्तु उनकी दृष्टि कहीं भी अवैज्ञानिक नहीं होसकी है। उनके निर्णय बहुत ही संतुलित होते हैं। इस विशेषताओं के कारण वे अपने ढंग के एक अद्वितीय समालोचक समझे जाते हैं।

उपर्युक्त आलोचकों के साथ ही हामिद हसन कादिरी, सुलेमान नदवी, अब्दुलमाजिद दयांबादी ज़फ़फ़र अली खां और वहशत का भी नामोल्लेख किया जा सकता है। इन समालोचकों ने यद्यपि उर्दू साहित्यालोचन को कोई नवीन दृष्टिकोण नहीं दिया किन्तु नव विकसित व्यावहारिक आलोचना को सशक्त अवश्य बनाया। क़ादिरी की पुस्तकें–"नक्दो-नज़र","तारीखे-दास्ताने-उर्दू" और "तनकीदे-आबेहयाति-उर्दू" महत्वपूर्ण हैं। सुलेमान नदवी की 'नुकूशे सुलेमानी' में संगृहीत निबंध यद्यपि शिबली के अनुकरण पर ही लिखे गये हैं किन्तु नवीन परिधान में होने के कारण अहम कहे जा सकते हैं। दरियाबादी की मज़ामीन अब्दुलमाजिद दरियाबादी और मक़ालाते माजिद आदि पुस्तकें अपनी शैली की दृष्टि से उपादेय कही जा सकती हैं। ज़फ़र अली खां की 'दीवाने वहशत' की समीक्षा व्यावहारिक आलोचना की दृष्टि से एक अहम कृति है। वहशत एक संतुलित दृष्टि रखते थे। 'मखज़न' में प्रकाशित उनके आलोचनात्मक निबंध काफ़ी ठोस और सशक्त हैं। इन सभी समालोचकों के यहां पाश्चात्य समालोचना का प्रभाव लगभग उतना ही है जितना आज़ाद हाली और शिबली की कृतियों में पाया जाता है।

प्रगतिवादी आलोचना

उर्दू में प्रगतिवादी आलोचना का आविर्भाव यद्यपि सर सैयद हाली और शिबली के समय से ही हो गया था किन्तु उसका वास्तविक रूप सन् १९३५ई. के पश्चात् ही लक्षित हो सका। इससे पूर्व उर्दू समालोचना हिन्दी की भांति एक प्रकार की कुत्सित समाजशास्त्रीय सीमाओं में आबद्ध सी दृष्टिगत होती हैं। हाली तथा शिबली की समीक्षाओं में प्लेखानोव तथा कॉडवेल का प्रभाव भले ही स्पष्ट न हो किन्तु १९३५ ई. के बाद के प्रगतिशील कहलाने वाले अनेक उर्दू समालोचकों के यहां इनका प्रभाव बहुत गहरा और स्पष्ट है।

उर्दू के प्रगतिवादी आलोचकों ने साहित्य को जीवन के चित्रकार के रूप में ही नहीं देखा अपितु मानव जीवन की सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं के प्रति संवेदना तथा सहानुभूति को भी उसके लिए आवश्यक समझा। भौतिकवाद, साम्प्रदायिक संघर्ष तथा सामाजिक उथल-पुथल आदि को दृष्टि में रखकर साहित्य की समस्याओं पर विचार किया गया। कला तथा साहित्य के विभिन्न पक्षों से संबद्ध अनेक तथ्यों को प्रकाश में लाने से प्रगतिवादी समालोचना का तात्विक आधार अधिक स्पष्ट होकर सामने आया। इस प्रयत्न में उर्दू समालोचकों की दृष्टि मार्क्सवादी चिंतन की मूलभूत उद्भावनाओं पर आकर केन्द्रित हो गयी। उर्दू साहित्यालोचन की इस मार्क्सवादी पद्धति का प्रतिनिधित्व करने वालों में डा. अख्तर हुसैन रायपुरी, सैयद सज्जाद ज़हीर, डा. अब्दुल अलीम, मजनूं गोरखपुरी, इहतिशाम हुसैन और मुमताज़ हुसैन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

डा. अख्तर हुसैन रायपुरी ने १६३५ ई. में 'अदब और जिंदगी' शीर्षक के माध्यम से अपने मार्क्सवादी दृष्टिकोण का प्रकाशन किया किन्तु उनमें इस विषय को पूरी गहराई के साथ आत्मसात् करने की क्षमता नहीं थी। उनकी आलोचना अनियंत्रित और असंतुलित है। वे एक क्रान्तिप्रिय हृदय रखते थे। फलस्वरूप उनकी आलोचना अनेक स्थलों पर अतिवाद की सीमाओं को छू लेती है।

सज्जाद ज़हीर को प्रगतिवादी आन्दोलन का जन्मदाता कहा जाता है। उनके अलोचनात्मक निबन्धों में पहली बार मार्क्सवादी दृष्टिकोण पूरी गहराई के साथ प्रकाश में आया। उन्होंने मार्क्सवाद को सूक्ष्मतापूर्वक समझा था और अपने निबंधों में उसके मूलभूत सिद्धान्तों को सतर्कतापूर्वक बरता था। किसी भी कलाकृति में रचयिता के सामाजिक तत्वों के अतिरिक्त उसके व्यक्तित्व का कहाँ तक योग है तथा जीवन के भौतिक एवं आर्थिक संघर्ष की अभिव्यक्ति उसने किस सीमा तक की है–आदि तथ्यों का विस्तृत एवं गंभीर विवेचन सज्जाद ज़हीर के आलोचनात्मक निबन्धों में हुआ है। प्रगतिवादी समालोचना का संश्लिष्ट आधार इन विचारों द्वारा लगभग निर्मित हो जाता है। डा० अब्दुल अलीम के विचार भी सज्जाद ज़हीर से भिन्न नहीं हैं। किन्तु उनकी विशेषता यह है कि वे मार्क्सी दृष्टिकोण को बहुत ही सशक्त और प्रभावशाली बनाकर प्रस्तुत करते हैं।

आलोचक में रूप में प्रोफेसर मजनूं गोरखपुरी का व्यक्तित्व दो अलग-अलग वर्गों में बंट जाता है। उनका एक रूप प्रभावाभिव्यंजक आलोचक का है और दूसरा मार्क्सवादी अथवा प्रगतिवादी आलोचक का। उनके कुछ निबन्धों का संग्रह "तनक़ीदी हाशिए", और "अदब और जिन्दगी", शीर्षकों से प्रकाशित हो चुका है। तनक़ीदी हाशिए में मजनूं साहब नियाज़ फ़तहपुरी और फ़िराक़ गोरखपुरी की भांति आत्मगत अथवा प्रभावाभिव्यंजक आलोचक के रूप में प्रकट हुए हैं। किन्तु "अदब और ज़िन्दगी", में वे नियाज़ के क़बीले से निकलकर सज्जाद ज़हीर की क़तार में खड़े हो जाते हैं। डा० अख़्तर हुसैन रायपुरी के समान ही अब वे साहित्य को वर्तमानाभिव्यंजक होने के साथ ही साथ भविष्य–सृष्टा भी मानने लगते हैं। उनकी संपूर्ण आलोचना एक प्रकार की सामाजिक पृष्ठभूमि में होती है। किन्तु उनके सामने यह प्रश्न भी रहना है कि अमुक रचना के सौन्दर्य का क्या कारण है। वे वस्तुजगत के प्रति मानव प्रतिक्रिया तथा सामाजिक गति विधियों से सम्बन्धित विवेक में कलाकृति के सौन्दर्य उज्वल बोधक तत्वों का स्रोत तलाश करते हैं। उनकी आलोचना मार्क्सवादी होते हुए भी सन्तुलित तथा संश्लिष्ट प्रतीत होती है। मार्क्सवादी अथवा प्रगतिवादी समालोचना को प्रोफ़ेसर सैयद इहतिशाम हुसैन रिज़वी ने बहुत ही सशक्त तथा प्रभावशाली बनाया। वे मनोयोग पूर्वक इस ओर प्रवृत्त हुए और इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने उर्दू आलोचना की मार्क्सवादी पद्धति को उसके उत्कर्ष पर पहुँचा दिया। उनकी आलोचनात्मक कृतियों में गांभीर्य है, संतुलन है, निष्पक्षता है, संवेदना है और एक ऐसी उदारता है जो उन्हें प्रगतिवादी समालोचकों में सर्वश्रेष्ठ बना देती है। उनके समालोचनात्मक निबन्धों के अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। जिनमें "तनक़ीदी जाइज़े", "रिवायत और बग़ावत", "अदब और समाज" और "तनक़ीद और अमली तनक़ीद", विशेष

उल्लेखनीय हैं। इन निबन्धों में सैद्धान्तिक आलोचना का समीक्षात्मक विवेचन भी हुआ है और व्यावहारिक आलोचना का सुन्दर उदाहरण भी उपलब्ध है।

उनके अनेक निबन्धों में व्यावहारिक आलोचना का उत्कृष्ट रूप मिलता है। तनक़ीद और अमली तनक़ीद में ग़ालिब शीर्षक उनका निबन्ध तथा रिवायत और बग़ावत में इक़बाल पर उनके विचार ऐसे ही हैं। इहतिशाम साहब के विचारों से सहमत होना न होना और बात है, उनकी आलोचना के स्वस्थ तथा उपादेय होने में सन्देह नहीं किया जा सकता। उनके तनक़ीदी निबन्धों को सरसरी दृष्टि से पढ़कर कोई नतीजा नहीं निकाला जा सकता। उन्हें समझने के लिए उनके रंग में डूब जाने की आवश्यकता है।

अब्दुल मुग़नी ने 'इहतिशाम हुसैन' शीर्षक अपने आलोचनात्मक निबन्ध में यद्यपि अनेक स्थलों पर इहतिशाम साहब के साथ न्याय नहीं किया है फिर भी उनके कुछ विचार द्रष्टव्य हैं– "उर्दू तनक़ीद को इहतिशाम साहब का सबसे बड़ा अतिया उनके नज़रियाती मुबाहिस हैं। अदबी तनक़ीद के मसाइल, उसूले तनक़ीद, तनक़ीद और अमली तनक़ीद, हका-इक़ की ताज़ीह वो तशरीह के एअतबार से ये चन्द मक़ालात उर्दू में तनक़ीद के मज़िअ पर लिखी गयी ज़खीम किताबों से ज़्यादा वसीत अफ़रोज़ हो मुसन्निफ के आलिमाना इदराक ने हमारे गौरौफ़िक के लिए बेशुमार कीमती नुक्ते पेश कर दिये हैं।"

मुमताज़ हुसैन भी साहित्य को जीवन के सांप्रदायिक संघर्षों का द्योतक समझते हैं। वह पूरे युग को एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रखकर इस बात का पता चलाते हैं कि वे कौन सी व्यावसायिक अथवा वैचारिक प्रतिक्रियाएं थीं जिनके अन्तर्गत साहित्यकार पल रहा था। उसकी व्यक्तिगत रुचि विशेष वस्तुओं अथवा विषयों के चयन में क्यों सहायक हुई। उनकी दृष्टि में साहित्य का उद्देश्य जनसामान्य के परिश्रम अथवा अध्यवसाय के रूप में प्राप्त नवीन मान्य-ताओं को मानव मनोविज्ञान का अंग बना देना है, मानव को नये सिरे से परिचित कराना, और प्राचीन चिन्तन पद्धतियों, आदतों और संस्कारों के स्थान पर नवीन चिन्तन पद्धतियां नयी आदतों और नये संस्कारों को स्थापित करना है। उनकी संपूर्ण आलोचना उनके इन्हीं आदर्शों पर आधृत प्रतीत होती है।

मुमताज़ हुसैन के निकट मार्क्सी दृष्टिकोण ने न केवल सम्पूर्ण सृष्टि से एक ऐसा क़ानूनं तलाश किया है जो परिवर्तन में विश्वास करता है अपितु उसके निकट जो कुछ भी ऐतिहासिक घटनाओं के नाम से होता है वह परिणाम है अनगिनत मनुष्यों के व्यक्तिगत व्यव-हार एवं संकल्पों का। साहित्य इसी वैयक्तिक और सामाजिक व्यवहार और संकल्प का द्योतक है। (नक़्दे हयात, पृ० ४७)

मार्क्सवादी समालोचकों के साथ ही प्रोफ़ेसर अख़्तर अनसारी तथा अज़ीज़ अहमद का नामोल्लेख कर देना भी अपेक्षित जान पड़ता है। अख़्तर अनसारी की पुस्तक "इफ़ादी अदब" और अज़ीज़ अहमद की "तरक्की पसन्द अदब" उर्दू की दो महत्वपूर्ण आलोचना कृतियां हैं। इन दोनों आलोचकों की उर्दू के क्लासिकी साहित्य पर गम्भीर दृष्टि थी और साथ ही इनके पास एक सन्तुलित प्रगतिवादी विवेक भी था। इनमें साहित्य की आत्मा को टटोलने की

क्षमता थी। इसी स्थल पर डा० एजाज़ हुसैन और अली सरदार जाफ़री का नामोल्लेख कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है। एजाज़ साहब के प्रारम्भिक निबन्धों में उर्दू की प्राचीन आलोचना का गहरा असर था किन्तु आगे चलकर वे भी साहित्य को जीवन संघर्ष का प्रतिबिम्ब समझने लगे।

उपर्युक्त मार्क्सवादी समालोचकों ने जिन तथ्यों का विवेचन किया है उनका थोड़ा बहुत संकेत हाली और शिबली की आलोचनाकृतियों में भी मिल जाता है। इन समालोचकों की भांति हाली और शिवली ने भी मनुष्य की सौन्दर्य-चेतना का स्रोत मानवीय व्यापारों की समग्रता में अथवा वस्तुजगत के प्रति मानवीय-प्रतिक्रिया में माना है। हाली और शिबली भी किसी कलाकृति में सदुपयोगी तत्वों को तलाश करने की कोशिश करते हैं। इन समालोचकों को भी आलोचित रचना में रचयिता की सौन्दर्य-मूलक वृत्ति की प्रतिध्वनि सुनने का औत्सुक्य है। अन्तर केवल इतना है कि हाली और शिबली के यहाँ रेखाएं कुछ धुंधली हैं और प्रगतिशील समालोचकों ने इन रेखाओं को गहरी और स्पष्ट कर दिया है। हाली और शिवली की आलोचना कृतियों में इन रेखाओं से लिपटी हुई कुछ अन्य रेखाएं भी हैं। प्रगतिवादी समालोचकों ने जिन्हें अनावश्यक समझकर मिटा दिया है। सामूहिक रूप से देखने पर प्रगतिवादी समालोचना नवजागरणकालीन आलोचना के भौतिक तत्वों की एक गम्भीर व्याख्या प्रतीत होती है। जिसके अन्तर्गत साहित्य, समालोचना और सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति की लगभग सभी मूलभूत समस्याओं के समाधान की सम्यक् चेष्टा की गयी है। प्रगतिवादी समालोचकों के उक्त प्रयास से उर्दू साहित्यालोचन के अनेक नये मार्ग प्रशस्त हुए हैं। पाश्चात्य आलोचना के अन्य किसी भी सम्प्रदाय ने उर्दू साहित्यालोचना को उतना प्रभावित नहीं किया जितना मार्क्सवादी आलोचना ने। इस विचारधारा के फलस्वरूप आगे चलकर इसके पक्ष अथवा विपक्ष में जो शक्तियां क्रियाशील हुईं उनसे उर्दू साहित्य के आलोचना जगत को काव्य तथा साहित्य की परख के हेतु अनेक दिशाएं तथा दृष्टिकोण प्राप्त हुए।

विविध

विविध के अन्तर्गत लेखक ने उर्दू के उन सभी समालोचकों को समेटने का प्रयास किया है जिन्हें व्यापक अर्थों में प्रगतिवादी कहा जा सकता है किन्तु जो मार्क्सवादी अथवा भौतिकवादी नहीं हैं। मार्क्सवाद से इन लेखकों में अधिकांश ने प्रेरणा ली है किन्तु उसका अनुकरण नहीं किया है। इन समालोचकों में कुछ ऐसे हैं जिन्होंने पाश्चात्य समालोचनाशास्त्र की छाया मात्र प्रस्तुत करके सन्तोष कर लिया है और कुछ ऐसे हैं जिनकी आलोचना में क्लासिकी साहित्य का पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्त के समन्वय पर लिखने की प्रवृत्ति मिलती है। कुछ ऐसे भी हैं जो शास्त्रीय मान्यताओं से अधिक महत्व व्यक्तिगत रुचि भावना तथा जीवन आदर्श को देते हैं। और कुछ ऐसे भी हैं जिनकी आलोचना पद्धति स्वच्छन्द, व्यक्तिवाद और आत्मचेतना पर आधृत है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे समालोचक भी हैं जो विशुद्ध राष्ट्रवादी हैं। इन सभी समालोचकों में साहित्य के सन्दर्भ में आने वाले सभी प्रश्नों का एक स्वस्थ तथा सशक्त उत्तर देने की क्षमता है।

सर सैयद हाली और शिब्ली के समय से ही उर्दू आलोचना पाश्चात्य प्रभाव के घेरे में आने लगी थी। किन्तु ये समालोचक अंग्रेजी भाषा का विशेष ज्ञान न होने के कारण इस प्रभाव को अप्रत्यक्ष रूप से ग्रहण कर रहे थे। आगे चलकर उर्दू साहित्यकारों की निगाहें पाश्चात्य साहित्य पर तेजी से गढ़ने लगीं। ज्ञान पिपासु आत्माओं ने पाश्चात्य साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया और उसे पूरी तरह समझने का प्रयास किया। अल्लाम इक़बाल ने इस दिशा में कविता और आलोचना दोनों ही के माध्यम से पाश्चात्य साहित्यात्मा को समेटकर उर्दू साहित्यकारों तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। उनके अतिरिक्त डा० अब्दुर्रहमान बिजनौरी, अज़मतुल्लाह खां मुहीउद्दीन कादिरी ज़ोर, प्रोफेसर अब्दुल कादिर सरवरी और हामिदुल्लाह अफ़सर के नाम भी विशेष उल्लेखनीय हैं।

अब्दुर्रहमान बिजनौरी उर्दू के सम्भवतः प्रथम समालोचक हैं जिन्होंने पाश्चात्य साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया और अपनी आलोचना के ताने-बाने उसी के सहारे पर तैयार किये। किन्तु बिजनौरी की आलोचना उच्चकोटि की नहीं है। उनकी आलोचना-कृतियों में भावुकता है, शैली काव्यात्मक है तथा भाषा चटपटी और रसपूर्ण है। ये विशेषताएं उनकी आलोचना में रचनात्मक सौन्दर्य सा अवश्य उत्पन्न कर देती हैं। किन्तु किसी ठोस तथ्य को सामने रखने में असमर्थ हैं। दीवाने ग़ालिब का परिचय वे इन शब्दों में कराते हैं—"हिन्दुस्तान की इल्हामी किताबें दो हैं, एक "वेदे मुकद्दस" और दूसरी "दीवाने गालिब।" उनकी यह शैली पहली दृष्टि में प्रभावित कर सकती है किन्तु वस्तुतः इसमें कोई जान नहीं है। बात तो यह है कि बिजनौरी ने दीवाने-ग़ालिब का भले ही गंभीर अध्ययन किया हो वेद के तो क, ख, ग, घ से भी वे परिचित नहीं थे। फिर हिन्दुस्तान की अन्य भाषाओं में लिखी जाने वाली पुस्तकों का भी उन्हें पर्याप्त ज्ञान नहीं था। इस स्थिति में उनके उक्त वाक्य में कोरी भावुकता है जो छलकी पड़ रही है।

अज़मतुल्लाह खां अंग्रेजी साहित्य से बहुत अधिक प्रभावित थे। उन्हें उर्दू ग़ज़लों के बेतुके प्रेमराग से घृणा सी होगयी थी। हाली भी यद्यपि उर्दू ग़ज़ल से संतुष्ट नहीं थे किन्तु वे उसमें एक सुधार चाहते थे। अज़मतुल्लाह खां विद्रोही थे। वे ग़ज़ल के अस्तित्व को ही मिटा देने के पक्ष में थे। आगे चलकर प्रोफेसर कलीमुद्दीन ने भी उर्दू ग़ज़ल का मज़ाक बनाया और उसे नीम बहशियाना शायरी कहकर अज़मतुल्लाह खां के विचारों की पुष्टि की।

बिजनौरी और अज़मतुल्लाह के प्रभाव से उर्दू समालोचना पाश्चात्य साहित्यालोचना के बहुत ही निकट आ गयी। डा० मुहीउद्दीन कादरी ज़ोर और प्रोफेसर अब्दुलकादिर सरवरी ने पाश्चात्य साहित्यालोचन के संप्रदायों पर विवेचना की। हामिदउल्लाह अफ़सर ने भी 'नक़दुल अदब' में इसी प्रकार की आलोचना को स्थान दिया। किन्तु उक्त समालोचक इस कार्य के लिए उपयुक्त नहीं थे। इनकी आलोचना पाश्चात्य आलोचना का रूपान्तर मात्र है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कुछ अंग्रेजी पुस्तकों को सामने रखकर इन समालोचकों ने विभिन्न स्थलों से अनुवाद मात्र कर दिये हैं। इनकी आलोचना ज्ञान वर्द्धक तो है किन्तु मानसिक स्तर पर इससे कोई प्रकाश नहीं मिलता।

उर्दू में आलोचना की शास्त्रीय पद्धति बहुत प्राचीन है। किन्तु इस शास्त्रीय पद्धति अथवा क्लैसिकल वृत्ति के अर्थ में अब थोड़ा विस्तार होगया है। रोमान्सिकता जो कभी क्लैसिकल वृत्ति के विपरीत समझी जाती थी अब दोनों में कोई परस्पर विरोध नहीं रहा। इस दृष्टि से शिबली का एक विशेष महत्व है। उनकी सैद्धान्तिक आलोचना इसी शास्त्रीय आलोचना का व्यावहारिक रूप कही जा सकती है। आगे चलकर आलोचना की यह क्लैसिकल वृत्ति नियाज़ फ़तहपुरी, रशीद अहमद सिद्दीकी, जाफ़र अली खां असर, डा. हबुल्लेस सिद्दीकी, सैयद अख़्तर अली तिलहरी आदि आलोचकों की कृतियों में नुमायां हुई।

नियाज़ उर्दू के एक श्रेष्ठ समालोचक हैं। उनकी आलोचना में सौंदर्यमूलक कोमल अनुभूति के साथ प्राचीन तथा आधुनिक साहित्य के प्रति गहरी सहानुभूति है। सैद्धांतिक आलोचना के साथ नियाज़ के यहां रोमांसवाद का भी गहरा पुट मिलता है। उनके निबन्धों के दो संग्रह---"इन्तिक़ादियात" के नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम भाग में ज़फ़र की शायरी, नज़ीर मेरी नज़र में, जोश मलीहाबादी की बाज़ नज़में और फ़िराक गोरखपुरी शीर्षक निबन्ध द्रष्टव्य हैं। इसी प्रकार द्वितीय भाग में "अदबियात और उसूले नक़्द" और 'फुनूने अदबियः वो हक़ीक़त नियारी' महत्वपूर्ण समीक्षात्मक कृतियां हैं। साहित्य को वे मानवीय अनुभवों की अभिव्यक्ति समझते हैं। वे उसके उपयोगी तथा सौंदर्यमूलक दोनों ही पक्षों के प्रति आस्था रखते हैं।

रशीद अहमद सिद्दीकी मूलतः हास्य और व्यंग के लेखक हैं। किन्तु उन्होंने अनेक आलोचनात्मक निबन्ध भी लिखे हैं। सुहेल में प्रकाशित उनके निबन्ध विशेष महत्व के हैं। 'तन्ज़ियात' और 'मज़हकात' नामक पुस्तक में रशीद साहब ने उर्दू साहित्य के हास्य और व्यंग्य का संतुलित समीक्षात्मक परिचय प्रस्तुत किया है। विशुद्ध बौद्धिक दृष्टि रखने वालों को रशीद साहब की इस पुस्तक में अपेक्षित गहराई का अभाव खटक सकता है। किन्तु सहृदयता के उस तत्व का जो महान् साहित्य और कला की विशेषता है उक्त समालोचना दृष्टि में समावेश कर लेने पर इस अभाव का एहसास नहीं रह जाता।

जाफ़र अली खां असर के अधिकतर आलोचनात्मक निबन्ध अन्य समालोचकों के खंडन हेतु लिखे गए हैं। असर के "तनकीदी मजामीन", और "छानबीन" शीर्षक उनके दो संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। वे 'कला कला के लिये' पक्षपाती हैं। उन पर उर्दू की प्राचीन आलोचना का गहरा प्रभाव है। वे आलोचित साहित्यकार के कला पक्ष पर विशेष ध्यान रखते हैं। उनके यहां चिन्तन और विचार की गहराई और गोराई है जिससे उनके निर्णय अधिकतर ठोस और तर्कपूर्ण हैं।

डा. अबुल्लेस सिद्दीकी भी क्लैसिकल वृत्ति के आलोचक हैं। उनकी रुचि उर्दू के प्राचीन साहित्य में अधिक रमी है। मुसहफ़ी जुरअत, दाग़, हसरत तथा फ़ानी की कविता पर उनके आलोचनात्मक निबन्ध व्यावहारिक आलोचना की दृष्टि से विशेष महत्व रखते हैं। आधुनिक साहित्य पर उनके उर्दू ग़ज़ल तकसीम के बाद "उर्दू अदब के बाज़ जदीद मैलानात" और 'मौजूदा उर्दू अदब' शीर्षक निबन्ध इसी कोटि के हैं।

सैयद अख्तर अली तिलहरी कलावादी दृष्टिकोण के समर्थक हैं। पाश्चात्यानुकरण की प्रवृत्ति उनके निकट उपयुक्त और उपयोगी नहीं है। उन्होंने उर्दू तथा पाश्चात्य साहित्यों का गम्भीर अध्ययन किया है। नये साहित्य को गुमराह होते देखकर उन्हें दुख हुआ है। अतएव उन्होंने इस दिशा में यथेष्ट कार्य किया है। व्यावहारिक आलोचना की दृष्टि से उनकी आलोचनाकृतियां महत्वपूर्ण कही जा सकती हैं।

गत पन्द्रह बीस वर्षों से उर्दू में आलोचना की राष्ट्रवादी तथा गांधीवादी पद्धति ने भी कुछ जोर पकड़ा है। अली अब्बास हुसैनी, अलीजवाद जैदी, राजेन्द्रनाथ शैदा, हंसराज रहबर, डा. आबिद हुसैन, प्रोफेसर मुजीब इत्यादि उर्दू के राष्ट्रवादी समालोचकों की कोटि में आते हैं। डा. आबिद हुसैन और प्रोफेसर मुजीब के अतिरिक्त अन्य सभी समालोचक प्रारम्भ में प्रगतिवादी थे किन्तु धीरे-धीरे इन पर राष्ट्रीय रंग गहरा होता गया।

अली अब्बास हुसैनी गांधीवाद से बहुत अधिक प्रभावित हैं। उन्हें गांधीवादी दर्शन से गंभीर आस्था है। उनकी आलोचना अधिकतर उन्हीं विषयों पर है जिनमें उनकी गहरी पैठ है। यद्यपि उनके यहां कोई नवीनता नहीं पायी जाती किन्तु सच्ची बात कहने की उनमें पूरी-पूरी क्षमता है जिससे उनकी आलोचना श्रेष्ठ हो जाती है।

स्वतंत्रयोत्तर उर्दू समालोचना में अलीजवाद जैदी की रचनात्मक राष्ट्रवादी आलोचना को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। उन्होंने राष्ट्रीय चेतना को नवजीवन देने का प्रयास किया है। उर्दू मरसिये पर उनकी गवेषणात्मक आलोचना भी विशेष महत्व रखती है। उर्दू के साथ ही उन्होंने फ़ारसी साहित्य पर भी गम्भीर आलोचनाएं लिखी हैं। ग़नी कशमीरी पर उनकी आलोचना इसी प्रकार की है।

राजेन्द्र नाथ शैदा तथा हंसराज रहबर मार्क्सी दृष्टिकोण को राष्ट्रीय परिवेश में देखने के पक्ष में हैं। शैदा ने कला के महत्व को स्वीकार किया है। किन्तु आलोचना के लिये वे केवल उसी को पर्याप्त नहीं समझते। उनके निकट विचारों और भावनाओं को परिशोधित रूप में प्रस्तुत करना आलोचना का अहम उत्तरदायित्व है। वे सामाजिक प्रवृत्तियों के महत्व तथा साहित्यिक मूल्यों के निर्धारण पर अधिक बल देते हैं। रहबर मार्क्सी दर्शन को उसके वास्तविक रूप में देखने के पक्ष में हैं जिसे उनके निकट स्वयं मार्क्सवादी समालोचक पूरी तरह नहीं समझ सके हैं। उनकी आलोचना पर उनके दृष्टिकोण की छाप बहुत गहरी है।

आबिद हुसैन और प्रोफेसर मुजीब दोनों ही गांधीवाद से बहुत अधिक प्रभावित हैं। इनकी आलोचनाएं चिन्तनपूर्ण तथा विचारशील होने के साथ ही साथ एक स्वस्थ वातावरण उत्पन्न करती हैं।

उर्दू साहित्य में आलोचना की प्रभावाभिव्यंजकी पद्धति भी काफ़ी लोकप्रिय हुई है। उर्दू के अनेक श्रेष्ठ समालोचकों ने इसे अपनाया है और अनेक महत्वपूर्ण आलोचना कृतियां प्रस्तुत की हैं। फ़िराक़ गोरखपुरी, प्रोफेसर आले अहमद सुरूर, विक़ार अज़ीम, डा० इबादत बरेलवी और अख़्तर उरेनवी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रभावाभिव्यंजक आलोचना के लिए जिस तीव्र संवेदनशीलता, भावानुभूति, चित्त की गतिशीलता और कल्पना शक्ति की

आवश्यकता होती है वह उपर्युक्त समालोचकों में न्यूनाधिक सभी में पायी जाती है। इन समालोचकों ने साहित्य की शक्ति को पहचान कर नवीन कलात्मक चेतना को जन्म दिया है

फ़िराक़ गोरखपुरी उर्दू के श्रेष्ठ कवि होने के साथ ही साथ एक श्रेष्ठ समालोचक भी हैं। उनकी आलोचनाओं के दो संग्रह —'अंदाजे' और 'हाशिए'—प्रकाशित हो चुके हैं। फ़िराक़ की कविता में जो कोमलता, लोच-लचक और प्रभावाभिव्यंजकता है उसकी झलक उनकी आलोचना में भी दृष्टिगत होती है। वस्तुतः वे एक आत्मगत समालोचक हैं। साहित्य और जीवन की विवेचना उन्हें मार्क्सवाद के मार्ग पर आगे बढ़ने का निमंत्रण देती है किन्तु उनका भावप्रधान हृदय तथा रूमानी व्यक्तित्व उन्हें किसी अन्य मार्ग पर लगा देते हैं। फलस्वरूप उन्हें आत्माभिव्यंजना में ही सच्चा आनन्द मिलता है। अपनी आलोचना के विषय में वे स्वयं लिखते हैं—"मेरे मज़ाके तनक़ीद पर दो चीज़ों का असर बहुत रहा है—एक तो खुद मेरे विजदाने शेरी का दूसरे योरोपियन अदब और तनक़ीद के मताल्अे का। मुझे उर्दू शेर को इस तरह समझने समझाने में बड़ा लुत्फ़ आता है जिस तरह योरोपियन नक्काद योरोपियन शुअरा को समझते समझाते हैं।"

फ़िराक़ साहब के उक्त विचारों में सच्चाई और ईमानदारी है। उनकी आलोचनात्मक रेखाएं रसात्मक मनोभावों के निर्देशन में निरूपित होती हैं जिसमें बौद्धिकता का भी एक हलका सा समावेश होता है। सहृदयता के साथ चिन्तन और विवेक के सामंजस्य से फ़िराक़ की आलोचना में वैज्ञानिक वृत्ति भी लक्षित होती है। वे विवेच्य साहित्यकार की रचनाओं में कलात्मक सौन्दर्य के ही पीछे नहीं दौड़ते अपितु उसकी साहित्यिक चेतना, उसके व्यक्तित्व और उसकी प्रकृति के अनेक रहस्यों का उद्घाटन भी करते हैं। शैली की दृष्टि से तो फ़िराक़ की आलोचना अद्वितीय है। हिन्दी और अंग्रेजी की सहायता से उर्दू में नये-नये शब्दों को ढालकर फ़िराक़ ने उर्दू आलोचना को पारिभाषिक शब्दावली का एक बड़ा कोश दिया है। उक्त विशेषताओं के कारण उनकी आलोचना उनकी कविता की ही भांति सहज रूप से पहचानी जा सकती है।

प्रोफेसर सुरूर की गणना उर्दू के श्रेष्ठ समालोचकों में होती है। उनकी आलोचना आत्माभिव्यंजना, रोमांसिकता तथा मार्क्सवाद की त्रिवेणी सी प्रतीत होती है। वे एक समन्वयवादी समालोचक हैं। उन्होंने आलोचना की विभिन्न पद्धतियों का गम्भीर अध्ययन किया है। किन्तु वे किसी एक पद्धति से प्रभावित होने के स्थान पर सभी पद्धितियों का सत्य शिव और सुन्दर तत्व निकालकर अपना अलग मार्ग बनाने की क्षमता रखते हैं। फिर भी उनकी आलोचना में प्रभावाभिव्यंजकता अधिक सबल होकर उजागर हुई है। सुरूर साहब ने साहित्य की बुनियादी समस्याओं को छेड़ा है और उनके हल भी तलाश किये हैं। उनकी आलोचना किसी विशिष्ट वर्ग के लिए नहीं है। यही कारण है कि वे पाठक को पहले अपने आलोचनात्मक विवेक का पूरा ज्ञान करा देते हैं जिससे उसके अन्दर भी वह आलोचना दृष्टि उत्पन्न हो सके जो उनकी अपनी दृष्टि से मेल खाती हो। सन् १९३२-३३ ई. से अबतक वे बराबर लिखते रहे हैं। इस बीच उनके निबन्धों के चार संग्रह—'तनक़ीदी इशारे', 'नये और पुराने चिराग', 'तनक़ीद

क्या है' और 'अदब और नज़र' प्रकाशित हो चुके हैं। इस संग्रहों के अतिरिक्त उनके अन्य निबन्धों की भी एक बड़ी संख्या है। इनमें अकबर का अलमिया, ग़ालिब का ज़हनी इरतका, नज़्म की ज़बान, हसरत और लखनऊ तथा उर्दू में अदबी तनक़ीद की सूरतेमाल विशेष उल्लेखनीय हैं। सुरूर साहब के अधिकांश निबन्ध व्यावहारिक आलोचना के उत्कृष्ट उदाहरण कहे जा सकते हैं। उनके कुछ नपे-तुले सिद्धान्त हैं जिनके प्रकाश में उनकी आलोचना आगे बढ़ती है। उनके विचारों में कोई तकरार नहीं मिलती। उनका दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट और बोध-गम्य है। वे हाली से बहुत अधिक प्रभावित हैं। उन्हें यह कहने में कोई संकोच नहीं होता कि "उर्दू" में हाली के बाद कोई ऐसा नक़्क़ाद नहीं है जो टी० एस० ईलियट के अल्फ़ाज़ में आफ़ाक़ी ज़हन रखता हो। सुरूर को उनकी उक्त विशेषताओं के प्रकाश में उर्दू का एक श्रेष्ठ समालोचक कहा जा सकता है।

विक़ार अज़ीम सुरूर से बहुत अधिक प्रभावित हैं। उनके गत तीस वर्षों में लगभग डेढ़ सौ आलोचनात्मक निबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं। किन्तु संभवतः उनके निबन्धों का कोई एक संग्रह भी अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। उर्दू कहानी पर विक़ार अज़ीम ने विशेष कार्य किया है। 'फ़न्ने अफ़साना निगारी' 'हमारे अफ़साने', और 'नया अफ़साना' उनके तीन प्रसिद्ध आलोचना ग्रंथ हैं। जिनके अन्तर्गत उन्होंने उर्दू कहानी के मूल तत्वों का विवेचन तथा नये पुराने कहानीकारों का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। उर्दू में उपलब्ध दास्तानों पर लिखे गये विक़ार साहब के निबन्ध गवेष्णात्मक आलोचना की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। अपने क्षेत्र में विक़ार साहब ने जो कार्य किया है उसे उर्दू साहित्यालोचन की समृद्धि का महत्वपूर्ण अंग कहा जा सकता है। विशेषकर उर्दू कहानियों पर विक़ार साहब की आलोचना उर्दू के लिए अपूर्व योगदान है।

डा. यबादत बरेलवी ने उर्दू आलोचना के क्षेत्र में विशेष कार्य किया है। इस विषय पर उनकी अब तक दस से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। लखनऊ विश्वविद्यालय ने सन् १९४६ ई. में उन्हें 'उर्दू तनक़ीद का इरतक़ा' शीर्षक प्रबन्ध पर पी-एच. डी. की उपाधि प्रदान की थी। उनका यह प्रबन्ध उर्दू बाजार दिल्ली से सन् १९६४ ई. में प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त उनकी अन्य आलोचनात्मक पुस्तकों में—जदीद उर्दू शायरी, मीर तक़ी मीर, मोमिन और मतालए मोमिन, तनक़ीदी तजुरबे, शायरी और शायरी की तनक़ीद तथा उर्दू अदब का नया दौर आदि उल्लेखनीयपु स्तकें हैं। किन्तु इतनी सारी पुस्तकें लिखने के उपरान्त भी डा. यबादत बरेलवी को उर्दू साहित्यालोचन के क्षेत्र में वह स्थान न प्राप्त हो सका जो इहतिशाम हुसैन, आले अहमद सुरूर और कलीमुद्दीन अहमद को प्राप्त है। कारण यह है कि यबादत बरेलवी पर सुरूर और इहतिशाम दोनों ही की गहरी छाप है। उन्होंने इन आलोचकों का अनुकरण तो किया है किन्तु उनमें चिन्तन की वह गहराई और शैली का वह माधुर्य नहीं है जो उनकी आलोचना को बहुत ऊँचा उठा सके। उन्होंने उर्दू साहित्यालोचन को बहुत कुछ देना चाहा है किन्तु छानने फटकने पर उनका मौलिक योगदान बहुत अधिक नहीं ठहरता। फिर भी उनकी व्यावहारिक आलोचना उच्च स्तर की कही जा सकती है।

गत तीस-पैंतीस वर्षों में उर्दू के अनेक साहित्यालोचकों ने आलोचना की मनोविश्लेषणात्मक पद्धति में भी गहरी रुचि ली है। यह पद्धति वस्तुतः मनोवैज्ञानिक पद्धति की ही एक शाखा है। जिसमें आलोचक लेखक के मन का सूक्ष्म उस अध्ययन करता है। फ्रायड, युंग तथा एड्लर आदि समालोचकों ने लेखक के अवचेतन मन के गह्वरों में प्रवेश कर उसकी रचनात्मक प्रेरणा के रहस्यों का भरपूर उद्घाटन किया है। उर्दू समालोचकों में मीराजी, मुहम्मद हसन अस्करी, जफ़र अहमद सिद्दीक़ी, आफ़ताब अहमद, शबहुल हसन नोनहरवी, डा. वज़ीर आग़ा और इब्ने फ़रीद की आलोचनाएं मनोविश्लेषणात्मक कही जा सकती हैं।

मीराजी ने आलोचना जगत में जो मनोविश्लेषणात्मक प्रयोग किये उनमें आलोचित साहित्यकार से कहीं अधिक आलोचक का अपना व्यक्तित्व उजागर हुआ। मुहम्मद हसन अस्करी प्रगतिवादी समालोचकों के विरोधियों में से हैं। किन्तु उनका यह विरोध सैद्धान्तिक न होकर वैयक्तिक अधिकार भावना की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रतीत होता है। अस्करी साहब की दृष्टि में श्रेष्ठ साहित्यकार वह है जो मानव जीवन के मूल रहस्यों को देखने और उनका उद्घाटन करने की क्षमता रखता हो। सामाजिक अथवा आर्थिक जीवन को सुधारना उनकी दृष्टि में साहित्य का कार्य नहीं है। वे केवल मानव की भावनात्मक प्रतिक्रियाओं को ही कला की संज्ञा देते हैं। वे कला कला के लिए के सिद्धान्त के कट्टर पक्षपाती प्रतीत होते हैं। 'इनसान और आदमी' शीर्षक उनके आलोचनात्मक निबंधों का एक संग्रह प्रकाशित हो चुका है। अस्करी साहब की साहित्यिक सेवाओं से इनकार नहीं किया जा सकता किन्तु उनके यहां संतुलन की कमी बहुत खटकती है। जिसके कारण उनकी आलोचना अनेक स्थलों से बहकी-बहकी सी लगती है।

ज़फ़र अहमद सिद्दीक़ी की आलोचना में स्वस्थ दृष्टिकोण की झलक मिलती है। वे साहित्य और मनोविज्ञान दोनों का ही गंभीर ज्ञान रखते हैं। आफ़ताब अहमद की दृष्टि में काव्य-सर्जना की प्रेरक शक्ति कवि को अवचेतन मन से ही प्राप्त होती है। वे कवि की आत्मा के अध्ययन पर विशेष बल देते हैं। फलस्वरूप उनकी आलोचना में वैयक्तिक तथा मनोवैज्ञानिक पहलू उजागर रहते हैं। बाह्य परिस्थितियों का आलोचित साहित्यकार पर क्या प्रभाव पड़ा है इस दिशा में विचार करना वे अनावश्यक समझते हैं।

सैयद शबीहुल हसन नोनहरवी एक श्रेष्ठ मनोविश्लेषणवादी समालोचक हैं। फ्रायड में उनकी आस्था बहुत गहरी है। आलोचना लिखते समय उन्होंने प्रत्येक मोड़ पर फ्रायड से रोशनी ली है। और उसी के प्रकाश में आगे बढ़े हैं। उनकी आलोचना में वे सभी दोष पाये जाते हैं जो फ्रायड के यहां मिलते हैं। फिर भी उनका मनोविश्लेषणवादी दृष्टिकोण उर्दू आलोचना के क्षेत्र में एक योगदान की हैसियत रखता है।

डा. वज़ीर आग़ा ने पिछले दस पन्द्रह वर्षों में उर्दू साहित्य लोचना के क्षेत्र में बड़ा ही महत्वपूर्ण कार्य किया है। उर्दू साहित्य के हास्य और व्यंग्य पर उनकी गंभीर दृष्टि है। आधुनिक उर्दू कविता पर उनकी पुस्तक उनकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि तथा नियंत्रित सूझ-बूझ

का परिणाम है। उनकी आलोचना पर मार्क्सी दृष्टिकोण का प्रभाव भी कहीं-कहीं पर परिलक्षित हो जाता है।

इब्ने फ़रीद की भी आलोचना की मनोवैज्ञानिक पद्धति में आस्था है। मीर, जोश और शिवली पर उनकी आलोचनाएं इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं। पाश्चात्य साहित्य पर उनकी गंभीर दृष्टि है और मनोविज्ञान उनका प्रिय विषय है। किन्तु इससे वे अपेक्षित लाभ नहीं उठा सके हैं। वे आलोचक से अधिक व्याख्याकार प्रतीत होते हैं। उन्होंने 'अदीब' उर्दू मासिक के संपादक के रूप में भी उर्दू आलोचना का स्वागत किया है। इसके अतिरिक्त 'नैरंगे नज़र' शीर्षक पुस्तक संपादित करके उर्दू आलोचना का एक प्रकार के समीक्षात्मक इतिहास प्रस्तुत कर दिया है। उनसे उर्दू आलोचना को भविष्य में बड़ी आशाएं हैं।

उर्दू आलोचना के गत पन्द्रह-बीस वर्षों में अंग्रेजी के प्रभाव से अनेक क्रान्तिप्रिय समालोचक प्रकाश में आये हैं। ये समालोचक भी मनोवैज्ञानिक विचारधारा के हैं। और इनका विचार है कि साहित्य लेखक के व्यक्तित्व का प्रतिबिंब होता है। उसकी रचनाओं को केवल कला के बने-बनाये सिद्धान्तों की दृष्टि से परखना चाहिये। इन समालोचकों में कलीमुद्दीन अहमद और डा. अहसन फ़ारुक़ी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। ये समालोचक अपनी उग्रता के कारण अतिवाद की सीमाओं को छू लेते हैं। कलीमुद्दीन अहमद ने वैज्ञानिक आलोचना का नारा लगाया और उर्दू के संपूर्ण आलोचना साहित्य को दो कौड़ी का सिद्ध करने पर तुल गये। कलीमुद्दीन की दृष्टि अंग्रेजी साहित्य पर बहुत गहरी है किन्तु उन्होंने उर्दू साहित्य को कदाचित् अच्छी तरह नहीं समझा है। उनकी इसी प्रवृति ने उनकी आलोचना को हलका कर दिया। उनके पास कुछ इने-गिने शब्द हैं जिसका प्रयोग वे हर समालोचक के लिए आंख मूंदकर कर जाते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कलीमुद्दीन ने तनकीद के नाम पर जो कुछ भी लिखा है वह सब व्यर्थ या छिछला और सतही है। उन्होंने अनेक स्थलों पर चिन्तनपूर्ण तथा विचार शील आलोचना भी की है। उर्दू कवियों और समालोचकों में कुछ एक तो निश्चय ही कलमुद्दीन की तनक़ीद का सही निशाना बने हैं और उनमें वे दोष पाये जाते हैं जिनकी ओर कलीमुद्दीन ने संकेत किया है। बस कुछ कहने के पूर्व यदि वे अपनी भावुकता तथा उग्रता में चिन्तन और सहृदता का एक हल्का सा समावेश कर लेते तो उनकी आलोचना उर्दू साहित्य में अद्वितीय हो सकती थी। और वे उर्दू के समालोचकों में इससे कहीं ऊँचा स्थान प्राप्त कर सकते थे जो इस समय उन्हें प्राप्त है।

कलीम साहब की लय अभी हल्की भी नहीं हुई थी कि उसकी गूंज डा. अहसन फ़ारूक़ी की आलोचना में उसी तीव्रता और टन्नाके के साथ सुनाई पड़ी। उर्दू समालोचकों में उन्हें कलीमुद्दीन अहमद सबसे अधिक योग्य और श्रेष्ठ प्रतीत होते हैं। वे उनके एक सच्चे वकील के रूप में प्रकट हुये हैं। उनके विचारों में यद्यपि वैसी उग्रता और इन्तहा पसन्दी नहीं है जो कलीमुद्दीन के यहां पाई जाती हैं फिर भी उनकी शैली में ऐसी कटुता है जो उन्हें कलीमुद्दीन के बहुत निकट खड़ा कर देती है। संतुलन के अभाव के कारण उनकी आलोचना भी किसी चिन्तनशील तथा समझदार व्यक्ति को बहुत अधिक प्रभावित नहीं कर सकती।

इन तमाम बातों के होते हुये भी उर्दू नाविल पर फ़ारूक़ी साहब की आलोचना महत्वपूर्ण कही जा सकती है। उनकी पुस्तक 'अदबी तख़लीक़ और नाविल' इस दृष्टि से विशेष अवलोकनीय है। फ़ारूक़ी साहब ने नाविल के क्षेत्र में सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचनाएँ लिखी हैं और वे बहुत हद तक सफल भी हुए हैं।

इधर कुछ वर्षों से अनवर सिद्दीक़ी भी यही क्रांतिप्रिय दृष्टिकोण लेकर उर्दू आलोचना के क्षेत्र में आये हैं। अंग्रेज़ी साहित्य पर उनकी गहरी दृष्टि है और उर्दू का ज्ञान भी वे कम नहीं रखते। फिर भी उनकी आलोचना विध्वंसात्मक सी होकर रह गई है। उन्होंने भी बहुत सोच-समझ कर एक ऐसा ही रास्ता निकाला और उर्दू में गद्य के अस्तित्व से ही इन्कार कर दिया। किन्तु उन्हें वह ख्याति न प्राप्त हो सकी जो कलीमुद्दीन अहमद को प्राप्त है। उनका स्वर नक्कार खाने में तूती की आवाज होकर रह गया।

उर्दू आलोचना के क्षेत्र में गत पन्द्रह बीस वर्षों में यथेष्ट कार्य हुआ है और इधर दस-पांच वर्षों से उर्दू आलोचकों का एक सैलाब सा उमड़ पड़ा है। किन्तु आलोचकों की नयी धारा अपने अन्दर सन्तुलन तथा गांभीर्य की बड़ी हद तक कमी रखती है। फलस्वरूप उर्दू के नये लिखने वालों की कोई विशेष दिशा अभी तक निश्चित नहीं हो सकी है। उर्दू के बिल्कुल नये समालोचकों को इसी दृष्टि से इस लेख में स्थान नहीं मिल सका है। पुराने समालोचकों में भी कई जाने पहचाने नाम छूट गये हैं। उनमें से प्रत्येक के विषय में कुछ लिख सकना इस लेख में सम्भव नहीं है फिर भी कुछ एक समालोचक ऐसे रह गये हैं जिनके विषय में कुछ लिखना आवश्यक प्रतीत होता है। इनमें प्रोफ़सर असलूब अहमद अनसारी, डा. खुरशीदुल इसलाम, डा. ख़लीलुर्रहमान आज़मी, डा. क़मर रईस और अतहर परवेज़ के नाम विशेष रूप से लिए जा सकते हैं।

असलूब अहमद अनसारी उर्दू में मानवतावादी दृष्टिकोण लेकर आये। उनकी सात्विक प्रकृति के प्रभाव से उनकी आलोचना भी अपने सात्विक रूप में प्रकट हुई। अंग्रेज़ी साहित्य के प्रवक्ता होने के कारण उन्होंने इसका गम्भीर अध्ययन किया और अपने विचारों को सन्तुलित रूप में उर्दू समालोचकों के बीच प्रस्तुत किया। चिन्तन की गहराई और विचारशीलता उनकी आलोचना का नुमायां पहलू हैं।

डा. खुरशीदुल इसलाम यद्यपि आलोचना के क्षेत्र में बड़े जोश के साथ दाख़िल हुए किन्तु वे इसके योग्य नहीं प्रतीत होते। उनकी प्रवृत्ति आलोचना लिखने की कम और बात-बात पर चौंका देने की अधिक है। किन्तु उनकी बातों में कोई विशेष सार नहीं मिलता। तनक़ीदे के नाम से उनकी आलोचना पुस्तक प्रकाशित हुई है। इसके अतिरिक्त उन्होंने ग़ालिब पर भी विशेष कार्य किया है। किन्तु उनके विचार अधिकतर अस्पष्ट हैं और फिर चिन्तन का भी अभाव मिलता है। लम्बे चौड़े उद्धरणों के सहारे आलोचना को आगे बढ़ाने में उन्हें विशेष महारत है। उनकी आलोचना बहुत उच्चकोटि की नहीं कही जा सकती।

डा. ख़लीलुर्रहमान आज़मी उर्दू के एक अच्छे कवि और एक विचारशील समालोचक हैं। आज़मी साहब यद्यपि स्वयं को आलोचक से अधिक कवि समझते हैं, किन्तु उनका आलोचक

का रूप उनके कवि रूप से कहीं अधिक सबल और सुन्दर है। उर्दू के प्रसिद्ध कवि आतश पर उनकी पुस्तक व्यावहारिक आलोचना की दृष्टि से महत्वपूर्ण कही जा सकती है। इसके अतिरिक्त 'फ़िक्रोफ़न' में संग्रहीत उनके आलोचनात्मक निबन्ध भी उच्चकोटि के हैं। आज़मी साहब की आलोचना में सन्तुलन है, चिन्तन और विचारशीलता है, सरलता और बोध-गम्यता है, उदारता और सहानुभूति की वृत्ति है और गुण-दोष विवेचन की ऐसी क्षमता है जो उन्हें उर्दू के श्रेष्ठ समालोचकों में खड़ा कर देती है।

डा. क़मर रईस ने उर्दू नाविलों पर विशेष कार्य किया है। उन्होंने साहित्य की इस विधा का गंभीर अध्ययन किया है। प्रेमचन्द पर उनका प्रबंध तथा उर्दू नाविलों पर उनकी अन्य आलोचना कृतियां इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं। उनकी आलोचना एक स्वस्थ वातावरण में फूली फली है। अनेक भाषाओं के गंभीर ज्ञान से उन्होंने उर्दू आलोचना को सजाया और संवारा है। उनकी आलोचना उपादेय कही जा सकती है।

अतहर परवेज़ आलोचक के रूप में यद्यपि बहुत अधिक प्रसिद्ध नहीं है किन्तु आलोचक की तमाम विशेषताएं उनकी तहरीरों में विद्यमान हैं। उनकी पुस्तक 'अदब का मतालेआ' उनके सुलझे हुए दृष्टिकोण की परिचायक है। इसके अन्तर्गत उन्होंने सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचनाएं लिखी हैं। उर्दू साहित्य को उनसे बड़ी आशाएं हैं।

जैसा कि ऊपर भी संकेत किया जा चुका है कि उर्दू के अनेक समालोचकों का उल्लेख इस लेख में नहीं हो सका है किन्तु ऐसा करने में लेखक की इच्छा का कोई दख़ल नहीं है। प्रयत्न केवल यह किया गया है कि उर्दू आलोचना के क्षेत्र में जो अनेक पद्धतियां प्रचलित हैं उन सब के प्रतिनिधि तथा महत्वपूर्ण समालोचकों को समेटा जा सके और उनका एक संक्षिप्त समीक्षात्मक परिचय करा दिया जाय। अन्त में उर्दू आलोचना वर्तमान समय में जिन परिस्थितियों के बीच से होकर गुज़र रही है उसकी भी कुछ चर्चा कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

आज की उर्दू आलोचना में पत्रिकाओं का भी एक विशेष योग है। उर्दू में उच्चस्तर की अनेक ऐसी पत्रिकाएं हैं जिनके अंक में उर्दू आलोचना आज तेज़ी से आगे बढ़ रही है। इनमें उर्दू अदब, सवेरा, नयादौर, सहीफ़ा, फ़ुनून अदबे लतीफ़, अफ़कार, साक़ी, सीप, नुक़ूश, तहरीक, जामेआ, शायर और किताब के नाम लिए जा सकते हैं।

आज की उर्दू आलोचना विश्वविद्यालय के प्रवक्ताओं और विद्यार्थियों के हाथ में आकर सिमट गयी है। कवि और साहित्यकार स्वयं ही आलोचक भी बन गये हैं। जिससे— "मन तरा हाजी बगोयम तू मरा हाजी बगो" की प्रवृत्ति जोर पकड़ती जारही है। विभिन्न गुटों में समालोचक की प्रतिभा बँट कर रह गयी है। वह अपने किसी निजी दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति खुल कर नहीं कर पा रहा है। नये आलोचकों की दृष्टि अधिकतर नये साहित्य तक सीमित है। उर्दू के क्लैसिकल के प्रति ऐसा लगता है उन्हें विशेष सहानुभूति नहीं रह गयी है।

आज की उर्दू आलोचना में पारिभाषिक शब्दावली का कोई एक निश्चित रूप नहीं मिलता। सिम्बॉलिज़्म के लिए रमज़ियत और इशारियत दोनों शब्द प्रयुक्त हैं और सिंबल

के लिए अलामत का भी प्रयोग होता है। इस प्रकार के शब्दों की एक बड़ी संख्या है। सुरूर साहब ने आज की आलोचना के विषय में लिखा है– "ये अदब की ख़ातिर तालीम तहज़ीब समाजियात, नफ़सियात सबकी वादियों से गुज़रेगी। मगर इनमें भटकते रहने के बजाय अपने मरकज़ की तरफ़ वापिस आयेगी और बकौल ईलियट फ़न और फ़नपारो की तौज़ीह के ज़रिए ज़ौकेसलीम की इशाअत करके इस सनअती दौर में इनसानियत की कदरों का अलम बुलन्द रखेगी।"

●
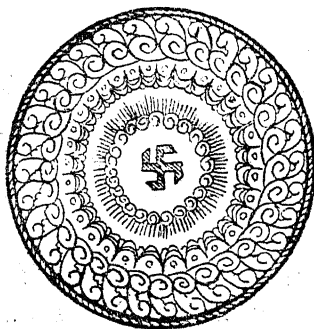
डा. प्रतापनारायण टंडन, डी. लिट्

अंग्रेजी आलोचना की प्राचीन परम्परा

यूरोप की विविध वैचारिक परम्पराओं का अध्ययन करने पर इस तथ्य की अवगति होती है कि वहाँ पर प्राचीन काल में यूनानी और रोमीय समीक्षा शास्त्रीय परम्पराओं का विशेष महत्व है। इन दोनों परम्पराओं के अन्त के पश्चात् यूरोप में एक दीर्घ काल के पश्चात् एक प्रकार की वैचारिक क्रान्ति उपस्थित हुई। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि साहित्य चिन्तन के क्षेत्र में एक प्रकार का पुनर्जागरण सा हुआ जिसके फलस्वरूप विविध भाषाओं की परम्पराओं का आरम्भ और विकास हुआ। अंग्रेजी साहित्यालोचन की परम्परा इन सब में प्रमुख कही जा सकती है। लगभग सोलहवीं शताब्दी से स्फुट रूप से विकासशील रहने के पश्चात् अंग्रेजी आलोचना किसी क्रान्तिकारी उपलब्धि को प्राप्त करने की दिशा में प्रयत्नशील हुई। आरम्भिक विचारकों में स्टीफेन हाज़, सर टामस विल्सन, सर जान चीक तथा राजर अशाम आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। विल्सन ने 'आर्ट आफ रिटारिक' नामक कृति में भाषा सम्बन्धी विचारों को अभिव्यक्त किया। विल्सन का यह विचार था कि युगीन साहित्यिक गतिविधि के सम्बन्ध में विभिन्न समस्याओं का निदान तभी सम्भव है जब भाषा के क्षेत्र में सुधार और विकास हो। इस विषय में उसका दृष्टिकोण परम्परावादी था। अपनी भाषा को समृद्ध बनाने के लिए वह विदेशी भाषाओं के शब्दों को ग्रहण करने के पक्ष में नहीं था परन्तु फिर भी भाषा क्षेत्रीय अभावों को दूर करके उसे अधिक उपयुक्त बनाने के विचार से उसने इस मत का समर्थन किया कि यूनानी और लैटिन भाषा के कुछ शब्दों को अपना लिया जाय क्योंकि ये ही दोनों भाषाएं साहित्यिक परम्पराओं की मूल प्रेरक स्रोत थीं।

इसीलिए उसने परम्परानुगामिता और शास्त्रीयता का समर्थन करते हुए नवीनता को प्रश्रय देने का विरोध किया।

विल्सन ने भाषण शास्त्र के क्षेत्र में भी पर्याप्त चिन्तन किया। उसने इस विषय के प्राचीन और शास्त्रीय सिद्धान्तों के पुनरस्थापन की दिशा में क्रान्तिकारी प्रयत्न किया यद्यपि इसकी प्रतिक्रिया के रूप में कोई तात्कालिक क्रियात्मकता लक्षित नहीं हुई। इतना परिणाम अवश्य हुआ कि अनेक विचारक आगे चलकर इस क्षेत्र में क्रियात्मक शीलता का परिचय देने लगे। यों अधिकांश भाषण शास्त्रियों ने इस विषय के प्राचीन नियमों का ही अनुगमन किया। भाषण के तत्वों की विवेचना करते हुए इन विद्वानों ने विषय का सम्यक् ज्ञान, उसके कलापूर्ण प्रयोग और उसके अनुरूप शैली में अभिव्यक्ति को प्रभावपूर्ण भाषण के मुख्य तत्वों के रूप में मान्य किया। अलंकार युक्त चामत्कारिक परन्तु स्पष्ट शैली पर गौरव दिया गया। शैली की सफलता चूंकि भाषा पर ही मुख्य रूप से निर्भर करती है इसलिए विषयानुकूल भाषा रचना के लिए अनुरूप शब्दावली का चयन अनुमोदित किया गया। सर जान चीक भी ग्रीक और लैटिन भाषाओं के आवश्यक शब्दों को ग्रहण कर लेने के पक्ष में था यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि-कोण से वह भाषा का विकास उसकी स्वाभाविक गति के अनुसार होने देने का पक्षपाती था।

राजर अशाम ने अंग्रेजी भाषा के स्वाभाविक विकास पर बल दिया। वह क्लासीकल महत्व के ग्रन्थों के अनुवाद का समर्थक था। परन्तु उसका यह विचार था कि अनुवाद कार्य शिक्षा के माध्यम के रूप में तो मान्य हो सकता है परन्तु उससे कोई साहित्य प्रगति नहीं कर सकता। अपने समकालीन विचारकों की इस प्रवृति का वह विरोधी था कि अनुवाद कार्य को ही वे साहित्य के गम्भीर दायित्व और कर्तव्यों की इति समझ बैठे थे। रचनात्मक साहित्य में वह नाटकीय तत्वों के समावेश का विरोधी था क्योंकि इनसे साहित्य की उच्चता का हनन होता है। उसकी यह भी धारणा थी कि स्वदेशी भाषा को किसी भी स्थिति में विदेशी भाषा के इतने शब्द नहीं ग्रहण कर लेने चाहिए जिसके कारण उसकी स्वतंत्र विशेषताएं समाप्त हो जायें और वह एक प्रकार की मिश्रित भाषा बन जाय।

उपर्युक्त विचारकों के पश्चात् अंग्रेजी साहित्यालोचन की परम्परा में सर फिलिप सिडनी का नाम उल्लेखनीय है। सिडनी ने अपनी 'एपोलोजी फार पोइट्री' अथवा 'डिफेंस आफ पोइज़ी' नामक ग्रन्थ में अनेक महत्वपूर्ण विचार अभिव्यक्त किये। उसने काव्य रूपों में विशेषतः रोमांस का समर्थन किया। उसने बताया है कि एक सर्जक होने के कारण कवि का स्थान अन्य क्षेत्रीय विचारकों की अपेक्षा उच्च होता है। एक कवि का महत्व इस कारण भी होता है क्योंकि संसार की सभी कलाओं का प्रयोजन सद्आचरण होता है और इस दृष्टि से उनमें और काव्य में कोई उद्देश्यगत भेद नहीं है क्योंकि काव्य से भी नैतिक शिक्षा और सद्आचरण की प्रेरणा मिलती है। इसके अतिरिक्त काव्य इनके जेम की सम्भावनाओं की इस रूप में सृष्टि करता है कि असद् आचरण के लिए उसमें अधिक स्थान नहीं रह जाता। सिडनी ने सद्-इच्छा को ही काव्य की मूल और उचित प्रेरक शक्ति माना है क्योंकि असद् इच्छा के माध्यम से कवि को पूर्णत्व का बोध नहीं हो सकता।

सिडनी भी यूनानी विचारक अरस्तू की भांति काव्य को अनुकरण का एक माध्यम मानता था। आलंकारिक भाषा में उसने काव्य को एक ऐसा सजीव-चित्र बताया है जिसका उद्देश्य आनन्दानुभूति और उपदेशात्मकता है। चूंकि काव्य कला अनुकरणात्मक होती है इसलिए काव्य एक सवाक् चित्त के समान होता है जिसका प्रयोजन उपर्युक्त ही है। ये गुण एक प्रकार की अन्तर्निर्भरता के सम्बन्ध से बद्ध हैं। क्योंकि जो काव्य आनन्दमय नहीं है उससे यह आशा करना निरर्थक है कि उसमें उपदेशात्मकता का गुण विद्यमान होगा। सिडनी छंद तत्व को भी काव्य के अलंकरण का एक साधन मानता था। वह काव्य का लक्ष्य इसलिए उच्चतर मानता था क्योंकि उसके विचार से वह जीवन के स्तरीकरण का माध्यम होने के साथ ही साथ उसकी सम्भावनाओं को भी उत्पन्न करता है। उसने जीवन के स्तरीकरण के अन्य माध्यमों तथा साधनों की अपेक्षा काव्य को अधिक व्यवहार्य प्रतिपादित किया है।। सिडनी ने अपने युग में सर्वप्रथम गद्य की अपेक्षा पद्य का महत्व अधिक प्रतिपादित करते हुए अंग्रेजी काव्य के विकास का अध्ययन किया और उसकी उपलब्धियों को आंका। अंग्रेजी काव्य की अपरिपक्वता का उसने मुख्य कारण यह बताया कि अंग्रेजी कवियों ने कभी भी शास्त्रज्ञों के द्वारा निर्धारित और अनुमोदित सिद्धान्तों की पूर्णरूपेण पालन की आवश्यकता नहीं समझी। उसने काव्य में पथ तत्व को कुछ इस प्रकार से अनिवार्य रूप में समाविष्ट बताया जो उससे पृथक् नहीं किया जा सकता। विविध साहित्य रूपों में उसने आपेक्षिक दृष्टिकोण से ट्रेजेडी या कामेडी को बहुत सम्मानित या स्तरीय नहीं माना। साहित्यांगों के मिश्रित होने का विरोधी होने के कारण वह मिश्रित रूपांतक या प्रसादांतक रचना का भी विरोधी था। वह काव्य को शरीर और आत्मा से युक्त मानता था। उसका मत था कि चूंकि काव्य में शरीर और आत्मा दोनों ही होती हैं इसलिए जहां तक उसके अलंकरण का सवाल है, उसके शरीर को तो अलंकरण से सुन्दर बनाया जा सकता है परन्तु आत्मा को सौन्दर्ययुक्त बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसका विषय-चयन पूर्ण सतर्कता से किया जाय। दूसरे शब्दों में, वह काव्य के बाह्य स्वरूप को सुन्दर बनाना आन्तरिक रूप को सुन्दर बनाने की अपेक्षा सरल समझता था।

सिडनी ने कवि को एक प्रकार का सृष्टा माना है। वह कवि को अन्य कलाकारों और दार्शनिकों से उच्चतर होने का अधिकारी मानता था क्योंकि एक सृष्टा के रूप में कवि द्वारा की गयी सृष्टि मूल रूप से उसकी प्रतिभा द्वारा प्रेरित और उसी पर आधारित होती है। यह सृष्टि पूर्णतः काल्पनिक नहीं होती है क्योंकि कवि की प्रतिभा और योजना के फलस्वरूप वह अभिव्यक्ति के पूर्व ही उसके मस्तिष्क में विचारों के रूप में तैयार हो चुकती है। इसीलिए कवि की रचना प्रकृति द्वारा निर्धारित सीमाओं का अतिक्रमण भी कर जाती है क्योंकि कवि यह सृष्टि ईश्वर की प्रेरणा से ही करता है। काव्यात्मक अनुकरण को वह मूलतः सत्य का ही अनुकरण बताता है। उसके साहित्य सिद्धान्तों में कवि प्रतिभा का बहुत अधिक महत्व है क्योंकि इसके अभाव में किसी भी व्यक्ति में काव्य रचना की शक्ति का उद्भव सर्वथा असम्भव है। केवल परिश्रम, अभ्यास अथवा अध्ययन से कोई व्यक्ति कवि

नहीं बन सकता है। इसीलिए उसने प्रतिभा को प्राथमिक और अनिवार्य बताया।

सिडनी के पश्चात् अंग्रेजी साहित्यालोचन के इतिहास में किंग जेम्स का नाम उल्लेखनीय है। उसने सिडनी का विरोध करते हुए काव्य में लय तत्व को अनिवार्य नहीं माना। उसका विचार है कि काव्य में लय तत्व का समावेश तो किया जा सकता है परन्तु इसकी आवश्यकता केवल विशिष्ट स्तरों पर ही हो सकती है। गेब्रियल हारवे ने अंग्रेजी में शास्त्रीय छंद रचना के प्रारम्भ पर बल दिया। यह छंद शास्त्रीय परम्परानुगामिता का समर्थक था। पुटनहाम ने काव्य में दार्शनिक तत्वों के समावेश को औचित्यपूर्ण ठहराया। उसने भाषा, शैली, शब्द-चयन, छंद तत्व तथा लय तत्व आदि का सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत किया। सेमुअल डेनियल ने काव्य में लयात्मकता की उपेक्षा को उचित नहीं बताया। उसके विचार से लयात्मकता से काव्य के सौन्दर्य में तो वृद्धि होती ही है वह उसकी उत्कृष्टता का भी एक लक्षण होता है।

सोलहवीं शताब्दी के अन्य विचारकों में फ्रांसिस बेकन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसने काव्य में कल्पना तत्व को विशिष्टता प्रदान की है। कल्पना का काव्य में महत्व प्रतिपादित करते हुए उसने इस साहित्यिक माध्यम के विषय में कुछ मौलिक धारणाएं प्रतिपादित की हैं। वह कहता है कि काव्य एक प्रकार की असंतोषजनक प्रतिक्रिया है। यह प्रतिक्रिया कवि को यह प्रेरणा देती है कि वह अपनी कल्पना को कोई सा भी इच्छित रूप प्रदान कर दे। इसीलिए उसने कल्पना को एक प्रकार की मानसिक शक्ति के रूप में मान्यता दी है। काव्य रूपों का विभाजन करते हुए बेकन ने कथात्मक काव्य, प्रतिनिध्यात्मक काव्य और लाक्षणिक काव्य के रूप में उनका विभाजन किया है। साहित्य और काव्य के तत्वों का विश्लेषण करते हुए उसने सशक्तता और सहजता को शैली के मुख्य गुण बताये। इन गुणों के समावेश से साहित्यिक सफलता की सम्भावनाएं बढ़ जाती हैं और इन गुणों की सम्भावना तभी हो सकती है जब साहित्यकार शब्द-चयन में सतर्कता से काम ले। भाषा और शैली की सफलता और गुणात्मकता एक दूसरे पर निर्भर रहती है। वह कहता है कि काव्य की निर्देशक शक्ति कल्पना होती है। ठीक उसी प्रकार से जैसे इतिहास की निर्देशक शक्ति मेधा अथवा दर्शन का ज्ञान होती है। नाटक की प्रभावात्मकता का गुण उसके विचार से दर्शकों की सामूहिक मनोवृत्ति होती है। दर्शकों की बड़ी संख्या उनके रस संचार में सहायक होती है। तर्कात्मकता और निष्कर्षात्मकता को बेकन उपेक्षणीय मानता था।

बेकन के अतिरिक्त इस युग में सर जॉन हैरिंगटन, फ्रांसिस मियर्स, जान वैब्सटर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से हैरिंगटन साहित्य में लाक्षणिक व्याख्या को अधिक महत्व नहीं देता था। मियर्स और वैब्सटर व्यावहारिक समीक्षा के समर्थक थे। टामस कैम्पियन लयात्मकता का विरोधी था। इस शताब्दी का अन्तिम विचारक बेन जानसन साहित्यशास्त्र का एक महान् अध्येता था। उसने साहित्य के विविध रूपों का विस्तार से विवेचन किया है। वह काव्य के महत्व का समर्थक था यद्यपि कुछ कारणों से उसकी धारणा

अंग्रेजी कवियों और नाटककारों के विषय में बहुत अच्छी नहीं थी और वह बहुधा उनका विरोध भी करता था। 'दि पोइटास्टर', 'कैवरसेसंस' तथा 'डिसकवरीज़' आदि में अभिव्यक्त विचारों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह साहित्य की प्रगति-हीनता का एक मुख्य कारण भाषा की निर्धनता को भी मानता था। शास्त्रीयता का पक्षपात करते हुए उसने दृढ़तापूर्वक अपने इस मन्तव्य का प्रतिपादन किया कि काव्य-रचना का मूल स्रोत शास्त्रीय अनुकरण ही है। उसके विचार से काव्य का मुख्य प्रयोजन जीवन की श्रेष्ट विधि का संकेत है। श्रेष्ठ कवि बनने के लिए श्रेष्ट जीवन की स्वीकृति वह आवश्यक मानता है। इसीलिए कोई व्यक्ति तब तक अच्छा कवि नहीं बन सकता जब तक कि वह अच्छा मनुष्य न बन चुका हो।

कवि की आवश्यक योग्यताओं का निदर्शन करते हुए बेन जानसन ने उसमें स्वाभाविक बुद्धि को आवश्यक बताया है। उसकी आवश्यकता इस कारण से है कि केवल नियमित अभ्यास और विविध सिद्धान्तों के अनुगमन से ही न तो काव्य-कला को आत्मसात् करना ही सम्भव है और न कवि बन सकना ही। नैसर्गिक प्रतिभा के साथ कवि में काव्य कला के प्रति एक जन्मजात प्रेरणा भी आवश्यक है क्योंकि प्रौढ़ावस्था के पश्चात् यदि वह किसी अन्य आकर्षण से इस क्षेत्र में पदार्पण करेगा तब यह तो सम्भव होगा कि वह शीघ्रता से काव्य-रचना कर सके परन्तु श्रेष्ठ काव्य-लेखन इससे न हो सकेगा। अनुकरणात्मकता की प्रवृत्ति को आवश्यक बताते हुए उसने उसकी स्वतंत्रता पर बल दिया है। उसके विचार से कवि के लिए सूक्ष्म, गहन और व्यापक अध्ययन ही जीवन की सबसे बड़ी पूँजी होती है जिस पर उसकी प्रतिष्ठा का भवन खड़ा होता है। यदि कोई कवि शास्त्रीय नियमों और सिद्धान्तों के ज्ञान को अवगति रखेगा तो इनमें अपनी प्रतिभा के योग से वह उतना ही काव्य विवेक अपने आप में जगा सकेगा और काव्य को परख भी सकेगा।

लैटिन साहित्य की परम्परा से बेन जानसन ने पर्याप्त प्रभाव ग्रहण किया था। इसी कारण उसने काव्य की श्रेष्ठता के लिए नैतिकता के तत्वों को आवश्यक बताया। वह सर्व-श्रेष्ठता पर सबसे अधिक बल देता है और यह निर्देशित करता है कि केवल सर्वश्रेष्ठ साहित्यकारों की कृति का ही पारायण करना चाहिए और केवल सर्वश्रेष्ट वक्ताओं के भाषणों का ही श्रवण करना चाहिए। उसने शैली पर बल देते हुए यह कहा है कि शैली के क्षेत्र में निजता और मौलिकता पर ध्यान केन्द्रित रखना चाहिए क्योंकि साहित्यकार मुख्य रूप से अपनी निजी शैली का ही परिष्कार कर सकता है। शैली की संक्षिप्तता पर भी उसने जोर दिया है। उसने शैली को केवल वस्त्र ही नहीं वरन् विचारों का शरीर भी माना है। नाट्य रूपों में उसने ट्रेजेडी और कामेडी की व्याख्या की है। इन दोनों नाट्य भेदों में उसने कोई उपकरणगत अन्तर नहीं माना है और न ही कोई लक्ष्यगत विभिन्नता बताई है। ट्रेजेडी अपने करुण दृश्यों की योजना के द्वारा नैतिकता की शिक्षा देती है परन्तु कामेडी मूर्खता को उपेक्षणीय कहकर नैतिक होने की प्रेरणा देती है। कामेडी में लेखक मानवीय चरित्र की कमियों की निवृति करता है जिससे लोगों का ध्यान उनकी ओर जाय और वे उनसे मुक्त होने की चेष्टा

करें। उद्देश्यगत समानता होते हुए भी ट्रेजेडी का सम्बन्ध उच्चता और असाधारणता से होता है जब कि कामेडी सामान्य अनुभवों पर आधारित होती है। इसके अतिरिक्त ट्रेजेडी का बाह्य आधार भी होता है जो कामेडी का नहीं होता यद्यपि कामेडी का हास्य-तत्व समाज सुधारक होता है। बेन जानसन के उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह संक्षिप्तता क्रमबद्धता, शास्त्रीयता तथा समरूपता का समर्थक था और साहित्य में अपूर्णता और विधि-हीनता का दृढ़ विरोध करता था।

इसके पश्चात् १७ वीं शताब्दी में यूरोप में अंग्रेजी साहित्य की परम्परा का जो विकास हुआ उसके अन्तर्गत ड्रायडन जैसे महान् विचारकों का अभ्युदय हुआ। प्राचीन परम्परा के अनुकरण पर इस युग में अन्य भी अनेक विचारक हुए। इस शताब्दी के प्रारम्भिक विचारकों में सर विलियम डेवनेंट का नाम उल्लेखनीय है जिसने व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया। वह अनुकरण पर बल देने के साथ-साथ उसका प्रयोग सर्वथा आधुनिक अर्थ में करता था। भाषा के विषय में वह अत्यधिक सजगता का समर्थक था जिससे अनावश्यक शब्दों का बहिष्कार हो सके। काव्य को वह संसार की सर्वश्रेष्ठ विधा मानते हुए उसकी विरोधी धारणाओं से सहमति न रखता था। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से न केवल काव्य के विषय में उसकी धारणा बहुत उच्च थी वरन् वह काव्य का भारी प्रशंसक और उसमें गम्भीर अभिरुचि रखता था। इसी प्रकार से टामस हाव्स भी काव्य-रूपों का विभाजन वैज्ञानिक रूप में करने के कारण मान्य है। वह इस सामान्य मन्तव्य का विरोधी था कि पद में लिखी गयी प्रत्येक रचना अनिवार्य रूप से काव्य होती है। उसने यह मानना भी अस्वीकार कर दिया कि काव्य का विषय केवल मानव चरित्र के विविध रूपों का अंकन करना ही है।

जान मिल्टन ने काव्य के स्वरूप पर विचार करते हुए यह बताया है कि उसे भावात्मक तथा आनन्ददायक होना चाहिए। वह काव्य में लय तत्व का कड़ा विरोधी था यद्यपि यह एक विचित्र तथ्य है कि उसके काव्य में लयात्मकता अनेक स्थलों पर विशिष्ट रूप में मिलती है। उपदेशात्मक काव्य के लिए उसने सरलता और भावमयता को आवश्यक बताया है। उसके विचार से जो काव्य उपदेशात्मक होगा वह तर्कात्मक काव्य से हीन कोटि का होगा। मिल्टन के विचार से साहित्य-समीक्षा का लक्ष्य विवेकपूर्ण दृष्टिकोण से सत्य की विवृति करना है। इसीलिए उसको पक्षपात रहित होकर अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करना चाहिए और अनावश्यक रूप से इस दम्भ भावना का शिकार नहीं होना चाहिए कि वह महान् साहित्यकारों के विषय में निर्णय देने जैसे महत्वपूर्ण कार्य को कर रहा है। उसे बिना किसी पूर्वाग्रह के किसी कृति को ठीक ढंग से समझने की चेष्टा करनी चाहिए और इस सम्भावना को भी दृष्टि में रखना चाहिए कि उसे इस दिशा में विशेष सतर्क इसलिए भी रहना है क्योंकि वह अपने समकालीन लेखकों और परिस्थितियों के प्रभावस्वरूप उसके विषय में उचित निर्णय लेने में भूल भी कर सकता है। मिल्टन के साथ ही एब्राहम काउली का नाम भी उल्लेखनीय है जो वार्तालापात्मक और तर्कात्मक के क्षेत्र में एक महान् प्रतिभा समझा जाता है। एक कवि के रूप

में काउली के दो प्रमुख व्यक्तित्व हैं :—प्रथम आध्यात्मिक काव्य लिखने के क्षेत्र में और द्वितीय शास्त्रीय काव्य लिखने के क्षेत्र में। इनमें से जहाँ एक ओर प्रथम कोटि के काव्य में कल्पना तत्व का आधिक्य है वहाँ दूसरी ओर द्वितीय कोटि के काव्य में रोमान्टिक तत्व का न्यूनता से समावेश करना है।

अंग्रेजी समीक्षा के क्षेत्र में इस शताब्दी की सबसे महत्वपूर्ण घटना ड्रायडन का आविर्भाव है। ड्रायडन के काव्य सिद्धान्त युगीन आलोचनात्मक मान्यताओं के सन्दर्भ में विशिष्ट महत्व के हैं। उसका यह विचार है कि प्रत्येक जाति, युग, देश तथा मनुष्य की अपनी निजी प्रतिभा भी होती है जिसका स्वरूप उसी के अनुसार वैशिष्ट्य या वैभिन्न्य से निर्धारित होता है। काव्य में अनुकरणात्मकता के विषय में वह पूर्ववर्ती विचारकों से सहमति रखते हुए भी प्रभावात्मकता के दृष्टिकोण से मात्र अनुकरण को अपर्याप्त समझता था। काव्य के प्रयोजन को वह आनन्दात्मकता और उपदेशात्मकता मानते हुए कलात्मक अनुकरण का समर्थन करता था। ड्रायडन का यह विचार था कि जब कोई साहित्यकार काव्य-रचना के क्षेत्र में सफलता प्राप्त नहीं कर पाता तब उसका नैतिक पतन होने लगता है और वह आलोचक बन जाता है। ऐसा वह इस कारण कहता था क्योंकि उसके समकालीन अनेक साहित्यकार काव्य-रचना के क्षेत्र में असफल होने पर काव्य विरोधी हो गये थे। इसीलिए वह आलोचना के भी उपदेशात्मक होने का विरोधी था। यों सैद्धान्तिक रूप से ड्रायडन काव्य में कल्पना को एक ऐसी शक्ति के रूप में मान्य करता था जो मानव हृदय की अनुभूतियों को पूर्णता से अभिव्यक्त कर सकती है। कल्पना तत्व का समावेश काव्य में इस उद्देश्य से किया जाता है क्योंकि वह कवि के अभीष्ट को कलात्मक रूप में प्रस्तुत करती है। इसकी सहायता से कवि अपनी सामान्य अनुभूतियों को भी अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करने में सफल होता है परन्तु उसने कल्पना को सर्वोच्च मानसिक शक्ति नहीं माना है। वह यह भी कहता है कि विरोध से कल्पना शक्ति विकसित होती है। इसलिए कवि जितनी हार्दिक तन्मयता से काव्य-रचना करता है उसके लिए अभिव्यक्ति भी उतनी सरल हो जाती है। काव्य में लयात्मकता का समर्थन करते हुए उसने बताया है कि लय से काव्य का अलंकरण होता है और लय तत्व श्रेष्ठ काव्य की सम्भावनाओं को भी जन्म देती है।

अपनी 'डिफेंस आफ द ऐसे' नामक रचना में ड्रायडन ने काव्य में छंद तत्व पर महत्वपूर्ण विचार किया है। महाकाव्य आदि के स्वरूप के विषय में भी इसी कृति में विचार करते हुए उसने यह बताया है कि महाकाव्य में मानवेतर गुणों से युक्त पात्र होते हैं जिनके क्रिया-कलाप एक प्रकार की दिव्यता का आभास देते हैं। नाटक के विषय में विचार करते हुए उसने सप्राण और स्वाभाविक नाटकों को सैद्धान्तिक नाटकों से श्रेष्ठतर माना है। नाट्य रचना के लिए उसने पद्यात्मक भाषा और छंदबद्धता अनुमोदित की है। वह नाटक में मिश्रित रसों का विरोधी नहीं था क्योंकि उसके विचार से सुखांतक और दुखांतक परिस्थितियाँ मिल कर उसे विशेष रूप से प्रभावोत्पादक बना सकती हैं। मिश्रतांतक को बहुत आनन्ददायक साहित्य रूप माना है। हास्य रचना और प्रहसन का तुलनात्मक दृष्टिकोण से महत्व

निर्धारण करते हुए उसने कहा है कि हास्य में निम्नवर्गीय पात्रों के जीवन का स्वाभाविक और यथार्थ चित्रण होता है। इसके विपरीत प्रहसन में यह यथार्थता और स्वाभाविकता नहीं होती। हास्य में मनुष्य की दुर्बलताओं की ओर संकेत होता है, जबकि प्रहसन में उसका पूर्ण अभाव होता है। हास्य के पीछे एक विवेकपूर्ण दृष्टिकोण होता है जबकि प्रहसन सर्वथा निरुद्देश्य भी हो सकता है। हास्य संतोष और प्रहसन घृणा की अवतारणा करता है।

विविध कला-रूपों के विषय में भी ड्रायडन के विचार विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। वह यह मानता था कि साहित्यिक तथा कलात्मक श्रेष्ठता अनेक प्रकार की हो सकती है। उसके मत से चित्रकला में एक कलाकार प्रकृति की अनुकरणात्मक अभिव्यक्ति प्रस्तुत करता है। जो चित्रकार सौन्दर्य को विराटता के साथ साक्षात्कार करके उसे आत्मसात् भी कर चुका होता है वह अपने क्षेत्र में विशेष सफल होता है। काव्यकला और चित्रकला की तुलना करते हुए उसने बताया है कि इन दोनों में पर्याप्त साम्य है। जिस प्रकार से श्रेष्ठ चित्र उन्हीं दर्शकों का स्वागत करते हैं जिनमें कला की परख करने की शक्ति होती है उसी प्रकार से काव्य कला के विषय में भी यही कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त एक चित्र एक विशिष्ट पृष्ठ-भूमि में ही सुन्दर लगता है और चित्रकला की ही भांति काव्यकला को भी अनेक ऐसे विविधतापूर्ण आधारों की आवश्यकता होती है जो पूर्णतः उनके अनुरूप हो। अनुवाद की कला पर विचार करते हुए उसने शब्दानुवाद को श्रेष्ठ बताया है। साहित्यालोचन के सम्बन्ध में ड्रायडन की यह धारणा है कि किसी भी कृति का कलात्मक और साहित्यिक महत्व उसकी प्रभावात्मकता से ही निर्णीत होगा। केवल सिद्धान्तों की कसौटी पर सभी प्रकार के साहित्य को कसना औचित्यपूर्ण नहीं है क्योंकि पाठक पर पड़ने वाले प्रभाव के अनुपात से भी कृति की श्रेष्ठता निर्धारित की जाती है। इस दृष्टिकोण से वह साहित्य में उपदेशात्मकता के पक्ष को अप्रधान मानता है, बल्कि साहित्यालोचन का मुख्य उद्देश्य सौन्दर्य तत्वों की खोज और सौन्दर्य निरूपण बताता है। साहित्यालोचन एक निर्णयात्मक मूल्य है और यह निर्णयात्मक मूल्य तर्कपूर्णता की भी कसौटी होता है। प्राचीन और नवीन विचारधाराओं का संघर्ष उसके विचार से अब प्रत्येक युग में होता रहता है। इस प्रकार से यह आभासित होता है कि ड्रायडन ने साहित्य को उसके समग्र रूप में देखने की चेष्टा की और सर्वयुगीन सिद्धान्तों की मान्यता का समर्थन किया। ड्रायडन के अतिरिक्त इस शताब्दी में टामस राइमर ने साहित्यालोचन पर विचार करते हुए उसे एक साहित्यिक अंकुश के समान बताया है। यदि साहित्यकारों पर समा-लोचकों रूपी अंकुश नहीं रहता तो वे अनुचित स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करने लगते हैं।

१८वीं शताब्दी तक आते-आते अंग्रेजी साहित्यालोचन के क्षेत्र में विशेष क्रियाशीलता लक्षित होती है। इस शताब्दी के साहित्य विचारकों में सर्वप्रथम जान डेनिस का नाम उल्ले-खनीय है जिसने काव्य के प्राकृतिक अनुकरण की अनिवार्यता सिद्ध की। उसके काव्य सिद्धान्त लोंजाइनस और मिल्टन के विचारों से विशेष प्रभावित थे। वह काव्य को भी एक सजीव वस्तु मानता था जो ठीक उसी प्रकार से ईश्वर के अधीन है जिस प्रकार से मनुष्य। इसी-लिए उसने काव्य में धार्मिक, पौराणिक अथवा नैतिक विषयों के समावेश पर विशेष रूप से

बल दिया है। एडवर्ड विशी ने इस विचार का समर्थन किया कि जहां तक अनुकरणात्मकता का प्रश्न है सदैव ही महान् साहित्यकारों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का पालन होना चाहिए। चूंकि प्राचीन काल में वनाये गये अधिकांश साहित्य-सिद्धान्त परवर्ती युगों में निरर्थक घोषित कर दिए जाते हैं इसलिए एडवर्ड विशी ने यह मत प्रकट किया कि या तो प्राचीन सिद्धान्तों को पूर्ण रूप से स्वीकारा जाय अन्यथा उनका बहिष्कार कर दिया जाय। उनके आंशिक अनुगमन से कोई विशेष लाभ नहीं होता।

जोसेफ एडीसन ने बताया कि कल्पना का क्षेत्र प्रत्यक्ष संसार ही है। मनुष्य किसी ऐसी वस्तु अथवा स्वरूप की कल्पना नहीं कर सकता जिसका साक्षात्कार वह पहले न कर चुका हो। कल्पना एक ऐसी शक्ति है जो यथार्थ वस्तुओं का एक दूसरे से संयोग या वियोग कर सकती है। वह प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में आनन्द प्रदान करने में समर्थ है। इसकी सहायता से मनुष्य दो संगत बातों और वस्तुओं में भी पृथकता देख सकता है और दो असंगत वस्तुओं में भी सामंजस्य अनुभव कर सकता है। देश, काल, समय या अन्य कोई सीमा कल्पना का मार्ग अवरुद्ध नहीं कर सकती। इसीलिए एडीसन ने यह बताया है कि किसी भी साहित्यांग की मनुष्य पर प्रतिक्रिया का परीक्षण करके यह देखना चाहिए कि उसका अपने रचयिता की प्रकृति से कितना साम्य है। उसने साहित्यालोचन के क्षेत्र में मात्र दोष कथन और अनर्गल तर्क प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति का विरोध करते हुए यह बताया है कि साहित्यिक श्रेष्ठता अनेक प्रकार की होती है। इसलिए साहित्य समीक्षक को अपना दृष्टिकोण संकुचित नहीं रखना चाहिए। नाटक के विषय में एडीसन की यह धारणा है कि आधुनिक दुखांतक नाटक प्राचीन की तुलना में श्रेष्ठतर हैं यद्यपि उनमें नैतिकता के तत्वों का अपेक्षाकृत अभाव है। सर रिचर्ड स्टील, फ्रांसिस एटरबरी, जोनेदन स्विफ्ट आदि इस काल के अन्य विचारक हैं जिन्होंने भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में साहित्य-चिन्तन किया।

'ऐसे आन क्रिटिसिज्म' के लेखक एलेक्जैंडर पोप का नाम १८वीं शताब्दी की महान् साहित्यिक विभूतियों में लिया जाता है। पोप तर्कात्मक शैली में विशेषता रखता था। वह शास्त्रीयता का समर्थक था और नियमबद्ध सैद्धान्तिक अनुगमन का पक्षपाती था। वह यह मानता था कि सबसे पहले एक समीक्षक को किसी आलोच्य साहित्यकार के भावना-प्रवाह में स्वयं को बहने देना चाहिए। परिणामतः उसे वैसी ही अनुभूति होने लगेगी और तब वह उसका मूल्यांकन भली प्रकार से कर सकेगा। इसके अतिरिक्त किसी भी कृति की समीक्षा उसकी सम्पूर्णता में करनी चाहिए क्योंकि खंड-रूप में साहित्य-मूल्यांकन कभी भी न्यायोचित नहीं हो सकता। पोप की यह धारणा है कि सच्ची प्रतिभा के समान ही परिष्कृत रुचि भी असाधारण होती है। उसके मत से साहित्यकार की सबसे बड़ी योग्यता का परिचय इस बात से मिलता है कि स्वयं की प्रतिभा तथा शैली का प्रयोग वह कितनी सफलतापूर्वक कर सका है।

इस शताब्दी के विचारकों में ब्लेयर, जेम्स हेरिस, जान ब्राउन और डा. जानसन के नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं। सेमुअल जानसन ने नाट्य-विवेचन

के सन्दर्भ में कहा है कि शेक्सपीयर ने अपने नाटकों में करुण और हास्य रसों का जो मिश्रण किया है वह शास्त्रीय सिद्धान्तों के विरुद्ध है क्योंकि उसके अनुसार नाटक को या तो सुखांतक होना चाहिए या दुखांतक, मिश्रितांतक नहीं। काव्य के विषय में जानसन नियमबद्धता का विरोधी नहीं था। वह काव्य में रस, छंद, अलंकार तथा भाषा-तत्व आदि को मर्यादित मानता था।

आधुनिक युगीन अंग्रेजी साहित्यालोचन के विकास के सन्दर्भ में सर्वप्रथम सर टामस ग्रे का नाम उल्लेखनीय है जिसने ऐतिहासिक विकास की पृष्ठभूमि में साहित्य के मूल्यांकन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया। उसके अतिरिक्त कालरिज ने व्यावहारिक समीक्षा का स्वरूप-निर्धारण एवं विकास-रचना साहित्यिक सिद्धान्तों के नियमन की दृष्टि से अधिक उपयुक्त बताई। वह काव्य के विषय में परम्परानुगत प्राकृतिक अनुकरण की धारणा से सहमत नहीं था और इसे बुद्धिमानी नहीं समझता था। उसके विचार से काव्य का प्रमुख गुण उसकी विश्वसनीयता होती है। काव्य तथा विज्ञान में इस दृष्टि से वह एक मौलिक अन्तर मानता था क्योंकि काव्य का प्राथमिक उद्देश्य आनन्दात्मकता की सृष्टि करना है, विज्ञान की भांति सत्य का प्रामाणिक निरूपण करना नहीं। कारलाइल समीक्षा का उद्देश्य प्रधानतः व्याख्या करना मानता है। वह कहता है कि यदि साहित्य का क्षेत्र समग्र मानव जीवन है तो उसकी आलोचना की परिधि भी उतनी ही प्रशस्त होनी आवश्यक है। उसके विचार से समीक्षा की सफलता इसी तत्व में निहित होती है कि वह पाठक को साहित्य के यथार्थ महत्व की प्रतीति करा सके।

१९ वीं शताब्दी के अंग्रेजी समीक्षकों में मेथ्यु आर्नल्ड का बहुत ऊँचा स्थान हैं। वह काव्य को जीवन की व्याख्या करने का एक माध्यम मानते हुए उसकी व्यावहारिक आवश्यकता और उपयोगिता स्वीकार करता था। उसके विचार से काव्य के आन्तरिक पक्षों का महत्व उसके बाह्य पक्षों की अपेक्षा अधिक होता है परन्तु यह आन्तरिक पक्ष पूर्णतः दार्शनिक चिन्तन और सूक्ष्मता से युक्त होकर चित्रित होना चाहिए तभी वह स्थायी महत्व की वस्तु बन सकेगा। उसके विचार से काव्य की महत्ता इस कारण भी सर्वाधिक है क्योंकि इस माध्यम से ही मनुष्य अधिकतम पूर्णता के साथ सत्य का उद्घाटन कर सकता है। उसका मत है कि वास्तविक समीक्षा में जिज्ञासा की वृत्ति निहित होती है। वह आलोचना की व्याख्यात्मक प्रवृत्ति का समर्थक था। उसने आलोचना में यथातथ्यता की विशेषता और निष्पक्षता के गुण पर विशेष बल दिया है। जब समीक्षा में ये गुण होंगे तभी उसका वह लक्ष्य पूरा हो सकेगा जिसके अनुसार वह विश्व की सर्वश्रेष्ठ बौद्धिक और सांस्कृतिक उपलब्धियों की अवगति का कार्य कर सकेगी। यदि कोई समीक्षात्मक रूप उच्च और महती वैचारिक परम्पराओं की जीवन्तता का निर्वाह कर सकता है तो इतने मात्र से उसकी सार्थकता सिद्ध हो जाती है।

अंग्रेजी साहित्यालोचन की परम्परा में आधुनिक युगीन विचारकों के अन्तर्गत आई० ए० रिचर्डसन का नाम विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। उसने मूल्य और भावों की

प्रेषणीयता को साहित्य सिद्धान्तों का आधारस्तम्भ माना है। प्रेषणीयता की समस्या उसकी आलोचना पद्धति में विशेष महत्व रखती है। उसने यह स्वीकार किया है कि प्रेषणीयता की विधि समालोचना का एक महत्वपूर्ण आधार है। इसीलिए उसने इस समस्या का कई दृष्टियों से विश्लेषण किया है। इसकी जटिलता बताते हुए वह इसका समाधान लगभग असम्भव मानता है। वह कहता है कि भाव प्रेषण का माध्यम वस्तुतः भाषा ही है और भाषा ही वह प्रतीक समूह है जो पाठक को लेखक की मानसिक अवस्था से परिचित कराके उसमें वही भाव उत्पन्न करती है। इस प्रकार से यह प्रेषण कार्य लेखक और पाठक के बीच संचालित होता है परन्तु व्यावहारिक कठिनाई कुछ ऐसी है कि आज का पाठक वर्ग अभी उतना चेतनशील नहीं है जितना कि साहित्यकार वर्ग क्योंकि जहां एक ओर पाठक वर्ग अभी अपने पिछले युग को ही एक प्रकार से पार नहीं कर पाया है वह लेखक वर्ग नये युग की नव चेतना की अवगति की चेष्टा करता प्रतीत होता है।

रिचर्डसन ने साहित्य रचना और उसकी प्रक्रियात्मक समस्याओं पर विचार करते हुए भाषा रूपी माध्यम के विषय में बहुत महत्वपूर्ण विचार प्रकट किये हैं। उसका कहना है कि भाषा अर्थ वहन का कार्य करती है। अर्थ निर्देश करते समय उसने उसका सम्यक् विश्लेषणात्मक स्वरूप प्रस्तुत किया है। वाक्यों में शब्द प्रयोग के सम्बन्ध में उसने सन्दर्भ पर बहुत अधिक गौरव दिया है। उसका विचार है कि किसी भी शब्द का अर्थ इसी तथ्य से निर्धारित होता है कि वह किस सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है। भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में प्रयुक्त कोई भी शब्द विशेष विविध विचारों और भावनाओं को जन्म दे सकता है तथा उसकी बहुरूपी प्रतिक्रिया हो सकती है। उसने बताया है कि किसी शब्द का अर्थ-क्षेत्र बहुत विकसित होता है परन्तु यह तभी तक होता है जब तक उसका पृथक् और स्वतंत्र महत्व हो। जैसे ही वह किसी वाक्य के अन्तर्गत प्रयुक्त हो जाता है वैसे ही उसका अर्थ विस्तार कम हो जाता है। इसीलिए उसने भाषा के द्वयात्मक रूप और महत्व को स्वीकार किया है।

रिचर्डसन ने एक आलोचक के कार्य पर विचार करते हुए यह बताया है कि सामान्य रूप से वह जिन समस्याओं पर विचार करता है वे कठिन होते हुए भी असाध्य नहीं होती। उसके मत से एक समीक्षक का कार्य यह होता है कि वह वैयक्तिक रुचि-अरुचि से भिन्न रूप में यह निर्देश करे कि साहित्य में अभिव्यक्त अनुभूति की आनुपातिक श्रेष्ठता के शास्त्रीय कारण कौन से होते हैं। यह वह तभी कर सकेगा जब वह किसी वस्तु के मूल्य का निर्धारण कर ले। क्योंकि समीक्षक का मुख्य कार्य साहित्य का मूल्यांकन करना है इसलिए उसके लिए शास्त्रीय मानदंडों का आश्रय आवश्यक है। रिचर्डसन 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त का विरोधी था। समीक्षा के शास्त्रीय रूप का समर्थन करते हुए उसने यह बताया है कि दर्शन तथा धर्म आदि की रूढ़िगत मान्यताएं काव्य विरोधी होती हैं। इसीलिए उसने काव्य के स्वरूप पर विचार करते हुए कहा है कि आवश्यक रूप से उसका यथार्थानुकारी होना महत्वपूर्ण नहीं है।

आधुनिक अँग्रेजी विचारकों में कवि टी. एस. ईलियट का भी उल्लेखनीय स्थान

है। ईलियट ने साहित्य में वैशिष्ट्य और वैविध्य की प्रवृत्तियों से सम्बन्धित समस्याओं पर विचार किया है। उसने बताया है कि किसी कवि की कोई रचना उसकी अपनी विचारधारा की आधारभूमि पर रची हुई होने के बावजूद भी अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण होती है। वस्तुतः साहित्यकार काव्य या आलोचना के माध्यम से किसी विशिष्ट दृष्टिकोण का अभिव्यक्तिकरण और पुष्टीकरण ही करता है। इसीलिए उसने कहा है कि साहित्य और काव्य के क्षेत्र में मतवादिता का आग्रह बढ़ रहा है। और साहित्य के निष्पक्ष मूल्यांकन की प्रवृति का ह्रास हो रहा है। वह एक कवि के कार्य की इति इतने मात्र से नहीं मानता कि वह युग चेतना के प्रति अपनी अवगति और जागरूकता का परिचय देते हुए मौलिक काव्य का प्रणयन करे। उसके विचार से उसे अपने प्रतिपादित विचारों का पुष्टीकरण आलोचनात्मक माध्यम से कर सकने में भी समर्थ होना चाहिए। ईलियट परम्परानुगामिता और रूढ़िवादिता को परस्पर पृथक् बताता है। वह कहता है कि अतीत की परम्पराओं की उपेक्षा इस कारण से भी उचित नहीं है क्योंकि वे हमारे भावी विकास की आधारभूमि होती है और हमारे वर्तमान दृष्टिकोण को प्रभावित करती है। उसके विचार से औचित्यपूर्ण समीक्षा का मुख्य उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह सामान्य पाठक में साहित्य के अध्ययन और रसास्वादन की प्रवृत्ति को जाग्रत करे।

संक्षेप में अँग्रेजी आलोचना की परम्परा के अन्तर्गत आने वाले प्रमुख विचारकों का संक्षिप्त सैद्धान्तिक परिचय ऊपर उपस्थित किया गया है। २० वीं शताब्दी में लिखी गयी अंग्रेजी समीक्षा १९ वीं शताब्दी की वैचारिक उपलब्धियों से विशेष रूप से प्रभावित हुई। मेथ्यु आर्नल्ड, वाल्टर पीटर, जार्ज सेंट्सबरी, टी. एस ईलियट, एडमन गास, सिडनी कालगिन, ए. सी. ब्रेडले, सी. एच. हारफाई, ई. एम. फार्स्टर आदि विचारकों ने आधुनिक युगीन सिद्धान्त निरूपण में विशेष रूप से योग दिया है। यूरोप की अन्य देशीय भाषाओं के विकास के साथ अंग्रेजी भाषा का समानान्तर रूप से विकास होता रहा और आधुनिक युग में अधिकांश वैचारिक आन्दोलन प्रायः अन्तरमहाद्वीपीय स्तर पर संगठित किये गये। इसीलिए अंग्रेजी आलोचना में यूरोपीय वैंचारिक एकरूपता और समग्रता के तत्व विद्यमान हैं।

•

डा. शांतिस्वरूप गुप्त

अँग्रेजी आलोचना का विकास

आलोचना उन्मुक्त एवं स्वतन्त्र समाज की अपेक्षा रखती है क्योंकि जहाँ विचार-स्वातंत्र्य नहीं होगा, वहां कला-कृति का निर्भीक विवेचन-विश्लेषण भी नहीं हो सकता। अँग्रेजी आलोचना के सुव्यवस्थित विकास का यही रहस्य है, उसे कभी निरंकुश नियमों अथवा सत्ताधीशों के नीचे दबना नहीं पड़ा। उसका इतिहास महान क्रांतिकारी व्यक्तियों का इतिहास है, जिन्होंने पूर्वागत स्थापनाओं का विरोध कर नए क्षितिजों का अनावरण किया। अँग्रेजी के महान आलोचकों ने पुराने प्रश्नों का ही नए ढंग से उत्तर नहीं दिया, नए सिरे से नए प्रश्न उठाये। उदाहरण के लिए कॉलरिज ने ड्राइडन और जॉनसन द्वारा उठाये गए प्रश्नों का ही उत्तर नहीं दिया, ऐसे प्रश्नों पर भी विचार किया जो उन दोनों के लिए समझना भी कठिन था। इसीलिए Allen Tate ने कहा है, "The permanent critics......are the rotating chairmen of a debate only the rhetoric of which changes from time to time."

अँग्रेजी के आलोचना—साहित्य को काल-क्रम की दृष्टि से पांच युगों में बांटा जा सकता है— एलिज़ाबीथिन युग, ड्राइडन पोप युग (निओ-क्लासिकल युग), रोमांटिक युग, विक्टोरियन युग तथा आधुनिक युग।

ऐलिज़ाबीथिन युग—इस युग की आलोचना को 'लैजिस्लेटिव क्रिटिसिज्म' कहा गया है जिसे हम कवि-शिक्षा भी कह सकते हैं क्योंकि इसमें कवि को काव्य-रचना के सम्बन्ध में आदेश दिये जाते थे, लेखक का उसकी रचना या रचना-विधान के अनुसार वर्गीकरण किया जाता था,

छन्द आदि कविता के बाह्य उपकरणों की परीक्षा की जाती थी। यह आलोचना पाठकों के स्थान पर लेखकों के लिए होती थी। उदाहरण के लिए जार्ज गैसकोइन तथा जार्ज पुटेनहम के निम्न उद्धरण देखिए—

"Frame your stile to perspicuity and to be sensible." तथा

"Our proportion poetical resteth in five points : staff, measure, concord, situation and figure."

इस काल के अंग्रेजी आलोचकों के पास न तो मर्मग्राहिणी प्रज्ञा ही थी और न वह तीव्र दृष्टि जिसके द्वारा कृति का मूल्यांकन हो सकता है। उनके सम्मुख तो इस प्रकार के प्रश्न रहते थे—क्या तुकान्त कविता अभीष्ट है? यदि नहीं तो क्या अनुप्रासान्त लय से काम चल सकता है? अथवा क्या क्लासिकल छन्दों का प्रयोग जैसा सिडनी और स्पैन्सर ने किया वांछनीय है? एस्कम और बेन ने तुकान्त कविता का विरोध किया, तो डेनियल ने उसका समर्थन। पुटेनहम ने बताया कि तुक कविता के लिए अच्छी भी हो सकती है और बुरी भी। सिडनी ने क्लासिकल छन्दों का समर्थन किया पर उसकी शक्ति छन्द-विवेचन में न होकर इस बात में है कि उसने कवि की अनुभूति, उसकी स्वतंत्रता का समर्थन किया तथा कविता को संकीर्ण आदर्शवादियों के पाश से मुक्त किया। वस्तुत: यह युग रचनात्मक साहित्य का था, अत: साहित्य के विवेचन और विश्लेषण की ओर प्रवृत्ति बहुत कम थी। इस युग में शास्त्रीय आलोचना (Theoretical criticism) की एक ही उल्लेखनीय कृति है—सिडनी की "Apologie for poetrie."

निओक्लासिकल युग—ऐलिज़ाबीथिन युग की उच्छृंखलता के विरुद्ध बुद्धि और विवेक के नियंत्रण की स्वाभाविक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप निओक्लासिकल युग का जन्म हुआ। यद्यपि बुद्धि और विवेक का समर्थन सिडनी और बेन जानसन ने भी किया था, पर आलोचना के लिए जिस गंभीरता और मानसिक सन्तुलन की आवश्यकता होती है, वह आलोचकों में इसी युग में पाई जाती है। सर्वप्रथम ड्राइडन में, उसने सिद्धान्तों के आधार पर कृति के मूल्यांकन पर बल दिया, अरस्तू, हौरेस आदि को आदर्श मानते हुए भी स्वतंत्र विचारों का प्रतिपादन किया—त्रासदी और कामदी के मिश्रण को उचित बताया; अंग्रेजी विवेचनात्मक आलोचना (Descriptive criticism) का तो वह जनक ही है क्योंकि उससे पूर्व इस प्रकार की आलोचना के संकेत केवल कहीं-कहीं उन निबन्धों में मिलते हैं जो किसी अन्य उद्देश्य के लिए लिखे गए थे और जिनका स्तर अत्यन्त साधारण है जैसे सिडनी का यह कथन; Chaucer undoubtedly did excellently in hys Troylus and Cressied."[1] इसीलिए ड्राइडन के सम्बन्ध में कहा गया है, "As for a native tradition in critical analysis, he was

---

1. Elizabethan Critical Essays, op. cit, 1. 196

forced to start from scratch."[1] ड्राइडन का आलोचनात्मक कार्य हमें अधिकतर उसके 'Prefaces' में मिलता है जिनमें उसने अपने ही नाटकों और कविताओं का विवेचन किया है। अन्य साहित्यकारों की कृतियों का भी उसने विवेचन-विश्लेषण किया है। जैसे शैक्सपियर, ब्यूमां तथा बैन जानसन की कविताओं तथा नाटकों का। यह विवेचन शास्त्रीय आलोचना के सांचे में ढला है। जैसे बैन जानसन की कृति 'The silent Woman' का; पर उसकी विशेषता है तुलनात्मक दृष्टि जिसके आधार पर फ्रैंच तथा अंग्रेजी नाटक की विशेषताओं का मूल्यांकन किया गया है और पक्षपातपूर्ण दृष्टि से अंग्रेजी के नाटकों को फ्रैंच नाटकों के ऋण से मुक्त बताने की चेष्टा की गई है, "We have borrowed nothing from them; our plots are weav'd in English loomes."

सारांश यह है कि ड्राइडन में विवेक, बुद्धि, संचय, संतुलन, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझने की क्षमता, तुलनात्मक दृष्टि आदि गुण थे, पर असावधानी, परम्परा के प्रति मोह, राष्ट्रीय पक्षपात की भावना से भी वह आक्रान्त है।

निओ–क्लासिकल युग में साहित्य की आत्मा की अपेक्षा उसके रूप को अधिक महत्त्व दिया गया और आलोचना के मान बंधी हुई रूढ़ियों पर बनाए गए। इतना होते हुए भी इन आलोचकों की दृष्टि पूर्णतः बंधी हुई न थी। पोप ने कहा कि विभिन्न युगों से काव्य का मूल्यांकन करने के लिए विभिन्न कसौटियां होनी चाहिए :

Religion, country, genius of his age:
Without all these at once before your eyes,
Cavil you may, but never criticize.[2]

और आलोचकों को आदेश दिया कि वे उन पुस्तकों को पढ़ें जिन्हें मूल लेखक ने पढ़ा हो।

इसी युग में पत्रिकाओं में पुस्तक-समीक्षा की नींव पड़ी। ऐडिसन के मिल्टन पर लिखे गए निबन्ध 'स्पैक्टेटर' पत्रिका में १७१२ ई० में प्रकाशित हुए। ऐडिसन ने सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में भी प्रवेश किया और कल्पना के आनन्द, सद् रुचि, आदि पर विचार किया। उसकी आलोचना युग की लोक-रुचि के अनुकूल है---उसने त्रासदी और कामदी के मिश्रण को हेय माना, तुक की निन्दा की, साहित्यिक न्याय के सिद्धान्त को अनावश्यक बताया और सत्रहवीं शताब्दी की आदत के समान उन नियमों की सूची प्रस्तुत की जिनके आधार पर किसी कविता का मूल्यांकन होना चाहिए।

फील्डिंग से पूर्व उपन्यास-कला पर कुछ नहीं लिखा गया था। कुछ पत्र-पत्रिकाओं जैसे 'मन्थली रिव्यू' 'क्रिटिकल रिव्यू' आदि में समसामयिक उपन्यासों पर समीक्षाएं प्रकाशित अवश्य होती रहती थीं, पर गंभीर विश्लेषण का अभाव ही था। उपन्यास-कला पर सर्वप्रथम लिखनेवाला फील्डिंग ही था, "The claim of Henry Fielding (1707-54) to pioneer

---

1. George Watson : The Literary Critics. p. 35
2. Essays on Criticism. 11,121. 3.

novel criticism in English, then, is beyond all challenge."[1] उसीने सर्वप्रथम उपन्यास को आदर प्रदान किया तथा उसे 'comic epic in prose' कहा। इतना ही नहीं ड्राइडन के समान उसने अपने उपन्यासों की भूमिकाओं में अपने उपन्यासों को समझाने की चेष्टा की तथा उनका समर्थन किया।

इस युग का सर्वशक्तिमान आलोचक हुआ सैम्युअल जानसन (१७०९-१७८४)। उसकी रचना 'The Lives of the Poets' अंग्रेजी आलोचना-जगत् का सुदृढ़ स्तम्भ है। उसके पास बुद्धि का लोहा था, व्यापक रुचि थी, विस्तृत अध्ययन का बल था और थी निर्भीक निर्णय-शक्ति। उसका दृढ़ विश्वास था कि आलोचना का उद्देश्य नियम बनाना और उनके आधार पर कृति का मूल्यांकन करना है। रुचि और रूढ़ि के आधार पर वह कठोर से कठोर प्रहार करता है, किसी की प्रशंसा और किसी की निन्दा करता है। वह मिल्टन और ग्रे के प्रति अनुदार है, शैक्सपियर की श्लाघा करता है, फिर भी कृति का विश्लेषण करते हुए उस पर निर्णय देने की उसकी पद्धति अभिनंदनीय थी क्योंकि अठारहवीं शताब्दी में बिना विश्लेषण के ही निर्णय दे दिये जाते थे।

जानसन की एक अन्य देन है, ऐतिहासिक आलोचना (Historical criticism) को जन्म देना, जिसके लिए कहा गया है, "Johnson is an unambiguously historical critic, and the true father of historical criticism in English." उसने स्पष्ट कहा कि जो रचना एक पीढ़ी को अच्छी लगती है, वही दूसरी पीढ़ी को कुरूप और महत्वहीन प्रतीत हो सकती है, अतः ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में ही कृति और कृतिकार का मूल्यांकन होना चाहिए, "Every man's performance to be rightly estimated, must be compared with the state of the age in which he lived, and with his own particular opportunities..."[2]

इस प्रकार इस युग की देन सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में न होकर ऐतिहासिक एवं विवेचनात्मक आलोचना के क्षेत्र में है।

रोमांटिक युग—अठारहवीं शताब्दी में आलोचना के जो मान स्थिर किए गये थे, उनका सबसे तीव्र विरोध सर्वप्रथम वर्ड्स्वर्थ ने किया। उसकी 'Lyrical Ballads' की भूमिका का ऐतिहासिक महत्व है; उसमें प्रस्तुत भाषा, छन्द, काव्य-विषय आदि सम्बधी सिद्धान्तों के प्रहार से निओक्लासिकल मूल्यों के स्तूप ढह गये। वर्ड्स्वर्थ से भी अधिक कालरिज ने रोमाण्टिक आलोचना के निर्माण में योग दिया। वर्ड्स्वर्थ की बौद्धिकता स्थूल है, कालरिज की तरल। वही पहला अंग्रेजी आलोचक है जिसने सौन्दर्यबोध के मूल्यों को प्रतिष्ठित किया। उसका लक्ष्य लेखन के सिद्धान्त स्थापित्त करना था, न कि दूसरों की कृतियों पर

1. George Watson : The Literacy Critics p. 74.
2. Johnson on Shakespeare, ed. cit. pp. 30-1.

निर्णय देने के नियम बताना। इसीलिये उसने कविताओं का विश्लेषण इतना नहीं किया है जितना उस सर्जनात्मक कार्य का विश्लेषण किया है जो कविता को जन्म देता है। उसका ध्यान कवि-कर्म और उसकी प्रक्रिया पर केन्द्रित है। उसने विवेचनात्मक आलोचना का आश्रय केवल अपने सिद्धान्तों के दृष्टान्त रूप में किया है। उसके शैक्सपियर पर दिये गए भाषण इसके प्रमाण हैं—उनका लक्ष्य सैद्धान्तिक ही है। कवि-सत्य, और कल्पना सम्बधी उसके सिद्धान्त नितान्त मौलिक और दर्शन की छाया में पल्लवित सिद्धान्त हैं। वह कहता है कि कवि जिस सत्य की खोज करता है वह न वस्तुपरक है और न आत्मपरक (Subjective) अर्थात् न वह कवि के मस्तिष्क में निवास करता है और न उन वस्तुओं में जो उसके चारों ओर हैं। अपितु दोनों के समन्वय (identity) में है। कवि प्रकृति को और प्रकृति कवि को संदेश देती है और वह सब कल्पना के माध्यम से होता है जिसे कालरिज एक महान् शक्ति मानता है, ललित कल्पना (fancy) से भिन्न समझता है और जिसका कार्य उसके शब्दों में है। "to diffuse, dissolve and dissipate the world around us" वह उसे 'unifying and reconciling power' मानता है अर्थात् वह शक्ति जो विविध विरोधी पदार्थों में सामंजस्य एवं व्यवस्था उत्पन्न करती है। कालरिज के अनुसार कवि सृजन नहीं करता, वह आत्म-निर्माण करता है। कविता रची नहीं जाती, स्वयं वृक्ष के समान अपनी शक्ति से उगती है—"The poet is not created–he becomes ; a poem is not created–it grows, like a tree, as if with an inner life of its own."

जहां तक कालरिज की विवेचनात्मक आलोचना (descriptive criticism) का सम्बन्ध है, वह अधिक प्रभावशाली नहीं है तथापि शैक्सपियर सम्बन्धी विवेचन का मूल्य कम नहीं है। उसके माध्यम से उसने निओ-अरिस्टोटीलियन नाट्य-आलोचना की धज्जियां उड़ा दीं, संकलन-त्रय के नियम पर कठोर प्रहार किया, और शैक्सपियर के महत्व का कारण उसकी सूक्ष्म पर्यवेक्षणशक्ति न मानकर उदार दृष्टि बताई, "The great prerogative of genius....is now to swell itself to the dignity of a god, and now to subdue and keep dormant some part of that lofty nature and to descend even to the lowest character—to become everything, in fact...."[1]

कालरिज की आलोचना में यदि अनिश्चितता हैं, तो ले हंट की आलोचना सुनिश्चित है। दार्शनिक पृष्ठभूमि, जिसके कारण कालरिज का महत्व है, उसमें नहीं थी पर उदारता एवं आत्म-उल्लास का सहज स्पन्दन उसकी आलोचना के गुण हैं। लैम्ब की आलोचना में भी उसके स्वभाव की मृदुलता और उदारता प्रतिविम्बित होती है। उसकी आलोचना मुख्यत: विवेचनात्मक (Descriptive) है और उसका स्वरूप निओ-क्लासिकल है जिसमें नैतिक मूल्यों एवं परम्पराओं का आग्रह है। यही कारण है कि उसने 'Restoration Comedy' की भर्त्सना की है। उसे इस पृथ्वी से इतना गहरा अनुराग है कि

1. Lecture vii, 1811-12.

अपार्थिव के लिए उसमें कोई संवेदना नहीं है। इसी से वह शैली, कीट्स तथा बायरन के काव्य में कोई आकर्षण नहीं पाता, "They are for younger impressibilities. To us an ounce of feeling is worth a pound of fancy"[1]

हैज़लिट की आलोचना महत्वाकांक्षी होते हुए भी असन्तोषजनक है। उसकी आलोचना शुद्ध विवेचनात्मक है जिसका एक मात्र ध्येय है विश्लेषण एवं निर्णय। बल्कि कहना चाहिए कि पहले निर्णय और तत्पश्चात् विश्लेषण क्योंकि उसका विश्वास था कि पाठक पहले अपना मत बनाता है और फिर उसे न्यायसंगत ठहराता है, to feel what is good, and give reasons for the faith that is in me." उसका अध्ययन अपूर्ण था पर उसका मस्तिष्क उर्वर था। कुल मिलाकर उसे Sunday Journalism का जनक कहा जा सकता है क्योंकि उसके विवेचन में गहराई के स्थान पर उथलापन है। इसीलिए उसे प्रथम श्रेणी का आलोचक नहीं कहा गया है, "Hazlitt is not even of pass quality as a critic of English."[2]

डी क्विन्सी के पास कालरिज के समान गम्भीर अध्ययन और ले हंट का सा आत्मोल्लास था। पुष्ट विवेक एवं काव्य की समीक्षा करने में सिद्धहस्त होते हुए भी वह अपने विषय को बांध नहीं सकता, जगह-जगह ब्यौरे एवं तथ्य सम्बन्धी गलती कर बैठता है क्योंकि न्यायपूर्ण होने की चेष्टा करते हुए भी वह जल्दी में रहता था। उसकी आलोचना में कवि की आत्मानुभूति है, अतः उसके दार्शनिक या नीतिपरक सिद्धान्त रूढ़िगत नहीं हैं। वे सभी सत्य हों यह आवश्यक नहीं, पर उनमें विचारों की सचाई अवश्य है, उसे अपनी अनुभूति पर बेहद विश्वास था इसीलिए उनकी कसौटी पर कृति का मूल्यांकन करता था।

रोमांटिक युग की आलोचना में पत्र-पत्रिकाओं का भी योगदान रहा पर चूंकि इस युग में उच्चकोटि के लेखकों का सहयोग उन्हें प्राप्त न हो सका, अतः 'एडिनबरा रिव्यू', 'क्वार्टरली', 'ब्लैकवुड मैगजीन' जैसी पत्रिकाओं में रोमांटिक कवियों पर संगत-असंगत प्रहार होते रहे। इससे केवल एक लाभ यह हुआ कि कवियों को अपनी दुर्बलता का ज्ञान होता रहा। इन पत्र-पत्रिकाओं ने एक ऐसे माध्यम को प्रश्रय दिया जिसके द्वारा विक्टोरियन युग में आलोचना का आशातीत विकास हुआ।

रोमांटिक युग की आलोचना ने बुद्धि के स्थान पर सौन्दर्य की आराधना स्वीकार की, नियमों की कारा से मुक्त हो वह स्वच्छन्दता के मार्ग पर चली, गांभीर्य और मर्यादा की जगह उसने स्पंदन और आवेग को अपनाया। कृति का मूल्यांकन करने की कसौटी जड़ नियम न मानकर कृति का आलोचक के मन पर पड़ा प्रभाव माना गया। उसने यह स्थापना की कि साहित्यिक चेतना के लिएआचार्यों का अनुकरण तनिक भी आवश्यक नहीं, स्वच्छन्द मेधा एवं अनुभूतिप्रवणता ही काव्य का प्राणाधार हैं। आलोचक को एक काल के साहित्य पर दूसरे

---

1. Lamb's Criticism, edited by Tillyard, p. 110.
2. George Watson, The Literary Critics, p. 139.

काल के नियम आरोपित नहीं करने चाहिए अथवा वे नियम ऐसे होने चाहिए जो सार्वकालिक और सार्वभौमिक हों। साहित्य के सम्बन्ध में उनका विचार था कि उसका लक्ष्य आनन्द है और कल्पना उसकी आत्मा।

इस आलोचना में दो दोष प्रमुख थे—प्रथम तो रुचि-वैचित्र्य के नाम पर आलोचना में गैर-जिम्मेवारी की लहर फैलने लगी, दूसरे निओ-क्लासिकल लेखकों के प्रति गहरा तिरस्कार होने के कारण उनकी अच्छी बातें भी अस्वीकार कर दी गईं।

विक्टोरियन युग—आलोचना की दृष्टि से यह युग अत्यन्त समृद्ध है और इसमें एक प्रकार से रोमांटिक परम्परा का ही विकास हुआ। मैकाले, थकरे, कार्लाइल, वाल्टर पेटर और मैथ्यू आनर्ल्ड इस युग के प्रमुख आलोचक हैं। कार्लाइल की आलोचना लेखक के जीवन-चरित्र से सम्बद्ध है, उसमें वह लेखक के जीवन की गहराइयों को प्रकट करता है और जीवन में वह घटना से अधिक महत्व भाव को देता है। एक महती आदर्श भावना उसकी आलोचना को अनुप्राणित किए हुए है। उदार दृष्टि एवं संवेदनशीलता से सम्पन्न होते हुए भी उसकी साहित्यिक आलोचना का महत्व नहीं है। उसकी दुर्बलता यही है कि वह अपनी आलोचना में अपने युग को भूल नहीं पाता। रस्किन भी आदर्शवाद लेखक था अतः उसकी आलोचना में भी सौन्दर्य-बोध और नैतिक मूल्यों का समन्वय पाया जाता है। उसकी सबसे बड़ी देन है कलाओं का वर्गीकरण और ललित कलाओं के प्रति उसकी मान्यताएं। उसका मत था कि कला का लक्ष्य जीवन को सुन्दर बनाना है और उसका आधार जीवन-सत्य होना चाहिए। यदि ऐसा हो तो कला धर्म से भी अधिक मानवता की रक्षा कर सकती है।

यदि रस्किन ने सौन्दर्य-बोध को नैतिकता से सम्बद्ध किया था, तो वाल्टर पेटर उसे स्वतन्त्र रूप में ग्रहण करता है। वह सौन्दर्य-बोध को एक दृष्टिकोण नहीं अपितु दर्शन मानता है। और विशुद्ध आनन्द पर बल देता है। उसके लिए अद्भुत में आकर्षण है और वह मानसिक विकारों में भी 'अद्भुत' की खोज करता है। कुल मिलाकर उसका कृतित्व यही है कि उसने आलोचना को रीतिबद्ध धारणाओं से मुक्त किया।

विक्टोरियन युग का सबसे महत्वपूर्ण आलोचक था मैथ्यू आर्नल्ड जिसमें क्लासिकल और रोमाण्टिक प्रवृत्तियों का समन्वय मिलता है। 'प्रभाव' (impression) के मूल्य को स्वीकार करते हुए भी वह संयम की आवश्यकता पर बल देता है। वह साहित्य में दो तत्वों को तो स्वीकार करता है—लेखक का व्यक्तित्व और युग का वातावरण, परन्तु आलोचना की ऐतिहासिक पद्धति को पूर्णतः स्वीकार नहीं करता "The advice to study the character of an author and the circumstances in which he lived....is excellent. But it is a perilous doctrine that from such a study the right understanding of his work will spontaneously issue."[1] वह साहित्य को जीवन की आलोचना मानता

1. A French critic on Milton--Quarterly Review, January 1877

है—'Poetry at its best is criticism of life' और कहता है कि काव्य का विषय मानवीय कार्य-व्यापारों तक ही सीमित नहीं, किन्तु उन व्यापारों की समस्त चेतन प्रक्रियाएँ भी हैं। काव्य की उत्कृष्टता का आधार भावगत और कलागत सौन्दर्य दोनों हैं। उसकी दृष्टि जीवन के समग्र उत्कर्ष और लोक-हित पर है अतः वह कवि को पुजारी (priest) बताते हुए उसका कर्तव्य समाज का पथ-प्रदर्शन (guidance and instruction) मानता है और चाहता है कि कविता की भाषा अत्यन्त सरल, सीधी और प्रभविष्णु हो। उसे वही कविता आकृष्ट कर सकती है जिसमें उन मानव-व्यापारों का चित्रण है जो किसी एक देश काल से सम्बद्ध न होकर मानव की मूल प्रकृति स्पर्श करती है, 'appeal to the great primary human affections : to those elementary feelings which subsist permanently in the race.

आलोचक के कर्त्तव्य के सम्बन्ध में उसका मत है कि आलोचक को निष्पक्ष होकर उन बातों को जानने एवं प्रसार करने का प्रयत्न करना चाहिए जो सर्वोत्कृष्ट समझी या जानी जाती हैं। कुल मिलाकर आर्नल्ड के विचारों में मौलिकता और यथासाध्य निरपेक्षता है। पर वह स्वयं उन सिद्धान्तों का अपनी आलोचना में अनुसरण नहीं कर पाया है जिनकी उसने स्थापना की थी। उदाहरण के लिए वह दूसरों से तो कहता है कि वे सर्वोत्कृष्ट को चुनें, और उच्च स्तर तथा कठोर निकष अपनाएँ तथा ऐतिहासिक एवं जीवनीपरक मूल्यांकन का परित्याग करें,[1] पर वह स्वयं इन बातों का निर्वाह अपनी आलोचना में नहीं कर पाया है। इन दोषों के होते हुए भी आर्नल्ड ने आधुनिक आलोचना को सर्वाधिक प्रभावित किया—सेन्ट्सबरी, ब्रैडले, इरविंग बैंवट आदि उसी की परम्परा में आते हैं।

हेनरी जेम्स का नाम यदि उपन्यास-कला के विवेचन के लिए, तो सेन्ट्सवरी क्विलर काउच और एडमंड गौस के नाम ऐतिहासिक आलोचना के लिए विख्यात हैं। एडवर्ड-युग में सौन्दर्यवादी (aesthetic), नैतिकतावादी (moralistic) तथा जीवनीपरक (biographical) आलोचना का प्राधान्य रहा। हैनरी जेम्स ने अपनी १८ भूमिकाओं (prefaces) में उपन्यास का सम्पूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया और इस प्रकार उपन्यास-कला और शिल्प के विवेचन को जो अब तक उपेक्षित रहा था, गरिमा प्रदान की, उसकी परम्परा डाली। उसने उपन्यास के लिए रूप-विधान की आवश्यकता पर बल दिया और कहा कि उसके बिना तो उपन्यास तरल भात के समान है: Without form novels are mere fluid puddings; ....form alone takes and holds and preserves substance[2]" इस प्रकार उपन्यास-कला के विवेचन का जेम्स पायनियर कहा जा सकता है।

वर्तमान आलोचना प्रमुखतः वैयक्तिक है फिर भी उसके चार स्थूल भेद किये जा

1 The study of Poetry.

2 Letter to Walpole.

सकते हैं—सौन्दर्य-बोध पर आश्रित, ऐतिहासिक जीवन-चरित सम्बन्धी तथा समाज-शास्त्रीय आलोचना ।

सौन्दर्य-बोध के सैद्धान्तिक पक्ष का उद्घाटन करने वाले आलोचकों में प्रमुख है—एबरक्राम्बी, राबर्ट ब्रिजेस आदि । प्रथम ने सौन्दर्य-बोध के दार्शनिक पक्ष का भी विवेचन किया है। ब्रैडले ने अपनी आलोचना में सौन्दर्य-बोध के साथ-साथ मनोविज्ञान का भी आश्रय लिया है । आई० ए० रिचर्ड्स एक ओर ज्ञान-बोध के स्तरों पर प्रकाश डालता है, तो दूसरी ओर रचना के निर्धारित मूल्यों की परीक्षा करता है । ज्ञान-बोध के लिए वह इन्द्रियों, भावों और विचारों की गहराई में प्रवेश करता है और कृति के मूल्यांकन के लिए सौन्दर्य-बोध के साथ-साथ नैतिक, बौद्धिक तथा शिल्पगत सभी पक्षों को लेता है। सौन्दर्य बोध और नैतिकता के बीच की खाई को पाटने का प्रयत्न ही उसकी आलोचना की विशेषता है । वह रूढ़ नैतिकता की जग्ह प्रकृतिवाद-विषयक नैतिकता के पक्ष में है। उनका मत है कि कला मूल्यवान अनुभव प्रदान करती है और मूल्यवान अनुभव वह है जिसमें विभिन्न वृत्तियों और अंगभूत प्रेरणाओं का समंजन और उनकी तुष्टि हो सके । वह ब्रैडले के 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का विरोध करते हैं और 'साधारणीकरण' को आवश्यक मानते हैं। काव्यानुभूति को वह जगत से पृथक देखने का परामर्श नहीं देते । उन्होंने नैतिकता को भी मनोवैज्ञानिक मानववादी दृष्टि से ही निर्धारित किया । उन्होंने इस प्रकार समीक्षा-क्षेत्र में चले आते धार्मिक, नैतिक, सौन्दर्य-शास्त्रीय मतों के विरोध में शुद्ध मनोवैज्ञानिक मत प्रस्तुत किया । वह बीसवीं शताब्दी का सर्वाधिक प्रभावशाली आलोचना-शास्त्री कहा जा सकता है ।

"Richard's claim to have pioneered Anglo-American New criticism of the thirties and forties is unassailable. He provided the theoretical foundations on which the technique of verbal analysis was built."[1]

इस प्रकार अँग्रेजी का आलोचना-वाङ्मय संसार का सर्वाधिक सम्पन्न साहित्य है। अमेरिका में लिखे गये आलोचना साहित्य ने तो उसे और भी सम्पन्न बना दिया है। आज वैसे तो कितने ही आलोचना-सम्प्रदाय पाये जाते हैं, पर मुख्यतः उन्हें तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—नीतिवादी (Moralists), नए आलोचक (New critics) तथा इतिहास-कार (Historians) आर्नल्ड तथा स्किन से पूर्व अधिकांश आलोचक समझते थे कि सद्-काव्य का उद्देश्य जगत् को उदात्त बनाना है और उसे उदात्त बनाने के कुछ सुनिश्चित नियम तथा साधन हैं जिनका परिपालन कवियों को करना चाहिए पर आधुनिक नैतिक आलोचना उन मूल्यों की खोज करती रहती है। उसका स्वर सामान्य उपदेशक का नहीं बल्कि अनुसन्धित्सु का है जो सत्य को अध्ययन का विषय मानता है ।

---

1. George Watson, The Literary Critics–p, 196.

अमरीका के नए आलोचकों में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में निर्धारित मूल्यों के प्रति तिरस्कार का भाव पाया जाता है। यह आलोचना न केवल ऐतिहासिक आलोचना-पद्धति अपितु औद्यौगीकरण, मार्क्सवादी विचारधारा आदि का भी तिरस्कार करती है। ये लोग कविता की उपयोगिता अन्य किसी क्षेत्र--ऐतिहासिक, नैतिक आदि के लिए नहीं स्वीकार करते। उनका मंतव्य है कविता कविता के लिए ही पढ़ी-पढ़ाई जाती चाहिए।

इस प्रकार अँग्रेजी आलोचना आज विश्व की सर्वाधिक सम्पन्न आलोचना है जिसकी बराबरी अन्य कोई देश या भाषा नहीं कर सकती।
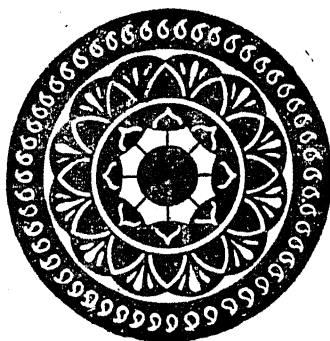
डा. गोवर्धननाथ शुक्ल

गुजराती आलोचना का विकास

गुजराती साहित्य में आलोचना का आधुनिक प्रवाह नवलराम पण्ड्या से प्रारम्भ होता है। यों तो काव्य की कोई भी विधा किसी भी युग में नितान्त अनुपस्थिति नहीं रहती, अतः आलोचना की धारा भी गुजराती साहित्य में प्रारम्भ से ही चली आ रही है। १९ वीं सदी से पूर्व इस आलोचना का बहुत कुछ स्वरूप वैयक्तिक था। हिन्दी आलोचना की भांति उसका पल्ला भी संस्कृत आलोचना पद्धति के दामन से बँधा था, कभी-कभी 'सरस्वतीचंद्र' जैसी समर्थ रचनाओं के मूल्यांकन में व्यक्तिगत रुचि का विशेष आग्रह दीख जाता था। रचनाकार के साथ तादात्म्य स्थापना की चेष्टा में शास्त्रीय सिद्धान्तों के पालन के बन्धन शिथिल हो जाते थे। वस्तुतः व्यक्तिगत रुचि और लेखक के मानस लोक से तादात्म्य स्थापित करने की प्रवृत्ति ने ही वर्तमान मनोविज्ञान-प्रधान आलोचना को जन्म दिया है। प्रायः उत्तर मध्ययुगीन सभी प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य में यह प्रवृत्ति देखने में आती है। मराठी साहित्य में 'नवयुगाचा आरम्भ' १९ वीं शती में १८१८ से १८७४ तक माना जाता है। इस युग में अंग्रेजी का प्रभाव सभी क्षेत्रों में स्पष्ट दीखता है। तत्कालीन गवर्नर एलफिस्टन और मालकम आदि सज्जनों ने मराठी भाषा को हर प्रकार से प्रोत्साहन देने के प्रयत्न किये, और अनुवादों द्वारा मराठी में सभी प्रकार की पुस्तकें लिखवाई। मराठी साहित्य में भी यह युग 'नूतन समालोचना पद्धति' का युग है। वैसे प्रारम्भिक युग में मराठी साहित्य में समालोचना को विशेष प्रश्रय अथवा प्रोत्साहन नहीं मिला। १९ वीं शताब्दी में समालोचना सम्बन्धी पुस्तकों का मूल्य केवल '. शालोपयोगी': था। समालोचना की पुस्तकों को अधिक महत्व नहीं दिया जाता था। मराठी साहित्य के

इतिहासकार निरंतर ने लिखा है:–

"या कालांतील शास्त्रीय ग्रंथ हा पाश्चात्य विद्येचा प्रत्यक्ष परिणामच होय।……… …………… शोलोपयोगी ग्रंथा बरोबर नव्या ज्ञानच्या साहांय्याने आपल्या प्राचीन ज्ञानाची चिकित्सा करण्याचा शास्त्रीय प्रगतीस अत्यन्त उपकारक असा उपक्रम छत्रे, मोडक, नारायण शास्त्री जोशी, जांभेकर इत्यादीनी केला। १८४७ पर्यन्त शास्त्रीय पुस्तकें ही शालोपयोगी व अंग्रेजी पुस्तकाच्या आधारे लिहिली गेली।"

"अर्थात् इस काल में जो शास्त्रीय ग्रंथ लिखे गऐ उन पर पश्चिम का प्रभाव स्पष्ट था। पाठशालाओं एवं विद्यालयों में नए ज्ञान के साथ साथ भारतीय प्राचीन ज्ञान की समालोचना करने का शास्त्रीय प्रयत्न, छत्रे मोडक जोशी आदि विद्वानों ने किया। १८४७ तक शास्त्रीय पुस्तक अंग्रेजी पुस्तकों के आधार पर लिखी गई।"

ठीक यही स्थिति गुजराती साहित्य की रही। प्रसिद्ध गुजराती कवि दयाराम भाई का देहावसान १८५२ में हुआ। वहीं से गुजराती साहित्य का आधुनिक काल का आरम्भ माना जाता है। दूसरे शब्दों में मध्ययुग की समाप्ति दयाराम भाई के अवसान के साथ हो जाती है। आधुनिक युग का श्रीगणेश क्रान्तियों से भरपूर है। सुधारों के प्रति अपार उत्साह, प्राचीन विश्वासों की रक्षा के आंदोलन भरे प्रयत्न, पूर्व-पश्चिम के विचारों के संघर्ष इस नवीन युग की विशेषताएं हैं। साहित्य भी नूतन युग की क्रान्ति से अछूता न रह सका। पश्चिम के संपर्क के कारण साहित्य की विधाओं और उसकी परंपराओं में भी एक नई चेतना का आविर्भाव हुआ। हिन्दी साहित्य की भांति गुजराती-साहित्य में भी गद्य का महत्व बढ़ा और वह पत्र व्यवहार, राजनैतिक अथवा कामकाज मात्र के क्षेत्र की वस्तु न रहकर वह गम्भीर चिंतन जन्य-साहित्य की अभिव्यक्ति का माध्यम बन गया। धर्म तथा पुराण से उसका ग्रंथि-बंधन शिथिल हो चला और वह मध्यकालीन बहिमुर्ख प्रवृत्ति से आगे बढ़कर अन्तर्मुख हो चला। इस युग में साहित्य के अध्ययन का आधार मनोविज्ञान बना। साहित्य की अपेक्षा साहित्यकार को समझने की चेष्टा को विशेष बल दिया गया। गुजराती साहित्य में यह युग 'विवेचन का और गीतों का युग' कहा जाता है। जैसा कि कहा जा चुका है गुजराती साहित्य का आधुनिक काल १८५२ से प्रारम्भ होता है। इस काल को भी हिन्दी आधुनिक युग की भांति चार कालों में विभक्त किया जा सकता है:–

१– सन् १८५२ से १८८४ तक
२– सन् १८८५ से १९१४ तक
३– सन् १९१५ से १९३४ तक
४– सन् १९३५ से आज तक

गुजराती साहित्य के आधुनिक साहित्यकार दलपतराम और नर्मदाशंकर कहे जाते हैं। दलपतराम में भारतेन्दु जैसी प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। उनमें धर्म और आधुनिकता का समन्वय ठीक भारतेन्दु जैसा ही था। उनमें कविता, निबंध आदि की प्रवृत्ति के साथ-साथ

भारतेन्दु जैसी सुधारवादी प्रवृत्ति सर्वोपरि थी। विधवाओं की दशा पर उन्होंने भी आंसू बहाए हैं। उनके भी कई अंग्रेज मित्र थे। उनका लिखा हुआ साहित्य भी मात्रा में पर्याप्त है। छन्द विधान भाषा की शुद्धि उसकी प्रकृति आदि का विचार उनकी मुख्य विशेषताएं थीं। गुजराती समालोचना का उषः काल यहीं से प्रारम्भ होता है। यद्यपि दलपतराम में आक्रमण की विशेष प्रवृत्ति नहीं थी और व्यंग भी उनका कटु या तीखा न होकर मधुर होता था। परन्तु उनके समसामयिक कवि और लेखक नर्मदाशंकर में आक्रमण प्रवृत्ति अत्यधिक थी। नर्मद का व्यंग भी तीखा होता था। दोनों ही सुधारवादी थे पर एक नरम दूसरा गरम। नर्मदाशंकर अपने युग का इतना समर्थ और प्रभावशील लेखक हुआ है कि विद्वान आज तक यह निर्णय नहीं कर पाये कि १८५२ से १८८४ तक के युग को दलपतराम युग कहा जाय अथवा नर्मद युग।

गुजराती आलोचना साहित्य को स्पष्टता और दिशा देने का काम नवलराम ने किया। वे गुजराती साहित्य के श्रेष्ठ आलोचक माने जाते हैं। वे गुजराती 'शाला पत्र' के संपादक थे। अतः समालोचनार्थ आने वाली पुस्तकों की आलोचना बड़े अच्छे ढंग से करते थे। उनकी आलोचना उच्चस्तरीय अध्ययन पूर्ण और ठोस होती थी। आलोचना के क्षेत्र में उन्होंने देशी विद्वानों को काफी पीछे छोड़ दिया था। नवलराम पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने गुजराती साहित्य में साहित्यिक-आलोचना के सिद्धान्तों पर प्रथम बार विचार किया। और इसका परिणाम यह हुआ कि उनकी आलोचना पद्धति को शास्त्रीय पद्धति कहा जाता था। आलोचना की उनकी अपनी एक कसौटी थी उसी पर वे ग्रंथों को परखते थे। हिन्दी के यदि किसी समालोचक से उनकी तुलना की जा सकती है तो आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी से। भले ही दोनों विद्वानों के समय में थोड़ा अन्तर हो पर आचार्य द्विवेदी की भांति नवलराम ने अनेक लेखकों को प्रोत्साहन दिया तथा अपने पत्र में नए लेखकों की रचनाओं को चाव से छापते थे। द्विवेदी जी की भांति नवलराम भाषा के स्वरूप, वर्ण-विन्यास, वाक्य-विन्यास, व्याकरण के सुनिश्चित प्रयागों पर बल देते थे। साहित्य कला-मन्दिर में पवित्रता, आदर्शवादिता, उपयोगिता, जीवन के साथ उसका संबंध सब कुछ उनको अभीष्ट था। अश्लीलता के वे घोर विरोधी थे। नवल राम का आचार्य द्विवेदी के साथ विचित्र साम्य मिलता है। 'नर्मद-चरित्र' में उनकी आलोचना का सर्वश्रेष्ठ रूप सुरक्षित है। गुजराती आलोचना साहित्य में वे अपना प्रमुख स्थान रखते हैं।

नर्मद से चल कर गुजराती आलोचना धारा अनेक उर्वर और कभी कंटकाकीर्ण पथरीले मार्गों में चलती रही। कभी क्षीण तो कभी पीन और कभी विस्तृत। गुजराती साहित्य के इतिहास में 'पंडित युग' बहुत महत्वपूर्ण युग है। 'सरस्वतीचन्द्र' इसी युग की देन हैं। गोवर्धनराम के इस दिक् काल-अपराजित उपन्यास ने जहाँ एक ओर समाज को नई चेतना दी, दूसरी ओर साहित्य जगत में क्रान्ति भी उपस्थित करदी। इस अकेले ग्रंथ ने अनेक लेखकों और आलोचकों को जन्म दिया। इसी लिये यह युग 'संगम युग' भी कहलाता है। इस युग में पूर्व-पश्चिम का 'संगम' बड़े संयम के साथ उपस्थित हुआ है। गोवर्धनराम के महिमामय व्यक्तित्व के कारण यह युग 'गोवर्धन युग' के नाम से भी

विख्यात है। आगे चलकर इस युग की अच्छी प्रतिक्रिया हुई और गुजराती आलोचना ने एक नये मोड़ पर पैर रखा। प्रसिद्ध मासिक 'सुदर्शन' के संपादक मणिलाल ने गुजराती साहित्य के ग्रंथों की बड़ी समर्थ आलोचना प्रस्तुत की और इस प्रकार गुजरात में अनेक समालोचकों को नई दिशा मिली। विश्लेषणात्मक आलोचना का सूत्रपात मणिलाल से ही प्रारम्भ होता है। परन्तु मणिलाल की आलोचक शैली बहुत कुछ भारतीय थी उसमें पाश्चात्य-शैली के समावेश का का नितांत अभाव है।

गुजराती का आलोचना-साहित्य, जिसने पाश्चात्य रंग से अधिक निखार पाया, वह रमण भाई की शैली से ही आगे बढ़ा है। यद्यपि मणिलाल की शैली में चिंतन की प्रधानता है, परन्तु परवर्ती आलोचक नरसिंहराव और रमण भाई पश्चिम के पुट को लेकर गुजराती आलोचना जगत में अवतरित हुए। उससे गुजराती का आलोचना-साहित्य एक नया रंग पाकर निखर उठा। नरसिंहराव प्रसिद्ध भाषाशास्त्री भी थे। अतः उनकी शैली कलात्मक और प्रवाहमयी थी। आलोचना के क्षेत्र में उनकी प्रसिद्ध तो थी ही वे 'आधुनिक कविता की गंगोत्री' भी कहे जाते हैं। परन्तु आलोचक के रूप उनका स्थान बहुत ऊँचा है। एक आलोचक के लिये सहृदयता (कवि हृदय) और विद्वत्ता दोनों गुणों को वे अनिवार्य मानते हैं। उनका विश्वास था कि प्रतिभा शून्य व्यक्ति अच्छा आलोचक नहीं हो सकता। क्योंकि आलोचक का काम विश्लेषण करना होता है जो बिना प्रतिभा के असम्भव है। नरसिंहराव की साहित्यिक आलोचनाएं : 'नमो मुकुर' : नामक ग्रन्थ में संगृहीत हैं। पाश्चात्य साहित्यालोचन और संस्कृत-अलंकार-शास्त्र का सुन्दर समन्वय उनमें पाया जाता है।

गुजराती साहित्य के दूसरे समर्थ आलोचक रमण भाई की साहित्यिक आलोचनाएं उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कविता अने साहित्य' में संगृहीत हैं। 'सुदर्शन' में साहित्यिक आलोचनाएं निरंतर प्रकाशित होती रहीं। रमण भाई ने साहित्यिक आलोचना क्षेत्र में बहुत बड़ा योगदान दिया है। उनमें विविधता भी है और आधिक्य भी। नवलराम की अपेक्षा वे उच्चकोटि के आलोचक सिद्ध होते हैं।

रमण भाई के उपरान्त गुजराती आलोचना का स्वरूप कुछ मिश्रित सा बना रहा। पूर्व और पश्चिम के आलोचना-मान युगपत् चलते रहे। आनन्द शंकर बापूभाई ध्रुव के 'काव्य तत्व विचार', 'साहित्य विचार' दिग्दर्शन आदि ग्रंथ इस समन्वय के उत्तम उदाहरण हैं। इन ग्रंथों की प्रौढ़ शैली देखने योग्य है। साथ ही यह मानना पड़ेगा कि इस कोटि के आलोचनात्मक ग्रंथ हिन्दी साहित्य में अधिक नहीं। गुजराती आलोचना का नवीन मोड़ कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी से प्रारम्भ होता है। मुन्शी मुख्यतः विचारक हैं। प्रारम्भ से ही राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव, अरविन्द का प्रभाव और समाजवादी विचारधारा ने उन्हें राजनैतिक व्यक्ति बना दिया, किन्तु साहित्य इनका प्रिय क्षेत्र था। मुन्शी उपन्यासकार, कहानीकार, निबन्धकार सभी कुछ हैं। उन पर अंग्रेजी का पूरा-पूरा प्रभाव भी है। अतः मुन्शी जी की साहित्य सेवा विविधांगी और पर्याप्त है। गांधी, कालेलकर इस युग के

विचारक रहे हैं। राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय भाग लेने के कारण इन दोनों महानुभावों का क्षेत्र साहित्य नहीं था; उधर मुन्शी का क्षेत्र राजनीतिक नहीं था। अत: इन तीनों महानुभावों की साहित्य-सेवा विभिन्न प्रकार की होती हुई भी चिंतन प्रधान कही जायगी। इस युग का आलोचना-साहित्य अन्तर्मुखी अधिक है।

तात्पर्य इतना ही है कि गुजराती आलोचना-साहित्य का इतिहास नवलराय पंड्या से प्रारम्भ होकर नवलराय त्रिवेदी तक लगभग सवा सौ वर्षों का है। इस लंबे काल में गुजराती का आलोचना-साहित्य इतना प्रौढ़ एवं विकसित हुआ है कि वह किसी भी समृद्ध भाषा के आलोचनात्मक साहित्य के समकक्ष निर्विवाद रूप से रखा जा सकता है।
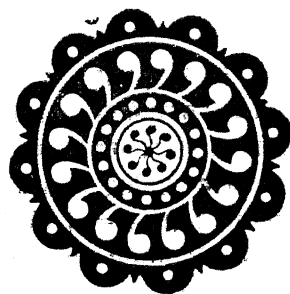
डा. अरविन्दकुमार देसाई

गुजराती आलोचना की प्रवृत्तियाँ

गुजराती साहित्य के लगभग एक सौ पन्द्रह वर्षों के आलोचना साहित्य के संपूर्ण प्रवृत्तिगत विकास को एक छोटे-से लेख की सीमा में बाँध सकना कठिन ही है। आधुनिक काल से पहले गुजराती साहित्य में आलोचना का नितान्त अभाव तो नहीं था, किन्तु आलोचना-रूपी पावक के स्फुलिंग कभी-कभी क्षण भर के लिए चमक जाया करते थे। प्राचीन और मध्ययुगीन कवियों ने अपनी कविताओं के बीच-बीच में अपने आलोचना सम्बन्धी विचार व्यक्त किये हैं। उनकी यह आलोचना-पद्धति प्राचीन संस्कृत साहित्य के अनुकरण पर सूक्ति रूप में ही उपलब्ध है। कहीं-कहीं टीकाकारों के द्वारा ग्रन्थों की टीकारूप में भी कृति के गुण-दोषों की समालोचना पाई जाती है। लेकिन आधुनिक काल से पहले गुजराती में लिखा गया कोई भी काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ प्राप्य नहीं है। महाकवि केशवदास के 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' गुजराती साहित्यकारों में शताब्दियों तक अत्यन्त लोकप्रिय लक्षण ग्रंथ रहे हैं। गुजराती में इसके अभाव का प्रमुख कारण गद्य का अभाव माना गया है। आलोचना-साहित्य का योग्य वाहन तो गद्य ही हो सकता है और गुजराती में आधुनिक काल से पूर्व गद्य का अभाव होने से आलोचना का अभाव स्वाभाविक ही था।

गुजराती में समालोचना का स्वरूप पाश्चात्य काव्यशास्त्र की प्रेरणा से ही गठित हुआ है। इसका उद्देश्य शुद्ध शास्त्रीय है अर्थात् यह सम्पूर्ण रचना का अध्ययन कर लेने के बाद सहृदय के मन पर पड़े हुए प्रभाव को महत्व देता है, अथवा यह समग्र कृति की (Poetry in general) समीक्षा करके उसमें से सिद्धान्तों की खोज करता है। इसके साथ ही कृति को

समझने के लिए आवश्यक टिप्पणियों एवं टीकाओं में से उद्भूत सिद्धान्तों को भी ग्राह्य समझता है। इस प्रकार समस्त गुजराती आलोचना-साहित्य को शुद्ध समालोचना और आलोचना का उपकारक साहित्य इन दो भागों में विभक्त करके भी देखा जा सकता है। प्रथम में शुद्ध सैद्धान्तिक समालोचना सम्बन्धी ग्रंथों एवं लेखों का समावेश किया जाता है और द्वितीय में किसी कवि, ग्रंथ या अन्य रचना के गुण-दोष की आलोचना में प्राप्य सिद्धान्त को लिया जाता है। गुजराती के अधिकांश साहित्यकार सर्जक और विचारक दोनों कोटि के रहे हैं अतः प्रथम प्रकार का आलोचना-साहित्य यथेष्ट परिमाण में उपलब्ध नहीं है, परन्तु उसे अल्प भी नहीं कहा जा सकता। आलोचना की दृष्टि से आधुनिक गुजराती साहित्य को प्रारम्भिक युग, पंडित युग, गांधी युग और स्वातंत्र्योत्तर युग नाम से चार भागों में विभक्त करके देखेंगे।

ई. सन् १८५१ में कविवर नर्मदाशंकर के द्वारा लिखे गये "कवि और कविता" शीर्षक निबन्ध से गुजराती आलोचना का प्रारम्भ माना जाता है। तत्पश्चात् उन्होंने मध्य-कालीन कवियों की जीवनियाँ लिखकर अपने आलोचनात्मक विचारों को स्पष्ट किया है। उनके इन विचारों के आधार पर कहा जा सकता है कि उन पर अंग्रेजी और संस्कृत का समान प्रभाव पड़ा है। इसमें एक ओर रससिद्धान्त की चर्चा की गई है तो साथ ही हेज़लिट के द्वारा कथित Passion और Imagination को कविता का अनिवार्य साधन माना है। उनकी आलोचनात्मक दृष्टि "शास्त्रकार और हेतुवादिनी" अर्थात् तर्कशास्त्री की-सी है। 'वाक्य रसात्मकं काव्यम्' के अनुसार काव्य की परीक्षा का प्रधान साधन रस को मानते हुए वे लिखते हैं, "रस के आधार पर ही कविता को उत्तम या मध्यम कहा जाता है........रस अर्थात आन्तरिक आनन्द..... दुःख से भी रस की अनुभूति सम्भव है।" इसके साथ ही कवि हृदय में अनुभूति की तीव्रता को अनिवार्य मानते हुए लिखा है, "........जब तक काव्य में दर्द की अनुभूति न हो तब तक उसे जन्मजात कवि नहीं कहा जा सकता। जन्मतः कवि वही है जिसमें प्रेम या धर्म सम्बन्धी अबाध्य उत्साह (जोस्सो) हो।" कविता के भेदोपभेदों का वर्णन भी अंग्रेजी के आधार पर ही किया गया है। नर्मद में अत्यधिक उत्साह था और गुजराती भाषा-साहित्य को शीघ्रातिशीघ्र उन्नत कर देने की तीव्र अभिलाषा थी, अतः वे तलस्पर्शी और गहन आलोचना नहीं कर सके, फिर भी प्रथम आलोचक के रूप में उनका महत्व कम नहीं है। गुजराती साहित्य में समालोचना का बीज-वपन संस्कृत और अँग्रेजी के मिश्रित प्रयास के द्वारा ही हुआ है।

नर्मद के समकालीन और सुहृद नवलराय इस युग के सफल समालोचक हैं। उन्होंने अपने "शालापत्र" में साहित्यिक समालोचना का विशेष विभाग चलाकर इस प्रवाह को वेग दिया। तत्कालीन श्रेष्ठ साहित्यकार मणिलाल द्विवेदी के 'कान्ता' नाटक की समीक्षा में युक्ति पूर्वक गुण-दोषों का विवेचन करके एक तटस्थ तथा आदर्श आलोचना का उदाहरण प्रस्तुत किया। अपने एक निबन्ध में कवि और कविता का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है "प्रकृति का स्वरूप ही कविता है......और उसे चित्रित करने वाला कवि है। इस अर्थ में एक योग्य

चित्रकार और संगीतकार भी कवि है।" यहाँ कविता का अर्थ 'सर्जनात्मक कला' किया गया है। इसके साथ ही उन्होंने नाटक, महाकाव्य, खंडकाव्य, छन्द और शैली के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। आलोचना के उपकारक साहित्य में अनुवाद या भाषान्तर के विषय में उन्होंने लिखा है "अनुवाद तीन प्रकार से किया जाता है—१. शब्दानुसारी, २. अर्थानुसारी और ३. देशकालानुसारी अथवा रसानुसारी। इनमें से अन्तिम प्रकार ही श्रेष्ठ है क्योंकि मूल विचारों के अभाव में उसी प्रकार की रसानुभूति असम्भव है। प्रारम्भिक युग के इस धीर-गम्भीर आलोचक ने गुजराती आलोचना को योग्य मार्ग-दर्शन दिया। इस युग में प्रधानतः आत्मप्रधान अथवा प्रभावात्मक आलोचना का ही आधार लिया गया प्रतीत होता है। ग्रंथावलोकनों तथा कवि-जीवनियों में भावुक बनकर अपनी रुचि के अनुकूल आलोचना ही इस युग के आलोचकों का प्रधान कार्य रहा है।

गुजराती साहित्य के इतिहास में पंडित युग (सन् १८८५-१९२०) अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण रहा है। इस युग में धर्म और सामाजिक सुधार-विषयक अनेक नवीन विचारों का आगमन हुआ था। पाश्चात्य दर्शन के विविध सत्यों ने हमारे विद्वद्वर्ग को नये ढंग से सोचने को बाध्य किया था। इनका प्रभाव भी तत्कालीन समालोचना पर पड़ना स्वाभाविक था। गुजराती के रचनात्मक साहित्य की ही भाँति आलोचना साहित्य ने भी अत्यधिक विकास किया। इस युग के प्रायः सभी साहित्यकार सर्जन और चिन्तन की उभय प्रतिभा वाले सारस्वत थे। मणिलाल द्विवेदी, रमणभाई नीलकंठ, नरसिंहराव दिवेटिया, केशव हर्षद ध्रुव, आनन्दशंकर ध्रुव, बलवंतराय डाकोर, नान्हालाल आदि सभी समर्थ कवि और विचारक हैं। श्री द्विवेदी प्राचीनता के अभिमानी तथा प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र के आग्रही थे। अपने 'प्रियंवदा' और 'सुदर्शन' पत्रों के अनेक लेखों में काव्यशास्त्र सम्बन्धी विचार अभिव्यक्त किये हैं। उनका मानना है "भावों में आनन्दत्व आत्मा का उद्गार है, वही कविता है।" यह भावमय आनन्द प्रतिभा संपन्न कवियों व कलाकारों को ही लभ्य होता है। इसीलिए काव्य, शिल्प, संगीत और चित्र ये चारों प्रतिभा के कार्य कहे गये हैं। प्रतिभाशाली संस्कारमय हृदय में जो भावपूर्ण दर्शन उद्भव होता है उसे कलाकार रसपूर्वक भिन्न-भिन्न उपादानों से व्यक्त करता है। इन सब कलाओं में साधन की भिन्नता के कारण भेद प्रतीत होता है। आपने कविता के साथ-साथ नाटक, उपन्यास और कहानी के सम्बन्ध में भी लिखा है। ग्रंथावलोकन के लिए संस्कृत के 'अनुबन्धचतुष्टय के विवेक' को अनिवार्य कहा है। आपके समीक्षात्मक लेख चोटदार, स्पष्ट, प्राचीन पारिभाषिक शब्दों से युक्त, गम्भीर एवं परिनिष्ठित हैं। उनके सर्वथा विरुद्ध रमणभाई नीलकंठ की आलोचना अंग्रेजी तथा पाश्चात्य साहित्य के शौक के कारण प्रारम्भ में इसी से प्रभावित थी, किन्तु बाद में संस्कृत काव्यशास्त्र की ओर वे आकर्षित रहे। आपकी शैली व्यक्तित्ववाली है, अर्थात् आप अपने समीक्षात्मक लेखों में भिन्न-भिन्न विचारकों का मत प्रदर्शित करते हुए अपने विचार, सिद्धान्त, व्याप्ति और व्याख्या के द्वारा नया विचार प्रस्तुत करते हैं। अपने "कविता अनुकरण जन्य या कल्पना जन्य" शीर्षक लेख में एरिस्टोटल के Imitation और बेकन के Imagination का समन्वय साधते हुए लिखा है "कविता

अनुकरण के बाद कल्पना करती है। वह कृत्रिम घटनायें उत्पन्न करती है किन्तु उन्हें सृष्टि के नियमों में आबद्ध रखती है। इसी प्रकार कविता अनुकरण भी करती है लेकिन कल्पना के लिए अनुकरण करती है अथवा अनुकरण में कल्पना का समावेश करती है। कल्पना रहित अनुकरण में चमत्कार का अभाव अवश्यंभावी है। अतः दोनों का समन्वय ही कविता का प्राण है।" आप कविता में आनन्द और बोध दोनों के आग्रही हैं। "हास्यरस" पर लिखा गया उनका लेख ऐतिहासिक है। अंग्रेजी में प्रचलित हास्यरस के विविध प्रकारों--Humour; Wit, Satire, Lampoon Caricature, Cartoon, Parody, Mockheroic, Serio-Comic, Tragi-Comic, Comedy, Farce, और Buffoonery का सोदाहरण परिचय देते हुए गुजराती में भी इनकी आवश्यकता का आग्रह रखा है। हास्य और व्यंग्य का एक सुन्दर और अद्वितीय ग्रंथ 'भदंभद्र' उनकी एकमेवाद्वितीय देन है। किसी ग्रंथ की समीक्षा के लिए उन्होंने चार सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं:—(१) संस्कृत टीकाकारों की व्याख्या पद्धति, (२) पाठक की दृष्टि से विषय के आविर्भूत (objective) स्वरूप की परीक्षा, (३) ग्रंथकार के मन के अनुकूल विषय के अन्तर्भूत (Subjective) स्वरूप की चर्चा और (४) विवेचनात्मक सिद्धान्तों की रचना अर्थात् Speculative criticism। अनेक गुजराती इतिहासकारों ने आपको "पाश्चात्य आलोचना के संस्कारों में संपूर्ण रत समालोचक" का विरुद दिया है। उन्हें सैद्धान्तिक समालोचक कहना ही समीचीन होगा।

नरसिंहराव दिवेटिया एक सुकवि और विवादवीर समालोचक थे। आपकी आलोचना प्रवृत्ति के तीन मुख्य अंग कहे गये हैं। प्रथमतः आप जीवन और साहित्य दोनों में ही स्वाभाविक यम-नियम के प्रवल आग्रही थे। उनका मन्तव्य था कि जिस कवि की रचनाओं में संयम-नियम की उपेक्षा हो तथा व्यवहार-मर्यादा की सीमा का उल्लंघन हो उसे सु-कविता नहीं कहा जा सकता। द्वितीयतः आप कविता के लिए भव्य या महान् विषय के आग्रही थे। मानव-हृदय तथा सृष्टि के गहन नियम कविता के स्थायी विषय हैं। ये विषय कवित्व के चिरंतन तत्वों के साथ संलग्न होने से इनके अनुकूल काव्य ही सर्वकालीन हो सकते हैं। उनका तीसरा आग्रह कविता में गेय-तत्व के लिए था। इन्हीं आग्रहों का पालन करते हुए आपने अपना 'कुसुम माला' काव्य संग्रह तैयार किया था जो कि गुजराती में आज भी बड़े आदर के साथ पढ़ा जाता है। आलोचकों ने उनके इन आग्रहों को एक ओर उपकारक बताया है तो दूसरी ओर संकुचित भी कहा है। केशव हर्षद ध्रुव ने अपने'साहित्य अने विवेचन'ग्रंथ में ऐतिहासिक आलोचना का प्रथम बार प्रयोग किया। वे संस्कृत के अभ्यासी विद्वान, भाषान्तरकार, आलोचक और ऐतिहासिक संशोधक थे। अनेक संस्कृत नाटकों के अनुवादों के आरम्भ में एक लम्बी प्रस्तावना के रूप में ऐतिहासिक आलोचना का सुन्दर रूप प्रस्तुत किया है।

'समताशील' समालोचक आचार्य आनन्दशंकर ध्रुव ने समता का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है "अन्त का परिहार और मध्य का ग्रहण समता है।" यही उनकी आलोचना प्रवृत्ति का प्रमुख तत्व है। कवि हृदय के तत्वचिंतक इस समालोचक की जीवन दृष्टि और साहित्य दृष्टि भी तत्वाभिनिवेशी है। अपने 'काव्यतत्वविचार' नामक ग्रंथ में आपने पाश्चात्य एवं संस्कृत

को ऐतिहासिक परम्परा में समझकर तदनुकूल समीक्षा करना आवश्यक है। साथ ही रचना प्रक्रिया में भी युगानुकूल परिवर्तन होता रहा है, अतः नए साहित्य में आये हुए बिम्बविधान तथा प्रतीकों के प्रयोगों को समझ लेना भी नितान्त आवश्यक है। इन सबका विचार करते हुए यह कहना अनुचित न होगा कि इस नई समीक्षा का मूल्यांकन अभी कुछ काल बाद ही भलीभाँति हो सकेगा। फिर भी वर्तमान प्रवृत्तियों को समझने के लिए नये आलोचकों में प्रमुख डाक्टर सुरेश जोशी के कुछ विधानों को विजयराय वैद्य के शब्दों में ही देख लेना अनुचित न होगा।

(१) कला-सर्जन अन्य प्रयोजनों का साधन नहीं है। वह केवल अहेतुक निर्माण प्रवृत्ति है। (२) स्थायी भाव मात्र में विस्मय का अंश रहता है। समस्त रस का यह आदि स्रोत ही सर्जन मात्र का प्रयोजन है। (३) आठों रसों से निबद्ध हमारे चैत्यपुरुष का संवर्धन ही जीवन के सकल प्रयोजनों का मूलभूत प्रयोजन है। (४) सत्य अथवा संतति (The pure state of existance) इन दोनों में कोई विरोध नहीं है केवल विरोधाभास है। (५) सत्य के अनेक मूल्यवान अंश कल्पना और बेहूदगी (Absurdity) के नीचे दबे पड़े हैं। उनका उद्धार कलाकार के सिवाय अन्य कोई नहीं कर सकता। (६) प्रत्येक सच्चा कलाकार संगतिपूर्वक, प्रतीति-कर्ता रूप से, असंप्रज्ञातावस्था में भी अन्तःकरण प्रेरित नियमों का ही सहज भाव से पालन करता है।

वर्तमान गुजराती में भी विविध उपायों एवं साधनों से समालोचना का कार्य प्रगति के पंथ पर अग्रसर है। गुजरात साहित्य सभा की ओर से प्रतिवर्ष अधिकारी विद्वानों के द्वारा ग्रंथस्थ वाङ्मय की समीक्षा करवाई जाती है। साथ ही महाविद्यालयों के प्राध्यापकों के द्वारा अभ्यासग्रंथों की रचना की जा रही है। विविध शोधग्रंथों के रूप में तथा अनेक पत्र-पत्रिकाओं के समीक्षा-विभाग में आलोचना की नई दृष्टि और प्रवृत्ति के दर्शन हो रहे हैं। पंडित युग की गम्भीरता तथा गांधी युग की सरलता के स्थान पर नये प्रतीकों और बिम्ब-विधानों के कारण आज की समालोचना नये रूप में प्रकट हो रही है और आलोचना के क्षेत्र को उज्ज्वल आशा प्रदान कर रही है।

श्री घनश्यामदास व्यास
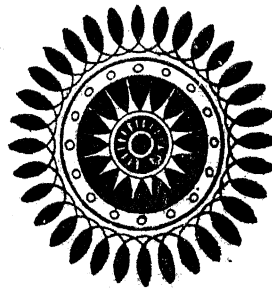
मराठी-आलोचना का विकास

प्रत्येक भाषा क्रमिक विकासान्तर्गत ही साहित्यिक स्वरूप प्राप्त करती है। मराठी के विकास में भारतीय प्राचीन-भाषाओं का महत्वपूर्ण हाथ है, परन्तु विशेषरूप में महाराष्ट्री प्राकृत एवं महाराष्ट्री अपभ्रंश का सर्वाधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। प्रा. कृ. मा. कुलकर्णी ने मराठी की उत्पत्ति पर विचार करते हुये तथ्योद्घाटन यों किया है—"मराठी-भाषा किसी एक प्राकृत से ही विकसित हुई हो, यह बात नहीं है। इसमें कई प्राकृत-भाषाओं का मिश्रण है। यह स्वीकार किया जा सकता है, कि महाराष्ट्री प्राकृत एवं अपभ्रंश के अवशेष अधिक मात्रा में मिलते हैं।" जिस प्रकार भाषा के विकास में उसके समकालीन भाषाओं का प्रभाव रहता है, उसी प्रकार साहित्य-सृजन में भी उसके समकालीन एवं अधिक प्रभावशाली भाषाओं का भी प्रभाव पड़ता है। भारतीय-भाषाएँ संस्कृत-साहित्य एवं उसकी कई विधाओं से अधिकृत रूप में प्रभावित रही हैं। प्रभावित भी इस तरह हुई हैं कि संस्कृत ने उनके लिए धरोहर छोड़ी है।

मराठी-साहित्य-सृजन बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है, परन्तु समीक्षात्मक कार्य एक शताब्दी पूर्व से ही आरम्भ हुआ है। वैसे प्राचीन भक्त-कवियों ने अपने विचार व्यक्त करते समय यदा-कदा शास्त्रीय-तथ्यों पर भी दृष्टि डाली है। उदाहरणार्थ देखिए :—

(१) कवी सृष्टीचा अलंकार। कली लक्ष्मीचा शृंगार।
सकल सिद्धींचा निर्धार। ते हे कवी॥—श्री समर्थ

(२) आधीं बखें कवित्व । कवित्वीं रसिकत्व
रसिकत्वीं परतत्व । स्पर्शु जैसा ।।—श्री ज्ञानेश्वर

(३) हें शब्दब्रह्म अशेष । तेचि मूर्ति सुवेष ।
तें वर्णवपु निर्दोष । मिखत असें ।।—श्री ज्ञानेश्वर

परन्तु इन्हें हम आलोचना के स्वरूप से सम्बन्धित नहीं कर सकते । प्रसिद्ध इतिहासकार प्रा. आ. ना. देशपांडे—"आधुनिक मराठी वांगमयाचा इतिहास भाग दूसरा" में लिखते हैं—'दाजी शिवाजी प्रधान यांचा १८६८ मधाला "रस माधव" हा आधुनिक मराठींताला पहिला साहित्य शास्त्रीय ग्रंथ आहे।" मैं भी यहीं से मराठी समीक्षा के स्वरूप एवं विकास की चर्चा करता हूँ । कुसुमावती देशपांडे ने भी साहित्यशास्त्रीय ग्रंथ के रूप में 'रस माधव' को ही स्वीकृत किया है। वि. अ. कुलकर्णी भी "दाजी प्रधान" को ही प्रथम व्यक्ति मानते हैं, जिसने मराठी में शास्त्रीय ग्रंथ निर्माण की परम्परा डाली ।

यहीं से मराठी में आलोचना कार्य प्रारम्भ होता है । "रसमाधव" हमारे समक्ष समीक्षात्मक ग्रंथ के रूप नहीं वरन् शास्त्रीय ग्रंथ के रूप में आता है। 'रसमाधव' के सदृश्य ही, ज. वि. दामले ने "अलंकारादर्श," व. क. साकोडे ने "रस प्रबोध" 'रूपक प्रबोध' रा० रा० भागवत ने 'अलंकार मीमांसा' आदि विद्वानों ने शास्त्रीय ग्रंथों का प्रणयन किया। परन्तु ये ग्रंथ केवल शास्त्रीय विवेचन मात्र देते रहे हैं, समीक्षा की प्रवृत्ति के अनुरूप नहीं थे । ये ग्रंथ प्राय: संस्कृत साहित्य से अनुवादित ही हैं। समीक्षा में, स्वतंत्र दृष्टि से विचार करते हुये, शास्त्रीय-विवेचन के आधार पर काव्य ग्रंथों की अर्थात् मौलिक सृजनात्मक साहित्य—यथा—नाटक, उपन्यास, कहानियाँ, कविताएँ (महाकाव्य आदि रूपों), आदि पर समीक्षा की जाती है ।

मराठी में शास्त्रीय-विवेचन के आते ही समीक्षात्मक कार्य भी मराठी-लेखकों ने प्रारम्भ कर दिया था । समीक्षा का प्रारम्भ भी मराठी में अपने से अपेक्षाकृत विकसित भाषा के प्रभावानुरूप ही हुआ । जिस प्रकार हिन्दी में प्रारम्भ में समीक्षा-पद्धति संस्कृत-विवेचनानुसार हुई थी, उसी प्रकार मराठी में भी समीक्षा संस्कृत-विवेचन पद्धति के अनुरूप ही हुई । समीक्षा-पद्धति में संस्कृत के सदृश्य ही शास्त्रीय-पद्धति के अनुसार समीक्षाएँ प्रारम्भ होती हैं । मराठी में समीक्षात्मक ढंग का प्रथम ग्रंथ के रूप में दादोबा पांडुरंग तर्खडकर का **"यशोदा पांडुरंगी"** है। इसमें तर्खडकर ने संस्कृत समीक्षा के नियमों का सुन्दर ढंग से स्पष्टीकरण करते हुए समीक्षाएँ प्रस्तुत की हैं । यह बात जरूर है कि समीक्षा का स्वरूप नवतत्वान्वेषण की अपेक्षा पूर्वाग्रह की ओर झुका हुआ है ।

वैसे मराठी-आलोचना का सुन्दरतम स्वरूप एवं संस्कृत-आलोचना के गहनतम अध्ययन की प्रवृत्ति हमें विष्णुशास्त्री चिपलूणकरजी के समीक्षात्मक निबन्धों में मिलती है । चिपलूणकर ने मोरोपंत पर अत्यन्त मार्मिक एवं चिन्तनशील विचार-सरणि के साथ समीक्षा प्रस्तुत की है । इन्हीं के समकालीन मराठी समीक्षकों ने चिपलूणकर की पद्धति अपनाई । इनमें मुख्य जनार्दन बालाजी मोडक वामन रावजी ओक, केशवराव कानेटकर, बापुसाहेब कुरुंदवाडकर, परत्व, गणेश शास्त्री लेले हैं, इन सभी ने भी मराठी-साहित्य पर संस्कृत-समीक्षाशास्त्रानुसार

उत्तम टीकाएँ प्रस्तुत की हैं। इन्होंने मराठी के प्राचीन साहित्य पर भावात्मक-समीक्षाएँ लिखी हैं। इसी समय बालकृष्ण मल्हार हँस ने मोरोपंत, वामन एवं तुकाराम पर अपूर्व ढंग की समीक्षात्मक टिप्पणियाँ लिखीं। हँस की अपूर्व क्षमता एवं काव्य की गहरी पैठ ने मराठी को समीक्षा के परम्परागत रूप को विकसित करने में अत्यन्त महत्वपूर्ण सहयोग दिया। हँस की भाषा में ओज के साथ अपने विषय को समझाने की अद्वितीय क्षमता थी। हँस की टीका ने मराठी को नूतन-टीकात्मक उन्मेष एवं विचार रूप का नव्यतम स्वरूप प्रदान किया। हँस की टीका संस्कृत की शास्त्रीय-पद्धति के सन्निकट होते हुए भी, आधुनिक-प्रवृत्तियों से सज्जित थी, एवं विचार-शक्ति में स्वयं की बौद्धिकता की गहरी-छाप के साथ प्रांजलता से परिपूर्ण थी। इस प्रकार मराठी-समीक्षा के स्वरूप में संस्कृत के साथ विकसित स्वरूप को प्रदान करने में दादोबा पांडुरंग, चिपलूणकर एवं हँस का समीक्षात्मक कार्य उल्लेखनीय है।

भावे, भिड़े, पांगारकर, राजवाड़े एवं अजगांवकर ने भी इस समय प्राचीन-काव्य पर शोधात्मक टीकाएँ लिखीं। भावे का "महाराष्ट्र-सारस्वत" नामक, प्राचीन साहित्य पर अत्यन्त विशद एवं गम्भीर ग्रंथ है। भावे ने अपने मौलिक वक्तव्यों के अन्तर्गत तुकाराम, ज्ञानेश्वर, रामदास आदि के ग्रंथों का मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया है। इतिहासाचार्य राजवाडे ने तो समीक्षा-शैली अपनी ही स्थापित की। स्वतन्त्र विचार-सरणि एवं महत्वपूर्ण दृष्टिकोण का समन्वय मराठी-समीक्षा में, राजवाड़े में सर्वप्रथम दृष्टिगोचर होता है।

इसी समय गोपाल गणेश आगरकर एवं शिवराम महादेव परांजपे का भी समीक्षात्मक कार्य प्रकाश में आया। आगरकर का निबन्ध—"कवि काव्य व काव्यरति" रस का काव्य में स्थान तथा कवि-सृजन-प्रतिभा पर मौलिक रूप से विचार करता है साथ ही पाश्चात्य विचार सरणि का प्रभाव स्पष्ट होता है। शिवराम परांजपे ने संस्कृत-काव्य-नाटकों पर मराठी में अपनी दृष्टि से देखा है एवं समीक्षा को मौलिक-चिन्तन की धारा प्रदान की है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि चिपलूणकर के "संस्कृत-कवि-पंचक" के साथ आगरकर एवं परांजपे के ही निबन्ध मराठी-आलोचना में सर्वप्रथम संस्कृत-सिद्धान्तों के साथ पाश्चात्य चिन्तन-धारा को स्पष्ट करने में सफल हुये हैं। यहीं से मराठी समीक्षा का स्वरूप पौरस्त एवं पाश्चात्य समीक्षासिद्धान्तों के साथ विकास की ओर अग्रसर होता है।

यहाँ तक विचार करते हुये आने पर यह कह सकते हैं, कि मराठी-समीक्षा का प्रारम्भिक स्वरूप पौरस्त (संस्कृत) एवं पाश्चात्य समीक्षा के साथ विकसित हुआ है।

विकास का प्रश्न है, यह वैयक्तिक-विचारधारा के अनुरूप ही होता है। संस्कृत-समीक्षा में वैयक्तिक-विचार-सरणि को स्थान नहीं है। परिणामस्वरूप संस्कृत-समीक्षा का स्वरूप आज भी मल्लीनाथ की टीका तक ही पड़ी हुई है। वैसे हम खींचतान करके अत्याधुनिक सिद्धान्तों की भी खबर संस्कृत-समीक्षा में खोज लेते हैं। तथ्यतः तो संस्कृत-समीक्षा में कई सिद्धान्त स्पष्ट हैं, परन्तु उन्हें समझना एवं समझाना दुष्कर कार्य है। परन्तु मराठी समीक्षा का अपेक्षाकृत विकास बीसवीं सदी में हुआ है, जो पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित है। अभी तक समीक्षा-कार्य को हम नवरीतिवादी समीक्षा-पद्धति में सम्मिलित कर सकते हैं। यह

सलिए कि इस समय समीक्षात्मक-कार्य प्राचीन रीतियों को नवीन दृष्टिकोण से माप रहा था। ाचपलूणकर, आगरकर, परांजपे आदि ने पाश्चात्य विचारधारा का समन्वय करते हुये समीक्षा की है, परन्तु इनका झुकाव तुलनात्मक ऐतिहासिक एवं प्रभाववादी (संस्कृत से) पद्धति की ओर रहा है। यहाँ वा० म० जोशी, केलकर, दे० के० केलकर आदि समीक्षकों के कार्य भी उल्लेखनीय हैं।

इनके पश्चात् मराठी आलोचना में सर्वथा मौलिक चिन्तन करते हुये वा० व० पटवर्धन प्रथम समीक्षक के रूप में दिखाई देते हैं। न०चि० केलकर भी स्पष्ट होते हैं। न०चि० केलकर का ग्रन्थ "सुभाषित आणि विनोद" (१९०८) में साहित्य-क्षेत्र में आता है। केलकर ने इस ग्रन्थ के माध्यम से 'हास्य रस' को रसराज सिद्ध किया। इसका विस्तृत रूप १९३७ में 'हास्य-विनोद मीमांसा' नाम से प्रख्यात हुआ। इसमें पाश्चात्य विचारधारानुरूप विस्तृत विवेचन मिलता है। पटवर्धन का "काव्य आणि काव्योदय" १९०९ में प्रकाशित हुआ। इन्होंने केलकर से अपेक्षाकृत अधिक अच्छे ढंग से काव्य-सृजन, काव्य-स्वरूप, काव्य-सृजन-प्रतिभा (कवि), छन्द-रस-अलंकार आदि खंडों पर परम्परागत विचार-सरणि से स्वतंत्र विचारों की अभिव्यक्ति की है। पटवर्धन की समीक्षा ने मराठी में उत्क्रांति ला दी। केलकर का १९२१ में मराठी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष पद से दिए गए भाषण में भी नूतन मतों पर ही दृष्टि डाली थी। केलकर ने साहित्य की नवीन परिभाषायें स्पष्ट की हैं—"जो वास्तविक दृष्टि से सविकल्प-समाधि मानव-हृदय में स्थापित करने में समर्थ है, वही "वाङ्मय" है।" श्री० कृ० कोल्हटकर ने तोत्यांचे बंड टीका रूप में अत्यन्त प्रभावशाली ग्रंथ का निर्माण किया। कोल्हटकर ने तो पाश्चात्य विवेचन को भी अपने ही दृष्टिकोण से अपनाया है। ह.ना आपटे ने "विदग्ध वाङ्मय" में वाङ्मय पर नूतन मत प्रस्तुत किया है। साथ ही साधारणीकरण के साथ पाश्चात्य विचार-धारा का सुन्दर ढंग से विवेचन प्रस्तुत किया है। साथ ही "मराठी-वाङ्मय" पर अपनी दृष्टि से विचार किया है। इसी समय गोदावरी केलकर ने "भारतीय नाट्यशास्त्र" में नाटक-तत्वों पर मराठी-साहित्य के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं तथा रस-प्रकरण में रस-निष्पति, नट, दर्शकादि पर अपने ढंग से आधुनिकता के साथ विवेचन किया है। इनकी समीक्षा-पद्धति को हम **"नवोत्थानवादी-समीक्षा-पद्धति"** नाम दे सकते हैं। इन्होंने समीक्षा के प्राचीन तथ्यों को नूतन दृष्टि प्रदान की है।

नवोत्थान के प्रभाव के साथ मराठी में समीक्षा ने नया मोड़ लिया, जो स्वच्छन्दता-वादी-समीक्षा-पद्धति की ओर झुका। इस ओर विशेषरूप से बढ़ने वाले समीक्षकों में रा० श्री० जोग, डॉ० के० ना० वाटवे, डॉ० रा० श० वालिंबे, श्री० के० क्षीरसागर आदि के समीक्षा-कार्य उल्लेखनीय हैं। श्री जोग के 'अभिनव काव्य-प्रकाश' एवं 'सौन्दर्य शोध आणि आनंद बोध' ग्रंथ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। 'अभिनव काव्य प्रकाश' (१९३०) में जोग, साहित्य के साथ मानसशास्त्रानुरूप साहित्य-विवेचन में स्वच्छन्द-विचारधारा के अनुयायी रूप में स्पष्ट होते हैं। विवेचन में यत्र-तत्र मराठी-साहित्य के उद्धहरण ग्रन्थ की विशेषता बढ़ा देते हैं। सौन्दर्य शोध आणि आनंदबोध (१९४३) तो उन्हें स्वच्छन्दतावादी समीक्षा में

अग्रणी स्थान पर बैठा देता है। इस ग्रंथ के माध्यम से सौन्दर्य का विवेचन करते हुये, मराठी में सत्यं, शिवं के आधार पर सुन्दरम् का विवेचन अन्यतम रूप में किया है। डा० के० ना० वाटवे ने 'रस-विमर्श' (१९४२) के माध्यम से रस का, मानसशास्त्रीय आधारानुरूप, सहज-प्रवृत्तियों, स्थिर वृत्तियों, प्राथमिक भावनाएँ, साधित-भावों के पथ से अग्रसर होते हुये विवेचन किया है। इसी के साथ डा० वाटवे ने 'क्रीड़ा रूप आत्माविष्कार' की मान्यता प्रतिपादित की है। संक्षेप में डा० वाटवे ने प्रतिभा, कल्पनाशक्ति, रसनिष्पत्ति-क्रिया, औचित्य-अनौचित्य विचार, ललित वाङ्मय का बाध्याकार आदि तथ्यों पर अन्यतम रूप में विचार किया है। डा० रा० शं० वालिंबे का 'साहित्य मीमांसा' व्यापक दृष्टिकोण उपलब्ध करता है। इस ग्रंथ में पौरस्त्य एवं पाश्चात्य विचार-सरणि के आकलन के साथ निजी मान्यताएँ भी स्पष्ट हुई हैं। डा० वालिंबे के साहित्याचा ध्रुवतारा, साहित्यांतील सम्प्रदाय, आदि आधुनिक युग के महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं। श्री० के० क्षीरसागर का 'वाङ्मयीन मूल्यें' भी उत्कृष्ट ग्रंथ है।

साहित्य में इस प्रगतिवाद का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। इसी के साथ समीक्षा में भी प्रगतिवाद की आवाज बुलन्द हुई एवं मराठी में वा० ल० कुलकर्णी, बा० सी० मर्ढेकर, कुसुमावती देशपांडे, पु० य० देशपांडे आदि ने प्रगतिवादी समीक्षा-पद्धति का विकास किया। ये लोग समीक्षा में सर्वथा नूतन मूल्यमापन की ओर अधिक झुके। मराठी में बा० सी० मर्ढेकर ने सौन्दर्य भावना पर अन्यतम लेखनी चलाई है। मर्ढेकर की सशक्त लेखनी एवं प्रतिभासम्पन्न आलोचक ने मराठी-समीक्षा को सौन्दर्यशास्त्र का नव्यतम रूप प्रदान किया। मर्ढेकर की वाङ्मयीन महात्मता (१९४१) समीक्षा के प्रगतिवादी रूप को अन्यतम दृष्टिकोण से पुष्ट करता है। यहाँ तक कि लेखक रिचार्ड्स के सौन्दर्य सम्बन्धी धारणाओं की समीक्षा (आलोचना) करने से नहीं चूकता। मर्ढेकर की सौन्दर्य आणि साहित्य (१९५५) सौन्दर्यशास्त्र पर अन्यतम पुस्तक है एवं उनकी गहन चिन्तनधारा का स्पष्टीकरण देती है। कुसुमावती देशपांडे मराठी साहित्य के नव्य सोपान को "पासंग" (१९५४) के माध्यम से बहुत कुछ दे सकी है। वा० ल० कुलकर्णी का "वांगमयांतील वादस्थलें" में साहित्य के विभिन्न पक्षों—यथा नाटक, उपन्यास, आत्म-चरित्र, निबंध, साहित्य तत्व आदि विषयों पर मौलिक चिन्तन का भंडार है। वा० ल० कुलकर्णी का 'मतें आणि मतभेद' (१९४९) निबन्ध संग्रह है, जिसमें प्रसंगानुरूप साहित्य-तत्वों पर चिन्तन किया गया है। कुलकर्णी का "वांगमयीन टीपा आणि टिप्पणी" भी निबन्ध संग्रह है, परन्तु इसमें भी "रस म्हणजे काय" जैसे निबन्धों द्वारा साहित्य के विभिन्न पक्षों पर विचार किया गया है। पु० य० देशपांडे भी उच्चकोटि के समीक्षक हैं। 'सौन्दर्याचें व्याकरण' डा० बारलिंगे का महत्वपूर्ण योगदान है।

मराठी में इधर प्रयोगवादी-समीक्षा भी आई है। साथ ही मनोवैज्ञानिक समीक्षा-पद्धति का भी स्वरूप स्पष्ट हुआ है। इन समीक्षा प्रणालियों के प्रमुख समीक्षक ये हैं—आ.रा. देशपांडे, शरदचन्द्र मुक्तिबोध, नरहरि कुरुंदकर, वि०दा० करंदीकर, नरहरि गाडगिल आदि।

इस प्रकार संक्षेप में हमने मराठी-समीक्षा के स्वरूप एवं विकास का परिचय प्राप्त दिया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है, कि मराठी समीक्षा का प्रारंभिक स्वरूप संस्कृत समीक्षा से प्रारंभ होकर पाश्चात्य तक पहुँचता है एवं मराठी समीक्षा का स्पष्ट स्वरूप साहित्य क्षेत्र में स्थापित हो जाता है। विकास में पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र का बहुमूल्य हाथ रहा है। पाश्चात्य समीक्षा के परिणामस्वरूप मराठी-समीक्षक भी वैयक्तिक मत प्रस्तुत करने की ओर बढ़े एवं समीक्षा में कई कोणों से विकास एक साथ प्रारंभ हुआ। इस प्रकार पाश्चात्य समालोचन के प्रभाव से मराठी-समीक्षा का विकास अधिक हुआ है।

डा० मनोहर काले
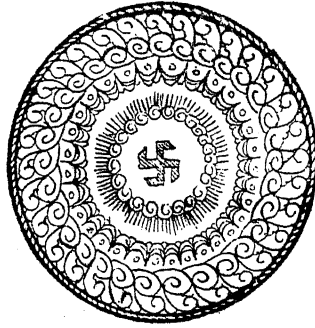
मराठी में सैद्धान्तिक आलोचना

साहित्य की एक महत्वपूर्ण विधा है—'समीक्षा'। इसका आधुनिक युग में जितना विकास हुआ है, उतना इससे पूर्व कभी नहीं हुआ। आधुनिक युग आस्था श्रद्धा या भावुकता का तर्क, बुद्धि और विचारशीलता की सापेक्षता में ही मूल्यांकन करता है। परिणामतः भावनाधिष्ठित साहित्य की अपेक्षा विचाराधिष्ठित साहित्य-विधा की अधिक प्रगति युग-धर्म का सहज प्रतिफलन है। आधुनिक युग में समीक्षात्मक साहित्य-विधा की अनवरत वृद्धि इसी तथ्य को प्रमाणित करती है। समीक्षात्मक साहित्य के मूल्यांकन और तुलनात्मक अध्ययन के लिए दो स्थूल किन्तु व्यापक वर्ग बन सकेंगे। वे हैं—सैद्धान्तिक समीक्षा और व्यावहारिक समीक्षा। प्रस्तुत प्रबन्ध में सैद्धान्तिक समीक्षा के ही एक रूप—'शास्त्रीय समीक्षा' का ही व्यापक तुलनात्मक अध्ययन किया जायेगा। 'शास्त्रीय समीक्षा' के भी दो रूप हैं—सैद्धान्तिक और व्यावहारिक। काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की सैद्धान्तिक दृष्टि से हिन्दी-मराठी में व्यापक समीक्षा हुई है। और, इन सिद्धान्तों के आधार पर आलोच्य कृतियों का समीक्षण भी हुआ है। संस्कृत साहित्यशास्त्र के रस, रीति, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य आदि सिद्धान्तों की समीक्षा एक ओर मराठी में जहाँ हुई है वहाँ दूसरी ओर इन सिद्धान्तों में प्रतिपादित तत्वों के आधार पर आधुनिक युग के महाकाव्य, नाटक आदि की व्यावहारिक समीक्षा भी की गई है।

ई० सन् १८७० से १९६० तक के लगभग ९० वर्ष के काव्यशास्त्रीय समीक्षा के विकास का विवेचन करना चाहें तो समीक्षकों के विशिष्ट दृष्टिकोणों के आधार पर निम्न

तीन वर्ग बन सकते हैं—

१. आस्थावादी दृष्टिकोण।

२. पुनराख्यानवादी दृष्टिकोण।

३. प्रतिक्रियावादी तथा नवीनताग्रही दृष्टिकोण।

आस्थावादी दृष्टिकोण :

मराठी के आधुनिक युग के आरम्भ में जो सैद्धान्तिक समीक्षक हुए हैं उन्हें संस्कृत-साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों में बड़ी आस्था, श्रद्धा और निष्ठा थी। परिणामतः इन्होंने रस, अलंकार, रीति आदि संस्कृत साहित्यशास्त्रगत सिद्धान्तों के महत्व और वैशिष्ट्य को अपनी-अपनी भाषा में समझाने का बड़े मनोयोग से प्रयत्न किया है। इनकी दृष्टि प्राचीन साहित्य-सिद्धान्तों में निहित न्यूनताओं, त्रुटियों या अपूर्णताओं की ओर विशेष नहीं गई, क्योंकि इनमें उनके प्रति अत्यधिक आस्था थी। अतः इन्होंने उनके महत्वमापन और गुणगान का ही अधिक प्रयत्न किया है।

संस्कृत समीक्षा के चिंतन का प्रभाव ग्रहण करने वाले अनेक आस्थावान् समीक्षक मराठी में आधुनिक युग के आरम्भ में ही अवतरित हुए। इनमें प्रभूदाजी शिवाजी प्रधान (रसमाधव १८६८), ज० वि० दामले (अलंकारादर्श १८८५), बलवंत कमलाकर माकोडे (रूपक बोध १८६०, रसप्रबोध १८६२), रा० रा० भागवत (अलंकार मीमांसा १८६३), गणेश सदाशिव लेले (साहित्यशास्त्र १८६४), रा० बा० तलेकर शास्त्री (अलंकार दर्पण १८६५), वामन एकनाथ क्षीरसागर (अलंकार विकास १८६६), लक्ष्मण गणेश शास्त्री लेले (अलंकार प्रकाश १६०५), गणेश मोरेश्वर गोरे (काव्य दोष दीपिका, अलंकार चन्द्रिका १६०५-८), रा० मि० जोशी (अलंकार विवेक, सुलभ अलंकार १६०६-१२), सदाशिव बापुजी कुलकर्णी (भाषा सौन्दर्य शास्त्र १६०८), विद्याधर वामन भिडे (साहित्य कौमुदी १६३२) आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

मराठी में उपलब्ध इन काव्यशास्त्रीय सैद्धान्तिक समीक्षा से सम्बद्ध लेखकों के दर्जनों ग्रन्थों, उनकी विवेचन-पद्धतियों, उनके प्रतिपाद्य और समीक्षात्मक विचारों को ध्यान में रखें तो हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर निर्विवाद रूप से पहुँच सकते हैं—

१—इन्होंने मराठी में संस्कृत के साहित्य-सिद्धान्त का स्वच्छ और प्रामाणिक आख्यान करने का यथाशक्ति प्रयास किया।

२—कतिपय ने काव्यशास्त्र के महत्वपूर्ण ग्रन्थों का मराठी में अविकल अनुवाद करने का भी प्रयत्न किया जिससे संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ व्यक्तियों को भी प्राचीन काव्य-सिद्धान्तों की जानकारी हो सके।

३—इनकी दृष्टि पूर्ववर्ती एक समकालीन सृज्यमान साहित्य पर भी केन्द्रित थी। इसलिए इन्होंने मराठी के काव्यों से उदाहरण देकर संस्कृत काव्य-सिद्धान्तों की उपयोगिता को प्रमाणित करने का भी प्रयत्न-सा किया है।

४—इन्होंने अपनी सीमित शक्ति, प्रतिभा और युग-धर्म के अनुरूप नवीन अनुसन्धान

का भी प्रयत्न किया है। विशेषतः रसों की संख्या तथा अलंकारों की संख्या में वृद्धि की चेष्टा की है। अलंकारभेद और वर्गीकरण तथा नायिकाओं के वर्गीकरण में भी नवीनता लाने का प्रयत्न किया है।

५—सैद्धान्तिक चिन्तन की दृष्टि से इनका योगदान नगण्य है, परन्तु इन आस्थावान समीक्षकों ने आधुनिक अनेक काव्य-शास्त्रज्ञों को सैद्धान्तिक विवेचन के लिए अग्रसर कर प्रेरक तत्व का कार्य किया है। यह भी अपने आप में अत्यन्त महत्वपूर्ण और मूल्यवान कार्य है।

उपर्युक्त काव्य सैद्धान्तिक समीक्षा की सिद्धान्तगत उपलब्धियों के अतिरिक्त व्यावहारिक समीक्षा का रूप भी मराठी में उपलब्ध होता है। रस, रीति, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य आदि सिद्धान्तों का आश्रय लेकर अधिकांश काव्य-नाटकों की समीक्षाएं की गई हैं।

संस्कृत में साहित्यशास्त्र के सैद्धान्तिक चिन्तकों–भरत, भामह, दण्डी, वामन, आनन्द-वर्धन, अभिनव गुप्त, कुंतक, क्षेमेन्द्र आदि– प्रौढ़ आचार्यों की एक ओर समृद्ध परंपरा है तो दूसरी ओर इन आविष्कृत सिद्धान्तों के आधार पर काव्य की व्यावहारिक समीक्षा करने वालों की भी परंपरा उपलब्ध है। इनमें दक्षिणावर्त, मल्लिनाथ, राघव भट्ट, काट्यवेग, नीलकंठ, स्थिरदेव, नरहरि, सीताराम आदि विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रस्तुत समीक्षक यदि अपने आपको आलोच्य कृति के शब्दार्थ निरूपण, रसालंकार निर्देश, व्याकरणिक विश्लेषण या संक्षेप में कहें तो टीका या भाष्य तक ही सीमित न रखते और युग-धर्मगत मूल्यों का आश्रय लेकर भी कवियों का व्यापक मूल्यांकन करते तो भारतीय समीक्षा-शास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष की भांति उसका व्यावहारिक पक्ष भी अत्यन्त समृद्ध दिखाई देता। परन्तु युग-सीमा कहें अथवा समाज या युग के परिपेक्ष्य में साहित्य-मूल्यांकन के दृष्टिकोण का अभाव कहें इस प्रकार की समीक्षा को संस्कृत के टीका-भाष्यकारों ने पल्लवित नहीं किया। परिणामतः मराठी के आरंभिक कतिपय समीक्षक भी इसी परंपरा का एकांत अनुसरण करते रहे।

पुनराख्यानवादी दृष्टिकोण :

किसी भी काव्य-रचना की युग-धर्म के परिपेक्ष्य में सर्वांगीण परीक्षा करना और प्रस्तुत परीक्षण को साहित्य की विधा का स्वरूप देना आधुनिक युग की उपलब्धि है। संस्कृत की समीक्षा-पद्धति केवल टीका-भाष्यात्मक या केवल रसालंकार निरूपणात्मक थी। प्रस्तुत पद्धति आधुनिक समीक्षकों को अपर्याप्त प्रतीत होने लगी। क्योंकि कवि की समग्र कृति से उपलब्ध प्रतिपाद्य, उसका विशिष्ट दृष्टिकोण, कवि-व्यक्तित्व, कवि-समकालीन सामाजिक-राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि युग-परिस्थितियां, इनका रचनागत प्रभाव, पूर्ववर्ती कवियों एवं उनकी रचनाओं का ऋण आदि अनेक महत्वपूर्ण तत्वों की संस्कृत-समीक्षा के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों क्षेत्रों में पर्याप्त उपेक्षा-सी रही है। परिणामतः मराठी के पुनराख्यान-वादी समीक्षकों ने प्राचीन साहित्य-सिद्धान्तों को एकांत त्याज्य न मानकर पाश्चात्य समीक्षा पद्धति में निहित अनेक सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में उनके पुनराख्यान और पुनर्मूल्यांकन का प्रयत्न आरम्भ किया।

प्रस्तुत प्रयत्न का श्रेय मराठी में श्रीधर व्यंकटेश केतकर, पा० वा० काणे, गोदावरी

केतकर, द० कें० केलकर, रा० श्री० जोग, बालुताई खरे, य० र० आशाशे, ना० सी० फड़के, वा० मं० जोशी, के० ना० वाटवे, ग० त्रय० देशपांडे, रा० शं० वालिंबे, बा० ल०, कुलकर्णी, दि० के० बेडेकर, सुरेन्द्र बारलिंगे, भा० गो० देशमुख आदि को दिया जा सकता है।

उपर्युक्त पुनराख्याताओं के योगदान और उपलब्धियों का निरूपण एक-एक काव्य-सिद्धान्त के आधार पर तुलनात्मक रूप में इस प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है।

रस-सिद्धान्त

पुनराख्याताओं ने संस्कृत के स्थायी भावों का पाश्चात्य मानसशास्त्रीय सेंटिमेंट (स्थिरवृत्ति), इंस्टिंक्ट (सहज प्रवृत्ति) और इमोशन (संभावना) से व्यापक तुलनात्मक अध्ययन किया है और इससे स्थायी भावों के स्वरूप की आन्तरिक मीमांसा में बहुत सहायता मिली है। परिणामस्वरूप परंपरा भिन्न अनेक नये भावों—गर्व, ग्लानि, असूया, अपार शक्ति की तृष्णा, प्रेमशंका, अन्याय, सौन्दर्य आदि में स्थायित्व का प्रतिपादन किया गया है।

परंपरागत नौ रसों के अतिरिक्त वात्सल्य और भक्ति की रसात्मक दृष्टि से विवादास्पद स्थिति का आधुनिक पुनराख्याताओं ने प्रायः निर्मूलन कर ही दिया है। इनके अतिरिक्त भी अनेक नवीन रसों—प्रकृतिरस, देशभक्तिरस, प्रक्षोभरस, उद्वेगरस, उदात्तरस, क्रान्तिरस आदि को नवीन प्रतिष्ठापना का भी प्रयत्न किया गया है।

मराठी के पुनराख्याताओं ने काव्यास्वाद या रसास्वाद की समस्या पर भी गंभीर अध्ययन किया है। न० चिं० केलकर ने 'आत्म विस्तार', वा० म० जोशी ने 'आत्मौपम्य बुद्धि से परकाया प्रवेश', कृ० पां० कुलकर्णी ने 'प्रत्यभिज्ञा जागृति', ना० सी० फड़के ने 'पुनः प्रत्यय' तथा 'अतृप्त इच्छा की पूर्ति', माधवराव पटवर्धन ने 'जिज्ञासा पूर्ति', रा० शं० वालिंबे ने 'भावनात्मक तादात्म्य' आदि मान्यताओं का जो विवेचन किया है वह एकान्ततः संस्कृत साहित्य शास्त्रोपजीवि नहीं है वरन् उसमें परंपरा भिन्न अभिनव चिन्तन भी उपलब्ध होता है। करुण रसानुभूति के आस्वाद की मीमांसा भी मराठी में प्राचीन आचार्यों की धारणाओं से अधिक समृद्ध और व्यापक रूप में हुई है।

रस-सिद्धान्त की शक्ति और व्याप्ति

आधुनिक मराठी के काव्यशास्त्र में रस-तत्व का पुनराख्यान वस्तुवादी, भाववादी तथा आनन्दवादी दृष्टिकोणों से हुआ है। इनके आधार पर रस-तत्व की शक्ति और परिव्याप्ति का दिग्दर्शन आधुनिक काव्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त की उपादेयता पर प्रकाश डाल सकेगा।

रस के वस्तुनिष्ठ स्वरूप की व्याख्या कला-स्वरूप के आधार पर की गई है। कला की तीन अवस्थाएँ होती हैं। प्रथम अवस्था कलाकार के मन में निहित अमूर्त स्वरूप होती है। दूसरी अवस्था में कलाकार के मन में निहित अमूर्त कला वस्तु रूप में परिणत हो जाती है, इस स्थिति में कलाकार की मानसिक अवस्थाएँ 'रंग और रेखा', 'वाक्, अंग और भाव', 'अभिनय अथवा नाद' इत्यादि माध्यमों से प्रकट हो जाती हैं। तीसरी अवस्था में रसज्ञ कला को समझते हैं, उसका अर्थ ग्रहण करते हैं। इस स्थिति में रसज्ञों को ज्ञात अर्थ और कलाकर के मन में निहित अर्थ में एक साम्य अवस्था उत्पन्न होती है। डा० बारलिंगे की धारणा में

कला के समान ही रस और भाव की तीन अवस्थाएँ होती हैं। 'नाटक' काव्यकला का एक प्रकार समझा गया है। उसकी तीन अवस्थाएँ होती हैं। एक कवि के मन की, दूसरी कवि के मन की स्थिति की रंगभूमि पर नट द्वारा जो परिगत होती है वह या भाषा में जो परिणति होती है वह और तीसरी रंग भूमि पर या भाषा में प्रदर्शित की गई स्थिति का प्रेक्षकों द्वारा जो अर्थ ग्रहण किया जाता है वहा इन तीन अवस्थाओं में नाट्य की अवस्था दूसरी है....नाट्य का स्वरूप विशद् करने में ही भरत ने 'रस' शब्द का उपयोग किया है, यह भी समझना जरूरी है। इसीलिए रस का सम्बन्ध भी नाट्य से एवं नाटक की मध्य अवस्था से है—ऐसा मैं मानता हूँ।

इस प्रकार रस-तत्व कवि-मनोभावों के प्राप्त वस्तुरूप का प्रतीक बन जाता है। नाट्य के समान नाटक तथा काव्यमात्र के वस्तुरूप का द्योतक सिद्ध किया जाता है।

भाववादी दृष्टिकोण से रस-सिद्धान्त की शक्ति और परिव्याप्ति की दिशाओं में विस्तार हो गया है। इससे काव्य में अभिव्यक्त सम्पूर्ण भाव-राशि, विचार-राशि, कल्पना-सम्पत्ति आदि का समावेश रस-तत्व से सिद्ध किया गया है।

भरत मुनि ने 'रस' की अभिव्यक्ति का मूल हेतु ४९ भावों को स्वीकार किया है। आधुनिक मराठी के समीक्षकों ने ८ स्थायी भावों, ३३ संचारी भावों तथा ८ सात्विकों की मानसशास्त्र आदि के आधार पर व्यापक परीक्षा की है। फलत: अनेक आधुनिक काव्य-शास्त्र-समीक्षकों ने नये-नये स्थायी भावों, संचारी भावों तथा सात्विकों का प्रतिपादन एवं समर्थन किया है। इससे परम्परागत ४९ भावों में प्रचुर अभिवृद्धि हुई है।

रस-सिद्धान्त के आधारभूत तत्व-भाव परिभाषा में अन्तर आ गया है। भरत मुनि के व्यापक दृष्टिकोण का आधार लेकर मराठी के आधुनिक समीक्षकों ने भाव का व्यापक अर्थ किया है। इन्होंने रस-निर्माण के लिए आवश्यक सम्पूर्ण सामग्री को 'भाव' मान लिया है। इसमें कतिपय मूलभूत भावनाएं, कतिपय भावनाओं के शारीरिक परिणाम, कतिपय साधित भावनाएं, कतिपय शारीरिक अवस्थाएं कतिपय ज्ञानात्मक मनोवस्थाएं तथा कतिपय सम्मिश्र भावनाएं भी अन्तर्भूत हो गई हैं।

रसवाद के विरोधी समीक्षकों ने रस-सिद्धान्त में बुद्धि-तत्व या विचार-तत्व के एकान्त अभाव का निरूपण करके इसे अपूर्ण या अग्राह्य सिद्धान्त माना है। मराठी के आधुनिक काव्यशास्त्रज्ञों ने अनेक संचारियों में ज्ञानात्मक मनोवस्था की स्पष्टत: स्वीकृति दी है। डा० वाटवे ने मति, वितर्क, अवहित्थ, स्मृति आदि संचारियों में बौद्धिक व्यापार का स्पष्टत: समर्थन किया है। श्री नी० र० वर्हाड पांडे ने रसों के दो स्थूल वर्गीकरण सुझाये हैं— मनोजन्य रस तथा बुद्धिजन्य रस। इन्होंने बुद्धिजन्य रसों में हास्य तथा अद्भुत का अन्तर्भाव किया है। श्री न० चि० केलकर ने हास्यरस के मूल में बौद्धिक-तत्व या विचार-तत्व का विस्तृत प्रतिपादन किया है।

भरत मुनि ने ४९ भावों में संचारियों के अन्तर्गत बौद्धिक व्यापारों का अन्तर्भाव किया है। परन्तु संस्कृत साहित्यशास्त्र में रस-तत्व के अन्तर्गत मनोभावों (इमोशन्स) को

ही एकान्त महत्व दिया गया है। उनकी सामयिक चिन्तनधारा और युगधर्म के अनुरूप संस्कृत आचार्यों का दृष्टिकोण सदोष प्रतीत नहीं होता। बौद्धिक-तत्व या विचार-तत्व का प्रमुख क्षेत्र है—दर्शन, विज्ञान, शास्त्र आदि। काव्य में विचार-तत्व की अपेक्षा प्रमुखता भावना-तत्व को ही प्रदान की जाती है, अन्यथा बौद्धिक तत्व की कसौटी पर तो दर्शन शास्त्र तथा काव्य-साहित्य में अन्तर करना ही कठिन हो जायगा। फलतः विचार-प्रधान या बौद्धिक-तत्व-प्रधान साहित्य से काव्य का व्यावर्तक तत्व 'रस' (इमोशन) अर्थात् जिसमें बौद्धिक-तत्व की न्यूनता और भावना-तत्व की प्रधानता है, स्वीकार किया गया है।

आधुनिक युग की वैज्ञानिक चेतना से काव्य-साहित्य में बौद्धिक-तत्व को भी पर्याप्त स्थान मिल रहा है। तथाकथित प्रगतिवादी एवं प्रयोगवादी काव्य बौद्धिक चेतना तथा विचार-सम्पत्ति को ही काव्य का प्रमुख प्रेषणीय तत्व बनाने में प्रयत्नशील हैं। अतः इन्हें एक प्रकार के 'बुद्धि रस' के स्वतन्त्र अस्तित्व की आवश्यकता अनुभव हो रही है। वर्तमान वैज्ञानिक प्रगति तथा बौद्धिक विकास के फलस्वरूप काव्य-साहित्य का भावना की अपेक्षा विचार प्रधान बनना एकान्त अस्वाभाविक घटना नहीं है। भारतीय रस-सिद्धान्त इस बौद्धिक चेतना को भी अपने में अन्तर्हित करने की क्षमता रखता है। मराठी के आधुनिक रस-तत्वों के समीक्षकों ने भाववादी दृष्टिकोण अपना कर रस सिद्धान्त को इस क्षेत्र तक भी परिव्याप्त करने का प्रयत्न किया है।

यदि प्रस्तुत भाववादी दृष्टिकोण अपनाया जाय तो 'रस-सिद्धान्त' में प्रदर्शित अन्य न्यूनताओं या अभावों की पूर्ति सहज सम्भव है। 'बुद्धि तत्व' के अभाव के समान 'भावना-निर्मिति' की अक्षमता का आरोप भी रस-सिद्धान्त पर लगाया गया है। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में कहीं भी भावों की जन्मजातता या वासना-संस्कारिता का प्रतिपादन नहीं किया है। परवर्ती आनन्दवादी एवं अद्वैतवादी दार्शनिक आचार्यों ने 'मुक्तिवाद' या 'अभि-व्यक्तिवाद' का आधार लेकर स्थायी भावों की जन्मजातता का प्रतिपादन किया है। इससे परम्परागत नौ स्थायी भावों की 'मुक्ति' या 'उद्बुद्धि' तक ही रस-सिद्धान्त को सीमित किया किया गया। वस्तुतः यदि मनोभाव मात्र की रस-परिणति का समर्थन किया जाय तो इसमें 'भावना निर्मिति की क्षमता सहज अन्तर्भूत हो जाती है।

रस-सिद्धान्त के विभाव तत्व की परिव्याप्ति आचार्य शुक्ल ने मनुष्य से लेकर कीट, पतंग, वृक्ष, नदी आदि सृष्टि के साधारण-असाधारण सभी गोचर पदार्थों तक कर दी है। सृष्टि के सम्पूर्ण जड़-चेतन पदार्थ कवि में नाना भावों तथा विचारों की शृंखला को जन्म देते हैं। इनसे प्रेरित कवि आत्माभिव्यक्ति के लिए प्रवृत्त होता है। इस प्रकार से रस-सिद्धान्त अभिव्यक्ति-प्रक्रिया तथा भावनाओं के आधारभूत सांचे प्रस्तुत नहीं करता, वरन् कवि के समक्ष विराट् संसार का व्यापक आधार-फलक 'विभाव तत्व' के रूप में प्रदान करता है। आचार्य शुक्ल की व्यापक 'विभाव' सम्बन्धी धारणा में काव्य-जगत् का सम्पूर्ण वातावरण भी अन्तर्भूत हो जाता है। 'विभाव' के समान रस-सिद्धान्त का 'अनुभाव' भी अपनी व्यापक शक्ति रखता है। इसके अन्तर्गत पात्रों की उक्तियाँ, उनकी चेष्टाएं, कार्य-

व्यापार आदि का समावेशहो जाता है। 'प्रबन्ध काव्यों' का कार्य-व्यापार तत्व तथा सम्वाद-तत्व बहुत दूर तक अनुभाव के अन्तर्गत आ जाता है।

इस प्रकार रस-सिद्धान्त को एकान्ततः आनन्दवादी दृष्टिकोण से पृथक् करके भाव की व्यापक एवं वास्तविक पृष्ठभूमि पर अधिष्ठित किया जाय तो आधुनिक युग में भी पुनराख्यान द्वारा रस-तत्व को काव्य-मूल्यांकन का महत्वपूर्ण सिद्धान्त स्वीकार किया जा सकता है।

अलंकार-सिद्धान्त

मराठी के आधुनिक अधिकांश अलंकार-मीमांसकों ने ध्वनि-रसवादी आचार्यों की मान्यताओं के अनुरूप अलंकार-परिभाषाएँ दी हैं। कतिपय ने भामह, दण्डी, वामन आदि का भी अनुसरण किया है। परम्परानुयायी विवेचकों ने प्रायः संस्कृत अलंकारशास्त्र की परिभाषाओं को ही मराठी में भाषान्तरित करने का प्रयत्न किया है। पुनराख्याताओं ने 'काव्य की रमणीय अभिव्यक्ति-पद्धति, 'कल्पना चमत्कृतिजनक रूप' आदि शब्दावली में अलंकार-परिभाषाएँ देकर उसका स्वरूप निर्धारित किया है। अनेक अलंकार-परिभाषाओं से इस आधुनिक धारणा की पुष्टि होने लगती है कि अलंकारों का काव्य के अन्तरंग-रस या भाव से नितान्त घनिष्ट सम्बन्ध है।

मराठी में कतिपय लेखकों ने अलंकारों को काव्य का नितान्त महत्वपूर्ण, अनिवार्य और सहज सम्पन्न तत्व माना है। कवि के भावोच्छ्वास में वाणी का उच्छ्वसित होना अनिवार्य एवं स्वाभाविक है। अतः काव्यमयी उक्ति निरलंकृत नहीं हो सकती। काव्य की उक्ति सामान्य व्यावहारिक उक्ति से स्वरूपतः भिन्न होती है, उसमें परम्परागत विशिष्ट अलंकार न दिखाई दें तो भी लक्षणा-व्यंजना की स्थिति अनिवार्यतः होती है। पश्चिम में लक्षणा-व्यंजना को भी अलंकारों के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। अतः आधुनिक युग में अलंकारों को परम्परागत काव्य-शोभावर्द्धक, अनित्य और बाह्य तत्व न मानकर इन्हें व्यापक रूप में ग्रहण किया जाता है। मराठी में श्री न० चि० केलकर भी लगभग इसी दृष्टिकोण से अलंकारों को काव्य के लिए नित्य और अनिवार्य तत्व मानते हैं। काव्य में अलंकार-प्रयोगजनित आनन्द का विवेचन श्री द० के० केलकर और मिश्र-बन्धुओं ने लगभग मिलता-जुलता-सा किया है। उन्होंने अलंकारोत्पत्ति-प्रक्रिया का विश्लेषण अभावजनित आवश्यक आविष्कार के रूप में किया है। श्री वा० म० जोशी ने विचार कल्पना और भावना से भी अलंकारों के सम्बन्ध का संकेत दिया है। डा० वाटवे ने मानसशास्त्र का आधार लेकर अलंकारों की अन्तरंग स्थिति का उपयुक्त विश्लेषण किया है। अलंकार-प्रयोग के मूल में निहित कवि की मनःस्थिति का डा० वाटवे ने अभिनव-पद्धति से विश्लेषण किया है।

चमत्कृति को अलंकारों का प्राण मानने का लगभग समान रूप से विशेष समर्थन प्रो० जोग ने किया है। श्री बनहट्टी ने अलंकार का निकट सम्बन्ध कल्पना से और श्री वा० ल० कुलकर्णी ने 'कल्पना-चित्र' (इमेज) से स्थापित किया है। श्री रा० अ० कालेले ने सामान्यतः काव्यभाषा से अलंकारों को सम्बद्ध किया है, तो श्री कृ० पां० कुलकर्णी ने 'भावना' के आधार पर अलंकारोत्पत्ति-प्रक्रिया का विवेचन किया है।

इस प्रकार आधुनिक मराठी काव्यशास्त्र में अलंकारों के काव्यगत स्थान और उनकी उपादेयता की समीक्षा नितान्त व्यापक रूप में हुई है। कोई उसे भाव से सम्बद्ध करता है तो कोई विचार और कल्पना से, कोई उसे भाषा-शैली का अंग मानता है तो कोई उसकी कल्पना-चित्रात्मक (इमेज) व्याख्या करता है।

आधुनिक युग के अलंकार-विवेचन की एक अन्य विशेषता यह भी है कि अलंकारोत्पत्ति एवं उनकी उपादेयता का कवि, सहृदय और काव्य तीनों को दृष्टिगत रखकर समीक्षण-विश्लेषण किया गया है। संस्कृत-साहित्यशास्त्र के अधिकांश आचार्यों की मान्यताओं के विपरीत आधुनिक हिन्दी और मराठी के अनेक समीक्षकों की धारणा में अलंकार काव्य के कटक-कुंडलवत् बाह्य और अनित्य तत्व नहीं है, वरन् काव्य के अन्तरंग के अविच्छेद्य या अविभाज्य अंग हैं।

मराठी में बाळुताई खरे, श्री मधुकर वासुदेव घोण्ड, प्रा० रा० श्री जोग, श्री० ग० त्र्यं देशपांडे तथा निजसुरे ने अलंकार-वर्गीकरण का प्रयत्न भी किया है। बाळुताई खरे और ग० त्र्यं देशपांडे तथा निजसुरे ने संस्कृत आचार्यों के अलंकार-वर्गीकरण में ही कतिपय संशोधन-परिवर्तन किये हैं, अतः इनका वर्गीकरण परम्पराभुक्त ही है। श्री मधुकर वासुदेव घोण्ड तथा प्रा० रा० श्री जोग ने अलंकार-वर्गीकरण में अभिनवता लाने का प्रयत्न किया है। डा० वाटवे ने प्रो० बेन के साधर्म्य, वैधर्म्य और सान्निध्य के आधार पर संस्कृत अलंकारों के वर्गीकरण की संभावना का संकेत मात्र दे दिया है। श्री द० के० केलकर ने परम्परागत अलंकार-वर्गों में से साधर्म्यमूलक, वैधर्म्यमूलक, वक्रोक्तिमूलक तथा शृंखलामूलक इन चार वर्गों का ही निरूपण किया है और इन्हीं में निज स्वीकृत अलंकारों का अन्तर्भाव दर्शाया है। मराठी के आधुनिक काव्यशास्त्र में अलंकार-वर्गीकरण का जहाँ अभिनव प्रयत्न किया गया, वहाँ पाश्चात्य अलंकार-वर्गीकरण पर भी दृष्टिपात किया गया है। सामान्यतः संस्कृत के अलंकार-वर्गीकरण के संशोधन की ही प्रवृत्ति अधिकांश समीक्षकों की रही है।

मराठी में बाळुताई खरे, द० के० केलकर तथा मधुकर वासुदेव घोण्ड ने संस्कृत अलंकार-संख्या को सीमित करने का सयुक्तिक और व्यापक विवेचन किया है। बाळुताई खरे ने स्वनिरूपित संस्कृत के ८० अलंकारों में से २०-२२ को मान्यता देना उचित ठहराया है, तो श्री द० के० केलकर और श्री घोण्ड ने लगभग ४० अलंकारों को। श्री केलकर ने न केवल अलंकार-संख्या को सीमित करने का सयुक्तिक विवेचन किया है, वरन् प्राचीन अनेक दुरूह अलंकार-संज्ञाओं को मराठी भाषा की प्रकृति के अनुरूप परिवर्तित करने का भी सुझाव दिया है।

मराठी में नवीन अलंकारों के आविष्कार का प्रयत्न भी अधिक हुआ है। हिन्दी की भाँति मराठी में भी कतिपय पाश्चात्य अलंकारों का महत्व स्वीकार किया गया है। श्री द० के० केलकर ने जिन ३८ अलंकारों को मान्यता दी है, इनमें लगभग चार अलंकार नये हैं। इन चारों में भी 'लक्षणोक्ति' और 'चेतनधर्मोक्ति' पाश्चात्य अलंकार हैं। कतिपय पाश्चात्य अलंकारों का आधार लेकर तथा कतिपय अलंकारों के विषय में नवीन चिन्तन करके श्री

रा० अ० काळेले ने २५ नये अलंकारों का सोदाहरण प्रतिपादन किया है। इनमें सात-आठ अलंकारों की नवीनता असंदिग्ध है। अधिकांश-विवेचकों ने कतिपय पाश्चात्य अलंकारों का उल्लेख किया है और इन्हें मान्यता प्रदान की है। मराठी में भी पाश्चात्य अलंकारों का विस्तृत अध्ययन नहीं हो सका है। अधिकांश समीक्षकों ने पाश्चात्य-धारणाओं का संक्षिप्त विवेचन ही किया है और तुलनात्मक व्यापक अध्ययन भी नहीं हुआ। श्री द० के० केलकर, डा० के० ना० वाटवे, श्री रा० अ० कालेले आदि ने पाश्चात्य अलंकारों का निरूपण मात्र कर दिया है। डा० रा० शं० वालिंबे का अध्ययन इनकी अपेक्षा पर्याप्त व्यापक है। इन्होंने भारतीय आचार्यों की अलंकार-मान्यताओं तथा पाश्चात्यों की अलंकार धारणाओं का थोड़ा-बहुत तुलनात्मक अध्ययन भी किया है।

आधुनिक मराठी के अलंकार-शास्त्र के निर्माण के लिए व्यापक और वैज्ञानिक दृष्टि-कोण की आवश्यकता है। इसके लिए पाश्चात्य कल्पना, प्रतिमा (इमेज), रूपक (मैटाफर) तथा अलंकारों से सम्बद्ध अन्य अनेक तत्वों का व्यापक तुलनात्मक अध्ययन वास्तव में अत्यन्त अपेक्षित है।

रीति-सिद्धान्त

वस्तुतः काव्य के केवल आत्मतत्व—'रस' या भाव की एकांत उपासना और शरीर तत्व—भाषा, अलंकार आदि की एकान्त उपेक्षा असंगत है। भारतीय रीति-सिद्धान्त में काव्य के शरीर-तत्व की अलंकृति पर पर्याप्त बल दिया गया है। आत्म-सौन्दर्य के समान शरीर-सौन्दर्य का भी अपना स्वतन्त्र मूल्य है। आत्म-सौन्दर्य की एकान्त उपासना में शरीर-सौन्दर्य उपेक्षित हो जाता है, परिणामतः रसवादी तथा रीतिवादी आचार्यों ने काव्य-शरीर के सौन्दर्य-वर्द्धक उपादानों की पूर्ण मीमांसा की है। हिन्दी तथा मराठी के आधुनिक काव्यशास्त्र समीक्षकों ने रीति-तत्व का समुचित परीक्षण करके काव्य के बहिरंग-तत्व का भी पर्याप्त मूल्यांकन किया है।

शरीर-सौन्दर्य की प्रतिष्ठा में भी भारतीय आचार्यों ने—विशेषतः आचार्य वामन ने, पूर्णता या समग्रता पर अधिक बल दिया है। वे केवल अवयवीय सौन्दर्य पर आसक्त नहीं थे। वामन की आदर्श रीति वैदर्भी है, इसमें समग्र गुणों—दस शब्द गुणों, दस अर्थ गुणों—का अन्तर्भाव अनिवार्य है। प्रत्येक कवि या कलाकार के लिए बहिरंग की पूर्णता भी एक आदर्श साध्य है। रीति-सिद्धान्त काव्य के बहिरंग तत्व की आदर्श परिपूर्णता या समग्रता की प्राप्ति के लिए प्रेरित करता है।

आधुनिक पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के विवेचक इस तथ्य के पूर्णतः समर्थक हैं कि सौन्दर्य की प्रतिष्ठा प्रायः पूर्णत्व में या सम्पूर्ण अवयवों के सामंजस्य में निहित है। आचार्य वामन ने रीति की पूर्णता पर बल दिया है। उनके अनेक रीति-तत्वों का सौन्दर्य-साधक तत्वों से पर्याप्त साम्य है।

भारतीय रीति-सिद्धान्त एकान्ततः कवि-व्यक्तित्व-हीन बहिरंग-तत्व की परिपूर्णता का समर्थक नहीं है। संस्कृत के ही अनेक आचार्यों ने कवि स्वभावानुरूप रीति-परिवर्तन का

समर्थन किया है। मराठी के काव्य-शास्त्रज्ञों ने इस तथ्य का अधिक स्पष्ट पुनराख्यान किया है।

रीति-सिद्धान्त में गुण-तत्व की महत्व प्रतिष्ठा आरम्भ से ही रही है। रसवादी संस्कृत आचार्यों ने माधुर्य, ओज, प्रसाद का सहृदय की द्रुति, दीप्ति और व्याप्ति रूप चित्त-वृत्तियों से सम्बन्ध दर्शाया है। आधुनिक युग में पुनराख्यान द्वारा इन्हीं गुणों का मूलतः कवि-मानस से सम्बन्ध स्थापित किया गया है। इस प्रकार रीति-निर्माण के मूल में गुणों का मूल्यांकन कर कवि की काव्य-निर्माण-कालीन मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन किया गया है। इससे रीति-तत्व की एकान्त बहिरंगता दूर हो गई है और काव्य के अन्तरंग से इसका घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हो गया है।

रीति-सिद्धान्त का 'दोष-दर्शन' काव्य के अन्तरंग एवं बहिरंग को पूर्णतः निर्दिष्ट बनाने में सहायता प्रदान करता है। इससे केवल भाषागत दोषों का ही उद्घाटन नहीं होता वरन् भावानुभूति मात्र में व्यत्यय उपस्थित करने वाले सम्पूर्ण व्याघातों को या औचित्य-विसंगतियों को दूर करने की प्रेरणा मिलती है। भारतीय 'दोष-दर्शन' कवि को एकान्त आत्माभिव्यक्ति में लीन रहने की अपेक्षा बाह्य वातावरण एवं भाषागत स्वरूप पर भी दृष्टि-पात करने के लिए उसे प्रेरित करता है। इस तत्व के अनुसार कवि का अन्तरंग जब देश, काल, लोक, परिस्थिति आदि के अनुरूप बाह्य आकार पाता है, तभी उसमें पूर्णता आती है। अन्यथा एकांत आत्माभिव्यक्ति में तल्लीन कवि की कृति में सार्वजनीन तत्व अर्थात् भावों और विचारों की यथावत् प्रेषणीयता के अभाव की सम्भावना बनी रहेगी। इस दृष्टि से भी 'दोष-दर्शन' का व्यापक महत्व है।

वामन के रीतिवाद में आधुनिक आलोचनाशास्त्र के प्रमुख तत्वों—राग-तत्व, बुद्धि तत्व, कल्पना तथा शैली-तत्व का भी अन्तर्भाव पुनराख्यान द्वारा उपलब्ध किया जा सकता है। वामन निरूपित 'रस', 'परिष्कृति' (अग्राम्यत्व) तथा 'स्वाभाविकता' में राग-तत्व का, 'अर्थगौरव' में बुद्धि-तत्व का, 'उक्तिवैचित्र्य' तथा 'साभिप्राय विशेषण' में कल्पना-तत्व का और 'अर्थवैमत्य', 'समासगुण तथा प्रक्रम' में शैली-तत्व का मूल निहित है।[१]

इस प्रकार भारतीय रीति-सिद्धान्त प्रधान रूप से काव्य के बहिरंग की सर्वांगीण पूर्णता का प्रतिपादक है। आनुषंगिक रूप से इसमें काव्य के अन्तरंग तत्वों का भी अन्तर्भाव हो गया है। वस्तुतः बहिरंग-साधना का प्रेरक-तत्व और अन्तिम साध्य काव्य का अन्तरंग ही है। रीति-सिद्धान्त इन दोनों के घनिष्ट सम्बन्ध का ही प्रतिपादन करता है। मराठी के आधुनिक काव्यशास्त्र में ही नहीं अपितु हिन्दी में भी रीति के इसी आदर्श स्वरूप की प्रति-ष्ठापना आवश्यक है।[२]

---

१. हिन्दी काव्यालंकार सूत्र (भूमिका : डा० नगेन्द्र,) पृ० १८६

२. दे. आ. हि. म. में काव्यशास्त्रीय अध्ययन, पृ० ४९९-५०२

ध्वनि-सिद्धान्त

मराठी के परम्परानुयायी आख्याताओं ने संस्कृत के आचार्यों की ध्वनि विषयक मान्यताओं का ही प्रायः समर्थन किया है। इन्होंने ध्वनि मतानुयायी आचार्यों के मत के अनुरूप ही काव्य के उत्तम, मध्यम तथा अधम वर्ग बनाये हैं और ध्वनिपूर्ण काव्य को ही उत्तम काव्य की कोटि में स्थान दिया है। इन्होंने संस्कृत-साहित्यशास्त्रगत ध्वनि के भेद-प्रभेदों को ही मराठी के उदाहरणों से समझाने का प्रयत्न किया है। उदाहरणों के लिए संस्कृत के काव्यों के साथ-साथ आधुनिक कवियों की रचनाओं का भी आधार ग्रहण किया गया है। संस्कृत के ध्वनिवादी आचार्यों के मत के अनुसार ही इन परम्परानुयायी आख्याताओं ने भी रस तथा ध्वनि को अभिन्न मान कर ध्वनि को काव्य का आत्म-तत्व मान लिया है। दूसरी ओर पुनराख्याताओं ने संस्कृत के आचार्यों की मान्यताओं को ही यथावत् स्वीकार नहीं किया है। विशेषतः व्यंग्यार्थ में ही काव्यत्व मानने की परम्परागत धारणा का कतिपय आधुनिक समीक्षकों ने प्रत्याख्यान किया है और अभिधार्थ में ही काव्यत्व मानना आवश्यक ठहराया है। इसके अतिरिक्त कतिपय समीक्षकों के मत में रस की तुलना में ध्वनि को काव्य का आत्म-तत्व मानना उपयुक्त नहीं है, तो कतिपय के मत में ध्वनि का सम्बन्ध कल्पना-तत्व से है।

ध्वनि-सिद्धान्त का आधारभूत-तत्व शब्द-शक्ति है। भारतीय आचार्यों द्वारा शब्द-शक्तियों का आविष्कार काव्यशास्त्र के क्षेत्र में एक महान् देन है। यह उनकी सूक्ष्म तत्व-दर्शी व तार्किक चिन्तन-प्रणाली का परिणाम है। शब्द की अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना इन तीन शक्तियों में से मुख्यतः व्यंजना से ध्वनि का निकट सम्बन्ध है। व्यंग्य या ध्वनि तक पहुँचने की प्रक्रिया में अभिधा और लक्षणा शक्तियों की स्थिति, तात्पर्यवृत्ति तथा व्यंजना का अन्तर और व्यंजना या ध्वनि तत्व के महत्व का प्रतिपादन संस्कृत आचार्यों ने अत्यन्त गहन-गम्भीरता के साथ किया है। आधुनिक मराठी के काव्यशास्त्र के लिए शब्द-शक्तियों के विवेचन-व्याख्यान की उपादेयता असंदिग्ध है।

मराठी में श्री ग० त्र्यं० देशपांडे ने संस्कृत आचार्यों के शब्द-शक्ति-विवेचन को पर्याप्त व्यापक रूप में प्रस्तुत किया है, तुलना के लिए इन्होंने पाश्चात्यों के अभिमतों का उल्लेख नहीं किया है। डा० रा० शं० वालिंबे ने शब्द-शक्तियों का संक्षिप्त निरूपण किया है। श्री ग० त्र्यं० देशपांडे का शब्द-शक्ति-विवेचन एकान्ततः संस्कृत-काव्यशास्त्र की परम्परा के अनुरूप ही है। शब्द-शक्तियों का अत्यधिक सूक्ष्म अध्ययन व्याकरण तथा भाषाशास्त्र की सीमा में प्रवेश करने लगता है, अतः काव्य को दृष्टिगत रखकर ही शब्द-शक्तियों का विवेचन काव्यशास्त्र की दृष्टि से अधिक संगत और उपादेय होगा।

शब्द की व्यंजना शक्ति के महत्व को स्वीकार करते हुए भी कतिपय मराठी के काव्यशास्त्रज्ञों ने वाच्यार्थ में काव्यत्व को स्वीकार किया है। मराठी में प्रा० रा० श्री जोग ने वाच्यार्थ में काव्यत्व के अधिष्ठान का समर्थन किया है। इनकी धारणा में व्यंग्यार्थ में ही

अनिवार्यतः काव्यत्व या रमणीयता की स्थिति नहीं होती, रस की प्रतीति का मूलभूत आधार वाच्यार्थ होता है। अतः वाच्यार्थ में ही काव्यत्व निहित है। इनका दृष्टिकोण रस-ध्वनिवादी आचार्यों की धारणाओं से भिन्न है। यद्यपि ये रस-तत्व को काव्य का आत्म-तत्व स्वीकार करते हैं। परम्परागत रसवाद का अनुसरण-समर्थन भी इन्होंने किया है। साथ ही ये रस के भावात्मक स्वरूप पर अधिक बल देते हैं, अपेक्षाकृत आनन्दात्मक रस-स्वरूप के। परिणामतः वाच्यार्थ में काव्यत्व का अधिष्ठान स्वीकार करना इन्हें असंगत प्रतीत नहीं होता।

केवल वाच्यार्थ में ही काव्यत्व को स्वीकार करना एकान्ततः निर्दोष अभिमत नहीं है। काव्य में व्यंजना-व्यापार की स्थिति असंदिग्ध है। शब्द के तीनों व्यापारों-अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना का अन्तिम साध्य रसानुभूति या भावानुभूति कराना है। यह सत्य है कि अभिधार्थ या वाच्यार्थ ही मूल आधार है, जिससे ध्वन्यर्थ या रसानुभूति सम्भव है। फिर भी केवल वाच्यार्थ में काव्यत्व की स्वीकृति उसी प्रकार से ऐकान्तिक मत है, जिस प्रकार से केवल व्यंग्यार्थ में काव्यत्व को स्वीकार करना। क्योंकि व्यंग्यार्थ तो रसहीन भी हो सकता है। इसीलिए ध्वनिकार को ध्वनि-तत्व की प्रतिष्ठापना में स्थान-स्थान पर रस-तत्व का महत्वगान आवश्यक प्रतीत हुआ है और 'रसध्वनि' ही इनकी दृष्टि में उत्तम या आदर्श काव्य का रूप ग्रहण कर सका है।

संस्कृत के ध्वनिवाद की प्रतिक्रिया का एक रूप तो वाच्यार्थ में काव्यत्व की स्वीकृति के रूप में व्यक्त हुआ है, दूसरा रूप है—वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ तीनों से ही रसानुभूति को पूर्णतः सम्भव मानना। मराठी में श्री द० के० केलकर ने ध्वनि-इतर अर्थों में भी रसानुभूति का समर्थन किया है।

रसानुभूति, भावानुभूति और वाच्यार्थ-प्रतीति में अन्तर स्पष्ट कर लेना आवश्यक है। जो वाच्यार्थ में ही काव्यत्व मान लेते हैं, उनके लिए इन तीनों का स्वरूप प्रायः एक जैसा ही बन जाता है। परन्तु संस्कृत-साहित्यशास्त्र की परम्परा के अनुरूप इन तीनों का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। प्रसंगानुरूप शब्द का विशिष्ट वाच्यार्थ सहृदय में विशिष्ट भाव की जागृति करता है और विशिष्ट प्रकार के भाव की जागृति सहृदय को आनन्दमग्न कर देती है। संस्कृत परम्परानुरूप आनन्दमग्नता ही रसानुभूति है और यह भावानुभूति से स्पष्टतः भिन्न है। क्योंकि रस-ध्वनिवादियों के अनुसार रसानुभूति का स्वरूप एक प्रकार से अखंड संविद्-विश्रान्ति रूप माना गया है। उनके अनुसार भावानुभूति का स्वरूप रसानुभूति से स्पष्टतः भिन्न है। वाच्यार्थ प्रायः वस्तु का बिम्ब हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है और अनुभूति-संवेदनों को जगाता है। भावानुभूति की स्थिति वाच्यार्थ के अत्यन्त निकट है, फिर भी इसके पृथक् अस्तित्व का निराकरण कठिन है। वाच्यार्थ से भिन्न जो भावानुभूति है, उसे ध्वनिवाद के अनुसार व्यंग्य या ध्वनि रूप समझा गया है। वाच्यार्थ से प्रतीयमान अर्थ-ध्वन्यर्थ में सहृदय को आनन्दमग्न करने की क्षमता अनिवार्यतः होनी चाहिए, तभी उसमें काव्यत्व आता है, अन्यथा नीरस प्रतीयमान अर्थध्वन्यर्थ में काव्यत्व नहीं होगा। इसीलिए ध्वनिवाद में 'रस-ध्वनि' का अधिक महत्वगान है। यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट होगा कि प्रत्येक

वाच्यार्थ काव्य है, यदि उसमें भावानुभूति कराने की अथवा आनन्दमग्न करने की सामर्थ्य है। इसलिए रमणीय वाच्यार्थ में काव्यत्व की स्वीकृति असंगत प्रतीत नहीं होती। ध्वनि-वादियों ने रमणीयता की अनुभूति को व्यंग्य या ध्वनि का कार्य मानकर 'ध्वनि' में ही काव्यत्व की स्वीकृति दी है।

ध्वनि-तत्व को भावानुभूति या रसानुभूति सहायक प्रक्रिया, पद्धति या साधनमात्र मानकर मराठी के कतिपय समीक्षकों ने ध्वनि को काव्य का आत्म-तत्व मानने से असहमति व्यक्त की है। प्रा० रा० श्री जोग, श्री द० के० केलकर, डा० के० ना० वाटवे, डा० रा० शं० वालिंबे आदि ने ध्वनि को काव्य का आत्म-तत्व स्वीकार नहीं किया है। इन सभी समीक्षकों ने रस को ही काव्य के आत्म-तत्व का स्थान प्रदान किया है। इसमें से अधिकांश की धारणा में रसानुभूति या भावानुभूति ही काव्य का आत्म-तत्व हो सकता है, ध्वनि-तत्व नहीं। ध्वनि या व्यंजना एक प्रक्रिया, पद्धति या साधन मात्र है, जिसकी सहायता से काव्य के आत्म-तत्व या अन्तिम साध्य रसानुभूति या भावानुभूति तक पहुँचा जा सकता है। प्रा० द० के० केलकर तथा डा० रा० शं० वालिंबे ने भी ध्वनि-तत्व का महत्व-मापन सहृदय में कल्पना-जागृति के रूप में ही किया है। इन्होंने भी ध्वनि की तुलना में 'रस' को ही काव्य में अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध किया है। श्री द० के० केलकर ने तथा डा० रा० शं० वालिंबे ने 'ध्वनि' में निहित कल्पना-तत्व की मीमांसा सहृदय के आधार पर की है।

मराठी के आधुनिक काव्य-शास्त्रज्ञों में कतिपय ने शास्त्रीय परम्परा का एकान्त अनुसरण करके ध्वनि को काव्य के आत्म-तत्व के रूप में ही स्वीकार किया है। श्री ग० त्र्यं० देशपांडे ने ध्वनिकार की धारणा की व्यापक व्याख्या करते हुए इनके दृष्टिकोण को समीचीन ठहराया है। श्री० ग० त्र्यं० देशपांडे ने 'ध्वनि' को रसानुभूति की पद्धति या साधन मानने की धारणा का प्रत्याख्यान किया है, क्योंकि रसानुभूति की प्रक्रिया ध्वनि नहीं है। रसानुभूति ही स्वयं व्यंग्य या ध्वनि होती है।

डा० बार्रालिंगे भी ध्वनि को काव्य का आत्म-तत्व मानना उपयुक्त समझते हैं। परन्तु रस-ध्वनिवादियों की धारणा से इनका दृष्टिकोण नितान्त भिन्न है। इन्होंने सामान्यतः 'रस' को वस्तुनिष्ठ और ध्वनि को काव्यार्थ रूप माना है। काव्य के प्रतीयमान अर्थ-ध्वन्यर्थ या काव्यार्थ को इन्होंने काव्य का आत्म-तत्व मान लिया है और रस को ध्वन्यर्थ की प्रतीति का साधन या माध्यम रूप निर्धारित किया है।

मराठी के काव्य शास्त्रज्ञों ने ध्वनि-तत्व की उपादेयता का विवेचन जिस प्रकार से किया है, उससे मुख्यतः तीन विशेषताओं की प्रतीति होती है :

१. ध्वनि-तत्व प्रत्येक शब्द में अन्तर्हित शक्ति को पहचानने की प्रेरणा देता है।

२. ध्वनि-तत्व सहृदय में कल्पना-जागृति करता है।

३. ध्वनि-तत्व काव्य के प्रति सहृदय का आकर्षण बढ़ाता है।

१—प्रत्येक कवि या कलाकार काव्य-सृजन के क्षणों में आधारभूत उपादान के रूप में शब्दों को ही ग्रहण करता है। ध्वनि-सिद्धान्त कवि या कलाकार को विशिष्ट शब्दों के चुनाव

पर अपनी दृष्टि केन्द्रित रखने की प्रेरणा देता है। ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग से काव्य का अनावश्यक विस्तार कम हो जाता है और व्यंजना या ध्वनिपूर्ण शब्दों के प्रयोग से काव्य की शिथिलता दूर हो जाती है और उसमें शक्ति का संचार होता है।

२—ध्वनि-तत्व की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता है कल्पना-जागृति की। प्रत्येक कवि केवल शब्दों या वाक्यों को ही ध्वन्यात्मक रूप में प्रस्तुत नहीं करता वरन् काव्य की विविध घटनाओं, प्रसंग-परिस्थितियों एवं पात्रों के चरित्रों को भी इस रूप में प्रस्तुत करता है कि जिससे पाठकों के मन में इनसे सम्बद्ध अनेक कल्पना-तरंगों की उत्पत्ति होती है। कवि का अन्तर्मन स्वयं कल्पना-प्रवण होता है और वह उसी प्रकार की तथा उससे भिन्न अनेक नवीन कल्पनाओं की जागृति में समर्थ शब्दों, वाक्यों, घटनाओं तथा चरित्रों को प्रस्तुत करता है। इससे सहृदयों के मन में भी कल्पना-वीचियां तरंगित हो उठती हैं। ध्वनि-तत्व का सम्बन्ध व्यापक रूप में इसी कल्पना-तत्व से है।

३—ध्वनि-तत्व की तीसरी विशेषता है काव्य के प्रति सहृदय में आकर्षण उत्पन्न करना। एतदर्थ ध्वनि-तत्व सहृदय को अपनी कल्पना शक्ति से समुचित काम लेने की प्रेरणा देता है। जब सहृदय का मन काव्याध्ययन के क्षणों में ध्वनि तत्व-प्रेरित कल्पना-ग्रहण या कल्पना-सर्जन में तल्लीन हो जाता है, तब काव्य के प्रति उसका आकर्षण स्वाभाविक रूप से बढ़ता है। इस प्रकार से ध्वनि-तत्व सहृदय की कल्पना-शक्ति को क्रियाशील बनाता है और उसकी प्रतिभा को गति प्रदान करता है। कल्पना-शक्ति का अपनी क्रिया में तत्पर होना ही काव्य के प्रति आकर्षण का बढ़ना है।

यद्यपि संस्कृत-साहित्यशास्त्र में ध्वनि-तत्व की स्वतन्त्र रूप में प्रतिष्ठापना का प्रयत्न हुआ था, तथापि रसवाद के प्रबल प्रभाव से ध्वनि-तत्व का महत्व-मापन रस की सापेक्षता में ही किया गया। अत: वहाँ ध्वनि-तत्त्व का विवेचन रस-तत्व की ही महत्व-प्रतिष्ठा करता गया। परिणामतः आधुनिक मराठी के काव्यशास्त्र में भी रस-ध्वनिवादी परम्परा का अधिक अनुसरण हुआ है और ध्वनि-तत्व का स्वतन्त्र मूल्यांकन अपेक्षाकृत कम हुआ है। आधुनिक मराठी के काव्यशास्त्र में वर्तमान काव्य-साहित्य के आधार पर ध्वनि-तत्व के व्यापक पुनराख्यान की अत्यन्त आवश्यकता है।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त

मराठी साहित्य के परम्परानुयायी काव्य-शास्त्रज्ञों ने वक्रोक्ति को एक विशिष्ट अलंकार रूप में ही मान्यता दी है और इसी रूप में उसका अपनी रचनाओं में उल्लेख किया है। कुंतक के वक्रोक्ति सिद्धान्त का व्यापक अध्ययन इन लेखकों ने प्रस्तुत नहीं किया है। इसके मूल में एक महत्वपूर्ण कारण निहित है—वह है संस्कृत की रस-ध्वनिवादी परम्परा। संस्कृत के रस-ध्वनिवादी आचार्यों ने वक्रोक्ति को अलंकार मात्र ही स्वीकार किया है, परिणामतः परम्परानुयायी लेखकों ने प्रायः रस-ध्वनिवाद का अनुसरण करके वक्रोक्ति की अलंकार रूप में ही चर्चा की है, व्यापक काव्य-सिद्धान्त के रूप में इसका विवेचन नहीं किया है।

मराठी के कतिपय परम्परानुयायी लेखकों ने मम्मट आदि का अनुसरण करके वक्रोक्ति

को शब्दालंकार मात्र मान लिया है, तो कतिपय ने इसे अर्थालकार रूप स्वीकार किया है। किसी-किसी ने वक्रोक्ति को उभयालंकार वर्ग में भी स्थान दिया है। सारांश, वक्रोक्ति अलंकार रूप ही रहा है, किन्तु अलंकार-वर्ग की दृष्टि से इसका क्षेत्र शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार तक व्याप्त हो गया है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से वक्रोक्ति-तत्व का अध्ययन दोनों ही भाषाओं में विविध रूप में हुआ है। पुनराख्याताओं ने वक्रोक्ति को केवल एक विशिष्ट अलंकार रूप में ग्रहण न करके आचार्य कुंतक के सैद्धान्तिक विवेचन की समीक्षा व्यापक रूप में की है। अधिकांश मराठी के पुनराख्याताओं की दृष्टि में वक्रोक्ति-सिद्धान्त काव्य का बहिरंग सिद्धान्त है, रस या भाव तत्व की आन्तरिक महत्ता इसे प्राप्त नहीं है। काव्य में वक्रोक्ति का वास्तविक स्वरूप है—अभिव्यक्ति-पद्धति। परन्तु प्रा० रा० श्री जोग तथा डा० के० ना० वाटवे ने वक्रोक्ति-तत्व को काव्यत्व के लिए अनिवार्य नहीं माना है। इनकी सामान्य धारणा में वक्रोक्ति के अभाव में भी काव्य में रस या भाव की स्थिति पूर्णत: सम्भव है, क्योंकि वक्रता-हीन सरल-सादे शब्दों में भी भावों को अभिव्यक्त किया जा सकता है। अत: वक्रोक्ति-तत्व काव्यत्व के लिए बहिरंग रूप में भी नितान्त अनिवार्य नहीं है। सामान्य रूप से इन्होंने वक्रोक्ति को केवल वक्र, अऋजु, आलंकारिक या चमत्कारपूर्ण कथन-पद्धति अथवा शब्दार्थों का रमणीय उपस्थापन मात्र मान लिया है।

प्रा० रा० श्री जोग ने कुंतक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त का किंचित् व्यापक अध्ययन किया है, परन्तु यह अध्ययन विशेषत: सौन्दर्यशास्त्र की पृष्ठभूमि पर हुआ है। इनकी मान्यता में 'बुद्धिग्राह्य सौन्दर्य' केवल एक ही तत्व का योग नहीं होता, वरन् अनेक आन्तरिक और बाह्य तत्व मिलकर ही सौन्दर्यानुभूति कराते हैं। कुंतक ने एक ही वक्रोक्ति तत्व को आन्तरिक और बाह्य बनाकर अतिव्याप्त कर दिया है। इस प्रयत्न में उन्होंने 'वक्रोक्ति' के मूलभूत अर्थ से ही एक प्रकार का अतिचार किया है। सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रा० रा० श्री जोग रसवादी हैं। अत: इनकी धारणा में भी काव्यत्व के लिए रस ही अनिवार्य है, वक्रोक्ति-तत्व नहीं। इस प्रकार तीनों ही समीक्षक वक्रोक्ति को काव्य का बहिरंग और अनित्य तत्व मानते हैं, उक्ति-वक्रता के अभाव में भी तीनों के मत में रस मात्र के आधार पर काव्यत्व की सत्ता स्वीकार की जा सकती है।

इसके विपरीत वक्रोक्ति को काव्य के लिए नितान्त अनिवार्य तत्व मानने की धारणा भी प्रचलित रही है। इस मत के विशेष समर्थक हैं—प्रा० द० के० केलकर। उन्होंने रस को ही काव्य का आत्म-तत्व मान्य किया है, वक्रोक्ति को नहीं। फिर भी कुंतक प्रतिपादित वक्रोक्ति के काव्यगत व्यापक स्वरूप का विवेचन करते हुए श्री केलकर ने वक्रता की अनिवार्य स्थिति का ही समर्थन किया है। इनके अभिमत में परम्परागत, तथाकथित, वक्रताहीन, पारिभाषिक स्वभावोक्ति में भी वक्रता की स्थिति अनिवार्यत: होती है। विषय-निर्वाचन से आरम्भ करके सामान्य वस्तु-वर्णन तक में कुंतक की वक्रता व्याप्त है। अत: वक्रोक्ति-तत्व की काव्य में अनिवार्य स्थिति है, इसके बिना एक प्रकार सेकाव्य-निर्माण सम्भव ही नहीं है।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त का सामान्य स्वरूप अभिव्यक्ति-पद्धति है। कुंतक ने इसी तत्व पर विशेष बल दिया है, क्योंकि इसके मूल में एक महत्वपूर्ण कारण निहित है। शताब्दियों तक भावनाओं और विचारों का मूलभूत स्वरूप प्रायः एक जैसा ही होता है। कवि की मौलिकता इन भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति-पद्धति में ही निहित होती है। इस दृष्टि से भी वक्रोक्ति-तत्व का महत्व अक्षुण्ण है।

प्रा० द० के० केलकर ने अलंकार-तत्व को भी एक प्रकार से काव्य में अनिवार्य माध्यम के रूप में ही स्वीकार किया है। क्योंकि श्री केलकर की धारणा में भी 'संमिश्र' और 'उत्कट' भावनाओं की अभिव्यक्ति आलंकारिक भाषा के बिना सम्भव नहीं है। इस प्रकार उन्होंने वक्रोक्ति की भी काव्य में अनिवार्य स्थिति का ही समर्थन किया है।

सरस-उक्ति वक्रता-हीन नहीं हो सकती, यह सत्य है। किन्तु कुंतक ने पद-वक्रता से प्रबन्ध-वक्रता तक वक्रोक्ति-तत्व का फलक इतना व्यापक बना दिया है कि उसमें रस या भाव-प्रेरणा की आधारभूत सीमा का भी अतिक्रमण हो गया है। उदाहरणार्थ,विषय-निर्वाचन, नवीन प्रसंगोद्भावन, प्रबन्ध काव्य के उपयुक्त नाम-निर्देशन आदि में भी कुंतक ने वक्रोक्ति की स्थिति स्वीकार की है। किसी नवीन प्रसंगोद्भावन में कल्पना की और विषय तथा प्रबन्ध के नाम-निर्वाचन में बौद्धिक चिन्तन की विशेष अपेक्षा होती है, रस-प्रेरणा की नहीं। इस प्रकार कुंतक का वक्रोक्ति-तत्व इतना व्यापक बन गया है कि वह काव्यगत भावात्मक या रसात्मक, कल्पनात्मक तथा बौद्धिक तत्व को भी आत्मसात किए हुए है। वक्रता के भेदों का सोदाहरण विस्तृत विवेचन करने से पूर्व कुंतक ने तीन 'मार्गों' का विवेचन करके एक प्रकार से आधुनिक शैली-तत्व को भी वक्रोक्ति में अन्तर्भूत कर लिया है। वस्तुतः कुंतक की दृष्टि 'काव्य-सौन्दर्य' (काव्यालंकार) के संवर्द्धक आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के सूक्ष्म से सूक्ष्म तथा स्थूल से स्थूल अवयवों तक व्याप्त होती गई है। परिणामतः इनके वक्रोक्ति-सिद्धान्त को नितान्त बाह्य, स्थूल और अनित्य सिद्धान्त प्रतिपादित करना विशेष संगत प्रतीत नहीं होता।

कुंतक प्रतिपादित काव्य-प्रयोजन तथा काव्य-लक्षण पर दृष्टिपात किया जाय तो स्पष्ट होगा कि रसवाद से इनके वक्रोक्तिवाद का विरोध नहीं है। इन्होंने अपने ग्रंथ का या काव्य-सौन्दर्यवर्द्धक तत्वों के प्रतिपादन का प्रयोजन माना है: 'लोकोत्तर चमत्कारकारि वैचित्र्यसिद्धि'। इनकी धारणा में चतुर्वर्गों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के 'फलास्वाद' से भी 'काव्यामृत रस' का आस्वाद अधिक श्रेष्ठ होता है। इससे सहृदय में 'चमत्कार' का विस्तार होता है। कुंतक के 'लोकोत्तर चमत्कार' या 'चमत्कार' का अभिप्राय है— आनन्द या आह्लाद। काव्याध्ययन से सहृदय को इसी की प्राप्ति होती है। इस प्रकार कुंतक ने काव्य का अन्तिम साध्य सहृदय में आनन्दानुभूति की उद्बुद्धि माना है। इस साध्य का साधन है—वक्रोक्ति। कुंतक का काव्य-लक्षण इस प्रकार है: 'वक्र कविव्यापार' से युक्त वाक्य रचना में व्यवस्थित शब्दार्थ मिलकर काव्य बनता है जो सहृदयों का आह्लादक होता है। इस काव्यलक्षण में शब्दार्थ के साथ वक्र कवि व्यापार और आह्लादक दोनों की अनिवार्य स्थिति-सी उद्घोषित

की गई है । अब प्रश्न उपस्थित होता है : काव्य का साध्य वक्र व्यापार है या आह्लाद ? कुंतक ने आह्लाद (चमत्कार) को ही अन्तिम साध्य माना है । परन्तु शब्दार्थ की वक्रता के बिना आह्लाद की निष्पत्ति सम्भव नहीं है। अतः कुंतक ने साधनभूत वक्र-व्यापार को भी काव्यलक्षण में अनिवार्य रूप से ग्रहण किया है । शब्द और अर्थ तो काव्य की आधारभूत सामग्री या उपादान हैं। कोरे शब्द तथा अर्थ से काव्य नहीं बनता, वरन् काव्य का शब्द वस्तुतः वही है जो 'विवक्षित अर्थ' को यथावत् प्रकट करे और काव्य का अर्थ वस्तुतः वही है जो आह्लादकारी हो और जिसमें सौन्दर्य का 'अन्तर्स्पन्दन' ('स्वस्पन्द सुंदर') हो रहा हो । काव्य के शब्दार्थों की अलंकृति या सौन्दर्य का आधार है--वक्रोक्ति, जिसे विदग्धतापूर्ण या कौशलपूर्ण कथनप्रकार कहा जा सकता है । इस प्रकार ग्रंथ के आरम्भ में ही कुंतक ने 'वक्रोक्ति' को साधन और आह्लाद को अन्तिम साध्य माना है ।

रस-ध्वनिवादी आचार्यों के अनुसार काव्य का अन्तिम साध्य रस है और काव्यत्व का साधक तत्व भी रस (भाव) ही है। रस के वस्तुनिष्ठ, भावनिष्ठ और आनन्दनिष्ठ स्वरूपों का विवेचन किया जा चुका है। आनन्दवादी आचार्य सहृदय की भावाधिष्ठित आह्लादमयी या आनन्दमयी मनःस्थिति को ही रसानुभूति की स्थिति मानते हैं। जिसमें चित्तवृत्तियों का समन्वय हो जाता है और सहृदय भावानुभूति की स्थिति से ऊपर उठ कर 'आनन्दैकघन' मनःस्थिति में डूब जाता है । इसके अनुसार 'भाव' रसानुभूति का साधन ही है क्योंकि रस-निष्पत्ति के लिए स्थायी भाव की परिपुष्टि अनिवार्य है । सामान्यतः विचार-जन्य या कल्पनाजन्य आनन्द को आनन्दवादी रसवाद में स्थान नहीं दिया गया है, भावजन्य आनन्द को ही एकान्त महत्व प्रदान किया गया है। कुंतक ने भी वक्रोक्ति की कसौटी आह्लाद और वक्रोक्तिपूर्ण काव्य का अन्तिम साध्य भी आह्लाद ही माना है। कुंतक-प्रतिपादित आह्लाद का स्वरूप स्पष्टतः ही अभिनवगुप्त आदि आचार्यों द्वारा निरूपित 'आनन्दैकघन', 'अखंड' रस-स्वरूप से किंचित् भिन्न है। क्योंकि इनके मत में काव्यरस से आनन्द की अखण्ड या एकघन मनःस्थिति बनने की अपेक्षा काव्य रसास्वाद के क्षणों में सहृदय में 'चमत्कार का विस्तार' होता रहता है । अर्थात् आनन्द का 'बार-बार अनुभव' होता है । इस मत भिन्नता का कारण स्पष्ट है। कुंतक ने आह्लाद की निष्पत्ति रसवादी आचार्यों की भाँति केवल 'स्थायीभाव' या 'भाव' मात्र के आधार पर स्वीकार नहीं की है वरन् विचार, कल्पना, भाव आदि सभी काव्यगत तत्वों से आह्लाद की निष्पत्ति मान ली है। परन्तु कुंतक ने इन सभी तत्वों के लिए एक अनिवार्य कसौटी निर्धारित की है—वह है कवि के वक्र व्यापार की या 'विदग्ध भंगीभणिति' की । इस प्रकार कुंतक प्रतिपादित आह्लाद-निष्पत्ति या रस-निष्पत्ति का आधार-फलक अधिक व्यापक है। किन्तु कुंतक ने भाव, विचार या कल्पना के मूलभूत स्वरूप का महत्व-मापन करने की अपेक्षा इसकी अभिव्यक्ति-प्रक्रिया पर एकान्त बल दिया है । परिणामतः इसका वक्रोक्ति-सिद्धान्त आधार-फलक की व्यापकता में भी अभिव्यक्ति-पद्धति रूप या माध्यम रूप बनकर सीमित हो गया है। अन्तरंग की अपेक्षा बहिरंग की साधना में ही उत्तरोत्तर अग्रसर होता गया है ।

फलतः मराठी के कतिपय विवेचकों ने कुंतक के वक्रोक्तिवाद का सम्बन्ध पाश्चात्य साहित्यालोचन में प्रचलित 'कलावाद' से स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इस प्रयत्न के दो रूप हैं : एक क्रोचे के अभिव्यंजनावाद से कुंतक के वक्रोक्तिवाद का साम्य-वैषम्य स्थापन। दूसरा, पाश्चात्य कलावाद के अंग-कल्पना, अभिव्यक्ति-पद्धति, शैली आदि से कुंतक के वक्रोक्तिवाद की तुलना।

पुनराख्याताओं में श्री प्रा० द० के० केलकर ने कुंतक और क्रोचे की मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन किया है। सामान्यतः अधिकांश समीक्षक अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्ति-वाद में साम्य की अपेक्षा वैषम्य की ही स्थिति अधिक मानते हैं। दोनों सिद्धान्तों में मौलिक अन्तर प्रस्तुत करता है—रसतत्व या आनन्दतत्व। कुंतक ने अपने सैद्धान्तिक विवेचन में रस, आह्लाद या चमत्कार को महत्वपूर्ण कसौटी के रूप में निर्धारित किया है। दूसरी ओर क्रोचे अभिव्यक्ति मात्र पर बल देते हैं। उसमें सरसता या नीरसता, अलंकृति या निरलंकृति का प्रश्न ही उद्भूत नहीं होता। फिर भी बाह्य दृष्टि से दोनों सिद्धान्तों में महत्वपूर्ण साम्य यही है कि दोनों में 'उक्ति' या 'अभिव्यक्ति' की महत्व प्रतिष्ठा का ही प्रयत्न है।

वक्रोक्ति तत्व का अभिव्यंजनावाद से साम्य-वैषम्य मूलक अध्ययन जहाँ हुआ है, वहाँ कल्पना-तत्व से भी कुंतक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त का सम्बन्ध दर्शाया गया है। मराठी में प्रा० द० के० केलकर ने वक्रोक्ति-तत्व में कल्पना के आधार का स्पष्टीकरण किया है। उन्होंने कुंतक की कल्पना को कविनिष्ठ और इसी परम्परा से काव्यनिष्ठ मान तो लिया है किन्तु इन्होंने वक्रोक्ति-सिद्धान्त की कल्पना की व्याख्या पाश्चात्य काव्यशास्त्र-प्रतिपादित कल्पना तत्व के प्रकाश में अधिक विस्तार से नहीं की है। इनकी सामान्य धारणा में कवि के लिए निजी कल्पना की विविध रूप में अभिव्यक्ति वक्रोक्ति की सहायता से ही पूर्ण सम्भव है।

इस प्रकार मराठी के काव्यशास्त्रज्ञों ने कुंतक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त के आख्यान और पुनराख्यान का व्यापक प्रयत्न करके इस सिद्धान्त में निहित अनेक काव्योपयोगी तत्वों के उद्‌घाटन का प्रयत्न किया है।

औचित्य-सिद्धान्त

औचित्य-सिद्धान्त का अपेक्षित व्यापक अध्ययन मराठी भाषा के काव्यशास्त्र में उपलब्ध नहीं होता। फिर भी जिन लेखकों ने इस तत्व का अध्ययन किया है, उनके अध्ययन में विविधता है।

जीवन और लोक-व्यवहार में औचित्य जिस प्रकार आवश्यक है, उसी प्रकार काव्य में भी इसकी अनिवार्य आवश्यकता है। औचित्य पर्याप्त व्यापक काव्य-तत्व है। इसकी परिधि में रस, रीति, अलंकार, गुण-दोष, ध्वनि आदि सभी तत्वों का अन्तर्भाव हो जाता है। काव्य के अन्तरंग और बहिरंग तक इसकी समान रूप से पहुँच है। औचित्य तत्व काव्य के किस अंग में व्याप्त नहीं है, यह बताना बड़ा कठिन है।

औचित्य तत्व की व्याप्ति जिस प्रकार कला-जगत में है, उसी प्रकार काव्य-जगत् में

भी है। सौन्दर्य-निर्धारण में औचित्य का महत्त्वपूर्ण योग है। सौन्दर्य-तत्व में औचित्य की स्थिति का प्रा० रा० श्री जोग ने विशद् अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस प्रकार औचित्य-तत्व लोक-जीवन के समान कला-जगत्, काव्य-जगत् और सौन्दर्य-जगत् तक व्याप्त दिखाई देता है।

यह तो हुई औचित्य-सिद्धान्त की व्याप्ति।

औचित्य-सिद्धान्त की सीमाएँ भी हैं :

औचित्य काव्यत्व का निर्धारक सिद्धान्त नहीं है। भाव या रस ही काव्य को काव्यत्व प्रदान करते हैं। इनकी तुलना में औचित्य का स्थान गौण है। अतः काव्य का आत्म-तत्व या जीवित रस या भाव ही है, औचित्य नहीं। औचित्य तो इसके साथ गुणरूप में अनुस्यूत अभिन्न अंग है।

औचित्य का सम्बन्ध अभिव्यक्ति-पद्धति से है, काव्यगत भाव, विचार, कल्पना, भाषा आदि को किस प्रकार से व्यक्त किया जाय, इसी की शिक्षा औचित्य-सिद्धान्त से मिलती है।

औचित्य तत्व वस्तुतः एक गुण है, गुणी नहीं है; धर्म है, धर्मी नहीं है। यह 'शब्दयोजना', 'अर्थ-योजना' आदि की पद्धति सिखाता है। अलंकार-नियोजन और काव्य की अभिव्यक्ति-पद्धति के मूल में इसकी विशेष आवश्यकता होती है।

सौन्दर्य-निर्धारण में भी औचित्य एकान्त समर्थ सिद्धान्त नहीं है। सौन्दर्य-निष्पादक अनेक घटकों में औचित्य भी एक घटक मात्र है। सौन्दर्य-निर्धारण में औचित्य को स्वयं अन्य सौन्दर्य-पोषक घटकों पर आश्रित रहना पड़ता है।

औचित्य-तत्व स्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं है। वह पराश्रित है। अलंकार तथा अभिव्यक्ति पद्धति के मूल में निहित औचित्य की कसौटी रस है। प्रायः रस और औचित्य-तत्व अन्योन्याश्रित रहते हैं। एक दूसरे के उपकारक हैं। रस से पृथक् रहकर औचित्य का विशेष महत्व नहीं है।

औचित्य तत्व रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि काव्य-सिद्धान्तों के मूल में व्याप्त रहता है। अतः इसकी स्वतन्त्र प्रतिष्ठा की अपेक्षा यह इन सभी तत्वों के गुण रूप में उन्हीं में अन्तर्भूत रहता है।

इस प्रकार काव्य में औचित्य-तत्व की अपनी व्याप्ति और सीमाएँ हैं। औचित्य-तत्व पर विशेष बल देकर आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्यशास्त्र में एक महत्वपूर्ण स्थापना की है। वह यह है कि काव्य को जीवन और जगत् का परिपुष्ट आधार ग्रहण करना चाहिए। जीवन और जगत् की वास्तविकताओं से रहित काव्य औचित्यहीन हो जाता है, निष्प्राण या निर्जीव बन जाता है। भावगत, विचार और कल्पनागत तथा अभिव्यक्ति-पद्धतिगत सभी प्रकार की अस्वाभाविकताओं, असंगतियों तथा अवास्तविकताओं को काव्य से दूर कर देना चाहिए। इसीसे काव्य में चिरस्थायी जीवन-शक्ति आती है। इसी दृष्टि से काव्य के अन्तरंग और बहिरंग में औचित्य गुण की स्थिति अनिवार्य सिद्ध होती है।

प्राण या जीवित शब्द का अर्थ 'अनिवार्य' तत्व के रूप में लिया जाय तो भाव या रस तथा भाषा के समान औचित्य भी काव्य के लिए अनिवार्य ही है। परन्तु भाषा के समान औचित्य का क्षेत्र एकमात्र काव्य नहीं है। यह काव्य-इतर जगत् में भी व्याप्त है, अतः

काव्यत्व के लिए प्राण-वस्तु रस या भाव ही है, इसी के गुण रूप में औचित्य भी अनिवार्य या नित्यसिद्ध हो जाता है, परन्तु भाव या रस से पृथक् होकर स्वतन्त्र रूप में औचित्य का अस्तित्व महत्वहीन है।[1]

प्रतिक्रियावादी तथा नवीनताग्राही दृष्टिकोण

आधुनिक युग में काव्य-सृजन की प्रक्रिया में शैलीगत परिवर्तन ही नहीं आया है वरन् उसके कथ्य में भी अभिनवता है। काव्य-क्षेत्र में प्रबन्धकाव्य, महाकाव्य या खंडकाव्य के स्थान पर मुक्तकों ने ही एकाधिपत्य जमा लिया है। परिणामतः आधुनिक काव्य रचना के अन्तरंग और बहिरंग के विशिष्ट स्वरूप को तथा साहित्य की प्रवृद्धमान विधाओं-उपन्यास, नाटक, कहानी, एकांकी, निबन्ध, समीक्षा—को ध्यान में रखकर कतिपय हिन्दी मराठी के समीक्षकों ने प्राचीन काव्य-सिद्धान्तों की उपयोगिता और अनुकूलता पर प्रश्न चिन्ह लगाया है तथा आधुनिक काव्य-साहित्य के सृजन और मूल्यांकन दोनों ही दृष्टियों से उन्हें अनिष्ट, सारहीन और अनुपयोगी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

इस दृष्टिकोण से प्रेरित होकर ही मराठी में प्रगतिवादी तथा नई कविता के समर्थक अधिकांश समीक्षकों ने काव्य-सिद्धान्त के विवेचन का स्वल्प प्रयत्न किया है। प्राचीन काव्य-सिद्धान्तों में से सर्वाधिक आक्रमण रस-सिद्धान्त पर हुआ है और इसकी अनुपयोगिता सिद्ध करने में ही इन समीक्षकों ने अधिक बल प्रयोग किया है :

इस दिशा में मराठी के श्री मा० त्र्यं पटवर्धन, श्री बा० सी० मढ़ेकर तथा श्री गंगाधर गाडगिल समीक्षक उल्लेखनीय हैं। संक्षेप में इन समीक्षकों ने रस-सिद्धान्त में निम्न-लिखित दोषों व न्यूनताओं का निर्देश किया है।

१. रस-सिद्धान्त काव्य-मूल्यांकन और काव्य-सृजन में बंधे-बंधाये सांचे प्रस्तुत करता है। आधुनिक साहित्य के निर्माण और मूल्यांकन में नौ रसों की लीक या सीमा अनुपयोगी है।
२. रस-सिद्धान्त साहित्य के बुद्धि-तत्व, संवेदना तथा विचार-तत्व की उपेक्षा करता है, केवल भाव-तत्व को ही एकान्त प्रश्रय देता है।
३. स्थायी भाव पर आधृत रसास्वाद में एकसूत्रता नहीं है। अनेक स्थलों पर काव्यगत स्थायी तथा सहृदयगत स्थायी भिन्न-भिन्न होता है, विशेषतः हास्य और वीभत्स रसों के आस्वाद में।
४. रस-सिद्धान्त में कवि-व्यक्तित्व की उपेक्षा की गई है और सहृदय को ही एकान्त महत्व प्रदान किया गया है।
५. काव्य-साहित्य सहृदयस्थ भावना की ही अभिव्यक्ति मात्र नहीं करता, वरन् भावना-निर्माण की भी उसमें क्षमता होती है।

---

१. विस्तार के लिए देखिये "आ. हि. म. में काव्यशास्त्रीय अध्ययन", पृ० ५९०-६०५।

६. प्राचीन संस्कृत आचार्यों की भिन्न तथा अभिन्न रसों की कल्पना और उनकी व्यवस्था एकान्त सत्य नहीं है।

७. आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने भावों का अध्ययन व्यापक रूप में किया है, रस-सिद्धान्त अपनी परम्परित चिन्तन-प्रक्रिया का त्याग करके इनके अध्ययन को भी अपने में अन्तर्हित कर ले।

इन सभी आक्षेपों में सत्य का अंश पर्याप्त है, ये सभी मत एकांततः निराधार या असंगत नहीं हैं। इनसे रस-सिद्धान्त के पुनराख्यान में सहायता मिल सकती है।

१. रस-सिद्धान्त की इस प्रथम सीमा की प्रतीति स्वयं संस्कृत आचार्यों को ही हो चुकी थी। परिणामतः जितने भाव उतने ही रस मानने की परम्परा संस्कृत साहित्यशास्त्र में चली और २०-२५ से भी अधिक अनेक नवीन-नवीन रसों की स्थिति वहाँ दर्शाई गई।

आधुनिक मराठी के साहित्यशास्त्र के समीक्षकों ने आधुनिक सामाजिक-आर्थिक जीवन तथा विचार-प्रक्रिया आदि के आधार पर निर्मित काव्य-साहित्य को दृष्टिगत रख कर अनेक नवीन रसों के स्वतन्त्र अस्तित्व पर चिन्तन किया है।

किसी भी विशिष्ट भाव की परिपुष्ट साहित्यिक आविष्कृति उसे स्वतन्त्र रस पदवी प्रदान करने में समर्थ हो सकेगी। उदाहरणार्थ, भक्तिभावात्मक स्वतन्त्र समृद्ध साहित्य ने परम्परागत नौ रसों के बांध को तोड़ दिया है और भक्तिरस के स्वतन्त्र अस्तित्व को मान्य करने के लिए बाध्य किया है।

अतः यह सत्य है कि प्राचीनों की नौ रस-संख्या अटूट और शाश्वत सीमा नहीं है। परन्तु संस्कृत आचार्यों के चिन्तन को आधुनिक नवीन चिन्तन में बाधक मान बैठना असंगत है।

२. दूसरा आक्षेप है—बौद्धिक चेतना की उपेक्षा का। इसे भी पुनराख्यान द्वारा रस-सिद्धान्त में अन्तर्भूत किया जा सकता है। श्री नी० र० वर्‍हाड पांडे ने रसों के दो सामान्य वर्ग-'मनोजन्य रस' तथा 'बुद्धिजन्य रस' बनाये हैं। इससे रसों के मूल में निहित बुद्धि-तत्व का भी संकेत मिल जाता है। इस दिशा में अधिक पुनराख्यान और चिन्तन हो तो रस-सिद्धान्त में बुद्धि-तत्व का एकांत अभाव सिद्ध करना कठिन होगा। वैसे तो प्रत्येक प्रकार की भावानुभूति के मूल में विचार और संवेग अभिन्न रूप से जुड़े रहते हैं। परन्तु प्रधानता भावात्मक तत्व की हो जाती है, विचार और संवेग गौण पड़ जाते हैं। प्रा० द० के० केलकर के मत में रस-सिद्धान्त में प्रधानता भावना-तत्व की होती है किन्तु विचार, भावना और कल्पना आदि मानसिक व्यापार एकान्त पृथक्-पृथक् या स्वतन्त्र नहीं होते हैं। वे सम्पृक्त रहते हैं, अतः रस-सिद्धान्त को एकान्ततः बुद्धि तत्व-हीन सिद्धान्त मानना अतिवाद होगा।

३. स्थायी के आस्वाद में असंगति का आक्षेप इसलिए उपस्थित होता है कि सर्वत्र सहृदय की प्रतिक्रिया को रस-स्वरूप का निर्धारक आधार मान लिया जाता है। यदि कवि-व्यक्तित्व और उसकी परिपुष्ट भावनाविष्कृति को भी 'रस' के निर्धारण में महत्व प्रदान किया

जाय तो किसी प्रकार की असंगति का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रक्रिया से रस-सिद्धान्त की विवृत्ति होगी।

शेष आक्षेप भी संस्कृत परम्परा से भिन्न अर्वाचीन विचार-विकास तथा प्रगति के ही सूचक हैं। रस-सिद्धान्त में कवि-व्यक्तित्व के महत्व की स्वीकृति, भावना-निर्मिति की क्षमता तथा मनोविज्ञान के आधार पर रस-तत्व की विवृति को स्थान देना असंगत नहीं है। इससे रस-सिद्धान्त की न्यूनताएँ और सीमाएँ दूर होंगी। यह सिद्धान्त समृद्ध और व्यापक बनेगा तथा आधुनिकतम साहित्य के मूल्यांकन में भी समर्थ होगा।

मराठी में मौलिक कार्य

प्राचीन सिद्धान्तों का खण्डन करना तो सरल कार्य है, परन्तु स्वयं विधायक दृष्टिकोण अपनाकर अभिनव सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना करना प्रायः कठिन होता है। इसके लिए प्रखर मेधा या प्रतिभा की आवश्यकता होती है। मराठी के कतिपय आधुनिक समीक्षकों ने मौलिक चिन्तन करके सैद्धान्तिक क्षेत्र को व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है। श्री बा० सी० मढेकर ने रस-सिद्धान्त का केवल खण्डन के हेतु ही खण्डन नहीं किया वरन् इन्होंने इसके स्थान पर एक अभिनव सौन्दर्य-सिद्धान्त की संयुक्तिक प्रतिष्ठापना भी की है। वे स्वयं नये कवियों में मूर्धन्य थे और समर्थ साहित्यकार थे। अतः इन्होंने प्राचीन परम्परा से भिन्न काव्य-मूल्यांकन के मौलिक तत्वों–भावात्मक लयों–संवादलय, विरोधलय, समतोललय का आविष्कार किया और अपने प्रतिपादन को नवकाव्य पर अभिघटित कर दिखाया है।[१] रस सिद्धान्त के विषय में एक और मौलिक कार्य डा०बारलिंगे ने किया है। इन्होंने भरतमुनि निरूपित रस के वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन किया है। इनकी धारणा में भरतमुनि निरूपित रस आनन्द का पर्यायवाची नहीं है और इसका सहृदय के आनन्दास्वाद से भी कोई सम्बन्ध नहीं है। रस तो रंगमंचगत आस्वाद्य पदार्थ है जो स्थायी भावों को विभावानुभाव तथा संचारी भावों के संयोग से रंगमंच पर मूर्तरूप प्रदान करने के कारण निर्मित होता है।[२] प्रस्तुत अनुसंधान से रस-सम्बद्ध एक हजार वर्ष से प्रचलित धारणा में आमूल परिवर्तन हो जाता है। इसी प्रकार मराठी में डा० मा० गो० देशमुख ने परम्परागत रस के स्थान पर अभिनव सिद्धान्त 'भावगन्ध' की प्रतिष्ठापना की है। इन्होंने 'भावगन्ध' को काव्य-निर्माण और काव्य-मूल्यांकन दोनों ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।[३] इसी प्रकार श्री दि० के० के० बेडेकर ने भरतमुनि के रस-सिद्धान्त का भरत-युग के सापेक्ष्य में जो अनुसंधान और मूल्यांकन किया है, वह भी पर्याप्त मौलिक है।[४] यद्यपि श्री ग० त्र्यं० देशपांडे ने परम्परागत

---

१. दे० "सौन्दर्य आणि साहित्य"

२. दे० "सौन्दर्य तत्व और काव्य सिद्धान्त"

३. दे० "भावगन्ध"

४. नवभारत मराठी मासिक पत्रिका, नवम्बर-दिसम्बर १९५०

रससिद्धान्त का विशेषत: आनन्दवर्धन-अभिनव गुप्त के मतों का ही एकान्तत: अनुसरण किया है, फिर भी इन्होंने एक नवीन अभिमत की स्थापना का प्रयत्न किया है। इन्होंने आधुनिक काव्यशास्त्र में रस, रीति, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य आदि तत्वों को एकान्त पृथक्-पृथक् और कहीं-कहीं परस्पर विरोधी सिद्ध करने की प्रचलित प्रवृत्ति का प्रवल प्रत्याख्यान किया है। इनकी धारणा में रसेतर तत्वों के विवेचक आचार्यों–भामह, दण्डी, वामन, कुंतक, क्षेमेन्द्र आदि में से कोई भी रस-विरोधी नहीं है। वे सभी रस के ही अनुयायी हैं।[१] इस प्रकार मराठी में प्राचीन काव्य-सिद्धान्तों के पुनराख्यान और पुनर्मूल्यांकन के साथ-साथ नव प्रतिष्ठापन का जो मौलिक कार्य हुआ है, वह स्तुत्य है।

१. दे० "भारतीय साहित्यशास्त्र'

डा० इन्द्रनाथ चौधुरी
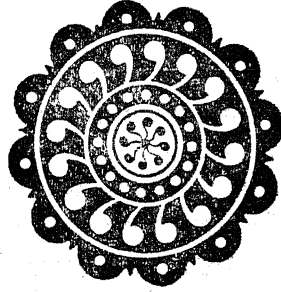
बंगला आलोचना

बंगला साहित्य की पद यात्रा स्थूल रूप से ईसा की दसवीं शताब्दी से प्रारम्भ होने पर भी बंगला के विद्वानों ने प्राक्-आधुनिक युग तक अर्थात् १८०० शताब्दी तक आलोचना की कोई अधिक चर्चा नहीं की थी। मध्य युग में जब बंगला साहित्य का उद्‌भव तथा विकास प्रारम्भ हुआ तब संस्कृत अलंकारशास्त्र की अपराह्न बेला थी। उस समय केवल संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की टीका-टिप्पणी ही लिखी जा रही थी। बंगला के विद्वानों ने भी, संस्कृत-प्रेमी होने के कारण, संस्कृत भाषा में ही अलंकार ग्रन्थों की टीका-टिप्पणी की अथवा कभी-कभी आलोचना के सम्बन्ध में दो-चार शब्द अपनी भाषा में लिखे, यद्यपि इस प्रकार के मन्तव्यों में साहित्यालोचना के स्थान पर स्थूल आलोचना ही अधिक दिखाई पड़ती थी। इस ढंग की काव्यशास्त्रीय स्थूल विचार-विवेचना के अतिरिक्त प्राक्-आधुनिक युग में वैष्णव तथा शक्ति पद-साहित्य की व्याख्या की सुगमता के लिए बंगला के आलंकारिकों ने, विस्तार के साथ, भक्ति रस की सहायता से अलंकार शास्त्र की व्याख्या की। इन आलंकारिकों में रूप गोस्वामी, जीव गोस्वामी, मधुसूदन सरस्वती, कवि कर्णपुर, श्री परमानन्द दास ने, बंगाली होते हुए भी, संस्कृत में ही काव्यशास्त्र के ग्रन्थों की रचना की। इनके पदांक का अनुसरण कर कृष्णदास कविराज, वृन्दावन दास, कृष्णदास बाबाजी ने, बंगला भाषा में मूलतः भक्ति रस की व्याख्या की। वैष्णव होने के कारण इन विद्वानों का प्रमुख उद्देश्य केवल मात्र भक्ति रस का विवेचन करना था और यह विवेचन भी केवल मात्र कृष्णलीला की व्याख्या के उद्देश्य से किया जाता था। कृष्णलीला का वर्णन करते हुए भक्ति रस के अतिरिक्त

कहीं-कहीं इन विद्वानों ने माधुर्य भक्ति के विवेचन की सुगमता के लिए नायक-नायिका भेद का सुविस्तार से वर्णन किया है। बंगला के इन विद्वानों के भक्ति रस के विवेचन में कहीं भी मौलिकता के दर्शन नहीं होते क्योंकि पहले तो, इनका आधार गौड़ीय संस्कृत आलंकारिकों का भक्ति रस था और दूसरे, इन आलंकारिकों का भक्ति रस विवेचन भी अपने-आप में कोई अभिनव विवेचन नहीं था। इस सम्बन्ध में प्रायः सभी विद्वान एक मत हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि बंगला आलोचना के प्रारम्भिक काल में स्थूल काव्यशास्त्रीय आलोचना अथवा वैष्णव आलंकारिकों के द्वारा प्रतिपादित भक्ति रस का ही विवेचन हुआ एवं इसीसे बंगला काव्यशास्त्र का सूत्रपात हुआ। अष्टादश शताब्दी में भारत-चन्द्र तथा पृथ्वीचन्द्र द्विवेदी ने आलोचना के क्षेत्र में मौलिक चिन्ताधारा के प्रवर्तन का प्रयास किया था परन्तु चिन्ताशील कार्य के स्थान पर सृजनात्मक मौलिक साहित्य की रचना के लिए अधिक आग्रहशील होने के कारण, इस क्षेत्र में उनका योगदान ऐतिहासिक दृष्टि से ही उल्लेखनीय है। सारांश यह है कि प्राक्-आधुनिक बंगला आलोचना के इतिहास में कोई भी महत्वपूर्ण काव्यशास्त्री का उदय नहीं हुआ। कृष्णदास कविराज, कृष्णदास बाबाजी, भारत-चन्द्र आदि विद्वानों का प्रमुख उद्देश्य धार्मिक मनोभावों का प्रचार करना था इसीलिए महत्व-पूर्ण काव्य तत्व के विवेचन में इनकी दुर्बलता और उदासीनता ही अधिक परिलक्षित होती है।

आधुनिक-युग

ईसा की उन्नीसवीं शती से पाश्चात्य विचारधारा के सम्पर्क में आने पर बंगला साहित्य में, क्रान्तिकारी परिवर्तन होने लगा। इस परिवर्तन के फलस्वरूप बंगला साहित्य के वस्तु-उपादान, रचना रीति तथा भावादर्श का नवरूपायण एवं इन पद्धतियों का काव्यशास्त्रीय विवेचन प्रारम्भ हुआ। पाश्चात्य विचार-पद्धति के साथ परिचित होने पर काव्यशास्त्र के प्रति बंगला के विद्वानों की जो उदासीनता थी वह दूर होने लगी एवं संस्कृत तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र के आधार पर स्वतन्त्र बंगला काव्यशास्त्र के विकास की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ। प्रारम्भ में गद्य शैली के विकास के साथ ही व्यावहारिक आलोचना के विकास की ओर विद्वानों ने ध्यान दिया एवं धीरे-धीरे व्यावहारिक आलोचना के आश्रय में काव्य-शास्त्रीय आलोचना प्रस्फुटित होने लगी। इस प्रकार उन्नीसवीं शती से लेकर धीरे-धीरे विकसित होने वाला बंगीय काव्यशास्त्र बीसवीं शती के मध्य भाग में आकर साहित्य के एक महत्वपूर्ण प्रकाश-स्तम्भ के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। डेढ़ सौ वर्ष के इस इतिहास के अध्ययन की सुगमता के लिए इसे दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

—१८०० ई० से १९०० ई० तक

—१९०० ई० से अब तक

पहले भाग का प्रारम्भ आधुनिक युग के आविर्भाव से होता है और बंकिमचन्द्र चटर्जी के तिरो-धान के साथ इसका अन्त हो जाता है। दूसरे भाग का प्रारम्भ रवीन्द्रनाथ ठाकुर से होता है और अन्त की सीमा साम्प्रतिक युग तक प्रसारित है।

सन् १८०० से सन् १६०० तक की आलोचना

ईसा की उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ से गद्य शैली तथा अंग्रेजी आलोचना शास्त्र के प्रभावस्वरूप बंगाल आलोचना का जो सूत्रपात हुआ उसके प्रसार में बंगभाषा की पत्र-पत्रिकाओं ने अपूर्व सहायता पहुँचाई। इन पत्र-पत्रिकाओं में सबसे महत्वपूर्ण पत्रिका 'संवाद प्रभाकर' थी जिसके सम्पादक कवि ईश्वर गुप्त ने सन् १८३१ से इस पत्रिका के माध्यम से साहित्यालोचना का कार्य प्रारम्भ किया। इस आलोचना का स्वरूप व्यावहारिक होने पर भी इसी के साथ फुटकल रूप में साहित्यालोचना का विकास होने लगा। इसी के कुछ समय उपरान्त सन् १८५१ में 'विविधार्थ संग्रह' के सम्पादक के रूप में राजेन्द्रलाल मित्र ने, काव्यशास्त्र पर स्फुट निबन्ध लिखकर काव्यशास्त्रीय-विवेचन की सशक्त नींव रखी। सन् १८६२ से प्रकाशित 'रहस्य-संदर्भ' नामक पत्रिका का भी इन्होंने सम्पादन किया एवं इसके विभिन्न अंकों में इनके काव्यशास्त्रीय विवेचन का संकलन संगृहीत है। विद्वानों के अनुसार आधुनिक बंगला साहित्य के राजेन्द्रलाल मित्र ही प्रथम आलोचक हैं, यद्यपि इनके शास्त्रीय विवेचन में साधारणतः संस्कृत, तथा अंग्रेजी काव्यशास्त्र के मूल सूत्रों का ही विवेचन उपलब्ध है। राजेन्द्रलाल के साथ-साथ विद्यासागर, रंगलाल, हरिमोहन मुखोपाध्याय, महेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय, रामगति न्यायरत्न आदि ने साहित्य की परिभाषा, साहित्य का उद्देश्य आदि काव्यशास्त्र के कतिपय विषयों को लेकर फुटकल रूप से शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया। साहित्य विचार की यह पद्धति योरोपीय तथा संस्कृत अलंकारशास्त्र के मानदण्डों पर आधृत थी। बंगला समालोचना के इन सामान्य उदाहरणों से हम यह अनुभव करते हैं कि सन् १८६० तक बंगला काव्यशास्त्र के क्षेत्र में काव्यशास्त्र के तत्व में अथवा आदर्शों के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट मान्यता उत्पन्न नहीं हुई थी। कतिपय विषयों पर ही विद्वानों का ध्यान आकर्षित रहा। ऐसे समय सन् १८६२ में लालमोहन विद्यानिधि ने बंगला भाषा में आलोचना की प्रथम पूर्णांग पुस्तक 'काव्य-निर्णय' की रचना कर इस न्यूनता को दूर किया। संस्कृत काव्यशास्त्र के आधार पर विद्यानिधि ने अपनी पुस्तक में काव्यशास्त्र के लगभग सभी विषयों का विवेचन किया है एवं बंगला-साहित्य से उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। इस पुस्तक में प्रथम बार बंगला छन्द का युक्तियुक्त विवेचन प्रस्तुत कर लेखक ने अपनी मौलिकता प्रदर्शित की है।

'काव्य-निर्णय' के प्रकाशन के दस वर्ष बाद सन् १८७२ में 'बंगदर्शन' के सम्पादक के रूप में बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने बंगला-समालोचना के क्षेत्र में प्रवेश किया। बंकिमचन्द्र के 'बंगदर्शन' में प्रकाशित सारे साहित्य-विषयक निबन्ध 'विविध प्रबन्ध' के दो भागों में संकलित मिल जाते हैं। बंकिम बाबू लोक कल्याण की विचारधारा से बहुत अधिक प्रभावित थे और इसीलिए उनके साहित्य विचार अथवा साहित्य-सृजन सवदा लोक-मंगल के आदर्शों से प्रभावित रहे। यद्यपि लोकमंगल के आदर्शों को मानने वाले होने पर भी उन्होंने सौन्दर्य सृष्टि को ही काव्य का प्रमुख लक्ष्य माना है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में बंकिमचन्द्र के आदर्शों के अनुकरण करने वाले साहित्य-चिन्तकों की एक गोष्ठी तत्परता के साथ साहित्य-विवेचन में संलग्न हो गई। राजनारायण बसु, रमेचन्द्र दत्त, ठाकुरदास मुखोपाध्याय, चन्द्रशेखर मुखोपाध्याय

चन्द्रनाथ बसु, पूर्णचन्द्र बसु, हरप्रसाद शास्त्री आदि इस गोष्ठी के उल्लेखनीय सदस्य थे। ये विद्वान अधिकतर नीति, धर्म, हिन्दुत्व आदि के प्रभाव से प्रभावित थे इसीलिए इनकी आलोचना पद्धति में एकांगिता का दोष परिलक्षित होता है। दूसरे, ये विद्वान अधिकतर अंग्रेजी साहित्य के तत्वों के प्रति ही आकर्षित हुए थे इसीलिए लगभग प्रत्येक लेखक के साहित्यिक विचार में संकीर्णता अधिक दिखाई पड़ती है। परवर्ती युग में अर्थात् विंशती के सूत्रपात से, रवीन्द्रनाथ ठाकुर की सौन्दर्यवादी तथा रसवादी समालोचना एवं प्रमथ चौधुरी का 'सबुज पत्र' गोष्ठी की संस्कार मुक्त मननशील विचार पद्धति के कारण धीरे-धीरे बंकिम गोष्ठी की आदर्शवादी तथा हिन्दुत्व प्रधान भाव-धारा से युक्त समालोचना समाप्त हो गई और बंगला काव्यशास्त्र एक सार्थक नूतन प्रभाव की प्रतिश्रुति लेकर विंश शती की ओर अग्रसर हुआ।

सन् १९०० से अब तक का आलोचना-शास्त्र

ईसा की बीसवीं शती के प्रारम्भ होने से पहले ही बंगला आलोचना-क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ ठाकुर प्रवेश कर चुके थे। उन्होंने अपनी अनन्य प्रतिभा की सहायता से बंगला आलोचना को नव रूप प्रदान किया और उसकी विकास-धारा को सुललित गति प्रदान की। 'भारती', 'साधना' तथा 'बंगदर्शन' पत्रिकाओं में प्रकाशित उनके साहित्य-विषयक नाना निवन्ध सन् १९०७ में तीन ग्रन्थों में संकलित होकर दुबारा प्रकाशित हुए। इन ग्रन्थों के नाम थे 'प्राचीन साहित्य', 'साहित्य' और 'आधुनिक साहित्य'। 'साहित्य' में उन्होंने साहित्य-तत्व, रस विचार तथा समालोचना और सौन्दर्य तत्व की आलोचना की। बाकी दोनों ग्रन्थों में भी रसाश्रित काव्यलोचना का ही विस्तार है। रवीन्द्रनाथ की प्रारम्भिक विवेचन-पद्धति बंकिम बाबू के आदर्शों से प्रभावित होने पर भी उनकी 'आधुनिक साहित्य' की आलोचना केवल आवेगपूर्ण ही नहीं, वह यथेष्ट परिमाण में बुद्धिसंगत भी थी। कवि के परवर्ती साहित्यालोचना के दो ग्रन्थों 'साहित्येर पथे' (१९३६) तथा 'साहित्येर स्वरूप' (१९४२) में संकलित निवन्धों में पूर्वतन सौन्दर्यवाद तथा रसवाद के अतिरिक्त औपनिषदिक अथवा वेदान्ततिक ब्रह्मवाद की सहायता से साहित्यतत्व का विवेचन उपलब्ध हो जाता है। इस प्रकार बंगला साहित्यतत्व को दार्शनिकता का आधार देकर रवि ठाकुर ने उसे और भी प्रतिष्ठित रूप प्रदान किया।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर जीवन के अन्त तक रसवादी आलोचक ही बने रहे। आधुनिक युग की वास्तविकता तथा समाजशास्त्रीय भावधारा उन्हें प्रभावित नहीं कर सकी और इसीलिए जीवन में उन्हें विद्वानों का विरोध सहना पड़ा था परन्तु इससे उनके स्थायी साहित्यिक मानदण्डों की अवमानना नहीं हुई। यह सच है कि साहित्यतत्व विषयक उन्होंने कोई अभिनव मतवाद अथवा सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा नहीं की परन्तु उनके कारण ही बंगला आलोचनाशास्त्र समृद्धि प्राप्त कर सका। बंकिमचन्द्र के उपरान्त रवीन्द्रनाथ के आगमन से ही बंगला आलोचनाशास्त्र तत्व, व्याख्या तथा विश्लेषण की दृष्टि से सुदृढ़ भित्ति पर प्रतिष्ठित हो सका। रवीन्द्रनाथ के साहित्य विचार के तीन मानदण्ड थे—रस, सौन्दर्य और वृहत् जीवनादर्श। प्रमुखतया इन तीन मानदण्डों की सहायता से ही रवीन्द्रनाथ ने अपनी

काव्यशास्त्रीय विचारधाराओं को प्रकट किया है। मनोविज्ञान, समाज दर्शन अर्थनीति आदि यथार्थ-चेतनाओं पर उन्होंने कोई अधिक गुरुत्व आरोपित नहीं किया। सारांश यह है कि रवीन्द्रनाथ ने सनातन भारतीय साहित्य विचार को ही नवीन ढंग से प्रस्तुत किया और इसके व्यक्तीकरण में प्रसंगानुकूल मौलिक भावधारी को भी प्रकट करने में समर्थ हुए।

रवीन्द्रनाथ की भावधारा को आत्मसात् करने वाले प्रमथ चौधुरी ने भी अपनी काव्यशास्त्रीय प्रतिभा के द्वारा बंगला आलोचनाशास्त्र को समृद्ध बनाने में विशेष सहायता की। विश्लेषणवादी तथा बुद्धिजीवी होने पर भी प्रमथ चौधुरी रसान्वेषी ही थे। रसतत्व-सम्पर्कित आलोचना में ही प्रमथ चौधुरी का परिमार्जित रुचिज्ञान सबसे अधिक परिस्फुट हुआ है। सम्भवतः रवीन्द्रनाथ के अतिरिक्त सौन्दर्य-दर्शन अथवा रसतत्व को जीवन चर्चा के साथ और कोई लेखक इस ढंग से समंजित नहीं कर सका। प्रमथ चौधुरी ने काव्यशास्त्र पर अलग से किसी पुस्तक की रचना नहीं की। वे अपनी पत्रिका 'सबुज-पत्र' में साहित्य-विषयक निवन्ध लिखा करते थे और उन निबन्धों में ही उनके साहित्य-तत्व का संसार छिपा पड़ा है। प्रमथ चौधुरी के साथ ही रवीन्द्र-युग समाप्त-सा हो जाता है और काव्य-विचार क्षेत्र में नवीन मनोभावों का प्रादुर्भाव होने लगता है। यद्यपि रवीन्द्रनाथ के जीवन रहते ही इन नवीन साहित्य-तत्वों ने बंगला काव्यशास्त्र के क्षेत्र में प्रवेश पा लिया था। इन तत्वों के साथ ही रवीन्द्रनाथ की काव्यशास्त्रीय विचारधारा भी नवीन ढंग से पल्लवित होती रही। सम्प्रति, सब मिलाकर तीन प्रकार की काव्यशास्त्रीय धाराएँ बंगला आलोचना शास्त्र के क्षेत्र में परिलक्षित होती हैं:—

(क) प्राचीन संस्कृत अलंकारशास्त्र का पुनराख्यान।

(ख) नव्य यूरोपीय आलोचनाशास्त्र का बंगला भाषा में पुनर्निर्माण।

(ग) सौन्दर्यशास्त्र के आधार पर बंगला आलोचना-शास्त्र का विवेचन।

प्रथम धारा के विद्वानों ने, सम्प्रतिकाल में, संस्कृत अलंकारशास्त्र के अध्ययन के प्रति विशेष उत्साह दिखाया है। इनमें से कुछ विद्वानों ने संस्कृत अलंकारशास्त्र का केवल नूतन परिप्रेक्ष्य में विवेचन किया है, जिनमें उल्लेखनीय हैं अतुलचन्द्र गुप्त, सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त तथा विष्णुपद भट्टाचार्य। अतुलचन्द्र गुप्त ने अपनी पुस्तक 'काव्य-जिज्ञासा' में नवीन ढंग से ध्वनि तथा रसतत्व का विवेचन किया है। डा० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त का 'काव्य-विचार' विद्यार्थियों एवं साहित्य-जिज्ञासुओं के लिए लिखा गया है। विष्णुपद भट्टाचार्य की तीन पुस्तकों 'काव्य-मीमांसा', 'अलंकारशास्त्र की भूमिका', 'काव्य-कौतुक' में संस्कृत काव्यशास्त्र के सारे सम्प्रदाय एवं समस्त विषयों का पाण्डित्यपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इन तीनों विद्वानों के अनुसार पाश्चात्य साहित्य तत्व से भारतीय अलंकारशास्त्र अधिकतर सुदृढ़ युक्तितत्व के ऊपर प्रतिष्ठित है।

इसी धारा के अन्तर्गत कतिपय विद्वानों ने पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा मनोविज्ञान के आधार पर संस्कृत आलोचना-शास्त्र का पुनर्निर्माण किया है। सृजन-प्रक्रिया, कल्पना, कवि का व्यक्तित्व आदि संस्कृत अलंकारशास्त्र के अछूते विषयों का पाश्चात्य काव्यशास्त्र

के आधार पर अध्ययन एवं पाश्चात्य मनोविज्ञान शास्त्र को संस्कृत अलंकारशास्त्र पर घटाकर उसकी नूतन व्याख्या की ओर इन विद्वानों ने विशेष ध्यान दिया है। इस प्रकार की व्याख्या करने वाले विद्वानों में उल्लेखनीय हैं डा० सुधीरकुमार दास गुप्त, डा० शशि-भूषण दास गुप्त एवं नलिनी कान्त गुप्त। डा० सुधीरकुमारदास गुप्त के 'काव्यालोक' ने संस्कृत अलंकारशास्त्र के पुनर्निर्माण में अपूर्व सहायता की है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र और संस्कृत काव्यशास्त्र के तुलनामूलक विवेचन के साथ-साथ इस ग्रन्थ में साम्य एवं वैषम्यमूलक अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया है। डा० शशिभूषणदास गुप्त ने अपनी पुस्तक 'साहित्येर स्वरूप' 'शिल्पलिपि' तथा 'निरीक्षा' में भी उपर्युक्त विचार-पद्धति, को अपनाया है। नलिनीकान्त गुप्त की दो पुस्तकें 'साहित्यिका' तथा 'शिल्पकथा' भी इसी दृष्टिकोण से लिखी गई हैं।

काव्यशास्त्रीय आलोचना की दूसरी धारा के अनुसार बंगला भाषा में, प्रथम महायुद्ध के उपरान्त उद्‌भूत पाश्चात्य काव्यशास्त्र का विशेष विवेचन हुआ है। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त शिल्पवादी तथा रसवादी तत्व विवेचन में परिवेशवादी भावधारा तथा व्यक्तित्व वादी भावधारा का सम्मिश्रण कर पश्चिम में एक नव्य काव्यशास्त्र का सूत्रपात हुआ। इस नूतन काव्यशास्त्र के निर्माण-कर्ताओं में प्रमुख हैं टी० एस० इलियट। इसके अतिरिक्त काव्यशास्त्र में नवीनता का आगमन फ्रॉयड की मनस्तात्विक गवेषणामूलक विचारधारा के कारण भी हुआ। पाश्चात्य देश के प्रसिद्ध आलोचक आई० ए० रिचर्ड्स ने भी मनस्तत्व के आधार पर काव्यशास्त्रीय विवेचन में विशेष दक्षता दिखाई है। सामाजिक युग के बंगला काव्यशास्त्र की दूसरी धारा के विद्वानों ने पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परिवेशवादी तथा व्यक्तित्ववादी एवं मनस्तत्व समन्वित नूतन विवेचन-पद्धति को आग्रह से अपनाया है। मोहित लाल मजुमदार, सुधीन्द्रनाथ दत्त, बुद्धदेव बसु एवं विष्णु दे इस धारा के विशिष्ट विद्वान हैं। मोहितलाल मजुमदार का सम्पूर्ण काव्य-निर्णय केवल नव्य यूरोपीय विचारधारा से ही प्रभावित नहीं है वरन् उन पर उन्नीसवीं शति के पाश्चात्य काव्यशास्त्री आर्नल्ड तथा पेटर का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। पाश्चात्य प्रभाव के सम्बन्ध में मोहितलाल ने स्वयं लिखा है कि बंगला साहित्य एक आधुनिक साहित्य है—प्राचीन अलंकारशास्त्र के विधि-नियम के अनुसार इस साहित्य की समीक्षा नहीं की जा सकती। काव्यरस के विवेचन के लिए केवल 'Aesthetics' का पल्ला पकड़े रहने से काम नहीं चलेगा, कवि प्रेरणा अथवा रससृष्टि के विशेष लक्षणों का निर्णय नहीं हो सकेगा। आधुनिक बंगला साहित्य आधुनिक 'इण्डियन आर्ट' नहीं है; इस साहित्य में जीवन और जगत् को देखने की जो दृष्टिभंगिमा है, उसकी प्रेरणा यूरोप से आई थी; एवं उस दृष्टिभंगिमा के जो सृष्टिरूप, कलाकौशल एवं अलंकार पद्धति है वे भी यूरोपीय साहित्य के अनुरूप आधुनिक हैं, इसे स्वीकार करने में लज्जित नहीं होना चाहिए। इस प्रकार मोहितलाल मजुमदार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि उन्होंने पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रभाव सूत्रों को ग्रहण किया है। उनकी तीन पुस्तकें—'साहित्य-वितान', 'साहित्य कथा' तथा 'साहित्य-विचार'—स्पष्टतः पाण्डित्य तथा सुदूरप्रसारी मनस्विता को प्रकट करने में समर्थ हुई हैं। मोहितलाल के

मन में यह क्षोभ था कि आधुनिक बंगला साहित्य अधिकतर यूरोपीय प्रभाव से प्रभावित होने पर भी उसकी आलोचना भारतीय रस-संस्कार और तदनुयायी विचार-पद्धति के अनुसार होती है। इसके फलस्वरूप जो असंगति बंगला काव्यनिर्णय के क्षेत्र में आ उपस्थित हुई है उससे बंगला साहित्य-समालोचना का कोई आदर्श अथवा पद्धति अभी तक स्थापित नहीं हो सकी है। मोहितलाल मजुमदार ने इस असंगति को दूर करके पाश्चात्य प्रभाव-समन्वित बंगला काव्य-शास्त्र के निर्माण के लिए विशेष प्रयत्न किया है और उन्हें सफलता भी मिली है। पाश्चात्य विचार-पद्धति की इस नव्य धारा को ग्रहण करके सुधीन्द्रनाथ दत्त ने अपनी पुस्तक 'कुलाय ओ काल पुरुष' में साहित्य-जिज्ञासा के मौलिक तत्वों का विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त बुद्धदेव वसु ने 'साहित्य चर्चा' में और विष्णु दे ने 'साहित्येर भविष्यत्' में साम्प्रतिक यूरोपीय विचार-धारा के आधार पर शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया है। यद्यपि उग्र व्यक्तिस्वातन्त्र्य के कारण इनके काव्य विचार सुदूरप्रसारी नहीं बन पाये हैं।

प्रथम महायुद्ध के उपरान्त और एक समालोचना-पद्धति ने पाश्चात्य काव्यशास्त्र के क्षेत्र में विशेष प्रसार लाभ किया जिसे मार्क्सवादी आलोचना-पद्धति कहा जाता है। सामयिक युग के गोपाल हालदार ने बंगला साहित्यालोचना-क्षेत्र में इस भाव धारा का प्रचार किया। मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार अर्थनैतिक पीठिका तथा अन्न-उत्पादन-आदि के ऊपर जीवन की मूल भित्ति स्थापित है। उसके ऊपर ही समाज का विशाल प्रासाद खड़ा है एवं इस वस्तु-वादी पटभूमिका में मानस के विभिन्न प्रकाश-शिल्प रूपायित हो उठे हैं। भित्ति के परिवर्तन अथवा परिवर्धन के अनुसार समाज का भी परिवर्तन होता है एवं उसके साथ ही साहित्य-शिल्प भी परिवर्तित हो जाता है। यह परिवर्तन द्वान्द्विक रीति से होता है—स्थितावस्था में विरोधी शक्ति उत्पन्न होती है एवं उभय के संघात-समन्वय से उपसंहृति का जन्म होता है। अतएव साहित्य के विचार क्षेत्र में, जीवन के भित्तिमूल में स्थित, श्रेणी-विन्यास तथा अर्थनैतिक-सामाजिक शक्तियों की उक्त द्वन्द्वनिरत विशेषताओं का विवेचन ही मार्क्सवादी आलो-चकों का मुख्य कार्य है। इस प्रकार सामाजिक-प्रयोजनों की पीठिका पर मार्क्सवादियों का काव्य-विचार स्थित है और परिवेश के परिप्रेक्ष्य में ये लोग काव्यशास्त्र का विवेचन करते हैं। बंगला काव्यशास्त्र के क्षेत्र में गोपाल हालदार के अतिरिक्त 'साहित्य-दीक्षा' के लेखक वीरेन्द्र रॉय, 'साहित्ये प्रगति' के लेखक डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त आदि कतिपय विद्वानों ने साम्यवादी आदर्शों की सहायता से काव्यशास्त्र का विवेचन किया है।

बंगला काव्यशास्त्र की तीसरी धारा के अन्तर्गत सौन्दर्य-तत्व का विवेचन हुआ है। संस्कृत काव्यशास्त्र में सौन्दर्य के विभिन्न रूपों की चर्चा होने पर भी बंगला में पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र के आधार पर सौन्दर्य-शास्त्र की चर्चा हुई है। पाश्चात्य विद्वानों ने शिल्पी को सौन्दर्य का सृष्टिकर्ता कहा है और इस आधार पर काव्यशास्त्र की सौन्दर्यगत व्याख्या की है। यद्यपि सौन्दर्य की कोई निश्चित संज्ञा प्रस्तुत करने में कोई भी समर्थ नहीं हुआ है। काव्य-शास्त्र की सौन्दर्यगत व्याख्या के अन्तर्गत काव्य, शिल्पी की कल्पना तथा कलागत अनुभूतिमय सौन्दर्य का विचार किया जाता है। वस्तुतः शास्त्रीय तत्वों के विवेचन की अपेक्षा पाठक के

हृदय को प्रभावित करने वाले तत्वों का विवेचन, सूक्ष्म अन्तर्निहित कलागत सौन्दर्य का उद्घाटन और काव्य के आभ्यन्तर तत्व का अनुभूतिमय चित्र उपस्थित करना इस आलोचना-प्रणाली का उद्देश्य है। कतिपय बंगला के विद्वानों ने इस प्रकार की आलोचना-प्रणाली के आधार पर साहित्य-शास्त्र का विवेचन किया है और साहित्य को सौन्दर्य की ही अभिव्यक्ति माना है। इन आलोचकों में सर्वप्रमुख थे रवीन्द्रनाथ। डा० सुरेन्द्रनाथदास गुप्त ने भी 'सौन्दर्य तत्त्व' की रचना कर सौन्दर्य-शास्त्र की व्याख्या की है और साहित्यशास्त्र की भी। डा० दास गुप्त का सबसे बड़ा कार्य यह है कि उन्होंने यूरोपीय विद्वानों के इस अभिमत को भ्रामक बताया है कि भारत में सौन्दर्य के सम्बन्ध में कोई विवेचन ही नहीं हुआ है। इसके अतिरिक्त डा० प्रवास जीवन चौधुरी की 'सौन्दर्य दर्शन' तथा साधनकुमार भट्टाचार्य की 'शिल्पतत्व की कथा' इस क्षेत्र में उल्लेखनीय पुस्तकें हैं। साधनकुमार भट्टाचार्य ने अधिकतर पाश्चात्य विद्वानों के मतों को लक्ष्य में रखते हुए शिल्पतत्त्व का विवेचन किया है और शिल्पतत्व को सौन्दर्यशास्त्र का पर्याय माना है। डा० प्रवास जीवन चौधुरी ने संस्कृत काव्य-शास्त्र तथा रवीन्द्रनाथ के मन्तव्यों के आधार पर सौन्दर्य-शास्त्र का विवेचन किया है।

साम्प्रतिक युग में, इतिपूर्व आलोचित, बंगला काव्यशास्त्र की आधुनिकतम तीन धाराओं के अतिरिक्त दो और धाराएँ भी परिलक्षित होती हैं :

(क) काव्यशास्त्रीय गवेषणामूलक शोध-प्रबन्धों की धारा।

(ख) फुटकल काव्यशास्त्रीय आलोचना की धारा।

विश्वविद्यालीय स्तर पर अध्ययन के अभूतपूर्व विकास के साथ-साथ गवेषणामूलक आलोचना (Academic studies) का प्रसार भी बंगला भाषा में हुआ। फलतः बंगला भाषा में विश्लेषण शक्ति से युक्त संस्कृत अलंकार-शास्त्र तथा प्राचीन बंगला काव्यशास्त्रीय निबन्धों के अध्ययन की एक नई विस्तृत धारा बह चली। डा० श्रीकुमार बन्ध्योपाध्याय का 'समालोचना साहित्य' ग्रन्थ एवं 'समालोचनासाहित्य परिचय' ग्रन्थ की भूमिका विश्लेषण-प्रधान समालोचना के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इस क्षेत्र में डा० सुबोधचन्द्रसेन गुप्त की 'ध्वन्यालोक', डा० संध्या मादुड़ी का 'रस-गंगाधर', डा० हरिहर मिश्र का 'व्यंजना और काव्य' तथा 'रस ओ काव्य', रमारंजन मुखोपाध्याय की 'रस-समीक्षा' उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। इन सब ग्रन्थों में पाश्चात्य काव्यशास्त्र के साथ संस्कृत काव्यशास्त्र का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त साधनकुमार भट्टाचार्य का 'एरिस्टटलेर पोयेटिक्स और साहित्य तत्त्व', असितकुमार बन्धोपाध्याय की 'समालोचनार कथा' तथा सरोजकुमार बसु का 'रवीन्द्र साहित्ये हास्यरस' आदि ग्रन्थों ने इस धारा को सुविस्तृत करने में सहायता की है। इस प्रकार विश्वविद्यालय प्रदत्त सुविधा के फलस्वरूप गवेषणा की प्रवृत्ति ही बढ़ती ही जा रही है एवं बंगला साहित्य के विचारक्षेत्र में वैज्ञानिक तर्क-पद्धति के आधार पर काव्यशास्त्र का विश्लेषण, नवीन मतों की स्थापना आदि का कार्य विशेष रूप से चल रहा है।

इस धारा के अतिरिक्त फुटकल काव्यशास्त्रीय आलोचना की एक धारा, आधुनिक

काल के प्रारम्भ से बंगला काव्यशास्त्र के क्षेत्र में प्रवाहमान है। इस धारा के अन्तर्गत कुछ लेखक तो ऐसे हैं जिनकी समालोचना पत्रकारिता के द्वारा आछन्न है। ये लोग समाज नीति, मनोविज्ञान तथा पाश्चात्य विद्वानों के मन्त्रवचनों को कंठ में धारण कर बंगला काव्यशास्त्र के विस्तृत प्रांगण में यथेच्छा भ्रमण करते हैं। इन लोगों के अतिरिक्त कुछ गम्भीर विद्वानों ने स्वकीय काव्यशास्त्रीय मतों के प्रचार के लिए फुटकल निबन्धों की रचना की है। इनमें से 'स्वदेश ओ साहित्य' के रचयिता शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय, 'साहित्य चिन्ता' के लेखक शिवनारायण राय, 'साहित्येर नाना कथा' (दो भाग) के लेखक सुकमारसेन, 'आधुनिक साहित्येर मूल्यायन' तथा 'साहित्येर समस्या' के रचयिता नारायण चौधुरी, "साहित्य-संकट' के लेखक अन्नदाशंकर राय एवं 'साहित्ये सत्य' के लेखक ताराशंकर बन्द्योपाध्याय एवं 'रूपरुचि' के लेखक असितकुमार हालदार उल्लेखनीय हैं।

आलोच्य इन पाँच धाराओं से सिंचित आधुनिक बंगला काव्यशास्त्र नवीन जीवन तथा दर्शन से परिव्याप्त नाना दिशाओं में फैला हुआ है परन्तु प्राग्-आधुनिक अथवा संस्कृत तत्वचिंता को उसने कभी भी नहीं त्यागा। आधुनिक युग के प्रारम्भ से लेकर अधुनातन समय तक संस्कृत के अभिजात काव्यशास्त्र को लेकर, नाना प्रकार से, पर्यालोचन तथा परीक्षण-निरीक्षण का कार्य हुआ है और हो भी रहा है। साथ ही, पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय विचार-धाराओं को स्वदेशी स्वरूप प्रदान करने की दिशा में स्तुत्य कार्य चल रहा है। इस प्रकार नूतन तथा पुरातन के बीच सम्बन्ध-सूत्र जोड़ने के इस प्रयास में ही बंगला काव्यशास्त्र के ग्रन्थ एवं संख्याहीन निबन्धों का इतिहास फैला हुआ है।
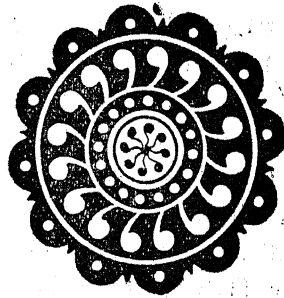
डा. न. वी. राजगोपालन

तमिल आलोचना

तमिल साहित्य की लगभग ढाई हजार वर्ष की परम्परा का प्रमाणयुक्त परिचय अब हमें प्राप्त होता है। इस लम्बी अवधि में प्रणीत हुई अनेक महत्वपूर्ण मौलिक तथा अनूदित कृतियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। यह विशाल वाङ्मय विभिन्न युगों में, विभिन्न रूपों में, विविध भंगिमाओं में विकास प्राप्त करता रहा और अनेक बाह्य प्रभावों को भी आत्मसात् करता हुआ, नित नवीन तथा नवयुगीन बनता रहा है। इस वाङ्मय का परिशीलन भारत के प्राचीन युग के अनेक रहस्यों का पता लगाने में अत्यन्त सहायक है।

इस वाङ्मय के अन्तर्गत लक्षण तथा लक्ष्य दोनों प्रकार की सामग्री मिलती है। काव्यालोचन की विशिष्ट पद्धति का सांगोपांग विवेचन करने वाले अनेक लक्षण ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं जिनमें 'तोलकाप्पियम्' शीर्षस्थानीय है। संयोग की बात यह है कि यही अब उपलब्ध होने वाला प्राचीनतम तमिल ग्रन्थ भी है। इसका समय वैसे तमिल परम्परा सातवीं शताब्दी ई० पू० मानती है, किन्तु विविध शास्त्रों के क्षेत्र के सूक्ष्म अनुशीलन ने यही प्रमाणित किया है कि इसकी रचना चतुर्थशती ई० प्र० से अर्वाचीन नहीं है। तमिल काव्यालोचन का प्रारम्भ इसी ग्रन्थ से होता है।

भारत की अन्य भाषाओं के समान ही तमिल की आलोचना भी लगभग बीसवीं शती तक शास्त्रीय पद्धति पर चलती रही है। तथाकथित व्यावहारिक समीक्षा या आलोचना का उपक्रम तमिल में इसी शताब्दी के भीतर हुआ। इसकी प्रेरणा पाश्चात्य

साहित्य से मिली तथा स्वरूप भी अधिकांशतः पाश्चात्य आभा से समन्वित है।

अंग्रेजी समालोचना-पद्धति का, विशेषकर मैथ्यू अर्नाल्ड तथा हडसन का अनुकरण इस नवीन आलोचना-पद्धति में स्पष्टतया दृष्टिगत होता है। इस नवीन आलोचना की तुलना, हिन्दी, मराठी आदि अन्य भारतीय भाषाओं की आधुनिक आलोचना के साथ की जा सकती है।

इस नवीन पद्धति का विश्लेषण करना प्रस्तुत लेख का उद्देश्य नहीं है। विदेशी प्रभाव से रहित तमिल की शास्त्रीय आलोचना का परिचयात्मक विवेचन करना ही प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य है—इसका उल्लेख आगे 'प्राचीन आलोचना' नाम से किया जायगा।

तमिल की प्राचीन आलोचना को भी दो भागों में रखा जा सकता है; एक वह अंश जो संस्कृत से अप्रभावित तथा नितान्त स्वतंत्र काव्यचिंतन पर आधारित है, दूसरा वह अंश जो संस्कृत काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों के समन्वय के कारण अपनी पृथक्ता से रहित है।

तमिल-भाषा तथा तमिल-साहित्य सम्बन्धी समस्याएँ, भारत के इतिहास तथा भारतीय संस्कृति एवं धर्म के इतिहास की समस्याओं से उलझी हुई हैं। अतएव इन दूसरे प्रकार की समस्याओं को समझना, प्रथम विषयों के समझने के लिये आवश्यक होता है। स्थानाभाव उस विस्तार में जाने से रोक रहा है। अतः केवल कुछ प्रमाणसिद्ध तथ्यों का उल्लेखमात्र करना संभव होगा।[1]

संस्कृत का यह प्रभाव सबसे पहले दंडी के 'काव्यादर्श' के तमिल अनुवाद (११ वीं शती ईस्वी ?) से परिलक्षित होने लगा। इससे पूर्व की आलोचना को विशुद्ध तमिल-आलोचना कहा जा सकता है। दंडी के अलंकारवाद के प्रभाव से तमिल-साहित्य की शैली में पर्याप्त परिवर्तन आने लगा। इस समय से पूर्व के तमिल-साहित्य की कुछ विशिष्टता थी, जिसके आधार पर उसके लक्षण भी निर्मित हुए थे।

लक्षण तथा लक्ष्य-दोनों प्रकार के साहित्य की परस्पर अनुरूपता अनिवार्य है। किसी भाषा विशेष की आलोचना का पृथक् भाव, उस भाषा के साहित्य के वैशिष्ट्य को द्योतित करता है। अन्यथा केवल भाषा-भेद से आलोचना-पद्धति में कोई अन्तर नहीं पड़ता।[2]

---

१. विस्तृत विवेचना--देखिये लेखक का शोध प्रबन्ध 'तमिल काव्यशास्त्र'।

२. जिस प्रकार किसी देश की नाट्य, संगीत, चित्र आदि कलाएँ भाषा भेद से विभाजित नहीं की जा सकतीं, जिस प्रकार विज्ञान या दर्शन के क्षेत्र में भाषाकृत सीमाएँ वैशिष्ट्योत्पादक नहीं बनतीं, उसी प्रकार किसी देश की आलोचना के आदर्श भाषा-भेद से भिन्न नहीं हो सकते, साहित्य के विषय में भी यही बात है। यद्यपि कोई भाषा-विशेष अभि-व्यक्ति में कुछ विशिष्टता लाती है; किन्तु देशव्यापी साहित्यिक आदर्शों की एकरूपता सहज सिद्ध होती है। यही कारण है कि आज का भारतीय साहित्य भारत की विभिन्न भाषाओं में अधिकांश में एकरूपता से समन्वित है; केवल भाषा-विशेष, साहित्य में अत्यल्प वैशिष्ट्य को

'तमिल-आलोचना' तमिल-साहित्य के वैशिष्ट्य का द्योतन करती है, जैसी कि संस्कृत-आलोचना संस्कृत-साहित्य के वैशिष्ट्य की। जब से तमिल-साहित्य का वैशिष्ट्य भारतीयना में विलीन हुआ तो उसकी आलोचना के मापदंड भी संस्कृत से अविशिष्ट हो गये। यह तमिल तथा संस्कृत की आलोचना का समन्वय अग्रगामी प्रगति का, नव विकास का एवं समग्रता का चिह्न है। इस समन्वय का प्रभाव उभय दिशाओं में परिलक्षित होता है, याने संस्कृत काव्यशास्त्र से जिस प्रकार तमिल आलोचना प्रभावित हुई, उसी प्रकार संस्कृत काव्य-शास्त्र ने भी तमिल काव्यसिद्धांतों को आत्मसात् कर लिया है। यह बात कुछ नवीन अनुसंधानों से प्रकाश में आई है।

यों तमिल आलोचना का विकास, ईस्वी पूर्व शताब्दियों से ग्यारहवीं शती तक एक दिशा में अग्रसर हुआ और उसके पश्चात् दूसरी दिशा में।

तमिल आलोचना का पूर्ण परिचय देने वाले ग्रंथों में पूर्वोल्लिखित 'तोलकाप्पियम्' प्रमुख है। इसके तीन भाग हैं, प्रथम और द्वितीय अध्यायों में क्रमशः तमिल की ध्वनियों तथा शब्दों का व्याकरण शास्त्रीय विवेचन किया गया है। तृतीय अध्याय काव्यशास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करता है। तमिल काव्यशास्त्रीय मुख्य सिद्धान्त को द्योतित करने वाले इस भाग का नाम 'पोरुळ्' रखा गया है। यही नाम आगे चलकर तमिल-काव्यशास्त्र के अर्थ में रूढ़ हो गया।

'पोरुळ्' का अर्थ है पदार्थ या वस्तु। काव्यवस्तु की विशिष्टता को ही काव्यशास्त्र के प्रसंग में 'पोरुळ्' कहा गया है। 'पोरुळ' शब्द के प्राचीन लक्षण ग्रंथों में जो प्रयोग हुए हैं, उनसे स्पष्ट होता है कि काव्य-स्वरूप तथा काव्य-प्रयोजन इन दोनों से 'पोरुळ' का सम्बन्ध है।

काव्य-स्वरूप के अन्तर्गत दो तत्त्व हैं–(१) भाव तत्त्व और (२) अभिव्यक्ति तत्त्व। काव्य प्रयोजन : धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इनकी प्राप्ति है।

तमिल-आलोचना के मुख्य मानदंड उपर्युक्त तीन विषय रहे हैं—(काव्य का भाव तत्त्व, उसका अभिव्यक्ति तत्त्व, और उसकी निश्रेयस साधनता) तमिल आलोचना की

ही उत्पन्न करता है, इसी प्रकार भारत की पिछली शताब्दियों की आलोचना-पद्धति सभी भाषाओं में अधिकांश में एकरूप रही, कदाचित् यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि यह भारत की आलोचना-शैली संस्कृत साहित्य शास्त्रीय आदर्शों पर ही बनी थी। ध्वनि, अलंकार, रस, गुण, वृत्ति, औचित्य आदि साहित्यिक तत्त्वों पर आधारित आलोचना भारत की सभी भाषाओं में एक रूप ही दिखाई पड़ती है। तेलुगु, कन्नड़, मराठी, हिन्दी आदि भाषाओं के साहित्य में यह परिलक्षित होता है। अतः इन विविध भाषाओं के नाम जोड़कर भारतीय साहित्य शास्त्र को या आलोचना-पद्धति को परस्पर व्यावृत्ति-युक्त करना युक्तिसंगत नहीं लगता। यह तथ्य पर्यालोचन-गम्य है कि इन भाषाओं के साहित्य-शास्त्र का, संस्कृत साहित्य-शास्त्र से भिन्न, स्वतंत्र कोई दाय नहीं है। दूसरे प्रकार से यों कहा जा सकता है कि संस्कृत साहित्य-शास्त्र वास्तव में भारत के विभिन्न प्रदेशों के दायों से स्वयं समग्र बन गया है और भारत के सभी प्रदेशों का स्वत्व बन गया है।

विशिष्टता, वास्तव में 'भाव तत्त्व' की समीक्षा पद्धति में परिलक्षित होती है।

"पोरुळ्" :—पोरुळ्-सिद्धांत का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—काव्य-वस्तु ही काव्य का मुख्य तत्त्व (अथवा काव्य की आत्मा[1]) है। काव्य-वस्तु में—(१) प्रकृति तथा (२) मनुष्य जीवन—दोनों अंतर्भूत हैं।

१. प्रकृति में निम्नलिखित तत्त्व हैं :

(अ) भौगोलिक प्रदेश—

१. समतल—खेतों एवं जलाशयों से पूर्ण,

२. पर्वत प्रांत—छोटे जंगल से शोभित,

३. अरण्य,

४. समुद तट,

५. मरु प्रदेश।

(आ) काल—(अ) छह ऋतुएँ—वसन्त, ग्रीष्म आदि

(इ) दिन के पाँच विभाग—(१) निशान्त, (२) प्रातःकाल, (३) मध्याह्न, अपराह्न, (४) दिनान्त, (५) निशा।

(ई) विभिन्न प्रदेशों की वस्तुएँ जैसे—(१) विशिष्ट वृक्ष, (२) पुष्प, (३) पक्षी, (४) पशु, (५) वाद्य विशेष, (६) राग या तान, (७) सामान्य जन, (८) उनके जीवन व्यापार आदि।

तमिल-लक्षण ग्रन्थों में उपर्युक्त तत्त्वों का विस्तार से परिगणन, वर्णन एवं विवेचन किया गया है।

२. मनुष्य जीवन के दो पहलू काव्यवस्तु के रूप में वर्णित होते हैं। एक आंतरिक पक्ष, दूसरा बाह्य पक्ष।

आंतरिक पक्ष व्यक्ति के हृदय की वह स्थिति है जिसकी अनुभूति स्वसंवेद्य है, पर संवेद्य नहीं है। बाह्यपक्ष व्यक्ति के अथवा एक वर्ग के वे व्यापार हैं जो सामाजिक जीवन के अंग बनते हैं। तमिल काव्यशास्त्र में जीवन के आंतरिक पक्ष को 'अहम्'[2] कहा गया है और बाह्य पक्ष को 'पुरम्'।

प्रेम और विरह—ये वैयक्तिक जीवन के मनोभाव हैं। इनका मात्र मनोगत अनुभव तथा इन मनोभावों के परिणाम-स्वरूप होने वाले मानव-व्यापार—दोनों वैयक्तिक जीवन के अन्तर्गत हैं। इन्हें 'अहम्' विभाग में परिगणित किया जाता है।

युद्ध, जयापजय, राज्य व्यवस्था, दान-पुण्य, आदि सामाजिक जीवन के अंगभूत व्यापार

---

१. तमिल काव्यशास्त्र में कहीं काव्यात्मा का विचार नहीं आया है : यह मेरा प्रयोग है।

२. इस शब्द को तमिल-लिपि में 'अकम्' लिखा जाता है, किन्तु उच्चारण में 'क' संघर्षी-ध्वनि-सी होकर 'अगम या 'अहम' जैसा सुनाई पड़ता है, संस्कृत के 'अहम्' शब्द से यह भिन्न है।

हैं; इन व्यापारों के प्रेरक मनोभाव हैं––क्रोध, भय, निर्वेद, जुगुप्सा आदि। इन्हें 'पुरम' के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है।

"अहम्" :––'अहम्' के तीन अंतर्भेद हैं––

(१) एकांगी प्रेम, (२) समान-प्रेम और (३) असंगत प्रेम।

इनमें से 'समान प्रेम' की पाँच रीतियाँ (अथवा दशाएँ) होती हैं, वे हैं––

१. नायक-नायिका का प्रथम सदर्शन या मिलन,
२. मिलन पूर्व का विरह,
३. मिलन के पश्चात् का अल्पकालिक वियोग,
४. दीर्घकालिक अथवा करुणपर्यवसायी वियोग,
५. प्रणय मान कृत-वियोग।

उत्तम काव्य में समान प्रेम की रीतियों का वर्णन होता है। इस प्रम के दो और रूप माने गये हैं––(१) प्रच्छन्न प्रेम और (२) प्रकाश प्रेम।

प्रेम की इन विविध रीतियों के अनेक मनोभावों तथा विविध व्यापारों का चित्रण, 'अहम्-साहित्य' में होता है और उस साहित्य का अनुशीलन, अहम-लक्षणशास्त्र के सिद्धांतों के अनुसार किया जाता है।

'पोरुळ' के दो भाग पहले उल्लिखित हुए (१) प्रकृति और (२) मनुष्य जीवन।

प्रकृति के अंतर्गत भौगोलिक प्रदेश, काल-विशेष, तथा प्रदेश विशेष के वस्तु समुदाय का, प्रेम भावना तथा प्रेम-व्यापारों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है। लक्षण-ग्रन्थों में विस्तार से यह प्रतिपादित किया गया है कि किस मनोभाव के वर्णन में कैसे प्राकृतिक परिवेश का चित्रण अपेक्षित है। इस नियम का उल्लंघन काव्यदोष माना जाता था। अतएव किन्हीं पात्रों की प्रेमदशाओं के चित्रण में प्राकृतिक परिवेश बदल-बदल कर रखे जाते हैं। जैसे––

पूर्वानुराग या प्रथम संदर्शन का क्षेत्र वन प्रदेश होता है, काल वर्षा ऋतु एवं दिनान्त होता है। हिरण खरगोश आदि मृग, ग्वाल जाति के लोग, गोचारण––क्रिया 'कोन्रै' आदि पुष्प, अरण्य का मुर्गा, 'शादारि' नामक राग; 'एरुकोर्पडै' नामक वाद्य तथा इस प्रदेश के अधिदेव कृष्ण का वर्णन इस प्रसंग में आता है।

प्रथम मिलन या संयोग का क्षेत्र-पर्वत प्रान्त है। इसका काल––शरद ऋतु तथा निशा है। मोर, तोता आदि पक्षी, हाथी आदि मृग, 'वेड्गै' नामक वृक्ष, शिकारी लोग, मधुसंचय व्यापार, 'कुरिंजि' नामक राग, "ता डक-प-रै" नामक वाद्य, तथा मुरुग (या सुब्रह्मण्य) देव का वर्णन इस प्रसंग में आता है।

इसी प्रकार प्रणय-कलह का क्षेत्र खेतों, नदियों तथा उद्यानों से पूर्ण समतल प्रदेश है––जहाँ के अधिदेव इन्द्र हैं। इसका काल सभी ऋतुएँ, निशांत और दिनारंभ है।

वियोग का क्षेत्र समुद्रतट है, काल––सभी ऋतुएँ और दिन का उत्तरार्ध है। मछुए लोग, पुन्नै नामक वृक्ष, समुद्र काक पक्षी, तिमिंगल, तथा वरुणदेव––इनका वर्णन इस प्रसंग में होता है।

करुण विप्रलम्भ का क्षेत्र मरु प्रदेश है, काल––ग्रीष्म, बसन्त या शिशिर और दिन मध्य है। 'पालै' नामक वृक्ष, 'एरु वै' नामक पक्षी, बटमार लोग, कालिकादेवी का वर्णन इस प्रसंग में होता है।

उक्त सभी दशाओं की अनेक अंतर्दशाएँ बताई गई हैं, जैसे––प्रथम-संदर्शन या मिलन के चार प्रकार :––

(१) सहज-मिलन या या दृच्छिक मिलन,
(२) अभिसरण के द्वारा प्राप्त मिलन,
(३) नायक के सखा द्वारा आयोजित मिलन,
(४) नायिका की सखी द्वारा आयोजित मिलन।

इसी प्रसंग में नायक और नायिका के कुछ भेदों––उत्तम, मध्यम, तथा अधम व्यक्तित्व के गुणों तथा व्यापारों का विवेचन किया जाता है। प्रत्येक अंतर्दशा में निष्पन्न होने वाले नायक व्यापार, नायिका-व्यापार, नायक की उक्ति, नायिका की उक्ति, सखा या सखी की उक्ति इत्यादि अन्य विवरण भी दिये गये हैं।

प्रच्छन्न प्रेम के परिणामस्वरूप, नायक और नायिका का दांपत्य-जीवन, उनके द्वारा गृहस्थ धर्म का निर्वाह, पुत्रजन्म, वारनारी या परनारी प्रसंग आदि अन्य विषय भी 'अहम्-विभाग' में अंतर्भूत हैं।

"पुरम्"—मनुष्य-जीवन का दूसरा पक्ष 'बाह्य' या 'पुरम्' कहा गया है। इस विभाग में अधिकतर युद्ध-व्यापार का वर्णन आता है। राजशासन की व्यवस्था, सामाजिक पर्व या उत्सव, किसी की मृत्यु पर शोक, समाज के विभिन्न व्यक्ति जैसे योद्धा, पंडित, व्यापारी, कवि, शिल्पकार, आदि का वर्णन, जीवन-जगत की नश्वरता का वर्णन आदि 'पुरम्-साहित्य' के विषय हैं और 'पुरम्-लक्षणशास्त्र' इनकी वर्णन-रीतियों के नियमों का प्रतिपादन करता है।

पुरम् के सात मुख्य अंतर्विभाग हैं; जैसे—

(१) गो-ग्रहण (शत्रु राज्य में जाकर गायें भगा लाना),
(२) शत्रुराज्य पर सेना का आक्रमण,
(३) आत्मरक्षा में शत्रुराजा के साथ युद्ध,
(४) आक्रमण करने वाले का नाश,
(५) शत्रुराज्य के दुर्ग का नाश,
(६) जीवन-जगत की नश्वरता पर निर्वेद
तथा (७) राजा के शासन की प्रशंसा।

इनका वर्णन पर्वत प्रदेश, अरण्य प्रदेश, समतल, समुद्र तट तथा मरुभूमि के परिवेश में किया जाता है।

इन सातों विभागों के अन्तर्गत, समाज के विविध पात्रों के अनेक व्यापारों का परिगणन, उक्तियों का विवेचन तथा वर्णन शैली के नियमों का प्रतिपादन अति विस्तार से किया गया है।

तमिल-साहित्य का वह अंश जिसे हम आदिकालिक साहित्य कह सकते हैं, जिसका उल्लेख 'संघ-कालीन-साहित्य'[1] नाम से किया जाता है, और जिसकी अवधि आधुनिक शोधकर्ताओं के अनुसार ई. पूर्व दसवीं शती से लेकर ईस्वी द्वितीय शती तक है, अहम्' और 'पुर्म्' के नाम से विभक्त है। इस सारे साहित्य का मुख्य विषय प्रेम और युद्ध ही है।

तमिल-आलोचना के अतंर्गत 'वस्तु तत्त्व' का संक्षिप्त विवेचन ऊपर किया गया। 'अभिव्यक्त तत्त्व' इस आलोचना-पद्धति का एक अंश है। इस अश में मुख्यतया निम्न विषयों का प्रतिपादन होता है—

(१) 'मेय्प्पाडु' अथवा भाव, अनुभाव, संचारी तथा स्थायी भाव,
(२) उपमा या अलंकार,
(३) काव्य गुण,
(४) काव्य विधाएँ तथा
(५) काव्य समय (या काव्योचित कुछ कवि समयों का विवेचन)।

इनका विवेचन 'तोलकाप्पियम्' में जिस रूप में हुआ है वह अधिकांश में आज भी तमिल विद्वानों के द्वारा यथावत् स्वीकार किया जाता है। संस्कृत प्रभाव के कारण इन सब में संवर्द्धन अवश्य हुआ है, परन्तु आधारभूत सिद्धांत वही प्राचीन है।

"..**य्-प्-पाड**":—'मेय्प्पाडु' (१) 'मेय्' अर्थात् शरीर में प्रकट होने वाले 'पाडु'-विकार हैं।

(२) 'मेय्' किसी विषय की वास्तविकता का या भावना का यथावस्थित रूप में प्रकट होना ही 'मेय्प्पाडु' है

'मेय्प्पाडु' के नाम से दो प्रकार के तत्त्वों का वर्गीकरण तमिल-लक्षण गंथों में पाया

---

१. ईसा पूर्व की शताब्दियों के समय में, दक्षिण भारत में राजाओं के आदर में अनेक 'कवि-संघ' स्थापित हुए थे, जिनके अनेक विद्वान सदस्य होते थे और विविध प्रकार की रचनाओं का प्रणयन तथा अनुशीलन करते थे। पांड्यराजाओं के द्वारा स्थापित तीन संघों का अत्यधिक महत्व रहा, ये तीनों काल-क्रम से एक पश्चात् एक स्थापित हुए। प्रथम संघ दक्षिण मदुरै नगर में था, दूसरा कवाट पुरम् में। ये दोनों नगर एक के पश्चात् एक जल प्लावन के कारण समुद्र ग्रस्त हो गये। तृतीय संघ वर्त्तमान मदुरै नगर में स्थापित हुआ था। प्रथम और द्वितीय संघ काल की अनेक कृतियाँ अब काल-कवलित हो गई इनके नाम मात्र अब उपलब्ध **कुछ** प्राचीन तमिल ग्रंथों से ज्ञात होते हैं। द्वितीय संघकाल की रचना 'तोलका-प्पियम्' अब उपलब्ध है। तृतीय संघ काल की अधिकांश रचनाएँ सुरक्षित रह गई हैं। कुल मिलाकर ३७ कृतियाँ संघ काल की उपलब्ध हुई हैं, जिनमें 'तोलकाप्पियम्', 'तिरुक्कुरल', 'नालडियार', 'अह-नानूरु', 'पुर-नानूरु' आदि उत्तम कोटि की रचनाएँ हैं। इनमें उस समय के जन-जीवन की, राजाओं की शासन-व्यवस्था की तथा अनेक ऐतिहासिक घटनाओं की झलक मिलती है। संघकाल की उत्तरावधि के आसपास 'शिलप्पधिकारम्' और 'मणिमेखलै' नामक दो अनुपम प्रबन्ध काव्यों की रचना हुई।

जाता है। प्रथम वर्ग में आठ भाव हैं। ये वास्तव में संस्कृत काव्य-शास्त्र के आठ स्थायी भाव ही हैं। द्वितीय वर्ग में "बत्तीस-तत्त्व" रखे गये हैं। ये वास्तव में संस्कृत-काव्यशास्त्र के संचारी-भावों से अधिकतर मिलते-जुलते हैं। अन्तर इतना ही है कि इनका विवेचन तमिल-लक्षण ग्रंथों में शुद्ध भावरूप न होकर अनुभाव लक्षण संयुत हुआ है। जैसे संस्कृत के संचारी भाव 'उद्वेग' के समकक्ष तमिल में 'बढ़ना' व्यापार आया है; यह वास्तव में मन के 'उद्वेग' के कारण किसी कार्य में या किसी की ओर 'बढ़ना' है।

'अवहित्थ' के समकक्ष 'उचित व्यवहार' आया है।

प्रथम वर्ग में परिगणित आठ भावों के प्रत्येक के चार-चार भेद प्रतिपादित हुए हैं। ये प्रत्येक भाव के उद्भव के चार-चार कारण बताये गये हैं। जैसे—

(१) हास के उद्भावक—(१) उपहास, (२) मुग्धता, (३) भोलापन, (४) मूर्खता।

(२) शोक के उद्भावक—(१) दीनता, (२) धन आदि का विनाश, (३) पद दलित होना, (४) निर्धनता।

(३) जुगुप्सा के उद्भावक—(१) वृद्धावस्था, (२) बीमारी, (३) दुःख, (४) निर्धनता।

(४) आश्चर्य के उद्भावक—(१) नवीनता, (२) बड़ा या भारी होना, (३) लघुता, (४) विलक्षण परिणाम।

(५) भय के उदभावक—(१) भूत-प्रेत, आदि (२) वन्य मृग, (३) चोर, (४) राजा।

(६) उत्साह के उद्भावक—(१) विद्या, (२) साहस कृत्य, (३) यश, (४) दान।

(७) क्रोध के उद्भावक—(१) अंग भंग होना, (२) अधीन के लोगों पर अत्याचार, (३) मार-पीट, निंदा आदि से उत्पन्न उद्वेग, (४) हत्या।

(८) उमंग (रति) के उद्भावक—(१) संपत्ति, (२) ज्ञान, (३) प्रेमी का सामीप्य, (४) क्रीड़ा।

उक्त उद्भावक कारण—वास्तव में संस्कृत–काव्यशास्त्रीय 'विभावों' के समकक्ष हैं। 'मेय्प्पाडु' के अन्तर्गत ही, नायक एवं नायिका के, विभिन्न दशाओं में होने वाले वाचिक एवं कायिक व्यापारों का निरूपण किया गया है।

तमिल-लक्षण ग्रन्थों के इस प्रकार के निरूपण का अनुशीलन करने पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

(१) तमिल में 'मेय्प्पाडु' के नाम से सभी रसांगों का—एक प्रकार का विवेचन किया गया है।

(२) तमिल–लक्षण ग्रन्थों में 'रस' का उल्लेख नहीं किया गया है, न रस निष्पत्ति का ही निरूपण हुआ है। 'मेय्प्पाडु' का प्रयोजन यही है कि 'पोरुळ्' के चित्रण में अर्थात् प्रेम, विरह, वीरता, विरक्ति आदि भावों का वर्णन करने में कवि को सुविधा प्राप्त हो,

और अगोचर भावों को प्रतीयमान करने की प्रक्रिया से कवि परिचित हो।

इस कथन से यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि श्रृंगार आदि रसों को ही तमिल-लक्षण ग्रन्थों में 'अहम्' या 'पोरुळ' कहा गया है।[1]

तमिल-लक्षण ग्रन्थों में केवल कवि-कर्म का तथा काव्य-स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया गया है। कहीं भी कवि प्रेरणा का, कवि के सौन्दर्य-बोध का विवेचन नहीं है; न इस प्रश्न को ही उठाया गया है कि काव्य का पाठकों पर क्या प्रभाव पड़ता है, काव्य वाचन से पाठकों के हृदय में कैसी प्रतिक्रिया होती है। तमिल के 'पोरुळ' तथा संस्कृत के रस विवेचन में इतना साम्य है कि दोनों काव्य-वर्णित प्रेम, वीरता आदि भावों तथा वस्तु पर अपने-अपने ढंग से आधारित हैं; किन्तु दोनों तत्त्वों की चिंतन-पद्धति, प्रतिपादन शैली तथा उद्देश्य भिन्न-भिन्न हैं।

अलंकार––तमिल-काव्यशास्त्र में अलकार के नाम से प्राचीन लक्षणकारों ने उपमा का उल्लेख किया है। उपमा के अवांतर भेदों का विवेचन किया है। 'तोलकाप्पियम्' के अनुसार इसके दो भेद हैं: (१) ध्वनितोपमा या गूढ़ोपमा (२) अन्योपमा या प्रकटोपमा।

ध्वनितोपमा संस्कृत-काव्य शास्त्र के अन्योक्ति और पर्यायोक्ति अलंकारों से मिलती है। कुतंक की वक्रोक्ति––रीतियों की छाया इसमें दिखाई पड़ती है। श्रवण, रसना, स्पर्श आदि (मन सहित) छह इन्द्रियों से गम्य होने वाली उपमा के आधार पर प्रकटोपमा के छह भेद माने गये हैं:––जैसे कोयल के समान वाणी (श्रवण गम्य)––अरुण अधर (रसना गम्य) आदि। इसी प्रकार क्रिया, फल, रूप और वर्ण कृत साम्य के आधार पर उपमा के चार और भेद किये गये हैं।

अन्य अवांतर भेदों में रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतीप आदि कुछ अन्य अर्थालंकारों की छाया दिखाई पड़ती है।

'तोलकाप्पियम्' का यह अलंकार-निरूपण लगभग ग्यारहवीं शती ईस्वी तक मान्य था, ग्यारहवीं शताब्दी में दंडी के काव्यादर्श का अनुवाद तमिल में हुआ और अलंकार-विवेचन विकास प्राप्त कर सका। काव्य गुणों में संक्षिप्त कथन, स्पष्ट कथन, मधुर कथन, सुन्दर शब्द गुम्फन, नादात्मकता, अर्थ गांभीर्य, क्रमिक कथन आदि का उल्लेख है।

इसके विपरीत पुनरुक्ति, अपूर्ण कथन, असंगत छंद आदि दोष माने गये हैं।

छंद तथा काव्यविधाओं में पद्य काव्य के अनेक भेदों का तथा उनके अंगों का विस्तृत विवेचन किया गया है। प्रसंग में ही 'लयतत्त्व' का अत्यन्त सुन्दर प्रतिपादन हुआ है। ऐसा प्रतिपादन अन्यत्र कदाचित् अप्राप्य है।

प्राचीन काव्यशास्त्रों में अभिव्यक्ति की कुछ विशेषताओं का उल्लेख, गम्योपमा तथा

---

१. इसका विस्तृत सप्रमाण निरूपण इस लेख में संभव नहीं है। विस्तृत विवेचन देखिये––इस लेखक का 'तमिल-काव्यशास्त्र'।

'इरैच्चिँ' नाम से किया गया है। इनमें संस्कृत-काव्यशास्त्रीय कुछ ध्वनि-भदों तथा लक्षण-भदों की प्रतिच्छाया स्पष्ट दर्शनीय है।

संस्कृत-काव्यशास्त्रीय कुछ शब्दालंकार—जैसे अनुप्रास, यमक, तथा श्लेष का समानान्तर विवेचन, तमिल-छंद के अंगों के रूप में किया गया है। याने शब्दालंकार छंद के अंग माने गये।

'तोलकाप्पियम्' में 'मेय्प्पाडु' के प्रकरण में यह संकेत मिलता है कि नाट्यशास्त्र के अनुसार उक्त विवेचन हुआ है और तमिल-परंपरा यह मानती है कि प्राचीन युग में 'मुत्तमिल' (या त्रि-तमिल) का निर्माण हुआ था। याने तमिल साहित्य, नाट्य और संगीत नाम के तीन क्षेत्रों में प्रयुक्त था।

पद्य-काव्य के अतिरिक्त अन्य किसी विधा का विवेचन प्राचीन-काव्यशास्त्र में नहीं मिलता।

ग्यारहवीं शती ईस्वी से तमिल-आलोचना पद्धति में जो परिवर्त्तन आये वे अधिकांश में संस्कृताचार्य दंडी की ही देन है (या प्रभाव है)। अनेक व्याख्याकारों[1] ने संस्कृत-काव्यशास्त्रीय रस तथा अन्य काव्य-तत्त्वों का विवेचन यत्र-तत्र प्रस्तुत किया है। किन्तु इनका विस्तार नहीं हुआ। यह अवश्य हुआ कि तमिल-वाङ्मय को अनेक ऐसी महत्वपूर्ण कृतियाँ उपलब्ध हुईं जो संस्कृत प्रबंध-लक्षणों से युक्त हैं तथा ध्वनि, रस, अलंकार आदि काव्य-तत्त्वों से विभूषित होकर उत्तम कोटि की रचनाओं में स्थान पाती हैं।

कम्ब कविकृत 'रामायण' तथा शेक्किलार कृत 'पेरिय पुराणम्' का उल्लेख इस प्रसंग में पर्याप्त है।

लगभग अठारहवीं शती ईस्वी तक यही दशा रही। इसके पश्चात् दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ीं। एक ओर कुवलयानन्द आदि संस्कृत लक्षण ग्रंथों के अनुवादों का तथा संस्कृत-काव्यशास्त्रीय शैली पर व्याख्याएँ लिखने का उपक्रम हुआ। दूसरी ओर गद्य की विधाओं का विकास होने लगा। गद्य की विधाओं के विकास के साथ ही पाश्चात्य ढंग की आलोचना का भी प्रवर्तन होने लगा और परिणामतः शास्त्री पद्धति की आलोचना कुंठित रह गई।

तमिल-आलोचना-पद्धति की विशिष्टता और संस्कृत-काव्यशास्त्र पर उसका प्रभाव :-

काव्य का विवेचन तीन दृष्टियों से किया जा सकता है :—

(१) काव्य-निर्माता की प्रेरणा, संस्कार अथवा सौंदर्य-बोध की दृष्टि से,

(२) काव्य में विद्यमान विभिन्न तत्व, विषय और अभिव्यक्ति-भंगी—इनकी दृष्टि से,

(३) सहृदय पाठक के हृदय में काव्य-पाठ से उत्पन्न होने वाले प्रभाव, तथा काव्य-प्रयोजन की दृष्टि से।

---

१. बारहवीं और चौदहवीं शताब्दियों की अवधि में 'तोलकाप्पियम' के पाँच भाष्य लिखे गये।

तमिल-काव्यशास्त्र द्वितीय दृष्टि पर केन्द्रित है; तमिल-लक्षणकारों का ध्यान उन नियमों के बनाने पर ही केन्द्रित था जो काव्य-रचना के लिये आवश्यक होते थे। काव्य में विषय-वस्तु का वर्णन किस प्रकार होना चाहिये, भाव और अभिव्यक्ति का सामंजस्य कैसा हो, कविता को मनोरम बनाने के लिये कौन तत्त्व आवश्यक हैं, पात्रों के मनोभावों को पाठक समझें—इसके लिये उन भावों को किस प्रकार प्रतीयमान करना चाहिये—ये ही प्रश्न थे जिनके समाधान प्राचीन तमिल-लक्षणकारों ने अपने ढंग से दिये हैं। इनके प्रतिपादित सिद्धान्तों को "पोरुळ्" नाम दिया गया था; इस 'पोरुळ्' में 'अहम्' और 'पुरम्' मुख्य थे तथा अलंकार आदि गौण।

संस्कृत के काव्यशास्त्र में भी आरंभकालीन लक्षणकारों ने—अर्थात् अभिनवगुप्त तथा आनंदवर्द्धन के पूर्वकालीन आचार्यों ने काव्य-स्वरूप अथवा काव्यगत शिल्प पर ही ध्यान दिया है—ऐसा प्रतीत होता है। भरत, भामह, दंडी, रुद्रट, उद्भट और वामन—इनके ग्रंथ इस कथन को प्रमाणित करते हैं। भरत ने छत्तीस लक्षणों[1] का निरूपण किया है; दंडी, भामह आदि ने श्रव्य-काव्य का विवेचन किया है। इन सबने (श्रव्य-काव्य में) अलंकार को, गुण को या रीति को मुख्य तत्त्व माना है, रस को नहीं।

यद्यपि भरत ने रस का प्रतिपादन किया है; किन्तु वह "नाट्य रस" है। श्रव्य-काव्य में भरत ने रस की मुख्य स्थिति मानी है—इसका प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। भरत कृत रस-विवेचन असंपूर्ण है; अतएव व्याख्याताओं ने भरत कृत रस सूत्र की विविध व्याख्या की है।

भारतीय साहित्यशास्त्र के आदिम-युग की कुछ झलक 'तोलकाप्पियम्' में प्राप्त होती है; इस समय रस-स्वरूप स्पष्ट नहीं हुआ था; 'तोलकाप्पियम्' और भरत कृत नाट्यशास्त्र के तुलनात्मक अनुशीलन से प्रकट होता है कि भरत कृत नाट्यशास्त्र की रचना (ई० पू० द्वितीय शती) से पूर्व ही कोई नाट्य-परंपरा प्रचलित थी; जिसकी कुछ झलक 'तोलकाप्पियम्' में मिलती है; साथ ही कोई काव्यशास्त्रीय परंपरा भी जो 'तोलकाप्पियम्' में विवेचित है, प्रचलित रही जो कालांतर में लुप्त हो गई; अथवा यों कहना चाहिये कि रस आदि अन्य काव्य-सिद्धांतों के विकास का आधार बनी रही और कालांतर में उसका स्वतंत्र अस्तित्व विलुप्त हो गया।[2]

संस्कृत-काव्यशास्त्र में तमिल-काव्यशास्त्र की झलक दो स्थानों पर मिली है—

(१) राजशेखर ने 'काव्य मीमांसा' में यह उल्लेख किया है :—

तत्र कवि रहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत्;
औक्तिकं उक्ति गर्भः, रीति निर्णयं सुवर्ण नामः
..................वास्तवं पुलस्त्यः..................

---

१. "काव्यबन्धास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंशतं लक्षणान्विताः"—भरत। इन लक्षणों की विस्तृत समीक्षा के लिये देखिये—डा. वी. राघवन् का ग्रंथ : 'नम्बर ऑव अलंकारास'।

२. विस्तृत विवेचन—देखिये—इस लेखक का "तमिल-काव्यशास्त्र"।

'वास्तव' नामक काव्य सिद्धांत तमिल का 'पोरुळ्-सिद्धांत' है।

(२) भोजराज ने (नवीं शती ईस्वी) 'सरस्वती-कंठाभरण' तथा 'शृंगार-प्रकाश' में रस के सम्बन्ध में जो अपना नया मत प्रतिपादित किया है उसकी अत्यन्त आश्चर्य-जनक समानता 'अह्-प्-पौरुळ' में दिखाई पड़ती है—

रसोऽभिमानोऽहंकारः शृंगार इति गीयते ।
यो र्थः तस्यान्वयात् काव्यं कमनीयत्वम् श्रुते ॥[1]

—रस नामक 'वस्तु' से समन्वित होने के कारण काव्य कमनीयता को प्राप्त करता है।

तमिल के 'अहम्' और भोजराज के 'अहंकार' में शब्द साम्य है ही, भोज की विवेचन-प्रक्रिया भी 'तोलकाप्पियम्' के 'अहम्'-विवेचन से पर्याप्त मिलती-जुलती है। 'अहंकार' का जो विशिष्टार्थ शृंगार रस के प्रसंग में भोज के द्वारा तथा 'सरस्वती-कंठाभरण' के व्याख्याता भट्टर नरसिंह के द्वारा किया गया है, वह तमिल-प्रभाव को स्पष्ट करने में अत्यन्त सहायक है।

भोज ने अपने इस 'अहंकार' नामक रस का आधार दंडी के एक श्लोक में खोजा है। दंडी का श्लोक है :—

प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद्रस पेशलम् ।
ऊर्जस्वि रूढ़ाहंकारं युक्तोत्कर्षं च तत् ॥[2]

'रूढ़ाहंकार' शब्द की जो व्याख्या भोज ने प्रस्तुत की है, वह 'अहम्' की तमिल-व्याख्याताओं के द्वारा दी गई परिभाषा का प्रतिरूप है।[3]

दंडी कांचीपुरम् के पल्लव राजाओं के दरबार में थे, दक्षिण भारत के निकट सम्पर्क ने उस समय की दाक्षिपत्य साहित्यशास्त्रीय विशिष्टताओं को दंडी की कृतियों में प्रतिबिंबित कर दिया है। यह स्पष्ट है।

तमिल-काव्यशास्त्र की परंपरा का पोषण अनेक रूपों में संस्कृत-काव्य शास्त्र के अन्तर्गत हुआ है। संस्कृत के विद्वान तथा साहित्यकार भारत के अन्यान्य भाषा-प्रदेशों में रहते हुए संस्कृत के माध्यम से कलाकृतियों का निर्माण तथा विवेचन करते रहे। अतएव संस्कृत-वाङ्मय की जलधि में विभिन्न प्रादेशिक भाषा-साहित्य की विशेषताओं के स्रोत घुल-मिल गये।

●

---

१. भोज, 'सरस्वती-कंठाभरण'—५/१
२. दंडी, 'काव्यादर्श'—११।२७५
३. इसका विस्तार देखिये इस लेखक का "तमिल-काव्यशास्त्र"।

श्री बालशौरि रेड्डी

तेलुगु आलोचना का विकास

तेलुगु में आलोचना-साहित्य का प्रादुर्भाव १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ और वह बराबर प्रगति को प्राप्त करता जा रहा है। तेलुगु के संपूर्ण समीक्षा साहित्य को हम स्थूलरूप से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—तेलुगु भाषा से संबंधित समीक्षा और दूसरा साहित्य से संबंधित। पाश्चात्य भाषाशास्त्र वेत्ताओं ने बड़ी छानबीन के उपरान्त अपनी भाषाओं के लिए जो सिद्धान्त निर्धारित किये उनका अपनी भाषाओं के साथ समन्वय कर नयी रीतियों में यहाँ के विद्वानों ने विवेचनात्मक ग्रन्थ प्रस्तुत किये। कुछ ऐसे भी ग्रन्थ रचे गये हैं जिनमें केवल तेलुगु भाषा से संबंधित समीक्षा ही नहीं, अपितु तेलुगु के साथ अन्य दाक्षिणात्य भाषाओं के संबंध पर विचार किया गया है। ये समीक्षा-ग्रन्थ भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस प्रकार तेलुगु में समीक्षा-शास्त्र ग्रन्थों के प्रणयन का सूत्रपात हुआ।

गद्य-साहित्य के विभिन्न अंग एवं उपांगों का विकास भी होने लगा था। "गद्य ब्रह्म" नाम से विख्यात श्री वीरेशलिंगम ने "विवेक वर्धिनी", "सतीहित बोधिनी" और "हास्य संजीवनी" नामक पत्रों में विमर्शनात्मक लेख लिखना प्रारंभ कर दिया। श्री वीरेशलिंगम केवल कवि, नाटककार, कहानीकार और उपन्यासकार ही नहीं थे, अपितु वे आलोचक भी थे। उन्होंने देखा कि लोग मनमाने ढंग पर रचनाएँ करते जा रहे हैं। उनका समुचित रूप से परिष्कार न किया जाए तो साहित्य के बिगड़ने की संभावना थी। अतः उन्होंने उन रचनाओं पर आलोचना रूपी अंकुश का प्रहार किया। ये तेलुगु साहित्य के "महावीरप्रसाद द्विवेदी" कहे जा सकते हैं।

इन्होंने भी द्विवेदीजी की तरह पत्र-पत्रिकाओं में अपने आलोचनात्मक लेखों द्वारा काव्य और कवियों के गुण-दोषों का निरूपण किया। साथ ही साथ आलोचनात्मक ग्रन्थ भी ,काशित किये हैं। इनका प्रथम समीक्षा ग्रन्थ "कोक्कोंड वेंकटरत्न कविकृत विग्रहतंत्र विमर्शनम्" है। इसमें साहित्यिक समीक्षा रीतियों का अभाव नहीं, परन्तु इसमें व्यक्ति-दूषण खटकता है।

तेलुगु में समीक्षा साहित्य का प्रारंभिक समय पत्र-पत्रिकाओं में विमर्शनात्मक लेख प्रकाशित करने तक सीमित रहा है। उसमें "विवेकवर्धिनी", "अमुद्रित ग्रन्थ चिन्तामणि", "कलावती", "आन्ध्रभाषा संजीवनी" आदि पत्रिकाओं में विशेष रूप से समीक्षा प्रधान निबन्ध प्रकाशित होते थे। और इनमें "रेफद्वय", "पात्रोचित भाषा" आदि विषयों पर आलोचना चलती थी। क्रमशः यह आलोचना पुस्तक रूप में होने लगी। श्री टी. एम. शेषगिरि शास्त्रीजी ने "अर्धानुस्वार" और "आन्ध्र शब्द तत्वम्" नाम से दो समीक्षा ग्रन्थ प्रकाशित किये। यह सन् १८७३ की बात है। फिर ५ वर्ष के उपरान्त श्री गोपालराव नायुडु ने तेलुगु भाषा के संबंध में बड़ी छानबीन की और इस अनुसंधान के परिणामस्वरूप "आन्ध्र भाषा चरित्र संग्रह" (तेलुगु भाषा का इतिहास संग्रह) नामक ग्रन्थ तेलुगु वाङ्मय को भेंट किया।

भाषा संबंधी आलोचनात्मक ग्रन्थों के साथ अलंकारशास्त्र संबंधी ग्रन्थों की रचना अधिक होने लगी। श्री वीरेशलिंगम पंतुलुजी ने बालकों के उपयोगार्थ "काव्य संग्रह" और "अलंकार संग्रह" नामक दो पुस्तकें लिखीं। "अलंकार संग्रह" नाम से श्री पि. रंगाचार्युलुजी ने भी एक पुस्तक लिखी है। श्री. ए. वरदाचारीजी ने "तेलुगु वचन (गद्य) रचना" नाम से गद्य साहित्य एक समीक्षात्मक ग्रन्थ उपस्थित किया। श्री एम. एच. सुब्बरायुडुजी ने "उपाध्याय बोधिनी" और "उत्कलेखन चन्द्रिका" लिखी। श्री परवस्तु रंगाचार्युलु कृत "वर्ण निर्णय" भी एक उत्तम कृति है। श्री काशीभट्ट ब्रह्मय्या शास्त्री ने भास्कर कवि पर "भास्कररोदन्तम्" नामक एक समीक्षात्मक ग्रन्थ लिखा।

प्रेस की स्थापना के उपरान्त धड़ाधड़ प्राचीन ग्रन्थ—जो अमुद्रित थे, प्रकाशित होने लगे। उस समय उन ग्रन्थों की भूमिका के रूप में उन-उन काव्यों की जो समीक्षात्मक भूमिका लिखीं गयी, वह बहुत ही महत्वपूर्ण है। ये आमुख अत्यन्त मूल्यवान व उपयोगी साबित हुए। ये आमुख ५-१० पृष्ठ की साधारण आलोचनाएँ नहीं, अपितु ५० पृष्ठों से लेकर सौ-डेढ़ सौ पृष्ठ के हैं। हिन्दी में श्री रामचन्द्र शुक्ल जी और लाला भगवानदीन ने इस प्रकार की भूमिकाएँ लिखी हैं। इसी काल में श्री वेन्नेटि रामचन्द्र रावजी ने तेलुगु साहित्य के उत्तम महाकाव्य "मनुचरित्र" और "वसुचरित्र" पर "मनु-वसु चरित्र-रचना विमर्शनम्" नामक समीक्षात्मक ग्रन्थ लिखा है।

तेलुगु भाषा और साहित्य के क्षेत्रों में खोज का कार्य बढ़ता गया। फलतः समीक्षा साहित्य का समुचित रूप में विकास होने लगा। धीरे-धीरे पाश्चात्य नवीन समीक्षा पद्धति का प्रभाव तेलुगु पर पूर्णरूप से लक्षित होने लगा। प्राचीन अलंकारिक पद्धति

पर जो समीक्षा चलती रही, क्रमशः वह लुप्तप्राय होने लगी। तेलुगु साहित्य में नूतन पाश्चात्य समीक्षा पद्धति पर प्रथम ग्रन्थ प्रस्तुत करने वाले श्री कट्टमंची रामलिंगा रेड्डी जी थे। इन्होंने महाकवि पिंगलि सूरन्ना की कविता-शक्ति का निरूपण करने के अभिप्राय से "कवित्वतत्व विचारम्" नामक एक सुन्दर समीक्षात्मक ग्रन्थ प्रस्तुत किया। यह अपने ढंग का अद्वितीय है। इसमें समीक्षा संबंधी कई नये सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ ने तेलुगु साहित्य में तहलका मचा दिया। नये आलोचकों को प्रोत्साहन एवं मार्गदर्शन प्राप्त हुआ। फिर क्या था? श्री वंगूरि सुब्बाराव जी ने तेलुगु साहित्य का अच्छी तरह से अनुसंधान करके "आन्ध्र वाङ्मय चरित्र" (तेलुगु साहित्य का इतिहास) लिखा। इससे वे संतुष्ट नहीं रहे, अन्वेषण का कार्य चलता रहा। फलस्वरूप तेलुगु साहित्य को "शतक कवुल चरित्र", "वेमना" आदि अनेक विमर्शनात्मक ग्रन्थ प्रदान किये। इनके उपरान्त तेलुग साहित्य का इतिहास कई लोगों ने अपने ढंग से खोज करके प्रस्तुत किया है। उनमें श्री के. वेंकटनारायण का "आन्ध्र वाङ्मय चरित्र संग्रहम्", श्री काशीनाथुनि नागेश्वरराव पंतुलु कृत "आन्ध्र वाङ्मय चरित्र" उल्लेखनीय है। श्री खंडवल्लि लक्ष्मीरंजनम् जी ने भी तेलुगु साहित्य का संक्षिप्त इतिहास "आन्ध्र साहित्य चरित्र संग्रहम्" नाम से दो भागों में प्रस्तुत किया है।

तेलुगु साहित्य अत्यन्त विस्तृत है। उसका संपूर्ण साहित्य एक ही ग्रन्थ में प्रस्तुत करना कठिन था। अलावा इससे कुछ आलोचकों ने इस क्षेत्र में गहरी छानबीन करके दो-तीन ग्रन्थ (साहित्य का इतिहास) प्रस्तुत किये थे। अतः बाद के आलोचकों ने तेलुगु वाङ्मय के एकाध युग को अथवा गद्य या पद्य संबंधी किसी एक शाखा को लक्ष्य में रखकर खोज की और उससे संबंधित समीक्षा ग्रन्थ तैयार किये। ऐसे लोगों में श्री टेकुमल्ल अच्युतराव प्रथम हैं। इन्होंने केवल तेलुगु साहित्य का स्वर्ण-युग कहे जाने वाले विजयनगर साम्राज्य के समय के साहित्य पर शोध कार्य किया। और "विजयनगर साम्राज्य मंदलि आन्ध्र वाङ्मय चरित्र" नाम से एक उत्तम विमर्शनात्मक ग्रन्थ प्रस्तुत किया। श्री गोठबूरि वेंकटानंद राघवराव जी ने तेलुगु के गद्य साहित्य की खोज की और "आन्ध्र गद्य वाङ्मय चरित्र" नामक समीक्षा ग्रन्थ लिखा। श्री भोगराजु नारायण मूर्ति ने भी तेलुगु कविता की छानबीन करके उस पर "आन्ध्र कवित्व चरित्र" नामक एक आलोचनात्मक ग्रन्थ तैयार किया है।

मद्रास विश्वविद्यालय की तरफ से श्री निडदवोलु वेंकटराव ने अनुसंधान का अच्छा कार्य किया है। इनके अनुसंधान के फलस्वरूप अब तक "तेलुगु कवुल चरित्र" (तेलुगु कवियों का इतिहास), "आन्ध्र वचन (गद्य) वाङ्मय" और "दक्षिणत्यान्ध्र साहित्य चरित्र" उल्लेखनीय हैं। उन्होंने तेलुगु की प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिका "भारती" में शैव वाङ्मय तथा अन्य विषयों पर जो समीक्षात्मक लेख प्रकाशित किये, वे अधिक स्थायी मूल्य रखते हैं।

इस समय तेलुगु के समीक्षा-साहित्य को समृद्ध करने में अनेक अनुसंधान-कर्त्ता लगे हुए हैं। श्री चार्गंटि शेषय्याजी तेलुगु वाङ्मय के समस्त कवियों का समग्र परिचय एक बृहत् समीक्षा ग्रन्थ प्रकाशित कर रहे हैं। उसका नाम है "आंध्र कवितरंगनि।" इसके अब तक ४–५

भाग प्रकाशित हो चुके हैं। दस भागों में प्रकाशित करने की योजना है। इनमें कवियों का व्यापक परिचय ही नहीं दिया जाएगा अपितु उसके साथ उस समय की सामाजिक, राजनैतिक आदि परिस्थितियों का भी परिचय दिया जाएगा, जो साहित्य के इतिहास का ही काम देने वाला सिद्ध होगा।

तेलुगु के कवियों की जीवनियाँ व परिचय अनेक लोगों ने प्रकाशित किया है। श्री वीरेशलिंगमजी ने "तेलूगु कवुल चरित्र" नाम से तेलुगु कवियों का पूर्ण परिचय (इतिहास) तीन भागों में प्रकाशित किया है। यह अपने ढंग का अनूठा ग्रन्थ है। इससे अनेक लोगों को मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है। जहाँ कवि और लेखकों ने कवियों की जीवनियाँ प्रकाशित कीं वहाँ कवयित्री व लेखिकाएँ भी चुप नहीं रहीं। श्रीमती ऊटुकूरि लक्ष्मीकान्त अम्माजी ने "आन्ध्र कवयिलु" (आन्ध्र कवियित्रियाँ) नामक समीक्षा ग्रन्थ लिखा जिसे "तेलुगु भाषा समिति" का पुरस्कार भी प्राप्त हुआ है।

डाक्टर नेलटूरि वेंकटरमणय्या ने मधुरा और तंजाऊर के नायक राजाओं के समय के आन्ध्र वाङ्मय की समीक्षा करते हुए उस युग की समस्त साहित्यिक प्रवृत्तियों पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला और "दक्षिणान्ध्र वाङ्मय चरित्र" नामक एक सुन्दर समीक्षा ग्रन्थ प्रस्तुत किया। यह ग्रन्थ आन्ध्र वाङ्मय के केवल एक युग पर प्रकाश डालने वाला मात्र है। विजयनगर साम्राज्य के समय में तेलुगु साहित्य ने बड़ी उन्नति की। इसके बाद तंजाऊर और मधुरा के राजाओं के दरबारों में तेलुगु साहित्य ने अच्छा विकास प्राप्त किया था। श्री वेंकटरमणय्या ने इस युग के साहित्य की बड़ी छानबीन की और अनेक अज्ञात ग्रन्थों एवं कवियों का परिचय आन्ध्र जगत् को कराया है।

स्वर्गीय सुरवरम प्रताप रेड्डीजी ने आन्ध्रवासियों के सामाजिक जीवन का अच्छा अध्ययन किया और प्राचीन समय से आज तक के आन्ध्र जीवन का परिचय देने वाला एक बृहत ग्रन्थ "आन्ध्रुल सांधिक चरित्र" (आन्ध्रवासियों का सामाजिक इतिहास) प्रस्तुत किया।

आज तो गद्य व पद्य के प्राय: समस्त प्रकार के अंग और उपांगों का बड़ी तेजी के साथ विकास होता जा रहा है। वाङ्मय की प्रत्येक शाखा व उपशाखा की बड़ी सूक्ष्मता के साथ खोज की जा रही है। उस शाखा से संबंधित सभी विवरणों का विस्तृत रूप से परिचय भी दिया जा रहा है। मानव अधिक जिज्ञासु होकर वस्तु की जड़ तक पहुँचने और उसके रहस्यों के उद्घाटन करने में प्रवृत्त है। इससे अनेक नये विषयों का पता लग रहा है। और मानव का मस्तिष्क भी विकसित होता जा रहा है। आज तक जो अनादृत वाङ्मय माना जाता था, वह भी आज साहित्य के अन्तर्गत माना जा रहा है। उदाहरण के लिए लोक-साहित्य की ही बात लीजिये। इसकी बड़ी छानबीन इस समय हो रही है। इस साहित्यिक शाखा के उद्धार में और इसकी सम्यक् रूप से समीक्षा करके विस्तृत रूप से समाज को परिचित कराने के हेतु कई विद्वान लगे हुए हैं। श्री हरि आदि शेषुवुजी ने इस शाखा की खोज करके "जानपदगेय विमर्शं" (लोक गीतों की समीक्षा) नाम से एक उत्तम आलोचनात्मक ग्रन्थ तैयार किया है। लेखक के अनुसन्धान कार्य की प्रशस्ति सर्वत्र हुई। तेलुगु भाषा समिति ने पुरस्कार द्वारा

लेखक को गौरवान्वित भी किया है। श्री मट्नूरि संगमेशमजी ने भी "तेलुगु साहित्य में हास्यरस" नामक एक विमर्शनात्मक ग्रन्थ लिखा, इस ग्रन्थ को भी तेलुगु भाषा समिति का पुरस्कार प्राप्त हुआ है।

समीक्षा साहित्य को इस समय तेलुगु भाषा समिति द्वारा खूब प्रोत्साहन प्राप्त हो रहा है। सन् १९५५ में तेलुगु भाषा समिति द्वारा "दक्षिणत्यल नाट्यकला चरित्र" (दाक्षिणात्य की नृत्यकला का इतिहास) जिसे श्री नटराज रामकृष्ण ने तैयार किया था, पुरस्कार मिला। इसके अलावा "कवित्रय", श्रीवात्सव कृत "उषः किरणलु" आदि अनेक समीक्षा ग्रन्थों को तेलुगु भाषा समिति ने पुरस्कृत किया है।

तेलुगु साहित्य के अनुसंधान-कर्ताओं में श्री वेटूरि प्रभाकर शास्त्री, श्री कोमर्राजु लक्ष्मणराव पंतुलु, श्रीमल्लादि रामकृष्ण शास्त्री, श्री राल्लपालि अनंतकृष्ण शर्मा, श्री नेलूटूरि वेंकटरमणय्या, श्री पिंगाली लक्ष्मीकान्तम् विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन लोगों ने अनेक आलोचनात्मक लेख लिखे हैं जो बाद को पुस्तकाकार में प्रकाशित हुए हैं। उनके द्वारा तेलुगु वाङ्मय व इतिहास का अच्छा परिचय मिलता है। इन लेखकों के अलावा श्री प्रभाकर शास्त्री ने कवि-सार्वभौम श्रीनाथ रचित श्रृंगार नैषध पर "श्रृंगार श्रीनायम्" नाम से एक श्रेष्ठ समीक्षा ग्रन्थ लिखा है। वैसे ही श्री अनंतकृष्ण शर्माजी का "वेमना" भी उत्तम कोटि का समीक्षा ग्रन्थ है। इन्होंने नाटक साहित्य पर जो भाषण दिये वे भी समीक्षा साहित्य में स्थायी मूल्य रखते हैं।

उपर्युक्त समीक्षा ग्रन्थों के अतिरिक्त समय-समय पर कुछ विद्वानों ने प्राचीन समय के काव्यों की समीक्षा करते हुए बड़ी-बड़ी पुस्तकें ही लिख डाली हैं। उनमें वस्तु, रस, अलंकार आदि काव्य-तत्त्वों का विमर्शन हुआ। इस प्रकार के ग्रन्थों में श्री वज्झल सीतारामस्वामी शास्त्री कृत "वसुचरित्र विमर्शनम्," श्री भूपति लक्ष्मीनारायण रचित "भारतम-तिक्कन-रचना," श्री वेमूरि वेंकटरामनाथम कृत "सौंदर्य-समीक्षा," श्री कोराड रामकृष्णय्या प्रणीत "आन्ध्र भारत कविता विमर्शनम्," श्री गडियारम वेंकटशास्त्री कृत "श्रीनाथुनि कविता साम्राज्यमु" इत्यादि ग्रन्थ तेलुगु समीक्षा साहित्य के उत्तम ग्रन्थरत्न हैं।

तेलुगु साहित्य पर ही नहीं, तेलुगु भाषा पर भी समीक्षा-ग्रन्थ समय-समय पर रचे गये। देशी विद्वानों के साथ विदेशी पंडितों ने भी इस कार्य में हाथ बँटाया। विशप काल्डवेल ने "द्रविड़ भाषा-व्याकरण" लिखकर तुलनात्मक अध्ययन का श्रीगणेश किया। यह ग्रन्थ अपने क्षेत्र में अकेला है। श्री कोराड़ रामकृष्णय्याजी ने "भाषोत्पत्तिक्रमम्—भाषा चारित्रम्" नामक आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखा। "संधि" नामक इनका एक दूसरा ग्रन्थ भी इसी कोटि का है। डाक्टर चिलकूरि नारायणरावजी ने "आन्ध्र भाषा चरित्र" नाम से एक वृहत समीक्षा ग्रन्थ लिखा। इसमें आपने "तेलुगु भाषा" को आर्य भाषा परिवार की भाषा सिद्ध किया। इस पर वाद-विवाद एवं चर्चाएँ बहुत चलीं। इस ग्रन्थ के उत्तर के रूप में श्री गांठि सोमयाजी ने "आन्ध्र भाषा विकासम्" और "द्राविड़ भाषालु" (द्रविड़ भाषाएँ) नामक दो विमर्शनात्मक ग्रन्थ राजाओं की सृष्टि की। आपने तेलुगु को द्राविड़ भाषा-परिवार का करार दिया। इस

विषय को लेकर आज भी चर्चा चल रही है।

अब समीक्षकों की दृष्टि आधुनिक युग पर जाकर केन्दित हुई। तेलुगु का आधुनिक साहित्य बड़ी तेजी के साथ आगे बढ़ रहा है। इस युग में गद्य साहित्य की अनेक शाखाएँ निकलीं। कविता में भी नयी रीतियाँ चलीं। श्रीकुरुगंटि सीतारामय्या और श्री पिल्लमर्रि हनुमंतरावजी ने "नव्ययांध्र साहित्य वीयुलु" (आधुनिक तेलुगु साहित्य की रीतियाँ), श्री देवलपल्लि रामानुजरावजी ने "नव्य कविता नीरांजनम्," श्री उमाकांतम कवि ने "नेटिकालपु कवित्वम्" (आज की कविता), श्रीजयंति रामय्या पंतुलजी ने "आधुनिक आन्ध्र विकास वैखरि", श्री जोन्नल गड्डु सत्यनारायण मूर्ति ने "साहित्य तत्व विमर्श," श्री जि. वि. कृष्णरावजी ने "काव्य जगत्तु," श्रीबसवराजु अप्पारावजी ने "आन्ध्र कवित्व चरित्र" नाम से आधुनिक कविता पर श्रेष्ठ समीक्षा-ग्रन्थ प्रस्तुत किया है।

गद्य साहित्य की शाखाओं पर भी आलोचनात्मक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। श्री मोहम्मद कासिमखाँ ने "कथानिका रचना" (कहानी की रचना) लिखी। श्री गोर्रपाटि वेंकट सुब्बय्या ने कहानीकारों पर सुन्दर समीक्षात्मक ग्रन्थ "अक्षराभिषेकम्" नाम से तैयार किया है। श्री शोंठि कृष्णमूर्ति ने "कथलु व्रायडमेला ?" (कहानी कैसे लिखी जाए ?) नाम से कहानी पर आलोचनात्मक पुस्तक लिखी। श्री पुराणम सूरि शास्त्रीजी ने "नाट्योत्पलम्," "रूपक रसालमु" और "विमर्शक पारिजातम्" नाम से नाटक तथा अन्य विषयों पर समीक्षा-ग्रन्थ तैयार किया। श्री जम्मलमडक माधवराय शर्मा ने अनेक रीति-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का प्रणयन किया है।

इस प्रकार तेलुगु में समीक्षा साहित्य उन्नति को प्राप्त करता जा रहा है। कहानी, उपन्यास, नाटक इत्यादि सभी विषयों पर समीक्षात्मक लेख व ग्रन्थ प्रकाशित होते जा रहे हैं। तेलुगु की प्रसिद्ध साहित्यिक मासिक पत्रिका "भारती" में अच्छे आलोचनात्मक लेख प्रकाशित हो रहे हैं। उन लेखों को समीक्षा साहित्य की निधि कहें तो अत्युक्ति न होगी। भारती के अलावा "किन्नेर," "स्वतंत्र" 'सुजाता', 'कृष्णांपत्रिका' आदि पत्रों में भी अच्छे लेख आ रहे हैं। श्री मल्लमपल्लि सोमशेखर शर्माजी ने इतिहास सम्बन्धी अच्छी खोज की और अनेक ग्रन्थ भी लिखे हैं। श्री पुट्टपर्ती श्रीनिवासाचार्युलु, श्री चिल्लुकूरि वीरभद्रराव, श्री राल्लपल्लि अनंतकृष्ण शर्मा, श्री निडदवोलु वेंकटराव, श्री बुलुसु वेंकटरामय्या, श्री कोराड रामकृष्णय्या, श्री तिम्मावज्झुल कोदंडरामय्या, श्री गंटिजोगि सोमयाजी, डा. सी. नारायण रेड्डी, डा. जि. वि. कृष्णराव, डा. बी. रामराजु, डा. दिवाकर्ल वेंकटराव धानी, डा. भूपति लक्ष्मीनारायण आदि अनेक गण्यमान्य विद्वान इस क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं। विश्वविद्यालयों में तथा अन्य संस्थाओं में ही नहीं, व्यक्तिगत रूप से भी अनेक लोग इस शोध-कार्य में लगे हुए हैं। इस समय होने वाले कार्य को देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि तेलुगु का समीक्षा-साहित्य उज्ज्वल है और वह किसी अन्य भारतीय भाषाओं के समीक्षा-साहित्य से पिछड़ा नहीं है।

●

डा० भीमसेम 'निर्मल'

तेलुगु आलोचना की प्रवृत्तियाँ

संस्कृत साहित्य में अलंकारशास्त्र अथवा साहित्यशास्त्र ने अपनी चरम सीमा को प्राप्त किया था। भरत मुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक इस शास्त्र ने अनुपम प्रगति की थी। दृश्यकाव्य की विवेचना को लेकर उद्भूत आलोचना की इस परम्परा में आनन्दवर्द्धन आदि आचार्यों ने श्रव्यकाव्य को निबद्ध किया है। संस्कृत का प्रत्येक लक्षणकार मानों एक महान् वैज्ञानिक है जिसने काव्य के किसी एक परम रहस्य का उद्घाटन किया और उसका तर्कबद्ध एवं सैद्धान्तिक निरूपण किया है। कवि, काव्य, काव्य-हेतु, काव्यात्मा, शब्द और अर्थ, अलंकार, दोष आदि की समग्र चर्चा इन प्रतिभावानों द्वारा हुई है। किन्तु पंडितराज जगन्नाथ के बाद इस शास्त्र में पिष्टपेषण ही अधिक मात्रा में हुआ है। उत्तरकालीन विवेचना अथवा चर्चा से अलंकारों या दोषों की संख्या की ही वृद्धि हुई है किन्तु काव्यशास्त्रीय कोई नई उद्भावना नहीं हुई है। अन्य प्रादेशिक भाषाओं में संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों के अनुवाद और उन उन सिद्धान्तों पर आधारित ग्रन्थों की रचना ही हुई है। इस विषय पर किसी मौलिक ग्रन्थ की रचना शायद ही हुई हो।

आन्ध्र भाषा तथा साहित्य रचना पर संस्कृत भाषा तथा साहित्य का प्रभाव स्पष्ट है। यहाँ तो संस्कृत को समस्त भाषाओं की जननी माना गया है। यह ध्यान देने की बात है कि तेलुगु भाषा का प्रथम व्याकरण 'आन्ध्र शब्द चिन्तामणि'—जिसकी रचना आन्ध्र के आदि कवि नन्नय ने ११ वीं शती में की थी— संस्कृत में लिखा गया है।[1] साहित्य

१. विद्वान् श्री गंटि जोगि सोमयाजी का कथन है कि नन्नय के बाद आन्ध्र के

शास्त्र में जितने ग्रन्थ रचे गए हैं, वे सबके सब संस्कृत साहित्यशास्त्र के पिष्टपेषण मात्र हैं। विन्नकोट पेद्दना (१५ वीं शती) का काव्यालंकार चूडामणि, वेल्लंकि तातंभट्टु (१५ वीं शती) का कविलोक चिन्तामणि, मुद्दराजु वमय्य (१६ वीं) का कविजन संजीवनी, काकुनूरि (१७ वीं) का अप्पकवीयमु, गणपवरपु वेंकट कवि (१७ वीं) का सर्वलक्षणसार संग्रहमु, इसी नाम से रचित कूचिमंचि तिम्मकवि (१८ वीं) का ग्रन्थ, कस्तूरि रंगकवि (१८ वीं) का आनन्दरंगराट् छन्दमु आदि प्रमुख है।[1] इन सभी ग्रन्थों में काव्य के हेतु, काव्य लक्षण, शब्द शक्तियाँ, रस, अलंकार, गुण, रीति, दोष का विवेचन संस्कृत की प्रणाली पर ही हुआ है। इन ग्रन्थों की तुलना हिन्दी के रीति ग्रन्थों से की जा सकती है। यहाँ भी परिभाषा और उदाहरण की वही परम्परा है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में आलोचना काव्य की आत्मा को प्रधान मानकर हुई है। स्पष्ट है कि काव्य के सभी अंग काव्य की आत्मा की ओर उन्मुख हों तथा उसकी सिद्धि में सहायक हों। अर्थात् काव्य का रस और उसकी निष्पत्ति इन्हीं को प्रधान मानकर आलोचना होती थी। किसी विशेष रचना अथवा किसी विशेष कवि को लेकर आलोचना करने की प्रथा नहीं थी। काव्यशास्त्र के ग्रन्थ तो नितान्त सैद्धान्तिक (Theoretical) हैं और टीका ग्रन्थ तो उन सिद्धान्तों की कसौटी पर कवि कर्म के गुण-दोष का दिग्दर्शन कराने वाले मात्र। इस प्रकार की आलोचना में इन बातों का विवेचन नहीं मिलेगा कि कवि पर किन-किन परि-स्थितियों का प्रभाव रहा, पाठक या सहृदय पर उक्त काव्य का क्या प्रभाव पड़ा आदि। इस आलोचना-प्रणाली में समाज की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। किन्तु पाश्चात्य आलोचना शैली में कवि तथा समाज का विशेष ध्यान रखा गया। भारतीय भाषाओं की आधुनिक आलोचना प्रणाली पर पाश्चात्य आलोचना का उल्लेखनीय प्रभाव है। भारतीय आलो-चना शैली के साथ पाश्चात्य आलोचना शैली का समन्वय अत्यन्त श्लाघनीय रहा है। इसके फलस्वरूप काव्य, काव्यनिर्माण, काव्य का इतिवृत्त आदि विषयों का पृथक-पृथक् मूल्यांकन न होकर, काव्य को कवि के विचारों का फल तथा भावना को मूलतत्त्व मानकर आलोचना करने की प्रथा चल पड़ी है।

आधुनिक आन्ध्र साहित्य की अन्य विधाओं के समान ही, श्री कन्दुकूरि वीरेशलिंगम पन्तुलु ने ही आलोचना का श्रीगणेश किया है। उनका लिखा 'कवि जीवितमुलु' (तीन खंडों में) आज भी शोधार्थियों के लिए मानो कल्पवृक्ष है। किन्तु वह ग्रन्थ कवियों की सूची मात्र है। उसमें कवियों की जीवनियाँ, उनके समय का निर्धारण, उनकी रचनाओं का पूर्व पर

कवियों, आलोचकों तथा शास्त्रज्ञों का काम, संस्कृत भाषा की निधि से रत्नों को ला-लाकर, तेलुगु भाषा को समलंकृत करना ही रहा है।

१. 'आन्ध्रप्रतापरुद्र यशोभूषणमु' की भूमिका में श्री ईयण्णि वेंकट वीर राघवाचार्य ने आन्ध्र भाषा में रचित ५५ लक्षण ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त व्याख्या ग्रन्थ और अनुवादों की संख्या अलग है।

सम्बन्ध, रचना वैशिष्ट्य के कुछ उद्धरण मात्र दिए गए हैं। श्री गुरुजाडा, श्री राममूर्ति जी ने भी इस प्रकार के एक ग्रन्थ की रचना की है। श्री वेटूरि प्रभाकर शास्त्री जी ने प्राचीन संस्कृत समालोचना के अनुरूप ही स्वसम्पादित ग्रन्थों की आलोचना की है। उनकी आलोचना उन ग्रन्थों की भूमिकाओं के रूप में उपलब्ध है जिनमें कवि के जन्मस्थान तथा जन्म तिथि की चर्चा के साथ भाषा की शुद्धता पर प्रधान रूप से तथा अन्य काव्य-लक्षणों की भी विवेचना की गई है। काव्यगत सौंदर्य की आस्वादन की ओर दृष्टि को आकृष्ट करने वाले तथा आधुनिक आलोचना के मूलपुरुष श्री कट्टमंचि रामलिंगा रेड्डी हैं। लन्दन विश्वविद्यालय से डाक्टरेट की उपाधि ग्रहण कर आपने आन्ध्र विश्वविद्यालय के उपकुलपति पद को सुशोभित किया था तथा तेलुगु की आलोचना शैली को नवीन रूप प्रदान किया था। आपकी सुप्रसिद्ध पुस्तक है 'कवित्व तत्त्व विचारमु'। यह मानों आधुनिक आलोचना का प्रामाणिक ग्रन्थ है। इस पुस्तक ने आन्ध्र के आलोचना क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न करदी थी। इसकी कटु आलोचना भी हुई है। किन्तु रेड्डी जी अपनी स्पष्टवादिता तथा पैनी दृष्टि के लिए अनुकरणीय ही रहे।

"विषयप्रधान रचना गद्य है, रसप्रधान रचना पद्य। काव्य में वर्णनों की अपेक्षा मुख्य विषय काव्य के अंगों का समन्वय है। इसलिए आलोचना करते समय इतिवृत्त, चरित्र, प्रकृति, वर्णन आदि परस्पर सुसम्बद्ध हो, बिना किसी विरोध के एकाकार में हैं या नहीं, इसे प्रधान मानना चाहिए। शास्त्र का उद्देश्य वस्तु की वास्तविक-स्थिति का निर्धारण करना है। कला का उद्देश्य यह नहीं है। कलाओं का प्रधान अर्थ रस है। रस भाव से सम्बद्ध है। भावों को दृष्टि में रखकर की गई पद्धति ही कला में प्रशंसनीय पद्धति है। कविता की भव्यता के लिए भाव और भाषा का समन्वय चाहिए", उपरोक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि रेड्डी जी ने प्राचीन काव्यशास्त्र की परम्परा के अनुकूल ही काव्य को रसास्वादन के दृष्टिकोण से ही देखा है। उनका निश्चत मत है कि अलंकार, वर्णन आदि यदि काव्य की आत्मा के भंजक हैं तो वे त्याज्य हैं और उनसे मुक्त काव्य श्रेष्ठ नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त कथा में उत्कंठा (Suspense) तथा सजीव पात्र-चित्रण आदि को दृष्टि में रखकर आलोचना करने की पद्धति का रेड्डी जी ने प्रचलन किया है।

श्री राल्लपल्लि अनन्तकृष्ण शर्मा रेड्डी जी के मार्ग पर ही चले। साहित्यिक आलोचना में संकोच आदि को तज कर शिष्ट अभिरुचि को स्थान देना, आलोचना की शैली में काव्यत्व को लाना, तथा आलोचना को भी एक कला के रूप में देखना, ये शर्माजी की विशिष्टताएँ हैं।

शर्माजी ने रस और चमत्कार के भेद की सुन्दर व्याख्या की है। उनके ही वाक्य लीजिए : "काव्य का जीवन रस है। आज के कई पंडित रस और चमत्कार में कोई भेद नहीं मानते। काव्य में मन को आनन्द प्राप्त हो तो उसका कारण रस ही मानकर, वाह, कितना रसवन्त काव्य है, कहने की प्रथा है।""पांडित्य और उपज्ञा जहाँ हों वहाँ रस है, ऐसा मान कर कल्पनाप्रधान कविता का सहारा ले, प्रत्येक कवि एक 'सरस प्रबन्ध' लिखने की डींग हाँक रहा है। हमारे साहित्य में उस लोकोत्तर शब्द 'रस' की जो दुरवस्था है, वह और किसी

की नहीं है। रस का अर्थ, मेरे विचार से, हमारे लाक्षणिकों के निर्धारित शृंगार आदि नव भेदों में ही निबद्ध हो 'अलौकिक चर्वण का विषय,' 'अनिर्वचनीय' ऐसा नहीं है। मेरा विचार है कि तर्कशास्त्र का अधिक सहारा लेने वाले हमारे लाक्षणिकों ने वाद-विवाद बढ़ाकर किसी के लिखे रस-लक्षण की स्थापना करने का प्रयत्न कर, इस शब्द के अर्थ को संकुचित किया है।....कोई भी भाव हो, आत्यंतिक दशा में अविदित वेद्यान्तर रूप से हम अनुभव कर सकें, तो वह आनन्द स्वरूप बन, रस शब्द का अधिकारी हो सकता है, अर्थात् शिल्प में। हम में ऐसे भी लोग हैं जो जुगुप्सा, भक्ति और वात्सल्य को भी रस मानते हैं। तर्कशास्त्र अपने तर्कों से मुँह बन्द कर सके तो बन्द करे किन्तु हृदय को दबा नहीं सकता। इसलिए कवि अपनी भावना के बल से स्वानुभूत शोक, मोह, असूया, द्वेष, आनन्द, प्रणय आदि भाव कहलाने वाले चित्तविकारों के द्वारा वर्ण्य पदार्थों के स्वरूप का निर्णय कर, उनकी मूर्ति को सरल भाषा में हमारी आँखों के सामने खड़ा कर दे तब रसानुभव-संस्कार से युक्त सहृदयों में उसी प्रकार के मनोविकार उत्पन्न हो, शिल्पगत एक अनिर्वचनीय महत्त्व से आनन्द के रूप में परिणत होते हैं। मैं इसी अर्थ में यहाँ 'रस' शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ। वह इतने ही प्रकार का है, ऐसा निश्चित रूप से बताया नहीं जा सकता। कविता के लिए साधारणतया वह प्राण है। कवि उसे जिस रूप में निबद्ध कर सकेगा, वह उसी रूप में गौरव प्राप्त करेगा। अन्य गुण, अलंकार, रीति, पाक आदि शब्द-अर्थ के सभी धर्म उस भाव-धर्म के उपस्कारक होते हैं किन्तु उनका स्थान गौण है। इनका ठीक तौर से निर्वाह हो तो एक आनन्द उत्पन्न होता है। किन्तु वे रस की बराबरी नही कर सकते। इनके एकाध दोषों की रसिक जन उपेक्षा कर सकते हैं, किन्तु मूलधर्म–रस, की निष्पत्ति में बाधा की कभी नहीं।"

आगे चलकर कविता की परिभाषा करते हुए श्री शर्माजी लिखते हैं : "साधारणतया किसी वस्तु के बारे में अपने भावों को भाषा के द्वारा दूसरों के मन तक पहुँचाना ही कविता है।" ज्ञान, विचार और भाव इन तीनों में से भाव को शर्माजी ने प्रधान माना है। भाव के अभाव में, उस अभाव को छिपाने के लिए कवियों द्वारा किए जाने वाले जिमनास्टिक्स का शर्माजी ने खंडन किया है। उनका निश्चित मत है कि कवि के काव्य की आलोचना करते समय आलोचक को 'अहं' का सर्वथा त्याग करना चाहिए।[1]

इन दोनों महानुभावों के सिद्धान्तों का सारांश यही है कि सजीव चरित्र-चित्रण, प्रसंगानुकूल भाषा, मानसिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण आदि ही कविता की श्रेष्ठता की कसौटियाँ हैं। आलोचक जब अपनी अनुभूति को सार्वजनीन संस्कार से युक्त करेगा तभी वह श्रेष्ठ आलोचक होगा। श्री रेड्डी और श्री शर्मा किसी राजनैतिक सिद्धान्त के अनुयायी न थे। उन पर

---

१. आन्ध्र के प्राचीन परम्परावादी विद्वान् 'वेमना' को कवि नहीं मानते हैं। वेमना हिन्दी के कबीरदास के समान सन्त कवि थे। श्री शर्मा जी ने आन्ध्र विश्वविद्यालय में दिए अपने तीन भाषणों में, वेमना की रचनाओं के महत्त्व तथा श्रेष्ठता को निरूपित किया है। वेमना को श्रेष्ठ कवियों की पंक्ति में बैठाने वाले प्रथम आलोचक हैं श्री शर्माजी।

मैथ्यू आरनाल्ड तथा रिचर्ड्स का प्रभाव है। किन्तु इन प्रतिभाशाली मनीषियों ने उस प्रभाव को आत्मसात् कर, भारतीय वातावरण के अनुकूल अपने आलोचना-सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

साम्यवादी आलोचक एक विशिष्ट राजनैतिक सिद्धान्त को, जो हर नजर से अभारतीय है, आधार बनाकर आलोचना करने बैठे हैं। इस राजनैतिक सिद्धान्त का सम्बन्ध हमारे समाज तथा संस्कृति के विकास के साथ कतई नहीं है। इस कसौटी पर हमारे देश के प्राचीन कवियों की रचनाओं का मूल्यांकन करने का प्रयास, नितान्त हास्यास्पद है। वर्ग-कलह, आर्थिक लाभ, उत्पत्ति के साधन आदि उस सिद्धान्त के मूलभूत अंग हैं। यह ठीक है कि मानव जीवन में 'अर्थ' का विशिष्ट स्थान है किन्तु वही तो सब कुछ नहीं है। पंचकोशमय मानव को केवल पहली सीढ़ी पर ही रोककर उसे 'आर्थिक मृग' बना देना कहाँ तक संगत है? इन नए आलोचकों के मतानुसार जो साहित्य मार्क्सवादी सिद्धान्तों के अनुकूल हो, वही श्रेष्ठ साहित्य है, तद्भिन्न तो बूर्जुआ साहित्य है, निकृष्ट है। इस कारण से प्राचीन साहित्य को इन्होंने मान्यता दी ही नहीं है। आधुनिक साहित्य में कन्दुकूरि वीरेशलिंगम, गुरजाडा अप्पाराव, गिडुगु राममूर्ति आदि की रचनाओं की आलोचना अपने-अपने दृष्टिकोण से कर, उन्हें मूर्धन्य बना लिया है। साहित्य-सृष्टि का परम लक्ष्य समाज का कल्याण—वह भी आर्थिक दृष्टिकोण से ही—माना है और साहित्य के 'सुन्दर' को बहिष्कृत कर दिया है। साहित्य का मूल्यांकन नितान्त संकुचित दृष्टिकोण से किया है।

देशकाल की सीमाओं को न मानने वाला सत् साहित्य है। वह वर्तमान से सुन्दर भविष्य का दर्शन कराने वाला प्रकाश स्तंभ है। इस महासत्य को भूलकर, इन आलोचकों के साहित्य को वर्तमान की एक पक्षीयता में बाँध दिया है। इस प्रकार इन लोगों ने साहित्य को अपने राजनैतिक सिद्धान्तों के प्रचार का साधन बनाने का प्रयत्न किया है।

मार्क्सवादी आलोचक 'प्रजाकवि' अथवा 'जनकवि' शब्द को खूब प्रचार में लाए है। प्रजाकवि का अर्थ सामान्य जनता के सुखदुख अथवा उनकी आशा-अभिलाषाओं का चित्रण करने वाला नहीं, केवल साम्यवादी सिद्धान्तों के अनुरूप लिखने वाला तथा द्वन्द्वात्मक भौतिक वाद के गीत गाने वाला ही प्रजाकवि है। गुरजाडा अप्पाराव तथा श्री श्री ही प्रजाकवि हैं, अन्य नहीं। श्री श्री के गीत 'प्रजायुग' की 'प्रजाकविता' बन 'तेलुगु माता के हृदय की वेदना' हो 'कोड़े की चोट' बन प्रजाहृदय का सच्चा प्रतिबिम्ब दिखाने वाले तथा राष्ट्रीय कर्त्तव्य को उद्बोधित करने वाले बने। चूँकि उनमें धनी वर्ग की निन्दा, प्राचीन इतिहास तथा संस्कृति की भर्त्सना की गई हैं, वे 'प्रजागीत' हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि मार्क्सवादी आलोचक उन लेखकों की रचनाओं को श्रेष्ठ मानेंगे जिनमें धनी और दरिद्र के भेद का खंडन किया गया हो, प्राचीन इतिहास तथा संस्कृति की प्रशंसा न हो, छन्दों के नियमों का पालन न किया गया हो, साम्यवादी विचारधारा से आप्लावित हो और किसान-मजदूरों की दैनिक समस्याओं चित्रण हो। श्री श्री की रचनाओं में ये सभी गुण विद्यमान हैं, वे कहते हैं कि 'श्मशान सम शब्द कोशों को दूर छोड़, व्याकरण के

सांकलों को तोड़, छन्दों के सर्प-परिरंभ से मुक्त हो, प्रकाश की चिनगारियों की बौछार के समान, मजदूरों के कल्याण के लिए मेरे हृदय से नव कविता का स्पन्दन हुआ है।" किन्तु ध्यान देने की बात एक है। छन्द को महत्त्व न देने वाले इन आलोचकों ने जिन लेखकों को 'प्रजाकवि' तथा श्रेष्ठ कवि माना है, उनकी रचनाओं में भी विलक्षण गति तथा लय विद्यमान है जो अननुकरणीय है। श्री श्री के 'महाप्रस्थान' के गीत, अपने लय के कारण हृदय को पिघला देते हैं। अभिव्यक्ति के साथ अभिव्यक्ति के माध्यम का भी अपना महत्त्व है।

कुछेक अभ्युदयवादी (प्रगतिवादी) कवियों की रचनाओं में न कविता है, न प्रवाह न भाव ही, है तो बस कुछ राजनैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन।

श्री के० पी० रमणारेड्डी 'भुवनघोष' में सम्प्रदायवादी (tarditional) कवियों की अवहेलना करते हुए कहते है:—

"साहित्यं" सानि अयिंदि
कवुलु ताबेदारुलु,
साहित्यं वृत्ति आयिंदि
कवुलंता बिकारुलु,
कवुलु ताबेदारुलु
तेनुगुकैत ताबेलु।"

अर्थात् साहित्य वेश्या बनी है तो कवि उसके चरण-दास। साहित्य व्यवसाय बन गया तो सभी कवि भिखारी बने। कवि चपरासी बने और तेलुगु कविता कछुआ-सी बन गई है।

लेकिन आश्चर्य तो इसमें है कि प्राचीन सम्प्रदाय की अवहेलना करने वालों की कविता स्वयं राजनीति की दासी बनी हुई है।

इन अभ्युदयवादी आलोचकों की प्रतिक्रिया में कुछ प्राचीन सम्प्रदायवादी आलोचक मैदान में आए। इन आलोचकों ने प्राचीन साहित्य तथा साहित्य शास्त्र को सर्वेसर्वा मानकर आधुनिक कवियों तथा आलोचकों की कड़ी निन्दा ही है। सम्प्रति दोनों ही अतिवादी हैं।

इस प्रकार कवि के काव्यगत शिल्प तथा कवि के भाव पक्ष की अपेक्षा आलोचक का व्यक्तित्व तथा व्यक्तिगत रुचि तथा अरुचि ही प्रबल बन बैठे हैं। ऐसा लग रहा है कि आलोचना तो व्याख्याता की मेधाशक्ति पर निर्भर है। अपनी मेधाशक्ति के बल पर ये आलोचक किसी एक कवि को श्रेष्ठ मानकर, उसकी रचनाओं के दोषों को भी गुण सिद्ध करने में प्रयत्नशील हैं। अन्यथा गुणों को भी दोष ही सिद्ध करने में कटिबद्ध हैं। इस प्रकार आजकल की आलोचना आत्म प्रधान अथवा भाव प्रधान निर्णयात्मक आलोचना कही जा सकती है। अपनी अपनी रुचि तथा भावानुभूति के अनुसार निर्णय दे दिए जाते हैं। इन में कुछ तो नियमों के विशेषज्ञ होकर भी अपने को नियमों से परे मानकर निर्णय देते हैं तो कुछ नियमों को न जानकर, अपनी सम्मति दे बैठते हैं। इस दूसरी श्रेणी के आलोचकों की संख्या ही अधिक है।

किसी राजनैतिक सिद्धान्त, सम्प्रदाय, वाद आदि संकुचित दायरों में अपने को सीमित कर तथाकथित आलोचक अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान रहे हैं। राग-द्वेष से युक्त

इन आलोचकों की रचनाओं के कारण सत् साहित्य पाठक की दृष्टि को आकृष्ट नहीं कर पा रहा है।

तुलनात्मक दृष्टि से अथवा ऐतिहासिक परम्परा की दृष्टि से तो आलोचना नही होती। इस क्षेत्र में भी गुटबन्दी चल रही है। काव्य को प्रधान न मानकर, कवि के व्यक्तित्व को प्रधान मानकर आलोचान हो रही है।

वास्तव में आलोचना क्षेत्र में पदार्पण करने से पहले आलोचक को साहित्य के क्रमिक विकास तथा उसकी गति का सुष्ठु अध्ययन करना चाहिए। काव्य को पक्षपात रहित दृष्टि से पढ़ना चाहिए। काव्य को विशिष्ट कवि कृति के रूप में ग्रहण कर, सम्यक्रूप से अध्ययन करने के बाद, अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करें तो वह सत् आलोचना होगी। कविता सृष्टि के मूलभूत कारण कर्ता के मानसिक धर्म, चित्त संस्कार आदि को प्रमाण मानकर, राग द्वेष विहीन हो आलोचना की जाए तो वही सच्ची आलोचना होगी। इसी प्रकार के श्रेष्ठ आलोचक पाठकों का तथा साहित्य-निर्माण की दिशा का मार्ग दर्शन कर सकेंगे। "येषां काव्यानुशीलन-वशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीय तन्मयीभवन योग्यता ते हृदयसंवादभाजः।" (अभिनव-गुप्त)
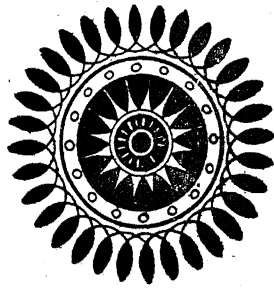
डा. एन. आई. नारायणन्

मलयालम आलोचना का विकास

मलयालम भाषा और साहित्य के विकास में संस्कृत भाषा एवं साहित्य का योग-दान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। केरल में आर्यब्राह्मणों का आगमन होने के पूर्व साहित्य की प्रगति पर्याप्त माला में नहीं हो पायी थी। प्रामाणिक रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि केरल में उनका प्रवेश कब हुआ था किन्तु यह बात निश्चित है कि ईसा की आठवीं शताब्दी के अन्त तक उन्होंने केरल में अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। इसके पश्चात् कला और साहित्य की ओर उनका ध्यान आकृष्ट हुआ। उन्होंने संस्कृत की प्राचीन शैली पर काव्यों की रचना की। काव्य-रचना में पूर्णतया संस्कृत की परम्परा का पालन किये जाने के कारण आलोचना के नये मानदण्डों का आविष्कार नितान्त अनपेक्षित ही रहा। काव्य के गुण-दोषों का चिन्तन उन्हीं तत्त्वों के आधार पर किया जाता था जिनकी प्रतिष्ठा हो चुकी थी। अतः उस समय नयी दिशा में आलोचना का विकास नहीं हुआ। संस्कृत के काव्यशास्त्रों की छाया में मलयालम में भी कतिपय ग्रन्थों की रचना अवश्य हुई।

संस्कृत के नाट्य साहित्य तथा भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' को आधार बनाकर केरल में 'कूत्तुं' नामक एक नाट्यविधा का प्रचलन हुआ जिससे आगे चलकर कथकलि का आरम्भ, हुआ। यह आठवीं शताब्दी के अन्त में धार्मिकता के सहारे केरल के रंगमंच पर अपना सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त कर चुका था। 'कूत्तुं' के तत्त्वों और उसके प्रदर्शन के नियमों का विस्तृत विवेचन करते हुए मलयालम में दो शास्त्र ग्रन्थ लिखे गये 'आट्टप्रकारम्' और 'क्रमदीपिका' जिनमें प्राचीन लक्षणग्रन्थों की शैली स्वीकार की गयी है। इनमें किसी ग्रन्थ की समीक्षा तो

नहीं, प्रत्युत केवल नियमों और सिद्धान्तों की चर्चा है जिसका आधार मुख्यतया भरतमनि का 'नाट्यशास्त्र' है। पन्द्रहवीं शताब्दी के समय मलयालम में रचित उच्चकोटि का एक शास्त्रग्रन्थ प्राप्त है 'लीलातिलकम्' जिसके रचयिता का नाम अज्ञात है। इसमें भाषा और साहित्य के सभी पहलुओं की विस्तृत एवं विवेचनात्मक चर्चा की गयी है।

मलयालम में आलोचना का वास्तविक विकास उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ। उस समय तक केरल में अँग्रेजी शिक्षा का बड़ा प्रचार हुआ जिससे शिक्षित लोग पाश्चात्य साहित्य और आलोचना के आधुनिक रूपों से अवगत हो गये। किन्तु उन तत्त्वों और सिद्धान्तों को स्वीकार करने में बिलम्ब हुआ। इस समय मलयालम में दो प्रमुख साहित्यकार विद्यमान थे 'केरल वर्मा वलिय कोपित्तम्पुरान्' और ए० आर राज राज वर्मा जो आधुनिक हिन्दी साहित्य के जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके अनुगामी महावीरप्रसाद द्विवेदी से अनेक बातों में समानता रखने वाले थे। काव्यकला में भाव पक्ष की प्रधानता हो या रूप-पक्ष की, इस विषय पर तत्कालीन विद्वानों ने एक वादविवाद आरम्भ किया जो 'द्वितीयाक्षर-प्रास-वाद' नाम से प्रसिद्ध है। केरल वर्मा रूप-पक्ष के समर्थक रहे और राजराज वर्मा भाव-पक्ष के। आगे चलकर उनका वाद विवाद काव्यधर्म की चर्चा के रूप में परिणत हो गया। 'मलयाल मनोरमा' नामक पत्रिका में इस विषय पर अनेक निबन्ध प्रकाशित हुए। इस वाद विवाद के फलस्वरूप उस समय के साहित्यकारों और सहृदयों को काव्य के मौलिक तत्त्वों पर मनन करने तथा भाव-पक्ष एवं रूप-पक्ष को साहित्य में समुचित मात्रा में स्थान देने की प्रेरणा प्राप्त हुई। काव्य की सुन्दरता में शब्दजाल का स्थान निम्नकोटि का माना गया। मलयालम साहित्य की सभी विधाओं में जो स्वाभाविकता और भावगरिमा दृष्टिगोचर होती है उनका मूलस्रोत इसी काव्यधर्म चर्चा से प्रवाहित है।

आलोचना के विकास में 'विद्याविनोदिनी,' 'केरल पत्रिका,' 'भाषापोषिणी,' 'मलयालमनोरमा,' 'कवनकौमुदी,' रसिकरंजिनी,' 'स्वदेशाभिमानी,' 'मातृभूमि,' 'मलयालराज्यम्' आदि पत्रिकाओं का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। विद्याविनोदिनी के सम्पादक श्री अच्युत मेनन एक अच्छे समालोचक थे। उल्लूर एस० परमेश्वर अय्यर, मूर्कोत्तु कुमारन सी० वी० कुञ्जुरामन, पी० के० नारायणपिल्लै, सी० एस० सुब्रह्मण्यन पोट्टी आदि विद्वानों ने 'भाषापोषिणी' के द्वारा समालोचना साहित्य की बड़ी सेवा की। 'स्वदेशाभिमानी' के सम्पादक के० रामकृष्णपिल्लै का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है।

श्री० ए० बालकृष्ण पिल्लै के सम्पादकत्व में ई० १९३० में 'केसरी' नामक एक पत्रिका-प्रकाशित हुई जिसने केरल के विद्वानों को पाश्चात्य आलोचना के सिद्धान्तों की ओर आकृष्ट किया। उस पत्रिका में पाश्चात्य समालोचना और साहित्य की विविध शैलियों, जैसे Classicism, Romanticism, Realism, Naturalism, Symbolism, Expressionism, Futurism आदि की सरल और सुन्दर व्याख्या की गयी। बालकृष्ण पिल्लै के समीक्षात्मक निबन्ध उच्चकोटि के थे। अनेक ग्रन्थों के आमुखों के रूप में भी उन्होंने साहित्य की मार्मिक

समालोचना प्रस्तुत की। आधुनिक मलयालम साहित्य की सभी शाखाओं के विकास में उनका भाव परिलक्षित होता है।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में साहित्यकारों की अनेक संस्थायें स्थापित हुईं। इनमें 'समस्त केरल साहित्य परिषद्' का नाम मुख्यरूप से उल्लेखनीय है जो अब भी साहित्य तथा साहित्यकारों की सेवा करती जा रही है। इसके वार्षिक अधिवेशनों में, जो अनेक दिनों तक चलते हैं, साहित्य के मौलिक तत्वों पर वादविवाद एवं चर्चायें हुआ करती हैं और समीक्षात्मक निबन्ध पढ़े जाते हैं। परिषद् की अथवा अन्य पत्रिकाओं में उनका प्रकाशन भी किया जाता है।

साहित्य के मूलतत्वों पर मार्क्सवादी तथा अन्य आधुनिक विचारधाराओं का जो प्रभाव पड़ा उसके फलस्वरूप १९३७ में प्रगतिवादी कवियों और लेखकों के प्रयत्न से 'जीवत्साहित्य समिति' स्थापित हुई। यही संस्था आगे चलकर 'पुरोगमन साहित्य समिति' के रूप में परिवर्तित हुई। इसके संचालकों में एम० पी० पॉल, जोसफ मुण्टश्शेरी, कुट्टिपुषा-कृष्ण पिल्ले, पी० केशवदेव, तकषि शिवशंकर पिल्लै, पोनकुन्नम वर्की आदि प्रगतिवादी साहित्यकारों के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने जीवन की सामयिक समस्याओं के आधार पर साहित्य रचना करने की आवश्यकता पर बल दिया और समालोचना के नये मानदण्डों को निर्धारित किया। उन्होंने 'कला कला के लिए' वाले सिद्धान्त का खण्डन किया और साहित्य को जीवन की व्याख्या और आलोचना के रूप में स्वीकार करने का आह्वान किया उपर्युक्त पत्रिकाओं और संस्थाओं के द्वारा समय समय पर जो समीक्षात्मक निबन्ध प्रकाशित किये गये उनका उचित रूप से पुस्तकाकार में संकलन नहीं किया गया है, अतः उनमें अधिकांश अप्राप्य हो चुके हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही मलयालम में कतिपय आलोचना-ग्रन्थों का प्रणयन हुआ था। प्रसिद्ध विद्वान ए० आर० राज राज वर्मा तम्पुरान का 'भाषाभूषणम्' उच्च-कोटि का एक काव्यशास्त्र है जिसमें उन्होंने संस्कृत की छाया पकड़कर काव्य के विभिन्न तत्वों का सरल एवं विस्तृत विवेचन किया है। इसमें लेखक ने अलंकारों की चर्चा में अधिक ध्यान दिया है जिससे लोग इसे केवल अलंकार ग्रन्थ ही मानते हैं (उनका 'साहित्यसाह्यम' गद्य-रचना के तत्वों पर प्रकाश डालने वाला एक उत्तम ग्रंथ है)। पी० कृष्णन नायर के द्वारा विरचित 'काव्यजीवितवृत्ति' उनकी विशाल और अगाध विद्वत्ता का परिचय देने वाली एक श्रेष्ठ रचना है जिसमें मुख्यतया संस्कृत के काव्य सिद्धान्तों की व्याख्या की गयी है। उनका 'काव्यालोकम' संस्कृत के 'ध्वन्यालोक' के प्रथम अध्याय का भाषान्तर मात्र है। 'कोच्ची भाषापरिष्करण कमिटी' के द्वारा संस्कृत के 'साहित्य दर्पण' का भाषान्तर भी प्रस्तुत हुआ है। संस्कृत के नाटक संबन्धी सिद्धान्तों को आधार बनाकर ए० डी० हरिशर्मा ने 'नाटक प्रवेशिका' नामक जो ग्रन्थ प्रकाशित किया है वह अपनी सरलता, सुबोधता और संक्षिप्तता के कारण बहुत लोकप्रिय हुआ है। पन्निश्शेरी नाणुपिल्लै का 'कथकलि प्रकारम' रामुण्णि नायर का 'नाट्यरचना' वनबालगोपाल का 'नृत्यदर्पणम' गोपीनाथ का 'अभिनयांकुरम्' आदि भी मलयालम के लक्षण ग्रन्थों की कोटि में आते हैं।

श्री पी. गोपिन्दपिल्लै का 'मलयाल भाषा चरित्रम' ऐतिहासिक आलोचना की शैली पर विरचित सर्वप्रथम ग्रन्थ है। यह है तो मलयालम साहित्य का इतिहास किन्तु इसमें उन्होंने मलयालम के सभी कवियों और लेखकों की रचनाओं की समीक्षा करते हुए साहित्य में उनका मूल्य निर्धारित करने का सफल प्रयत्न किया है। इसके पश्चात् आर० नारायणपणिक्कर का 'भाषा साहित्य चरित्रम्' (भाग) तथा उल्लूर एस. परमेश्वर अय्यर का 'केरल भाषा साहित्य चरित्रम्' (भाग) प्रकाशित हुए जिनमें साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करने के साथ ही बड़े विस्तार से साहित्य की विविध धाराओं कवियों और ग्रन्थों की समालोचना भी की गयी है।

'भाषा भूषणम्,' 'साहित्यसाह्यम' आदि ग्रन्थों के रचयिता श्री ए० आर० राजराज वर्मा ने उण्णायिवारियर के 'नलचरितम्' और कुमारन आशान की 'नलिनी' के आमुखों के द्वारा मलयालम में आधुनिक शैली की आलोचना का शिलान्यास किया। इसके बाद प्रगल्भ समालोचक पी० के० नारायणपिल्लै ने साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण किया। उन्होंने मलयालम के सर्वश्रेष्ठ कवित्रय–चेरुश्शेरी, एषुत्तच्छन और कुञ्चन नंप्यार की रचनाओं का मार्मिक विवेचन करते हुए उच्चकोटि के तीन ग्रन्थों की रचना की। ये तीनों ग्रन्थ आलोचना साहित्य के तीन रत्न हैं। इनमें तीनों कवियों की रचनाओं की अन्तः सत्ता और उनके जीवन की खोज की गयी है। उनकी समालोचना में पाश्चात्य तथा भारतीय काव्य सिद्धान्तों का सामंजस्य देखा जा सकता है। 'केरल साहित्य चरित्रम' के रचयिता उल्लूर एस. परमेश्वर अय्यर ने भी अनेक समीक्षात्मक निबन्ध लिखे हैं जिनमें कुछ 'विज्ञान दीपिका' में संगृहीत हैं। एषुत्तच्छन और उण्णायिवारियर के आधार पर के. आर. कृष्णपिल्लै के रचे हुए दोनों ग्रन्थ उच्चकोटि के माने जाते हैं। मलयालम के चंपू-साहित्य का अध्ययन करते हुए पी० शंकरन नायर ने भी समालोचना साहित्य के अन्दर शाश्वत महत्व प्राप्त किया है।

के० एम० पणिक्कर का 'कवितातत्वनिरूपणम्' कविता के तत्वों की आलोचना है लेकिन अध्ययन की गहराई कम होने के कारण यह अधिक लोकप्रिय नहीं हुआ। पाश्चात्य तथा भारतीय समीक्षा सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए पी० एम० शंकरन नंप्यार ने 'साहित्यलोचनम' नामक उच्चकोटि का एक समीक्षाग्रन्थ लिखा है जिसमें उन्होंने भारतीय रससिद्धान्त को उत्कृष्ट सिद्ध किया है।

प्रो० जोसफ मुण्टश्शेरी ने अपनी 'काव्यपीठिका' में भी भारतीय तथा पाश्चात्य समालोचना का सामंजस्य करते हुए उनके बाह्यान्तरिक तत्त्वों की तुलना की है। उन्होंने यह घोषित किया है कि वही कविता श्रेष्ठ है जो कवि के व्यक्तिगत अनुभवों की आँच और तीव्रता को लिये सहृदयों के अन्दर प्रवेश कर पाती है और जिसकी शैली व्यंग्य-प्रधान रहती है। कुमारन आशान और उल्लूर की कविताओं की तुलना करते हुए उन्होंने इस कथन का समर्थन किया। काव्य और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध उनकी समीक्षा का एक मुख्य तत्व रहा। काव्य के अध्ययन से सहृदयों के अन्दर उत्पन्न होने वाली अनुभूति को उन्होंने

अधिक महत्त्व दिया । अतः उनको मलयालम के Impressionistic आलोचना के प्रथम प्रवर्तक मानते हैं । आशान, उल्लूर, वल्लत्तोल आदि अनेक कवियों तथा लेखकों की रचनाओं की उन्होंने मार्मिक आलोचना की है। 'माट्टोलि' (प्रतिध्वनि),' 'मानदण्डम्,' 'अन्तरीक्षम्,' 'मनुष्य कथानुगायिकळ्,' 'वायनशालयिल' (वाचनालय में), 'कालत्तिन्टे कण्णोटि' (समय का दर्पण) आदि उनके समीक्षात्मक विचारों के भण्डार हैं । के० सुरेन्द्रन का 'कलयुम सामान्य जनंङ्ळुम' (कला और जनसाधारण) प्रसिद्ध आलोचक टॉलस्टाय के विचारों से प्रभावित होकर लिखा गया है । इसमें उन्होंने साहित्य की सरलता, सुबोधता आदि गुणों पर बल देते हुए साहित्य और जनसाधारण के पारस्परिक सम्बन्ध की आवश्यकता स्पष्ट की है ।

'रूपमंजरी' श्री ए० बालकृष्णपिल्लै की एक श्रेष्ठ रचना है जिसमें साहित्य की विविध विधाओं के रूप-विवेचन का सफल प्रयत्न किया गया है । उनकी आलोचना पाश्चात्य आलोचना सिद्धान्तों से अधिक प्रभावित है । उन्होंने समालोचना करने में अपनी या सहृदय की अनुभूति को अधिक महत्त्व नहीं दिया । वे पूर्णतया तटस्थ रहकर काव्य की विश्लेषणात्मक आलोचना करते थे । पाश्चात्य साहित्य का उनका ज्ञान बहुत अगाध था । अतः वे प्रायः पाश्चात्य साहित्यकारों और काव्यों से मलयालम के साहित्यकारों और काव्यों की तुलना करते थे । उनकी अधिकांश समीक्षायें ग्रन्थों के आमुख के रूप में हैं जिनमें कुछ उन ग्रन्थों की अपेक्षा आकार में बड़ी, रोचक तथा शिक्षाप्रद हैं ।

मलयालम के समालोचकों में प्रो० एम० पी० पॉल अविस्मरणीय व्यक्ति हैं । उनकी समालोचना में सन्तुलन और तटस्थता के गुण पूर्णतया परिलक्षित होते हैं । उन्होंने साहित्य के जीवनोपयोगी तत्त्वों को मान्यता देने के साथ ही उसके कलात्मक सौन्दर्य पर भी अधिक बल दिया । उनकी आलोचना निर्णयात्मक (Judicial) थी । वे मुख्यतया पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों से प्रभावित थे । उन्होंने गद्य की विविध विधाओं का—विशेषकर उपन्यास और कहानी का—गहरा अध्ययन किया । उनका 'नोवल साहित्यम्' (उपन्यास साहित्य) मलयालम के समीक्षा-ग्रन्थों में ऊँचा स्थान रखता है । श्री० सी० जे० थोमस ने नाटक-साहित्य के विविध अंशों की समीक्षा करते हुए 'उयरुन्न यवनिका' (उठता परदा) नामक एक समीक्षा ग्रन्थ लिखा है । उन्होंने 'विलयिरुत्तल' में मलयालम के प्रमुख उपन्यासकारों की रचनाओं का मूल्यांकन किया है ।

कुट्टिकृष्णमारार भारत के प्राचीन काव्य-सिद्धान्तों का आदर करने वाले प्रगल्भ विद्वान हैं। लेकिन उनका अन्धानुगमन कभी नहीं करते । 'राजांकणम,' 'कैविळक्कुं,' 'साहित्य सल्लापम्' आदि उनकी समालोचना का सुन्दर रूप दिखाने वाले श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं । 'मेघदूत' और 'उण्णुनीलिसन्दशम' की आलोचना में उन्होंने अपनी सूक्ष्म दृष्टि और विचारशीलता का परिचय दिया है । समालोचना साहित्य के उन्नायक तथा उदीयमान लेखकों में एस० गुप्तन नायर, पी० ए० वारियर, राम० कृष्णननायर, उल्लाट्टिल गोविन्दन कुट्टिनायर, सुकुमार अषिकोट एम० अच्युतन, काट्टुमाटम नारायणन, षण्मुखदास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं । 'समालोचना' एस. गुप्तन नायर की समीक्षाओं का संग्रह है । 'रमणनुम मलयालकवितयुम्,'

'सीता काव्यम्' आदि सुकुमार अ्रषिकोट के श्रेष्ठ आलोचना-ग्रन्थ हैं। 'पाश्चात्य साहित्य दर्शनम्' एम० अच्युतन के द्वारा विरचित है।

समग्रत: मलयालम का आलोचना साहित्य पर्याप्त मात्रा में विकसित नहीं कहा जा सकता है। फिर भी उसका विकास होता जा रहा है। आशा कर सकते हैं कि उसका भविष्य उज्जवल होगा।

•

डा. एन. एस. दक्षिणामूर्ति

कन्नड-आलोचना

आलोचना शब्द के वर्तमान-प्रयोग को दृष्टि में रखकर यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि कन्नड-आलोचना का इतिहास अर्वाचीन युग की ही देन है। उपन्यासादि अन्य साहित्य-विधाओं के समान कन्नड-आलोचना की स्रोतस्विनी भी आधुनिक काल[1] में बह निकली। वैसे तो प्राचीनकाल या मध्यकाल में भी कवि-काव्यों की आलोचना करने की पद्धति वर्तमान थी। परन्तु, वह वैज्ञानिक पद्धति नहीं थी। उस समय कवियों के सम्बन्ध में कतिपय प्रशंसात्मक या सूत्रात्मक वाक्य मात्र कहे जाते थे।[2] आधुनिक काल में अंग्रेजी-साहित्य से परिचय प्राप्त करने के परिणामस्वरूप नूतन दृष्टि का प्रसार हुआ और वैज्ञानिक आलोचना पद्धति का प्रादुर्भाव हुआ। नवीन सांस्कृतिक प्रतिष्टा की कल्पनाशीलता तथा स्वराष्ट्र और स्वभाषा-प्रेम ने भी आलोचना के प्रादुर्भाव और विकास में पर्याप्त सहयोग प्रदान किया।

---

१. आधुनिक काल का प्रारम्भ १९वीं शती ई. से माना जाता है।

२. उदाहरणार्थ कवि नागराज (१३५० ई.) का महाकवि पंप (९०२ ई.) के सम्बन्ध में यह कथन—"पसरिप कन्नडक्कोडयनोर्वने सत्कवि पंपनावगम्" अर्थात् "प्रसारित होती हुई कन्नड के एक मात्र अधिपति हैं सत्कवि पंप," तथा "रन्नं वैयाकरणं, जन्नं मेण् कवियोळगे वैयाकरणम्" "अर्थात् रन्न वैयाकरण हैं, जन्न तो कवियों में वैयाकरण—अग्रणी हैं" जैसी उक्ति द्रष्टव्य हैं।

कन्नड में आलोचना के प्रायः तीन रूप दृष्टिगत होते है—(१) परम्परागत प्राचीन साहित्य-सिद्धान्तों के आधार पर की गई आलोचना, (२) नवीन साहित्य की विशेषताओं को स्वीकार कर पाश्चायत्य काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार की गई आलोचना एवं (३) भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का समन्वय कर प्रस्तुत की गई आलोचना। इनके लिए उदाहरणस्वरूप क्रमशः प्रो. ए. आर. कृष्णशास्त्री, प्रो० गोकाक तथा आचार्य बी. ए. श्रीकंठय्या की आलोचनाएँ देखसकते हैं।

कन्नड में आलोचना विषयक सिद्धांन्त निरूपक तथा प्रयोगात्मक—दोनों प्रकार के ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है। कहना न होगा कि प्रथम प्रकार के ग्रन्थों में साहित्यालोचन का शास्त्रीय स्वरूप वर्णित है तो द्वितीय प्रकार के ग्रन्थों में कवियों, काव्यों, साहित्य-प्रवृत्तियों आदि का विवेचन मिलता है। इनके उदाहरण के रूप में हम प्रो० ती० नं० श्रीकंठय्या के 'भारतीय काव्य मीसांसे' (भारतीय-काव्यमीमांसा) तथा 'समालोकन' ग्रन्थों को ले सकते हैं। अस्तु, आगे की पंक्तियों में हम कन्नड-आलोचना के विकास-क्रम को देखने का प्रयास करेंगे।

कन्नड में आलोचना का प्रारम्भ रेवरेंड डा. किट्टल, ई. पी. राइस, रामानुज अय्यंगार तथा आर. नरसिंहाचार्य प्रभृति विद्वानों के द्वारा हुआ। डा. किट्टल तथा राइस महोदय ने कीथ तथा मैक्समूलर के समाने अंग्रेज़ी में आलोचना लिखी है। डा. किट्टल ने अपने "कन्नड-अंग्रेज़ी-कोश" की भूमिका में कन्नड-भाषा विषयक शोधपूर्ण आलोचना लिखी है। ई. पी. राइस का 'History of Kanarese Literature' आलोचनात्मक ग्रन्थ ही है जो अंग्रेज़ी में है। प्राक्तन विमर्श विचक्षण, महामहोपाध्याय इत्यादि उपाधिधारी स्वर्गीय आर. नरसिंहाचार्य ने 'कन्नड-कवि-चरिते' (कन्नड-कवियों का इतिहास) लिखकर अपनी अद्भुत प्रतिभा, अगाध पांडित्य, आश्चर्यजनक परिश्रम तथा आलोचना-शक्ति का परिचय दिया है। वे प्रथम साहित्य के इतिहास लेखक (कन्नड में) तथा आलोचक हुए। उनका उक्त ग्रन्थ आलोचकों का मार्ग-दर्शक है। उसमें हम उनकी सूक्ष्म दृष्टि तथा प्रज्ञा का दर्शन कर सकते हैं। यह तो उनकी संयक् आलोचना का ही द्योतक है कि उन्होंने पंप, रन्न जैसे कवियों को शीर्ष स्थान दिया था और महाकवि घोषित किया था। उनकी आलोचना को हम व्याख्यात्मक आलोचना कह सकते हैं।

आचार्य बी. ए. श्रीकंठय्या (१८८४ से १९४६ ई. तक) आधुनिक युग के प्रवर्तक माने जाते हैं। उन्होंने कन्नड-जन-जागृति का शंख बजाकर कन्नड का ध्वजोत्तोलन किया। उन्होंने होसगन्नड अर्थात् आधुनिक कन्नड की प्रगति एवं साहित्य की विविध विधाओं के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। आलोचना के क्षेत्र में उन्होंने सर्वप्रथम प्राचीन काव्यों के महत्व को स्पष्ट किया। उन्होंने प्राचीन काव्यों का सम्पादन-संशोधन कार्य भी किया। प्राचीन कवियों में उनको पंप, रन्न, नागचंद्र, कुमार व्यास सरीखे कवि अत्यन्त प्रिय थे। मैसूर विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित 'कन्नड-कैपिडि भाग २' में कन्नड-साहित्य सम्बन्धी उनकी आलोचना विद्यमान है। उन्होंने कई प्राचीन तथा अर्वाचीन ग्रन्थों की भूमिकाएँ लिखीं हैं जो उनके आलोचनात्मक दृष्टिकोण का परिचय कराती हैं। 'कन्नडिगरिगे ओळ्ळेय साहित्य'

(अर्थात् 'कन्नड भाषियों को सत्साहित्य') नामक उनकी पुस्तक (जो उनकी मृत्यु के बाद उनके प्रिय शिष्य श्री एस. वी. रंगण्णा जी की भूमिका के साथ) प्रकाशित हुई है। उसमें उनके भाषण तथा आलोचनात्मक लेखों का संग्रह है। वे कन्नड, संस्कृत, ग्रीक, अंग्रेजी, तमिळ आदि भाषाओं के ज्ञाता थे। ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा तो उनमें थी ही। उनकी साहित्यिक अभिरुचि, गम्भीर अध्ययन तथा सूक्ष्म दृष्टि की छाप उनके लेखों में देख सकते हैं। उनकी आलोचना प्रायः निर्णयात्मक नहीं होती। कारण यह है कि उनमें भावावेश अधिक था। पंप-रन्न की कविता पर वे मुग्ध थे; ग्रीक और संस्कृत के काव्य-सौष्ठव को वे भुला नहीं सकते थे। तथापि, उनके मन में आधुनिकता की प्रतिक्रिया विद्यमान थी। प्राचीन-काव्य सम्बन्धी उनकी आलोचना उनकी अनुभूति की सुन्दर अभिव्यंजना है। 'इंग्लिष् गीतगळु'[1] (अंग्रेजी गीत) की रचना कर उन्होंने आधुनिक कन्नड (होसगन्नड) की प्राणप्रतिष्ठा की। मैसूर विश्वविद्यालय, बेंगळूर कन्नड साहित्य परिषद् तथा अन्य संस्थाओं के द्वारा कन्नड के सर्वांग अभ्युदय के लिए उन्होंने अविश्रांत परिश्रम किया। कन्नड भाषा और साहित्य को उन्होंने जो प्रेरणा तथा स्फूर्ति प्रदान की है, वह कथमपि विस्मरणीय नहीं है।

डी. वी. गुंडप्पा जी सर्वतोमुखी प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार हैं। उनकी आलोचना के दो रूप हैं—सैद्धान्तिक तथा प्रयोगात्मक। "जीवन सौन्दर्य मत्तु साहित्य" (जीवन-सौन्दर्य और साहित्य) तथा "साहित्य-शक्ति" में उनके साहित्यानुशीलन सम्बन्धी विचार व्यक्त हुए हैं। स्वयं कवि होने के कारण वे अपने अनुभूत सत्य का सुन्दर निरूपण कर सके हैं। काव्य का विवेचन करते हुए उन्होंने कहा है कि कवि-कर्म एक रहस्यपूर्ण क्रिया है, क्योंकि मनुष्य का हृदय अब भी रहस्यपूर्ण ही है। भाषा काव्य का मुख्य उपकरण है। कवि तो वह है जो भाषा की सम्पूर्ण शक्ति का लाभ उठाता है। कवि असाधारण पुरुष होता है। उसके आन्तरिक व्यक्तित्व का बाह्य प्रकटीकरण ही काव्य है। गुण्डप्पा जी के अनुसार काव्य के लिए भाव, विभाव, रस, ध्वनि, अक्षर-रम्यता, छन्दों की नर्तन-गति तथा उपमेयोपम (अलंकारों) की विद्युत् छटा वांछित है। 'उमरन ओसगे' (उमर खय्याम की कविताएँ), 'मैकबेथ' जैसे ग्रन्थों की भूमिकाओं में हम उनकी आलोचना का प्रयोग-रूप देख सकते हैं। ये भूमिकाएँ निस्सन्देह उनकी उत्कृष्ट आलोचना के उदाहरण हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। गुण्डप्पा जी भी कन्नड के सर्वतोमुखी विकास के लिए सराहनीय कार्य कर चुके हैं और कर रहे हैं।

मैसूर विश्वविद्यालय की कन्नड त्रैमासिक पत्रिका 'प्रबुद्ध कर्णाटक' के सम्पादक के रूप में स्व० टी. एस. वेंकण्णय्या तथा प्रो० ए. आर. कृष्णशास्त्री ने जो सेवा की है, वह सदा स्मरणीय है। उन दोनों के प्रयास के कारण ही 'प्रबुद्ध कर्णाटक' में उत्कृष्ट आलोचना के लिए स्थान मिला। वैसे तो वेंकण्णय्या जी ने बहुत कम आलोचनात्मक लेख लिखे हैं। 'पंप-भारत' पर उन्होंने जो लेख लिखा है, वह उनको समर्थ आलोचक घोषित

---

१. यह कविता-संग्रह है। गदायुद्ध, अश्वत्थामन् और पारसीकरू उनके तीन नाटक हैं।

करता है। उन्होंने संपादन तथा संशोधन का जो कार्य किया है, वह कन्नड-आलोचना-साहित्य का आधार बना हुआ है।

प्रो० कृष्णशास्त्री जी कन्नड के प्रतिभावान् तथा उच्चकोटि के आलोचक हैं। वे कन्नड, संस्कृत और अंग्रेजी के अच्छे विद्वान हैं। 'भास कवि,' 'संस्कृत नाटक-गळु' (संस्कृत-नाटक), 'बंगाळि कादंबरीकार बंकिमचंद्र' (बंगाली उपन्यासकार बंकिमचंद्र) आदि शास्त्री जी की आलोचनात्मक कृतियाँ हैं। ये कृतियाँ उनके अगाध पांडित्य, साहित्यिक अभिरुचि और पैनी दृष्टि की परिचायक हैं। उनकी यह विशेषता है कि उनकी आलोचना सजीव, सरस और आकर्षक होती है और उसमें उनके व्यक्तित्व की छाप रहती है। उनकी आलोचना की वस्तु प्राचीन हो या नवीन—सर्वत्र हम उनकी पैनी दृष्टि और सुलझे हुए विचार पाते हैं। 'भास कवि' जैसी सुन्दर आलोचना संभवतः और किसी भी भाषा में उपलब्ध नहीं हो सकती। 'संस्कृत नाटकगळु' तो उनकी यशोदीप्ति का एक प्रमुख आधार है। उस ग्रन्थ का महत्व इस बात से जाना जा सकता है कि संस्कृत के विद्यार्थी आज भी उसका प्रामाणिक सहायक ग्रन्थ के रूप में अध्ययन करते हैं। अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं में संस्कृत-नाटकों पर कई आलोचनाएँ निकलीं हैं। पर, शास्त्रीजी के ग्रन्थ का यह वैशिष्ट्य है कि उसमें कवि या लेखक के अंतःकरण को सटीक पहचानकर गुण-दोषों का विवेचन किया गया है। शास्त्री जी ने आधुनिक कन्नड-साहित्य की प्रवृत्तियों पर जो आलोचनाएँ लिखी हैं, वे भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। उनके आलोचनात्मक ग्रन्थ 'बंगाळि कादंबरीकार बंकिमचंद्र' पर उनको साहित्य अकादेमी का पुरस्कार प्राप्त हुआ है।

मास्ति वेंकटेश अय्यंगार जी (उपनाम श्रीनिवास) आधुनिक कन्नड-कहानी-साहित्य के पितामह माने जाते हैं। वे उत्तम कहानीकार, नाटककार, सम्पादक ही नहीं, आलोचक भी हैं। 'साहित्य' नामक कृति में उन्होंने साहित्य सम्बन्धी अपनी विचारधारा व्यक्त की है। उसमें साहित्य का उद्भव, साहित्य और शास्त्र में भेद, सत्य-सौन्दर्य की मीमांसा, रागात्मक तथा बौद्धिक तत्व, साहित्य के विविध रूप, श्रेष्ठ कवि के संस्कार, काव्य का प्रयोजन इत्यादि महत्वपूर्ण विषय हैं।

मास्ति जी ने गेटे, हाफ़िज, आळ्वार तथा अगस्टीन पर सुन्दर आलोचनात्मक लेख लिखे हैं। आदिकवि वाल्मीकि तथा कवीन्द्र रवीन्द्र पर पुस्तकें प्रकाशित करायी हैं। इनसे स्पष्ट है कि उनकी अभिरुचि और अध्ययन का क्षेत्र सीमित नहीं है। उनकी आलोचना को हम आत्मप्रधान आलोचना कह सकते हैं।

एस. वी. रंगण्णा श्रेष्ठ आलोचक के रूप में पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। 'रुचि,' 'शैली,' 'कुमारव्यास,' 'होन्नशूल' (स्वर्ण शूल) आदि उनकी आलोचनात्मक रचनाएँ हैं। वे मैसूर विश्वविद्यालय (महाराजा कालेज, मैसूर) के भूतपूर्व अंग्रेजी प्राध्यापक तथा स्व० बी. एम. श्रीकंठय्याजी के शिष्य हैं। अंग्रेजी, ग्रीक, संस्कृत तथा कन्नड-साहित्य का उन्होंने अच्छा अध्ययन किया है। उनकी आलोचना का मूलाधार पाश्चात्य साहित्यालोचन है। उनकी दृष्टि में वाल्मीकि, होमर, दाँते, वर्जिल और मिल्टन के काव्य सर्वश्रेष्ठ हैं, अमर हैं।

रंगण्णा जी शैलीकार आलोचक हैं। उनकी शैली अत्यन्त आकर्षक, मधुर, सरस और प्रभावशील होती है। अपनी पुस्तक 'शैली' (दो भाग) में उन्होंने शैली के सम्बन्ध में अपनी विचारधारा व्यक्त की है। रन्न, कुमार व्यास, राघवांक, नागचंद्र, जन्न इत्यादि कन्नड-कवियों के प्रमुख गुणों का निर्णय तथा शैली का निरूपण उन्होंने उन्हीं कवियों द्वारा प्रयुक्त शब्दों के आधार पर किया है। यह रंगण्णाजी की हीं विशेषता है। इस विशेषता के कारण ही कुछ लोग उनकी आलोचना को क्लिष्ट मानते हैं और उनकी भाषा पर क्लिष्टता और दुरूहता का दोषारोपण करते हैं। किन्तु, इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं कि रंगण्णा जी कन्नड के एक श्रेष्ठ आलोचक हैं।

कन्नड-आलोचकों में र० श्री० मुगळि जी का नाम अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता है। 'कन्नड साहित्य चरित्रे' (कन्नड साहित्य का इतिहास), 'रन्नन कृतिरत्न' (रन्न का कृतिरत्न), 'साहित्योपासने' (साहित्योपासन) आदि उनकी आलोचनात्मक कृतियाँ हैं। एक श्रेष्ठ आलोचक में जो गुण होने चाहिए, वे सब मुगळि जी में हैं। उनकी आलोचनाएँ निर्णयात्मक होती हैं। आलोचना-क्षेत्र में उन्होंने निश्चय ही धैर्य के साथ पग बढ़ाया है। आजकल बहुत लोगों में आलोचक बनने की धुन सवार हुई है। योग्यता के अभाव में भी कई लोग अपने को आलोचक मानने का दम्भ करते हैं। ऐसे व्यक्तियों के कारण साहित्यलोक में धांधली मच जाती है। इस सम्बन्ध में मुगळि जी का यह कथन सर्वथा सत्य है कि साहित्य की उपासना रचनाकार बनने मात्र से नहीं होती, सहृदय पाठक बनकर भी उसकी उपासना की जा सकती है। 'कन्नड साहित्य चरित्रे' (साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत) निस्सन्देह मुगळि जी की अमर कृति है। उसमें उन्होंने एक तटस्थ आलोचक की भाँति कवि-काव्यों के गुण-दोषों का विवेचन किया है। उनके निर्णय उनकी आलोचना की सत्यपूर्ण उपलब्धि हैं। परन्तु, हम सर्वत्र उनके निर्णय को ही अन्तिम सत्य मानकर नहीं चल सकते। उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र को अपनी अनुभूति की कसौटी पर कसकर साहित्यिक कृतियों की परीक्षा की है।

कन्नड-आलोचना-साहित्य को आधुनिक कन्नड के प्रख्यात कवि द. रा. बेंद्रे तथा के. वी. पुट्टप्पा (उपनाम 'कुवेंपु') की देन कम महत्वयुक्त नहीं है। 'साहित्य हागु विमर्श' बेंद्रे जी का सैद्धान्तिक आलोचनात्मक ग्रंथ है। उसमें हम उनकी अनुभूति की गहनता और सूक्ष्म दृष्टि का अवलोकन कर सकते हैं। उन्होंने प्राचीन तथा समकालीन साहित्य पर सम दृष्टिकोण से विचार किया है, यह उनकी आलोचना की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। उन्होंने दिखाया है कि चाहे ग्रीक नाटक हों या शेक्सपीयर के नाटक अथवा इब्सन से नाटक—मूलभाव में कोई अन्तर नहीं है। बेंद्रे जी ने पुस्तकों की भूमिकाओं के रूप में कई आलोचनात्मक लेख लिखे हैं।

पुट्टप्पाजी की आलोचना प्रायः आत्मप्रधान होती है। 'हरिश्चन्द्र काव्य,' 'कुमार व्यासन कर्ण' (कुमार व्यास का कर्ण), 'शक्ति कवि रन्न' आदि उनकी आलोचनाएँ हैं। कवि होने के कारण उनमें भावुकता कुछ अधिक है। वाल्मीकि अथवा रन्न के विषय में उन्होंने जो विचार यक्त किये हैं, वे इसके साक्षी हैं। वे साधारण विषय को भी असाधारण रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनकी शैली वर्णन प्रधान होती है। कवींद्र रवींद्र में उनको गीतिकाव्य की प्रतिभा ही प्रमुख

रूप में दिखाई पड़ी (गीतांजलि इसका प्रमाण है), अतएव उन्होंने रवीद्र को 'श्रेष्ठ कवि, पर महान् व्यक्ति' स्वीकार किया है।

प्रोफेसर गोकाक की आलोचनाओं में उनके अंग्रेजी-साहित्य का गम्भीर अध्ययन स्पष्ट लक्षित होता है। वे आदर्शवादी हैं, पर मनुष्य की प्रगति पर उनका अटूट विश्वास है। कन्नड का आधुनिक साहित्य अंग्रेजी-साहित्य के भूरि प्रभाव से वंचित नहीं है। आधुनिक काल में साहित्य की जो अनेक विधाएँ चल पड़ीं हैं और जो अभिनव प्रयोग हो रहे हैं, वे तो उस प्रभाव के परिणाम हैं। गोकाक जी ने अपनी पुस्तकों के प्रारम्भिक वक्तव्यों में ऐसी गति-विधि का ऐतिहासिक विवेचन प्रस्तुत किया है। 'इंदिन कन्नड काव्यद गोत्तु गुरिगळु' (आज के कन्नड काव्यों के लक्ष्य) में उन्होंने आधुनिक कन्नड-साहित्य की प्रवृत्तियों की आलोचना की है। 'नव्यते हागु काव्य जीवन' (नव्यता तथा काव्य-जीवन) में भी उन्होंने कन्नड-काव्य की नई धारा की प्रेषणीयता और उपलब्धि पर विचार किया है। उसमें उन्होंने रोमांटिक सम्प्रदाय तथा सौन्दर्य की जो मीमासा की है, वह, पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा विद्वानों के मन्तव्यों पर आधृत है। परन्तु, वह मीमांसा सर्वथा स्पष्ट तथा प्रभावशील है।

वी. सीतारामय्या जी की आलोचना भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों से प्रभावित हैं। साहित्य के स्वरूप के सम्बन्ध में उन्होंने जो विचार व्यक्त किये हैं, वे पाश्चात्य आलोचकों के विचारों से मिलते-जुलते हैं। साहित्यालोचन की सफलता का क्या रहस्य है ? इस सम्बन्ध में वी. सीतारामय्या जी का कथन है कि नवीन कल्पनाओं और भावनाओं के लिए मन को प्रेरित करते हुए नूतन प्रभाव डालना चाहिए, तभी आलोचना सफल होगी, वह जीवन के लिए उपयोगी होगी। 'भारतगळ श्रीकृष्ण' (महाभारतों के श्री-कृष्ण), 'श्रीनिवासर कविते' (श्रीनिवास अर्थात् मास्ति वेंकटेश अय्यंगार जी की कविताएँ) आदि लेख उनकी उत्कृष्ट आलोचना के उदाहरण हैं।

प्रोफेसर ती. नं. श्री कंठय्या की 'भारतीय काव्यमीमांसे' (भारतीय काव्य-मीमांसा) भारतीय काव्यशास्त्र सम्बन्धी सुन्दर सैद्धान्तिक आलोचनात्मक कृति है। वह श्री कंठय्या जी की विद्वत्ता और परिश्रम का सुफल है। उसमें शब्द-शक्ति, भाव, रस, ध्वनि, रीति, गुण, अलंकार आदि का विवेचन है। श्री कंठय्या जी की शैली सरल, सरस, स्पष्ट तथा प्रसाद गुण युक्त है। आधुनिक काव्यों का मूल्यांकन करते समय प्राचीन आचार्यों के मंतव्यों का भलीभाँति उपयोग किया जा सकता है। श्री कंठय्या जी ने यह दिखाया है कि प्राचीन काव्यशास्त्र किस प्रकार पूर्ण है और उसमें कैसी सर्वांगीणता है।

'काव्य-समीक्षे' (काव्य-समीक्षा) तथा 'समालोकन' श्री कंठय्या जी की अन्य आलोचनात्मक रचनाएँ हैं 'काव्य-समीक्षे' में प्राचीन संस्कृत तथा कन्नड के काव्य-नाटकों में चित्रित विषम प्रेम की आलोचना है। 'समालोकन' में कविवर बेंद्रे, डी. वी. गुण्डप्पा, जी. पी. राजरत्नम आदि की कविताओं की आलोचना है। श्री कंठय्या जी कन्नड के एक श्रेष्ठ निबन्धकार तथा आलोचक हैं, कन्नड-आलोचना-साहित्य को उनसे और भी आशाएँ हैं।

कन्नड के श्रेष्ठ आलोचकों में प्रोफेसर डी. एल. नरसिंहाचार्य जी का भी नाम लिया

जाता है। उन्होंने अनेक ग्रन्थों का सम्पादन किया है और भूमिकाएँ लिखी हैं। उनके शोधपूर्ण आलोचनात्मक लेख उनकी अद्वितीय मेधा-शक्ति के परिचायक हैं।

जी. पी. राजरत्नम जी ने प्राचीन कन्नड-काव्यों को लोकप्रिय बनाने की दृष्टि से उनका सरल गद्यानुवाद (पंप-भारत, गदायुद्ध) ही नहीं किया है, वरन् पंप, रन्न, मुद्दण आदि पर आलोचनात्मक लेख भी लिखे हैं। कैलासम जी के नाटकों और उनके व्यक्तित्व पर उन्होंने महत्वपूर्ण समीक्षा लिखी है।

अ. न. कृष्णराव जी एक प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। उन्होंने आलोचना-क्षेत्र में भी अपनी प्रतिभा प्रकट की है। प्रगतिशील साहित्य, काम प्रचोदन और प्रचार पर उन्होंने लेख लिखे हैं। हिन्दी की भाँति कन्नड में भी प्रगतिवाद का युग आया था, पर कन्नड में उसका व्यापक प्रभाव गृहीत नहीं हुआ।

ऊपर जिन विद्वानों का नामोल्लेख किया गया है, उनके अतिरिक्त सर्वश्री स. स माळ-वाड, आर. वै. धारवाडकर, के. वी. राघवाचार, आर. सी. हिरेमठ, प्रो. मरियप्पभट्ट, एस. परमेश्वभट्ट, प्रो. जवरेगौड, डॉ. जी. एस. शिवरुद्रप्पा, के. डी. कुर्तुकोटि आदि विद्वानों ने भी कन्नड-आलोचना-साहित्य को सम्पन्न-समृद्ध किया है। इनमें प्रो. मरियप्पभट्ट जी ने अपनी पुस्तक 'संक्षिप्त कन्नड साहित्य चरित्रे' (कन्नड साहित्य का संक्षिप्त इतिहास) में प्राचीन तथा आधुनिक कन्नड-साहित्य की प्रवृत्तियों की आलोचना की है। डा. जी. एस. शिवरुद्रप्पा जी ने 'विमर्शेय पूर्व-पश्चिम' नामक पुस्तक में काव्यशास्त्र सम्बन्धी भारतीय तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों का विवेचन किया है। के. डी. कुर्तुकोटि जी ने (जी. वी. जोशी जी के साथ) 'नडेदु बंद दारि' (वह पथ जिस पर चले आये) का सम्पादन किया है। उसमें कन्नड-साहित्य की प्रवृत्तियों पर उनके आलोचनात्मक लेख हैं जो उनकी विद्वत्ता और प्रखर आलोचना के निदर्शन हैं। उनकी आलोचना पूर्णतः निष्पक्ष न होते हुए भी कम मूल्यवान नहीं है।

वर्तमान युग में साहित्य की इतर विधाओं के समान कन्नड-आलोचना की भी श्रीवृद्धि हो रही है। परन्तु, यह पूर्ण संतोषजनक नहीं है। ऐसे बहुत-से विषय हैं जिन पर अब भी आलोचनात्मक दृष्टि नहीं पड़ी है। आलोचना का उद्देश्य सत्यान्वेषण है। आज के आलोचक का यह कर्तव्य है कि वह सजग होकर युग का मार्ग-दर्शन करे। नवीनता के व्यामोह में पड़ कर प्राचीन तथ्यों की उपेक्षा न करे। साहित्य-वाटिका में जो अवांछित तृण-कंटक हैं, उन्हें निकाल फेंककर उसे स्वस्थ तथा सुहावना बनावे।

•

श्री परेशचन्द्र देव शर्मा

असमीया आलोचना

सभी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की तरह भारत के पूर्वांचल संयोगी भाषा असमीया साहित्य का इतिहास भी दसवीं शताब्दी से ही माना जाता है। इससे पूर्व का साहित्य हिन्दी भाषा की तरह ही अपभ्रंश मिश्रित साहित्य है। विश्व की सभी भाषाओं की तरह असमीया साहित्य का प्रारम्भ भी कविता से ही हुआ था। लेकिन इसका गद्य-साहित्य भारतीय भाषाओं में प्राचीनतम है। ईसवीं पन्द्रहवीं सदी से गद्य-साहित्य की एक अनविच्छिन्न परम्परा असमीया साहित्य में चलती आयी है। विभिन्न भारतीय भाषाओं में जिस समय वैष्णव भक्ति-धारा का जोर था, असम भी इससे अछूता नहीं था। असम में नव वैष्णव आन्दोलन का नेतृत्व किया महापुरुष श्री शंकरदेव तथा उनके शिष्य महापुरुष श्री माधवदेव ने। इन्होंने न केवल काव्य बल्कि नाटक को भी भक्ति-आन्दोलन-प्रचार का साधन बनाया। इस प्रकार पहले-पहल नाटक में गद्य का प्रयोग महापुरुष श्री शंकरदेव ने किया। ब्रज-बुली (ब्रजबोली) मिश्रित असमीया भाषा के इस गद्य को महापुरुष भट्टदेव के हाथों एक संस्कृत रूप मिला। क्या भागवत और क्या गीता के रचयिता भट्टदेव के गद्य-साहित्य का परिष्कृत रूप देखकर भारतीय भाषाविद् सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय ने लिखा था : 'It was no mean achievement for an Indian language at a time, when prose was but rarely cultivated in the literature of India "to have" evolved a finished prose style in the 16th century".

भट्टदेव के गद्य का स्वरूप देख कर बंग देश के प्रख्यात चिन्तक आचार्य प्रफुल्लचन्द्र

राय ने कहा था : "Indeed the prose Gita of Bhattadeva composed in the sixteenth century is unique of its kind....Assamese prose literature developed to a stage in the far distant sixteenth century, which no other literature of the world reached except the writings of Hooker and Latimar in England."

प्राचीन असमीया गद्य-साहित्य इतना समृद्ध होते हुए भी इसकी सशक्त विधा आलोचना साहित्य का असमीया भाषा में सम्पूर्ण अभाव-सा था। इसका मुख्य कारण था, प्राचीन साहित्य रचना का उद्देश्य था धर्मचर्चा करना, न कि काव्यामृत पान करना या रसास्वादन करना। इसमें आलोचना-शास्त्र की कोई आवश्यकता नहीं थी। सभी कवि जन गण की रुचि के उपयोगी काव्य रचना करते थे। जनसाधारण के लिये समालोचनात्मक दृष्टिकोण लेकर काव्य का अध्ययन करना सम्भव नहीं था। लोकप्रियता ही काव्य की कसौटी थी उपन्यास, कहानी, निबंध आदि की तरह आलोचना साहित्य भी वर्तमान युग की ही देन है। खासकर अंग्रेजों के आगमन के बाद ही इस प्रकार के साहित्य का विकास हुआ। हिन्दी भाषा में जिस तरह 'सरस्वती' पत्रिका ने आधुनिक साहित्य की सभी विधाओं को नेतृत्व दिया था, असमीया भाषा में भी 'अरुणेदय' पत्रिका ने (ईसाई मिशनरी द्वारा प्रकाशित) ही इस विषय का नेतृत्व लिया था। आलोचना के नमूने पुस्तक-समीक्षा के रूप में इस पत्रिका में निकलने पर भी वास्तविक आलोचना साहित्य का विकास अरुणेदय काल में नहीं हुआ था। भाषा सम्बन्धी कुछ आलोचना यहाँ अवश्य हुई थी। इस तरह की आलोचनात्मक निबंध लेखकों में रबिन्सन ब्राउन, ब्रन्सन जैसे अंग्रेज और आनन्दराम ढेकियाल फुकन, हेमचन्द बरुवा जैसे असमीया भाषाविद् प्रमुख थे। इन लोगों की युक्ति और आलोचना के जरिये ही असमीया भाषा को प्रतिष्ठा मिली। इस दिशा में इन लोगों के बाद नाम लिया जाता है सत्यनाथ बरा, कालिराम मेधि और देवानन्द भराली जी का। भरालीजी का 'असमीया भाषार मौलिक विचार' भाषा विज्ञान विषयक पहला शोधपरक ग्रन्थ है। श्री मेधी जी का 'असमीया व्याकरण आरु भाषा तत्त्व' इस दिशा में दूसरा पदक्षेप हैं। इस तरह असमीया आलोचना साहित्य का प्रारम्भ असमीया भाषा पर आलोचनात्मक प्रबंध और ग्रन्थ के जरिये ही हुआ।

'आसाम विलासिनी' (१८७१-१८८३) पत्रिका ही वस्तुतः असमीया आलोचना साहित्य की जन्मदात्री कही जा सकती है। रक्षणशील होने पर भी इस पत्रिका में ही पहले पहल तात्त्विक दृष्टि से ग्रन्थों की आलोचना निकलने लगी। पड़ौसी बंग साहित्य का प्रभाव इस क्षेत्र में उपेक्षा करने लायक नहीं है। धीरे-धीरे 'विलासिनी' का आदर्श दूसरी पत्रिकाएँ भी लेने लगीं लेकिन आलोचना का मान-निर्धारण करने में समर्थ हुई 'जोनाकी' (जुगनू) पत्रिका ही। पाश्चात्य साहित्य का रसास्वादन करने वाले साहित्यिकों में साहित्य सम्राट लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ (१८६८-१९३८) सर्वश्रेष्ठ रहे। हिन्दी साहित्य में जो कार्य भारतेन्दु ने किया, एक तरह से वही काम असमीया भाषा में श्री बेजबरुवा ने किया था। इनके 'शंकरदेउ' को ही प्रथम आलोचनात्मक ग्रन्थ कहा जा सकता है। इस ग्रन्थ में विषयवस्तु की व्याख्या, उपस्थापन रीति

पर महत्व न देकर, यथातथ्य पद्धति के जरिये भाषा व वर्णन का सौन्दर्य विश्लेषण किया था। लेकिन उनकी आलोचना भी दोष-गुण, प्रदर्शनात्मक और प्रशंसा में ही सीमित पाते हैं कर्मजीवन के अधिकतर समय असम से बाहर रहकर भी आधुनिक साहित्य की सभी विधाएँ आपके स्पर्श से ही उज्वलतर हो उठी। उनका आलोचनात्मक दूसरा ग्रन्थ है—'श्री शंकरदेव और माधवदेव'।

इस काल के असमीया साहित्य के विश्लेषणकर्ता आलोचकों में कनकलाल बरुवा, देवेन्द्रनाथ बेजबरुवा, डा० वाणीकान्त काकति, डा० सूर्यकुमार भूआं, डा० बिरिंचि कुमार बरुवा, डिम्बेश्वर नेओग आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। डा० काकति और डा० भूआंने अंग्रेजी भाषा के माध्यम से ही असमीया साहित्य की विभिन्न दिशाओं की आलोचना की।

इनमें डा० वाणीकान्त काकति (१८९४-१९५२) को ही बेजबरुवा के बाद श्रेष्ठ आलोचक के रूप में स्वीकार किया जाता है। यही नहीं—अब तक के आलोचकों में काकति जी का आसन ही शीर्षस्थान पर है। उनके 'पुरणि असमीया साहित्य,' 'साहित्य और प्रेम,' ग्रन्थों के अलावा विभिन्न काव्य-ग्रन्थों की भूमिका तथा भावानन्द पाठक छद्मनाम से लिखित अनेक प्रबंधों के जरिये उनके पांडित्य, मननशीलता, भावों की गम्भीरता आदि का परिचय मिलता है। संस्कृत तथा अंग्रेजी भाषा साहित्य के सुगंभीर अध्ययन के सहारे इनको इस क्षेत्र में सुविधा मिली थी। काकति जी का तर्क था अकाट्य, दृष्टिकोण था वैज्ञानिक और निरीक्षण शक्ति थी पैनी।

डा० बिरिंचि कुमार बरुवा (मृत्यु १९६४) ने असमीया भाषा के साथ-साथ असमीया साहित्य की आलोचना भी की। असमीया लोकसंस्कृति पर इनके एक शोधपरक ग्रन्थ पर साहित्य अकाडमी पुरस्कार भी मिला था। लक्ष्मीनारायण सुधांशु जी का 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' नामक ग्रन्थ का आपने 'काव्य आरु अभिव्यंजनावाद' नाम देकर असमीया में अनुवाद भी किया था। लेकिन उनकी आलोचना परिचयात्मक ही थी। डा० काकति की तरह आलोचना को आलोचना की सैद्धान्तिक दृष्टि से देखने का उनके जीवन में अवसर नहीं मिला। असमय में ही आप दुनिया से चल बसे। डिम्बेश्वर नेओग (१९००-१९६६) की आलोचना निर्भीक है और अनर्थक। निरर्थक प्रशंसा से पूर्ण नहीं। उनकी 'असमीया साहित्यर जिलिंगनि,' 'असमीया साहित्यर जेउति' आदि उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। इनके अलावा प्रकाशित व अप्रकाशित उनके बहुत से आलोचनात्मक प्रबंध हैं। आजीवन साहित्य सेवाव्रती नेओग ने असमीया साहित्य के विश्लेषण में अपना जीवन बिताया।

डा० सूर्यकुमार भूआं ने असमीया लोक गाथाओं का वैज्ञानिक पद्धति से सम्पादन किया था। इसके अलावा इतिहास साहित्य तथा प्राचीन असमीया साहित्य के आप बडे आलोचक रहे। लेकिन इनकी विशेषता प्राचीन इतिहासों के संकलन व सम्पादन में ही है।

देवेन्द्रनाथ बेजबरुवा ने पहले-पहल आलोचनात्मक पद्धति से असमीया साहित्य के इतिहास की रचना की है। इस ग्रन्थ में खासकर वैष्णव काल की विशेष रूप से आलोचना हुई है।

मोटे तौर पर स्वाधीनता तक असमीया आलोचना वैष्णवकालीन व्यक्ति, रचना और पुस्तक समीक्षा तक ही सीमित थी। इसे विस्तृति मिली स्वाधीनोत्तर काल में ही। सैद्धान्तिक आलोचना, शोधपरक आलोचना पाठ्यग्रन्थों की आलोचनाएँ, समीक्षा सिद्धान्त के निर्धारण के प्रयास आदि विषयक आलोचना प्राक स्वाधीनता काल में नहीं के बराबर हुआ था। डा० वाणीकान्त काकति और लक्ष्मीनाथ बेजबरुवा ने सैद्धान्तिक आलोचना की दिशा में जो कुछ काम किया था वही स्वाधीनोत्तर काल में विकसित हुआ। डा० बिरिंचि कुमार बरुवा ने समीक्षा सिद्धान्तों के निर्धारण सम्बन्धी ग्रन्थों के अभाव के कारण ही सुधांश के ग्रंथ का अनुवाद किया था।

अब हम संक्षेप में स्वाधीनोत्तर काल के आलोचना-साहित्य के बारे में उपरोल्लिखित विभाजनों के आधार पर चर्चा करेंगे।

सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में स्वाधीनोत्तर काल में कुछ युवक आलोचक आगे आए हैं। इनमें होमेन बरोहाग्रि, ज्ञानानन्द शर्मा पाठक, हीरेन्द्र गोहाग्रि, अध्यक्ष महेन्द्र बरा आदि का नाम उल्लेखनीय हैं। ये प्रायः प्रगतिवादी धारा के आलोचक हैं। पुराने साहित्य का नवीन मूल्यांकन करने की दिशा में इनका प्रयत्नस्तुत्य ही कहा जाना चाहिये। इस शाखा के समन्वयवादी आलोचकों में अध्यक्ष हेम बरुवा (असमीया साहित्य) डा० महेश्वर नेओग, डा० सत्येन्द्र नाथ शर्मा, डा० उपेन्द्रनाथ गोस्वामी, डा० प्रफुल्लदत्त गोस्वामी, आचार्य उपेन्द्र-चन्द्र लेखारु वाग्मीवड़ नीलमणि फुकन आदि के नाम लिये जा सकते हैं। प्रगतिवादी धारा के आलोचकों की आलोचना जब मासिक, सामयिक पत्रिकाओं में ही सीमित थी तब समन्वयवादी धारा के आलोचकों की आलोचनापरक ग्रन्थ प्रकाशित भी हुए हैं।

हिन्दी साहित्य की तरह असमीया साहित्य में शोधपरक आलोचना का क्षेत्र व्यापक नहीं है। विश्वविद्यालयीन माध्यम अंग्रेजी होने के कारण सभी शोध ग्रन्थ अंग्रेजी में ही प्रकाशित हैं व्यक्तिगत प्रचेष्टा तथा असम साहित्य सभा की ओर से इस दिशा में कुछ कार्य हो रहा है।

फिर भी स्वाधीनोत्तर काल में शायद साहित्य की इस विधा में ही सबसे ज्यादा प्रगति हुई है। अध्यक्ष त्रैलोक्य नाथ गोस्वामी के साहित्य समालोचना प्राश्य और पाश्चात्य आलोचना सिद्धान्त का विस्तृत विश्लेषण है। काव्य शास्त्र की प्राथमिक और सरल व्याख्या दी है अतुलचन्द्र बरुवा के 'साहित्यर रूप रेखा' ग्रन्थ में। अध्यक्ष मनोरंजन शास्त्री की 'साहित्य दर्शन' अध्यक्ष तीर्थ नाथ शर्मा की 'साहित्य विद्या परिक्रमा' संस्कृत काव्य शास्त्र परम्परा को अनुसरण कर लिखे जाने वाले दो प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनके अलावा अध्यक्ष महेन्द्र बरा के 'असमीया कबितार छन्द, और अध्यापक नवकान्त बरुवा के 'असमीया छन्द शिल्पर भूमिका' में प्राचीन तथा नवीन असमीया कविताओं के पिंगल का शास्त्रीय विवेचन किया गया है। इस दिशा में आचार्य विश्वनाथ के साहित्य दर्पण का असमीया अनुवाद ने भी एक कमी की पूर्ति की है। डा० सत्येन्द्रनाथ शर्मा के असमीया नाट्य साहित्य, और असमीया उपन्यास साहित्य तथा अध्यक्ष त्रैलोक्य नाथ गोस्वामी के असमीया गल्प साहित्य के अधुनातन प्रकाशित शोधस्तरीय तीन महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

पाठ्य ग्रन्थों की आलोचना के क्षेत्र में प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन व विवेचन आता है। इस दिशा में असमीया साहित्य में छुट-पुट प्रयत्न ही हुआ है। विश्वविद्यालय में मंजूरी प्राप्त कुछ पाठ्य पुस्तकों का सटीक सम्पादित रूप प्रकाशित हुआ है जो बिलकुल विद्यार्थियों के उपयोग की दृष्टि से लिखी गई हैं। लेकिन इनमें कुछ तो साहित्यिक मूल्यांकन के स्तर की भी हैं। हरिनाथ शर्मा दले की कथा भागवत, डा० सत्येन्द्र नाथ शर्मा की मधुमालता और डा० महेश्वर नेओग के 'उषा परिणय' तथा 'दुर्गावरी रामायण' इस संदर्भ में उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।

पुस्तक-समीक्षा तो दूसरी भारतीय भाषाओं की तरह असमीया के सभी पत्र-पत्रिकाओं का एक स्थायी स्तम्भ जैसा बन गया है। लेकिन अधिकांश असमीया पुस्तक-समीक्षा 'बड़ी सतही और परिचयात्मक' होती है। कभी-कभी तो पुस्तक के गुणों पर ही बल दिया जाता है--पुस्तक के विज्ञापन के लिये--इसकी कमी का कहीं कुछ जिक्र भी नहीं होता। गम्भीर चिन्तनपरक सैद्धान्तिक पुस्तक-समीक्षा के क्षेत्र में मासिक 'रामधेनु' और 'मणिदीप' का योग-दान बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

समीक्षा सिद्धान्त के प्रतिपादन के क्षेत्र में असमीया आलोचना की इस समय शैशवा-वस्था है। अतः इस विधा के बारे में अभी कुछ कहना न्याय संगत नहीं होगा।

साहित्यिक आलोचना के अतिरिक्त समाज, धर्म, इतिहास, आचार आदि विषयों पर इस काल में बहुत से ग्रन्थ लिखे गये हैं। इन ग्रन्थों के प्रकाशन से एक ओर आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के विषयों पर लिखने के लिये असमीया भाषा अधिक समृद्ध हुई और दूसरी ओर इन विषयों पर ही लिखने की उन लेखकों को प्रेरणा मिली--जो अब तक कुछ लिखते नहीं थे और लिखते भी तो अंग्रेजी में। आलोचना साहित्य की दिशा में स्वाधीनोत्तर काल में जो कुछ प्रगति हुई है इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि असमीया आलोचना-साहित्य भण्डार की शीघ्र ही अभिवृद्धि होगी और जनता की आवश्यकता के अनुसार ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य आगे बढ़ता जायगा।
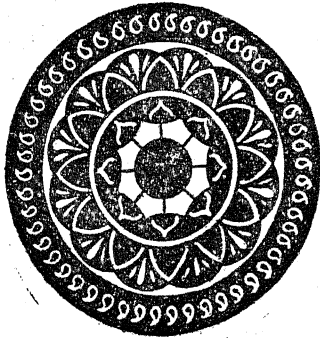
श्री अनसूयाप्रसाद पाठक

ओड़िया आलोचना

ऐसा लगता है कि हमारे भारतीय संस्कृत शास्त्रों में मौखिक आलोचनायें तो बहुत हुआ करती थीं लेकिन उनका मूर्त्त रूप स्पष्ट और प्रकाश में कम देखने को मिलता है। उसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि देववाणी में लिखे गये ग्रन्थों की समालोचना करना पाप है अथवा लेखकों से डर। अस्तु यहाँ हम विषय के बाहर जाना नहीं चाहते, इसलिये मूल विषय की ओर आते हैं। आज ओड़िया भाषा में दो शैलियाँ हैं:—एक पद्य और दूसरी गद्य। पद्यों में पौराणिक कथा हैं जो लोक-परलोक में आनन्द देने वाली कथा है। उसमें आध्यात्मिक चिन्तन तथा चिन्तन की अभिव्यक्ति अधिक तथा अधिदैविकता में एक पथ बतलाने वाले विषय हैं। जिसके सहारे लोग दैवत्व की प्राप्ति में अग्रगण्य होंगे और आध्यात्मवाद में रत होने तथा आवागमन के जंजाल से छूटने का पथ-निर्देश होगा। दूसरी शैली गद्य की है। वह पद्य की अपेक्षा अति उथली है। परन्तु मनरंजक है और बहुमुखी होती जाती है।

साधारणतया इस शैली का प्रादुर्भाव १८४८ से अर्थात् फकीर मोहन सेनापति से मान सकते हैं। इन महाशय ने समाज की कुरीतियों, अमीरों की लालसाओं तथा गरीबों की और अत्याचारों की आलोचना, रुढ़ियों की आलोचना तथा उसके फल और परिणाम का सुन्दर पथ निर्देश किया है। अवश्य इस समय प्रसिद्ध कवि राधानाथ राय, मधुसूदन राव भी हो गये हैं, लेकिन वे कवि थे, समालोचक नहीं। फकीर मोहन सामाजिक आलोचक थे। उन्होंने अपने उपन्यास कहानियों तथा प्रबन्धों में समाज में फैली कुरीतियों पर की गलत रीतियों का चित्र

खींचा है और दूर करने का पथ दिखाया है। यहाँ एक बात का उल्लेख करना उचित होगा कि फकीर मोहन का उपन्यास है "छ माण आठ गूँण्ठ" एक गरीब किसान के एक ही खेत सम्वल है। जिसकी नाप है छ माण आठ गूँठ। एक माण (एकड़) पच्चीस गूँठ का होता है। इस हिसाब से छ माण १५०+८=१५८ गूँठ हुआ। हिन्दी में एक बीघा में बीस विश्वा माना जाता है। उक्त नाप से यह हिन्दी के नाप में जमीन-आसमान का अन्तर है। लेकिन छ माण आठ गूँठ का अनुवाद 'छ बीघा जमीन' किया गया है। हिन्दी में यहाँ सत्य की खोज नहीं हुई है। फलस्वरूप भ्रमज्ञान एक निर्दिष्ट ज्ञान का परिचायक रूप सामने खड़ा हो गया है। इस अनुवाद में उस मनोभाव की अभिव्यक्ति का भान भी नहीं होता जो छ माण आठ गूँठ में है। यह अनुवाद ठीक चक्रपाणि का अनुवाद 'यसु' जैसा हुआ है। जिन ओड़ियों ने हिन्दी अनुवाद पढ़ा है, उनको हँसने की तथा हिन्दी में भ्रम का सत्य स्वरूप दर्शन की समालोचना हुई है।

फकीर मोहन के नायकत्व में या रथ-चालन की लीक से जो समालोचना की भगीरथी बही थी, वह धीरे-धीरे पश्चिमी सागर की ओर जा बही है।

उस समय जो पत्र-पत्रिकाओं में लेख निकलते थे, देश, काल तथा जाति के उत्थान के लिये सुगम पथ निर्माण करते थे। यही आगे चल करके दो धाराओं में बँट गये। एक प्राचीन पन्थी दूसरे नव्य पन्थी। प्राचीन पन्थी आदि कवि शारलादास से लेकर मध्य-कालीन भंज-युग तक के साहित्य को विश्व-साहित्य भण्डार में एक अनुपम अनुदान मानते थे। और यह चर्चा किसी हद तक झूठी या अतिशयोक्तिपूर्ण प्रलाप तो नहीं कही जानी चाहिए। इसकी परिपुष्टि के लिये एक संस्था बनी—प्राची समिति। दूसरे नव्यवादियों की भी संस्था बनी—सबुज साहित्य समिति, जो रवीन्द्रनाथ के पदानुशरण पर आधारित थी। बाद में पुरी में भी एक संघ बना सत्यवादी युग। सत्यवादी युग मुखों में आधारित रहा। उसकी कोई नियमावली या परिचय पट्ट नहीं लगे। लेकिन साहित्यिक चर्चा में सत्यवादी युग अपना बौद्धिक स्थान मानता है। प्राची समिति के नेता थे प्रो० डा आर्तवल्लभ महान्ती और सत्यवादी युग के स्रष्टा थे उत्कलमणि गोपबन्धु दाश।

इन दोनों में बहुत मौन अन्तस्तल तथा बौद्धिक ढंग से मतों की उपस्थिति होती, व्यंग होते, समालोचनायें होतीं परन्तु बहुत गंभीर और गहरे ढंग से होतीं।

उसका कारण है कि एक की चिन्तनाधारा शुद्ध प्राचीन साहित्यिक थी, दूसरे की नवीन, आगत राष्ट्रीय जागरण की। दोनों का सम्बन्ध दूर का था और विषय की परख के बाहर भी। लेकिन राष्ट्रीयता के पुजारी दोनों थे। अन्तर था तो यही कि नवीनों के सामने राष्ट्रीयता प्रथम स्थान रखती थी और प्राचीन के सामने वह दूसरा स्थान रखती थी। नवीन प्राचीनों को गाली देते—देखो कैसे सभ्य हैं कि अश्लील-साहित्य कालेजों में लड़के-लड़कियों को पढ़ाते हैं, लज्जा नहीं आती। प्राचीन कहता—साहित्य, संगीत, कला विहीना, से नर पशु पुच्छ विषाण विहीना। अर्थात् नवीन साहित्य क्या वस्तु है, समझते नहीं। अहा हा—

दीनकृष्ण दास ने अपने प्रसिद्ध काव्य 'रस विनोद' में कहा है—वशिष्ठ राजा से कहते हैं—

राउ भजन करि थण्टे, मग्रकु न लगाग्र कण्ठे ।।
राउ भजन ज्ञान मत, ऊँकार बीज ब्रह्म तत्व ।।
ऊँकार घेनि सिना देह, एथु अधिक थिले कह ।।
ब्रह्मादि विष्णु पशुपति, जहुँ जनम तिनि मूर्त्ति ।।

अर्थ :—हे राजा ! माया को गले में न लगाकर मुख से भजन करो ।
हे राजा ! भजन ही ज्ञान सम्मत है, ऊँकार ही ब्रह्म का बीज तत्त्व है ।
ऊँकार को लेकर देह है । इससे अलग और कुछ है तो कहो ।
ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीनों का जनम भी इसी से हुआ है ।

ओड़िया साहित्य में सर्वप्रथम 'ओड़िया भाषार इतिहास' प्रकाशित ग्रन्थ हुआ था इसके लेखक हैं पं० विनायक मिश्र । यह प्रथम पुस्तक थी, तब तक किसी ने साहस नहीं किया था, इतिहास लिखने का । अवश्य प्राची समिति के द्वारा प्रकाशित पुस्तकों की भूमिका पर डा० आर्त्तवल्लभ महान्ती ने अनेक समालोचनामूलक विषयों की चर्चा की थी, लेकिन पुस्तकाकार में पं० विनायक मिश्र की प्रथम पुस्तक थी । इस पुस्तक पर की विषय चर्चा भूल है । आर्तवल्लभ महान्ती जी की प्रेरणा, परामर्श अथवा कथन से पं० करुणाकर ने छोटी सी पुस्तिका प्रकाशित की थी जिसमें पं० विनायक मिश्र की पुस्तक की समालोचना की थी । लेकिन यह टिकी नहीं, बल्कि उसका मूल्य बढ़ा । स्कूल कालेजों में पाठ्य पुस्तक बन गई । उसका प्रधान कारण था कि उसमें पाण्डित्य की कसरत अधिक थी, पथ निर्देश कम । डा० आर्त्तवल्लभ महान्ती की धारणा थी कि ओड़िया साहित्य का इतिहास यदि लिखा जायेगा तो मेरे द्वारा लिखा जा सकता है, ये आगे कैसे आ गये । पुस्तक की लोकप्रियता बढ़ी । उसका संशोधित संस्करण राष्ट्रभाषा पुस्तक ने छापा है । आजकल तो पण्डित सूर्यनारायण दास, पण्डित नीलकण्ठ जी दास ने भी ओड़िया साहित्य का इतिहास लिखा है, लेकिन किसी ने पक्षपात शून्य होकर ओड़िया साहित्य का सप्रमाण सम्पूर्ण इतिहास नहीं लिखा है । कुछ दिन पूर्व 'ओड़िया साहित्यिक परिचय' नामक राष्ट्रभाषा पत्र का विशेषांक निकला था, जिसमें आधुनिक ओड़िया साहित्य के बारे में परिचय था और उस अंक को विशेष ज्ञान के लिये विश्वविद्यालय ने मान्य किया था। इसके पहले ओड़िया में कोई पुस्तक या उदार लेख प्रकाशित नहीं किये जा सके हैं, न लिखे ही गये हैं । पंडित विनायक मिश्र ने भी आधुनिक काल को छोड़ दिया है । पंडित सूर्यनारायण दास ने भी आधुनिक काल को छुआ नहीं है । पंडित नीलकण्ठ दास जी ने आजकल की साहित्यिक चर्चा न करके अपनी पुस्तक में जगन्नाथ धर्म की चर्चा करते हुए अन्य मतावलम्बियों के प्रति कटु उपेक्षामूलक चर्चा की है, जिससे पुस्तक समालोचना न होकर आक्रोशमूलक आलोचना हो गई है । गुरु बनने लायक समालोचना उक्त विद्वानों के मताभिव्यक्ति से नहीं मालूम होती है । केवल अपना-अपना पाण्डित्य प्रदर्शन करना मानो काम्य हो ।

डा० हरेकृष्ण महताव ने अपने 'ओड़िशा के इतिहास' में जो सटीक प्रमाण प्रमाणित मान्यकर विषयों तथा तत्कालीन राज्यवंशों की चर्चा की है । उससे स्वतः 'मादला पांजी' नामक

जगन्नाथ धर्म के इतिहास की तथा आर० डी० बनर्जी के इतिहास की समालोचना हो जाती है और उसमें भूल तथा गलत विषयों की ओर लोगों को सावधान होने का मार्ग मिलता है। डा० मायाधर मानसिंह ने भी इतिहास पर आलोचना की है। जिसको साहित्य अकाडमी ने हिन्दी में प्रकाशित किया है। मगर वह भी अधूरी मानी जाती है, यहाँ तक बात फैली कि पं० जवाहरलाल नेहरू ने नाराज होकर उस पुस्तक का प्रकाशन जितना हुआ था, उतना ही, वहीं तक रोक दिया था। कुछ दिन पूर्व प्रोफेसर नटवर सामन्तराय ने व्यास कवि फकीर मोहन पर एक समालोचना की पुस्तक लिखी है, जिसका प्रकाशन राष्ट्रभाषा पुस्तक भण्डार ने किया है। उसके बाद और २-४ पुस्तकें समालोचना के बारे में लिखी गई हैं। इस दिशा में आजकल ओड़िशा साहित्य अकाडमी का काम स्तुत्य है। परन्तु उस पर भी पक्षपात का आरोप लगाया जाता है, और किसी हद तक वह विषय से अछूता भी नहीं है। ऐसी चर्चा उत्कल भाषा के विद्वानों में है। और सबल रूप में है।

प्रोफेसर प्रह्लाद प्रधान, उत्कल विश्वविद्यालय (वाणी विहार) ने संस्कृत के काव्यों की चर्चा करते हुए उनका एक मूल्यांकन किया था। यह चर्चा मासिक पत्रों में हुई थी। और उसमें समालोचक के रूप में भाग लिया। प्रोफेसर गौरी कुमार ब्रह्मा (सेक्रेटरी, ओड़िशा साहित्य अकाडमी) ने उसमें काव्यों के मूल्यांकन पर त्रुटियों की ओर इशारा किया था। यह चर्चा पूर्ण बौद्धिक तथा अध्ययनशील रही है। कालिदास के नाटक तथा काव्यों की सुन्दर व्याख्या तथा समय की परिपक्वता तथा शुद्ध पाठ की ओर दृष्टिकोण का खिंचाव था। समालोचना की दृष्टि से यह मासिक-पत्रों का संलाप पाण्डित्यपूर्ण रहा है। इस आलाप से अनेक जन सजग हो अध्ययन करने लगे थे। खोज की जाने लगी थी। यह उच्चकोटि की प्रवाहित शास्त्रीय आलोचना, और दो विद्वानों के बीच की, सभी के लिये चिन्ता का विषय था और खोजपूर्ण विषयों के ज्ञातव्यता की ओर जाने का पथ-निर्देश था।

इस प्रकार की आधुनिक समालोचना में, हिन्दी भाषा के लेक्चरार श्रीयुत तारिणी चरण दास 'चिदानन्द' ने भी ओड़िया उपन्यास की समालोचना में भाग लिया है। लेकिन गौरी कुमार ब्रह्मा ने बड़े ही कठोर शब्दों में व्यक्तिगत ज्ञान की चर्चा कर डाली। इन्होंने यहाँ तक आलोचना की कि—"हिन्दी में बिना पढ़े तथा पुस्तकों का बिना रंग रूप देखे समालोचना की जाती रही होगी किन्तु ओड़िया में यह नहीं चलेगा।" इस एक पंक्ति में सारे हिन्दी साहित्य के मूल्यांकन को ढहा दिया गया है। जिसका उत्तर तारिणीचरण जी ने ठीक नहीं दिया है, ऐसा समालोचक विद्वानों की राय रही है। एक बात तो है कि हिन्दी में "अमृत सन्तान" के अनुवादक ने 'भण्डारी' शब्द का अर्थ 'भण्डार रक्षक' लिखा है, जब कि नापित होना चाहिए था। यों तो 'अमृत सन्तान', 'छ माण आठ गूंठ,' "का" के अनुवादों में ऐसे सैकड़ों शब्द हैं, जिनका मनमाने ढंग से अर्थ किया गया है। और इस भूल का कारण है, बात-व्यवहार, चाल-चलन, खान-पान, परिधान तथा अभिरुचियों और वहाँ बास करने वाली अनेक जातियों के सम्बन्ध में विशेष जानकारी का अभाव, जो बहुत कुछ वर्तमान चलते नाटकों से देखा जा सकता है।

इन सब कामों के लिये लोक वेद का अध्ययन आवश्यक होता है। इसी कमी के कारण तमाम हिन्दी संसार की आलोचना कर डाली प्रोफेसर गौरी कुमार ब्रह्मा ने। जिसका दास जी ने जो उत्तर दिया है, वह यहाँ विद्वानों में लचर माना गया है। डा० हरेकृष्ण महताब के सामने जब इस प्रकार की चर्चा उनके ही सम्पादकत्व में प्रकाशित होने वाले मासिक पत्र 'झंकार' में प्रकाशित लेखक के सम्बन्ध में बातें श्री गौरीकुमार ब्रह्मा कर रहे थे, तो उस समय इन पंक्तियों के लेखक भी मौजूद थे। जिन विषयों की गलती वहाँ मौजूद की जा रही थी, चुपचाप सुनने के सिवा और उपाय नहीं था, अवश्य सारे हिन्दी संसार को शामिल कर सानने का विरोध तो वहाँ मेरा था। लेकिन बाद में विषयों की खोज मैंने की थी, खासकर जिनका उल्लेख ऊपर मैंने किया है।

संस्कृत में एक वाक्य आता है—तुल्य बल विरोधात, यह बात बिलकुल सत्य है, जहाँ अपने-अपने पाण्डित्य का अभिमान होता है, वहाँ एक दूसरे के ज्ञान की तुच्छता प्रमाणित करने तथा अपने ज्ञान का प्रभाव अन्य पर लादने की परिपाटी पुरानी है, ओड़िशा में मर्मज्ञ समालोचक थे पण्डित लिंगराज मिश्र और डा० आर्त्तबल्लभ महान्ती। डा० महान्ती पण्डित लिंगराज से जरा खौफ सा खाते थे, वे यह चाहते थे कि पण्डित लिंगराज मिश्र उनके अध्ययन का लोहा मान लें। यहाँ एक बात, उदाहरण स्वरूप रखी जाती है उससे आन्तरिकता के छिपे डर का पता लगता है। एक रोज डा० आर्त्तबल्लभ से मिलने गये, तो आपने कहा—'आरे हिन्दी! देख सुन' और एक साहित्य सभा में पढ़ा जाने के लिये लिखा लेख पढ़कर सुनाया। लेख उत्तम और पाण्डित्यपूर्ण था, सिद्धान्त समालोचक मूलक था। लेख पढ़ना खतम हुआ तो कहा—'मुँ लेखि देइछि, बूझ़ू लिंगा,' अर्थात् मैंने लिख दिया है, समझे लिंगराज। यहाँ मैंने पाया कि पण्डित लिंगराज के ज्ञान की, पाण्डित्य की भययुक्त समालोचना है। उनको डर है कि पं० लिंगराज कहीं इसको नामंजूर न करें। मंजूर कर लेते हैं तो डा० साहब की जीत है। उस समय उनके मनोभावों की अभिव्यक्ति के समय आनन की चिन्ता जनित, भाल की रेखाओं का उतार-चढ़ाव का दर्शन मनोवैज्ञानिक था। भयभीत पण्डितजी के ज्ञान का लोहा मानना तथा मुख से अपने पाण्डित्य का प्रभाव भी डालना श्लेषयुक्त व्यक्तिकरण अध्ययन के योग्य था। यदि पण्डित लिंगराज उस लेख को नहीं समझ पाते तो डाक्टर के मन की असीम प्रसन्नता का चित्र खींचना वैसा ही दुरूह है जैसे मन का मूर्त्त स्वरूप अंकित करना, तो उनके पाण्डित्य की धाक होती। वर्तमान अंग्रेजी भाषा भाव के आधार पर प्रतिष्ठित ओड़िशा में भी समालोचक कहे जाने वालों की संख्या है। और यह संख्या जैसे-जैसे कालेजों में छात्रों की संख्या बढ़ती है वैसे-वैसे स्नातक समालोचकों की संख्या भी बढ़ती पर है। यहाँ अल्पज्ञता, बहुज्ञता का स्वांग करती है। कम से कम यह धारणा तो मन में है ही कि हिन्दी में कुछ नहीं है। उसका साहित्य बंगला के मुकाबिले में कुछ भी नहीं है। बंगला में क्या है, न तो यही परख करने को मौका आया और न यही कि हिन्दी में क्या नहीं है। समालोचना करने वाले विद्वान समालोचक का यह कर्तव्य होना धर्म है कि जिसकी हम कोई धारणा लेने जा रहे हैं उसके गुण-अवगुण की पहले जांच तो कर लें। केवल सुनकर के कोई ज्ञान पाना मामूली नहीं है।

डा० हरेकृष्ण महताब के आहुत द्वारा विषुव-मिलन के समय प्रान्त भर के उत्कल साहित्यिकों में उच्च स्तरीय समालोचक, लेखक, कवि, नाट्यकार, औपन्यासिक आते हैं, विषुव मिलन में भाग लेते हैं। यह द्वन्द्व गत साल बौद्धिकता का जामा पहिने आया और शारीरिक श्रमदान में परिणत हो गया था। रामचन्द्र दास ने अपनी वाक्य वाचा चातुरी से जो समालोचना की, समालोचना तो नहीं बल्कि छिद्रान्वेषी वृत्ति के साथ मंच पर देखे गये थे। राष्ट्रभाषा राष्ट्रीयता का प्रतीक नहीं है, जो ऐसा मानते हैं, गलत पथ पर चलने के लिये जनता को उत्साहित करके गुमराह करते हैं। अंग्रेजी उन्नति का एक मात्र मार्ग है। अवश्य इस कथन का प्रभाव सामूहिक उपस्थित जनों पर कम पड़ा है। इसके दो कारण थे। वहाँ उपस्थित श्रोताओं के मुख से सुना गया था। एक तो ओड़िया साहित्य के प्रति उपेक्षित विचाराभिव्यक्ति दूसरी बात थी अराष्ट्रीय भावों को श्रोताओं पर लादना। फलस्वरूप जो ओड़िया साहित्य के प्रति शुद्ध चिन्तना थी उसमें विरोधी भाव आ गये और आज भी उसका स्वरूप दुर्बल नहीं बल्कि परिपुष्ट और सबल-सुन्दर होगया। सत्य-शिव का सुन्दर दर्शन था।

डा० हरेकृष्ण महताब ने सबसे बड़ा काम किया है इस संस्था को मूर्त्त रूप देकर। इस विषुव-मिलन साहित्य सम्मेलन से सिर्फ ओड़िया साहित्य की अभिवृद्धि होती है, सो बात नहीं है। बल्कि हिन्दी के अलावा भारतीय भाषाओं के साथ भी सम्बन्ध जुड़ता है। अंग्रेजी के साथ भी सीधा सम्बन्ध आ जाता है। हिन्दी के सम्बन्ध की सुन्दर चर्चा आरंभ हुई थी, जैनेन्द्रकुमार, रामधारी सिंह दिनकर तथा प्रभाकर माचवे के भाषणों से। दिनकर जी की समालोचना ज्ञान को ज्ञातव्य की ओर ले जाने का इशारा था यह कि अंग्रेजी में अथक लिखते तथा लिखने का श्रम करने वाले सरोजिनी नायडू, अरविन्द घोष और पं० जवाहरलाल जी का मूल्यवान अवदान होने पर भी अंग्रेजी भाषा साहित्य के इतिहास लेखक ने कहीं भी इतिहास में इनके नाम का उल्लेख मात्र भी नहीं किया है। यदि वे अपनी प्रादेशिक भाषा भी लिखते होते तो जनता का तथा राष्ट्र का उपकार किया माना जाता। आज उनके ज्ञान को सैकड़ों पाते हों, लेकिन कोटि-कोटि जनता वंचित है।

आरंभ में ओड़िया साहित्य की श्रीवृद्धि करने के लिये उत्कल साहित्य समाज नामक संस्था बनी तथा उसके परिपोषक थे राजे महाराजे। वही खुशहाल थे, आनन्दोत्थान के जनक थे। उनमें वारिपदा (मयूर भंज) के महाराजा रामचन्द्र भंज देव का कीर्तिगान करता है, उनके द्वारा निर्मित रामचन्द्र भवन। यह शुद्ध साहित्य चर्चा का सौध था। मगर आज दल-बन्दी के दल-दल में फंस गया है। सर्वसाधारण के काम के लिये भाड़े में उठा हुआ है। फलस्वरूप उद्देश्य की कल्पना खतम ही समझनी चाहिए।

इन्हीं विपरीतगामी उद्देश्यों को फिर रास्ते पर लाने के लिये डा० हरेकृष्ण महताब ने सरकार के अधिकार के बाहर अपने व्यक्तिगत उद्यम से विषुव-मिलन संस्था बनाई जिसका जलसा प्रति वर्ष सतुवा सक्रान्ति के दिन सप्ताहव्यापी उत्सव पालित होता है। आज यही विषुव-मिलन साहित्य चर्चा का प्रधान केन्द्र बन गया है जिसके काम की चर्चा पहले हम कर आये हैं।

जहाँ तक हमे ज्ञान है, यह संस्था जिस प्रकार शुद्ध साहित्य की चर्चा, सारे विवादों को भूल, दलगत विचारों को बोध कर, एक किनारे रखकर, लोग इस संगम में आकर अवगाहन करते हैं, भारत में एक कहने का डरते प्रयास हमारा है। इस समय यहाँ कवि सम्मेलन उपन्यास, कहानी, नाटक, प्रबन्धादि लेखकों के पृथक-पृथक सम्मेलन होते हैं, चर्चा होती है। बाद में सर्वसम्मेलन होता है, जिसका नाम विषुव-मिलन है। यह अप्रेल मास में होता है। शरबत पिलाकर, सभी के गले में सुमन हार डालकर भारतीय भाषा को मुख्य स्थान देकर सम्मेलन सम्पन्न होता है।

हम पीछे साहित्य की दो धारा प्राचीन तथा नवीन का आरम्भ करके चर्चा में बहकर आगे बढ़ रहे हैं। प्राचीन पुरानी बुजुर्गी बातों को धारण किये बैठी खांसती रही और नवीन ने राष्ट्रीयता के जामे को पहिन लिया। उत्कलमणि पण्डित गोपबन्धु दाश के नायकत्व में पुरी के पास साखीगोपाल में जमा हुए। सद्य कालेजों से निकले उच्चकोटि के विद्वानों का संगम हुआ। एक विद्यालय के शिक्षक के रूप में, इनमें पण्डित गोपबन्धु दाश, पण्डित कृपासिन्धु मिश्र, पं० तारिणीचरण रथ, पं० नीलकण्ठ दाश, पं० लिंगराज मिश्र, आचार्य हरिहर दाश तथा पं० गोदावरीश मिश्र के नाम उल्लेखनीय हैं। इनको सत्यवादी के नाम से पुकारा जाने लगा। प्राचीन साहित्य की चर्चा छोड़, खास मध्यकालीन भंज साहित्य की उपेक्षा करके, और आगे बढ़ कर सामाजिक सेवा में रत रहने लगे। गाँव-गाँव घूमकर जन साधारण की असुविधा दूर करने की कोशिश होने लगी। राष्ट्रीयता के प्रेमी राजनैतिक भावधारा में स्वतः बह गये। वे जेलों तक में जाकर अपना समय बिताने लगे तथा उस सेवा कार्यों को लेखों, कविता तथा नाटकों में साहित्य रूप देने लगे।

गोपबन्धु दाश ने कारा में रहते कारा-कविता लिखी जिसकी एक कविता है—

मिशु मोर देह ए देश माटिरे।
देशवासी चालियान्तु पीठि रे।

इसी प्रकार की एक कविता हिन्दी में भारतीय आत्मा की है। एक फूल की चाह है—

मुझे तोड़ लेना बनमाली उस पथ पर तुम देना फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।

दोनों ओर के साहित्य की एक भावना शुद्ध राष्ट्रीयता-स्रोत प्रवाहित होने का सुन्दर स्वरूप है, लेकिन सत्यवादी के विद्यालय के सम्पर्क में आये छात्र आज शिक्षा के उच्च पद पर आसीन होते हुए भी वे अराष्ट्रीयता के पृष्ठपोषक अंग्रेजी के दासानुदास सत्यवादी कुल के अंगार से विचरण करते हैं और निर्लज भाव से अपने मत को व्यक्त करते फिरते हैं।

साहित्य की नवीन धारा का देश-जागृति के लिये बालारुण के समान उदय हुआ है। इसके लिये कांग्रेस का स्वदेशी आन्दोलन और महात्मा गान्धी का सत्य-अहिंसा आन्दोलन जिसमें स्वदेश प्रेम, राष्ट्र प्रेम था, जनमंगलकर भावना थी, यह नवीन धारा पूर्ण सहायक रही। जगह-जगह गाये जाने वाले राष्ट्रीय गीत की माधुरी छटा थिरकने लगी। स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है, भगवान तिलक की यह सीख देश में गूँजने लगी। उस समय की

अभिव्यक्ति चाहे गद्य में हो या पद्य में लोकप्रिय बनी। जन मुख से मुखरित भाषा आदृत बन गई। उस समय के लेखकों की अभिव्यक्ति देश जागृति के लिये आदर के साथ आई। लोक मुख से मुखरित देश तत्कालीन ब्रिटिश शासक गण ने साम्राज्य के उलटने की गन्ध पाई। बहुत विरोध के साथ उसको गाना और पढ़ना बन्द कर दिया गया। इसका फल हुआ कि पद्यों में पं० गोपबन्धु दाश, वान्छानिधि महान्ती, राष्ट्रीय कवि वीरकिशोर दास आदि अधिक जन-जन के समीप आये। गद्य लेखकों में डा० हरेकृष्ण महताब और श्रीयुत नित्यानन्द महापात्र की रचनाओं पर प्रतिबन्ध लग गया। किन्तु इन लोगों की रचनायें लोग खोज-खोजकर पढ़ने लगे। स्कूलों और कालेजों और भाषा के प्रति आदर बढ़ने लगा। इसका फल रहा यह कि प्राचीन साहित्य जन जीवन के लिये उन्नति से दूर माना जाने लगा। वह विलास का साधन माना जाने लगा। अश्लील समझकर उसको पर्दे के अन्दर, नेपथ्य में या मन्दिरों में पूजा के समय गाया जाने लगा। कहीं पारलौकिक सागर को तैरने की नौका माना जाने लगा, तो कहीं डुबोने, रौरव का पथ साफ करता नजर आने लगा। इससे वह जन जीवन से हट सा गया। अवश्य विलासी पण्डितगण जब कहीं बैठते तो चर्चा करते। राम, कृष्ण के चरित्र गाने वाले परमार्थी पथ बनाने वाले माने जाने लगे। लेकिन इनका राज्य राजा लोगों ने छीन लिया। जिनके पास काम न था, आनन्दमय जीवन बिताना धर्म था, उन राजवंशी कवियों में उपेन्द्र भंज का नाम उल्लेखनीय है। मौज के लिये रचा जाने वाला साहित्य रस, अलंकार, सौन्दर्य, शृंगार का अंग सा बन गया। रतिशास्त्र के मर्मज्ञ शास्त्रीय विद्वान उपेन्द्रभंज प्रधान जनक माने जाने लगे। अवश्य ही विद्वान कसरती जमा शब्दों के अर्थों को खींच खांच कर बढ़ाने में जहाँ श्रम करते कला दिखाते एक पद के अर्थों को ४–४, ५–५ प्रकार के वेशों से उपस्थित करते, वहाँ जनता इस प्रथा को छोड़कर यह भी गाती—

विष्णुपदी विष्णुपद इकार भेद शबद
तरणी रे गतागत तहीं उचित
विशारद से सामन्त, मत्त रे दास सेवित
डाकु न सुणन्ते रघुनाथ कथित
विषधर प्राये कि तुहि
बेले नेत्र ढालि सुण। उदार नोहि
बधिर नुहई बीर
बोइला तहुँ धीबर
शुणिलिणि पथरे पथर अबळा।
बलि पड़ि तो चरणु आशंका उपुजे एणु
नउका नाइका हेले बुड़िष भेळा।
वृत्ति ए मो पोषे कुटुम्ब।
बसाइ न देबि पाद न धोई नाव॥

अर्थ :—विष्णुपदी (गंगा) तथा विष्णुपद इन दो शब्दों में केवल 'ईकार' का भेद है। दोनों को पार करने के लिये तरणी की आवश्यकता होती है। वह भक्तों में श्रेष्ठ केवट जो भगवान भजन में लीन है 'पुकार को नहीं सुनता है। रघुनाथ जी कहते हैं—अरे तू तो साँप भी नहीं है साँप भी नेत्र से सुनता है तू तो उतना भी उदार नहीं है। यह सुनकर धीवर ने कहा—हे वीर मैं बहिरा नहीं हूं। मैंने सुना है आपके पद की रज पड़ने से पत्थर नारी में बदल गया है। मुझे आशंका होती है कि यह नाव नायिका यदि बन जावे तो मेरा तो बेड़ा ही डूब जायेगा। यह मेरी वृत्ति है। कुटुम्ब का पालन करता हूँ। इसलिये साफ बात है कि बिना पैर धोये मैं नाव में नहीं बैठाऊँगा।

हिन्दी के पाठक तुलसी 'कवितावली' के पद्य पढ़ लें जो केवट ने राम को गंगा पार करते कहा था—"....बिन पग धोये नाथ नाव न चढ़ाई हौं। लेकिन यह साहित्य आजकल भंज जयन्ती के चर्चा का विषय सा बन गया है। फलस्वरूप यह प्राचीन साहित्य बौद्धिक तथा विद्वानों की अथाई का शास्त्र सा वन गया है और नवीन साहित्य जिसके जनक फकीर मोहन माने जाते हैं और आगे चल कर पं० गोपबन्धु दाश उसके उत्तराधिकारी बने, जिसकी चर्चा सत्यवादी युग के नाम से की जा चुकी है, उसका बोलबाला हो गया। भले ही लोग सत्यवादी युग का नाम न लें लेकिन आज स्कूल कालेजों में अध्ययन का विषय बना है। उपन्यास, कहानी, नाटक तथा कविता काव्य के रचयिता प्राचीन साहित्य धारा की याद भर करते हैं। वह दैनन्दिन जीवन से हट गया है। ठीक हिन्दी की सी धारा जैसा काम उत्कल भाषा में भी हुआ है। भंज साहित्यिक ग्रन्थों में 'वेदहीश विलास' को छोड़कर अन्य साहित्य-ग्रन्थ खास करके 'कोटि ब्रह्माण्ड सुन्दरी' और 'लावण्यवती' को बहन भाई के सामने, माता पुत्र के सामने पढ़ने की धृष्टता तो कदापि नहीं करेंगे। इससे हिन्दी भाषा का साहित्य भी अछूता नहीं माना जा सकता। केशव की 'कविप्रिया' बिहारी की 'सतसई', देव, वृन्द आदि कितने कवियों की रचना जो इसको काव्य का भूषण मानते हैं। काव्य, रस, अलंकारों की चर्चा करते, वे कहते हैं—सर्व ढके सोहत नहीं, उघरे होत कुवेश, अर्द्ध ढके छविपात हैं कामिनि कुच और केश। ऐसी चर्चा में ओड़िशा पीछे नहीं। ताड़ पत्रों, पत्थर पृष्ठों तथा कागज पृष्ठों पर अंकित नयन रति रम्य विलास प्यास को मिटाने के लिये शान्त, संतोषान्वित मुखताम्बूलारुण अधर ओडिओं की कलाप्रियता अनुभव गम्य तो है ही, अनुशीलनीय भी है। सातवीं शताब्दी से जिस प्रधान तान्त्रिक 'उड्डियान पीठ' की चर्चा के लिये ओड़िशा नामवर और मर्मज्ञ माना जाता था ऐसा ऐतिहासिकों ने माना है। उसकी अभिव्यक्ति वैष्णव धर्मावलम्बियों ने भी भगवान के साथ साहित्य सृजन के नाम से की है और जिन तात्विक विवेकवान विचारकों ने समा-लोचना की तो गाली दी गई—साहित्य संगीत कला बिहीना।

से नर पशु पुच्छ विषाण हीना।

बड़ी बात विवेचनीय है कि जिस वैष्णव तत्व की उपासना करते उपासकों ने, वात्सायन मुनि के काम विज्ञान की विवेचना में रत तान्त्रिक ब्रह्मवादियों को उखाड़ा है, वे उनके कामों को उसी प्रकार चला रहे हैं जिस प्रकार हर के द्वारा भस्म किये मनोज के कर्म को

शिव के आदेश से संसार करता है। जिस काम के लिये मानव निन्दा करता है घूम कर दूसरे नाम से खुद करता है। फलस्वरूप यह धारणा बन जाती है कि मानव का खास कोई सिद्धान्त नहीं शास्त्र नहीं। पाप नहीं, पुण्य नहीं और जो कर्म किया जाय शंकर रहित निष्काम किया जावे, वही पुण्य का कर्म है। कर्म को करके डरना गीता में उसी को पाप कहा है, अधर्म कहा है। गुलाब का फूल खुशबू धारण करता है और दूसरे को दान करता है। यह उसका धर्म करना हुआ, खुशबू से क्या लाभ है? खुशबू क्यों होती है, यह विचार करना दान लेने वाले का काम है। यही विवेचना शास्त्रीय है और विज्ञान सम्मत है। किसी एक हद तक पथ का निर्देश करने वाला है। परन्तु आज इस सिद्धान्त का प्रायः सर्वत्र अभाव सा है। अवश्‍ नवीन ओड़िया साहित्य आज कालेजों में आदृत है लेकिन अपनी भाषा पर अपनी भाषा के शब्द भण्डार पर शब्दों के चयन पर विश्वास नहीं है।

यह मेरा अनुभव है कि १९४२ के पहले का भाव ओडिया जाति तथा उसकी चिन्तना, लगन और भाषा साहित्य—प्रेम में तथा आज की चिन्तना और कार्य में बहुत अन्तर है। त्याग में, जाति की सेवा में, देश के प्रति अभिमान में, भाषा के प्रति प्रेम में और अभिमान में एक प्रकार से अवसाद जनित चिन्ता में विभ्राट आ गया है। अवश्य आज ओड़िशा में बहुत पाठ पढ़ने वाले हैं, कालेजों में संख्या है। परन्तु इन कालेजों से निकलन वाले ओड़िया प्रेमी विद्वानों में भाषा के प्रति एकनिष्ठ प्रेम, अभिमान तथा कार्य में उपयोग करने के प्रति लगन कम है। यह अभाव अंग्रेजी के प्रति अत्यन्तानुराग से है। क्लास में पढ़ी जाने वाली विज्ञान की भाषा का ढोल है। इस चिन्ता में केवल ओड़िया हैं ऐसी बात नहीं है अंग्रेजी के प्रति भावना सभी प्रान्तों में समान है। और उसका एकमात्र कारण है, अर्थाभाव। विज्ञान के नाम पर पढ़ी जाने वाली क्लर्की तथा दफ्तरी भाषा के प्रति झुकाव है। लोग फाइलों के लिये गढ़े शब्दों के प्रति इतने अभ्यस्त हैं कि अब अपनी भाषा में उनको व्यक्त करना कठिन हो गया है। फलस्वरूप बिना संकोच के वे यह कहते नहीं लजाते कि मातृभाषा में अमुक शब्दों की अभिव्यक्ति के लिये शब्द नहीं है। इसके बाद की चर्चा में भाषा है। अंग्रेजी में जो पढ़ते हैं उसको अंग्रेजी में ही व्यक्त करने का न तो उतना अंग्रेजी का ज्ञान है न मान ही। परन्तु मनमें उमड़ते भाव उछलते हैं, उफनाना चाहते हैं तो वे ही कविता, कहानी, नाटक आदि में रेखाचित्र बनाने लगे। पाठक पढ़ने लगे और उससे अर्थाभाव को दूर करने में सहायता मिली। इसमें यह आत्म विश्वास नहीं, यह लगन नहीं कि अपनी मातृभाषा में वे भाव व्यक्त क्यों न किये जावें। जिनको कहा जाता है कि अमुक शब्दों का भाव भारतीय भाषा में आते ही नहीं। तो क्या इसको हम मातृभाषा का प्रेम माने।

भाषा-दौड़-चिन्तना महान-विशाल है। चिन्तना के लिये भाषा की जरूरत पड़ती है। विशेष ज्ञान के लिये भाषा की जरूरत नहीं होती। भाषा के लिये जरूरत है शुद्ध चिन्तन, स्वच्छ विचार, एव आनन्दमय जीवन के उदार भाव। परमानन्द पाने के लिये क्या भाषा की जरूरत होती है? उसके लिये भारतीय चिन्ताधारा में अनेक उपाय हैं। एक समालोचना सभा में भाग ले कर एक बार डा० हरेकृष्ण महताब ने कहा था—भाषा ज्ञान की दाता नहीं,

बल्कि ज्ञान के विचार अभिव्यक्ति जनित भावों को परिवहन करने वाली है, इसी प्रकार का भाव श्री विरेन्द्रनाथ दास बी० ए० ने भी एक लेख में व्यक्त किया है, और उन लोगों की कड़ी समालोचना की थी जो कि भाषा को ज्ञान का साधन मानते हैं। स्वाधीन विचार व्यक्त करने वालों की संख्या अंगुलियों के पोरों पर गिनी जाने वाली है। तमाम स्कूल, कालेज, दफ्तरों तथा फाइलों के फीतों में सिर्फ यही चर्चा है कि विज्ञान सीखना है तो अंग्रेजी पढ़ो। सारा भारत आज विज्ञान की ध्वनि से ध्वनित है। राष्ट्रीयता को भी भूल गये हैं। भाषा का ज्ञान और उसमें लिखे जाने वाले भावों के विरुद्ध भावों की उपस्थिति है।

साहित्य सृजन इच्छा करने से नहीं होता, वह स्वान्तः सुखाय होता है। अपने मन को सुख देता है, दूसरे के मन को भी सुख देता है, शान्ति देता है, आनन्द देता है। जो आनन्द दान करता है वहीं हित कर सकता है। जिससे हित होता है वही साहित्य है।

सन् १९४२ के पहले रचा साहित्य प्राणवन्त है। कुछ कर गुजरने की ख्वाहिश हरेक के प्राणों में स्पन्दित है, गतिशील है, तेज है और इसलिये तेज स्वतन्त्र विचार चिन्तना और भाव मिलते आते हैं। तमाम बाजार, रास्ता, घाट, रेलों तथा बसों पर गाया जाने वाला साहित्यमय गान "राष्ट्रीय पताका जातिय गौरव, जाति जीवन, जातिय मानरे" गाकर हाथ फैलाकर मांगने वाला खाली हाथ में नहीं लौटाता था। कहाँ वह और कहाँ यह विज्ञान का युग, जहाँ चार क्लास से अंग्रेजी अनिवार्य रूप से पढ़ाई जाती है।

सो साहित्य का प्रेम सीमा के अन्दर है। प्रथम है अर्थ। उसी पर सब कूता जाता है। बड़े से बड़े चिन्तनाशील लेखक प्रथम जनबल देखता है, लोकप्रियता देखता है। लोग इसको स्वीकार करेंगे कि नहीं, बाजार में बिकेगी कि नहीं, कौन सा उपाय अवलम्बन करने से पैसे मिलेंगे। सारी वृत्ति में प्रथम नाम दूसरा अर्थ रहता है। ये सब भाव अंग्रेजी की देन हैं और यह सिर्फ ओड़िशा में नहीं सारे भारत में एक सा भावों का परिवहन और आदान प्रदान होता है।

समय का प्रभाव सभी के सिर पड़ता है। उत्कल भी उससे अछूता नहीं है। १३ जिलों का १॥ कोटि भाषा भाषी ओड़िशा चिन्तना में, कला में एक था—यह बात सिद्ध है मन्दिर की कलापूर्ण सुन्दर पत्थर की प्रतिमाओं से साहित्य की अनुशीलन वृत्ति से तथा वैज्ञानिक ढंग से, शास्त्रीय चिन्तन तथा अध्ययन से मालूम होता है। ११ हवीं सदी से की गई शुद्ध स्वच्छ भावों की अभिव्यक्ति साहित्य से मिलती है। इसलिये ओड़िशा के समालोचक यह कहते नहीं रुकते कि यह ओड़िया किसी भी प्रान्तीय भाषा से पीछे नहीं है। उसको अभिमान है शारला दास, बलराम दास, जगन्नाथ दास तथा मध्ययगीन कवि अभिमन्यु सामन्त सिंह तथा उपेन्द्र भंज से। आधुनिक लेखकों में फकीर मोहन, राधानाथ राय, गोपबन्धु दास, मधुसूदन दास, कालिन्दिचरण पाणिग्राही, हरेकृष्ण महताब, नित्यानन्द महापात्र, गोपीनाथ महान्ती, प्रोफेसर आर्त्तवल्लभ महान्ती, प्रहलाद प्रधान आदि से। आज ओड़िशा साहित्य, कविता, उपन्यास, कहानी, नाटक प्रबन्ध, समालोचना आदि में परिपुष्ट होता है। दुःख है तो यही कि जगन्नाथ का ओड़िशा भी अभावों से ग्रसित है और दिन-दिन

कुछों के मन स्वार्थपूर्ण प्रान्तीयता की ओर जा रहा है। यदि इनमें प्रान्तीय जनमंगलमयी भाव होते तो डरने की बात नहीं थी। मगर मैं ही जीऊँ की चिन्ता प्रथम है यह सिर्फ है कालेजों के स्नातकों में, जिनका एकमात्र लक्ष्य है—नौकरी करके अर्थाभाव मिटाने की चिन्ता। और यह यदि बीमारी है तो इस रोग से भारत के प्रान्त अधिक रोगी हैं, वनस्पत ओड़िशा के। और यह है अंग्रेजी की देन। ऐसा बना रहा तो साहित्य को अंग्रेजी कदापि स्वतंत्र नहीं होने देगी। कारण इससे हमें वह नहीं मिलता जो अंग्रेजों को विलायत में देती है। सार सार इंगलैण्ड में और थोथा भारत में आता है। विलायत से लौटे व्यक्ति के प्रति ज्ञान की इज्जत जब तक बनी रहेगी, किसी भी दिशा में देशात्मबोध आने वाला नहीं है। और बिना आत्माभिमान बोधक भाषा साहित्य के प्रति प्रेम भाव पैदा हुए शुद्ध साहित्यिक चिन्तन तथा ज्ञान गम्भीर गौरान्वित करने वाला मनन का चित्रण होना असंभव है।

अंग्रेजी पढ़े लिखों के सामने अंग्रेजी भाषा साहित्य की गति आदर्श है, ऐसा आभास मिलता है। आज के प्रचलित मासिक पत्रों के काव्य, कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास, प्रबन्धादि की रचना शैली से खान पान परिधान से, चिन्तन की अभिव्यक्ति से भाषा की भावना प्रेरणा और उसका आदर्शोपदेशोदार नहीं है। शिक्षित कहे जाने वाले किसी गरीब के लिये चार पैसे जेब से निकालने के पेश्तर अर्थशास्त्र की आलोचना होती है। मगर ५०, ७५, का बूट १५०-२०० का सूट मितव्ययिता के अन्दर माना जाता है। उसके लिये मन में कष्ट नहीं बल्कि आनन्दोर्मियाँ खेलने लगती हैं आनन पर। इन सब बात-व्यवहारों से शिक्षा ज्ञान की अभिरुचियों से, साहित्य की कसौटी की जा सकती है। कारण यह सब आते हैं खैंवर की उसी घाटी-पथ से। और जो रचा जाता है, जो कहा जाता है, उसमें केवल एक मध्यम श्रेणी के मानव के चरित्र का ही प्राधान्य है। यह चिन्तना अंग्रेजी साहित्य की है। हमारे प्राचीन साहित्य की चिन्ता जनित न तो अभिरुचि है और न अभिव्यक्ति की अभिव्यंजना ही। यह चिन्ताधारा उथली है। आज उत्कल साहित्य भी उसी पाश्चात्य प्रवाह में बह रहा है। कहने को वे गौरव से कहते हैं—हमारा पुरी का जगन्नाथ मन्दिर, सूर्य का कोणार्क मन्दिर, भुवनेश्वर का लिंगराज मन्दिर कला और ऐतिहासिक सौन्दर्य की श्रेष्ठ पृष्ठभूमि अनन्त वासुदेव और राजरानी मन्दिर जिसकी कमनीय कान्त कविता का चित्र लिये खड़े हैं—आज भी सैकड़ों साल से वे ही रूप, भाव लिये खड़े हैं। यह सच है कि आज उससे न तो पेट भरेगा न विश्वसाहित्य दरबार में स्थान मिलेगा। जिन महान कवियों की भावनाओं के रेखाचित्र ताड़ पत्रों पर खिंचे हैं, जिनके सहारे आज साहित्य डाक्टर, वाचस्पति बनते हैं, वैसा बनने की कोशिश उत्कलीय नहीं करते हैं। अपने को ज्ञानी, पण्डित और विश्व-कवि बनने के लिये अंग्रेजी का गुणगान तो करते हैं किन्तु अभिमान पूर्वक आत्मविश्वास के साथ अपनी मातृभाषा को अलंकृत करने की एकनिष्ठ चिन्ता नहीं करते हैं, उद्यम नहीं करते, जो करते हैं लोभ लाभ के लिये। वह लाभ फिर चाहे अर्थ का हो, चाहे नाम का हो और चाहे दिखाने के लिये, लेकिन एकनिष्ठता नहीं है। फलस्वरूप प्राचीन साहित्य की मानवी सीख १८५० तक आकर रुक सी गई है। और जो लंगड़ी लूली सी चली भी तो १९४५ से

विपथगामी सी चल पड़ी है। इसका सारा प्रभाव आया है पश्चिम से। वहाँ से गुण तो आया नहीं। चन्द्रलोक जाने का उद्यम, आदर्श और स्वाभिमानाभिसिक्त लगन तो आई नहीं। हाँ, गंदे नालों में बहने वाली गन्दगी बाँधकर लाये, वे जो शिक्षा के लिये भारत से गये थे ओड़िशा से गये। वे आये आपा खोकर। अस्तु।

जब से ओड़िया भाषा और साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ है। तब से तीन धारायें बही हैं यह साफ सामने परिलक्षित है। प्रथम है आध्यात्मिक विचारधारा का प्रवाह, दूसरी है आधिदैविक विचारधारा तथा भौतिक विचारधारा, जो राम कृष्ण के जीवन चरित से आधारित है और तीसरी है आधुनिक विचारधारा, जिसको प्रगतिशील विचारधारा कह सकते हैं।

मोटा मोटी ओड़िया साहित्य में प्रगतिशील चिन्तना को समझने के लिये यह विभाग आवश्यक है। इससे एक निर्दिष्ट पथ मिलेगा।

तिलकराज

पंजाबी आलोचना

पंजाबी में आलोचना का विकास आधुनिक युग में ही हुआ है—यद्यपि यह सत्य है कि आधुनिक युग से पूर्व भी साहित्य-रसिक किसी कृति को सुनने अथवा पढ़ने के बाद आनन्दविभोर होकर उसकी प्रशंसा कर दिया करते थे और वह एक प्रकार की आलोचना ही होती थी, किन्तु उस प्रशंसात्मक आलोचना का न तो कोई शास्त्रीय आधार होता था और न ही उसमें कृति अथवा कृतिकार के सम्यक् मूल्यांकन की ओर कोई ध्यान दिया जाता था। पंजाबी-आलोचना के आधुनिक युग में ही विकसित होने के अनेक कारण हैं। इनमें सर्वप्रथम तो यह है कि आधुनिक युग से पूर्व पंजाबी-साहित्य का प्रणयन प्रायः धर्म के आश्रय में ही हुआ था। धर्म के प्रति अंध-श्रद्धा एवं भक्ति-भावना के कारण ऐसे साहित्य का अध्ययन-आस्वादन तो होता रहा किन्तु उसके कलात्मक सौंदर्य के निष्पक्ष मूल्यांकन की कोई आवश्यकता नहीं समझी गई।

दूसरा कारण यह है कि पंजाब भारत का सीमावर्ती प्रदेश है तथा साहित्य के विवेचन-विश्लेषण के लिए जिस शांति और व्यवस्था की अपेक्षा होती है, आधुनिक युग से पूर्व वहाँ प्रायः अभाव ही रहा है। तीसरा कारण यह है कि तार्किक विवेचन के लिए गद्य का माध्यम ही सर्वाधिक उपयुक्त होता है और पंजाबी भाषा में आधुनिक युग से पूर्व गद्य का प्रायः अभाव ही रहा है। सच तो यह है कि लगभग सभी भारतीय भाषाओं का विकास पश्चिमी साहित्य एवं संस्कृति के सम्पर्क का परिणाम है और पंजाबी भी इसका अपवाद नहीं है।

चौथा और सर्वप्रमुख कारण यह है कि आलोचना का प्रादुर्भाव यथेष्ट साहित्य-सृजन

के बाद ही होता है और इस प्रकार प्रत्येक साहित्य में आलोचना का विकास पुरोगामी न होकर पश्चाद्वर्ती ही हुआ करता है। २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक पंजाबी में अपेक्षाकृत पर्याप्त साहित्य प्रणीत हो चुका था, प्रादेशिक परिस्थितियाँ भी सन्तोषजनक एवं अनुकूल बन चुकी थीं और पश्चिमी साहित्य के संपर्क के फलस्वरूप गद्य का माध्यम भी निर्मित हो चुका था। इस प्रकार आलोचना के लिए जितनी सुदृढ़ पृष्ठभूमि आधुनिक काल में उपलब्ध थी उतनी पहले कभी नहीं थी।

पंजाबी साहित्य में आलोचना के प्रवर्त्तन का श्रेय बावा बुधसिंह (१८७८-१९३१) को है। इन्होंने 'हंस चोग' (१९१३), 'कोयल कू' (१९१६) तथा 'बंबीहा बोल' (१९२५) के माध्यम से पंजाबी साहित्यकारों की व्यवस्थित जीवनियों के अतिरिक्त उनकी काव्य-रचना पर परिचयात्मक टिप्पणियां प्रस्तुत कीं। बावा जी का यह प्रारम्भिक प्रयास सराहनीय तथा उल्लेखनीय है, क्योंकि उन्होंने इस सामग्री एव दिशा-निर्देश के द्वारा आगे आने वाले आलोचकों का पथ-प्रदर्शन किया।

बावा बुधसिंह के पश्चात् मौला बख्श कुशता ने 'पंजाब दे हीरे' और 'पंजाबी शायरां दा तज़करा' लिखकर साहित्य के इतिहास-लेखन के लिए पर्याप्त सामग्री जुटायी। इनकी आलोचना का विषय पंजाबी के मुसलमान कवि ही रहे। प्रस्तुत प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि मुसलमान कवियों ने जिस प्रकार से पंजाबी साहित्य को समृद्ध एवं सम्पन्न किया है, वह एक गौरव का विषय है। यद्यपि कुशता जी का दृष्टिकोण मूलतः प्रशंसात्मक ही है किन्तु वर्गविशेष के कवियों से सम्बन्धित आलोचना प्रस्तुत कर उन्होंने एक नयी परम्परा को जन्म दिया।

पंजाबी आलोचना के क्षेत्र में तीसरे महत्वपूर्ण लेखक डा० मोहनसिंह हैं। यह पहले आलोचक हैं जिन्होंने भाषा, साहित्यिक परम्पराओं तथा मूल्यों के सन्दर्भ में पंजाबी साहित्य का इतिहास लिखा। इन्होंने कवियों के स्थान-निर्धारण का जटिल कार्य भी किया तथा पंजाबी भाषा और छन्दों को पश्चिमी सिद्धान्तों के आधार पर परखते हुए आलोचना के स्पष्ट नियम प्रतिपादित किये। इनके इतिहास में जो गहनता, सूक्ष्मता तथा प्रामाणिकता है वह आज भी प्रायः कम इतिहासों में मिलती है। 'पंजाबी अदब दी मुख़तसर तारीख़', 'शाह हुसैन' आदि इनकी अन्य उल्लेख्य रचनाएं हैं।

पंजाबी आलोचना में प्रिंसिपल तेजासिंह का भी महत्वपूर्ण स्थान है। 'नवीआं सोचां', 'साहित दरशन', 'सहिज सुभा' के द्वारा इन्होंने आलोचनात्मक लेखों की परम्परा का प्रवर्त्तन किया। इन्होंने नवोदित साहित्यकारों की रचनाओं की भूमिका लिखकर उन्हें प्रोत्साहित करने का उल्लेखनीय कार्य भी किया है। पंजाबी के सर्वाधिक लोकप्रिय उपन्यासकार नानकसिंह के प्रसिद्ध उपन्यास 'चिट्टा लहू' की भूमिका में उसकी जो प्रशंसात्मक आलोचना की गई है उसके फलस्वरूप कृति एवम् कृतिकार दोनों को बहुत अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है।

प्रिंसिपल तेजासिंह के बाद भाई जोधसिंह तथा पूरनसिंह के नाम उल्लेखनीय हैं। भाई जोधसिंह का झुकाव अधिकांशतः गुरुमत दर्शन की व्याख्या-विश्लेषण की ओर ही अधिक रहा है। पूरनसिंह ने 'खुल्ले लेख' और कुछ अन्य रचनाओं में साहित्य-सिद्धान्तों तथा विचारों से

सम्बद्ध अपने मौलिक विचार व्यक्त किये हैं। यद्यपि इनकी प्रतिपादन-शैली आलोचनात्मक नहीं है लेकिन फिर भी साहित्य-क्षेत्र में नये विचारों को प्रतिपादित करने का प्रयास उल्लेखनीय है।

पंजाबी समालोचना के क्षेत्र में सन्तसिंह सेखों के आते ही नवीन दिशा का प्रवर्त्तन होता है। इस समय विश्व साहित्य मार्क्स के विचारों से प्रभावित हो रहा था और आलोचना का क्षेत्र भी इससे अप्रभावित नहीं रह पाया था। सेखों ने सर्वप्रथम अपने कहानी-संग्रह एवं एकांकी-संग्रह की भूमिका में इन दोनों साहित्य-रूपों की रचना-पद्धति एवं प्रविधि को पाश्चात्य नियमों के अनुकूल लिखकर पंजाबी पाठकों से उनका परिचय करवाया। पंजाबी आलोचना को इनकी सबसे बड़ी देन यह है कि इन्होंने पश्चिमी आलोचना की शैली के साथ ही साथ यथार्थवादी दृष्टिकोण को भी निरूपित किया है। विश्लेषणात्मक एवं निर्णयात्मक आलोचना को व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करते हुए उन्होंने मार्क्सवादी सिद्धान्तों को अधिक महत्ता दी है। इनके लेख 'साहित्य आरथ' पुस्तक में संग्रहीत हैं। मार्क्सवादी आलोचना लिखने वाले अन्य आलोचकों में प्रोफेसर किशनसिंह का नाम भी महत्वपूर्ण है। प्रोफेसर किशनसिंह के विचारों से जो लेख पत्र-पत्रिकाओं में ही प्रकाशित होते रहे हैं या फिर गोष्ठियों में पढ़े जाते रहे हैं, अभी तक उनका कोई संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ है।

सेखों परवर्त्ती लेखकों में गोपालसिंह दरदी तथा डा० सुरिन्दरसिंह कोहली उल्लेखनीय हैं। डा० गोपालसिंह दरदी की प्रसिद्ध आलोचनात्मक रचनाएँ 'पंजाबी साहित दा इतिहास', 'पंजाबी रोमांटिक कवि', 'गुरु ग्रन्थ साहिब दी साहितक विशेषता' और 'साहित परख' हैं। इनकी आलोचना शैली में भारतीय तथा पश्चिमी दोनों ही पद्धतियों का अनुसरण मिलता है। इन्होंने प्राचीन कवियों के विषय में अपने निर्णयात्मक विचार स्पष्ट रूप से व्यक्त किये हैं।

डा० सुरिन्दरसिंह कोहली ने 'पंजाबी साहित दा इतिहास' लिख कर पंजाबी आलोचना को एक नई दृष्टि प्रदान की है। इन्होंने धार्मिक साहित्य को धर्म के ही परिवेश में परखा है तथा अन्य साहित्य का मूल्यांकन पाश्चात्य तथा पौर्वात्य सिद्धान्तों के आधार पर किया है।

पाश्चात्य आलोचना-सिद्धान्तों को पंजाबी आलोचना के क्षेत्र में लाने का श्रेय डा० हरभजन सिंह, डा० रोशनलाल अहूजा तथा प्रो० गुलवन्तसिंह को है। डा० हरभजनसिंह ने प्राचीन यूनानी विद्वान् अरस्तू की रचना को 'अरस्तु दा काव्य-शास्त्र' शीर्षक से प्रस्तुत किया है। डा० रोशनलाल अहूजा ने 'आलोचना दे सिद्धान्त' के द्वारा प्रमुख पाश्चात्य समीक्षकों के आलोचनात्मक सिद्धान्तों को निरूपित किया है। गुलवन्तसिंह ने टी० एस० इलियट के आलोचनात्मक निबन्धों को पंजाबी रूप देने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार प्रेमप्रकाशसिंह 'प्रेम' ने भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का पंजाबी में निरूपण किया है।

आधुनिक पंजाबी उपन्यास एवं नाटक को ऐतिहासिक तथा सैद्धान्तिक दृष्टि से परखने का सर्वप्रथम प्रयास प्रो० गुरचरनसिंह ने किया है। इससे पूर्व आलोचना का क्षेत्र कविता तक ही सीमित था। 'पंजाबी नावलकार' और 'पंजाबी नाटककार' इनकी दो उल्लेखनीय आलोचनात्मक कृतियाँ हैं।

प्रो० दीवानसिंह ने 'ससी हाशम' तथा 'सोहणी फ़ज़ल शाह' पुस्तकों को सम्पादित करते

हुए इनकी भूमिका में फारसी एवं अंग्रेजी सिद्धान्तों के अनुकूल इनकी विस्तृत आलोचना की है। इसके अतिरिक्त 'सूफीवाद ते होर लेख' तथा 'फरीद दरशन' पुस्तकें इन्हीं सिद्धान्तों पर आधृत हैं।

प्रो० हरबंससिंह ने 'भाई वीरसिंह ते ओन्हां दी रचना' में सर्वप्रथम एक साहित्यकार को विविध पहलुओं से परखने का प्रयास किया है। प्रो० पियारासिंह ने 'नाटक रत्नाकर' में पंजाबी नाटक पर प्रकाश डाला है। बलबीरसिंह 'दिल' ने पंजाबी कहानी के विकास का अध्ययन प्रस्तुत किया है। गुरमुखसिंह 'जीत' ने 'समकाली पंजाबी कहानी' में समकालीन पंजाबी कहानी की स्थिति को स्पष्ट किया है। प्रिंसिपल गुरबचनसिंह तालिब ने 'आधुनिक वारतक लिखारी' तथा 'अणपछाते राह' के द्वारा अपनी गहन, गम्भीर एवं निर्णयात्मक आलोचना-पद्धति का परिचय दिया है।

प्रो० करतारसिंह सूरी का 'साहित्य दरपन', सुरिन्दरसिंह नरूला का 'पंजाबी साहित दी जाण पहचाण' प्रो० अतरसिंह का 'काव्य-अध्ययन', कुलबीरसिंह कांग का 'साहित चिंतन', प्रितपालसिंह की 'नावल दी परख' तथा हरचरनसिंह 'दी नाटक कला' आदि भी उल्लेखनीय आलोचनात्मक कृतियाँ हैं।

पंजाबी आलोचना के विकास में पत्रिकाओं का भी अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान है। इन पत्रिकाओं ने जहाँ एक ओर नवोदित आलोचकों को प्रोत्साहित किया है वहाँ दूसरी ओर नये सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में भी सहायता प्रदान की है। 'साहित समाचार', 'आलोचना', 'पंजाबी दुनिआ', 'आरसी', 'पंज दरिया', 'पजाबी साहित', 'कहाणी', 'प्रीतम' इत्यादि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके साथ ही प्रगतिशील साहित्यिक संस्थाओं के आलोचना सम्बन्धी कार्यों को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता है।

लेकिन इतना सब कुछ होते हुए भी यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि पंजाबी साहित्य में आलोचना के विकास की गति बहुत धीमी रही है—सच तो यह है कि पजाबी आलोचना पिछले बीस वर्षों में ही अधिक गतिवान रही है और इन वर्षों में भी पंजाबी आलोचना अधिक विकसित एवं समुन्नत नहीं हो सकी है। उसका स्तर आज भी वही पुराना है और इसके मूल में दोष-दर्शन की प्रवृत्ति ही सर्वाधिक बाधक रही है। आलोचक प्रायः साहित्यकार के दोषों पर अधिक ध्यान देता हुआ उसके गुणों, विशेषताओं तथा मौलिकता की उपेक्षा कर देता है। ऐसी स्थिति में स्वस्थ और निष्पक्ष आलोचना का विकास सम्भव नहीं है। यदि पक्षपातपूर्ण भावना का परित्याग करके आलोचना की जाय तो निश्चय ही पंजाबी आलोचना का भविष्य उज्ज्वल होगा।

डा० ओंकार कौल

कश्मीरी आलोचना

कश्मीर घाटी में बोली जाने वाली भाषा कश्मीरी भारत की १५ प्रमुख भाषाओं में से एक है। इसकी कई बोलियाँ हैं, जिनमें से किश्तवाड़ में बोली जाने वाली 'किश्तवाड़ी' इसकी एक प्रधान उपभाषा है। जम्मू-प्रांत की पोगली, सिरजी और रामबनी आदि पहाड़ी बोलियों पर भी इसका काफी प्रभाव है। कश्मीरी भाषा के उद्‌गम के बारे में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कई आलोचक इसे संस्कृतोद्‌भूत मानते हैं और कई इसकी उत्पति 'इवरानी' से मानते हैं। अधिकतर विद्वान एवं प्रसिद्ध भाषा-वैज्ञानिक समीक्षक इसे दरद परिवार के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। दरद-परिवार की अन्य प्रमुख भाषाएँ 'शीनी' और 'कोहिस्तानी' हैं। दोनों ऐतिहासिक एवं भाषागत विवेचना से प्रस्तुत मत अधिक वैज्ञानिक और समीचीन प्रतीत होता है। दो सहस्र वर्ष तक कश्मीर संस्कृत काव्य-रचना का एक प्रसिद्ध केन्द्र रह चुका है, इसलिए कश्मीरी भाषा पर संस्कृत का गहरा प्रभाव स्वाभाविक है। उत्तर-भारत की नव विकसित अन्य भाषाओं का प्रभाव भी धीरे-धीरे कश्मीरी-भाषा पर पड़ा है।

कश्मीरी भारत की एक बहुत प्राचीन भाषा है, किन्तु प्रारम्भिक साहित्य अनुपलब्ध होने के कारण इसका प्रथम साहित्य-रचना-काल निर्धारित करना कठिन है। शितिकण्ठ के 'महानय प्रकाश' (रचनाकाल १२ वीं शती) में हमें कश्मीरी भाषा के सुन्दर नमूने देखने को मिलते हैं तथा कल्हण की 'राजतरंगिणी' (रचनाकाल ११४६ ई०) में कश्मीरी वस्तुओं और जातियों के मौलिक नामों एवं कुछ कश्मीरी वाक्यों का प्रयोग किया गया है। प्रसिद्ध संत कवयित्री ललेश्वरी के 'वाखों' एवं नुन्द ऋषि (१४ वीं शती) के 'श्लोकों' में कश्मीरी भाषा का उत्कृष्ट

एवं समृद्ध रूप मिलता है, जो जैनलाबुद्दीन 'बड़शाह' (शासन काल १४२०-१४७० ई०) तक खूब पनपा। 'बड़शाह' के शासन-काल अनंतर प्रसिद्ध कश्मीरी कवि युद्ध भट्ट और सोम पंडित ने क्रमश: 'जैना-विलास' और 'जैना चरित' की रचना की। 'बड़शाह' के शासन-काल के पश्चात् फारसी के राज्य-भाषा बनने पर कश्मीरी भाषा को शासक-वर्ग की ओर से कोई प्रोत्साहन न मिला। कश्मीरी के लब्ध प्रतिष्ठित स्थान पर फारसी आसीन हुई। कश्मीरी साहित्यकारों ने अपनी मातृभाषा से किनारा करके 'फारसी' में ही लिखने में अपना गौरव समझा और कश्मीरी को गंवारु भाषा की दृष्टि से देखा जाने लगा। इस काल की अधिकांश रचनाएँ अशिक्षित, अर्द्धशिक्षित एवं कुण्ठित वर्ग के अपरिपक्व उद्‌गार मात्र हैं जो किसी भी साहित्यिक समृद्धि को प्राप्त न हो सकीं। उत्कृष्ट रचनाएँ जितनी भी लिखी गई, रचनाकारों को कोई प्रोत्साहन न मिला और यही कारण है कि इस काल की अधिकांश रचनाएँ अप्राप्य हैं।

हब्बाखातून (जीवन-काल १६ वीं शती) के लोक-प्रसिद्ध गीतों की रचना से ही वास्तव में कश्मीरी काव्य-रचना का दूसरा दौर प्रारम्भ होता है। धीरे-धीरे कश्मीरी भाषा पर संस्कृत का प्रभाव कम होकर फारसी का प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हुआ। अदूरदर्शी, स्वार्थी एवं ऐश्वर्य विलास प्रिय विदेशी शासकों के अत्याचार एवं शोषण से जनता के सामाजिक जीवन में उथल-पुथल मच गई। कश्मीरी भाषा फारसी के अनावश्यक बोझ से दबती गई। शासकों के भरसक प्रयत्न से हिन्दू संस्कृति एवं दर्शन पर मुस्लिम सूफी-दर्शन का प्रभाव पड़ गया। प्रतिक्रिया-स्वरूप अधिकतर हिन्दू कवि परम्परागत संस्कृतनिष्ठ कश्मीरी में ही लिखने लगे और दूसरी ओर मुस्लिम शायरों ने फारसीनिष्ठ कश्मीरी का दामन पकड़ लिया। विद्वत्व-प्रदर्शन मात्र के लिए संस्कृत या फारसी-अरबी के किलिष्ट शब्दों के प्रयोग से कश्मीरी भाषा का मौलिक माधुर्य समाप्त हुआ। इस दौर में गीतों की रचना में 'हब्बाखातून' 'रोप-भवानी' (१६२५-१७२१ ई०) और 'अरिन्य माल' (१८ वीं शती) तीन कवयित्रियों को जितनी प्रसिद्धि मिली, और किसी को नहीं। तीनों की रचनाओं में तत्कालीन जन-समाज की अन्तर्पीड़ाओं एवं घुटन की अभिव्यक्ति यथार्थ एवं सुचारु रूप में हुई है।

कश्मीरी साहित्य का तीसरा काल महमूद गामी (जीवन काल १७६५-१८५५ ई०) की काव्य-रचना से आरम्भ होता है। प्रस्तुत दौर में फारसी भाषा-साहित्य का कश्मीर में काफी प्रचार-प्रसार हुआ। कश्मीरी कवियों ने न केवल फ़ारसी मसनवियों, गजलों और नज्मों के अनुवाद ही कश्मीरी पद्य में किये, अपितु कई फ़ारसी काव्यों की रचना भी की। इस काल में कश्मीरी में गीतों की रचना की ओर कवियों का अधिक झुकाव रहा। महमूद गामी के अतिरिक्त आलोच्य काल के प्रसिद्ध कवियों एवं गीतकारों में रसूल मीर, बुल्बुल 'नागामी', शमस फ़कीर, वहाब परे, 'नादिम', 'मिसकीन', वहाब खार विष्णु कौल, कृष्ण राजदान, हैरत, परमानंद, मकबूल क्रालवारी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

कश्मीरी में आधुनिक काल का प्रवर्त्तन 'महजूर' (जीवन-काल १८८५-१९५२ ई०) के काव्य से माना जा सकता है। आधुनिक काल में कश्मीरी भाषा-साहित्य में समसामयिक भारत की अन्य प्रांतीय भाषाओं के साहित्य की सभी विशेषताएँ प्राप्य हैं। आधुनिक काल का

प्रारम्भिक काव्य विदेशी शासन की कटु आलोचना राष्ट्रीय भावनाओं एवं स्वदेश प्रेम से ओत-प्रोत है। राष्ट्रीय भावनाओं एवं देश-प्रेम की स्वतंत्र एवं सफल अभिव्यक्ति में 'महजूर' के पश्चात् अब्दुल अहद 'आज़ाद' का नाम उल्लेखनीय है। आधुनिक काल में ही कश्मीरी भाषा में पद्य के अतिरिक्त गद्य की सभी साहित्यिक विधाओं—कहानी उपन्यास, एकांकी-नाटक, निबंध आदि लिखे जाने लगे। स्वतंत्रोत्तरकाल में कश्मीरी भाषा की नई गद्यात्मक साहित्यिक विधाओं को काफी सफलता मिली है।

कश्मीरी भाषा और साहित्य के उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय के पश्चात् कश्मीरी आलोचना के विषय में विचार किया जायेगा। प्राचीन काल में कश्मीर संस्कृत-आलोचना का प्रसिद्ध केन्द्र रह चुका है। कश्मीर के सुप्रसिद्ध साहित्यालोचकों आनंदवर्धन, क्षेमेन्द्र, कल्हण, बिल्हण, सोमदेव, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि का संस्कृत साहित्यालोचना में महत्त्वपूर्ण स्थान है। मुस्लिम शासन काल में कश्मीरी आलोचकों का झुकाव संस्कृत की अपेक्षा फारसी काव्यालोचना के प्रति रहा। अधिकतर कश्मीर के आलोचक कश्मीरी भाषा-साहित्य के प्रति उपेक्षा दर्शा कर फ़ारसी काव्य-रचना की 'प्रशस्तियां गाने' में निमग्न हुए। फारसी काव्य-शैली से अत्यधिक प्रभावित होकर कश्मीरी काव्य की रचना भी उन्हीं सिद्धांतों एवं प्रचलित मान्यताओं के आधार पर हुई। कश्मीरी भाषा में वर्णित नज़्मों, गज़लों एवं मसनवियों आदि काव्य-शैलियों को फ़ारसी काव्य-शैलियों के सुनिश्चित मानदण्डों से परखा जाता था। कश्मीरी में काव्य-रचना के लिए फारसी काव्य-शैली का समुचित ज्ञान होना परमावश्यक समझा जाता था। मुस्लिम कवियों ही ने नहीं प्रत्युत् हिन्दू कवियों ने भी अनेक धार्मिक एवं पौराणिक आख्यानों की रचना फारसी की काव्य-शैलियों को दृष्टि में रख कर की है, यद्यपि उनकी भाषा अधिकतर संस्कृतनिष्ठ कश्मीरी पाई जाती है। उक्त काल में कश्मीरी भाषा-साहित्य से सम्बधित आलोचनाएँ फ़ारसी भाषा में ही लिखी जा चुकी हैं। इन आलोचनाओं का महत्त्व केवल कश्मीरी और फारसी की काव्य-शैलियों की तुलनात्मक विवेचना की दृष्टि से अधिक है। वास्तव में कश्मीरी आलोचना का विकास आधुनिक काल में ही हुआ है। आधुनिक काल में ही पहली बार कश्मीरी भाषा और साहित्य से सम्बन्धित आलोचना कथित भाषा-साहित्य को समझने और उसकी ओर प्रेरित करने में सहायक सिद्ध हुई है। स्वतंत्रोत्तर काल में आलोचना की विधियों में वैविध्य और विस्तारपूर्वक विवेचना दृष्टिगोचर होती है। अब तक प्राप्त कश्मीरी आलोचना के तीन प्रमुख रूप मिलते हैं—सम्पादकों द्वारा लिखी गई प्राचीन काव्यों की भूमिकाएँ, भाषा और साहित्य से सम्बन्धित स्वतंत्र रूप से लिखे गये आलोचनात्मक लेख तथा आलोचना-ग्रन्थ और शोध-प्रबन्ध।

कश्मीरी भाषा के बहुत ही कम प्राचीन काव्य-ग्रन्थ अब तक सम्पादित होकर प्रकाशित हुए हैं। डा० ग्रियर्सन ने 'प्रकाश रामायण' 'शिव-परिणय' और 'लल-वाख्य', मास्टर जिन्दा कौल ने परमानंद के भजन रोमन-लिपि में सम्पादित किये हैं। उक्त रचनाओं का अंग्रेज़ी अनुवाद भी किया गया है। डा० ग्रियर्सन की आलोचनात्मक भूमिकाओं से संक्षेप में कवि और कृति का परिचय मात्र मिल जाता है। कश्मीर कल्चरल अकादमी ने कई पुस्तकें सम्पादित करायी

हैं। प्रकाशित कृतियों में से मुख्य हैं—'आज़ाद', 'महजूर', 'अब्दुल अहाद नादिम', 'हब्बा खातून', 'लल छद', 'हकानी' ,'मकबूल क्रालवारी', 'परमानंद', 'रसूल मीर', 'शमस फ़कीर' और 'वहाब परे'। इनमें कवि-विशेष की जीवनी, काव्य की विशेषताओं का संक्षेप में परिचय देते हुए उदाहरणस्वरूप कुछ रचनाओं का उर्दू में अनुवाद किया गया है। कलचरल अकादमी ने इसी तरह कश्मीरी में 'दलीला' (कश्मीर की लोक-कहानियाँ), 'कोशुर सरगम', 'महमूद गामी', 'सूफी शायर', 'प्रकाश रामायण', 'वही उल्ला मत्तू' आदि शीर्षक से कुछ पुस्तकें भी सम्पादित करायी हैं। इनकी भूमिकाएँ भी आलोचना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। उपरिलिखित पुस्तकों की भूमिकाओं से कवि-विशेष आदि रचनाओं का परिचय-मात्र प्राप्त होता है। जिनके संगठनात्मक रूप में ही कश्मीरी भाषा-साहित्य की विविध धाराओं का परिचय मिल सकता है।

कश्मीरी भाषा और साहित्य से सम्बंधित दोनों देशी और विदेशी समालोचकों के लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं एवं पुस्तकों में अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू और कश्मीरी भाषा में प्रकाशित हो चुके हैं। विदेशी आलोचकों ने अधिकतर कश्मीरी भाषा एवं व्याकरण से सम्बन्धित आलोचनात्मक लेख लिखे हैं। इधर कुछ वर्षों से कश्मीरी भाषा और व्याकरण से सम्बधित आधुनिकतम भाषा-विज्ञान के सिद्धांतों के आधार पर किया जाने वाला शोध-कार्य महत्त्वपूर्ण है। इस दिशा में डा० ब्रज बी. काचरू तथा डा० प्राणनाथ 'त्रिसल' के प्रयत्न सराहनीय हैं। कश्मीरी साहित्य की विभिन्न धाराओं की आलोचना पद्धति स्वतंत्रोत्तर काल में बिल्कुल बदल चुकी है। परम्परागत सैद्धांतिक आलोचना एवं सीमित परिधि से मुक्त होकर जिन आलोचकों ने नये ढंग से समीक्षा लिखने का प्रयत्न किया है, उनमें प्रो० मोहीद्दीन हाजनी, डा० रहमान राही, श्री शम्भुनाथ भट्ट 'हलीम' और श्री अमीन कामिल को अधिक सफलता मिली है। नये आलोचकों का दृष्टिकोण अधिकतर प्रगतिवादी ही है।

कश्मीरी आलोचना का नव-परिवर्तित सैद्धांतिक रूप हमें कश्मीरी भाषा और साहित्य से सम्बन्धित आलोचना-ग्रन्थों एवं नये शोध-प्रबन्धों में ही सुचारू रूप से मिलता है। स्व० अब्दुल अहद 'आज़ाद' ने अपनी पुस्तक 'कश्मीरी ज़बान और शायरी' में कश्मीरी भाषा और काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। 'आज़ाद' पश्चिम एव पूर्व की आलोचना पद्धति से सुपरिचित हैं। वास्तव में कश्मीरी की आधुनिक समालोचना का प्रारम्भ भी सुचारु रूप से उनकी ही पुस्तक से हुआ है। उर्दू के प्रसिद्ध आलोचक डा० शकील-उल-रहमान के विचारानुसार अब्दुल अहद 'आज़ाद' आलोचना-पद्धति में उर्दू के समालोचक मुहम्मद हसीन 'आज़ाद', शिबली' और 'हाली' से प्रभावित हुए हैं।[१] श्री आज़ाद ने कश्मीरी के विभिन्न कवियों की रचनाओं की आलोचनात्मक विवेचना तत्कालीन सामाजिक तथा राजनैतिक वातावरण को दृष्टि में रखकर की है। कवि की मूलभूत प्रेरणाओं एवं रचना-प्रक्रिया को समझने के लिए कवि के समसामयिक सामाजिक एवं राजनैतिक वातावरण को समझना अनिवार्य होता है। काव्य की पृष्ठभूमि के

१—देखिए—कश्मीरी ज़बान और शायरी (लेखक—अब्दुल अहद आज़ाद) भाग १, भूमिका पृ० १६।

धरातल पर कवि की भावनाओं का अवलोकन एवं साहित्यिक विवेचन सरलतम ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। विदेशी पराधीनता के कारण कश्मीरी काव्य के दूसरे और तीसरे दौर में अधिकांश कवियों की मूल प्रेरणा को आलोचक ने जन-समाज के दुःख-दर्द, सामाजिक कुण्ठा, घुटन, अन्तर्पीड़ा आदि को ही स्वीकार किया है। श्री 'आज़ाद' साहित्यिक और सांस्कृतिक परम्परा को सुरक्षित रखने के पक्षपाती हैं। नये और पुराने साहित्य के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में आपका कहना है—"अदब भी इनसान की ज़िन्दगी के साथ-साथ इसकी हर मंज़िल में रूप बदलता रहा है, मगर हर नये अदब का पुराने अदब के साथ गहरा राबता (सम्बन्ध) होता है।"[1] यही तथ्य प्रगतिवादी समीक्षा के लिए स्वीकार्य हो सकता है। समाज और साहित्य के निकटस्थ और अभिन्न सम्बन्ध को दृष्टि में रखकर उन्होंने प्रमाणित कर दिया है कि सामाजिक परिप्रेक्ष्य में की गई साहित्य की आलोचना ही सच्ची आलोचना है। जहाँ नम्र एवं भावुकतापूर्ण शब्दों में श्री 'आज़ाद' किसी कवि की सूक्ष्म से सूक्ष्मतर भावनाओं के सम्प्रेषण एवं बिम्ब-योजना की चर्चा करते हुए अपने निजी कवि-हृदय का परिचय देते हैं, वहाँ कश्मीर के पराधीन काल में शासक-वर्ग द्वारा कश्मीरी भाषा-साहित्य की उपेक्षा एवं साहित्यकारों की चाटुकारिता पर वे कठोर शब्दों में व्यंग्य करते हुए दिखाई देते हैं। संक्षेप में, सफल आलोचना के लिए जिस पैनी दृष्टि एवं अपूर्व भाषाधिकार की अपेक्षा रहती है, श्री 'आज़ाद' की आलोचना-पद्धति में उसका यथोचित परिचय मिल जाता है।

श्री पृथ्वीनाथ 'पुष्प' ने 'कश्मीरी भाषा और साहित्य' नाम की हिन्दी पुस्तिका में कश्मीरी भाषा और साहित्य पर आलोचनात्मक विहंगम दृष्टि डालने का प्रयत्न किया है। श्री शम्भुनाथ भट्ट 'हलीम' के लेख 'कश्मीरी भाषा और साहित्य' में अपेक्षाकृत विस्तारपूर्वक विवेचना प्रस्तुत की गई है। इधर श्री अवतार कृष्ण 'रहबर' भी कश्मीरी भाषा और साहित्य से सम्बंधित आलोचनात्मक पुस्तक लिख रहे हैं। उनकी पुस्तक का प्रथम भाग प्रकाशित हो चुका है। कश्मीरी भाषा में ऐतिहासिक समालोचना की दृष्टि से लेखक का प्रयत्न सराहनीय है।

कश्मीरी आलोचना की अपरिपक्वता एवं अपूर्णता ने इधर गत वर्षों से कई शोध-कर्त्ताओं का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। कश्मीर विश्वविद्यालय की एम. ए. हिन्दी उपाधि सापेक्ष कश्मीरी भाषा और साहित्य से सम्बंधित कई लघु शोध प्रबंध प्रस्तुत किए जा चुके हैं। इतना ही नहीं कश्मीरी और हिन्दी की प्रमुख लौकिक एवं साहित्यिक धाराओं के कई तुलनात्मक अध्ययन विभिन्न विश्वविद्यालयों की पी-एच. डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत किये जा चुके हैं। श्रीमती मोहिनी कौल ने कबीर और ललेश्वरी, श्रीमती कृष्ण शर्मा ने कश्मीरी और हिन्दी संत-काव्य परम्परा, जवाहर हण्डू ने 'कश्मीरी और हिन्दी लोक-गीतों' तथा ओंकार कौल ने 'कश्मीरी और हिन्दी रामकथा काव्य' के तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किये हैं। इसी प्रकार कई अन्य विषयों पर भी शोध-कार्य किया जा रहा है। उपर्युक्त शोध-प्रबंधों से भी कश्मीरी

१—देखिए—हमदर्द (समाचार पत्र) १६ जुलाई १६४४ ई०—अब्दुल अहद आज़ाद का लेख।

आलोचना-साहित्य में वृद्धि हुई है। शोध परक आलोचना में भी सैद्धांतिक वैभिन्य मिलता है। अन्य भाषाओं की नवीन आलोचना पद्धति एवं विचारधारा से प्रभावित होकर कश्मीरी आलोचना में भी पाश्चात्य और पौर्वात्य समालोचना का समन्वयात्मक रूप दृष्टिगोचर होता है।

गत तीन-चार वर्षों से कश्मीरी भाषा में जिस नये साहित्य की रचना हो रही है, उसकी ओर आलोचकों का अधिक ध्यान नहीं गया है। कश्मीरी नई कहानी और नई कविता का नामोल्लेख मात्र करके आलोचकों ने उन्हें उतना महत्त्व प्रदान नहीं किया है। यह एक बहुत बड़ी कमी है जिसमें कश्मीरी आलोचना का विकास पिछड़ा हुआ है। भारत की अन्य समृद्ध प्रांतीय भाषाओं की भांति आधुनिक कश्मीरी लेखन में भी कई उल्लेखनीय परिवर्तन आ चुके हैं। कश्मीरी में यद्यपि अपेक्षाकृत कम कहानियाँ लिखी जा रही हैं, किन्तु वे मध्यवर्गीय जन-समाज की विविध समस्याओं, मानसिक उलझनों एवं बदलते युगबोध का प्रतिनिधित्व करती हैं। नये कश्मीरी कहानीकारों में सर्वश्री अली मुहम्मद लोन, अख्तर मोही-उल-द्दीन, बन्सी निर्दोष आदि की कहानियों की शैली हिन्दी की साठोत्तर कहानियों की भांति बिल्कुल परिर्वातित हो चुकी हैं। इसी तरह प्रगतिवादी कवि सर्वश्री दीनानाथ नादिम, रहमान राही, शम्भुनाथ भट्ट 'हलीम' तथा अमीन 'कामिल' की नवीन रचनाओं ने कश्मीरी की नई कविता को अधिकाधिक विचार प्रधान बना लिया है। यही स्थिति रेडियो-रूपकों एवं एकांकी-नाटकों की है। इस तरह कश्मीरी आलोचना में उस नवीन आलोचनात्मक विवेचना की कमी अनुभव की जाती है जिससे कश्मीरी की नवीन रचनाओं को सफलतापूर्वक परखा जा सके।

●